

जादू भरी फुफ्फुनी

श्याम सरन 'विक्रम'

94 लक्ष्मीबाई कॉलोनी, ग्वालियर-2

“मास्टर ! मास्टर हेन्स, देखना तो !!” प्रयोगशाला की छत पर से लड़का चिल्लाया।

“वह दूर टावर पर लगा, हवा में नाचता पंखा मुझे यहाँ से दिख रहा है !”

“शू शू शू—” हेन्स लिरशे ने डांटा। “अभी तो मेरे कान ठीक से सुन सकते हैं, इतना चीखता क्यों है ? और उस पंखे का तमाशा क्या है ?”

हेन्स ने देखा, लड़का शीशे के दो टुकड़े आँख पर लगा लेता था तो वह नाचता पंखा दिखता था और शीशे हटा लेने पर दृष्टि से दूर हो जाता था। हेन्स ने अपनी भी आँख पर लगाकर देखा। वह तमाशा अवश्य था पर नये ही तथ्य से भरा हुआ था। टावर पर लगा वायुसूचक यंत्र बहुत दूर होने पर भी दो शीशों के पार झाँकने पर दिखायी देता था।

“दो शीशे के टुकड़े दूरी को इस तरह मिटा सकते हैं, बड़ी दिलचस्प बात है ! —” हेन्स मन ही मन बोला।

यह तब की बात है, जब सत्रहवीं शताब्दी का आरम्भ ही था। लोगों में अन्धविश्वास का बोलबाला था। चन्द्रमा की घटती-बढ़ती कलाओं का सीधा प्रभाव स्वास्थ्य पर माना जाता था। प्रत्येक सुख-दुख को ‘भगवान की माया’ समझा जाता था। जिस पर चुड़ैल आयी हो, उसे जीवित जला देना, दुष्ट व्यक्ति को देश निकाला दे देना जैसी बातें अत्यन्त प्रचलित थीं। शरीर-विज्ञान की समस्याओं का विश्लेषण वाद-प्रतिवाद, तर्क-वितर्क वैज्ञानिकों के बीच अथवा प्रयोग-

शालाओं में नहीं, आरामकुर्सियों और गद्दियों पर पड़े महन्तों और दार्शनिकों की मजलिसों में होते थे।

साथ ही काल-प्रवाह को क्रान्तिकारी मोड़ देने वाले युग-प्रवर्तक, नये विचारक, वैज्ञानिक और विद्वान उस कीचड़ में कमल की भाँति जहाँ-तहाँ अपनी-अपनी साधना में लगे मिल ही जाते थे। वे जानते थे कि मनुष्य के चर्म-चक्षुओं की क्षमता ही कितनी है ! कुछेक पक्षियों की तुलना में तो हमारी आँखें कुछ भी नहीं, न तो पूरा देख पाती हैं, और ना ही सूक्ष्म अथवा स्पष्ट देख पाती हैं। ऐसी स्थिति में ‘आँखों देखा सच’ मान लेने को वे वैज्ञानिक तैयार नहीं थे।

प्रचलित अन्धविश्वासों से मोर्चा लेने की भूमिका और पृष्ठभूमि यों तो छः सात वर्ष पूर्व सोलहवीं शताब्दी के अस्तकाल में बन चुकी थी। मानव-चक्षुओं की अति सीमित क्षमता को धीरे-धीरे बढ़ाने की दिशा में प्रयोग और प्रगति क्रमशः होती आ रही थी। पोर्ता नामक एक वैज्ञानिक सिद्ध कर चुका था कि अवतल लेन्स द्वारा देखने पर वस्तुयें कुछ छोटी किन्तु अधिक स्पष्ट दिखती हैं और उत्तल लेन्स द्वारा अधिक बड़ी किन्तु कुछ अस्पष्ट दिखती हैं। यदि दोनों को ठीक से मिलान करके उनमें से देखा जाय तो निकट तथा दूर की वस्तुयें बड़ी और स्पष्ट दिख सकती हैं। तो यह था मूल सिद्धान्त, जिस पर आने वाली सदियों में बनते हुए विविध चमत्कारिक दर्शक-यंत्र आधारित होने को थे। वैसे

भी, उन दिनों के चश्मे बनाने वाले इस सिद्धान्त का उपयोग करने लगे थे।

ऐसा ही प्रसिद्ध चश्मा-निर्माता हमारा कथानायक हेन्स लिपरशे था। हालैण्ड-निवासी इस हेन्स की ख्याति दूर-दूर तक थी। इसलिए प्रायः ही जिज्ञासु लड़के इसके यहाँ काम करते हुए चश्मे बनाने की शिक्षा पाते थे। यह उन्हें लेन्सों की घिसाई सिखाता था जिससे दूर की चीज स्पष्ट न देखने वालों के लिए चश्मे तैयार किए जाते थे। ये लेन्स मध्यभाग में ढलान लेते हुए अधिक पतले बनाये जाते थे। उन्हीं को अवतल लेन्स कहते थे। दूसरे प्रकार के लेन्स मध्यभाग में कुछ मोटे, उभरे हुए बनाये जाते थे जिन्हें उत्तल लेन्स कहते थे। वे लेन्स दुर्बल दृष्टि वाले बड़े-बूढ़ों के लिए पढ़ने में बड़े सहायक होते थे। इसलिए उन्हें 'पठन लेन्स' के भी नाम से पुकार लेते थे।

घिसाई हो जाने के बाद अधिक महत्वपूर्ण कार्य यह होता था कि लेन्स को अत्यन्त बारीकी से जांचते हुए उसमें रह जाने वाली घिसाई की रेखाओं को और घिसाई के अन्य दोषों को ढूँढा जाए, फिर ठीक किया जाए। हमारी इस कहानी के आरम्भ का वह लड़का यही तो कर रहा था। सहज उत्सुकतावश उसने एक-एक अवतल और उत्तल लेन्सों को मिला कर जो देखा तो नयी खोज पर हर्षातिरेक में उसका चीख उठना अस्वाभाविक तो नहीं था।

हेन्स ने उत्तल लेन्स तो अपनी बायीं आँख पर लगा लिया और अवतल लेन्स को उससे सटा कर दूर-पास लगाता हुआ टावर के उस वायु-सूचक यंत्र को खोजने लगा।

“यों नहीं मास्टर!” लड़का आगे बढ़ा और ठीक करते हुए बोला—‘गलत देखने से थोड़े ही मिलेगा! लेन्सों को बदल कर देखो। अवतल लेन्स को आँख पर लगाओ और उत्तल लेन्स को आगे पीछे करके देखो!’

हेन्स ने सीखतर लड़के को अपना गुरु मान-कर वैसा ही किया तो टावर का वह यंत्र नजर के सामने आ गया। बाद में तो हेन्स ने सही हिसाब से उन लेन्सों को जमाकर एक खोखली नली—एक फुकनी में बिठा दिया। यों, वह जादू-भरी दूरदर्शनी फुकनी तैयार हो गयी।

उन दिनों हेन्स का पितृदेश हालैण्ड स्पेन की सेनाओं से घिरा हुआ था। सेना अधिकारियों ने हेन्स की इस जादूभरी फुकनी की विशेष उपयोगिता तब समझी जब वे इसकी सहायता से दूर सागर की क्षितिज पर भी आते हुए स्पेन के युद्धपोत देख लेते थे। इससे उन्हें अपने सुरक्षा-कार्यों में बड़ी सहायता मिलती थी। इसलिए उस खिलौने जैसी जादूभरी फुकनी के पुरस्कार में हेन्स को 900 फ्लोरिन की राशि भेंट की गयी। उस खिलौने की इतनी बड़ी रकम पाने पर हेन्स का प्रसन्न होना स्वाभाविक ही था।

हेन्स के उस खिलौने की चमत्कारिक उपयोगिता समझने वाला पहला वैज्ञानिक गैलीलियो था। पेदुया में रहने वाला यह क्रान्ति-विचारक वैज्ञानिक पुराणपंथी अंधविश्वासों और तथ्यहीन मान्यताओं का कट्टर विरोधी भी था। उसका महामन्त्र यही था कि ‘सत्य का अंश पुरानी परम्पराओं के जंजाल में नहीं, सृष्टि के वर्तमान चमत्कारों के अध्ययन और लगनपूर्वक प्रयोगों में मिल सकता है।’ वैज्ञानिक अध्ययन के लिए ‘निरीक्षण’ और ‘प्रयोग’ के गुरुमंत्र गैलीलियो ने ही विज्ञानजगत् को दिये हैं।

हेन्स की उस जादूभरी फुकनी की बात फैलती हुयी गैलीलियो के कानों तक भी पहुँची। गैलीलियो सुलझा हुआ और प्रयोगशील वैज्ञानिक तो था ही, अतः वह उस फुकनी के आधार पर अधिक सही और सुधरे रूप का दूरदर्शी यंत्र तैयार करने में लग गया। लेन्सों के तल को दोनों ओर से उभारयुक्त अथवा गड्ढेयुक्त बनाने के स्थान पर उन्हें एक ही ओर से अवतल अथवा

उत्तल और दूसरी ओर से सपाट समतल बनाने लगा। इस नयी विधि से बने अपने दूरदर्शी के विषय में उसने एक स्थान पर लिखा है— 'एक नली के दो सिरों पर मैंने इस प्रकार का एक-एक लेन्स, एक ओर समतल और दूसरी ओर से उत्तल अथवा अवतल लगा कर देखा। तब जो यंत्र बना उसने मुझे चकित कर दिया। उसमें देखने पर वस्तु का आकार हजार गुना बढ़ जाता था और उसकी दूरी तीस गुना घट जाती थी।'।

सन् 1609 के अगस्त मास में गैलीलियो वेनिस पहुँचा। साथ में अपना दूरदर्शी ले गया था। तब तक दूरदर्शी शब्द नहीं बन पाया था। इसलिए वह अपने उस यंत्र को 'दर्शक-शीशा' कहता था। वेनिस पहुँच कर उस दर्शक-शीशे से गैलीलियो ने जो कुछ देखा और पाया उसका वर्णन करते हुये उसने लिखा है :

'वेनिस के बड़े-बड़े रईस और सेनेटर, कुछ तो वयोवृद्ध भी, मेरे यंत्र का तमाशा देखने के लिए नगर के सबसे ऊँचे टावर-शिखर पर बड़ी उत्सुकता से आते रहे। दूर, सागर में क्षितिज के उस ओर से आते हुए जहाज जो निरी आँखों से दो घंटे से कम में नहीं देखे जा सकते थे, मेरे जादुई शीशे में तुरंत दिख जाते थे। लगभग पचास मील दूर की वस्तुयें पाँच मील से भी कम दूर दिखायी देती थीं। पेद्युआ में मेरी सत्रह वर्ष की सेवायें देखते हुए सेनेट ने मुझे इसके पुरस्कारस्वरूप पेद्युआ की आजीवन प्रोफेसर-शिप प्रदान की।'।

पेद्युआ का यह प्रोफेसर गैलीलियो अपने शौक को दूरदर्शी से केवल आने वाले जहाजों का ही तमाशा देखने तक सीमित नहीं रखता था। वह प्रयोगशील वैज्ञानिक था और उसकी रुचि अत्यन्त दीर्घदृष्टा थी अर्थात् वह आनेवाली सदियों की पीढ़ियों के लिए बहुत कुछ दे जाना चाहता था। यह समझा जा सकता है कि वेनिस

में रहते हुए निश्चय ही उसने चाँद-सितारों को भी अपने दूरदर्शी का लक्ष्य बनाया होगा। जिन रातों को विलासी वैभवशाली व्यक्ति सोये रहे होंगे, गैलीलियो तारे गिन रहा होगा, एक-एक तारे की रंग-बिरंगी झिलमिल उसमें उल्लास भरती रही होगी। गैलीलियो ने ही सबसे पहले अपने दूरदर्शी द्वारा चन्द्रमा के अप्रकाशित भाग के कुछ धब्बे, कुछ रेखायें देखकर अनुमान लगाया था कि चन्द्र-धरातल पर ऊँचे पर्वत, गहरी तराइयाँ और बड़े-बड़े सागर होने चाहिये।

पेद्युआ लौटकर गैलीलियो ने अपने दूरदर्शी में सुधार करके उसे और भी शक्तिशाली बनाया। तभी अपने आकाश-निरीक्षण में वह तारों को और स्पष्ट देख पाता था। उसी निरीक्षण में उसने यह रहस्य खोज निकाला कि कृत्तिका— तारा-मंडल जो उस समय तक केवल सात तारों युक्त माना जाता था, वस्तुतः 36 तारोंयुक्त था।

सन् 1610 के जनवरी मास में गैलीलियो को वृहस्पति ग्रह के चारों ओर चक्कर लगाते हुए चार पिण्ड दिखायी दिये। ठीक से देखने पर उसने पाया कि वे चारों वृहस्पति के ही उपग्रह थे जो उसी की परिक्रमा में बंधे हुए चक्कर लगा रहे थे। इस प्रकार आकाशीय पिण्डों के नित नये रहस्यों का खेल दिखाने वाला यह दर्शक-शीशा सचमुच बहुत उपयोगी होता जा रहा था।

सब कुछ विरोध होते हुए भी दूरदर्शी का उपयोग और प्रचार वैज्ञानिकों में बढ़ता ही गया; उसके रूप, स्वरूप और आकार-प्रकार भी कुछ-कुछ बदलते रहे। गैलीलियो के पश्चात् जहाँन कैपलर नामक नक्षत्रविद् ने इस क्षेत्र में और भी प्रसिद्धि पायी। उसने अपनी आवश्यकता के अनुसार गैलीलियो के दूरदर्शी के आधार पर कुछ परिवर्तन करके नये नक्षत्रीय दूरदर्शी बनाने के सुझाव दिये। उन सुझावों पर अन्य वैज्ञानिकों

ने जो दूरदर्शी बनाये, वे यूरोपभर में अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुए।

अनेक दूरदर्शी बड़े और लम्बे बनाये जाने लगे। हेवेलियस ने अपना पचास मीटर लम्बा दूरदर्शी एक ऊँचे टावर पर टिका रखा था। उसका कहना था कि छोटी-छोटी द्यूबों के दूरदर्शियों में प्रतिबिम्ब स्पष्ट नहीं आता और किनारों पर रंग झलकने लगते हैं। उसकी यह विधि कुछ अंशों तक तो प्रतिबिम्बों में सुधार दिखाती रही, परन्तु लम्बे और बड़े दूरदर्शियों को उठाने-रखने में बड़ी असुविधा रहती थी।

दूरदर्शी द्यूबों की लम्बाई घटाने का एक सफल प्रयोग किया गया। एक ही अत्यन्त लम्बी

द्यूब में दोनों लेन्स बिठाने के स्थान पर आधी लम्बाई की दो द्यूबों में एक-एक लेन्स बिठा दिया गया। फिर विशेष युक्ति द्वारा इस प्रकार देखा गया कि एक वस्तु दोनों लेन्सों में एक साथ ही दिखायी दे। ऐसे दूरदर्शी को 'एरियल टेलिस्कोप' अर्थात् 'आकाशीय दूरदर्शी' नाम दिया गया। यह तो प्रत्यक्ष है कि इन दूरदर्शियों के लेन्स प्रकाश-किरणों को संग्रहीत करके हमारे नेत्रों तक पहुँचाते हैं। साथ ही यह भी कि वे किरणें लेन्स से गुजरते समय झुक भी जाती हैं। इस झुकने की क्रिया को 'वर्तन' कहते हैं। अतः ऐसे दूरदर्शियों को 'वर्तक दूरदर्शी' भी कहा जाता है।□

अन्तरिक्षयात्राओं के संदर्भ में

विज्ञान गल्पों के सच

शुकदेव प्रसाद

निदेशक, विज्ञान वैचारिकी अकादमी, 34 एलनगंज, इलाहाबाद-211002

विज्ञान गल्पों के लेखन की परम्परा कोई नई नहीं है। विज्ञान लेखकों ने अपने गल्पों में कल्पना के जो ताने-बाने बुने, उनमें से अधिकांश सच भी हुए। अन्तरिक्षयात्राओं के संदर्भ में सच हुई वैज्ञानिक कल्पनाओं का ही आकलन हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं।

चंद्रयात्रा सम्बंधी पहली पुस्तक दूसरी शताब्दी (सन् 160) में यूरोप में स्थित सीरिया निवासी लूसियन ने 'सत्य-इतिहास' नामक पुस्तक लिखी। पुस्तक का नायक एक यूनानी जलयान में यात्रा कर रहा था। अचानक समुद्र में भयंकर तूफान आ जाने से उसका यान हवा में पक्षी की भांति उड़ने लगता है और वह सात दिन, सात रात की निरंतर उड़ान के बाद एक चमकते हुए आकाश दीप की धरती पर उतर जाता है। यह आकाश दीप 'चंद्रमा' है।

इस पुस्तक की रचना के लगभग डेढ़ हजार वर्षों तक यूरोप में अन्तरिक्षयात्रा सम्बंधी कोई पुस्तक नहीं लिखी गई।

सन् 1638 में इंग्लैंड के पादरी विल्लिंस ने चंद्रमा के बारे में एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने चंद्रमा पर पहुँचने के चार उपाय सुझाए थे :

(1) दिव्य आत्माएं मनुष्य को धरती से चांद तक ले जाएं।

(2) मनुष्य पक्षियों की सहाया से चंद्र लोक पहुँच जाय।

(3) मनुष्य बड़े-बड़े पक्षियों के पंख लगा ले और उड़ता हुआ चंद्र लोक पहुँच जाय।

(4) अगर किसी के पास काफी समय हो तो वह एक ऐसी मशीन बनाये जिसकी सहायता से चंद्रलोक पहुँचा जा सके।

विज्ञान

फरवरी 1985

पादरी विल्कस की कल्पना ठीक ही थी। वस्तुतः मानव मशीन के ही सहारे चंद्रमा पर पहुँच सका, जिसे कहने की कोई आवश्यकता नहीं।

1938 में ही विशप गाडविन ने चंद्रयात्रा के बारे में कथानक लिखा—“चंद्रमा में मनुष्य”। उपन्यास के नायक डोमिंगो गांजेलिस के विमान को हंसों का झुंड बारह दिन में चंद्रमा पर पहुँचा देते हैं। विशप गाडविन ने चंद्रमा पर सुविकसित जीवन की भी कल्पना की है जैसे कि धरती की तरह ही चांद हो।

इस काल के उपन्यासों में सत्यता का पुट तो नहीं था लेकिन इससे आगे की दो सदियों में जो भी गल्प साहित्य सामने आया, उनमें कही गई कुछ बातें सत्य हुईं।

1856 में साइरेनो द वर्जोराक ने ‘चंद्रमा की यात्रा’ उपन्यास प्रस्तुत किया जिसमें उसने सबसे पहली बार राकेट द्वारा चंद्रयात्रा का वर्णन किया, जो आगे चलकर सत्य हुआ।

1965 में प्रसिद्ध विज्ञान गल्प लेखक जूलस वर्न का उपन्यास ‘पृथ्वी से चंद्रमा की ओर’ प्रकाशित हुआ। फ्रांसीसी लेखक जूलस वर्न विज्ञान कथाओं में अच्छी दखल रखते हैं, साथ ही काफी लोकप्रिय भी हैं। चंद्र यात्रा सम्बंधी इनके पिछले उपन्यासों की अपेक्षा यह उपन्यास काफी चर्चित रहा। उक्त उपन्यास की तमाम बातें ‘अपोलो-8’ से मेल खाती हैं।

जूलस वर्न ने लिखा है कि अमेरिका के फ्लोरिडा नगर में 1 दिसम्बर को एक बहुत बड़ी तोप में बारूद भरकर राकेट दाग दिया गया। इतिहास गवाह है कि ‘अपोलो-8’ फ्लोरिडा से केवल 60 मील दूर स्थित ‘केप कनेडी’ से छोड़ा गया।

जूलस वर्न ने पृथ्वी से चंद्रमा की यात्रा 2, 38, 833 मील बतायी थी जबकि ‘अपोलो-8’ की यात्रा 2, 25,000 मील की थी।

जूलस वर्न का चंद्रयान 12 फीट था और अपोलो-8 की भी ऊँचाई ठीक 12 फीट थी। अपोलो-8 के भीतरी भाग में जैसे एल्यूमिनियम की सतह थी, ठीक वैसी ही जूलस वर्न के चंद्रयान में भी। उनके चंद्रयान का भार 12,230 पौंड था जब कि अपोलो-8 का भार 12,292 पौंड था।

इतना ही नहीं, जूलस वर्न की कल्पनाशीलता तो उन्हें उपन्यास के धरातल से उठाकर एक वैज्ञानिक एवं भविष्यदृष्टा का स्थान दिलाती है जब वे अपने उसी उपन्यास में लिखते हैं—चंद्रमा का धरातल चट्टानों से भरा हुआ है और उसमें चारों ओर विभिन्न आकार के छोटे बड़े गड्ढे हैं। न वहाँ हवा है, और न ही जीव-धारी हैं।’

आज हम यह जानते हैं कि ये बातें अक्षरशः सत्य हैं। अपोलो-11 के यात्रियों ने चंद्रमा के धरातल, जलवायु और प्राणियों के विषय में जूलस वर्न के ‘काल्पनिक’ तथ्यों का समर्थन किया है।

21 जुलाई, 1969 को प्रातः 8 बजकर 25 मिनट पर जब अमेरिकी अन्तरिक्षयात्री आर्म स्ट्रांग ने ‘मानव का छोटा कदम और मानवता की विशाल छलाँग’ शब्दों के साथ चंद्रतल पर कदम रखे तो विज्ञान की इस रोमांचकारी उपलब्धि पर संसार भर में खुशी की एक लहर दौड़ पड़ी। मानो विज्ञान कथा लेखकों की कल्पना साकार हो गई हो। वस्तुतः उनकी कल्पनाशीलता को उस दिन जीवन्त आयाम मिला था। संसार ‘अद्भुत’, ‘आश्चर्यजनक’, ‘महान’ शब्दों की ध्वनि-प्रतिध्वनियों से गूँज उठा। निश्चय ही यह घटना महत्वपूर्ण थी और समूचे विश्व ने इसका हार्दिक स्वागत किया।

लेकिन यहीं से ही न तो हमारी अन्तरिक्ष-यात्राओं का अंत हो जाता है और न ही विज्ञान

कथाकारों की कल्पनाशीलता ही जड़ हो जाती है।

चन्द्रमा पर जीवन की कोई संभावना न होने पर वैज्ञानिकों ने अन्य ग्रहों की ओर यान भेजे। आज विज्ञान कथा लेखक अन्तरिक्ष में अन्य ग्रहों में जीवन की संभावना का ताना-बाना बुन रहे हैं। अब तो तलाश जारी है अन्तरिक्ष में जीवन की संभावनाओं की। कहीं न कहीं तो होगा जीवन, धरती से कम विकसित या अधिक? यह भी हो सकता है, जीवन विकास के प्रारम्भिक दौर में ही हो!

मानव की ज्ञान-पिपासा जाने कब शांत होगी? विज्ञान कथाकारों की कल्पनाशीलता और क्या-क्या गुल खिलाती है?

17 जुलाई 1975 को अमेरिका द्वारा छोड़े गए 'अपोलो' तथा रूस द्वारा छोड़े गए 'सोयूज-19' को अन्तरिक्ष में एक दूसरे से जोड़ दिया गया और दोनों यानों के वैज्ञानिकों ने एक यान से दूसरे यान में जाकर कुछ सामूहिक और कुछ अलग-अलग प्रयोग किये। उक्त कदम 'अपोलो-सोयूज मिशन' का मैत्री, सहयोग और सद्भावना के प्रतीक के रूप में वैज्ञानिकों ने स्वागत किया। यह रोमांचकारी घटना शत-प्रतिशत सफल रही। लेकिन आपको यह जाना और भी आश्चर्य होगा कि इन वैज्ञानिक प्रयोगों को साकार करने का श्रेय एक लेखक के दिमाग की उड़ान को है।

विज्ञान गल्प तथा रोमांचक कहानियों के लेखक 'मार्टिन केडिन' ने 1961 में अन्तरिक्ष सम्बन्धी एक उपन्यास लिखा था—'मैरूण्ड',

जिसमें किसी प्रकार अन्तरिक्ष में फँसे हुए अमेरिकी अन्तरिक्ष यात्रियों को एक रूसी यान द्वारा बचाये जाने का जिक्र था।

इसी उपन्यास पर बनी 'मैरूण्ड' फिल्म 1970 में वाशिंगटन में दिखायी जा रही थी। अमेरिकी विज्ञान अकादमी के अध्यक्ष फिलिप हैंडलर इस फिल्म को देखकर इतना प्रभावित हुए कि जब वे मास्को गए तब वहाँ के वैज्ञानिकों से कुछ ऐसा ही 'अमेरिकी-रूसी परीक्षण' कर गुजरने की बात की। उन्होंने पूरी फिल्म की कहानी रूसियों को सुनायी। रूसी वैज्ञानिक यह जानकर बड़े प्रसन्न हुए कि एक अमेरिकी फिल्म में रूसी वैज्ञानिक को 'हीरो' के रूप में प्रदर्शित किया गया है, जो अन्तरिक्ष में फँसे अमेरिकी वैज्ञानिकों को अपने यान से निकाल कर, ऑक्सीजन पहुँचाकर उनकी जान बचाता है।

इस फिल्म की बात इनके दिमाग में घर कर गयी। फिर दोनों राष्ट्रों के राजदूतों और नेताओं के बीच वार्ताएँ हुईं तथा सम्मिलित रूप से विभिन्न क्षेत्रों में वैज्ञानिक प्रयोग करने हेतु दोनों राष्ट्रों के बीच 24 मई, 1972 को एक समझौता हुआ और फलस्वरूप 'अपोलो-सोयूज मिशन' हमारे सामने आया। निश्चय ही इसका श्रेय 'मैरूण्ड' के लेखक श्री मार्टिन केडिन को है, जिनकी कल्पना मात्र से विज्ञानजगत् में एक नए युग के सूत्रपात का शुभारंभ हुआ है।

वस्तुतः विज्ञान कथा लेखक वैज्ञानिक कल्पना की उड़ान भरते हैं और विज्ञानी अपनी मेधा और मौलिक सूझ-बूझ से उनकी कल्पना को मूर्त रूप देते हैं। □

विज्ञान कथाओं के संबंध में रोचक और ज्ञानवर्धक सामग्री से

भरपूर पढ़िए

विज्ञान कथा विशेषांक (मूल्य 4 रु०)

मिलने का पता : विज्ञान परिषद्, महर्षिदयानन्द मार्ग, इलाहाबाद

दोस्ती

रमेशदत्त शर्मा

बी 38, कृषि बिहार, नयी दिल्ली—110048

एक थी फफूंदी और एक था शैवाल। कहने को तो दोनों ही वनस्पति, मगर हरा रंग सिर्फ शैवाल को मिला। फफूंदी बेचारी की सारी देह पीली पड़ी हुई। और देह भी क्या—बस भूरे-पीले-धागे जैसी। शैवाल की देह हरी-हरी गोल गेंदों जैसी। फफूंदी का पीला धागा टूटा तो एक और नहीं फफूंदी बन गई। शैवाल की हरी गेंद बीच में सिकुड़ कर टूटी तो एक और हरा शैवाल बन गया। इस तरह दोनों का वंश बढ़ता रहा।

फफूंदी की एक आदत बड़ी बुरी थी। दूसरों का बना-बनाया खाना चुराकर खा जाती। कभी अचार के मर्तबान में घुस गई, तो कभी कोने में रखी डबलरोटी पर अपना घर बना लिया। बरसात के दिनों में तो उसकी बड़ी मौज रहती। उन दिनों तो जहाँ मौका मिलता, वहीं फफूंदी रानी विराजमान और कुछ नहीं तो जूतों के चमड़े पर ही जम गई या काठ-कबाड़ पर ही आसन जमा लिया।

लेकिन गर्मी के दिन फफूंदी को तनिक भी न सुहाते। जब लू चलती तो फफूंदी रानी अपने भूरे-पीले धागे समेट कर गुड़मुड़ी हो जाती। फिर न हिलना, न डुलना। बस गोल मटोल पड़े रहना।

मौसम को लेकर यही हाल शैवाल का भी था। वर्षा की रिमझिम बूंदें पड़ती तो शैवाल

राजा भी हरी चादर फैलाकर लोट लगाते डोलते। कभी पेड़ों की छाल पर, कभी फर्श पर, तो कभी दीवाल पर। जहाँ जम जाते, वहीं फिसलाहट। पैर रखा नहीं, कि फिसले। गर्मी शैवाल को भी नहीं भाती। बिना पानी के वह बेचैन हो उठता।

एक बार की बात कि बड़े जोर का सूखा पड़ा। मौसम बरसात का, मगर एक बूंद भी पानी नहीं। खेतों में खड़ी फसलें सूख गईं। हरियाली की जगह रेत और धूल ने ले ली। नमी की कमी ने फफूंदी और शैवाल दोनों को बेदम कर दिया। दोनों भागे मैदान छोड़कर, पहाड़ों की तरफ लपके। आखिर एक चट्टान पर दोनों ने शरण ली।

चट्टान तो आखिर चट्टान ठहरी—निरी पत्थर। पत्थर में पानी कहां से आए। महीनों तक दोनों भूखे पड़े रहे। उधर फफूंदी अपने सूखे पीले-भूरे धागे देखती और सुबकने लगती। इधर शैवाल को जिन हरी-हरी गेंदनुमा कोशिकाओं पर गुमान था, वे भी पीली पड़ने लगीं। आखिर एक दिन शैवाल से न रहा गया। किसी तरह रेंगते-रेंगते वह फफूंदी के पास आया और अपनी पीली पड़ी गोल-गोल 'अंगुलियों' से फफूंदी के आँसू पोंछ डाले।

फफूंदी का दिल भर आया। वह कहने लगी, "शैवाल! तुम मुझसे दूर चले जाओ। मैं

चोर हूँ। तुम्हारा भोजन चुरा लूंगी। मैं बहुत भूखी हूँ।”

शैवाल ने धीरज बंधाया। वह बोला, “रो मत पगली। मैं भी तो भूखा हूँ। यह ठीक है कि मेरे पास हरा रंग है। यह भी ठीक है कि यह हरा रंग सूरज की किरणों की ताकत सोख लेता है। यह भी सच है कि मैं हवा की कार्बन डाइऑक्साइड सोख लेता हूँ। मगर फफूंदी रानी, इस चट्टान पर पानी कहाँ से आए? बिना पानी के इन सारी चीजों के होते हुए भी मैं खाना नहीं बना सकता।”

और कहते हैं कि फौरन फफूंदी रानी ने अपने भूरे-पीले धागे बढ़ाने शुरू किए। बढ़ते-बढ़ते उसके धागे चट्टान को भेद कर नीचे की मिट्टी तक जा पहुँचे। फफूंदी की धागेनुमा देह ने मिट्टी से पानी ही नहीं, उसके साथ साथ बहुत से खनिज पदार्थ खींच लिए।

शैवाल ने तुरंत भोजन बनाने का काम शुरू कर दिया। इस तरह दोनों हँसी खुशी से दिन गुजारने लगे। सिर्फ चट्टानों पर ही नहीं, दल-दलों पर भी दोनों की बस्तियाँ बस गईं।

फफूंदी अपना खाना चुराने का स्वभाव भूल चुकी थी। शैवाल ने अपनी गोल-मटोल हरी

कोशिकाओं को फफूंदी से चिपटा लिया। फफूंदी ने प्यार से अपने धागों को उसके इर्द-गिर्द डाल दिया। ऊपर से देखने पर यही लगता, कोई नई वनस्पति ऐसी जगहों पर भी उग रही है, जहाँ कोई और वनस्पति नहीं पनप सकती।

एक दिन एक वनस्पति खोजी दल वहाँ आ पहुँचा। उसने चट्टानों से चिपकी यह वनस्पति देखी तो आश्चर्य में पड़ गया। चट्टान से छुड़ाकर एक वनस्पतिविज्ञानी उसे प्रयोगशाला में लाया। काट कर सूक्ष्मदर्शी में देखा। सूक्ष्मदर्शी में चीजें अपने सामान्य रूप से सैकड़ों गुनी बड़ी दिखाई देती हैं। तो, उसने देखा कि ऊपर से एक दिखाई पड़ने वाली वनस्पति वास्तव में फफूंदी और शैवाल का संगम थी। दोनों ने एक-दूसरे का साथ निभाने का समझौता किया और ऐसा साथ निभाया कि दोनों एक हो गए।

बच्चों, बाद में वैज्ञानिकों ने वनस्पति के इस नए वर्ग को ‘लाइकेन’ नाम दिया। हिन्दी में इसे ‘शैवाक’ या ‘शेक’ कहते हैं। फफूंदी को संस्कृत में ‘कवक’ कहा जाता है। अतः ‘शैवाल’ का ‘शैवा’ या ‘शै’ और ‘कवक’ का ‘क’ लेकर यह नया नाम रचा गया है।

जमुना पैलेस का चौकीदार

विजय जो

जवाहर इंटर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद-212106

यमुना के किनारे एकांत और प्रकृति की गोद में स्थित ‘जमुना पैलेस’ (कोठी) को शहर में कौन नहीं जानता? इसकी मालकिन मिसेज माथुर कभी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर थीं। आजकल वे कोठी में अकेली ही रहती हैं। उनका एकलौता पुत्र अमेरिका में रहता है। वर्ष

में एक दो बार वह माँ से मिलने जरूर आता है।

सुनसान और एकांत का फायदा उठाकर अराजक तत्व इस क्षेत्र में ज्यादा सक्रिय रहते हैं। इसीलिए अखबारों में जमुना पैलेस का नाम अक्सर आता रहता है। खास जमुना पैलेस में

भी कई बार चोरियां हो चुकी हैं जिनमें लाखों की संपत्ति जा चुकी है। उस दिन सुबह-सुबह तो लोग चौंक पड़े जब स्थानीय दैनिक में निम्न-लिखित खबर छपी मिली —

जमुना पैलेस में डकैत इब्राहीम गिरफ्तार

इलाहाबाद, 10 जनवरी। शहर का कुख्यात डकैत इब्राहीम जो कई वर्षों से पुलिस की पकड़ से बच रहा था, आज रात मिसेज माथुर की कोठी 'जमुना पैलेस' से गिरफ्तार कर लिया गया। कोतवाली पुलिस के अनुसार पिछली रात 11 बजे मिसेज माथुर का फोन मिलने पर पुलिस दल तुरंत 'जमुना पैलेस' पहुँच गया। वहाँ 'जमुना पैलेस' के मेन गेट के सामने ही इब्राहीम अचेत अवस्था में पाया गया। उसके पास से गोलीभरे रिवाल्वर, कई हथगोले बरामद किये गये। थोड़ी दूर पर हथौड़े और ताला तोड़ने के अन्य सामान भी मिले। 'जमुना पैलेस' का पश्चिमी दरवाजा भी ठूटा हुआ मिला।

पुलिस ने कोठी की नाकेबंदी कर रखी है। डकैत को पुलिस के संरक्षण में अस्पताल ले जाया गया है। विस्तृत विवरण अभी नहीं मिल सका है।

इस कांड को लेकर आज दिन भर चायघर, चौपाल और चौराहों पर अटकलबाजियां चलती रहीं—

'खबर एकदम झूठी है, इब्राहीम अकेला वहाँ कैसे मिला ?

'इब्राहीम को पकड़ना कोई हंसी खेल थोड़े ही है ?

'जरूर कोई फोर्स वहाँ रही होगी ?

'अरे किसी इश्क-विश्क के चक्कर में कोई उसे वहाँ तक शराब पिलाकर ले गया होगा।'

इन्हीं अटकलबाजियों में पूरा दिन बीत गया। 11 जनवरी के दैनिक, जिसकी बेताबी से

प्रतीक्षा थी निम्नलिखित रिपोर्ट लेकर आ ही गया—

**जमुना पैलेस डकैती कांड
रहस्य और भी गहराया**

इलाहाबाद, 11 जनवरी। कुख्यात डकैत इब्राहीम जो कल अचेतावस्था में जमुना पैलेस से गिरफ्तार किया गया था, अब होश में आ गया है और उसने विस्तृत विवरण दिया है। इब्राहीम ने बताया कि वह जमुना पैलेस में डकैती की नीयत से ही गया था तथा उसके साथ उसके अन्य दस विश्वस्त साथी भी थे। कोठी की घेराबन्दी के बाद इब्राहीम और उसका एक साथी कोठी के सामने लान को पार करते हुये दरवाजे की ओर बढ़े। साथी डकैत ने पहले ही वार में पश्चिमी दरवाजे का लटका ताला तोड़ दिया। उसके दूसरे वार में दरवाजे का एक हिस्सा चरमरा कर टूट गया। तब तक इब्राहीम देखता है कि कोई काली हट्टी-कट्टी डरावनी छाया उसकी ओर बढ़ रही है। इब्राहीम थोड़ा ठिठका, फिर धड़ाधड़ अपने रिवाल्वर से दो फायर किये। अरे! यह क्या! उसके ऊपर गोलियों का कोई असर नहीं। छाया ने लपक कर अपने फौलादी हाथों से इब्राहीम को दबोच लिया। इब्राहीम के अनुसार वे हाथ इतने बलिष्ठ थे और उनका दबाव इतना तेज था कि उसकी हड्डी-पसली चरमरा उठीं और वह वहीं बेहोश हो गया।

थोड़ी दूर पर स्थित बस्ती वालों ने जो कुछ बताया उससे रहस्य और भी गहरा हो गया। एक आदमी ने कहा, 'साहब वहाँ तो जिन रहता है जिन! रात में वह कोठी के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है। किसकी मजाल जो कोठी को छू भी सके ?'

दूसरे ने कहा, 'साहब! मुझे तो पक्का यकीन है कि कोई भूत-ऊत का चक्कर है। पिछले

साल एक आदमी यहीं मारा गया था, हो न हो वही...।'

तीसरे ने एक कहानी बताई, 'एक रिक्शा-वाला एक बार सड़क पर रिक्शा रोककर कोठी की चहारदीवारी के अन्दर अमरुद तोड़ने के लिये हाथ बढ़ाया। अभी वह पके फल को टटोल ही रहा था कि एक डरावनी विशाल छाया उसकी ओर बढ़ी। उसकी बड़ी-बड़ी न गिरने वाली पलकों की आँखें, कैमरे की फ्लैशगन की तरह निकलने वाली रोशनी, लम्बे लम्बे बलिष्ठ हाथ और पैर, दानवाकार शरीर देखकर वह रिक्शावाला वहीं सड़क के किनारे अचेत होकर गिर पड़ा। थोड़ी देर बाद उसे जैसे ही होश आया वह सर पर पैर रखकर बस्ती की ओर भागा और बस्ती-वालों को आप बीती कहानी सुनाई।'।

हमारे संवाददाता ने जब मिसेज माथुर से उपरोक्त किस्सों के विषय में पूछा तो उन्होंने अनभिज्ञता व्यक्त की और कुछ भी बताने से इनकार कर दिया। पुलिस रहस्य का पर्दाफाश करने के लिए मिसेज माथुर की कोठी पर डटी हुई है।

आज दिन भर गली, मुहल्लों और चाय की दूकानों पर मिसेज माथुर डकैती कांड की ही चर्चा थी। भूत-प्रेतों के तरह-तरह के किस्से लोग सुन और सुना रहे थे। कुछ लोग मिसेज माथुर को तांत्रिक महिला का खिताब भी दे रहे थे। कुछ का कहना था कि मिसेज माथुर का प्रसिद्ध औघड़ बाबा से गहरा सम्बन्ध है।

जमुना पैलेस कांड रहस्य का पर्दा उठा

इलाहाबाद, 12 जनवरी। पिछले दो दिनों से चल रहा जमुना पैलेस डकैती कांड से रहस्य का पर्दा आज उठ गया है। डकैत इब्राहीम को पकड़ने वाले चौकीदार कोई और नहीं बल्कि रोबोट या यन्त्रमानव है। इस मशीनी चौकीदार का निर्माण पिछली गर्मी में घर आये मिसेज

माथुर के लड़के ने किया है। ज्ञातव्य हो कि मिसेज माथुर का पुत्र अशोक अमेरिका की एक रोबोट कम्पनी में इंजीनियर है।

पुलिस इंस्पेक्टर मि० शर्मा ने जब मिसेज माथुर से उपरोक्त तथ्यों को छिपाने का कारण पूछा तो मिसेज माथुर ने कहा कि ऐसा उसने मात्र सरकारी कानूनों के डर से किया था। मिसेज माथुर के अनुसार अभी इतना उत्कृष्ट रोबोट भारत में कहीं नहीं है। ऐसे उत्कृष्ट रोबोट की जानकारी यदि आम लोगों को होती तो यहाँ हमेशा देखने वालों की ही भीड़ रहती। मिसेज माथुर भीड़-भाड़ से दूर रहने वाली शांतिप्रिय महिला हैं।

इंस्पेक्टर शर्मा ने स्वयं देखा कि यह रोबोट मिसेज माथुर का कितना वफादार नौकर है। यह सुबह मिसेज माथुर को जगाता है, स्टोव जलाता है, चाय बनाता है, चाय लेकर मिसेज माथुर के पास तक पहुँचाता है। कभी कभार यह घर में झाड़ू भी लगाता है। रात में तो यह चौकीदारी भी करता है। मिसेज माथुर ने बताया कि उसका बेटा जब अगली गर्मी में आयेगा तो उस यन्त्रमानव को वह लिखना, पढ़ना और बोलना भी सिखायेगा। तब वह मिसेज माथुर के प्राइवेट सेक्रेटरी का काम भी करेगा।

अखबार की खबर पढ़कर हजारों लोग मिसेज माथुर की कोठी पर पहुँचने लगे। लेकिन कोठी अब भी पुलिस के घेरे में थी। चौकीदार रोबोट महोदय के दर्शनों के लिए आयी भीड़ घंटों प्रतीक्षा करती रही लेकिन रोबोट महोदय के दर्शन संभव न हुए।

चौथे दिन अखबार में छपा था— 'चौकीदार रोबोट महोदय गिरफ्तार! अगली तकनीकी प्रदर्शनी में रोबोट महोदय को सार्वजनिक प्रदर्शन के लिए रखा जायेगा।' □

सईस

विष्णुदत्त शर्मा

राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, नई दिल्ली-110012

एक बादशाह ने एलान कराया कि उसे महल में घोड़ों के अस्तबल के लिए एक ऐसा सईस चाहिए जो न रात को सोता हो और न ही दिन में। इसके अलावा राजा की मनपसंद सफेद घोड़ी को खुरैरा (एक प्रकार की धातुई-पत्ती का ब्रश) से साफ कर सके। नौकरी मिलने के बाद अगर पहरेदारी में पलभर भी आँख झपकी या घोड़ी चोरी चली गई तो जनता के सामने फाँसी के फंदे पर लटका दिया जाएगा।

अनेक पहरेदार आए और दो-चार दिन पहरा देने के बाद ही मौत की गोद में सुला दिए गए। आखिरकार एक व्यक्ति आया। देखने में शरीर गठीला, रंग गेहुआ, लम्बाई पाँच फुट साढ़े सात इंच और सिर तथा चेहरे के बाल बढ़े हुए—मानों किसी जंगल से भूखा-प्यासा भालू आ रहा हो। परिचित उसे प्यार में 'बिल्ला' कहते, मगर नाम था उसका—तत्वदर्शी जागु।

बादशाह—तुम्हारा नाम ?

व्यक्ति—तत्वदर्शी जागु।

'तुम्हारा नाम तो वैज्ञानिक है।'

'जी, लेकिन मैं काम से भी वैज्ञानिक बनना चाहता हूँ।'

'ऐसा क्यों?'

'क्योंकि नाम माँ-बाप ने रखा है और मैं काम से इसे सार्थक सिद्ध करना चाहता हूँ इसलिए आप मुझे केवल जागु ही कहकर पुकारें।'

'अपने बारे में कोई और खास बात।'

'यथा नाम तथा गुण।'

जागु को नौकरी मिल गयी और वह अस्तबल

में राजा की निजी घोड़ी की देखभाल करने लगा। एक दिन राजा ने उसकी परीक्षा लेनी चाही कि जागु सोता है या जगता रहता है। रात्रि के बारह बज चुके थे। अस्तबल में पहुँचकर राजा ने देखा कि जागु सो रहा है। राजा ने सोचा कल सुबह जागु की फाँसी लगा दी जाए। परन्तु निर्णय लेने से पूर्व राजा जागु से कुछ पूछना चाहता था, इसलिए उसको (दूर जाकर) आवाज लगाई।

'जागु ! ओ जागु...ऊ...ऊ...'

'जी ! राजा साब...अ...अ...'

'तू सो रहा है...ए...ए...'

'अरे तू सो रहा है। तू तो कहता था कि मेरा नाम जागु इसलिए पड़ा कि कभी सोता ही नहीं।' (पास आकर)

'जहाँपनाह मैं सो नहीं रहा था बल्कि सोच रहा था।'

'क्या'

'यही कि आपकी आवाज में ऊ SSSS और ए SSSS क्यों सुनाई देती है।'

'अरे मूरख ! यह तो आवाज है जो टकराने के बाद गूँज पैदा करती है तथा जिसे प्रतिध्वनि कहते हैं।'

'फिर समझाइये मेरी समझ में नहीं आया।'

राजा ने कहा, "परावर्तन के कारण प्रायः पहाड़ों, गहरे कुँओं, गड्ढों तथा बड़ी-बड़ी इमारतों में एक अत्यंत रोचक घटना होती है जिसको प्रतिध्वनि कहते हैं। इसी कारण मुँह से निकली आवाज काफी देर तक वायुमंडल में गूँजती रहती है। जब हम मूलध्वनि और

परिवर्तित ध्वनि को अलग-अलग सुनते हैं तब प्रतिध्वनि का अस्तित्व प्रतीत होता है। दो ध्वनियों को स्पष्ट रूप से अलग-अलग तब सुन सकते हैं जब वे कम से कम 1/15 सेकण्ड के कालान्तर पर हमारे कानों में पहुँचती हैं।”

राजा जागु को जागते रहने का आदेश दे कर चला गया। पन्द्रह मिनट बाद राजा ने फिर देखा कि जागु सो रहा है। राजा ने जागु से फिर पूछा, “तू सो गया?”

जागु - “मैं सोया नहीं बल्कि मोच रहा था कि ग्रहण क्यों पड़ता है।”

‘सूर्य के चारों ओर पृथ्वी परिक्रमा कर रही है जिस कारण रात-दिन होते रहते हैं और चन्द्रमा पृथ्वी के चतुर्दिक परिक्रमा करता है। जब कुछ निश्चित अवधि में सूर्य और के पृथ्वी के बीच से गुजरता है तो सूर्य से आने वाले प्रकाश को चन्द्रमा रोक देता है। फलस्वरूप पृथ्वी पर छाया पड़ती है और सूर्यग्रहण हो जाता है। हम में से, उन लोगों को, जो इस छाया के मध्य होते हैं, पूर्ण ग्रहण दिखाई पड़ता है और जो लोग उपच्छाया में होते हैं, उन्हें खण्डग्रहण दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार से परिक्रमा करते हुए पृथ्वी भी सूर्य और चन्द्रमा के मध्य से गुजरती है उस दशा में चन्द्रमा पृथ्वी की छाया में आ जाता है और चन्द्रग्रहण पड़ जाता है। लेकिन जहाँपनाह आकाश में जो बादल गरजते हैं और बिजली चमकती है, उसका कारण क्या है?’

‘बादलों के गरजने से पहिले उनमें काफी मात्रा में विद्युत् आवेश इकट्ठे रहते हैं। चूँकि पृथ्वी से बादल बहुत ऊँचाई पर होते हैं इसलिए ये एकत्रित आवेश पृथ्वी में नहीं जा पाते। विपरीत आवेशों (धनात्मक एवं ऋणात्मक) वाले बादल जब निकट आ जाते हैं तब उनके बीच एक शक्तिशाली विद्युत्क्षेत्र पैदा हो जाता है जिसके कारण ऋण आवेशित बादलों के

इलेक्ट्रॉन हवा से होकर धन आवेशित बादलों की ओर जाने लगते हैं। इस विद्युत्धारा के कारण हवा गर्म हो जाती है और साथ ही विद्युत् चालक भी बन जाती है। परिणामस्वरूप ऐसे दो बादलों के बीच बिजली चमकने लगती है। इस प्रकार बिजली का चमकना और बादलों का गरजना एक साथ होता है।’

‘नहीं जहाँपनाह! बिल्कुल गलत, क्योंकि पहले चमक दिखाई देती है जबकि गर्जन की आवाज बाद में सुनाई देती है।’

‘अरे मूर्ख! इसका कारण यह है कि हवा में आवाज की रफ्तार 340 मीटर प्रति सेकण्ड है जबकि प्रकाश की चाल तीन लाख (300000) कि० मी० प्रति सेकण्ड है।’

‘तो फिर बादलों की गड़गड़ाहट का कारण क्या है?’

‘बादलों का गर्जन अलग-अलग भाग से पृथ्वी पर एक साथ नहीं पहुँचता, इसके अलावा पृथ्वी पर की अनेक वस्तुओं से ध्वनिपरावर्तन होता है जिसके कारण ध्वनि देर तक सुनाई पड़ती रहती है।’

‘बिजली धरती पर गिरती कैसे है?’

‘विद्युत् विसर्जन केवल दो आवेशित बादलों के बीच ही नहीं होता बल्कि किसी आवेशित बादल और पृथ्वी के बीच भी हो जाता है। जब ऋणात्मक रूप से आवेशित बादल काफी नीचे पृथ्वी के समीप आ जाता है तब इसके द्वारा पृथ्वी के धरातल पर धनात्मक आवेश प्रेरित हो जाता है। फलस्वरूप बादल और पृथ्वी में से विद्युत्-विसर्जन होकर बिजली चमकने लगती है।’

लेकिन जागु, मेरी समझ में यह नहीं आता कि तू वैज्ञानिक है, दार्शनिक है, सिर-फिरा पागल है या पहरा देने वाला सईस? अच्छा! मैं जाता हूँ, तू घोड़ी की देख-भाल कर...कहीं वह चोरी न हो जाए।’

‘चोरी ! चोरी नहीं हो सकती । मैं सोचता जरूर हूँ लेकिन जगते हुए, क्योंकि मेरा नाम है—जागु ।’

रात्रि का अंधकार समाप्त हुआ । सूर्य के प्रथम किरण के अस्तबल में पहुँचने सर सईस ने देखा कि घोड़ी गायब थी । वह चिन्ता करने लगा कि फाँसी तो लगेगी ही और न जाने इस जुर्म में क्या-क्या यातनाएँ दी जाएँ । उसी समय जागु को एक युक्ति सूझी कि क्यों न निकट मकान में पल रहे हिरनी के बच्चे को लाकर घोड़ी के स्थान पर बाँध दिया जाए । इस प्रकार अपने सिर पर मँडराती मौत की घड़ियाँ उसने गिननी शुरू कर दीं ।

प्रातःकालीन कार्यों से निवृत्त होकर जब राजा अस्तबल आया तो देखा घोड़ी गायब है और उसके स्थान पर हिरनी का मासूम बच्चा बँधा हुआ है । यह दृश्य देखकर राजा भौचक्का रह गया । परन्तु जागु से पूछा—

‘सारी रात विज्ञान के सवाल करता रहा, अब बता घोड़ी कहाँ है ?’

‘अस्तबल में—’

‘वहाँ तो हिरनी का बच्चा है ।’

‘जहाँपनाह, पहले मैं नाम से वैज्ञानिक था अब तो काम से भी वैज्ञानिक हो गया हूँ ।’

‘बको मत, बता घोड़ी कहाँ है वरना फाँसी पर चढ़ा दिया जाएगा ।’

‘अन्नदाता ! आपके दिए हुए खूरैर से मैं सारी रात घोड़ी को साफ करता रहा । मुझे क्या मालूम था कि वह घिसते-घिसते इतनी छोटी हो जाएगी ?’

‘यह भी कोई वैज्ञानिक सिद्धान्त है ?’

‘जहाँपनाह, इस नश्वर संसार में अविनाशिता के नियम को कौन नहीं जानता ?’ ‘चोरी और सीना जोरी ! बाँध लो इसे जंजीरों में (अपने अंग रक्षकों की ओर देखकर) ।’

अगले दिन राजा का दरबार खचाखच भरा था । सिपाही जागु को जंजीर से जकड़े लाए तथा राजदरबार में पेश किया ।

राजा ने अभियोग को सुनाकर दरबारियों से कहा, ‘आप जो चाहे सजा दें । निर्णय आप लोगों पर छोड़ता हूँ ।’

सभी (एक स्वर में) : ‘ऐसे गद्दार, विश्वासघाती, नमकहराम और देशद्रोही को फाँसी न दी जाए बल्कि अधजला चौराहे पर डाल दिया जाए ताकि गलियों के भूखे कुत्ते इसकी बोटी-बोटी कर दें तथा चील, कौवे, गिद्ध और सियारों के साथ भोज करें ।’

राजा ने इसकी अनुमति नहीं दी लेकिन जन-आक्रोश प्रबल था । □

विज्ञान कथा/उपन्यास के संबंध में पूछे गए प्रश्नों के उत्तर

डॉ० वरदराजन

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (सी० एस० आइ० आर०) के

महानिदेशक तथा सचिव, भारत सरकार, नई दिल्ली

प्रश्न 1. आज के वैज्ञानिक युग में विज्ञान कथायें/उपन्यास भी साहित्य की एक विधा के रूप में अपना निश्चित स्थान बना चुकी हैं । क्या विज्ञान के प्रचार-प्रसार में आप इन विज्ञान

कथाओं की कोई महत्वपूर्ण भूमिका मानते हैं ?

उत्तर 1. जी, हाँ ।

प्रश्न 2. क्या आप किसी एक लेखक/लेखकों या रचना का नाम लेना चाहेंगे जिसने आपकी

वैचारिक दिशा को इस दृष्टि से सर्वाधिक प्रभावित किया हो ?

उत्तर 2. आइजक एसिमोव

प्रश्न 3. क्या आपने कभी विज्ञान कथा/ उपन्यास लिखे हैं ?

उत्तर 3. जी, नहीं

प्रश्न 4. क्या कभी आपकी ऐसी इच्छा होती है कि अपने अवकाश के क्षणों में अपने वैज्ञानिक अनुभवों और शोधों का ताना-बाना लेकर जन-सामान्य के लाभ के लिए किसी विज्ञान कथा/ उपन्यास की संरचना करें ?

उत्तर 4. अनुसंधान कार्यों में अत्यधिक व्यस्तता के कारण विज्ञान कथाएँ/ उपन्यास लिखने के संबंध में सोचने का समय ही नहीं मिल पाया ।

प्रश्न 5. जन-सामान्य में वैज्ञानिक अभिरुचि को विकसित करने के लिए आप पाठकों को कौन-सी विज्ञान कथा/उपन्यास पढ़ने की राय देंगे ?

उत्तर 5. विज्ञान कथाओं/उपन्यासों की सूची बहुत बड़ी है और इनमें से काफी-कुछ चुनने के व्यापक अवसर भी उपलब्ध हैं, तथापि एक बात स्पष्ट है कि ये आम आदमी के लिए नहीं हैं क्योंकि विज्ञान कथाओं/उपन्यासों को समझने और उनका आनन्द उठाने के लिए विज्ञान के कुछ आधारभूत सिद्धांतों की जानकारी की आवश्यकता होती है। अभी जन-सामान्य का कुछ वर्ग इनसे अपरिचित है। इन्हें जाने बिना विज्ञान कथाओं/उपन्यासों की सराहनना नहीं की जा सकती ।□

प्रश्नावली के उत्तर

प्रेमानन्द चन्दोला

ई 1, साकेत, एम० आई० जी० फ्लैट, नई दिल्ली—110017

1. साहित्य में जिस तरह कथाओं/उपन्यासों, नाटकों आदि का निश्चित स्थान है उसी तरह वैज्ञानिक साहित्य में भी विज्ञान कथाओं/ उपन्यासों/ नाटकों का अपना स्थान है। पाठक की यह प्रकृति होती है कि उसे 'वेराइटी' चाहिए, मनोरंजन चाहिए और नया क्षितिज चाहिए और इस अपेक्षा की पूर्ति के लिए वैज्ञानिक सामग्री भी नये रूप में चाहिए। यह एक स्वाभाविक मांग है।

पहले जमाने में हमारे यहाँ तिलिस्म और प्राचीन विज्ञान का साहित्य गर्म था तो अब आधुनिक वैज्ञानिक साहित्य का जोर है, जो कि युग का प्रभाव है। इस बारे में संकेत कर देना काफी होगा। बाबू देवकीनन्दन खत्री और दुर्गाप्रसाद खत्री के तिलिस्मी व वैज्ञानिक

उपन्यासों ने तो उस जमाने में लोगों में इतनी उत्सुकता पैदा की थी कि लोगों ने इनके साहित्य को पढ़ने के लिए ही हिन्दी सीखी थी।

इसलिए सार रूप में निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि विज्ञान के प्रचार-प्रसार और वैज्ञानिक सामग्री के सहज ग्रहण में निस्संदेह इनकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

2. इस प्रसंग में कुछ हस्ताक्षरों और कृतियों को अवश्य गिनाना चाहूँगा, जिनमें से कुछ इस प्रकार से हैं—चन्द्रकांता संतति, जूलस वर्न का 'एराउन्ड द वर्ल्ड इन एटी डेज', एच० जी० वेल्स रचित 'टाइम मशीन', 'वार ऑव द वर्ल्ड्स' आदि, जॉर्ज ऑर्वेल की कृति 'नाइनटीन एटी फोर', आइजेक आसिमोव की कृतियाँ, अमरीकी लेखिका राशेल कार्सन की कृति 'साइलेंट

स्प्रिंग' (जिसकी हिन्दी रूपांतर मैंने किया था और जो बहुत पहले 'नवनीत' में प्रकाशित हुआ था), आर्थर सी० क्लार्क के उपन्यास, प्रसिद्ध भारतीय वैज्ञानिक डॉ० जयंत विष्णु नार्लीकर की कहानियाँ आदि।

3. वैज्ञानिक उपन्यास तो नहीं लिखे हैं लेकिन एक उपन्यास लिखना शुरू किया है। हाँ, विज्ञान कथाएं व वैज्ञानिक नाटक अवश्य लिखे हैं। ये विज्ञान कथाएं व नाटक विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए थे। विज्ञान कथाएं संग्रह रूप में "चीखती टपटप और खामोश आहट" नाम से और तीन वैज्ञानिक नाटकों का संग्रह हिन्द पाँकेट बुक्स से "बैक्टीरिया अदालत में" नाम से प्रकाशित हो चुका है। हाल ही में एक विज्ञान-कथा 'वनस्पति मानव' दो किशतों में 'विज्ञान प्रगति' मासिक में और दूसरी कथा 'सचाई का पेन्डुलम' 'विज्ञान' में प्रकाशित हो चुकी है। तीसरी विज्ञान कथा 'घर का जासूस' 'विज्ञान प्रगति' में प्रकाशित होने वाली है। दो

और वैज्ञानिक नाटक 'बाल-भारती' मासिक में स्वीकृत हैं जो शीघ्र प्रकाशित होंगे।

4. कभी-कभी क्या हर समय यह इच्छा बनी रहती है कि अवकाश मिलने पर बच्चों व बड़ों दोनों के लिए नए रंग-बिरंगे ताने-बाने से बुनकर विज्ञान कथाएं व उपन्यास सुधी पाठकों को दूँ पर व्यस्तताओं के कारण द्रुत लेखन करना संभव नहीं होता।

5. टीवी-फिल्मों में 'जाएन्ट रोबो', 'स्टार ट्रेक' आदि को देखा जाना चाहिए। विज्ञान फिल्मों में हाल की 'द लास्ट डे' ने परमाणु युद्ध की भयानकता का एक दहला देने वाला और आँख खोलने वाला खाका खींचा है कि अगर यही रफ्तार रही तो एक दिन दुनिया तहस-नहस हो जाएगी। अन्य दर्शनीय फिल्में हैं अर्थर क्लार्क की 'स्पेस ओडीसी'। बानगी के लिए एच० जी० वेल्स, आर्थर सी० क्लार्क, कार्ल सागां, डॉ० जयंत विष्णु नार्लीकर, बंगला, मराठी तथा हिन्दी के विज्ञान लेखकों के कथा साहित्य को पढ़ने की राय दूँगा। □

पेड़-पौधे भी संवेदनशील होते हैं

डॉ० अवधेश शर्मा

35, शिक्षक आवास, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-5

पेड़-पौधे जिन्हें न किसी से लगाव होता है न दुराव, निष्कलुष और पवित्र अन्तःकरण वाले व्यक्ति की तरह ही यह ताड़ लेते हैं कि पास आने वाला व्यक्ति या प्राणी शत्रु है या मित्र। अमेरिका के प्रोफेसर मर्किल वोगल ने इस तरह के कई प्रयोग किये और उन्होंने जो जानकारीयाँ एकत्रित की वे बेहद चौंकाने वाली तथा आश्चर्यजनक हैं।

पेड़-पौधे न केवल अपने पास आने वाले व्यक्तियों के भले-बुरे भावों को पहचान लेते हैं

बल्कि उन भावनाओं से प्रभावित भी होते हैं। प्रो० वोगल ने प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध किया कि पौधे उन्हें उखाड़ने या नष्ट करने के विचार मात्र से पूरी तरह आतंकित हो जाते हैं। यह सिद्ध करने के लिए उन्होंने अपने एक मित्र विवियन विले के सहयोग से एक प्रयोग की योजना बनाई। इसके लिए उन्होंने गमले में लगे दो पौधों को चुना। इसे दोनों ने अपने शयन-कक्ष में रखा। वोगल ने जो पौधा अपने शयन-कक्ष में रखा था, जब भी वे वहाँ जाते तो पौधे

के प्रति अच्छे भाव और शुभ विचार लाते। इधर विले अपने शयनकक्ष के पौधे के पास जब भी जाते तो पौधे को उखाड़ने, या नष्ट करने का विचार करता। दोनों मित्र प्रातःकाल जब उठते तो इसी प्रकार के विचार करते।

एक माह बाद देखा गया तो वोगल वाला पौधा पहले की अपेक्षा अधिक हरा भरा था और विले वाला पौधा पहले की अपेक्षा सूखकर पीला पड़ने लगा था। दोनों को जो खाद-पानी दिया गया था वह एक ही तरह का था। संभव है यह मात्र संयोग ही रहा हो। यह सोचकर वोगल तथा विले पहले के भावों से विपरीत भावनायें जगाने लगे। महीने भर बाद देखा गया कि वोगल, वाला पौधा सूखने लगा तथा विले वाला पौधा हरा-भरा रहने लगा।

इन लम्बे प्रयोगों के बाद वोगल ने कुछ और भी प्रयोग किये। उन्होंने अपनी प्रयोगशाला में एक पौधे को ऐसे यंत्र से जोड़ा जो पौधे की आंतरिक संरचना में होने वाले परिवर्तनों को कंपन के रूप में अंकित करता था। पौधे को इस यंत्र से जोड़ने के बाद वोगल ने अपने हथेलियों को पौधे के चारों ओर पास किया तथा साथ ही अपने मन में पौधे के प्रति मित्रता के भाव भी जगाने लगे। वोगल ने देखा कि पौधे के साथ लगे यंत्र ने कागज पर एक ग्राफ खींच दिया है। इस प्रयोग को उन्होंने कई बार दोहराया और लगभग एक ही समान ग्राफ प्राप्त किया।

प्रोफेसर वोगल ने इन प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्षों को वनस्पति विज्ञानियों के एक सम्मेलन में रखा तो कई वैज्ञानिकों ने इनके प्रयोगों में रुचि दर्शायी। एक वनस्पतिविज्ञानी डॉ॰ सिलेम जोन्स ने स्वयं इस प्रयोग को अपने हाथों से किया और संतोषजनक परिणाम प्राप्त किये। एक बार जब जोन्स ने वोगल की प्रयोगशाला में प्रवेश किया तो पौधे ने कंपन देना

एकदम बन्द कर दिया। वोगल ने जब जोन्स से विचार पूछे तो उन्होंने बताया कि इस पौधे की तुलना अपने पौधे से कर रहा था जो हरा भरा है। वोगल के उस पौधे ने इस घटना के दो सप्ताह बाद तक कोई कंपन अंकित नहीं किया। मशीन काम कर रही थी फिर कंपन क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर देते हुए वोगल ने कहा कि जोन्स अपने मन में पौधे के प्रति जो भाव लाये थे और उसके प्रति जो हीनता की भावना व्यक्त की थी उससे पौधे की भावनाओं को बड़ी ठेस पहुँची और इसी कारण कोई बात करने—प्रतिक्रिया व्यक्त करने से इनकार कर दिया था।

पौधों की संवेदनशीलता को न्यूयार्क के प्रसिद्ध वनस्पति विज्ञानी क्ली वैक्स्टर ने भी सिद्ध कर दिखाया है। इन्होंने कंठ अंकित करने के लिए गेलवेनोमीटर इस्तेमाल किया और उसके सुई की जगह पेन प्रयोग में लाए। क्ली वैक्स्टर ने पेड़ की एक पत्ती को जुड़ी हालत में ही काफी की प्याली में डाला, लेकिन कोई प्रतिक्रिया अंकित नहीं हुई। पुनः उन्होंने विचार करके कि पत्ती को जला देंगे, माचिस की तीली को ज्योंही हाथ लगाया, गेलवेनोमीटर ने पेड़ के कंपनों को तेजी से अंकित करना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रयोग को उन्होंने कई बार दोहराया और ग्राफों को सुरक्षित रख लिया गया। यही प्रयोग पच्चीस तरह के भिन्न-भिन्न पौधों पर दोहराया गया जो देश के विभिन्न कोनों से मंगाये गये थे। सभी पौधों पर विचारों के होने वाले प्रभाव को अलग-अलग गेलवेनोमीटर से आँका गया तो वही परिणाम सामने आये जो पहले आये थे। इन कंपनों को ध्वनि तरंगों में रूपान्तरित किया गया। जब ध्वनियों को सुना गया तो उसमें कहीं भय, कहीं प्रसन्नता, कहीं हर्ष तो कहीं उल्लास की ध्वनियाँ निकलती थीं।

भयभीत होने, प्रसन्नता व्यक्त करने तथा शत्रु को पहचानने में समर्थ होने के अतिरिक्त

पेड़-पौधे गर्मी और सर्दी भी महसूस करते हैं, उन्हें प्यास भी लगती है। यह खोज रूस के प्रसिद्ध वनस्पतिशास्त्री लियोनिड ए० पनिश-किन तथा कैरोमोनेव ने की है। इन्होंने एक विशेष यंत्र को एक सेम के पौधे के साथ जोड़ा। जब पौधे को पानी की जरूरत पड़ती तो वह यंत्र पर एक विशिष्ट प्रक्रिया द्वारा संकेत देता। यह संकेत देखकर पौधे को एक विशेष विधि से पानी दिया जाता। यह देखा गया कि पहले दो मिनट तक पौधे ने पानी लिया किन्तु फिर उसने पानी के प्रति अनिच्छा व्यक्त की। इसके घटे भर बाद पौधे ने पुनः पानी का संकेत किया।

इन अनुसंधानों ने वनस्पतिविज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन प्रस्तुत किया है। कोई आश्चर्य नहीं कि पेड़-पौधों के इस तरह के व्यवहार को देखते हुए उन्हें जानवरों, प्राणियों से अलग न माना जाय। भाव-संवेदनाओं की दृष्टि से वृक्ष-वनस्पति को यंत्र की श्रेणी का ही कहा जा सकता है। मनुष्य और वनस्पति में अन्तर है तो इतना ही कि वनस्पति मनुष्य की भाषा में बात नहीं कर सकता। तो मनुष्य भी वनस्पतिजगत् की भाषा में बात करने में कहाँ समर्थ है? □

ब्रोकेन सिमिट्रीज : वास्तविकता के ताने-बाने से बुना नया विज्ञान उपन्यास

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

विज्ञान कथाओं के क्षेत्र में ब्रोकेन सिमिट्रीज (लेखक : पालप्रियूस) का प्रकाशन एक नई दिशा का सूचक है क्योंकि इसमें विज्ञान कथाओं के पारंपरिक अन्तरिक्ष और दूसरे ग्रहों के कथानकों की लीक से हटकर वर्तमान के विज्ञान और तकनीकी की बात ली गई है। उपरोक्त विज्ञान उपन्यास वर्तमान शताब्दी के एक विशाल 'न्यूक्लियर एक्सिलेरेटर' के इर्द-गिर्द बुना गया है। 'टेरेक' (TERAC) नामक यह प्रयोगशाला खूबसूरत हवाई द्वीप पर स्थापित की गई है। उपन्यास का मूलकथ्य आधुनिक विज्ञान की कुछ विडम्बनाओं और विसंगतियों की ओर इंगित करता है जहाँ महान से महान वैज्ञानिक भी अपने कुछ वैयक्तिक पूर्वाग्रहों और निष्कर्षों से भ्रमित होकर कुछ ऐसी भूलें कर सकता है जो सारी दुनिया को अनजाने में 'नाभिकीय विभी-

षिका' के कगार पर खड़ा कर सकता है। 'नोबल पुरस्कार' के दरवाजे पर दस्तक देने वाला, उपन्यास का खूबसूरत नायक, महान वैज्ञानिक डॉ० पीटर स्लेटर अपनी कुछ गणनाओं और निष्कर्षों को प्रयोगशाला के 'प्रमुख' वैज्ञानिक डॉ० एडोविच की गणनाओं से बिल्कुल उलटा पाता है। मतभेद इतना मामूली भी नहीं है क्योंकि इन्हीं गणनाओं पर अकल्पनीय शाक्तिवाले एक नये नाभिकीय उपकरण का बनाया जाना निर्भर करता है। आगे कथाक्रम में तकनीकी सूक्ष्मताओं के साथ रहस्य और रोमांचक के भी ऐसे तत्वों का समावेश है जो पुस्तक की रोचकता को बढ़ा देते हैं। अनजाने में एक बार डॉ० स्लेटर द्वारा किसी विज्ञान-पत्रकार को कुछ ऐसी बातें बता दी जाती हैं जिनसे वह आसानी से योजना के प्रारंभ से पूर्व ही होने वाली दुर्घटना

का सम्बन्ध जोड़ लेता है। कहानी में हवाई के एक नेता भी हैं जो प्रारंभ से ही इस परियोजना के विरोध में हैं और अन्य लोग दुर्घटना का संबंध उनके द्वारा की गई विध्वंसात्मक कार्रवाई से जोड़ते हैं। डॉ० स्लेटर का सम्बन्ध एक महिला छाया चित्रकार से भी है जो अपने मोहपाश में बाँधकर उनसे अनेक गुप्त तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर लेती है।

संक्षेप में यह उपन्यास अमेरिकी और जापानी वैज्ञानिकों की दुनिया, आधुनिक शोध-सुविधाओं, मानवता के संबंध में उनके विचारों, उनकी महत्वाकांक्षाओं, कार्यविधियों, सामाजिक जीवन और राजनैतिक दाँव-पेचों का सजीव चित्रण करता है।

पुस्तक में इस तथ्य को सफलता से उभारा जा सका है कि विज्ञान के संसार की खोजपूर्ण

पत्रकारिता मानवहितों के लिए कितनी आवश्यक है और यदि जनता इन प्रतिभाशाली किन्तु शक्तिलोलुप वैज्ञानिकों की रहस्यपूर्ण गति-विधियों से परिचित नहीं कराई जाती तो उसका अंत भीषणतम दुर्घटनाओं में हो सकता है। लेखक हवाई द्वीप के मनोरम सौंदर्य के काव्यपूर्ण अंकन और तकनीकी जटिलताओं को कुशलता से एक-दूसरे में पिरो सका है और विज्ञान उपन्यास होते हुए भी पुस्तक की रोचकता असंदिग्ध है। यहाँ पुस्तक के विषय में कुछ और न कहकर यही कहना चाहता हूँ कि जहाँ आम पाठकों को इसमें एक रोचक उपन्यास का आनन्द मिलेगा वहीं विज्ञान कथाकारों को एक नई उर्वर भूमि। 333 पृष्ठों का यह विज्ञान उपन्यास, जिसका प्रकाशन पेंग्विन बुक्स ने किया है, सबके लिए पठनीय है। ...

हिन्दी का विज्ञान कथा साहित्य

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

यहाँ पर मैं पाठकों का ध्यान चार रचनाओं की ओर आकृष्ट करूँगा।

(1) पराग का 'विज्ञान कथा विशेषांक'— दिसम्बर 1975— इस अंक में बच्चों के लिए 11 रोचक विज्ञान कथाएँ दी गई हैं। नाम हैं— आग से आग कटती है (मनहर चौहान), मिठाई चोर (आदित्य), रोबो अध्यापक (महेन्द्र कुल-श्रेष्ठ), भविष्यवाणी का अर्थ (राजेन्द्र मेहता), उसने पथरों को बोलना सिखाया (भगवत शरण उपाध्याय), टिकने का सवाल (विनोद विभाकर), शीशियों में बन्द दिमाग (राजेश्वर गंगवार), हरे जीवों के चंगुल में (राममूर्ति), छः इंची वैज्ञानिक (कैलाश साह), साढ़े पाँच फुट का जुगनू (जवाहरलाल कौल)। इन कहानियों के

लेखकों में राजेश्वर गंगवार, कैलाश साह तथा राममूर्ति जाने माने विज्ञान कथा लेखक हैं। स्पष्ट है कि इन्हीं की कहानियों में विज्ञान कथा का वास्तविक पुट है। शेष कहानियाँ तो निबन्ध सरीखी हैं। लगता है कि हिन्दी के लेखक अभी भी बाल-मन को नहीं समझ पाये, न ही वे उसे वास्तविक कहानी या कहानी शैली दे पाये हैं। चूँकि विज्ञान कथाओं का अभी श्री गणेश हो रहा है अतः हिन्दी के विज्ञान कथा साहित्य में बालोपयोग कथाओं के रूप में यह अंक उल्लेखनीय ही कहा जावेगा।

(2) समुद्री दुनिया की रोमांचकारी यात्रा— यह पुस्तक जुले वर्न की सुप्रसिद्ध पुस्तक Twenty

thousand leagues under the sea का हिन्दी रूपान्तर है। पृष्ठ संख्या 112।

सम्भवतः किशोरों के लिए किया गया यह अनुवाद इतना सरस है कि मूल पुस्तक की रोचकता का आनन्द मिलता है। यह पुस्तक सर्वथा पठनीय है। इसमें समुद्र के भीतर किस प्रकार के जीव जन्तु हैं और पनडुब्बी के निर्माण का किस कौशल से पूर्वाभास किया गया है, जुले वर्न की निजी विशेषता है।

(3) दूसरी दुनिया का मुसाफिर तथा अन्य कहानियाँ—इण्डियन पब्लिशर्स लखनऊ (वैज्ञानिक कथा साहित्य पुस्तक माला), प्रथम संस्करण 1962 मूल्य 4 रु० 37 पैसे। यह सोवियत कथाकारों की कथाओं का हिन्दी अनुवाद है जिसे रमेश सिनहा ने किया। इसमें जिन 6 कथाओं का अनुवाद है वे हैं—

ह्वाइटी ट्वाइटी अथवा मनमौजी हाथी (बेलियेव), सराम अथवा मानव निर्मित दानव की कहानी (स्त्रूगात्स्की द्वय), दूसरी दुनिया का मुसाफिर (काजन्तसेव), मंगल का वासी (काजन्तसेव), काला सूर्य (गुरोविच) तथा प्रोफेसर बर्न का पुनर्जागरण (शावचेन्को)। इन कहानियों में से अन्तिम कहानी 'विज्ञान' के 'विज्ञान कथा विशेषांक' में छप चुकी है। शेष कहानियों में पहली में हाथी के मस्तक में एक जर्मन पुरुष का मस्तिष्क लगाने पर जो दशा होती है उसकी कल्पना है। अन्य कहानियाँ अन्तरिक्षविज्ञान से सम्बन्धित हैं। कहानियों का अनुवाद अत्यन्त रोचक बन पड़ा है। लेखक को रूसी कथाओं के इस प्रथम संग्रह को हिन्दी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए जितनी बधाइयाँ दी जायँ, कम होंगी। विज्ञान कथा लेखन में ऐसे लेखकों का योगदान कम नहीं है जो विदेशी कथा साहित्य को हिन्दी में रूपान्तरित करते हैं। रूसी कथाओं की विशेषता है उनकी विशदता, अतएव उनमें सूक्ष्म निरीक्षणों का वर्णन और वर्णन भी

ऐसा जो विज्ञान के किसी विशेषज्ञ द्वारा ही कल्पित होते हैं। शायद हिन्दी में अभी ऐसी परिस्थिति नहीं बन पाई है। हमारे बड़े-बड़े वैज्ञानिक शायद इधर ध्यान नहीं देते या देते हैं तो भाषा व्यवधान बनती है लेकिन जिस गति से भारत अन्तरिक्ष-अभियान में भाग ले रहा है, जिस तरह अंटार्कटिका क्षेत्र में प्रवेश कर रहा है, पर्वत की चोटियों को जिस तरह विजित कर रहा है और समुद्रों में जिस तरह प्रवेश कर रहा है उससे समुचित वातावरण तैयार हो चुका है। किशोरों एवं सामान्य पाठकों के लिए ही नहीं अपितु वैज्ञानिकों के लिए भी विज्ञान कथाएँ प्रेरणाप्रद सिद्ध होती हैं अतएव इस दिशा में लेखन को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। हिन्दी में विज्ञान लेखन की यह सशक्त विधा सिद्ध होगी— इसमें सन्देह नहीं है।

मैं 'दूसरी दुनिया का मुसाफिर' से एक उद्धरण दे रहा हूँ (पृ० 202-3)।

'मंगलग्रह मरते हुए जीवन का ग्रह है। आकार में वह पृथ्वी से छोटा है और उसके गुस्त्वाकर्षण का बल भी पृथ्वी से कम है इसलिए अपने असली वायुमण्डल को वह सुरक्षित न रख सका पूरे मंगल पर इतना कम पानी रह गया है कि उसे अकेली हमारी बैकाल झील में रख दिया जा सकता है।' 'तब फिर वे हमारी पृथ्वी पर कब्जा करने के उद्देश्य से यहाँ उड़कर आये थे, हमारे हरे भरे ग्रह को वे हथिया लेना चाहते थे, 'हाँ जैसे कि खुद हमारे यहाँ हिटलरों, ट्रूमैनो और मैकार्थरों की कोई कमी है?' मेरा ख्याल है कि आपका विचार गलत है। वेल्स तथा अन्य पश्चिमी लेखक दुनियाओं के नजदीक आने की जब कल्पना करते हैं तब उनके दिमागों में सिर्फ आक्रमणों एवं युद्धों की ही बात आती है। मुझे लगता है कि मंगल की जल-व्यवस्था की वस्तु-स्थिति को जान कर और मंगलवासियों के वृहत् सिंचाई के साधनों की रचना को देखकर

उनकी सामाजिक व्यवस्था के सम्बन्ध में भी हम कुछ निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

मंगलवासियों के लिए आवश्यक है कि कहीं से पानी प्राप्त करें। पानी है! वह मंगल के सबसे नजदीक ग्रहों पर है और बहुतायत से है, विशेषरूप से पृथ्वी पर उसकी कोई कमी नहीं। 'ग्रीनलैंड' को लीजिये। वह तीन किलोमीटर मोटी बर्फ की तह से ढका है। इस बर्फ को अगर हटा दिया जाय तो योरप की जलवायु सुधर जाय और मास्को के आस पास के देहातों में नारंगियाँ पैदा होने लगे। और इस बर्फ को अगर मंगल पर ले जाया जाय तो वहाँ वह पिघल जावेगी और सम्पूर्ण ग्रह को 50 मीटर गहरे जल से ढक देगी। 'पृथ्वी की जीवन परिस्थितियाँ मंगल से इतनी भिन्न हैं कि मंगल वासी हमारी पृथ्वी पर न तो अच्छी तरह साँस ले सकेंगे, न कहीं घूम फिर सकेंगे, उनका वजन यहाँ दो गुना हो जायगा। इसलिए मंगलवासियों को पृथ्वी को फतह करने की कोई जरूरत नहीं है। इससे भी बड़ी बात यह कि उनकी संस्कृति का स्तर बहुत ऊँचा हो गया है, उनके यहाँ आदर्श समाज की व्यवस्था हो चुकी है, अतएव वे यहाँ आवेंगे तो मित्र रूप में। सहायता के लिए, हमसे बर्फ माँगने के लिए।'।

(4) श्रेष्ठ वैज्ञानिक कहानियाँ—ग्रमुनादत्त वैष्णव 'अशोक'; प्रकाशक—तारामंडल, 398

पुस्तक समीक्षा

विषय और उपचार

लेखक—विष्णुदत्त शर्मा

प्रकाशक—किताब घर, गाँधी नगर, दिल्ली—31,

प्रथम संस्करण : पृष्ठ संख्या 160

मूल्य ₹ 15.55

यह पुस्तक भारत सरकार, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के सहयोग से प्रकाशित सरल एवं

आवास विकास कॉलोनी, सासनी गेट, अलीगढ़, मूल्य 60 रुपये।

लेखक ने अधिकांश कहानियों में विज्ञान के रोमांच के साथ सामाजिक सचाइयों को भी पेश किया है। जैसे 'वैवाहिक कम्प्यूटर' में एक चिकित्साधिकारी अपनी पदोन्नति और सरकार की वाहवाही लूटने के लिए किस कदर निर्मम, क्रूर हो जाता है और यह चिकित्साधिकारी उन सारे लोगों की नसबन्दी कर डालता है जो यहाँ इलाज कराने आते हैं। जिनकी नसबंदी होती है उन्हें पता भी नहीं चल पाता। अंत में उस अधिकारी को पछताना पड़ता है क्योंकि उसकी सयानी लड़की के लिए बिना नसबंदी वाला कोई वर ही नहीं मिल पाता। 'परजीवी क्रीड़ा', 'अनूपसिंह की खोपड़ी' आदि उल्लेखनीय कहानियाँ हैं लेकिन इस संग्रह की कुछ कहानियाँ यथा 'दुराग्रह' विज्ञानी कहानी नहीं कही जा सकती। दस वर्ष पूर्व टेलीविजन या कम्प्यूटर पर आधारित कई कहानियाँ भले ही रोमांच पैदा करती रही हों किन्तु अब वे अपनी मौलिकता खो चुकी हैं। फिर भी लेखक का प्रयास स्लाघनीय है। ये कहानियाँ विज्ञान के बिद्यार्थियों में साहित्यिक अभिरुचि भी उत्पन्न करेंगी। हाँ, पुस्तक का मूल्य अधिक है। प्रकाशक को चाहिए था कि लोकप्रियता के लिए मूल्य कम रखते। □

उपयोगी पुस्तकों के अन्तर्गत प्रकाशित की गई है। पुस्तक का गेट अप अत्यन्त नयनाभिराम है, छपाई भी सुन्दर है, आकार की दृष्टि से भी पुस्तक डायरी की तरह साथ रखी जा सकती है। यह पुस्तक एक अत्यन्त व्यावहारिक एवं लोकोपयोगी विषय पर है जिसकी उपयोगिता डॉक्टर-नर्स से लेकर गाँव के घर-घर की गृहिणी

एवं किसान तक के लिए स्वयंसिद्ध है। इस पुस्तक में विषों का वर्गीकरण रासायनिक, वानस्पतिक तथा जीवजन्य विषों के रूप में करते हुए, उन विषों के पृथक् लक्षण, उनके प्रतिकारक तथा प्राथमिक उपचार का वर्णन है। विषों के नाम अकारादि क्रम से होने के कारण वांछित सूचना को खोज निकालना सरल है। हिन्दी के साथ-साथ अंग्रेजी नाम सुभीते के साथ होने से जनसामान्य को अंग्रेजी नामों से परिचित होने का अवसर प्राप्त होगा।

मुझे इस पुस्तक में एक ही अभाव खटकता है और वह है इन विभिन्न विषों की उपलब्धि तथा उनके विषय में कुछ और परिचय। इसी प्रकार वानस्पतिक विषों के अन्तर्गत वनस्पतियों के चित्र छोटे हैं किन्तु उनके नाम बहुत बड़े अक्षरों में हैं। (जो अच्छे नहीं लगते)। लेकिन यह लेखक नहीं

अपितु प्रकाशक की अक्षमता है। आशा है अगले संस्करण में सुधार कर लिया जावेगा। इसी प्रकार अनेक अंग्रेजी शब्दों की वर्तनियाँ अशुद्ध छपी हैं, फिर सर्वत्र बड़े अक्षरों से नाम का लिखा जाना वैज्ञानिक शैली के विपरीत है। हिन्दी के प्रकाशनों का समुचित सम्पादन न होने के कारण हिन्दी की उपयोगी कृतियाँ भी आलोचना के बिना नहीं रह पातीं।

विष्णुदत्त शर्मा जाने-माने हिन्दी के विज्ञान लेखक हैं। पुस्तक के प्रारम्भ में विषों के ऐतिहासिक महत्व का जो विवरण है वह उनकी संग्रह-क्षमता का द्योतक है। लेखक की एक 'अपराध विज्ञान' पर और एक पुस्तक प्रदूषण पर पढ़ी थी। लेखक के लेखन में उत्तरोत्तर सुधार हुआ है। प्रस्तुत पुस्तक संग्रहणीय एवं पठनीय है।□

—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

भारत की सम्पदा : प्राकृतिक पदार्थ (सप्तम खण्ड)

(रेडरमैकेरा-वाटाकाका)

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय (वै० औ० अ० प०), नई दिल्ली; पृष्ठ संख्या 404, वर्ष 1984

वैज्ञानिक विश्वकोश 'भारत की सम्पदा' का यह सातवाँ खण्ड अपनी पूर्व साज सज्जा के साथ अभी हाल में प्रकाशित हुआ है। इस विश्वकोश की उपादेयता सर्वविदित है। हिन्दी भाषा में यह पहली बार प्रकाशित होने के कारण समस्त पुस्तकालयों, शोध संस्थानों, विज्ञान-लेखकों एवं वैज्ञानिकों के लिए अपरिहार्य सन्दर्भ ग्रंथ है। इस खण्ड में जिन प्रमुख फसलों, खनिजों या उपयोगी कच्चे मालों का वर्णन हुआ है उनमें अंगूर (वाइटिस), गुलाब (रोजा), टमाटर (लाइकोपर्सिकन), लीची, अलसी, (लाइनम), लोह, रेशमकीट मुख्य हैं। इन शीर्षकों के अन्तर्गत

अनूदित सामग्री के अतिरिक्त अभिनव आँकड़े दिये गये हैं जिससे इस ग्रंथ की उपयोगिता बढ़ गई है। अनेकानेक रेखाचित्रों के साथ साथ गुलाब, अलसी, अंगूर आदि के रंगीन मनभावने चित्रों का समावेश इस खण्ड की विशेषता है।

अनूदित सामग्री का सम्पादन इस ढंग से हुआ है कि उसमें एकरूपता लक्षित होती है (यद्यपि अनुवाद अनेक लेखकों द्वारा हुआ है)। इस अनुवाद में पारिभाषिक शब्दों की एकरूपता पर विशेष ध्यान दिया गया है। वाक्य भी सरल हैं, व्याकरणिक ढाँचा भी ठीक है लेकिन कुछ त्रुटियाँ ऐसी हैं जिनकी ओर सम्पादक मंडल को ध्यान देना चाहिए। यथा

1. वर्तनी की अशुद्धियाँ—पृ० 311 पर हाइड्रोजन (हाइड्रोजन), 312 पर श्रृंखला (शृंखला), 319 पर दूधारू (दुधारू), 330 पर

शिष्टाम (शिष्टाभ) 330 पर ही घन (घन) 334 पर तृतीयक (तृतीयक), 350 पर परिवर्तित (परिवर्तित), 356 पर निमाणि (निर्माण), 338 पर ऊर्वरक (उर्वरक) ।

2. पारिभाषिक शब्द—पृ० 148, 312, 330, 331 आदि पर तापक्रम का प्रयोग जबकि शुद्ध रूप ताप है और पृ० 312 पर ताप का प्रयोग हुआ भी है। पृ० 362 पर जैव अम्ल का प्रयोग हुआ है वहाँ पर कार्बनिक अम्ल होना चाहिए था ।

3. उच्चारण : ऐथिलीन (एथिलीन), ईथोक्साइड (एथाक्साइड), ऐस्टर (एस्टर)

4. एकरूपता का अभाव : दो शब्दों का कहीं अलग अलग, तो कहीं मिलाकर प्रयोग—यथा बीज रहित, सुपर फास्फेट (इन्हें मिलाकर ही लिखना ठीक होगा) ।

5. कुछ ऐसे पारिभाषिक शब्द जो अप्रयुक्त होने से समझ में नहीं आते—यथा पृ० 143 पर

व्यत्यासियों, पृ० 334 गोस्थानी, पृ० 157 पेटा, पृ० 314 शिलिकायें, पृ० 157 प्रस्थ तेल, पृ० 331 मृत्तिका प्रानुकूलनकारक उर्वरक वाहक ।

6. हुयी, एस्टरें, ईथाक्साइड (पृ० 156), ऊष्मा (पृ० 156, 329, 331), ऊष्मायन (पृ० 23) जैसे प्रयोग । इनमें बहुवचन के प्रयोग इस रूप में भ्रान्त हैं ।

पृ० 314 पर वाक्य में (से) छूटा है। पृ० 312 पर 'पहुँच' के स्थान पर 'माँग' होनी चाहिए ।

इन त्रुटियों की ओर संकेत करने का उद्देश्य यही है कि अगले अंकों में इस ओर ध्यान दिया जाय और आवश्यक हो तो अन्तिम अंक में शुद्धि पत्र दे दिया जाय । इससे हिन्दी का स्वरूप स्थिर हो सकेगा और त्रुटियों के आधार पर कोई अंगुल्यानिर्देश नहीं कर पावेगा । हिन्दी में वैज्ञानिक लेखक के लिए आवश्यक है कि विज्ञान की सी यथातथ्यता लक्षित हो । □

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

भारतीय विज्ञान कांग्रेस का बहत्तरवाँ अधिवेशन

अरविन्द मिश्र

मत्स्य प्रशिक्षण केन्द्र, विनहट, लखनऊ-227105

भारतीय विज्ञान कांग्रेस (स्थापित 1984) का बहत्तरवाँ अधिवेशन लखनऊ में (3 से 8 जनवरी 1985) सम्पन्न हुआ । वैसे तो इस अधिवेशन की कार्रवाई 31 दिसम्बर से ही प्रारम्भ हो गयी थी, किन्तु विधिवत क्रिया-कलाप 3 जनवरी के अपरान्ह से, राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह के द्वारा औपचारिक उद्घाटन से ही प्रारम्भ हुये । औपचारिक उद्घाटन (3 जनवरी की पूर्व संध्या (2 जनवरी) पर भौतिकी विभाग के व्याख्यान कक्ष में आयोजित विज्ञान परिषद्, प्रयाग की गोष्ठी में प्रोफेसर डी० डी० पन्त ने

“विभिन्न युगों में भारतीय वन” विषय पर अपना सारगर्भित व्याख्यान दिया । इस अवसर पर स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती ने हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता के अतीत पर प्रकाश डालते हुए इस बात पर बल दिया कि विज्ञान की आम भाषा हिन्दी होनी चाहिए ।

राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह ने 3 जनवरी को दिये गये अपने उद्घाटन भाषण में निःशस्त्रीकरण एवं परमाणुयुद्ध के बढ़ते खतरों के विरोध में आवाज बुलन्द करने के लिए वैज्ञानिकों से अपील की । उनका यह भी दृष्टिकोण

था कि अध्यात्म और विज्ञान का समन्वय मानवहित के लिए आवश्यक है। इस वर्ष, पिछले एक दशक की परम्परानुसार इस अधिवेशन का एक मुख्य केन्द्रीय विषय “ऊँचाई वाले स्थानों (पहाड़ों) पर अध्ययन” (हवाई एल्टीच्यूड रिसर्च) था।

इस विषय पर बोलते हुए अधिवेशन अध्यक्ष डॉ० अवतार सिंह पेन्टल ने पहाड़ों के संरक्षण और समृद्धि से जुड़े मुद्दों पर प्रकाश डाला। उन्होंने पहाड़ों के ऊँचाई वाले स्थानों पर मानव जीवन की विभिन्न समस्याओं की ओर वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट किया। बहुत ऊँचाई वाले स्थानों, जैसे लद्दाख में सेना के जवानों को भी फेफड़ों के रोगों से ग्रस्त देखा जाता है। उन जवानों में पेशीयनिष्क्रियता भी देखी जाती है। इस रोग का निदान करके उसकी रोकथाम, उपचारसम्बन्धी शोध की आवश्यकता पर जोर देते हुये डॉ० पेन्टल ने इस विषय पर स्वयं द्वारा किये गये अनुसन्धान से वैज्ञानिकों को अवगत कराया। अपने अध्यक्षीय भाषण में डॉ० पेन्टल ने एक स्वतन्त्र ‘पर्वत विभाग’ की स्थापना की अपील की, जिससे अब तक उपेक्षित इस विराट प्राकृतिक स्रोत का सन्तुलित विकास मानव हित में किया जा सके।

इस बार साइंस कांग्रेस के मुख्य आकर्षणों में दो सुरुचिपूर्ण व्याख्यान भी रहे—‘मानव स्वास्थ्य और योग’ तथा ‘निःशस्त्रीकरण’ पर भारत के दिग्गज वैज्ञानिकों का विचार विमर्श। स्वामी प्रणवानन्द ने कहा कि योग से मानव स्वास्थ्य में आशातीत सुधार सम्भव है। निःशस्त्रीकरण समस्या पर अलीगढ़ विश्वविद्यालय के प्रोफेसर रईस अहमद के साथ प्रख्यात शिक्षाविद् प्रोफेसर किदवाई प्रभृत अन्य विद्वानों ने भी अपने मत व्यक्त किये। उनका मानना था कि विश्व की महाशक्तियों के पास परमाणुअस्त्रों के अन्धाधुन्ध और विवेकहीन जमाव से दुनिया विनाश के

कगार पर पहुँच गयी है। ‘स्टार वार’ तकनीकी यद्यपि परमाणुयुद्ध से बचने के लिए महाशक्तियों द्वारा प्रयोग में लायी जाने वाली अति विकसित तकनीकी होगी किन्तु इससे समग्र मानवता के अस्तित्वहीन होने का खतरा भी है।

पहले की ही भाँति इस अधिवेशन में भी कई सत्रों, भाषणमालाओं के साथ ही गणित, भूगोल, रसायन, भौतिकी, वनस्पतिकी, जैविकी, चिकित्सा इत्यादि विभिन्न विषयों पर शोधार्थियों ने अपने नये अनुसन्धान कार्यों पर परचे पढ़े। डॉ० टी० एन० खोश, प्रो० माधव गाडगिल, प्रो० एम० जी० के० मेनन, डॉ० एस० वरदराजन, प्रो० यशपाल आदि ने इसमें भाग लिया।

इसके अतिरिक्त प्रायोगिक मनोविज्ञान, वन, कीट विज्ञान की समस्याएँ, वृक्षों के रोग और कीटाणुओं का नियंत्रण, जीवविज्ञान के विकास के नये प्रयोग समुद्र-संपदा के दोहन, आदि विषयों पर प्रपत्र पढ़े गए तथा ‘स्वास्थ्य और रोगों में पोषण का महत्व’ तथा तीसरा भारतीय अंटार्कटिक अभियानदल पर विशेष व्याख्यान हुए।

वनस्पतिशास्त्र अनुभाग में ‘जीवन का उद्भव’ विषय पर व्याख्यान हुआ। जन्तुविज्ञान के अनुभाग की अध्यक्षता डॉ० खेरा ने की जिसमें प्रख्यात मत्स्यविज्ञानी डॉ० वी० जी० झोंगरन ने मछली पालन की अधुनातन विधियों पर रोचक व्याख्यान दिया और रंगीन स्लाइडें दिखायी। इसी अनुभाग के अन्तर्गत पेचिश की विकराल समस्या के कारणों एवं निराकरण पर एक ज्ञानवर्धक व्याख्यान हुआ।

केन्द्रीय विषय ‘ऊँचाई पर अध्ययन कार्य’ विषय पर सभी अनुभागों में वैज्ञानिकों ने विचार-विमर्श किया। पहाड़ों, हिमालय और विंध्य पर्वतमालाओं की अपार भूभौतिकीय-सम्पदा के दोहन सम्बन्धी कई मौलिक युक्तियाँ सुझायी

गयीं। लद्दाख के उस क्षेत्र का भी उल्लेख हुआ जहाँ जमीन के अन्दर की भीषण ऊष्मा और धरती के ऊपरी परत की भयानक ठण्ड के विभवान्तर से अपार विद्युत्ऊर्जा उत्पन्न हो सकती है। ऊँचाई वाले स्थानों के मानवों के 'यौन सक्रियता' के असमान्य व्यवहार पर भी चर्चा हुई। पहाड़ों की जैवीय सम्पदा के संरक्षण और संवर्धन पर विशेष जोर दिया गया।

अधिवेशन की समाप्ति पर सरकार से एक स्वतन्त्र पर्वत विभाग के अविलम्ब स्थापना की संस्तुति की गयी। यह विभाग पर्वतों के सन्तुलित विकास के लिये संस्थानों की स्थापना करेगा। यह विभाग गैर पारस्परिक ढंग का होगा और लक्ष्यप्राप्ति की ओर विशेष रूप से उन्मुख

रहेगा। इस समारोह के अन्तर्गत विशाल पुस्तक प्रदर्शनी एवं आधुनिक वैज्ञानिक उपकरणों, संयन्त्रों पर प्रदर्शनी भी लगायी गयी थी।

इस अधिवेशन की सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि कांग्रेस के इतिहास में संभवतः पहली बार उद्घाटन भाषण हिन्दी में पढ़ा गया। राष्ट्रपति ज्ञानी जैल सिंह जी द्वारा दिये गये हिन्दी भाषण से उपस्थित हिन्दीप्रेमी जनमानस आन्दोलित हो उठा। विज्ञान परिषद् की एक अन्य गोष्ठी में जो हिन्दी संस्थान में 4 जनवरी को 5 बजे सायंकाल सम्पन्न हुयी, निम्नलिखित प्रस्ताव पारित कर राष्ट्रपति को इस शुभ परम्परा के श्री गणेश के लिये आभार ज्ञापित किया गया और इसके निर्वाह की भी कामना की गयी।

प्रस्ताव

विज्ञान परिषद् की यह सभा इस बात पर अत्यन्त हर्ष व्यक्त करती है कि भारतीय विज्ञान कांग्रेस के 72 वें अधिवेशन का उद्घाटन भारत के राष्ट्रपति महामहिम ज्ञानी जैल सिंह ने राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से किया। भारत सरकार के संकल्प के अनुकूल देश के विकास के लिये आवश्यक देशवासियों में वैज्ञानिक मानसिकता के सृजन में इससे निश्चय ही विशेष सहायता मिलेगी। राष्ट्र भाषा के इस प्रोत्साहन के लिये यह सभा महामहिम राष्ट्रपति के प्रति विशेष आभार प्रकट करती है।

अगले वर्ष विज्ञान कांग्रेस का 73वाँ अधिवेशन दिल्ली में भारत सरकार के पर्यावरण विभाग के प्रो० टी० एन० खोशू की अध्यक्षता में सम्पन्न होगा। केन्द्रीय विषय होगा "पर्यावरण की व्यवस्था में विज्ञान और टेक्नोलॉजी"।

विज्ञान कांग्रेस का 74वाँ अधिवेशन महान धार्मिक नगरी प्रयाग में ही प्रस्तावित है। कुम्भ के लिये प्रसिद्ध इस नगर में वैज्ञानिकों के इस महाकुम्भ की प्रतीक्षा प्रयाग के प्रबुद्ध विज्ञान-प्रेमियों को अभी से है। □

रोचक और ज्ञानवर्धक सामग्री से भरपूर पढ़िए—

गंगाजल प्रदूषण एवं निदान (संस्करण 1985)

प्रधान सम्पादक : दीनानाथ शुक्ल 'दीन'

प्रकाशक : इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कम्प्यूटर

1. कम्प्यूटर विज्ञान की शब्दावली का परिचय

डॉ० एम. एस. वर्मा

रसायन अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन-456010

जीवन का शायद ही कोई क्षेत्र होगा जिसमें आज अभिकलित (कम्प्यूटर) का उपयोग नहीं हो रहा है। हर क्षेत्र में आज कम्प्यूटर हमारी मदद कर रहा है। अधिकांश शिक्षित व्यक्ति जानते हैं कि शोध के क्षेत्र में कम्प्यूटर का उपयोग अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि जिन गणनाओं को करने में इंसान को महीनों लगते हैं, कम्प्यूटर उन्हें क्षण मात्र में कर देता है। साथ ही, कम्प्यूटर द्वारा की गई गणना एकदम सही तथा नितान्त विश्वसनीय होती है।

अब हवाई कम्पनियाँ सीटों का रिजर्वेशन कम्प्यूटर से करती हैं। राकेटों तथा अन्तरिक्ष-यानों के संचालन में अन्तरिक्षविज्ञानी कम्प्यूटर द्वारा की गई गणनाओं पर निर्भर करते हैं। रेलगाड़ियों का संचालन, बीमा कम्पनियों द्वारा रिकार्डों का रखना, प्रीमियम के समय का निर्धारण, पॉलिसी के भुगतान की तिथि का निर्धारण, सरकारी दफ्तरों में आंकड़ों का संकलन तथा विश्लेषण, कारखानों में उत्पादन से संबंधित जानकारी, स्कूल-कॉलेजों में शिक्षा, विश्व-विद्यालयों तथा शिक्षा-बोर्डों के परीक्षा परिणामों का आकलन इत्यादि अब कम्प्यूटरों की मदद से होने लगा है। अतः कम्प्यूटर के विषय में सामान्य जानकारी हर आम और खास इंसान के लिए जरूरी महसूस होने लगी है। इसीलिए इस लेख का प्रयोजन कम्प्यूटर विज्ञान की शब्दावली का परिचय है।

किसी भी विज्ञान को अच्छी तरह समझने के लिए यह आवश्यक है कि उस विज्ञान से सम्बन्धित शब्दावली को पूर्णतः सही अर्थों में समझ लिया जाय तथा उन शब्दों का एक दूसरे से आपस में जो सम्बन्ध है उसे भी जान लिया जाय। 'कम्प्यूटर विज्ञान' के विषय में हम यह जानकारी स्वयं 'कम्प्यूटर विज्ञान' के परिचय से ही प्रारम्भ करते हैं।

कम्प्यूटर विज्ञान—इन मशीनों की असीमित क्षमता तथा इनके द्वारा किए गए विस्तृत वैज्ञानिक अध्ययन ने एक नये विज्ञान को जन्म दिया है जिसे हम 'कम्प्यूटर विज्ञान' कह सकते हैं।

अभिकलित—सरलतम शब्दों में किसी भी परिकलन युक्ति को अभिकलित कह सकते हैं, किन्तु आजकल इस शब्द का प्रयोग एक ऐसी विशेष परिकलन युक्ति के लिए होने लगा है जिसमें कुछ खास विशेषताएँ होती हैं जो अभिकलित को परिकलित से अलग करती हैं।

आकार के आधार पर कम्प्यूटरों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) मेनफ्रेम कम्प्यूटर—यह एक विशाल-काय कम्प्यूटर होता है जिसे रखने के लिए एक बड़ा हॉल चाहिए। उसकी कीमत भी अत्यधिक यानी 50 लाख रुपये से अधिक होती है। इसीलिए इसको उद्योग, वाणिज्य या विश्वविद्यालयीन शिक्षा आदि के लिए बड़ी-बड़ी संस्थाएँ ही काम

में ला सकती हैं जहाँ बहुत अधिक आंकड़ों का विश्लेषण करना होता है। इसकी कार्य-क्षमता अति उत्तम होती है, लेकिन कार्य-प्रणाली अति जटिल होती है। इसलिए इसको विशेषरूप से प्रशिक्षित प्रचालक ही प्रचालित कर सकता है।

(ख) मिनीकम्प्यूटर—मैनफ्रेम की तुलना में ये छोटे होते हैं, लेकिन माइक्रो-कम्प्यूटर से बड़े होते हैं। अतः इन्हें मध्य आकार के कम्प्यूटर कहा जा सकता है। इनको रखने के लिए एक छोटा कमरा तो अवश्य ही चाहिए। इनकी कीमत भी लगभग 10 लाख रुपये होती है और ये व्यापार या किसी विशेष उद्देश्य के लिए उपयुक्त होते हैं, अतः इन्हें मध्य वर्ग के व्यापारी तक भी खरीद सकते हैं। इनका प्रचालन भी आसान होता है। किसी विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती है।

(ग) माइक्रोकम्प्यूटर—ये सबसे छोटे आकार के कम्प्यूटर होते हैं। इन्हें डेस्क के ऊपर भी रखा जा सकता है। मूल्य भी कोई अधिक नहीं होता, सिर्फ 1 लाख रुपये के करीब होता है। इन्हें नौसिखिया व्यक्ति भी चला सकते हैं और व्यक्तिगत काम के लिए ये अति उत्तम होते हैं।

विभिन्न चरों की प्रकृति के आधार पर भी कम्प्यूटरों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(क) अनुरूप (Analogue) अभिकलित—इस प्रकार के कम्प्यूटर ऐसे गणितीय चरों पर प्रचालन करते हैं, जो सतत परिवर्तनशील भौतिक राशियाँ होती हैं। इस किस्म के कम्प्यूटर का आधार मॉडलिंग होता है। किसी वास्तविक भौतिक प्रक्रिया या उसके तत्वों को समान गुणधर्म वाले मॉडल से विस्थापित कर दिया जाता है। इन कम्प्यूटरों का प्रचालन अत्यन्त सरल होता है तथा ये समस्या का हल भी सरल तथा आलसहीन तरीके से शीघ्र कर देते हैं। दुर्भाग्य-

वश इनके द्वारा दिए हल पूर्णतः सही नहीं होते हैं तथा इनका विस्तार भी सीमित होता है।

(ख) अंकीय (Digital) अभिकलित—इस प्रकार के अभिकलित ऐसे गणितीय चरों पर प्रचालन करते हैं जो संख्याओं के रूप में होते हैं तथा भौतिक राशियों के असतत मानों को प्रदर्शित करते हैं। अंकीय कम्प्यूटर समस्याओं का एकदम सही हल देते हैं तथा सर्वतोमुखी होते हैं। ये अत्यन्त बड़ी गणितीय समस्याओं का भी हल कर सकते हैं तथा तर्कसंगत प्रचालनों को और आगे तक ले जा सकते हैं।

(ग) संकर (Hybrid) अभिकलित—अनुरूप तथा अंकीय कम्प्यूटरों के संकरण से बना कम्प्यूटर संकर कम्प्यूटर कहलाता है। इसमें अनुरूप तथा अंकीय दोनों कम्प्यूटरों की विशेषताएँ होती हैं।

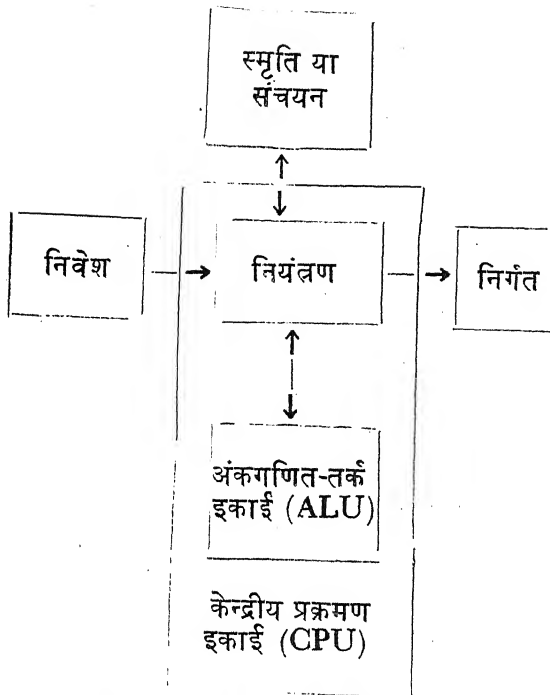
सभी आकार और सभी प्रकार के कम्प्यूटरों में मुख्यतः 5 मूलभूत अंग होते हैं।

(1) निवेश (In put), (2) निर्गत (output), (3) स्मृति या संचयन (Memory or Storage), (4) नियंत्रण (Control) तथा (5) अंकगणित-तर्क इकाई (Arithmetic-logic Unit or ALU)। (4) तथा (5) को एक साथ मिलाकर 'केन्द्रीय प्रक्रमण इकाई, Central processing Unit or CPU' कहते हैं। ये पाँचों अंग एक दूसरे से चित्र 1 में दिखाए अनुसार रहते हैं।

अब इन अंगों तथा इनके कार्यों के विषय में चर्चा की जाय तथा 'कम्प्यूटर विज्ञान' में प्रयोग किए जाने वाले शब्दों को जानने का प्रयास किया जाय।

निवेश (Input)—कम्प्यूटर को दी जाने वाली सूचना को निवेश कहते हैं।

निर्गत (Output)—कम्प्यूटर द्वारा आंकड़ों



चित्र 1. कम्प्यूटर तंत्र के पाँचों मूलभूत अंगों का सरलीकृत व्यवस्था चित्र.

का विश्लेषण तथा प्रक्रमण किए जाने के बाद जो सूचना दी जाती है, उसे निर्गत कहते हैं।

परिधीय युक्तियाँ (Peripherals)— निवेश, निर्गत तथा निवेश/निर्गत की युक्तियों को एक साथ मिलाकर 'परिधीय युक्तियाँ' कहते हैं। कम्प्यूटर को सूचना देने के लिए प्रयोग की जाने वाली युक्तियों को निवेश युक्तियाँ कहा जाता है। इस उद्देश्य के लिए 'कागज फीता पठित्र (Paper tape readers)' तथा 'छिद्रित पत्रक पठित्र (Punched card readers)' काम में लाए जाते हैं। और कम्प्यूटर से सूचना के निर्गमन के लिए काम में आने वाली युक्तियों को निर्गत युक्तियाँ कहते हैं। इस प्रयोजन के लिए 'कार्ड छिद्रक', 'कागज फीता छिद्रक' 'प्लॉटर्स', 'लाइन मुद्रक' तथा 'संप्रतीक मुद्रक (Character Printers)' आदि प्रयोग किए जाते हैं। चुम्बकीय फीते, फ्लॉपी डिस्क, कठोर

डिस्क आदि दीर्घकालीन संचयन हेतु तथा टेक्स्ट एवं आलेखीय टर्मिनल तात्कालिक संचयन के लिए उपयोग में लाए जाते हैं।

कार्ड छिद्रक तथा छिद्रित कार्ड पठित्र— कार्ड छिद्रक अक्षरों या अंकों को ले लेता है तथा एक कार्ड पर संगत छिद्र बना देता है। छिद्रित कार्ड को छिद्रित कार्ड पठित्र ब्रुशों के नीचे पहुँचा देता है, जो कार्ड के छिद्र का अर्थ समझ लेते हैं तथा कार्ड की सूचना का विकोडन कर लेते हैं। कार्ड पठित्र लगभग 1200 कार्ड प्रति मिनट पढ़ लेते हैं।

कागज फीता पंक्ति तथा कागज फीता पठित्र— कागज के फीते भी उसी सिद्धान्त पर काम करते हैं जिस पर छिद्रित कार्ड। इनमें एक इंच चौड़े तथा काफी लम्बे-लम्बे कागज के छिद्रित रिबन एक रील के रूप में लिपटे रहते हैं। इनका उपयोग बहुत आसान है, लेकिन ये खराब बहुत जल्दी होते हैं।

लाइन मुद्रित तथा संप्रतीक मुद्रित— सामान्यतः इनको संपठनीय कापी (hard copy) कहा जाता है। लाइन मुद्रित में एक मुद्रित निर्गत शीट होती है, जो लगभग 60 लाइन लम्बी होती है। प्रत्येक लाइन में 132 मुद्रण स्थान होते हैं। लाइन मुद्रित एक बार में सिर्फ एक लाइन मुद्रित करते हैं। इनमें 132 शलाकाएँ या पहिए होते हैं जिनमें सभी संप्रतीकों (characters) के लिए मुद्रलेखन-मुख बने होते हैं।

संप्रतीक मुद्रितों में इस प्रकार का एक ही प्रबन्ध होता है जो क्षैतिजीय रूप से एक समय में एक संप्रतीक मुद्रित करता हुआ लाइन के इधर-उधर घूमता है। ये एक मिनट में 300 से लेकर 1200 लाइन तक मुद्रित कर सकते हैं।

टेक्स्ट तथा आलेखीय टर्मिनल— टर्मिनल एक मुद्रलेखन जैसा कुंजी-पटल होता है जो एक दूरदर्शक जैसे स्क्रीन से जुड़ा होता है। सूचना

मुद्रित की जाती है तथा स्क्रीन पर परिणाम दिखाई देते हैं। आलेखीय टर्मिनलों की मदद से रेखाचित्रों को भी स्क्रीन पर देखा जा सकता है।

चुम्बकीय फीता परिचालित—ये वरणात्मकतः फीता के पृष्ठ का चुम्बकन कर चुम्बकीय फीता से सूचना का संचयन या पुनर्प्राप्ति उसी प्रकार करते हैं जिस प्रकार एक कैसिट रिकार्डर कैसिट में संगीत रिकार्ड करता है। ये फीते सस्ते तथा अधिक दक्ष होते हैं क्योंकि फीते की 2400 फीट लम्बी रील करीब 50,000 छिद्रित पत्रकों के बराबर होती है। ये सिर्फ दिशा में ही चल सकते हैं।

डिस्क परिचालित—रिकार्ड प्लेअर में जैसे संगीत का कोई भी भाग सिर्फ सुई को रिकार्ड पर इधर-उधर रखने से सुना जा सकता है, ठीक उसी प्रकार 'डिस्क परिचालित' जैसी सीधी युक्तियों में सूचना तक किसी भी क्रम में पहुँचा जा सकता है। इसमें अभिलेखन के क्रम का कोई महत्व नहीं होता।

कठोर डिस्क परिचालित—इनमें सूचना का अभिलेखन या संवेदन चुम्बकीय रूप से पृष्ठों पर किया जाता है। 10 शीर्ष तथा 20 पृष्ठों वाले परिचालित 200 मेगाबाइट सूचना का संचयन कर सकते हैं।

फ्लॉपी डिस्क—ये छोटी-छोटी नम्य चक्रिकाएँ होती हैं जिनका व्यास लगभग 5" होता है। इनका प्रचालन कठोर डिस्क परिचालितों की तरह ही होता है।

कठोर सामग्री (Hardware)—वे सारी 'भौतिक युक्तियाँ' जो निवेश, निर्गत, संचयन, अंकगणित तथा तर्क और नियंत्रण के कार्यों को सम्पन्न करती हैं, 'कठोर सामग्री' कहलाती हैं।

यंत्रेतर सामग्री (Software)—कम्प्यूटर के उपलब्ध 'प्रोग्रामों' का संकलन 'यंत्रेतर सामग्री' कहलाता है।

प्रोग्राम—विशेष 'अनुदेशों' का एक क्रमबद्ध समूह ही 'प्रोग्राम' कहलाता है।

अनुदेश—कम्प्यूटर को दिए गए आदेशों को 'अनुदेश' कहा जाता है। ये दो प्रकार के होते हैं—

(क) **सप्रतिबन्ध अनुदेश**—स्पष्टतः ये प्रतिबन्धित अनुदेश होते हैं, जैसे—

'यदि' प्रतिबन्ध सत्य है 'तब'

2 तथा 3 को जोड़ो

'अन्यथा'

10 में से 6 घटाओ।

(ख) **पुनरावृत्तीय अनुदेश**—किसी कथन की पुनरावृत्ति करने को कहा जाय तो उसे 'पुनरावृत्तीय अनुदेश' कहते हैं। जैसे—

'दुहराओ' x में 10 जोड़ो 'जब तक'

$x > 100$ ।

नकलर (Algorithm)—किसी समस्या के हल के लिए उपयुक्त विभिन्न चरणों की सीमित संख्याओं के 'सारांश कथन' को नकलर कहते हैं। यह नकलर जब शुद्ध और ठोस बना दिया जाता है तो उसे प्रोग्राम कहते हैं अर्थात् प्रोग्राम में यह स्पष्ट रूप से बतलाया जाता है कि समस्या के लिए किन आँकड़ों पर कौन सा प्रचालन कब करना है जबकि इतनी स्पष्टता नकलर में नहीं होती है। प्रोग्राम बनाने की प्रक्रिया को 'प्रोग्रामन' कहते हैं।

रजिस्टर—किसी भी अंकीय कम्प्यूटर को मूलभूत इकाई 'रजिस्टर' होता है। यह एक भौतिकीय युक्ति होती है जो किसी मान का संचयन कर सकती है। कोई भी एकल तार रजिस्टर का कार्य कर सकता है जो धारा प्रवाहन के समय मान 1 तथा धारा बन्द होने पर मान 0 का संचयन करता है। उदाहरणार्थ, मान $1100_2 = 12_{10}$ को चित्र 2 में प्रदर्शित किया गया है। जहाँ अधोलिखित 2 तथा 10 क्रमशः

द्विमान तथा दशमलव संख्याओं को प्रदर्शित करते हैं।

रजिस्टर	1	1	0	0
मान				

चित्र 2. एक रजिस्टर का उदाहरण जिसमें मान $1100_2 = 12_{10}$ के संचयन को प्रदर्शित किया गया है।

द्वयंक (bits)—रजिस्टर में प्रदर्शित अंक 1 तथा 0 को द्विमान अंक (binary digits, bits) कहते हैं। कम्प्यूटर के सारे प्रचालनों में इन्हीं दो अंकों का प्रयोग होता है। स्मृति में अनेक प्रोग्राम इन्हीं दो अंकों के लिए बने रजिस्ट्रों के रूप में संचायित होते हैं। यदि 8 बिट्स को मिला दिया जाय तो 1 बाइट (byte) बन जाता है तथा $2^{10} = 1024$ को एक किलो बाइट (1 K) कहते हैं।

बस (Bus)—कम्प्यूटर के विभिन्न अंगों को जोड़ने वाले समानान्तर 'बस' कहलाते हैं।

शब्द (Word)—कम्प्यूटर की स्मृति को समान आकार के रजिस्ट्रों का एक बड़ा संकलन माना जा सकता है। इनमें से किसी एक रजिस्टर को 'शब्द' कहते हैं क्योंकि यह किसी भी शब्द का द्विमान अंकों में रूपान्तरण होता है। 'शब्द' के स्थान पर कभी-कभी 'संचयन सेल' या स्मृति अवस्थिति' शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है।

पता—जिस अंक (bit) से 'शब्द' को पहचाना जाता है, उस अंक को पता कहते हैं।

पहुँच समय (Access time)—'केन्द्रीय प्रक्रमण ईकाई, C P. U.' को 'पते' को खोजने तथा रजिस्टर को वापिस लाने में जो समय लगता है उसे 'पहुँच समय' कहते हैं।

कोर—कम्प्यूटर का मुख्य संचयन भाग 'कोर' कहलाता है।

बैच प्रक्रमण (Batch processing)—किसी 'प्रोग्राम' विशेष तथा उससे सम्बन्धित आँकड़ों को कम्प्यूटर को देने को 'बैच प्रक्रमण' कहा जाता है। एक समय में एक ही सेट के कार्य को करना 'बैच कार्य' (Batch job) कहलाता है।

काल साझा (Time sharing)—यह एक सुविदित तथ्य है कि 'परिधीय युक्तियों' की तुलना में 'केन्द्रीय प्रक्रमण ईकाई' बहुत शीघ्रता से कार्य करती है। अतः एक समय एक 'बैच कार्य' समाप्त करने के बाद ही दूसरा बैच कार्य आरम्भ किया जाय तो बहुत सारा समय बरबाद होता है। इसीलिए बहुत सारे 'कार्य' कम्प्यूटर को एक साथ दे दिए जाते हैं। अब कम्प्यूटर यह तय करता है कि किस कार्य को कितना समय दिया जाय। यदि दिए गए समय में 'कार्य' सम्पन्न नहीं होता है तो उसे संचयन में डाल दिया जाता है तथा दूसरा 'कार्य' आरम्भ कर दिया जाता है। यह प्रक्रिया तब तक दुहराई जाती है जब तक कि 'सारे कार्य' सम्पन्न नहीं हो जाते। इस प्रक्रिया में 'कालों' के समय का साझा होता है अतः इसे 'काल साझा' कहते हैं।

कम्प्यूटर की भाषा—अब तक यह तो स्पष्ट ही हो चुका है कि कम्प्यूटर एक 'मशीन' है और 'मशीन' इंसान की तरह बोलचाल की भाषा को नहीं समझ सकती। यह कथन आज तक सत्य है, भविष्य में सत्य होगा कि नहीं, कोई गारन्टी नहीं है। अतः ऐसी भाषा जिसे कम्प्यूटर समझ ले, कम्प्यूटर की भाषा कहलाती है। वैसे तो आज कम्प्यूटर की अनेक भाषाएँ हैं, लेकिन उनमें दो मुख्य हैं—(1) फोर्ट्रान (FORTRAN) तथा (2) बेसिक (BASIC)। FORTRAN दो शब्दों FORMula तथा TRANslator का छोटा रूप है तथा BASIC का पूर्ण रूप

Beginners Allpurpose Symbolic Instruction Code है।

यह सब लिखकर मेरा ऐसा कोई दावा नहीं है कि इनके अतिरिक्त कोई अन्य शब्द 'कम्प्यूटर विज्ञान' में प्रयोग में नहीं आते। निश्चित रूप

से कुछ अन्य शब्द होंगे जो किन्हीं कारणों से इस लेख में समाविष्ट नहीं हो पाए हैं। प्रस्तुत शब्दों की विस्तृत जानकारी तथा छोटे हुए शब्दों का परिचय तथा इन सब शब्दों के पारस्परिक सम्बन्ध किसी अन्य लेख का विषय बनेंगे।□

सुदूर संवेदन

ज्ञानेन्द्र सिंह

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर—342001

कुछ माह पूर्व भारत रूसी संयुक्त अन्तरिक्ष उड़ान के अवसर पर बच्चे-बच्चे की जवान पर राकेश शर्मा का नाम था। इस ऐतिहासिक अन्तरिक्ष उड़ान का आरम्भ जिसमें राकेश शर्मा थे मंगलवार 3 अप्रैल 1984 को शाम 6 बजकर 38 मिनट पर हुआ जब 'बैकोनूर अन्तरिक्ष अड्डे' से तीन चरण वाले राकेट द्वारा सोयूज टी-11 नामक अन्तरिक्षयान का प्रक्षेपण किया गया। देखते ही देखते 9 मिनट में यह यान अन्तरिक्ष में पृथ्वी की कक्षा में अपने गन्तव्य पर पहुँच गया और चक्कर काटने के बाद 4 अप्रैल 1984 को सोयूज टी-11 को सैल्यूट-7 (स्थायी अन्तरिक्ष केन्द्र) प्रयोगशाला से जोड़ दिया गया। सभी पत्र-पत्रिकाओं ने समाचार दिया कि 'राकेश शर्मा ने सैल्यूट-7 में लगे कैमरों एवं अन्य उपकरणों द्वारा भारत के ढेर सारे चित्र खींचे एवं महत्वपूर्ण आँकड़े इकट्ठे किए जिनकी मदद से भौतिकविज्ञान, ब्रह्मांडभौतिकी, मौसम विज्ञान, आयुर्विज्ञान, जीवविज्ञान संबंधी अनुसंधान किये जा रहे हैं और किए जायेंगे।' अन्तरिक्ष में बैठे-बैठे ही पृथ्वी की जानकारी कैसे प्राप्त होती है? यह कौन सी प्रणाली है जिसके द्वारा यह कार्य सम्भव होता है?

इस प्रणाली का नाम है सुदूर संवेदन।

सुदूर संवेदन क्या है?

सुदूर संवेदन शब्द ने सन् 1972 में लोक-

प्रियता प्राप्त की जिस समय पृथ्वी उपग्रह शृंखला में प्रथम उपग्रह की स्थापना हुई थी। सुदूर संवेदन का शाब्दिक अर्थ 'दूर से ही किसी वस्तु का पता लगाना' है। यद्यपि खगोलशास्त्र व खगोलभौतिकी में इसी प्रकार दूर से ही आकाश की वस्तुओं के बारे में ज्ञान प्राप्त किया जाता है परन्तु इस प्रकार के ज्ञान को सुदूर संवेदन नहीं कहा जाता। वास्तविकता यह है कि सुदूर संवेदन को खगोलविज्ञान का विपरीतार्थक समझा जाता है क्योंकि खगोलविज्ञान में पृथ्वी पर से आकाश की जानकारी प्राप्त की जाती है जब कि सुदूर संवेदन में गुब्बारों, वायुयानों और अन्तरिक्षयानों से पृथ्वी की जानकारी प्राप्त की जाती है।

हवाई फोटोग्राफी सुदूर संवेदन की सबसे पुरानी प्रणाली है और इसे फ्रांस की सेना के कर्नल लौसेडट (LAUSSEDAT) ने सर्वेक्षण और मानचित्र बनाने के लिये 1854 में ही शुरू कर दिया था। लेकिन सुदूर संवेदन शब्द साहित्य में पहली बार 1961 में प्रयोग हुआ था जब अमेरिका की एक जलसेना योजना (Naval Project) 'हवाई फोटोग्राफ्स का अध्ययन' का नाम बदलकर "सुदूर संवेदन" किया गया। और आजकल सुदूर संवेदन को परिभाषित इस प्रकार किया जाता है—

“दृश्य एवं अदृश्य विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों के

माध्यम द्वारा आकाश से (वायुयानों एवं अन्तरिक्षयानों से) पृथ्वी एवं उसके आसपास की वस्तुओं एवं पदार्थों के बारे में ज्ञान प्राप्त करने को सुदूर संवेदन कहते हैं।

सुदूर संवेदन का आधार

परिभाषा से स्पष्ट है कि इस प्रणाली का आधार विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें हैं। विद्युत्-चुम्बकीय वर्णक्रम (Electromagnetic Spectrum) की सीमायें विशाल हैं, अनन्त भी कह सकते हैं। इसके दीर्घ तरंग छोर के पास रेडियो तरंगें होती हैं जिनकी तरंग लम्बाई 1 कि० मी० से 10 कि० मी० तक होती है और दूसरी तरफ

लघु तरंग छोर के पास एक्स-किरणें होती हैं जिनकी तरंग लम्बाई क्रम 10^{-8} से 0.4 $\times 10^{-6}$ मी० (बैंगनी) से 0.7×10^{-6} मी० (लाल) तरंग लम्बाई वाला क्षेत्र दृश्य क्षेत्र (Visible Region) कहलाता है। 0.7×10^{-6} मी० से लगभग 5×10^{-6} मी० तक का क्षेत्र निकट अवरक्त (Near Infrared) कहलाता है। 5×10^{-6} मी० से लगभग 20×10^{-6} मी० तक के क्षेत्र को तापीय अवरक्त क्षेत्र कहते हैं और कुछ मि० मी० से कुछ से० मी० तरंग लम्बाई वाला क्षेत्र सूक्ष्म तरंग क्षेत्र के नाम से जाना जाता है। (देखिये चित्र—1)

रेडियो तरंग क्षेत्र	सूक्ष्म तरंग क्षेत्र	दूर अवरक्त क्षेत्र	तापीय अवरक्त क्षेत्र	निकट अवरक्त क्षेत्र	दृश्य क्षेत्र	परा बैंगनी क्षेत्र	एक्स-रे क्षेत्र	गामा-रे क्षेत्र
10^4 मी०	80 से० मी०	1 मि० मी०	20×10^{-6} मी०	5×10^{-6} मी०	0.7×10^{-6} मी०	0.4×10^{-6} मी०	10^{-8} मी०	10^{-12} मी०
								10^{-16} मी०

चित्र—1. विद्युत्-चुम्बकीय वर्णक्रम

विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा स्वयं के साथ कोई परस्पर क्रिया नहीं करती परन्तु किसी भी पदार्थ के साथ परस्पर क्रिया द्वारा इसे अनुभव किया जा सकता है। जब विकिरण ऊर्जा किसी वस्तु या पदार्थ से टकराती है तो पाँच प्रकार से पदार्थ के साथ परस्पर क्रिया कर सकती है। ये क्रियायें निम्न हैं—

बिना किसी परिवर्तन के वापस माध्यम को लौट जाती है।

(2) अवशोषण :—इसमें आपतित ऊर्जा परिवर्तित होकर दूसरी तरह की ऊर्जा में बदल जाती है। जैसे-ऊष्मा

(3) निर्गत :—इसमें ऊर्जा वस्तु में प्रवेश कर बाहर निकलती है।

(4) विक्षेपण :—इसमें विकिरण वस्तु के

(1) परावर्तन :—इसमें आपतित ऊर्जा

द्वारा इधर उधर फैल जाता है अर्थात् बिखर जाता है।

(5) उत्सर्जन :—इसमें कुछ आपतित ऊर्जा अवशोषित होकर उसी या अन्य तरंग लम्बाई पर फिर से उत्सर्जित हो जाती है।

सभी पदार्थ जिनका तापमान 0°K (-273°C) से ऊपर होता है विद्युत्-चुम्बकीय ऊर्जा उत्सर्ज करते हैं और निम्नलिखित विकिरण नियमों का पालन करते हैं—

(क) प्लैंक का विकिरण नियम

$$E_\lambda d\lambda = \frac{2\pi h c^3}{\lambda^5} \frac{d\lambda}{\left[\exp\left(\frac{hc}{\lambda kT}\right) - 1 \right]}$$

इसमें

E_λ = वर्णक्रमीय विकिरण उत्सर्जन

h = प्लैंक स्थिरांक

T = परिपूर्ण तापमान

λ = तरंग लम्बाई 10^{-6} मी० इकाई में

C = प्रकाश गति 3×10^{10} से० मी०/से०

k = बोल्ट्जमेन स्थिरांक

इस नियम के अनुसार किसी वस्तु से विकिरण उत्सर्जन की अधिकतम तीव्रता की स्थिति वस्तु के तापमान पर निर्भर करती है। वस्तु का तापमान बढ़ाने पर अधिकतम विकिरण तीव्रता स्थिति वर्णक्रम के लघु तरंग छोर की तरफ खिसकती जाती है।

(ख) स्टीफन का विकिरण नियम

इसमें

$$R = \int_0^\infty E_\lambda d\lambda = \sigma T^4$$

R = कुल उत्सर्जित ऊर्जा

σ = स्टीफन स्थिरांक

E_λ = वर्णक्रमीय विकिरण उत्सर्जन

T = परिपूर्ण तापमान

इस विकिरण नियम से विदित होता है कि वस्तु के तापमान (T) में थोड़ा परिवर्तन ही पूर्ण उत्सर्जित ऊर्जा (Total Emitted Energy) में भारी परिवर्तन (T^4) कर देता है।

(ग) वीन का स्थानान्तरण नियम

$$\lambda_m T = \text{स्थिरांक}$$

इसमें

λ_m अधिकतम उत्सर्जित ऊर्जा पर तरंग लम्बाई

T = परिपूर्ण तापमान

इस विकिरण नियम के अनुसार तरंग लम्बाई जिस पर उत्सर्जित ऊर्जा अधिकतम होती है, परिपूर्ण तापमान के व्युत्क्रमानुपाती होती है।

विद्युत्-चुम्बकीय विकिरण की परस्पर क्रिया की मात्रा व तरीका पदार्थ की भौतिक व रासायनिक प्रकृति पर निर्भर है। वस्तु के द्वारा परावर्तित एवं उत्सर्जित ऊर्जाएँ ही संवेदक (Sensor) तक पहुँचती हैं। अर्थात् ये ऊर्जाएँ ही सुदूर संवेदन के लिये उपयोगी हैं। विद्युत्-चुम्बकीय वर्णक्रम के दृश्य या अदृश्य भाग में वस्तु द्वारा परावर्तन या उत्सर्जन उस वस्तु की विशिष्टता लिये होता है। वस्तु द्वारा वर्णक्रमीय तीव्रता (Spectral Intensity) के विशिष्ट वितरण (Characteristic distribution) को उस वस्तु का वर्णक्रमीय चिन्हन (Spectral Signature) कहते हैं। वायुयान या अन्तरिक्षयान पर विद्युत्-चुम्बकीय संदेशों को प्राप्त कर स्थल स्थित प्रयोगशालाओं में निर्गत कर दिया जाता है जहाँ इसका विश्लेषण वर्णक्रमीय चिन्हन द्वारा किया जाता है।

सुदूर संवेदन हेतु उपयुक्त विकिरण क्षेत्र

वस्तु से संवेदक तक ऊर्जा का आवागमन का माध्यम वायुमंडल है जिसमें अनेक प्रकार के

कण तैरते हैं। हवा में तैरने वाले जलकण से लेकर कालिख पदार्थ तक हो सकते हैं। अतः इन कणों के द्वारा ऊर्जा के आवागमन में गतिरोध पैदा हो जाता है अर्थात् इन कणों में भी स्थल वस्तुओं की तरह ऊर्जा के साथ परस्पर क्रियाक्षमता होती है जिससे ऊर्जा क्षीण हो जाती है। क्षीणन (Attenuation) दो प्रकार से होता है :

(i) वायु में उपस्थित गैस-अणुओं द्वारा शोषण से और (ii) सभी प्रकार के कणों द्वारा प्रकाश विक्षेपण से। क्षीणन की मात्रा कुछ तरंग क्षेत्रों में अधिक और कुछ में कम होती है। जिन विद्युत्-चुम्बकीय तरंग क्षेत्रों में क्षीणन न्यूनतम होता है उन्हें वायुमंडलीय खिड़कियाँ (Atmospheric windows) कहा जाता है। न्यूनतम क्षीणन-क्षेत्र ही सुदूर संवेदन के लिए उपयुक्त हो सकते हैं अर्थात् वायुमंडलीय खिड़कियाँ सुदूर संवेदन के लिए उपयुक्त हैं। विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र जिनमें न्यूनतम क्षीणन होता है अर्थात् सुदूर संवेदन के लिए उपयुक्त हैं, निम्न-लिखित हैं—

(1) 0.3×10^{-6} मी० से 1.2×10^{-6} मी० तक

(निकट परावर्तनीय से निकट अवरक्त तक)

(2) 8×10^{-6} मी० से 14×10^{-6} मी० तक

(तापीय अवरक्त क्षेत्र)

(3) 3 मि० मी० से 3.75 मि० मी० तक एवं 7.5 मि० मी० से 11.70 मि० मी० तक

(सूक्ष्म तरंग क्षेत्र)

प्रथम क्षेत्र परावर्तनीय क्षेत्र (Reflective Region) कहलाता है क्योंकि इसमें मुख्यतया विकिरण परावर्तित होता है। अतः इस क्षेत्र में सुदूर संवेदन के लिए फोटोग्राफीय फायस (Photo

graphic omulsions) या दूरदर्शन कैमरे (T. V. Cameras) प्रयोग किये जाते हैं। दूसरा क्षेत्र तापीय अवरक्त क्षेत्र है। इसको उत्सर्जन क्षेत्र भी कहते हैं क्योंकि इसमें उत्सर्जित ऊर्जा ही सुदूर संवेदन का आधार है और इस क्षेत्र में तापीय परिलोकन यंत्रों (Thermal Scanners) के द्वारा वस्तुओं का पता लगाकर पहचान की जाती है। प्रथम व द्वितीय दोनों क्षेत्रों के लिए उपयुक्त संयुक्त उपकरण भी हैं जिन्हें बहु वर्ण-क्रमीय परिलोकन यंत्र (Multispectral Scanners) कहते हैं। तृतीय क्षेत्र को सूक्ष्म तरंग क्षेत्र (Microwave Region) कहते हैं। इसमें रडार तन्त्र द्वारा सुदूर संवेदन सम्पन्न किया जाता है।

सुदूर संवेदन की उपयोगिता

उपरोक्त लिखित युक्तियों द्वारा प्राप्त सुदूर संवेदन आंकड़ों के द्वारा अनेक क्षेत्रों में विभिन्न प्रकार के अध्ययन व अनुसंधान किये जाते हैं। इनसे वनों, सागरों, रेगिस्तानों, खेती, तेल, गैस, सीमाओं, छिपी खनिज सम्पदाओं आदि का अध्ययन किया जाता है। मौसमसम्बन्धी जानकारी भी प्राप्त की जाती है। भूगर्भीय मानचित्र तैयार करने व जंगलों के बदलते रूप का पता लगाया जाता है। जो वस्तु सतह पर दिखायी नहीं देती सुदूर संवेदन से प्राप्त आंकड़ों द्वारा पता कर ली जाती है। छिपी सम्पदा ही नहीं उसकी सही मात्रा का अनुमान भी इससे लगा लिया जाता है। ठण्डे व गर्म पानी के झरनों का भी पता प्रयोगशाला में बैठे-बैठे ही लगाया जाता है।

तात्पर्य यह है कि जो कार्य दूसरी विधियों द्वारा कष्टप्रद, अधिक समय खपत का एवं जोखिम भरा हो सकता है, इस प्रणाली द्वारा बिना किसी जोखिम के व कम समय में किया जा सकता है एवं किया जा रहा है। □

मनोरंजक वर्ग—441

आशुतोष मिश्र

संख्याओं का संसार भी बड़ा निराला है। प्रत्येक संख्या स्वयं अपने आप में कुछ गुण रखती है जिनको खोज निकालना अत्यन्त रुचिकर है। श्रीनिवास रामानुजन भारत के तथा विश्व के एक ऐसे महान गणितज्ञ थे जिनका सम्पूर्ण जीवन इन संख्याओं को समर्पित था।

उनकी प्रसिद्ध संख्या 1729 के विषय में आपने अवश्य पढ़ रखा होगा। यह संख्या दो भिन्न प्रकार से दो संख्याओं के घन के योग के रूप में व्यक्त की जा सकती है।

$$1729 = 12^3 + 1^3$$

$$1729 = 9^3 + 10^3$$

इस प्रकार की संख्याएं अत्यन्त रोचक होती हैं। यदि आप परिकलक (calculator) के की बोर्ड (keyboard) का निरीक्षण करें, तो संख्याओं को इस प्रकार व्यवस्थित पायेंगे।

7 8 9

4 5 6

1 2 3

इसमें दो विकर्ण (diagonals) हैं। एक में हैं संख्याएँ 7, 5, 3 तथा दूसरे में 1, 5, 9।

इनसे सम्बद्ध निम्न परिकलनों को देखिए :-

753×3 (अर्थात् 753 की आखिरी संख्या) - 53 (अर्थात् 753 की आखिरी दो संख्याएँ) $\times 10$

$$= 2259 - 53$$

$= 1729$ (जो कि रामानुजन की प्रसिद्ध संख्या है।)

इस प्रकार दूसरे विकर्ण में :

$951 \times 1 - 510 = 441$ (जिसके कि मुख्य गुणों पर हम विचार करेंगे।)

गुण :-

(1) 441 एक पूर्ण वर्ग है $441 = (21)^2$

(2) 441 को अत्यन्त रोचक ढंग से व्यक्त किया जा सकता है :-

$$441 = 1^3 + 3^3 + 3^3 + 4^3 + 5^3 + 6^3$$

तथा $(1+2+3+4+5+6) = 21$ (जो कि 441 का ही वर्गमूल है।)

(2) के अन्तिम पद को निकाल दिया जाय क्योंकि

$$\text{यदि } x = 1^3 + 2^3 + \dots + n^3$$

$$= \left[\frac{n(n+1)}{2} \right]^2$$

$$= \left[\sum n \right]^2$$

(3) 441 को दो भिन्न वर्गों के अन्तर के रूप में भी प्रकट किया जा सकता है—

$$441 = (35)^2 - (28)^2$$

$$= (35+28)(35-28)$$

$$= 63 \times 7$$

$$(4) (441)^2 = \frac{19}{10} \frac{44}{8} \frac{81}{9}$$

(19, 44, 81 का जोड़)

$$10+8+9=27, 7+2=9$$

$$(441)^3 = \frac{85}{13} \frac{76}{13} \frac{61}{7} \frac{21}{3}$$

$$13+13+7+3=36, 3+6=9$$

(5) 441 Harshad Number है क्योंकि यह अपने अंकों के योग द्वारा विभाज्य है।

Dattatray Numbers तथा Harshad Numbers बम्बई के डॉ॰ डी॰ आर॰ कापरेकर की देन है, जिन्होंने संख्याओं को रुचिकर बनाने वाली अनेक पुस्तकें लिखी हैं।

$$4+4+1=9 \quad \frac{441}{9} = 49 \text{ जो कि}$$

एक पूर्ण वर्ग है तथा

$$\sqrt{49} = 7(4+4-1)$$

- (6) 441 अपने अंकों के अन्तर से भी विभाज्य है।

$$\frac{441}{7} = 63 \quad (7 = 4 + 4 - 1)$$

- (7) 441 Dattatray Number भी होने का गौरव रखता है। Dattatray Number वे हैं जो कि स्वयं भी पूर्ण वर्ग होते हैं तथा उनके अंक भी संपूर्ण वर्ग होते हैं।

$$441 = (21)^2$$

$$\begin{array}{ccc} 4 & 4 & 1 \\ \downarrow & \downarrow & \downarrow \end{array}$$

$$\sqrt{4} = 2 \quad \sqrt{4} = 2 \quad \sqrt{1} = 1$$

- 221 में आप देखेंगे कि अन्तिम दो अंक मिलकर 21 बनाते हैं। जो कि 441 का वर्गमूल है।

- (8) केवल 441 ही रोचक नहीं है वरन् उसको उलट कर लिखने पर बनी संख्या (अर्थात् 144) भी रोचक है।

$$441 = (21)^2$$

$$\text{तथा } 144 = (12)^2$$

- मात्र संख्याएं ही नहीं, वरन् उनके वर्गमूल भी उलट गये हैं।

- (9) $4 + 4 + 1 = 9$ (पूर्ण वर्ग)

$$4 \times 4 \times 1 = 16 \text{ (पूर्ण वर्ग)}$$

इतना ही नहीं, $16 \times 9 = 144$ जिसका 441 के साथ स्पष्ट गहरा सम्बन्ध है।

- (10) $144 + 441 = 585$ (एक Palindromic संख्या है।) Palindromic संख्याएं वे होती हैं जिनको अदलने बदलने पर अन्तर नहीं होता, जैसे—
121, 585, 343 आदि।

$$5 + 8 + 5 = 18$$

- (11) $144 \times 441 = 63504$

63504 Harshad Number है

$$\text{क्योंकि } 6 + 3 + 5 + 0 + 4 = 18$$

$$\text{तथा } 63504/18 = 3528$$

[आश्चर्य की बात है कि 3528 भी Harshad Number है, क्योंकि $3 + 5 + 2 + 8 = 18$ तथा $3528/18 = 196$ (एक पूर्ण वर्ग)।

$$(12) \frac{144}{441} = 0.3265306$$

$$\frac{441}{144} = 3.0625 \text{ (इसमें 3, 0, 6 अंकों)}$$

का उलट फेर देखिए।)

- (13) 144 एक अत्यन्त महत्वपूर्ण संख्या है क्योंकि Fiboracci Series में एकमात्र यह संख्या ही पूर्ण वर्ग है।

$$1, 1, 2, 3, 5, 8, 13, 21, 34, 55, 89, 144, \dots$$

144 बारहवें स्थान पर है और साथ ही साथ 12 का वर्ग भी है।

- (14) 64 संख्या का 441 के लिए विशेष महत्व है। $64 = 4 \times 4 \times 4$ होता है।

$$441 + 64 = 505 \text{—Palindromic संख्या}$$

$$441 - 64 = 377 \text{—Fbonacci Series की एक संख्या}$$

$$441 \times 64 = 28224 \text{—Harshad संख्या तथा } 2 + 8 + 2 + 2 + 4 = 18$$

- (15) 144 वर्गमूल लेते हुए 441

$$\begin{array}{ccc} 122 & & 221 \end{array}$$

$$221 = 11^2 + 10^2$$

$$\text{तथा } 11 + 10 = 21 \text{ (441 का वर्गमूल)}$$

$$122 = 1^2 + 11^2$$

$$\text{तथा } 11 + 1 = 12 \text{ (144 का वर्गमूल)}$$

और तो और $144 - 221 = 220$ } अंकों के स्थान
 $144 - 122 = 022$ } विपरीत हैं।

- (16) 144 तथा 441 को Binary System

में लिखने पर

2	144		
2	72		
2	36		↓ 0
2	18		↓ 0
2	9		↓ 0
2	4		↓ 0
2	2		↓ 1
2	1		↓ 0
	0		↓ 0
			↓ 1

2	144		
2	220		
2	110		↓ 1
2	55		↓ 0
2	27		↓ 0
2	13		↓ 1
2	6		↓ 1
2	3		↓ 1
2	1		↓ 0
	0		↓ 1
			↓ 1

अर्थात् $144 = 10010000$, अर्थात् $441 = 110111001$

जिस प्रकार संख्याएँ 441 तथा 144 एक दूसरे के विपरीत हैं, उसी प्रकार उनके Binary Numbers भी विपरीत हैं (दोनों में 1001 के स्थान को देखिए)। यह सम्बंध क्या आप अन्य संख्याओं में खोज सकते हैं ?

(17) 441 तथा 144 Hexasquare numbers हैं, अर्थात् इनको 6 भिन्न प्रकार के वर्गों के रूप में दर्शाया जा सकता है।

- 441 : (i) 4—पूर्ण वर्ग
(ii) 4—पूर्ण वर्ग
(iii) 1—पूर्ण वर्ग
(iv) 441—पूर्ण वर्ग
(v) $4 + 4 + 1$ —पूर्ण वर्ग
(vi) $4 \times 4 \times 1$ —पूर्ण वर्ग

144 संख्या भी इस रूप में ही लिखी जा सकती है।

(18) 441 Kaprekar Number भी है क्योंकि—

$$441^2 = 19\ 44\ 81$$

$$19 + 44 + 81 = 144$$

Kaprekar संख्याएँ वे हैं जिनके संपूर्ण वर्ग के विभिन्न Digit blocks (यथा 19, 44, 81) मिलाकर कोई अन्य संपूर्ण वर्ग बनाते हैं। आश्चर्य इस बात में है कि 144 संपूर्ण वर्ग होने के साथ ही साथ 441 के अंकों को उलटकर लिखने पर बना है।

ऐसा प्रतीत होता है कि संख्याएँ 441 व 144 और भी अधिक रुचिपूर्ण हैं। यह तो सविष्य हो बताएगा कि संख्याओं में और क्या रहस्य छिपे हैं। □

मछली : एक समुचित आहार

अरविन्द मिश्र

मत्स्य प्रशिक्षण केन्द्र, चिनहट, लखनऊ (उ० प्र०) 227105

आज विश्व की सुरसा की तरह बढ़ रही विकराल मानव जनसंख्या ने स्वयं मानवता के समक्ष ही कई विषम समस्याएँ उपस्थित कर दी हैं। खाद्य समस्या उनमें से एक है। आज 'दिन दूनी रात चौगुनी' रफतार से बढ़ रही जनसंख्या का उदर पोषण एक चुनौती बनकर वैज्ञानिकों के सामने है। तरह तरह के खाद्य स्रोतों को तलाश जा रहा है—भोजन के नये विकल्पों की पेशकश की जा रही है। अब तो कुछ कीट वैज्ञानिकों ने कीड़ों मकोड़ों को भी खाने की वकालत शुरू कर दी है—क्योंकि, उनके अनुसार उनमें पर्याप्त मात्रा में प्रोटीन होती है। किन्तु क्या मानव जैसा सुरक्षितपूर्ण प्राणी इन कीड़ों मकोड़ों को भोजन के रूप में स्वीकार कर सकेगा। हमारा भू क्षेत्र न तो इस बढ़ती जनसंख्या के अनुपात में 'शाकाहारी' भोजन और न ही 'मांसाहारी' भोजन सुलभ करा सकता है। अपने विकास क्रम में एक बार सभी मानव पूर्वज मांसाहारी बने थे—लगता है उसी काल क्रम की पुनरावृत्ति पुनः होगी और अस्तित्व रक्षा में समस्त मानवता को पुनः मांसाहार की ही ओर लौटना होगा—शायद अगली शताब्दी ही (जो मात्र 16 वर्ष ही दूर है) इस सम्बन्ध में निर्णायक बन जाय।

इन सम्भावनाओं को देखते हुए वैज्ञानिकों की नजरें जलस्रोतों पर टिकी हैं। उनका कहना है कि सागर, नदियों तथा अन्य जलस्रोतों से उत्कृष्ट किस्म का भोज्य पदार्थ सुलभ हो सकता है। जल में मुख्य जीव मछली ही है जिसका प्रचुरता से दोहन मानव के उदर पोषण के लिए होता आया है और वैज्ञानिक नीतियों से इनकी उपलब्धि विगत की तुलना में कई गुना बढ़ाई

गई है और भी बढ़ाई जा सकती है। पृथ्वी का अधिकांश भाग जल से घिरा है और अन्तर्स्थलीय क्षेत्रों में भी जलस्रोतों की बहुलता है। मछली ही एक ऐसा खाद्यस्रोत है जिसपर मानवता एक लम्बे समय तक पलती रह सकती है। मांस के अन्य स्रोतों की तुलना में ताजी और रोग या संदूषण रहित मछली उत्कृष्टतम है।

मत्स्याहार : एक समुचित विध्वत्प

मछली उत्कृष्ट प्रोटीन का स्रोत है। प्रोटीन के अलावा इसमें कैल्शियम, फॉस्फोरस और लोहा इत्यादि अन्य उपयोगी खाद्य तत्व समुचित मात्रा में उपलब्ध हैं। साथ ही, यह बहुत ही सुपाच्य है। इसका कारण इसमें उपस्थित पानी का प्रतिशत एवं उत्कृष्ट अमीनो अम्लों की अधिकता है। मछली के पेशीय ऊतकों में 65 से 80 प्रतिशत तक जल, 15 प्रतिशत से 25 प्रतिशत प्रोटीन और केवल थोड़ी ही मात्रा वसा (चर्बी) की होती है। अधिक प्रोटीन और अपेक्षाकृत बहुत कम चर्बी के कारण मछली एक आदर्श आहार है। जिस सरलता से मत्स्य प्रोटीन और वसा मानव द्वारा पचा ली जाती है, उसे दृष्टिगत कर इसे उत्कृष्ट मांस स्रोतों की श्रेणी में रखा गया है। डिब्बे में बन्द सामन मछली का 93.2 प्रतिशत प्रोटीन और ताजा मैकरेल का 93.1 प्रतिशत आसानी से मानव द्वारा पचा लिया जाता है। मछली के मांस की लोकप्रियता संसार भर में है। जापान और हवाई द्वीपों में ये कच्ची भी खाई जाती हैं। प्रायः इन्हें पका कर, नमक से युक्त, धूमित या परिरक्षित करके ही खाया जाता है। प्रायः सभी मछलियों का मांस श्वेत और पपड़ीदार होता है।

स्तनपोषी प्राणियों की तुलना में मत्स्य मांस में उपस्थित वसा असंतृज प्रकार की होती है। साथ ही मछली में विटामिन (ए और डी) भी भरपूर होते हैं—जो इसे पोषक आहार की श्रेणी में ला रखता है। कुछ मछलियों की खास अप्रिय गंध को विशेष पाक विधियों द्वारा आसानी से दूर किया जा सकता है। कुछ प्रचलित भोज्य पदार्थों तथा मछली प्रोटीन प्रतिशतों का विवरण सारणी—1 में उल्लिखित है।

भारत की प्रमुख अन्तर्स्थलीय (भीठे जल में पायी जाने वाली) प्रायः खाई जाने वाली मछलियाँ निम्न हैं—रोहू की कई प्रजातियाँ, कतला, नैन, रेबा, सधरी (वार्बस या पुन्टियस), पढिन (बलैंगो), टेंगन (मिस्टस), गोंछ (बगैरियस), सिलोनिया, पन्जैसियम, वाचा पावना, हिलसा, सेटिपित्ता, गैडुसिया चपरा, मोही (नोटोप्टेरस), सींगी, मागु, सौर (चन्ना) एनाबस, म्युगिल कोसुला इत्यादि।

उपर्युक्त मछलियों में वसा, प्रोटीन, कैल्शियम फॉस्फोरस एवं लोहा की मात्रा उपर्युक्त अनुपात में पायी जाती है (सारणी-2) वैज्ञानिक ढंग से पालन के लिए मुख्यतः बड़े शफरों (कार्प) को ही चुना गया है, जिसमें रोहू, कतला नैन ही प्रमुख हैं। रोहू अधिक लोकप्रिय है तथा मत्स्यभोजी इसके मांस को सुस्वादु बताते हैं। कतला तीव्र गति से बढ़ने के कारण अधिक व्यवसायिक महत्व की है। टेंगन मछलियाँ भी अपने सुरुचिपूर्ण स्वाद के लिए प्रसिद्ध हैं। कुछ व्यावहारिक समस्याओं के चलते इनका बड़े स्तर पर पालन-संवर्धन अभी अपने देश में सम्भव नहीं हो पाया है। सबसे बड़ी समस्या इनके कृत्रिम प्रजनन एवं बड़ी मात्रा में अंडों की प्राप्ति की है। सेन्ट्रल इनलैंड फिशरीज इन्स्टीच्यूट की इलाहाबाद शाखा के वैज्ञानिकों ने टेंगन मछली की एक

जाति, 'मिस्टस एओर' के कृत्रिम प्रजनन में सफलता पायी है। आशा की जाती है कि अन्य प्रमुख कार्प मछलियों की तरह इसका भी कृत्रिम प्रजनन पालन-संवर्धन संभव हो सकेगा। एक बहुत ही पोषक मछली है, सींगी जो गाँवों के कीचड़ भरे तालाबों एवं पानी वाले बड़े उथले गड्ढों में प्रचुरता में मिल जाती है। इसमें प्रोटीन की मात्रा 22.8% है साथ ही वसा की अपेक्षाकृत बहुत कम मात्रा 0.6% इसे एक बहुत ही सन्तुलित पोषक आहार की श्रेणी में ला रखती है। स्वास्थ्य लाभ कर रहे रोगियों के लिए यह अत्युत्तम आहार है। इस मछली के भी कृत्रिम संवर्धन की संभावनाओं में मत्स्य-वैज्ञानिकों की रुचि है। पूर्वी उत्तर प्रदेश में यह मछली अति परिचित है।

भारत के कई प्रदेशों के उच्च आर्थिक सामाजिक वर्गों में भी एक रुचिकर भोजन स्रोत के रूप में मछली उत्तरोत्तर लोकप्रिय हुई है। जैसे कि पश्चिमी बंगाल के लगभग हर गरीब-अमीर बंगाली परिवार के 'मीन' में मछली के विविध व्यंजनों की प्रमुखता रहती है। वहाँ एक कहावत ही बन गयी है—'माछे भाते बंगाली'—यानी बंगाली मछली और चावल पर ही निर्भर हैं किन्तु हमारे उत्तर प्रदेश के अधिकांश क्षेत्रों में अभी भी धार्मिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक कारणों से मत्स्य भोजन अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया है। मछली पकड़ना और खाना निम्न आर्थिक एवं सामाजिक वर्गों जैसे मछुओं, केवटों-मल्लाहों का ही प्रमुख अध्यवसाय बना हुआ है। किन्तु वैज्ञानिक शोधों एवं परीक्षणों से एक भोजन स्रोत के रूप में मछली की उपादेयता सिद्ध हो चुकी है। बहुत से लोगों को पूर्वाग्रहों से मुक्त होकर 'मत्स्य भोजी' होने के लिए मानसिक रूप से तैयार होना चाहिए।

अन्य मांस स्रोतों एवं कीड़े-मकोड़ों की तुलना में मछली हमेशा उत्तम भोज्य स्रोत

रहेगी। खाद्य समस्या के परिप्रेक्ष्य में, समय की पुकार यही है कि अधिक से अधिक लोग मछलियों को अपने खाने की सूची में सम्मिलित करें। इससे मछलियों के कृत्रिम संवर्धन सम्बन्धी सरकारी योजनाओं के व्यापक समर्थन से अधिक मत्स्य उत्पादन होगा और फलस्वरूप मछली एक अतिसुलभ एवं सस्ते किन्तु सर्वोत्कृष्ट खाद्य स्रोत के रूप में प्रचलित हो सकेंगी।

सारणी - 1

कुछ प्रमुख भोज्य पदार्थों एवं मछली में प्रोटीन का प्रतिशत

भोज्य पदार्थ	प्रोटीन का प्रतिशत
अन्न	7.3—8.5
शाक भाजी	0.1—5.0
दूध	3.0—4.3
अण्डा	13.0—13.5
मांस (गाय, मुर्गा, भेड़)	19—19.3
मछली	14.5—22.6

संदर्भ : दुबे और चतुर्वेदी, 19/4, नार्मन, 1976

सारणी- 2

खायी जाने वाली कुछ चुनी हुई मछलियों का रासायनिक संगठन

प्रजाति	पानी (%)	वसा (%)	प्रोटीन (%)	राख (मि. ग्रा./ 100 ग्रा. शरीर भार)	Ca (मि. ग्रा. / 100 ग्राम)	P	Fe
कतला	73.7	2.4	19.5	1.5	510	210	71.
रोहू	76.7	1.4	16.6	0.9	680	150	85
नैन	75.0	0.8	19.5	1.5	350	280	109
हिलसा	53.7	19.4	21.8	2.2	180	280	215
सींगी	68.0	0.6	27.8	1.7	670	650	226
सौर	74.0	0.6	19.4	2.6	610	530	130
(चन्ना पन्कटेटस)							
एनाबस	70.0	8.8	14.8	2.0	410	390	135
मोही (मोय)	73.0	1.0	15.4	2.5	590	450	169
(नोटोप्टेरस नोटोप्टेरस)							
पढ़िन	73.0	2.7	15.4	21.3	160	490	62.0
काल बासू (रोहू की प्रजाति)	81.0	1.0	14.7	1.3	320	380	83
माँगुर	78.5	1.0	15.0	1.3	210	290	74.0
सधरी (पुन्टियस)	70.2	9.5	16.5	1.53	220	120	0.54
महाशेर	70.3	2.20	25.2	1.20	130	280	3.83

* अधिकतम प्रोटीन प्रतिशत

पेट्रोल का धुआं : रसायनों का शैतानी मिश्रण

डॉ० औमप्रभात अग्रवाल

रीडर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक-124001

इधर मोटरगाड़ियों से निकलने वाले धुँये के बारे में कुछ चौंकाने वाले तथ्य सामने आये हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के योरोपीय आर्थिक समीक्षण के एक अध्ययन से स्पष्ट हुआ कि उस महाद्वीप की प्रमुख ऐतिहासिक इमारतों, जैसे एथेन्स के एक्रोपोलिस, रोम के कोलोसियम तथा कोलोन के चर्च आदि का अस्तित्व जिस वायु प्रदूषण के कारण खतरे में पड़ गया है, उसमें मोटरगाड़ियों के पेट्रोल के धुँये का विनिष्ट योगदान है। 1983 में नैरोबी में प्रस्तुत संयुक्त राष्ट्र संघ की ही पर्यावरण कार्यक्रम समिति की एक रपट में कहा गया है कि इन राजमार्गों, जिन पर स्वचालित वाहनों का यातायात बहुत अधिक है, के पास के खेतों में मूँगफली, गेहूँ, सोयाबीन तथा मक्का के उत्पादन में खासी कमी पाई गई। बम्बई इस समय संसार के सर्वाधिक प्रदूषित नगरों में से एक है। नागपुर के राष्ट्रीय पर्यावरण अभिमांत्रिकी इंस्टीट्यूट द्वारा किये गये एक अध्ययन से पता चलता है कि इस महानगर (बम्बई) के वातावरण का साठ प्रतिशत प्रदूषण पेट्रोल के धुँये के ही कारण है। इस नगर के साढ़े तीन लाख से भी अधिक स्वचालित वाहनों से प्रतिदिन निकलने वाले धुँये में लगभग 950 टन विषैले रसायन मिले होते हैं। निश्चय ही पेट्रोल का धुआं रसायनों का शैतानी मिश्रण है। पेट्रोल के पूर्ण-अपूर्ण दहन से उत्पन्न ये रसायन न केवल स्वयं हानिकर होते हैं, बल्कि पर्यावरण में ऐसी अभिक्रियाएँ भी प्रारंभ कर देते हैं जो अंततः और अधिक हानिकर रसायनों को जन्म देती हैं।

पेट्रोल के धुँये में मुख्यतः कार्बन के कण,

कार्बन मोनोऑक्साइड कई प्रकार की हाइड्रो-कार्बन गैसों, नाइट्रिक ऑक्साइड गैस, लेड के कुछ कार्बनिक तथा अकार्बनिक यौगिक एवं डाइ-क्लोरो अथवा डाइब्रोमो ईथेन आदि रसायन होते हैं। ये सभी इंजन में पेट्रोल के दहन से उत्पन्न होते हैं। हाइड्रोकार्बन गैसों तथा कार्बन के कण स्पष्टतः पेट्रोल के अपूर्ण दहन का परिणाम होते हैं तथा लेड के यौगिक एवं डाइक्लोरोईथेन अथवा डाइब्रोमोईथेन की उपस्थिति उसमें मिलाये गये एंटीनाक तथा लेड-स्केवेंजर यौगिकों के कारण होती है।

पेट्रोल स्वयं कार्बनिक यौगिकों (हाइड्रो-कार्बनों) का मिश्रण मात्र है। इसीलिये इसके अपूर्ण दहन से कार्बन के नन्हें-नन्हें कणों की उत्पत्ति कोई आश्चर्य नहीं है। बंद इंजन को चालू करते समय तथा तब जब कि घनी ट्रैफिक में बाहन धीरे-धीरे चल रहा हो, दहन काफी सीमा तक अपूर्ण ही रहता है। पूर्ण दहन में कार्बन के कण नहीं बनने पड़ते क्योंकि वे कार्बन मोनोऑक्साइड तथा डाइऑक्साइड गैसों में परिवर्तित हो जाते हैं। अपूर्ण दहन के फलस्वरूप बनने वाले कार्बन के कण अत्यंत महीन होते हैं। कुछ बड़े कण (10 μ m आकार के) तो नाक के बालों में फँस कर रह जाते हैं, परन्तु छोटे कण, विशेष कर 0.1 μ m औसत आकार के कण 50% तक फेफड़ों में पहुँच जाते हैं और जीवधारियों के श्वसन तंत्र को बुरी तरह प्रभावित करते हैं। पत्तियों आदि पर बैठ कर ये कण उसके छिद्रों को बंद कर देते हैं और उनमें ऑक्सीजन तथा कार्बनडाइ ऑक्साइड गैसों का आवागमन अवरुद्ध कर देते हैं। स्पष्ट है कि वनस्पतियों का स्वास्थ्य भी प्रभावित होने लगता है।

पेट्रोल के धुंये का दूसरा महत्वपूर्ण घटक कार्बन मोनोऑक्साइड गैस है जो निश्चय ही उसके कार्बन अंश के दहन की प्रक्रिया में उपचयन से बनती है। यह वही दमघोंटू गैस है जो बंद कमरे में अंगीठी जला कर सो जाने पर यमराज का एजेंट सिद्ध होती है। इस गैस की यह मारक शक्ति रक्त के लाल कणों (हीमोग्लोबिन) के साथ संकुल बना लेने की उसकी क्षमता के कारण होती है। संकुल निर्माण के उपरान्त रक्त के ये कण ऑक्सीजन से संयुक्त होने में असमर्थ हो जाते हैं, जिसके कारण शरीर के विभिन्न अंगों की ऑक्सीजन की मांग पूरी नहीं हो पाती। ऑक्सीजन के अभाव में मस्तिष्क निष्क्रिय पड़ने लगता है और अंततः प्राण-पखेरू उड़ जाते हैं। यह स्थिति तब आती है जबकि वातावरण में इस गैस की सघनता कम से कम 750 भाग प्रति दस लाख (750 पी० पी० एम०) हो और मनुष्य इसमें कम से कम तीन घंटे तक बराबर पड़ा रहे। यदि यह मात्रा 300 पी० पी० एम० से कम हो तब बेहोशी तक नहीं आती। स्वचालित वाहनों में पेट्रोल के दहन से यह गैस जिस मात्रा में उत्पन्न होती है, उससे इस प्रकार की घटनायें संभव नहीं हैं। फिर, अधिकांश मोनोऑक्साइड, डाइऑक्साइड में शीघ्र ही बदल कर प्रभावहीन भी हो जाती है। वनस्पतियों पर भी इसका दुष्प्रभाव सिद्ध नहीं हो सका है। फिर भी 1971 में विश्वविख्यात पत्रिका 'साइंस' में छपी एक रपट से यह संभावना प्रकाश में आती है कि स्थान विशेष के वातावरण में इस गैस की अधिक मात्रा होने पर उस स्थान पर मृत्यु दर बढ़ सकती है¹। अमेरिका के लास एंजेलिस शहर में किये गये अध्ययन में पाया गया कि उन दिनों में, जब जब वहाँ के वातावरण में इसकी मात्रा प्रति-दिन सामान्य औसत 7 पी० पी० एम० से बढ़ कर 20 हो गई

तो औसत मृत्यु दर में ग्यारह की वृद्धि हो गई¹। स्मरणीय है कि आधुनिक महानगरों में स्वचालित वाहनों से निकले धुंये में मिली यह गैस वातावरण में इसकी सामान्य मात्रा में काफी अधिक वृद्धि कर देती है। जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय के पर्यावरण विज्ञान विभाग के एक अध्ययन के अनुसार बंबई और दिल्ली में वातावरण में उपस्थित कार्बन मोनोऑक्साइड गैस के 70% तथा ठोस कणों के 30-40% के लिये पेट्रोल का धुंआ ही उत्तरदायी होता है।

धुंये में नाइट्रिकऑक्साइड की उपस्थिति, पेट्रोल में थोड़ी मात्रा में मौजूद नाइट्रोजन के कारण होती है। वातावरण में इस गैस का अधिकांश, ऑक्सीजन से संयोग कर एक अन्य गैस नाइट्रोजन पराक्साइड में बदल जाता है। इस परिवर्तन में वातावरण में उपस्थित हाइड्रोकार्बन उत्प्रेरक की भूमिका निभाते हैं। यह गैस भी स्वास्थ्य को प्रभावित करती है। डाइऑक्साइड के दशमलव एक पी० पी० एम० से कम मात्रा के वातावरण में भी यदि दो तीन साल तक रहा जाय तो सांस-संबंधी बीमारियों के उत्पन्न होने की गहरी आशंका रहती है। स्मरणीय है कि कार्बन मोनोऑक्साइड के विपरीत, इसकी अत्यंत कम मात्रा भी हानिकारक है और इसीलिये, धुंये में इसकी नगण्य सी मात्रा को भी नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। चूहे, बंदरों, खरगोशों आदि के फेफड़ों के ऊतकों को तो कुछ घंटों के बाद ही गंभीरता की सीमा तक इससे प्रभावित होते पाया गया है। कुछ वनस्पतियाँ भी इससे प्रभावित होती हैं। वर्षा के जल में घुल कर डाइऑक्साइड गैस, नाइट्रिक अम्ल क सृष्टि करती है और इस प्रकार, सल्फर डाइऑक्साइड की भाँति यह भी अम्लीय वर्षा का कारण बन जाती है। यही नहीं, यह गैस

1-Hexter A. C. and Goldsmith J. R. Science, 172, 1971, 265.

परोक्ष रूप से और भी घातक प्रभाव उत्पन्न करती है। परंतु उसकी चर्चा थोड़ी देर बाद की जायेगी। यहाँ यह बात बता देना अप्रासंगिक न होगा कि नागपुर के राष्ट्रीय पर्यावरण अभियानिकी इंस्टीट्यूट की एक नई रपट के अनुसार दिल्ली के वातावरण में इस गैस (नाइट्रोजन डाइऑक्साइड) की मात्रा $82 \mu\text{g}/\text{m}^3$ है जो कि बहुत अधिक है। यह मात्रा निश्चय ही नगर में स्वचालित वाहनों की भारी संख्या के कारण है।

जैसा कि लिखा जा चुका है, पेट्रोल के अपूर्ण अथवा कच्चे दहन के फलस्वरूप हाइड्रोकार्बन वर्ग के कई यौगिक धुएँ के महत्वपूर्ण घटक बन जाते हैं। चूँकि पेट्रोल स्वयं भी अनेक हाइड्रोकार्बनों का मिश्रणमात्र है, अतः वाहन की पेट्रोल टंकी से वाष्पन के कारण भी ये यौगिक वातावरण में मिलते रहते हैं। ऊपर जवाहरलाल नेहरू वि० वि० की रपट की चर्चा की गई है। उसी में यह सूचना भी दी गई है कि दिल्ली एवं बंबई महानगरों के वातावरण में उपस्थित हाइड्रोकार्बनों का पचास प्रतिशत पेट्रोल से ही आता है। कहना न होगा कि ये हाइड्रोकार्बन कैंसर-उत्पादक रसायन सिद्ध हो चुके हैं।

वस्तुतः धुएँ में उपस्थित नाइट्रिक ऑक्साइड तथा हाइड्रोकार्बन, शृंखला अभिक्रियाओं को जन्म देते हैं जिसके उत्पादरूप में अनेक घातक रसायन प्राप्त होते हैं। यह तो लिखा ही जा चुका है कि नाइट्रिक ऑक्साइड गैस (NO) और अधिक उपचयन के फलस्वरूप डाइऑक्साइड (NO_2) में बदल जाती है। सूर्य-रश्मियाँ इस NO_2 को काफी हद तक फिर से तोड़ कर NO में बदल देती हैं। इस विखंडन की क्रिया में अत्यंत क्रियाशील परमाण्वीय ऑक्सीजन भी प्राप्त होती है जो अंततः हाइड्रोकार्बनों की उपस्थिति में सामान्य ऑक्सीजन अणु से संयोग

कर ओजोन गैस को जन्म देती है। यहाँ भी हाइड्रोकार्बन उत्प्रेरक की भूमिका निभाते हैं।

यह ओजोन कई तरह के गुल खिलाती है। धरातल के पास के वायुमंडल में यदि इसकी मात्रा एक पी० पी० एम० से भी कम ही हो तो भी कुछ घंटों में खाँसी, मिचली, सर और सीने के दर्द की शिकायतें पैदा होने लगती हैं। लंबे समय तक बराबर ओजोनयुक्त वातावरण में रहने पर बृक्क (किडनी) प्रभावित होने लगती है तथा मनुष्य दमे का शिकार बनने लग जाता है। ओजोन गैस का सबसे बुरा प्रभाव यह है कि यह बुढ़ापा जल्दी लाती है। कृषि पर भी इसका बहुत खराब असर पड़ता है। 1983 में नैरोबी में प्रस्तुत संयुक्त राष्ट्रसंघ की जिस रपट का जिक्र पहले किया गया था उसमें कृषि पर स्वचालित यातायात के दुष्प्रभावों के लिये पेट्रोल के दहन के परिणामस्वरूप वातावरण में बढ़ती ओजोन सांद्रता को ही उत्तरदायी ठहराया गया था। वातावरण में किंचित अधिक ओजोन के कारण भी पत्तियाँ पीली पड़ने लग जाती हैं तथा प्राकाशिक संश्लेषण (फोटोसिथिसिस) की गति काफी मंद पड़ जाती है। यही नहीं, ओजोन रबर को भी बर्बाद करता है तथा रंगीन वस्त्रों के लिये विरंजक का भी कार्य करता है।

ओजोन के कारनामे और भी हैं। पीछे उल्लिखित अभिक्रियाओं की शृंखला को आगे बढ़ाते हुये पेट्रोल के धुएँ के हाइड्रोकार्बनों से संयोग कर उन्हें जहरीले एलीडिहाइड्स एवं कीटोनों में बदल देती है। ये सभी भयंकर कैंसरउत्पादक रसायन (कार्सिनोजेन) तो हैं ही, संधनित होकर वातावरण की दृश्यता को भी कम कर देते हैं और इस प्रकार, यातायात की दुर्घटनाओं की संभावनाओं को बढ़ा देते हैं। साथ ही पराक्सीएसिटिल नाइट्रेट (पी० ए० एन०) तथा पराक्सीबेंजोइल नाइट्रेट (पी० बी० एन०) जैसे खतरनाक रसायन भी उत्पन्न होते हैं।

सभी पी० ए० एन० यौगिक आँखों में तीव्र खुजली उत्पन्न कर पानी बहाना शुरू कर देते हैं तथा वनस्पति-जगत् के लिये भी हानिकार साबित होते हैं।

नाइट्रोजन डाइऑक्साइड तथा ओजोन जैसी शक्तिशाली उपचायक गैसों मनुष्य सहित सभी जीवधारियों के स्वास्थ्य को नुकसान पहुँचाने के साथ साथ कृषि को भी भारी आर्थिक हानि पहुँचाती हैं। 1970 में संयुक्त राष्ट्र अमेरिका में पेट्रोल तथा अन्य स्रोतों से उत्पन्न हाइड्रोकार्बनों तथा इन उपचायक गैसों के सम्मिलित प्रदूषण से 1.1×10^9 डालरों की आर्थिक हानि आंकी गई थी।¹ यह भी स्मरणीय है कि पेट्रोल के धुएँ में उपस्थित रसायन तथा श्रृंखला अभिक्रिया के उत्पाद (इनमें औद्योगिक प्रतिष्ठानों में उत्पन्न प्रदूषक रसायनों को भी सम्मिलित कर लें) प्राकृतिक धुंध को दमोघोट स्मॉग में परिवर्तित कर देते हैं, जिसकी विभिन्निका से अब अधिकांश लोग परिचित हो चुके हैं।

जैसा कि लिखा जा चुका है—पेट्रोल के धुएँ में कार्बनिक तथा अकार्बनिक यौगिकों के रूप में लेड (सीसा) भी उपस्थित होता है। पेट्रोल में सीसा एंटीनाक यौगिकों के रूप में ऊपर से मिलाया जाता है। साधारणतः यह यौगिक टेट्राएथिल लेड होता है। यह पेट्रोल को आदर्श दहनशीलता प्रदान करता है। इसकी अनुपस्थिति में पेट्रोल, स्वचालित वाहनों के इंजनों को क्षतिग्रस्त कर सकता है। इस समय पेट्रोल पंपों पर मिलने वाले पेट्रोल की दहनशीलता 87 ऑक्टेन है। इसके अर्थ हैं कि उसके प्रत्येक डेढ़ लीटर में लगभग एक ग्राम सीसा धातु उपस्थित होती है। इंजन में दहन की अवधि में टेट्राएथिल लेड, सीसा धातु तथा लेड ऑक्साइड में परिवर्तित हो जाता है। ये दोनों

ही ठोस होने के कारण इंजन में ही रुक जायेंगे और मशीन को क्षति पहुँचायेंगे। इस नई समस्या से निपटने के लिए पेट्रोल में डाइक्लोरोइथेन (ई० डी० सी०) अथवा डाइब्रोमोइथेन (ई० डी० बी०) रसायन थोड़ी मात्रा में मिला दिये जाते हैं। ये इंजन में रुकी सीसा धातु तथा लेड ऑक्साइड के साथ अभिक्रिया कर उसे लेड क्लोराइड अथवा ब्रोमाइड में बदल देते हैं। ये दोनों ही निम्न गलनांक तथा क्वथनांक वाले यौगिक हैं और इसीलिए इंजन की गर्मी के कारण वाष्प रूप में धुएँ के साथ मिलकर बाहर आ जाते हैं। इस प्रकार इंजन के बाहर आने वाला सीसा अकार्बनिक यौगिक के रूप में होता है। परन्तु लगभग 20% मूल कार्बनिक लेड भी अपरिवर्तित रहते हुए धुएँ के साथ बाहर आ जाता है। जब ठंड वाहन का इंजन चालू किया जाय अथवा वाहन को धीमे चलाया जाय तो पेट्रोल के अपूर्ण दहन के फलस्वरूप यह कार्बनिक लेड और अधिक मात्रा में धुएँ के साथ बाहर आता है। यह भी निश्चित है कि अप्रयुक्त ई० डी० सी० अथवा ई० डी० बी० भी धुएँ में उपस्थित रहेंगे। आइये देखें हमारे शरीर पर इन रसायनों का क्या प्रभाव पड़ता है।

अकार्बनिक लेड, आँतों व फेफड़ों से होते हुये रक्त में पहुँच जाता है। अधिकांश तो धीरे-धीरे पेशाब के रास्ते बाहर निकल जाता है, परन्तु शेष हड्डियों में एकत्रित होता जाता है। दीर्घ काल तक जमा होते रहने के परिणामस्वरूप यह हड्डियों को अंततः गलाने लग जाता है। जब तक वह रक्त में रहता है (और रक्त से निष्कासन की प्रक्रिया अत्यन्त धीमी होती है) तब तक भी वह शरीर से बाज नहीं आता। यदि प्रति दस लीटर रक्त में एक मिलिग्राम से अधिक लेड उपस्थित हो जाय तो पाचनतंत्र प्रभावित होने

1. T. E. Waddel, "The economic damages & air pollution, p. 80, U. S. Environmental Protection Agency, Washington D. C. 1974.

लगता है। पेट-दर्द, मिचली, अनिद्रा, बेचैनी आदि को शिकायतें पैदा होने लग जाती हैं। सीसा, शरीर में हीमोग्लोबिन का उत्पादन भी कम कर देता है जिसके कारण मनुष्य रक्ताल्पता का भी शिकार हो जाता है। हीमोग्लोबिन की कमी से शरीर के विभिन्न अंगों को ऑक्सीजन की सप्लाई घट जाने के कारण शरीर शिथिल पड़ने लग जाता है। रूसी विशेषज्ञ कोबा पातरिया के अनुसार इसी कारणवश हृदय की मांस-पेशियाँ भी शिथिल पड़ जाती हैं और अंततः 'हार्ट अटैक' का कारण बनती हैं। बच्चों पर सीसा विषाक्तता का प्रभाव सबसे अधिक पड़ता है।

कार्बनिक लेड का प्रभाव और अधिक भयंकर होता है। यह तो सीधे चर्म-छिद्रों से शरीर के अंदर प्रवेश कर जाता है और फँटी ऊतकों में आनन फानन में पहुँचकर इकट्ठा हो जाता है। इसीलिए, यह रक्त में तो अपनी उपस्थिति नहीं दर्शाता परन्तु तुरंग मस्तिष्क तक पहुँच जाता है और स्नायुतंत्र को गम्भीर क्षति पहुँचाने लगता है। शरीर में अधिक मात्रा में एकत्रित हो जाने पर ही पेशाब के माध्यम से इसका निष्कासन प्रारम्भ होता है।

ई० डी० सी० तथा ई० डी० बी० भी कम घातक नहीं होते। अमेरिका के नेशनल कैंसर इंस्टीट्यूट के अनुसार ये अति समर्थ कार्सिनोजेन

परिषद् का पृष्ठ

लखनऊ में विज्ञान कांग्रेस की पूर्व संध्या पर परिषद् द्वारा आयोजित 2-1-85 को विज्ञान गोष्ठी में डॉ० डी० डी० पंत का अध्यक्षपदीय भाषण हुआ और 4-1-84 को शाम 5 बजे 'विज्ञान' के नवम्बर 1984—जनवरी 1985 अंक 'विज्ञान कथा विशेषांक' का विमोचन हुआ। इन अवसरों पर उपस्थित लोगों में दिल्ली के सर्वेथ्री 1. श्याम सुन्दर शर्मा 2. तुरशन पाल पाठक 3. डी० एन० भटनागर और 4. गौरी नन्दन सिंहल, लखनऊ के 5. डॉ० संतोष कुमार ओझा 6. अरविन्द मिश्र 7. रजनी तिवारी 8. रश्मि श्रीवास्तव 9. डॉ० अश्विनी कुमार श्रीवास्तव 10. विनय कुमार सिंह 11. प्रो० देवेन्द्र शर्मा 12. प्रमोद कुमार झा और 13. सत्यदेव सैनी, जबलपुर के 14. सुरेशचन्द्र चतुर्वेदी 15. हनुमान प्रसाद तिवारी 16. के० के० मिश्र और 17. महेश चन्द्र अग्रवाल, त्रिवेन्द्रम के 18. बाल कृष्ण करुणाकर नायर, वाराणसी के 19. डॉ० अनिमेष कुमार घोष 20. डॉ० रमेश

हैं। प्रयोगशाला में पाया गया कि तीन माह से भी कम समय में इनके कारण छोटे जानवर आमाशय, फेफड़ों तथा जिगर आदि के कैंसर से ग्रस्त हो गये। परिणाम इतने भयानक थे कि समय से पहले ही प्रयोगों को बंद कर देना पड़ा। फिर भी यह कह देना आवश्यक है कि मनुष्यों के बारे में अभी निश्चित तथ्य उपलब्ध नहीं हैं।

पेट्रोल का धुआँ निश्चय ही मारक रसायनों का शैतानी मिश्रण है। बढ़ती नगर-सभ्यता के साथ यह ज़हर भी वातावरण में अधिकाधिक मात्रा में घुलता जा रहा है। अकेले बंबई में साढ़े तीन से चार लाख के बीच स्वचालित वाहन हैं और यह संख्या 15% की दर से प्रति वर्ष बढ़ रही है। कोई आश्चर्य नहीं कि आज बंबई विश्व के सर्वाधिक प्रदूषित नगरों में से है। वहाँ अब उस दमघोटू स्मॉग के भी दर्शन यदा कदा होने लग गये हैं जो अमेरिका के लास एंजेलिस जैसे नगरों के लिए आम बात है। स्मरणीय है कि स्मॉग के जन्म तथा उसे दमघोटू प्रकृति प्रदान करने में पेट्रोल का धुआँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। मानव कल्याण की दृष्टि से अब आवश्यकता इस बात की है कि पेट्रोल को लेड-मुक्त किया जाय और इंजनों के डिजाइन में ऐसे परिवर्तन किये जाय कि यह प्रदूषण कम से कम फैले। □

चन्द्र तिवारी 21. डॉ० नन्दलाल सिंह और 22. डॉ० रमाशंकर सिंह, कानपुर के 23. डॉ० काशी नाथ तिवारी और 24. सुरेश चन्द्र चतुर्वेदी, भोपाल के 25. गिरीश्वर मिश्र, फैजाबाद के 26. राम कलप तिवारी, धनबाद (बिहार) के 27. प्रो० नरेन्द्र सिंह रावत, मुजफ्फरपुर के 28. डॉ० सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव बरेली के 29. डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय, रोहतक के 30. डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल, आगरा के 31. डॉ० टी० एन० चोजर और 32. डॉ० जी० पी० चौहान, कोरवा के 33. दीनानाथ सिंह, इलाहाबाद के 34. स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती 35. डॉ० शिवगोपाल मिश्र, 36. डॉ० पूर्णचन्द्र गुप्त 37. डॉ० राम नितंजन धर दुबे 38. डॉ० कुंज बिहारी 39. डॉ० अशोक महान 40. डॉ० अरुण डे 41. आर० सी० श्रीवास्तव 42. डॉ० डी. डी. नौटियाल 43. डॉ० एस० के० चतुर्वेदी 44. डॉ० अशोक कुमार गुप्ता 45. डॉ० महेशचन्द्र चट्टोपाध्याय 46. रामायण मिश्र 47. डॉ० वाचस्पति 48. स्वामी प्रसाद तिवारी 49. मनोज कुमार गुप्त 50. रमा शंकर पाठक 51. वीरेन्द्र कुमार वर्मा और 52. रामधनी द्विवेदी । □

फार्म 4/FORM IV

[नियम 8 देखिए/(See Rule 8)]

1. प्रकाशन स्थान
इलाहाबाद
2. प्रकाशन अवधि
प्रत्येक मास की 15 दिनांक
3. मुद्रक का नाम
श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय
(क्या भारत का नागरिक है ?)
हाँ
पता
नागरी प्रेस, इलाहाबाद
4. प्रकाशक का नाम
डॉ० शिवगोपाल मिश्र
(क्या भारत का नागरिक है ?)
हाँ
पता
रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
5. संपादक का नाम
डॉ० जगदीश सिंह चौहान
(क्या भारत का नागरिक है ?)
हाँ
पता
प्रवक्ता रसायन विभाग, इलाहाबाद
विश्वविद्यालय, इलाहाबाद
6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के स्वामी हों तथा जो समस्त पूंजी के एक प्रतिशत से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हों ।
विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-211002
मैं, शिवगोपाल मिश्र एतद्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिये गये विवरण सत्य हैं ।
शिवगोपाल मिश्र
प्रकाशक के हस्ताक्षर
ता० 12. 3. 85.
प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-211002

पुस्तक समालोचना

पर्यावरण और जीव—ले० प्रेमानन्द चन्दोला, प्रकाशक : हिमाचल पुस्तक भण्डार, दिल्ली, प्रथम संस्करण 1984, मूल्य 23=25 रु०, पृष्ठ संख्या 200

यह पुस्तक 37 वैज्ञानिक लेखों का संकलन है जिन्हें लेखक ने पर्यावरण, पौधे तथा प्राणी-इन तीन खण्डों के अन्तर्गत प्रस्तुत किया है । लेखक का कहना है : "इस तरह 37 लेखों में

विविध आयामों से कहानी व गल्प की तरह ललित शैली में विज्ञान की सामग्री देने की चेष्टा की गई है।” “इन लोकप्रिय वैज्ञानिक लेखों की रचना ललित और साहित्यिक लेखों और निबन्धों के समांतर हुई है और इस दिशा में यह अपने प्रकार का प्रयास है।”

इसमें सन्देह नहीं कि पहली बार इतने ढेर सारे निबन्ध पुस्तकाकार रूप में पाठकों के समक्ष आये हैं, हमारे एक जाने-माने विज्ञान लेखक की लेखनी ने निस्सृत होकर। लेखक ने ‘ललित-शैली’ का उल्लेख आत्मश्लाघावश नहीं किया, यह सच है। हिन्दी में विज्ञान लेखन कब से होता आ रहा है किन्तु उसे शैली प्रदान करने की चेष्टा नहीं की गई। मैंने बारम्बार अनुभव किया है कि श्यामशरण ‘विक्रम’, रमेशदत्त शर्मा तथा प्रेमानन्द चन्दोला शैली निर्माणकों में हैं।

पर्यावरण से ‘हमारा चोली दामन का साथ’ बताया गया है तो उससे सम्बन्धित 10 लेखों में सारे पक्षों पर विचार हुआ है। मुझे ‘कीट रसायन और प्रकृति प्रदूषण’ लेख अत्यन्त सूचना-प्रद लगा। इसी प्रकार पौधे के अन्तर्गत जिन 10 लेखों का समावेश है उनमें ‘बिना भूमि की खेती’ तथा ‘शैवालों का दोहन’ ये दो लेख लाजवाब लगे। शायद पहला वाला लेख ‘आविष्कार’ में छपा था। प्राणी खंड में 17 लेख हैं—भानुमती का पूरा पिटारा है यह खंड। मुझे ‘कीट जितने छोटे उतने छोटे’, ‘नमक और रक्त-चाप’ तथा ‘विकासवाद का हमारे क्रिया कलापों पर प्रभाव’—इन तीन लेखों की विषयवस्तु तथा शैली आकर्षक लगी। मुझे लगा कि शीर्षकों का नामकरण स्वयं में मौलिक योगदान हो सकता है वैज्ञानिक लेखन में। पुस्तक के अन्त में पारि-भाषिक शब्दों की सूची में भी नवीनतम है—हिन्दी से अंग्रेजी रूपान्तर। लेखक की हिन्दी-प्रियता—सरकारी दफ्तर में रहते हुए हँस प्रेरित करती है कि उनका अनुकरण किया जा

पुस्तक की छपाई सुन्दर है। छापे की त्रुटियाँ नहीं हैं। आवरण पृष्ठ अत्यन्त मनोहारी है। पुस्तक पठनीय, संग्रहणीय एवं क्रय करने पर लाभप्रद होगी।

प्रथम खण्ड से शैली निर्माण का एक उदाहरण दे रहा हूँ (पृ० 34)—

“समुद्र में गहरे पैठकर मोती बटोर लेना बहुत पुरानी बात है। समुद्र के गर्भ से अक्षय भंडार को प्राप्त करने के लिए सुर और असुरों ने भी समुद्र मंथन किया था और चौदह रत्नों की प्राप्ति की थी। आज के वैज्ञानिक भी समुद्र मंथन में लगे हुए हैं।” (समुद्र मंथन पर ध्यान दें)।

तृतीय खण्ड से एक अन्य उदाहरण देखें (पृष्ठ 115)—

“कीड़ों की बातें सचमुच अनोखी हैं। ये साँस लेते हैं पर इनमें फेंफड़ों का नाम नहीं। ये सुनते हैं पर तुरी यह कि इनके कान नदारद। ये सूँघते हैं पर गजब यह कि इनके नाक नहीं। इनका दिल होता तो है पर हमारी तरह का नहीं।” (मुझे ‘बिन पद चलै सुनै बिनु काना’ का स्मरण हो जाता है)।

तृतीय खण्ड से ही कुछ पंक्तियाँ और (पृ० 155)—

“आदमी तो नमक हरामी या नमकहलाली करता ही है पर तंदुरुस्ती के हिसाब से यह नमक भी नमकहलाली तथा नमकहरामी करता है। यह बात दुनिया के बड़े-बड़े साइंसदा कहते हैं। धरती के इस नायाब और ज़ायकेदार तोहफे पर नज़र लग गई है। कहते हैं कि यह ज़रा भी ज़्यादा हो गया तो गंजब ढा देगा, तन्दुरुस्ती के लिए ज़हर घोल देगा।”

काश कि हमारे विज्ञान लेखक अपनी बातें ऐसी ही शैली में कहने लगते तो साहित्य का भी मजा आ जाता। □

—डॉ० शिवगोपाल मिश्र

इफको

इफको खाद है सर्वोत्तम

अधिक उपज और लागत कम

- इफको एन० पी० के० १२ : ३२ : १६ एक पूर्ण सन्तुलित एवं पौष्टिक खाद है ।
- इससे जड़ों एवं व्यातों का अच्छा विकास होता है ।
- दानेदार एन० पी० के० बुवाई के समय प्रयोग में आसान है ।
- केवल सहकारी विक्री केन्द्रों, कृषि विभाग, एवं इफको कृषि सेवा केन्द्रों से ही उपलब्ध होने के कारण शत प्रतिशत शुद्ध है ।
- अधिक घुलनशील होने के कारण पौधों को आसानी से सुलभ तथा शीघ्र प्रभावकारी है ।
- इफको के क्षेत्रीय प्रतिनिधि उर्वरकों के प्रभावकारी प्रयोग तथा उन्नतिशील कृषि तकनीकी कृषकों को उनके खेतों पर निःशुल्क प्रदान करते हैं ।

इफको

इंडियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोआपरेटिव लिमिटेड

८ गोखले मार्ग, लखनऊ

विज्ञान वार्ता

करोड़ों वर्ष पहले दक्षिण ध्रुव और भारत एक था

लखनऊ, 2 जनवरी। पौधों के जीवाश्मों के अध्ययन से यह पता चलता है कि करोड़ों वर्ष पहले अंटार्कटिक प्रदेश, आस्ट्रेलिया, भारत, दक्षिणी अफ्रीका और दक्षिणी अमेरिका एक विशाल दक्षिणध्रुवीय स्थल क्षेत्र से जुड़े थे जिसे मध्य प्रदेश की गोंड आदिवासी जाति के आधार पर गोंडवाना लैंड नाम दिया गया। इसका प्रमाण यह है कि इन क्षेत्रों में प्राचीनकाल के पौधों के जो जीवाश्म मिलते हैं, वे एक तरह के हैं।

यह जानकारी आज यहाँ विज्ञान कांग्रेस की पूर्व संध्या पर इलाहाबाद की संस्था, विज्ञान परिषद् द्वारा आयोजित अनुसंधान संगोष्ठी में प्रसिद्ध वनस्पतिशास्त्री प्रो० दिव्यदर्शन पंत ने अपने अध्यक्षीय भाषण में दी। संगोष्ठी का विषय था— 'विभिन्न युगों में भारतीय वन'। उन्होंने कहा कि इन सभी क्षेत्रों में एक साथ हिमयुग आने के प्रमाण मिलते हैं। गोंडवाना वन अपने समय में अत्यन्त समृद्ध थे। जब घने जंगल जलमग्न हो गये तो ये कोयले की घनी परत में बदल गये, जिनकी मोटाई कहीं-कहीं 150 फुट तक हो गयी है। वनों का बढ़ना, जलमग्न होना और उनका कोयले में बदलना बार-बार होता रहा, इसी से कोयले की खानों में कई परतें देखने को मिलती हैं।

प्रो० पन्त ने कहा कि गोंडवाना काल के बाद के वनों के जीवाश्म अब भी जबलपुर, सिहोरा चौगान, चांदिया आदि स्थानों से मिलते हैं। इन वनों के पेड़-पौधों में कुछ नयी जातियों के पादप

भी मिलते हैं। वनों के जो प्राचीनतम जीवाश्म मिलते हैं, उनके वृक्ष सामान्यतः पांच मोटे फुट और 150 फुट ऊँचे होते थे लेकिन बाद में उनकी मोटाई और आकार घट गया, क्योंकि इन वृक्षों को पर्याप्त जमीन और जल की आवश्यकता होती थी, जो बाद में कम होती गयी।

प्रोफेसर पंत ने बताया कि पृथ्वी एक जीवित इकाई है और उसमें इतनी क्षमता है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में अपना अस्तित्व बनाये रख सके। वह तापमान और जलवायु के परिवर्तन को सहने में समर्थ है और पर्यावरण के व्यतिक्रम को भी अपने अनुसार कर लेती है। इसलिए यह भय व्यक्त करना कि पृथ्वी कालांतर में नष्ट हो जायेगी, बेवुनियाद है। उन्होंने कहा कि प्राचीनकाल में यूनान की एक देवी जाया (गाया) का नाम आता है। वह भी ऐसी ही शक्ति से सम्पन्न थी। इसी से सम्बन्धित विषयों का नामकरण इस देवी के नाम पर किया गया। डॉ० लाक्लाक ने इसी आधार पर पृथ्वी की अद्भुत शक्तियों पर एक पुस्तक लिखी और उसका नाम ही 'गाया' रखा।

प्रारम्भ में स्वामी सत्यप्रकाश ने विषय प्रतिपादित करते हुए विज्ञान-पत्रकारिता पर प्रकाश डाला और इस बात पर जोर दिया कि भारत में विज्ञान-शिक्षण की भाषा हिन्दी होनी चाहिए। अन्त में विज्ञान परिषद् के प्रधानमन्त्री डॉ० शिव गोपाल मिश्र ने धन्यवाद ज्ञापित किया। □

उत्तरी ध्रुव की प्राकृतिक झांकी

डॉ० विमलेश चन्द्र श्रोवास्तव

प्रवक्ता, प्राणिविज्ञान विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

हमारी दुनिया के 66°5' पर स्थित आर्कटिक वृत्त का उत्तरी भाग उत्तरी ध्रुव प्रदेश कहा जाता है। यहाँ छः महीने का दिन तथा छः महीने की रात होती है। यहाँ का अधिकांश भाग आर्कटिक सागर के रूप में है, जहाँ लगभग पूरे वर्ष जगह-जगह समुद्र में, बर्फ की विशाल चट्टानें तैरती हुई देखी जा सकती हैं जिन्हें 'आइसपैक्स' कहते हैं। समय समय पर ये 'आइसपैक्स' चटकते और टूटते भी रहते हैं। आर्कटिक समुद्र के चारों ओर छोटे-बड़े द्वीप समूह भी हैं। मुख्य भूमि के कुछ हिस्से भी इस प्रदेश में शामिल किये जाते हैं जैसे उत्तरी साइबेरिया, उत्तरी नार्वे, ग्रीनलैंड और वनाडा। इन स्थानों पर हिमपात सहित वर्ष में कुल वर्षा केवल 10 इंच तक हो होती है और तेज हवाओं का कहना ही क्या? एक बार चलना शुरू हुई तो रुकने का नाम ही नहीं लेतीं। लगभग एक ही जैसा ठंडा मौसम पूरे वर्ष के दस माह तक बना रहता है।

बहुत ही थोड़ी वर्षा तथा ठंडी बर्फीली हवाओं का असर यहाँ की मिट्टी पर भी पड़ता है। इसमें कार्बन तथा नाइट्रोजन जीवाणु (बैक्टीरिया) पनप ही नहीं पाते और यही कारण है कि इसमें कार्बनिक यौगिक बहुत ही कम होते हैं। इन कारणों से यह प्रदेश लगभग रेगिस्तानी ही कहा जा सकता है।

वसंत का आगमन जून के मध्य में होता है पर यह सुहाना मौसम जुलाई के अंत तक समाप्त हो जाता है। इस समय जगह-जगह विचित्र प्रकार के छोटे-छोटे पौधे उग आते हैं। ल्यूपिन, फायरबीड, सीक्सोफ्रेज तथा रूईघास के

पौधे सुन्दर फूलों से लदे रहते हैं और दूर-दूर तक फैली 'रेन्डियर घास' बड़ी मनोरम दिखती है।

फूलों के साथ-साथ पूरे प्रदेश में रंगबिरंगी तितलियाँ तथा मधुमक्खियाँ भी पैदा हो जाती हैं तथा एक फूल से दूसरे पर मंडराती हुई दिखती हैं। इन कीटों का जन्म कहाँ से हो जाता है? वास्तविकता यह है कि इनके 'कैटर पिलर' भूमि में जीवित रहते हैं तथा हर वर्ष इस मौसम के आते ही विकसित कीटों में परिणित हो जाते हैं। तितलियों के एक 'कैटरपिलर' को वयस्क तितली बनने में लगभग तीन वर्ष लग जाते हैं। 'कैटर पिलर' यहाँ की बर्फीली ठंडक में कैसे जीवित रहते हैं? प्रकृति की यह गुत्थी अभी तक सुलझायी नहीं जा सकी है। तितलियों के अतिरिक्त इस मौसम में मच्छरों की भी भरमार हो जाती है। वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित हो चुका है कि वयस्क मच्छरों का जीवनकाल बहुत ही थोड़े समय का होता है जिसमें ये केवल भोजन करते हैं और अण्डे देने के बाद ही मर जाते हैं। ये अण्डे अगले दस महीने बर्फ में दबे पड़े रहते हैं। अगले वसंत के आगमन पर जब बर्फ पिघलती है और जगह-जगह तालाब तथा पोखरे बन जाते हैं तब इन अण्डों से जन्मे लार्वा तथा प्यूपे दो-तीन सप्ताहों में ही वयस्कों में बदल जाते हैं। कभी-कभी तो इन की संख्या इतनी अधिक हो जाती है कि सैलानियों को इनसे बचाव के लिए विशेष कपड़े, सिर की टोपी तथा रसायनिक पदार्थों का प्रयोग भी करना पड़ता है।

वसंत का आनन्द लेने सुदूर दक्षिण से उड़

कर रंगबिरंगी चिड़ियाँ भी यहाँ आ जाती हैं। कीड़े-मकोड़ों के अत्यधिक संख्या में उपलब्ध होने के कारण इन चिड़ियों को यहाँ भोजन की कोई समस्या नहीं रहती। ये चिड़ियाँ यहीं घोंसले बनाकर अण्डे देती हैं। अधिकतर चिड़ियाँ इन घोंसलों का मुलायम तथा गर्म बिस्तर अपने ही शरीर के पंखों से तैयार करती हैं।

शरद-ऋतु के आगमन के साथ ही इस प्रदेश के अधिकांश हिस्सों में दिन बहुत छोटे होने लगते हैं तथा रातें लम्बी। तापमान गिरने लगता है तथा सभी ओर एक बार फिर नयनाभिराम श्वेत बर्फ छा जाती है। यहाँ की चिड़ियों के लिये यह मौसम अब असुविधाजनक होने लगता है क्योंकि अब भोजन के रूप में कीटों की कमी हो जाती है तथा छोटे से दिन में इन्हें भोजन पकड़ने का समय भी कम मिलता है। ऐसे कष्टमय समय में अधिकतर चिड़ियाँ पुनः दक्षिण की ओर चली जाती हैं जहाँ ठंड कम पड़ती है, दिन बड़े होते हैं तथा भोजन के रूप में कीट भी अधिक मिलते हैं। कुछ चिड़ियाँ तो भारत, आस्ट्रेलिया, अफ्रीका तथा दक्षिणी अमेरिका तक उड़कर पहुँच जाती हैं जिनमें प्रमुख हैं—गोल्डेन प्लोवर, रेड ब्रेस्टेड गूज़, स्म्यू, स्नोबंटिंग, सैण्डपाइपर, स्नाइप तथा कल्यू। जैंगर चिड़ियाँ तो उत्तरी ध्रुव से उड़कर सर्दियों में दक्षिणी ध्रुव तक पहुँच जाती हैं। कुछ चिड़ियों को इस प्रदेश से अत्यधिक लगाव है और इसलिए ये ऐसी विषम परिस्थितियों में भी अपनी मातृभूमि छोड़कर कहीं नहीं जातीं और यहीं रहती हैं। ऐसी प्रमुख चिड़ियाँ हैं—टार-मीगन, पुफिन, रोज़गल, गिरफ़ैलकन तथा स्नोई आउल। हाँ यदि ठंड बहुत बढ़ जाती है और भोजन बिल्कुल ही उपलब्ध नहीं होता तो गिर-फ़ैलकन तथा स्नोई आउल थोड़ा दक्षिण की ओर उड़ ज़रूर जाती हैं परन्तु इनका प्रयत्न

यही रहता है कि ध्रुव प्रदेश के निकट ही रहें। आर्कटिक टर्न पक्षी की प्रवृत्ति अन्य पक्षियों से भिन्न है। एक वसंत में तो ये दक्षिण से आकर यहाँ अण्डे देती हैं तथा शरद-काल भी यहीं व्यतीत करती हैं। अगला वसंत ये दक्षिणी ध्रुव पर व्यतीत करती हैं और तीसरे वसंत में पुनः यहाँ उत्तरी ध्रुव पर अण्डे देने आती हैं। इस प्रकार यह चिड़िया लगभग 20,000 मील का चक्कर लगाती है। शरद ऋतु यहीं व्यतीत करने वाली चिड़ियों के शरीर सफेद पंखों से ढके रहते हैं, इस कारण ये पक्षी दूधिया बर्फ के बीच आसानी से देखे नहीं जा सकते। इनमें से कुछ तो वसंत ऋतु में रंगबिरंगे पंखों से आच्छादित हो जाते हैं जो लैंगिक वरण में सहायक होते हैं।

इस प्रदेश में अनेक भूचारी स्तनधारी भी पाये जाते हैं। 'मस्क आक्स' एक बहुत बड़ा बैल है जिसके शरीर पर बहुत ही बड़े-बड़े और आपस में लिपटे बाल रस्सियों के रूप में लटके रहते हैं। यह शाकाहारी जन्तु है। किसी शत्रु का हमला होने पर एक झुंड के सभी बैल अपने बच्चों के चारों ओर घेरा बनाकर खड़े हो जाते हैं अतः इनका शिकार करना काफी आसान होता है। 'करीबू' एक प्रकार के घुमक्कड़ हिरन हैं। इनमें दोनों—नर व मादा के सिर पर बड़े-बड़े 'एन्टलर' होते हैं। 'कैरीबू' भी इस प्रदेश में केवल वसंत का ही आनन्द लेने आते हैं। अधिकांश पक्षियों की तरह ये भी शरद ऋतु दक्षिणी जंगलों में ही व्यतीत करते हैं। ये अधिकांशतः बड़े-बड़े झुंडों में ही विचरण करते हैं और शत्रु का हमला होने पर तितर-बितर होकर भागते हैं। 'लेमिंग' छोटे सुन्दर सुनहरे भूरे रंग के शाकाहारी जन्तु हैं जो अत्यधिक संख्या में पाये जाते हैं। जिस स्थान पर भी इनकी संख्या में विस्फोट हो जाता है वहाँ भोजन की कमी होने लगती है और तब ये बड़े-बड़े झुंड बनाकर एक स्थान से दूसरे स्थान को चल देते

हैं। एक बार जब ये निकल पड़ते हैं तो झीलों और नदियाँ भी इनका रास्ता नहीं रोक पातीं। इनमें से बहुत से लेमिंग झीलों तथा नदियों में डूबकर मर भी जाते हैं। इसे 'लेमिंग' की आत्म-हत्या कहा जाता है। यहाँ शाकाहारी गिलहरियाँ तथा बड़े खरगोश भी बहुतायत से पाये जाते हैं। ये सर्दियों में सफेद तथा वसंत में भूरे बालों से ढके रहते हैं। मांसाहारी स्तनधारियों के रूप में यहाँ लोमड़ियाँ, भेड़िये, वीजल्स, आटर तथा भूरे भालू भी बहुत बहुतायत से पाये जाते हैं।

आर्कटिक समुद्र में भी स्तनधारियों की कमी नहीं है। 'वालरस' यहाँ की एक बड़ी सील है जिसके दोनों ऊपरी कैनाइन दाँत बहुत बड़े और लम्बे होते हैं। समुद्र में बड़े-बड़े झुंड बनाकर चलते हैं। झुंड के किसी सदस्य पर शत्रु के हमला करने पर ये उल्टा उस पर हमला कर देते हैं। 'हुडेडसील' अक्सर पानी से बाहर निकल कर बर्फ की चट्टान पर आराम करती दिख जाती हैं और जरा सा भी खतरा महसूस करते ही धीरे से पानी में वापस सरक जाती हैं। जाड़ों में ये बर्फ के नीचे रहती हैं और अपने ऊपर की बर्फ को तोड़कर अन्दर हवा जाने का सुराख बना लेती हैं। मादा सील एक ऐसा ही स्थान बनाकर अपने बच्चों को जन्म देती है। दो प्रकार की 'ह्वल' भी यहाँ पाई जाती हैं। 'नारह्वल' एक छोटे आकार की ह्वल है जिसमें बायाँ कैनाइन दाँत बढ़ कर एक 'हाथी दाँत' जैसी संरचना बनाता है। 'बेलूगा' या 'सफेद ह्वल' 12 से 18 फीट लम्बी होती है। दूधिया सफेद रंग के कारण समुद्री बर्फ में आसानी से देखी नहीं जा सकती। यहाँ का एक और महत्वपूर्ण जीव है, 'पोलरभालू' जो कई वर्षों तक लगातार केवल बर्फ पर ही रहता है शीतकाल में भी यह इस प्रदेश को छोड़कर कहीं नहीं जाता। इसमें 'शीत निष्क्रियता' भी नहीं दिखती। इसमें

पानी में तैरने की अच्छी क्षमता होती है साथ ही यह बर्फ की पतली से पतली पट्टी पर चल लेता है। बड़ी ही आसानी से यह बर्फ के नीचे-नीचे तैर भी लेता है। इसका शरीर घने सफेद बालों से ढका रहता है तथा इसकी त्वचा की 'तैल ग्रन्थियों' से निकला हुआ तेल त्वचा को चिकना और गर्म बनाये रखता है। इस कारण बर्फ़ीले पानी में भी कई घंटे रहकर यह चुस्त और फुर्त बना रहता है। नवजात भालू का जन्म बर्फ की चट्टानों के बीच में ही होता है।

इस प्रदेश में रहने वाले आदिवासी 'एस्कीमो' कहलाते हैं। ये अपने रहने के लिए बर्फ की काटी गई ईंटों से अपना घर 'इग्लू' तथा लकड़ी और चमड़े की सहायता से अपनी नाव 'कायक' बनाते हैं। अपने जीवननिर्वाह के लिए ये ह्वल, सील, कैरीबू तथा वालरस का शिकार करते हैं। ये अत्यन्त तीक्ष्ण बुद्धि वाले होते हैं। इनके बारे में यह प्रसिद्ध है कि ये एक सिलाई की मशीन के कलपुर्जे खोलकर इन्हें दुबारा ठीक से लगा सकते हैं। ये इस प्रदेश में शांत एवं खुशहाल जीवन बिताते हैं।

मानव ने जहाँ एक ओर इस हिम प्रदेश के जीव-जन्तुओं के अध्ययन से अपने ज्ञान को समृद्ध किया है वहीं यहाँ के जीवों के शिकार ने इस क्षेत्रविशेष के पारिस्थितिक-तन्त्र के सन्तुलन को बिगाड़ भी दिया है। जानवरों के चमड़े, फर या केवल शिकार की लोभ-भावना से प्रेरित मानव ने यहाँ के अनेक जन्तुओं का तो करीब-करीब सफाया ही कर दिया है। अब समय आ गया है जब एक बार हमें पुनः इस समस्या पर विचार करना ही होगा और इस हिम प्रदेश के जीव-जन्तुओं के शिकार को निषिद्ध करना होगा तभी हम इन हिमवासी जीव-जन्तुओं को विलुप्त होने से बचा पायेंगे। □

कालवैरिया के वन कैसे समाप्त हुए ?

शतीश कुमार शर्मा

वनपाल, प्रभारी मिश्रित वृक्षारोपण एवं पौधशाला तातारपुर, अलवर, राजस्थान - 301424

पन्द्रहवीं शताब्दी ! हिन्द महासागर की विशाल जलराशि से घिरा छोटा सा द्वीप मारीशस। मारीशस की धरती पर फैले काल-वैरिया मेजर (*Calvaria major*) नामक वृक्ष के जंगल और उन जंगलों में निडरता से कलरव करते डोडो नामक पक्षी के झुंड। न शिकारियों का डर न अस्तित्व को कोई खतरा। भोजन की कोई कमी नहीं। कालवैरिया के फलों को खाकर डोडो अपनी भूख शान्त करता था। सब कुछ कितना अच्छा था ! बहुत अच्छा !!

पन्द्रहवीं शताब्दी समाप्ति की ओर बढ़ चली, 1498 में एक बहुत ही महत्वपूर्ण घटना घट गई। पुर्तगालनिवासी वास्को-दो-गामा ने अफ्रीका महाद्वीप का चक्कर काट कर भारत की खोज कर डाली। और फिर शुरू हो गया यूरोप-वासियों का आगमन। यूरोपवासियों ने न केवल भारत व अन्य अफ्रीकी तथा एशियाई देशों के वैभव पर ही आँखें जमाई बल्कि मारीशस के डोडो को भी निशाना बना लिया। डोडो बन्दूकों से मारा जाने लगा और लोगों की खाने की टेबल पर हाज़िर होने लगा। देखते ही देखते सत्तरहवीं सदी के अन्त तक डोडो समाप्त हो गया।

डोडो बहुत ही विचित्र पक्षी था। मोरनी के आकार-प्रकार का वह भोला-भाला पक्षी उड़ नहीं सकता था क्योंकि उसके शरीर के आकार व वजन की अपेक्षा उसके डैनें बहुत छोटे और कम विकसित थे। जब भी कोई शत्रु उसका पीछा करता तो भूमि पर दौड़ कर ही वह अपनी जान बचाता। भूमि पर ही वह अण्डे रखता था और भूमि पर ही शिशुओं का लालन-पालन करता था।

कालवैरिया मेजर के अति कठोर व मोटे कवच से ढके बीज उसका प्रिय भोजन था। वह वह बीजों को सीधे ही निगल जाया करता था। उसकी चोंच इतनी मजबूत नहीं थी जो बीज कवच को तोड़ पाती। ऐसे पत्थर समान कठोर बीज को पचाना कोई आसान काम नहीं था। उन बीजों के कवच को खुरच-खुरच कर हटाने के लिए बेचारे डोडो को कंकड़-पत्थर निगलने पड़ते थे। ये कंकड़-पत्थर उसकी आन्तरिक चक्की, गिज़र्ड में जाकर इकट्ठे हो जाते थे तथा खाये गये कालवैरिया के बीजों के कवच को खुरच-खुरच कर पतला और कमजोर कर देते थे। इतना सब कुछ होने के बाद भी पूरा बीज उसके पेट में पच नहीं पाता था तथा अपच रूप में मल के साथ आँतों से बाहर आ जाता था। इस समय बीज वजन व आकार में मूल वजन व आकार से छोटा रह जाता था।

हल्का बीज न केवल सफल प्रकीर्णन भी कर लेता था बल्कि डोडो के पेट में उपचार मिलने से उपयुक्त परिस्थितियों में शीघ्रता से उग आता था। यही पौधा बड़ा होकर अपने प्यारे डोडो के लिये फल पैदाकर उसके लिए खाना जुटाता और डोडो के अहसान का बदला चुकता कर देता था।

कई अभागे बीज ऐसे भी होते थे जो डोडो की नज़र में नहीं आते थे और कई-कई वर्षों पड़े रहते। कितने ही अच्छे मौसम आते और चले जाते परन्तु उनका भ्रूण उगने का नाम न लेता। भ्रूण बेचारा क्या करता, बीज का मोटा कवच अन्दर हवा पानी जाने ही नहीं देता था और भ्रूण को साल दर साल कैदी बनाये रखता

था। जब तक प्रकृति के बाहरी कारकों से कवच कमजोर बनाया जाता तब तक अन्दर भ्रूण मर चुका होता था। ऐसे आत्महत्यारे बीज कभी उग ही नहीं पाते थे।

डोडो को समाप्त हुए साल दर साल बीतने लगे.....एक..... दो..... दस..... बीस..... सौ..... अब भी सब कुछ पहले जैसा ही था। कालवैरिया मेजर के घने जंगल थे। पहले की तरह उनमें खूब फल आते थे। अगर नहीं था तो बेचारा डोडो। कुछ और समय बीता। कालवैरिया मेजर के जंगलों से भरी धरती नंगी होने लगी। कालवैरिया के वृक्ष बूढ़े होने लगे और एक-एक कर सूख कर धाराशायी होने लगे। जो जीवित थे वे अब भी बीज पैदा कर रहे थे परन्तु होता क्या? बीज ही नहीं उग पा रहे थे। उगते कैसे? उन्हें उगाने वाला डोडो कभी का आदमी के पेट में समा चुका था।

समय और बीता। बूढ़े पेड़ ज्यादा से ज्यादा

गिरने लगे। अब हालत यह हो गई कि कालवैरिया की संख्या मात्र एक दर्जन से भी कम रह गई। आदमी के अपराध की जिन्दा मिसाल है यह। कहीं कालवैरिया के सघन जंगल और कहीं तीन सौ साल बाद दर्जन भर से कम पौधे। डोडो अकेला नहीं मरा, अपने साथ अपने दोस्त कालवैरिया को भी ले गया।

यह मात्र एक ही उदाहरण है। आज कितने ही डोडो और कितने ही कालवैरिया आदमी के कारनामों से अपनी अन्तिम सांसे ले रहे हैं। आइये, अभी भी समय है इन्हें बचाने का। अगर कुछ और देरी हुई तो डोडो और कालवैरिया की पंक्ति में इन्हें भी खड़ा होना पड़ेगा और इनके बिना हम भी इस धरती पर नहीं रह सकेंगे। और उनके बाद हमें भी उस पंक्ति से खड़ा होना पड़ेगा, क्यों कि जब डोडो मरता है तो अकेला नहीं मरता है। □

आनुवंशिक अभियांत्रिकी का व्यक्तित्व आरोपण में योगदान

प्रद्युम्न कुमार यादव एवं कुमकुम सरन

वनस्पतिविज्ञान विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद—211002 (उ० प्र०)

मनुष्य के गुणसुत्रों के परिवर्तन और जीव-सुधार के माध्यम से मनुष्य पर वांछित गुण और व्यक्तित्व का आरोपण नयी जीन रसायनिकी में गंभीर शोध का क्षेत्र है। क्या निकट भविष्य में हम मनोनुकूल गुणों वाले मनुष्य का विकास कर सकते हैं? जीवरसायनिक का उत्तर है—हाँ। यह वर्तमान शोध का दूरगामी लक्ष्य है, और तात्कालिक लक्ष्य है, जटिल घातक रोग कैंसर पर काबू पाना। 'पगली कोशिकाओं' के मौलिक गुणों में ही परिवर्तन करना। असल में आनुवंशिकी के गूढ़ रहस्यों को समझना संभवतः जीवविज्ञान की जटिलतम गुत्थी को सुलझाना है। मगर क्या विज्ञान के क्षेत्र में सफलता एक

विशेष प्रकार के सामूहिक उत्पादन की दिशा में नहीं ले जायेगी? और क्या इस मानव-उत्पादन की क्रिया पर चंद देशों के चंद व्यापारियों का एकाधिकार नहीं होगा? अमेरिका और अन्य पाश्चात्य देशों में इस अनुसंधान को चलाने के लिये व्यापारिक संस्थाएँ, बहुराष्ट्रीय निगम जिस मात्रा में धन लगा रहे हैं, उससे यह खतरा तो पैदा होता ही है। ऐसी स्थिति में जब भारतीय मूल का एक वैज्ञानिक चेतावनी देता है कि भारत को इस क्षेत्र में पीछे नहीं रहना चाहिये तो क्या इसका मतलब यह है कि "अतिमानव" उत्पादन में कहीं हम नयी वर्णव्यवस्था की सीढ़ी के निचले पाये पर न बिठा दिये जायें?

डी० एन० ए० (डी० ऑक्सीरिबो न्यूक्लिक एसिड) प्रत्येक जीव में पाया जाने वाला आनुवंशिक तत्व है। किसी भी जीवित कोशिका में होने वाली तमाम रासायनिक क्रियायें एंजाइमों (प्रक्रिण्वों) से संचालित होती हैं। डी० एन० ए० में ही एंजाइम और एंजाइमेतर प्रोटीन के संश्लेषण की जानकारी निहित होती है। डी० एन० ए० की रचना हजारों लाखों नाइट्रोजन बेसों के एक निश्चित क्रम में जुड़ने से होती है। उसी तरह एक प्रोटीन की रचना भी हजारों एमीनो-एसिड के खास तरीके से जुड़ने से होती है। डी० एन० ए० के तीन बेसों के क्रम को ट्रिप्लेट कहते हैं और एक या अधिक ट्रिप्लेट एक एमीनो एसिड की जानकारी रखता है। इस प्रकार जीव कोशिका के अन्दर होने वाली सारी क्रियायें एक जीव की दूसरे जीव से भिन्नता उसके आनुवंशिक तत्व डी० एन० ए० के कारण ही होती है।

डी० एन० ए० संश्लेषण की पुरानी विधि को वैज्ञानिकों ने और भी विकसित किया है। इस विकास से नाइट्रोजन बेसों को एक क्रम में जोड़कर डी० एन० ए० का टुकड़ा बनाना, पहले की अपेक्षा अब काफी आसान हो गया है। इससे जीन अभियांत्रिकी में होने वाले शोध कार्यों को काफी गति मिली है। डी० एन० ए० में प्रोटीन संश्लेषण की सारी जानकारी निहित होती है और प्रोटीन द्वारा कोशिकाओं की सारी जैविक क्रियायें चलती हैं। ऐसे में डी० एन० ए० के एक जानकारीयुक्त टुकड़े “जीन” का संश्लेषण हमें यह अवसर देता है, कि हम प्रकृति में उपलब्ध किसी भी जैविक पदार्थ के लिये जीन का पता लगायें और उसके बेसों के क्रम को जानें, फिर डी० एन० ए० का संश्लेषण कर उस पदार्थ को प्राप्त करें।

एक खास पदार्थ के लिये संश्लेषित डी० एन० ए० को जीवाणु-कोशिका में प्रविष्ट कराया जाता है। उसमें निहित जानकारी को जीवाणु

का संश्लेषण तंत्र उसी तरह प्रयोग में लाता है, जिस तरह वह अपने डी० एन० ए० की जानकारी का प्रयोग करता है। इस प्रकार से दिये गये निर्देश के अनुसार जीवाणु-कोशिका से हम उस पदार्थ विशेष को प्राप्त कर सकते हैं।

जीवाणु-कोशिका में मौजूद अधिकांश डी० एन० ए० गुणसूत्रों (क्रोमोसोम) में होता है। गुणसूत्रों के अतिरिक्त भी कुछ डी० एन० ए० में जीवाणुकोशिका में मिलता है। इस डी० एन० ए० में “जीवाणुनाशक दवाइयों” (एंटीबायोटिक्स) के प्रतिरोध की जानकारी निहित होती है। गुणसूत्रेतर इस डी० एन० ए० को प्लाज्मिड डी० एन० ए० के नाम से जाना जाता है। कभी-कभी प्लाज्मिड में एक या दो एंजाइम की जानकारी भी निहित होती है। जीवाणुकोशिका में एक या एक से अधिक प्लाज्मिड हो सकते हैं। प्लाज्मिड में ऐसे परिवर्तन भी लाये जा सकते हैं जिससे एक कोशिका के अंदर ढेर सारे प्लाज्मिड हो जायें। प्लाज्मिड डी० एन० ए० आकार में काफी छोटा होता है, इस कारण इसे आसानी से प्रयोग किया जा सकता है।

संश्लेषित डी० एन० ए० को प्लाज्मिड डी० एन० ए० के साथ जोड़ने के लिए प्लाज्मिड को जीवाणुकोशिका से बाहर निकालते हैं। इस डी० एन० ए० को एंजाइम की सहायता से कुछ निश्चित स्थानों पर काटा जाता है। संश्लेषित डी० एन० ए० इस प्रकार बनाया जाता है कि वह प्लाज्मिड के कटे हुये सिरों से जुड़ सके। प्लाज्मिड डी० एन० ए० एवं संश्लेषित डी० एन० ए० को मिलाया जाता है, जिसके फलस्वरूप ये दो प्रकार के डी० एन० ए० आपस में जुड़ जाते जाते हैं। जुड़ने की यह प्रक्रिया भी कुछ प्रक्रिण्वों (एंजाइम्स) के माध्यम से होती है। इस प्रकार प्राप्त डी० एन० ए० को संकर या रिकम्बिनेंट (पुनर्संमिलित) डी० एन० ए० के नाम से जाना जाता है।

प्लाज्मिडरहित जीवाणु-कोशिका में रिकम्बिनेंट डी० एन० ए० को प्रविष्ट कराया जाता है। प्रविष्ट कराने की पुरानी विधि से काफी कम जीवाणु कोशिकाओं में रिकम्बिनेंट डी० एन० ए० प्रविष्ट हो पाता था। यह एक निश्चित गतिरोध था। वैज्ञानिकों ने यह देखा कि यदि संश्लेषित डी० एन० ए० में कुछ निश्चित बेसों के क्रम को और जोड़ दिया जाये तो रिकम्बिनेंट डी० एन० ए० का जीवाणु-कोशिका में प्रविष्ट होना पुरानी विधि की तुलना में कई गुना बढ़ जाता है। इसके बाद जीवाणु-कोशिकाओं को जीवाणुनाशक दवाई के सम्पर्क में लाया जाता है। केवल वे कोशिकाएँ जिनमें प्लाज्मिड रिकम्बिनेंट डी० एन० ए० प्रविष्ट हुआ होता है, जीवित रहती हैं, शेष प्लाज्मिड के अभाव में जीवाणुनाशक दवा के कारण मर जाती हैं। जीवित कोशिकाओं को गुणित कराते हैं जो क्लोन (कोशिकाओं का समूह जिसमें एक प्रकार की जानकारी हो) बनाती हैं। क्लोनों को छाँट कर बड़े पैमाने पर उगाया जाता है और उनसे प्रोटीन या अन्य जैविक जिसके लिये क्लोनिंग की गयी, प्राप्त किया जाता है।

संश्लेषित डी० एन० ए० क्रम को जीवाणु-कोशिका में प्लाज्मिड के द्वारा प्रविष्ट करा दिये जाने मात्र से ही यह निश्चित नहीं हो जाता कि प्रविष्ट कराये जाने की जानकारी के अनुरूप पदार्थ बन ही जायेगा। यह जरूरी होता है कि प्रोटीन बनने की क्रिया में काम करने वाले एंजाइमों को पहचान के लिये भी संश्लेषित डी० एन० ए० में बेस क्रम होने चाहिये। इन सभी बातों को ध्यान में रखने के बावजूद भी कई जानकारीयों के अनुरूप पदार्थों को बनाने के प्रयत्न असफल रहे हैं। कुछ ऐसे उदाहरण भी हैं, जहाँ कोशिका दी हुई जानकारी को परिवर्तित कर देती है, जिससे दी गयी जानकारी अर्थहीन हो जाती है। इस दिशा में और शोध की आवश्यकता है।

पुनर्संमिलित (रिकम्बिनेंट) डी० एन० ए० के द्वारा दी गयी जानकारी जीवाणु के लिये प्राकृतिक नहीं होती, इस कारण बना पदार्थ कोशिका द्वारा विखंडित किया जा सकता है। इसलिये एक समय के बाद कोशिकाओं को निकालना आवश्यक होता है। दूसरा तरीका यह है, कि कोशिकाओं को ऐसे माध्यम में उगाया जाये कि बने पदार्थ का निरन्तर स्राव होता रहे। इस प्रकार कोशिकाओं के एक समूह का प्रयोग ज्यादा समय तक किया जा सकता है।

मनुष्य के इंसुलिन जीन के क्लोनिंग को इस तकनीक की प्रमुख उपलब्धि माना जा सकता है। इस विधि में इंसुलिन का संश्लेषण जीवाणु द्वारा सम्भव हो पाया है और इस प्रकार मधुमेह के रोगी को पहली बार मनुष्य का इंसुलिन प्रयोग करने को मिल पायेगा। अब तक इंसुलिन जानवरों से प्राप्त किया जाता है, जो कि मानव के लिये बहुत उपयुक्त नहीं होता। इस विधि से इंसुलिन-संश्लेषण मानव में होने वाले इंसुलिन-संश्लेषण से भी आसान है।

भविष्य में इस आधुनिक तकनीक से कैंसर के आनुवंशिक कारणों का भी पता लगाया जा सकेगा। रिकम्बिनेंट डी० एन० ए० के तकनीक के प्रयोग की संभावनाएँ कृषि, चिकित्सा और उद्योग में हैं। इस तकनीक से ऐसे नाइट्रोजन-स्थापक जीवाणुओं को विकसित किया जा सकता है, जो गेहूँ और धान जैसी फसलों की जड़ों से सम्बद्ध किये जा सकें। इस प्रकार यह तकनीक अन्य व्यावहारिक तकनीकों (प्लांट ब्रीडिंग या म्यूटेशन) से ज्यादा महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकती है। चिकित्सा के क्षेत्र में इस विधि का प्रयोग मानव हार्मोनों को बनाने में किया जा सकता है। पौधों के अवयवों (सेल्यूलोज) से मीथेन और एल्कोहॉल प्राप्त की जा सकती है, जिससे ऊर्जा की कमी दूर की जा सकती है और अन्य रासायनिक पदार्थ भी प्राप्त किये जा सकते हैं। □

कम्प्यूटर

२. कम्प्यूटर के विकास का इतिहास

डॉ० महेन्द्र एम० वर्मा

रसायन अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन—426010

आज बड़े जोर-शोर से सुना जा रहा है कि 'पाँचवीं पीढ़ी का कम्प्यूटर' आ रहा है। इस 'पाँचवीं पीढ़ी' शब्द से कई संगत प्रश्न उठ खड़े होते हैं। जैसे—(1) क्या पाँचवीं पीढ़ी से पहले चार पीढ़ियाँ थीं? यदि हाँ, तो कौन-कौन सी थीं और उनमें क्या अन्तर था?

इन प्रश्नों तथा ऐसे ही अनेक अ्य प्रश्नों का उत्तर खोजने के लिए 'आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर' के इतिहास की जड़े खोदनी पड़ेंगी क्योंकि कि 'जिन खोजों तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ'। तो आइये कम्प्यूटर के इतिहासरूपी समुद्र में गहरे पैठें और उत्तररूपी रत्न पाकर अपनी जिज्ञासा शान्त करें।

आदिकाल के विषय में सोचने से ऐसा लगता है कि मनुष्य ने गिनती गिनना अपनी अंगुलियों पर प्रारम्भ किया और क्योंकि अंगुलियाँ दस हैं अतः उसने दस को आधार मान कर सारी गणनाएँ कीं। इस प्रकार 'दशमलव प्रणाली' का शुभारम्भ हुआ। हम आज भी सारी गणनाएँ 10 को आधार मान कर ही करते हैं। यदि मानव को 10 तक की गिनती की आवश्यकता पड़ती तो उसका काम अंगुलियों से चल जाता जो उसके हिसाब से एक परिकालित्र का काम करती; लेकिन चीजें इतनी आसान होतीं तो हम आज बहुत सुखी होते, बालकृष्ण भट्ट के मूढ़गणों की तरह। किन्तु ज्यों-ज्यों समय गुजरता गया गणना की कठिन से कठिनतर समस्याएँ मानव के सामने आती गईं और वह उन समस्याओं को सुलझाने के नये-नये उपाय खोजता गया क्योंकि आवश्यकता ही आविष्कार की जननी होती है।

सर्वप्रथम सहायक था 'गिनतारा' (Abacus) जिसने मानव को गणनाओं में मदद दी। Abacus शब्द ग्रीक भाषा के abakos शब्द से निकला है जिस का अर्थ है बोर्ड। यह भी सम्भव है कि यह शब्द हिब्रू भाषा के abag शब्द से निकला हो जिसका अर्थ है धूल। पहले बालू पर जो 'गणनाएँ' की जाती थी, कालान्तर में वे ही बोर्ड पर होने लगीं। 'आधुनिक गिनतारा' में लकड़ी के फ्रेम में मजबूती से तार फिट किए होते हैं जिनमें लकड़ी या प्लास्टिक के मनके घूम सकते हैं और गणना करने के काम आते हैं। आमतौर पर एक तार में 10 मनके होते हैं। पहला तार 'इकाइयों' के लिए होता है, दूसरा 'दहाइयों' के लिए, तीसरा 'सैकड़ों' के लिए इत्यादि।

अभिकलन कशीनों का सूत्रपात

अभिकलन की मशीनों की नींव डालने का श्रेय महान् फ्राँसीसी गणितज्ञ ब्लेस पास्कल, जो तब सिर्फ 19 वर्ष के थे, को जाता है। उन्होंने, 1642 में अपने पिता के व्यापारिक हिसाब-किताब में मदद करने हेतु एक यांत्रिक अंकीय परिकलित बनाया। यह सिर्फ एक जोड़ करने वाली मशीन थी, लेकिन थी स्वचालित मशीनों में प्रथम। इसमें जोड़ने की क्रिया एक बहुत सरल गिर विधि से की जाती थी।

यदि आधुनिक 'कठोर सामग्री' के लिहाज से देखा जाय तो 'गिनतारा' एक 'रजिस्टर' था और पास्कल की मशीन उसके आगे का तर्कसंगत कदम यदि 'गिनतारा' में हासिल लगाने की विधि स्वचालित हो जाय तो वह पास्कल की मशीन

वन जायेगा। इस मशीन से गुणा सिर्फ जोड़ की पुनरावृत्ति से ही हो सकता था।

इस क्षेत्र की प्रगति में योगदान देने वाले अगले वैज्ञानिक थे जर्मनीनिवासी गणितज्ञ तथा दार्शनिक गोटफ्रीड विलहेल्म लाइबनिज। वे भी पास्कल की तरह ही प्रतिभावान् गणितज्ञ थे। उन्होंने 'अवकल गणित' (Differential Calculus) का विकास किया। उन्होंने 1671 में परिकलित की रचना प्रारम्भ की और 1691 में पूर्ण कर ली। यह मशीन पास्कल की मशीन से अधिक विकसित थी। वास्तव में, लाइबनिज ने सिद्ध कर दिया कि 'द्विवर्तमान अंकगणित' 'दशमलव अंकगणित' से श्रेष्ठ है। इस मशीन से जोड़-बाकी के साथ-साथ गुणा-भाग भी हो सकते थे। यहाँ तक कि इस मशीन से संख्याओं का वर्गमूल भी निकाला जा सकता था।

बबेज के परिकलन इंजन

अभिकलित के विकास का इतिहास में अगली कड़ी जोड़ी एक महान् वैज्ञानिक तथा गणितज्ञ चार्ल्स बबेज ने जो ब्रिटेन के रहने वाले थे। वे सारी जिन्दगी गणित और अभियांत्रिकी में ही डूबे रहे और परिकलन मशीनें बनाते रहे। 1822 में, उन्होंने 'अन्तर इंजन' बनाने के विषय में सोचा, लेकिन उसे पूर्ण कभी नहीं कर पाए क्योंकि उसी के दौरान उन्होंने 'विश्लेषिक इंजन' बनाने पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया।

यहाँ पर यह स्पष्ट करना आवश्यक प्रतीत होता है कि 'विश्लेषिक इंजन' मात्र एक परिकलित नहीं था, बल्कि एक पूर्ण विकसित अभिकलित था। अन्य समसामयिक मशीनों की तरह यह सिर्फ चार आधारभूत प्रचालन करने में ही समर्थ नहीं था, बल्कि प्रोग्रामित अनेक चरण चलने में भी समर्थ था। सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह थी कि यह मशीन स्वयं निर्णय ले सकती थी, जैसा कि आधुनिक इलेक्ट्रॉनिक

कम्प्यूटर करते हैं। फलस्वरूप, आवश्यकता पड़ने पर मशीन पीछे का भी कोई कदम ले सकती थी। उदाहरणार्थ, यदि मशीन को पीछे 10 कदम चलना था और आठवें कदम के बाद दूसरा कदम चलने की आवश्यकता पड़ी तो मशीन आठवें के बाद दूसरा कदम चलती थी और इसके बाद नौवाँ। इसके साथ ही तब तक स्वतः ही चलती थी जब तक कि वांछित गणना पूर्ण न हो जाय।

चार्ल्स बबेज की एक महिला मित्र थीं आदा ऑगस्टा। वह इस मशीन से इतनी प्रभावित थीं कि घंटों इसी के विषय में सोचती रहती थीं अन्त में उन्होंने इस मशीन से समस्याओं का हल करने के लिए एक 'प्रोग्राम' बनाया। अतः आज वह प्रथम 'प्रोग्रामर' के रूप में जानी जाती हैं। संयुक्तराज्य अमेरिका के प्रतिरक्षा विभाग ने ऑगस्टा को सम्मान देने के लिहाज से अपनी अन्तिम 'प्रोग्रामर भाषा' का नाम उन्हीं के नाम पर रखा है।

जैकार्ड का करघा तथा छिद्रित कार्ड

बबेज का छिद्रित कार्ड प्रयोग करने का विचार वास्तव में नया नहीं था। यह विचार जैकार्ड के करघे से उधार लिया था। जोसेफ एम० जैकार्ड एक फ्रांसीसी थे जो 1752 में पैदा हुये थे। अपने जीवन के अन्तिम चरण में उन्हें एक रेशम की बिनाई करने वाली फैक्टरी में नौकरी मिल गई। वह अपने पेशे की यांत्रिकी में इतने अधिक निमग्न हो गये कि अपने खाली समय में हमेशा करघे को सुधारने का उपाय सोचा करते थे।

उनके सामने मुख्य समस्या करोड़ों सुइयों के नियंत्रण की थी जिससे बिनाई का वांछित नमूना प्राप्त हो सके। लोगों ने बहुत से सुझाव रखे लेकिन समय और श्रम के हिसाब से वे इतने महँगे थे कि उन पर अमल नहीं किया जा

सका। जैकार्ड सुइयों के परिचालन क्षेत्र को छिद्रित कार्ड की सहायता से नियंत्रित करने के विषय में सोचते रहे। उन्होंने कार्ड में उस प्रकार छिद्र किए कि सिर्फ वांछित सुइयों का परिचालन हो सके। यदि नया नमूना बनाना हो तो कार्ड बदला जा सकता था। कार्ड सस्ते थे और आसानी से बदले जा सकते थे, अतः उनका अत्यधिक प्रचलन हुआ। यहाँ तक कि जैकार्ड ने एक अपना स्वयं का चित्र बिन कर तैयार किया जिसमें बीस हजार से भी अधिक कार्डों की आवश्यकता पड़ी।

यही जैकार्ड का चित्र किसी तरह बबेज के हाथ लग गया। इस चित्र के बनाने की कहानी से उनको समझ में आ गया कि यही वह छिद्रित कार्ड है जो मेरे विश्लेषिक इंजन को समझा सकती है कि कब क्या करना है क्योंकि एक बार में यह कार्ड इंजन के उन्हीं भागों को परिचालित करेगा जिनकी आवश्यकता होगी।

वास्तव में बबेज के विचार अपने समय से बहुत आगे थे। मशीन में—‘दशमलव प्रणाली’ का उपयोग किया गया था जिसके लिए यह आवश्यक था कि गिअर और अन्य भाग एक इंच के हजारवें भाग तक सही हों। यह उस समय संभव नहीं था। दूसरे, उस समय उपलब्ध ‘कठोर सामग्री’ प्रचालन की वह गति न दे सकी, जो आवश्यक थी। अन्त में बबेज ने मशीन के सारे पुर्जे खुद ही बनाने का निर्णय लिया, लेकिन उस समय प्रौद्योगिकी इतनी पिछड़ी हुई थी कि उन्हें प्रौद्योगिकी पर ही पुस्तक लिखने को मजबूर होना पड़ा। अपनी मशीन की समस्याओं के हल के विषय में सोचते-सोचते 1871 में बबेज हमेशा के लिए गहरी नींद सो गए, लेकिन समस्याएँ फिर भी बनीं रहीं।

अमेरिकी जनसंख्या और हर्मन हौलरिथ

बबेज की मृत्यु के लगभग 20 साल बाद

इन छिद्रित कार्डों का बेहतर प्रयोग अमेरिकी सांख्यिकीविद् डॉ॰ हौलरिथ ने किया। उस समय अमेरिकी सरकार ने हर दस साल में जनगणना करने का निर्णय लिया था। दुर्भाग्य से 1880 में आँकड़े इकट्ठे करने में करीब सात साल लग गए क्योंकि उस समय जनसंख्या दो प्रकार से बढ़ रही थी। एक तो अमेरिकी जनता के प्राकृतिक क्रिया-कलापों के कारण और दूसरे यूरोप से हजारों लोगों के अमेरिका आगमन के कारण। थोड़े ही समय में यह निश्चितरूप से समझ में आ गया कि आने वाली जनगणनाओं में से प्रत्येक में दस साल से भी अधिक समय लग जायेगा। लेकिन डॉ॰ हौलरिथ ने इस समस्या का हल शीघ्र ही पेश कर दिया। उन्होंने बबेज के छिद्रित कार्डों का प्रयोग मशीनों को आँकड़े देने में किया, जिससे गणना आसानी से और शीघ्र हो गई।

कॉनराड सूजे

1936 में जर्मन आविष्कारक सूजे ने बबेज के विश्लेषिक इंजन के विषय में पढ़ा और वे इस नतीजे पर पहुँचे कि इस इंजन से गणनाएँ स्वचालित रूप से ही हो सकती हैं। इससे प्रेरणा लेकर उन्होंने एक यांत्रिक परिकल्पित बनाया और उसे नाम दिया Z 1, सूजे की आर्थिक समस्या बहुत विकट थी, अतः उन्होंने ‘चल बिन्दु अंकगणित (Floating point arithmetic)’ का प्रयोग करने का निश्चय किया। Z 1 की दूसरी विशेषता यह थी कि इसमें ‘द्विविमान अंकगणित’ का प्रयोग किया गया था, जिसकी खोज ब्रिटेन के गणितज्ञ जॉर्ज बूल ने की थी। इस अंकगणित के अनुसार सारी संख्याएँ 1 तथा 0 श्रेणी से प्रदर्शित की जा सकती हैं। विद्युतीय परिपथ के किसी ‘रजिस्टर’ में ‘ऑन’ की स्थिति 1 को प्रदर्शित करती है और ‘ऑफ’ की स्थिति 0 को।

बूल, बवेज के समकालीन थे। उनका कहना था कि कोई भी गणितीय व्यंजक तर्क से व्यक्त किया जा सकता है। विभिन्न तार्किक प्रचालकों के उन्होंने 'संकेतों' का प्रयोग किया और बीज-गणित तथा तर्क के संकेतों में सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया। अंकगणित का अनुसरण करने के लिए तार्किक प्रचालकों के विभिन्न संयोगों का प्रयोग कर, बूल ने कम से कम सिद्धान्ततः यह सिद्ध कर दिया कि स्वचलन अंकगणित की समस्या को कैसे हल किया जा सकता है।

पहले ही बतलाया जा चुका है कि Z 1 पूर्णतः यांत्रिक थे। वे जोड़, बाकी, गुणा तथा भाग के अलावा वर्गमूल निकालने का काम भी कर सकते थे। किन्तु यह सारे 'अनुदेशों' को क्रमशः ही पालन करता था। सूजे का विचार 'स्मृति' में प्रोग्रामों के संचयन का था लेकिन काम में आने वाली वस्तुओं की कीमत इतनी अधिक थी कि सूजे को अपना विचार बदलना पड़ा। उन्होंने जिस भाषा में प्रोग्राम बनाया था, उसका नाम था प्लांकलकुल (Plankalkul)।

सूजे ने Z श्रेणी के कई कम्प्यूटर बनाए और अन्ततः कम्प्यूटर बनाने वाली एक कम्पनी ही प्रारम्भ कर दी।

इस तरह सूजे ने बवेज के सपने को सत्य कर दिखाया।

हार्वर्ड मार्क 1

1936 में ही हार्वर्ड विश्वविद्यालय के हार्वर्ड ऐकन ने विद्युत्-यांत्रिक रिलेओं के आधार पर एक कम्प्यूटर बनाने का निश्चय किया। वैसे तकनीक और सहायक सामग्री उपलब्ध थी, फिर भी यह एक खर्चीला काम था। अतः IBM (International Business Machines Corporation) ने इस कार्य के लिए दस लाख डॉलर दिए।

ऐकन को मशीन का प्रारूप बनाने में छः वर्ष लगे और कम्पनी को मशीन तैयार करने में चार वर्ष। उस प्रकार दस वर्ष के लम्बे अरसे में हार्वर्ड मार्क तैयार हो पाया। इस कम्प्यूटर को ASCC (Automatic Sequence Controlled Calculator) भी कहते हैं। इसकी लम्बाई 15 मीटर थी और ऊँचाई करीब 2.5 मीटर। इसका भार 2 टन के करीब था।

इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर की उत्पत्ति

भौतिकीविद् जॉन माँशली और विद्युत्-अभियन्ता प्रेस्पर ऐकर्ट ने 1947 में पेनसिल्वानिया विश्वविद्यालय के इंजीनियरी कॉलेज, मूर में एक नया कम्प्यूटर बनाने की योजना बनाई। उनको पता था कि निर्वात नलिकाओं का स्वचलनकाल यांत्रिक या विद्युत्-यांत्रिक स्विचों की तुलना में हजारों गुना कम है जब कि यांत्रिक या विद्युत्-यांत्रिक स्विच स्वयं एक सेकण्ड में सैकड़ों बार 'ऑन'-'ऑफ' हो सकती हैं।

निर्वात नलिकाओं का प्रयोग कर माँशली और ऐकर्ट ने बूल की विधि के आधार पर एक परिकल्पित बनाया जो मार्क 1 से अधिक शीघ्र परिकलन कर सकता था। इस बात पता जब युवा फौजी लेफ्टीनेंट हर्मन गोल्डस्टीन को चला तो उसने महसूस किया कि 'ज्वालन सारणी प्रोग्राम, (Firing tables program) इस मशीन से आसानी से शीघ्र बन सकता है। अतः गोल्डस्टीन ने माँशली और ऐकर्ट की सहायता से फौजी पैसे का सहारा लेकर मशीन तैयार कर दी और उसको नाम दिया ENIAC (Electronic Numerical Integrator and Calculator)। इस प्रकार प्रथम इलेक्ट्रॉनिक कम्प्यूटर का आगमन हुआ।

यह एक विशालकाय मशीन थी जो कमसे कम 50 × 30 वर्गफीट क्षेत्रफल वाले एक बड़े हॉल में रखी जा सकती थी। इसका भार था

30 टन। इसमें 1800 निर्वात नलिकाएँ लगी थीं। यह 1,30,000 वाट विद्युत् खर्च करती थी तथा 1 सेकिण्ड में 300 गुणनफल दे सकती थी।

प्रिस्टन में हंगरी के जॉन फॉन नॉयमन ने ENIAC के आधार पर एक नया कम्प्यूटर बनाया जिसमें क्रोड स्मृति एक अतिरिक्त भाग था। यही क्रोड स्मृति आज भी उपयोग में लाई जाती है। यह एक विद्युत्-चुम्बकीय क्रोड होता है जिसकी ध्रुवता 0 तथा 1 को प्रदर्शित करती है। मैसाच्यूसेट्स संस्थान के जाय फॉरेस्टर ने भी स्वतन्त्ररूप से क्रोड-स्मृति का विकास किया है।

1940 और 1960 के मध्य बने कम्प्यूटर में से कुछ निम्नांकित हैं—

EDVAC—Electronic Discrete Variable Automatic Calculator

EDSAC—Electronic Delay Storage Automatic Calculator

UNIVAC—Universal Automatic Calculator

उपर्युक्त सभी कम्प्यूटरों में निर्वात नलिकाओं का प्रयोग होता था। इन कम्प्यूटरों को कम्प्यूटर परिवार की 'प्रथम पीढ़ी' माना जाता है।

1959 में ट्रांजिस्टरों का आविष्कार हुआ जिनकी कार्यकुशलता निर्वात-नलिकाओं से बेहतर थी, अतः निर्वात-नलिकाओं की जगह ट्रांजिस्टरों का उपयोग होने लगा। वे मशीनें

जिनमें ट्रांजिस्टरों का उपयोग हुआ, अधिक विश्वसनीय थीं। इन्हें कम्प्यूटर परिवार की दूसरी पीढ़ी माना गया है। प्रथम पीढ़ी एक प्रचालन में 10^{-3} सेकेण्ड का समय लेती थी और दूसरी सिर्फ 10^{-6} सेकेण्ड का समय लेने लगी।

1960 के बाद 'सिलीकन चिप' का आविष्कार हुआ जिसका आकार मुश्किल से हमारी अंगुली के नाखून के बराबर होता है। कम्प्यूटर के लिए वांछित सारे परिपथ इसी चिप पर बन सकते थे। इस चिप का उपयोग करके बनाये गए कम्प्यूटर अपने परिवार के तीसरी पीढ़ी के कहाए। यह पीढ़ी एक प्रचालन में 10^{-7} सेकेण्ड लगाती थी।

आज कम्प्यूटरों की चौथी पीढ़ी अपनी युवावस्था में है। इनमें 'चिप' के स्थान पर LSI (Large-scale Integrated Circuits) का उपयोग होता है। LSI ने कम्प्यूटरों की कार्यक्षमता तथा सामर्थ्य को कई गुना बढ़ा दिया है।

कम्प्यूटर की चार पीढ़ी प्राप्त करके भी वैज्ञानिक सन्तुष्ट नहीं हैं। वह आज भी कम्प्यूटर के विभिन्न अंगों के सुधार में लगा है और आशा करता है कि शीघ्र ही पाँचवीं पीढ़ी का अवतरण हो जायेगा। सुना जा रहा है कि यह पाँचवीं पीढ़ी का बच्चा इतना अधिक सामर्थ्यवान् होगा कि मानव के सारे कार्य—सोचने-समझने से लेकर गाने-बजाने, फैक्टरी में काम करने तक भी—स्वयं करने लगेगा। देखना है यह मनुष्य की समस्याओं को कितना सुलझाता है तथा कितना उलझाता है। □

वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, देहरादून द्वारा संचालित

वर्ष 1984 का अखिल भारतीय वानिकी पुरस्कार घोषित

1. श्री लक्ष्मणसिंह खन्ना - 5000 रु० (श्रेष्ठ पुस्तक लेखन पुरस्कार)
2. श्री रामेश बेदी — 3000 रु० (उत्तम पुस्तक लेखन पुरस्कार)
3. श्री ईश्वरारायण जोशी— 500 रु० (लेख-प्रथम)
4. श्री गोविन्द प्रसाद मैठाणी— 350 रु० (लेख-द्वितीय)
5. श्री सतीश कुमार एवं प्रेम बल्लभ डोवरियाल— 200 रु० (सराहनीय लेखन)
6. श्री सुभाष पंत और डॉ० मोहन चन्द्र तिवारी— 100 रु० (प्रोत्साहन)

जब पादपसंरक्षी संहारक बन जाते हैं

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कोई भी रसायन पूर्णतः सुरक्षित नहीं है। आप कितनी ही सावधानी क्यों न बरतें उसके दुरुपयोग की संभावना बनी रहती है। अतएव उससे पूर्ण सुरक्षा की कोई गारंटी नहीं दी जा सकती। तो भी पादपसंरक्षियों के उपयोग के विषय में कुछ नियम या विधान (Regulation) तो होने ही चाहिए। देश के नेता तथा अन्य लोग तरह तरह के आश्वासन देते रहते हैं लेकिन इस सम्बन्ध में विषविज्ञानी (Toxicologist) का निर्णय ही अन्तिम और वास्तविक होना चाहिए। जनता को उसी के वचनों पर विश्वास होना चाहिए और जो नियम विषविज्ञानी बतावें वे राजनीतिज्ञों पर भी लागू होने चाहिए। यही नहीं, वकीलों, सांसदों तथा विधायकों को भी स्वास्थ्य पर प्रभाव डालने वाले रसायनों के सम्बन्ध में वैज्ञानिकों की ही राय के अनुसार चलना होगा। यहीं पर विषविज्ञानियों की जिम्मेदारी का प्रश्न आता है। किसी भी प्रकार का निर्णय लेते समय विषविज्ञानी को चाहिए कि वह अपने को वैज्ञानिक तथ्यों तक ही सीमित रखे, आर्थिक लोभ में आकर अपना निर्णय न बदल दे। प्रायः राजनीतिक नेता आर्थिक लाभों की ओर ध्यान दिलाकर वैज्ञानिकों को बश में करते हैं और विषविज्ञानी भी अपनी वैज्ञानिक सीमा का उल्लंघन करते पाये जाते हैं। इसका प्रतिफल यह होता है कि विषविज्ञानियों की साख गिरती है और जनता में अविश्वास घर कर जाता है। ऐसे वैज्ञानिक, जो अपनी खोजों से उत्तेजना उत्पन्न करके अपढ़ जनता के बीच अपना सम्मान बढ़ाना चाहते हैं वे समाज के लिए घातक हैं और समाज के शत्रु हैं।

जब किसी रसायन का स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ता है तो सारे लोग एक साथ चौकन्ने से हो उठते हैं। विषविज्ञानी के समक्ष सबसे बड़ी समस्या है कि वह नाना प्रकार के उपयोग में लाये जा रहे रसायनों की परीक्षा कैसे करे? आप कह सकते हैं कि इस समय अनेक नवीन तथा संवेदनशील प्रविधियाँ विकसित हो चुकी हैं यथा रेडियोऐक्टिव अनुरेखन, गैस क्रोमैटोग्राफी, मासस्पेक्ट्रोग्राफी, एन एम आर आदि। लेकिन प्रश्न यह है कि ये प्रविधियाँ अभी सर्व-सामान्य क्यों नहीं हो पाई? इनके संचालन में काफी दक्षता की आवश्यकता है। अतः समय आ गया है कि इन नवीन प्रविधियों से अभ्यस्त हुआ जाय।

वर्तमान समय में जीवनाशियों (Pesticides) के विरुद्ध जो जेहाद छिड़ा है उसके मूल में राचेल कार्सन की कृति 'साइलेट स्प्रिंग' हैं। इसके पूर्व जीवनाशी रसायनों की प्रशंसा में इतना कुछ कहा जा चुका था कि सारी जनता चमत्कृत तथा मुग्ध थी। इन रसायनों के प्रयोग से न केवल पादपरोगों, कीटों से मुक्ति मिली थी वरन् अधिक अन्नोत्पादन के कारण भुखमरी भी दूर हुई थी। इसमें सन्देह नहीं कि अनेक विकसित राष्ट्रों की खुशहाली इन्हीं पादप संरक्षियों के प्रयोग से आई थी। और आज भी विकासशील देशों के भाग्योदय में इन्हीं रसायनों का हाथ है।

लेकिन 1950 ई० के बाद पाश्चात्य जगत की जनता के विचारों में क्रमिक परिवर्तन होता

रहा। उसमें कार्सन की पुस्तक ने एक धमाके का काम किया। इसके पहले जीवनाशियों के दुर्ूपयोग से दुर्घटनाएँ होती रही थीं, वन्य-जीवन तथा मनुष्य के पर्यावरण में भी दूषित प्रभाव आने लगे थे। आणविक जीवविज्ञान तथा आनुवंशिकी के क्षेत्र में ज्यों-ज्यों प्रगति होती गई, जीवनाशियों की आलोचना कटुतर होती गई।

वास्तव में कार्सन का तर्क रुढ़िवादी न होकर अत्युक्तिपूर्ण था। वह राजनीतिज्ञों तथा जनता को सम्बोधित किया गया था, वैज्ञानिक समुदाय को नहीं। वैज्ञानिकों को काफी बाद में अनुभव हुआ कि इस पुस्तक में सत्य का रंघ भी न था। लेकिन जय हो पत्रकारों की। उनके अभियान से राजनीतिज्ञ बाध्य हो गये कि पादपसंरक्षियों पर प्रतिबंध लगे। बात इसलिए बिगड़ गई क्योंकि कुछ वैज्ञानिकों को अपनी स्थिति सुधारने और धन ऐंठने का अवसर मिल गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कुछ ऐसे वैज्ञानिक जो सत्य पर दृढ़ थे, अपने ही सम्प्रदाय वालों की आलोचन से ऊब कर इन जीवनाशियों पर शोध करने से छुट्टी ले ली। यहीं विषविज्ञानी अपने कर्तव्य से च्युत हुये।

इस प्रसंग में सर्वथा नवीन घटना ले लें—भोपाल का MIC (मिक) गैस कांड। इसके पूर्व भले ही यूनिन कार्बाइड द्वारा संचालित भोपाल की फ़ैक्टरी में चाहे कितने ही कर्मचारी क्यों न मरते रहे हों लेकिन उनकी ओर न तो राजनीतिज्ञों ने, न ही जनता ने कोई ध्यान दिया। किन्तु एक रात जब अचानक गैस रिसकर बाहर निकल गई और रात भर में हजारों लोग काल कवलित हो गये तो भारत देश के ही नहीं, सारे विश्व के लोगों की आँखें खुल गईं। इतना भीषण नर-संहार—यह रासायनिक युद्ध जैसी विभीषिका की याद दिलाने वाला है। हिरोशिमा का वह नर-संहार मानो पुनरावृत्ति कर रहा हो।

इतने बड़े कांड का पूर्वानुमान भले ही किसी को न होता लेकिन विषविज्ञानियों को तो होना ही चाहिए था। तो फिर वे क्या करते रहे? क्या धन के बल पर उनकी जुबानें बन्द कर दी गई थीं? क्या कारण था कि विकासशील देशों में घनी आबादी के बीच ऐसे संहारक कारखाने के बनाने की छूट दी गई? कहाँ गये थे देश के पर्यावरणविद् और हर वर्ष पर्यावरण दिवस मनाने वाले लोग? दीपक तले अँधेरा क्यों रहा आया? क्या भोपाल में जो पादपसंरक्षी कार्बारिल बनता था वह मानव-संहार के लिये था? क्या भोपाल को एक दूसरा कुरुक्षेत्र का शवस्थल बनाना हमारा उद्देश्य था?

ऐसी ही बात डी० डी० टी० के विषय में है। एक बार दिल्ली में मनुष्यों के रक्त की जाँच करके डी० डी० टी० की मात्रा ज्ञात की गई तो यह मात्रा विश्व भर में सर्वाधिक निकली। सारे वैज्ञानिक हैरान थे—भूल तो थी विष विज्ञानियों की किन्तु एक बार ऐसा लगा कि भारत में डी० डी० टी० पर प्रतिबन्ध लगकर रहेगा। तब फिर मलेरिया उन्मूलन का क्या होगा?

विदेशी आँकड़ों पर निर्भर रहने और अपनी ओर से कुछ न करने के दुष्परिणाम सामने आ रहे हैं। डी० डी० टी० परिवार के सभी कीटनाशी मिट्टी में दीर्घ काल तक बने रहकर स्थल-प्रदूषण के लिये जिम्मेदार हैं। इन सबका दीर्घ-स्थायित्व एक प्रकार से कल्पना पर आधारित रहा है। इधर जो प्रयोग हुए हैं उनसे सिद्ध हुआ है कि इस परिवार के कीटनाशी काफी तेजी से मिट्टी में विघटित हो जाते हैं। यह सत्य है। इसका जनता में प्रचार होना चाहिए। अन्य कीटनाशियों के विषय में भी जनता को जागरूक बनाना शेष है। विषविज्ञानियों पर इसकी जिम्मेदारी है। वे आगे बढ़ें, सत्य का अनुमोदन करें और देश में भोपाल जैसे काण्ड की पुनरावृत्ति न होने दें। □

सामान्य सापेक्षता सिद्धांत के पक्ष में जयनाद

डॉ० जयंत विष्णु नारलीकर

टाटा इंस्टीट्यूट आव फंडामेंटल रिसर्च, बम्बई

[साइंस टुडे (मई 1984) में प्रकाशित अंग्रेजी लेख Two Cheers for General Relativity का अनुवाद 'विज्ञान' में प्रकाशन और अनुवाद की अनुमति के लिये अनुवादक और 'विज्ञान'

लेखक तथा 'साइंस टुडे' के प्रति आभार व्यक्त करते हैं। अनुवादक हैं श्री राघवेन्द्र कृष्ण प्रताप, शिक्षाशास्त्र विभाग, ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती—272001. —सम्पादक]

1915 ई० में आइंस्टीन ने सापेक्षता का सामान्य सिद्धांत प्रस्तुत किया। यह सिद्धांत इसके जनक के दिक्, काल, गति एवं गुरुत्व की समस्याओं पर गंभीर चिंतन का परिणाम था। भौतिकी के सिद्धांतों का इस प्रकार उद्भव असामान्य ही कहा जाता है। सामान्य रूप में, जब प्रयोगों और निरीक्षणों में कोई अव्याख्यायित घटना दिखाई देती है तो उसकी व्याख्या के लिये सिद्धांत निर्मित किया जाता है। उदाहरण के लिये न्यूटन के गुरुत्व-नियम (जिस सामान्य सापेक्षता सिद्धांत ने स्थान-च्युत किया) की प्रस्तुति चंद्रमा और अन्य ग्रहों की निरीक्षित गति की व्याख्या के प्रयत्नों से हुयी। विद्युत्चुम्बकीय सिद्धांत ने भी प्रयोगों और सिद्धांतों की अनवरत अंतर्क्रिया के फलस्वरूप ही आकार ग्रहण किया। 1905 में ही आइंस्टीन की महत्वपूर्ण उपलब्धि—विशिष्ट सापेक्षता सिद्धांत—भी माइकलसन-मोर्ले प्रयोगों के समय से ही अस्पष्ट आकार ग्रहण कर रहा था। परंतु सामान्य सापेक्षता सिद्धांत के लिये ऐसी कोई चुनौतियाँ प्रेरक रूप में उपस्थित नहीं थीं।

निरीक्ष्य-परिस्थितियों से विलग रूप में उत्पन्न सिद्धान्त बहुधा अनुर्वर सिद्ध होते हैं और शीघ्र ही विस्मृत हो जाते हैं। इस वर्ष सामान्य सापेक्षता सिद्धांत अपने सत्तरवें वर्ष में प्रवेश कर रहा है। इस अवधि में जबकि विज्ञान के

संपूर्ण क्षितिजों पर नाटकीय प्रगति हुयी है, सामान्य सापेक्षता सिद्धांत की स्थिति क्या रही है? आइंस्टीन के जीवन-काल में इस सिद्धांत के चतुर्दिक निर्मित रहस्यमयता और चमत्कार को यदि विलग कर लिया जाये तो क्या शेष रह जाता है? सैद्धांतिक भौतिकी के विकास की दृष्टि से, आधारभूत स्तर पर इस सिद्धांत ने किस सीमा तक योगदान किया है? और अंत में सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न—यह सिद्धांत निरीक्षणात्मक परीक्षणों की कसौटी पर कितना सही उतरा है? आइए, आधुनिक मान्यताओं के आधार पर उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयत्न करें। परंतु उससे भी पूर्व सापेक्षता का तात्पर्य समझना आवश्यक है।

1686-87 में न्यूटन में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ प्रिंसिपिया (पूर्ण शीर्षक: प्राकृतिक दर्शन के गणितीय सिद्धांत) प्रकाशित किया। इस कृति ने भौतिकी के लिये ऐसा दृढ़ आधार प्रस्तुत किया जो दो शताब्दियों तक जीवित रह सका। न्यूटन ने जिन पक्षों पर विचार किया था उनमें से दो—गति के नियमों और गुरुत्व नियम—से ही इस लेख में हमारा संबंध है।

गति के नियम वस्तुओं की गति और उनके कारणों की व्याख्या करते हैं। न्यूटन के नियमों के अनुसार ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुओं में जड़त्व का गुण होता है जो वस्तु की स्थिति में बाह्या-

रोपित परिवर्तन का प्रतिरोध करता है। अतः कोई वस्तु यदि विश्राम अथवा सीधी रेखा में निश्चित वेग की स्थिति में हो तो वह उसी स्थिति में बनी रहेगी यदि उस पर बाह्य बल कार्य न करें। और यदि ऐसा कोई बाह्य बल उस वस्तु पर कार्य करता है तो वस्तु की स्थिति में परिवर्तन उसमें उत्पन्न त्वरण द्वारा मापित होता है। यह त्वरण, यदि बाह्य बल निश्चित हो, तो कम जड़त्व वाली वस्तु के लिये अधिक और अधिक जड़त्व वाली वस्तु के लिये अल्प होता है। आप एक बिल्ली को उठाकर चारों ओर नचा सकते हैं परन्तु यदि आप किसी हाथी पर अपना बल लगाएं तो उसे हिला नहीं सकेंगे क्योंकि उसका जड़त्व बिल्ली के जड़त्व की तुलना में अत्यधिक होता है।

त्वरण वेग परिवर्तन की दर है और वेग वस्तु के स्थानपरिवर्तन की दर होता है। स्वाभाविक रूप से इन धारणाओं को मात्रिक रूप देने के लिये न्यूटन को दिक् और काल की अवधारणा की आवश्यकता थी। इन आधारभूत समस्याओं पर वेदनापूर्ण गंभीर मनन के पश्चात् न्यूटन निरपेक्ष दिक् और निरपेक्ष काल की अवधारणाओं पर पहुँचा। निरपेक्ष काल का विचार एक ऐसी प्राकृतिक घड़ी की कल्पना द्वारा अनुभव किया जा सकता है जो सारी घटनाओं और सभी निरीक्षकों के लिये समय बताने का उपकरण हो। इसी प्रकार निरपेक्ष दिक् वह पृष्ठभूमि है जिससे सारे वेगों और त्वरणों का मापन किया जाता है। गति के नियमों ने अपनी प्रभावशीलता से न्यूटनी प्रणाली में आस्था की सीमा तक विश्वास उत्पन्न किया। परन्तु यह तथ्य ध्यान में नहीं रखा गया कि अंतिम विश्लेषण में न्यूटन के नियम दिक्-काल की पूर्वानुमानित अवधारणाओं पर निर्भर थे, जो निरपेक्ष-चरम सत्य नहीं ही थीं।

1905 में जब आइंस्टीन ने विशिष्ट सापेक्षता

सिद्धांत प्रस्तुत किया तो दिक्-काल की इन्हीं मान्यताओं को चुनौती दी। आइंस्टीन का तर्क था कि मूर्त-पदों में निरपेक्ष-दिक् के रूप में कोई पृष्ठभूमि प्राप्त नहीं है और इसीलिये सिद्धांत रूप में, समान सापेक्ष वेगों से गतिमान सभी निरीक्षक एक जैसी स्थिति रखते हैं।

आइंस्टीन ने निरीक्षकों में एक विभेद उत्पन्न किया। जड़त्वीय—जिन पर बाह्य बल कार्यरत नहीं हैं और शेष अजड़त्वीय। आइंस्टीन के अनुसार, जड़त्वीय-वर्ग के निरीक्षकों की ब्रह्माण्ड की औपचारिक भौतिक व्याख्या एक ही है। विद्युच्चुम्बकीय-घटना को नियन्त्रित करने वाले मूल नियमों में भी यह विशिष्टता दृश्य होती है यदि हम निरपेक्ष दिक्-काल की न्यूटनी अवधारणाएं त्याग दें।

किसी प्लेटफार्म पर खड़े हुए व्यक्ति को स्टेशन से गुजरती हुई एक्सप्रेस-गाड़ी अत्यन्त तीव्र गति से जाती हुई प्रतीत होती है। यही गाड़ी जब रेल की पटरी के समानांतर सड़क पर उसी दिशा में जाने वाली मोटरकार से देखी जाती है, तो उतनी तेज चलती नहीं प्रतीत होती। दोनों स्थितियों में गाड़ी की निरीक्षित गति भिन्न-भिन्न प्रतीत होती है जब कि प्रकाश-गति में अलग-अलग निरीक्षकों, जो सापेक्ष गति कर रहे होते हैं, को एक ही गति प्राप्त होती है। इस निरीक्षित-असामान्यता की व्याख्या के लिये एक नवीन वेग-योग-नियम की आवश्यकता थी। विशिष्ट सापेक्षता सिद्धांत ने, वास्तव में, दिक्-काल मापनों की विधि के नियम प्रस्तुत किये। और इन नवीन नियमों ने निरपेक्ष दिक्-काल की अवधारणा के त्याग की अपेक्षा की। 1905 के शोध-पत्र में आइंस्टीन ने गति-नियमों के परिवर्तित रूप प्रस्तुत किये और इन्हीं से ऊर्जा और पदार्थ के मध्यगत प्रसिद्ध संबंध $E = mc^2$ प्राप्त हुआ।

यह तो था त्रिशिष्ट सापेक्षता के संबंध में। आखिर सामान्य सापेक्षता सिद्धांत यहाँ कैसे प्रवेश करता है? सामान्य सिद्धांत ने गुरुत्व प्रकृति नियम का एक विकल्प उपस्थित किया। न्यूटन के अनुसार, गुरुत्व प्रकृति का एक गुण है। जिससे किन्हीं दो भौतिक वस्तुओं के मध्य आकर्षण बल उत्पन्न होता है। यही बल उपग्रहों एवं ग्रहों को सूर्य के चतुर्दिक परिक्रमा करने को बाध्य करता है। यदि यह आकर्षण बल न होता तो पृथ्वी और सभी ग्रह नक्षत्र न्यूटन के प्रथम गति नियम के अनुसार दीर्घवृत्त कक्षाओं में गति के स्थान पर स्थिर गति से सीधी रेखा में गति करते।

गुरुत्व-घटना पर आइंस्टीन की विचार-दृष्टि पूरी तरह भिन्न थी। उनका महत्वपूर्ण विचार-बिंदु यह था कि चूंकि गुरुत्व सभी वस्तु-पिंडों के मध्य अंतर्क्रिया के रूप में कार्यरत है अतः अंतरिक्ष का कोई भाग इससे स्वतंत्र नहीं है। और न ही विद्युत् की भाँति अंतरिक्ष के किसी अंश को गुरुत्वहीन किया जा सकता है। गुरुत्व की इस सर्वव्यापिता को दिक्-काल की सर्वव्यापिता से संयुक्त किया जा सकता है। इस कड़ी को आइंस्टीन ने ज्यामिति के माध्यम से प्राप्त किया।

विषय के रूप में ज्यामिति दिक्तीय दूरियों और कोणीय परिमापनों से संबंधित होती है। विद्यालयों में यूक्लिदीय ज्यामिति का अध्यापन इसकी सरलता के कारण नहीं, वरन् दैनिक जीवन में इसके व्यवहारिक उपयोगों के कारण किया जाता है। परन्तु दूसरी ज्यामितियाँ भी हैं जो यूक्लिड की पूर्वस्थापनाओं का अनुसरण नहीं करतीं। इन अ-यूक्लिदीय ज्यामितियों की प्रमेयें हमसे परिचित यूक्लिदीय ज्यामिति की तुलना में भिन्न हो सकती हैं। उदाहरण के लिये 'त्रिभुज के तीनों कोणों का योग 180° होता है' अ-यूक्लिदीय ज्यामितियों में सत्य नहीं होता।

इन अ-यूक्लिदीय ज्यामितियों का प्रयोग करते हुए आइंस्टीन ने "वक्र-दिक्-काल" की संकल्पना प्रस्तुत की जो सामान्य सापेक्षता सिद्धांत के रहस्यभेदन की कुंजी है। इसका आधारभूत विचार सूर्य-पृथ्वी के उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है। ग्रह सूर्य की परिक्रमा दीर्घवृत्तीय कक्षाओं में क्यों करते हैं? आइंस्टीन के अनुसार किसी आकर्षण बल की उपस्थिति के कारण नहीं, वरन्, इसलिये क्योंकि सूर्य के चतुर्दिक दिक्-काल वक्र होता है। यहाँ ज्यामिति के नवीन नियम प्रयुक्त होते हैं। यह निश्चित करने का मानदण्ड कि "सरल रेखा क्या है?" निश्चित रूप से प्रयुक्त ज्यामिति पर निर्भर करता है। आइंस्टीन की गणनाओं के अनुसार सूर्य के चतुर्दिक ज्यामिति यूक्लिदीय-ज्यामिति से इतनी भिन्न है कि नवीन ज्यामिति के अनुसार ग्रहों की गतियाँ "समान वेग से सीधी रेखा में गति" है। इस प्रकार सामान्य सापेक्षता सिद्धांत के बल के रूप में गुरुत्व का बहिष्कार करते हुए, उसके स्थान पर यह तर्क प्रस्तुत किया कि गुरुत्व के प्रभाव दिक्-काल की अ-यूक्लिदीय ज्यामिति द्वारा व्यक्त होते हैं। यह दृष्टि सामान्य सापेक्षता सिद्धांत और न्यूटनी गुरुत्वाकर्षण नियम के मध्य इतना बड़ा अंतराल निर्मित करती हैं जो विशिष्ट सापेक्षता और दिक्-काल की न्यूटनी धारणाओं के मध्यगत अंतराल की अपेक्षा अत्यंत विशाल है।

सामान्य सापेक्षता सिद्धांत के परीक्षण

कतिपय सुस्पष्ट अपवादों को छोड़ कर सैद्धांतिक भौतिकी की प्रगति सामान्यतया धीमी गति से होती रही है। यह अपवाद, भौतिक-शास्त्रियों की दृष्टि को विस्तारित करने वाले अचानक 'घटित होने वाले अवधारणा-परिवर्तनों' द्वारा स्पष्ट होते हैं। इनकी विरलता के कारण मैं इनका उल्लेख कर रहा हूँ : न्यूटन के गति

और गुरुत्वाकर्षण के नियम (1687), विद्युत् और चुम्बकत्व का मैक्सवेल द्वारा विद्युच्चुम्बकीय सिद्धांत में एकीकरण (1864), क्वांटम सिद्धांत का प्रारंभ (1900), विशिष्ट सापेक्षता सिद्धांत का प्रारंभ (1905), और सामान्य सापेक्षता सिद्धांत का प्रारंभ (1915)।

फिर भी 1905 से 1915 की अवधारणाओं तक की छलांग अत्यधिक तीव्र थी। यद्यपि सामान्य सापेक्षता सिद्धांत में आइंस्टीन ने वक्की दिक्-काल की अवधारणा, जो निरपेक्ष रूप में उन्नीसवीं शताब्दी के गणितज्ञों-गास, लोबात्स्केकी बोल्याइ और रिमान-को ज्ञात थी, का उपयोग किया परंतु आइंस्टीन की मौलिकता सभी प्राकृतिक बलों में गुरुत्व की विशिष्टता स्वीकार करने और उस पर विशेष ध्यान देने में थी। आइंस्टीन के सामान्य सापेक्षता-समीकरण दिक्-काल की अ-यूक्लिदीय ज्यामिति के तत्वों में पदार्थ और ऊर्जा के वितरण की परिमाणात्मक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

यह परिस्थिति, सिद्धांत रूप में, परीक्षित हो सकती है। यदि किसी सुदूर तारे से आने वाला प्रकाश सूर्य को संस्पृशित करता हुआ आता हो तो दोनों स्थितियों में वास्तविक स्थिति कौन सी है इसका ज्ञान किया जा सकता है। यद्यपि सूर्य के निकट स्थिति किसी तारे के निरीक्षण के लिये सूर्य का ढका होना आवश्यक है, जो पूर्ण सूर्य-ग्रहण की स्थिति में संभव है।

ऐसा प्रयोग किस प्रकार किया जायेगा? मान लीजिये कि खगोल-वैज्ञानिक तारे की स्थिति को, जब सूर्य-चक्र दृष्टि रेखा से गुजरता है, अनवरत निरीक्षित करते रहते हैं। जब तारे से आने वाला प्रकाश सूर्य-चक्र को स्पर्श करता है तो यह मुड़ जाता है और फोटोग्राफिक प्लेट पर निश्चित विचलन के साथ तारे का बिम्ब प्राप्त किया जाता है। ग्रहीय-स्थितियों के इस

परिवर्तन के साथ प्रकाश-किरण के विचलन की गणना संभव है।

यह तथ्य 1919 के पूर्ण सूर्य-ग्रहण के समय अंग्रेज खगोलविद् सर आर्थर स्टैन्ली एडिंग्टन के प्रयोगों में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। ब्राजील के सोब्राल और गिनी की खाड़ी के प्रिसिप स्थानों पर किये गए निरीक्षणों ने की पुष्टि की। और इसने आइंस्टीन को विश्वप्रसिद्धि प्रदान की।

आज की निरीक्षणात्मक परिशुद्धता के मानदण्ड के अनुसार 1919 के प्रयोगों का परिणाम निर्णायक स्तर से बहुत दूर था। वास्तविक मापनों में निरीक्षण की अनेक त्रुटियाँ थीं जिनसे किसी निश्चयात्मक परिणाम पर पहुँचना कठिन था। एक महत्वपूर्ण अनिश्चयता यह भी थी कि प्रकाश किरण का मार्ग-विचलन सूर्य चक्र को घेरने वाले परिमण्डल (कोरोना) से अपवर्तन के कारण हुआ है अथवा आइंस्टीन-प्रभाव से। अनेक प्रयोगों के पश्चात् भी आइंस्टीन के जीवनकाल में यह अनिश्चित ही रहा।

तब भी 1975 में सूक्ष्म तरंगों द्वारा किये गये परीक्षणों ने सामान्य सापेक्षता की भविष्यवाणी की शुद्धता प्रमाणित की। क्वासर 3 सी 279 से आने वाली सूक्ष्म तरंगों का निरीक्षण किया गया और उनको क्वासर की स्थिति के परिवर्तन से सामान्य सापेक्षता की भविष्यवाणी के परिणाम में विचलित होते हुए पाया गया। सूक्ष्मतरंगों के अपवर्तन से होने वाले विचलन की अनिश्चयता का परिणाम भी अत्यंत अल्प होता है।

तथ्य यह है, कि सामान्य सापेक्षता के बहुत थोड़े निरीक्षणों का परीक्षण किया जा सकता है। प्रकाश के 'विचलन' के अतिरिक्त अन्य कौन से प्रभावित परीक्षण किये जा सकते हैं? पिछली शताब्दी के अनेक दशकों ने यह स्पष्ट किया है कि बुध की कक्षा पूर्णरूपेण दीर्घवृत्ताकार नहीं

है जैसा केपलर के निरीक्षणों और न्यूटनी नियमों के आधार पर होना अपेक्षित है। पूरी कक्षा अंतरिक्ष में धीमी गति से चक्कर लगाती है। यह इस तथ्य से स्पष्ट होता है कि सूर्य से बुध कक्षा के निकटतम बिंदु की दिशा ग्रह की गति की दिशा में धीरे-धीरे गति करती है। इस घटना को बुध के उपसौर (पेरीहीलियन) की गति कहा जाता है और इसका परिणाम एक शताब्दी में 575 चाप सेकेण्ड होता है। परंतु ऐसा होता ही क्यों है ?

एक चाप सेकेण्ड एक अंश के 3600 वें भाग के बराबर का कोणीय माप है। बुध के उपसौर की गति की दर काफी न्यून है (दूसरे ग्रहों के लिये यह मान और भी कम है)। परंतु अपनी अल्पता के बावजूद इसकी उपस्थिति ने पिछली शताब्दी के लेबेरियर ऐसे खगोलविदों को इतना मंत्रित किया कि उन्होंने इसकी व्याख्या के लिये सूर्य के निकटस्थ एक अन्य ग्रह वल्कन की उपस्थिति की कल्पना कर डाली, परंतु वल्कन की उपस्थिति सिद्ध नहीं हुई। वैसे एक ग्रह की कक्षा की असंगति की व्याख्या के लिये दूसरे ग्रह की उपस्थिति की कल्पना पहले भी प्रयोग की जा चुकी है। 1846 में ऐडम और लेवेरियर ने यूरेनस की कक्षा के निरीक्षण से नेपच्यून के अस्तित्व का निष्कर्ष प्राप्त किया था।

सत्य यह है कि बुध की कक्षा शुक्र, पृथ्वी, बृहस्पति आदि अन्य ग्रहों के द्वारा भी प्रभावित की जाती है परंतु बुध के उपसौर (पेरीहीलियन) की गति पर उनका सम्मिलित प्रभाव 532 चाप सेकेण्ड प्रति शताब्दी ही होता है। इस प्रकार न्यूटनी गुरुत्व इस घटना के 92.5 प्रतिशत की व्याख्या में समर्थ है परंतु शेष अव्याख्यायित 7.5 प्रतिशत ने लेवेरियर आदि को चिंतित कर रखा था। सामान्य सापेक्षता के अनुसार केवल सूर्य के प्रभाव के कारण बुध के उपसौर को प्रति शताब्दी 43 चाप सेकेण्ड बढ़ना चाहिये।

अतः यह इस अंतर को लगभग पूर्णता से पाट देती है। और वास्तव में यह सहमति सामान्य सापेक्षता के लिये एक विशिष्ट उपलब्धि का कारण है।

मुझे निरीक्षण और सिद्धांत के मध्य की यह अत्यधिक सहमति कुछ परेशान करने वाली लगती है। परिणामों पर अधिक गंभीर दृष्टि डालने के पक्ष में दो कारण हैं। पहला तो यह कि यदि सूर्य पूरी तरह गोलाकार न होकर पृथ्वी की भाँति ध्रुवों पर चपटा होता तो बुध पर इसका गुरुत्वीय प्रभाव किंचित परिवर्तित हो जाता। यह थोड़ा सा अन्तर निरीक्षित उपसौर गति में अपना योगदान अवश्य करता। दूसरा यह कि बुध की कक्षा पर अन्य ग्रहों के प्रभाव के कारण प्राप्त सैद्धांतिक मान 532 चाप सेकेण्ड प्रति शताब्दी कितना शुद्ध है? आज के शुद्ध संगणकों और परिशुद्ध ग्रह मापों और दूरियों के अनुमानों में इसे पुनर्गठित किया जाना चाहिए।

अभी धीघ्र ही अपने सहकर्मी एन० सी० राना के साथ मैंने यह गणना की। हमें कैम्ब्रिज में स्वर्ण आरसेथ द्वारा विकसित संगणक-कार्यक्रम की सुविधा भी प्राप्त थी। इसमें एक-दूसरे के गुरुत्वीय प्रभाव के अन्तर्गत गतिशील भारी पिण्डों के निकाय की गति का परिगणन किया जाता है। इस रूप में हम बुध की गति पर अन्य ग्रहों के प्रभाव की गणना कर सके। परन्तु हमारा परिणाम कुछ कम था—मात्र 530 चाप सेकेण्ड प्रति शताब्दी। इस प्रकार सामान्य सापेक्षता की भविष्यवाणी 2 चाप सेकेण्ड प्रति शताब्दी का अन्तर कर देती है। हमारा विश्वास है कि यह अन्तर सूर्य के चपटेपन के कारण है। वैसे यह बात सही हो या गलत, उपरोक्त उदाहरण प्राचीन गणनाओं को नवीन विधियों से दुहराये जाने की आवश्यकता स्पष्ट करता है।

एक और सामान्य सापेक्षता परीक्षण जो

आधुनिक तकनीकी विकास के कारण सम्भव हो सका है राडार-संकेत के विलम्ब से सम्बन्धित है जब इसका मार्ग सूर्य की सतह के निकट होकर जाता है। प्रकाश के विचलन की भाँति ही, पृथ्वी से अंतरिक्षयान पहुँच कर वापस आने में सूक्ष्म राडार तरंगों को 3 प्रतिशत त्रुटि सीमा के भीतर 200 माइक्रोसेकेण्डों (1 माइक्रोसेकेण्ड एक सेकेण्ड का दस लाखवाँ भाग होता है) का अनुमानित विलम्ब परीक्षण द्वारा प्रमाणित हुआ

है। यह सामान्य सापेक्षता के सिद्धांत की एक और पुष्टि है।

प्रकाश किरणों का विचलन, बुध-उपसौर की गति और राडार-संकेतों का विलम्ब सामान्य सापेक्षता को परिमाणात्मक रूप से प्रमाणित करने वाले परीक्षण हैं। क्या यह साक्ष्य इस सिद्धांत में विश्वास उत्पन्न करने के लिये पर्याप्त हैं? मैं इस प्रश्न पर पुनः लौटूंगा। □

[शेष अगले अंक में]

इन्हें भी पोषक तत्व देना न भूलें

राधा मोहन श्रीवास्तव एवम् सन्त राम वर्मा

नेशनल डिग्री कालेज, बड़हलगंज, गोरखपुर

जिस प्रकार हम मनुष्यों में स्वस्थ और संतुलित विकास के लिए पौष्टिक आहार का महत्व है, ठीक उसी प्रकार फल-वृक्षों को भी संतुलित पोषण की आवश्यकता होती है। जहाँ तक फल-वृक्षों के पोषणसम्बन्धी आवश्यकताओं का सवाल है मनुष्य पोषण एवं पर्यावरण प्रदूषण जैसी भयंकर समस्याओं से तबाह होने के बावजूद भी इस तरफ नगण्य ध्यान दे रहा है। अगर चें वे किसी का ध्यान इस तरफ गया भी है तो वे संतुलित मात्रा में पोषक तत्वों का प्रयोग ही नहीं करते हैं, और अगर प्रयोग करते भी हैं तो गलत ढंग व समय पर। फलस्वरूप उन्हें ऐच्छिक प्रतिफल मिल पाना असम्भव हो जाता है। इसलिए फल-वृक्षों में पोषक तत्वों के प्रयोग करने में निम्न कारकों पर ध्यान रखना अति आवश्यक है।

फल-वृक्षों के लिए पोषक तत्व : फलदायी वृक्षों में नाइट्रोजन, फॉस्फोरस, पोटेश, मैग्नीशियम, कैल्शियम तथा सल्फर की प्रचुर मात्रा में आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त सूक्ष्म तत्वों में जस्ता, ताँबा, लोहा व मैंगनीज आदि

की कमी के लक्षण भी प्रायः दिखाई देते हैं। मुख्य तत्वों की पूर्ति ठोस रूप में खाद व उर्वरक द्वारा मृदा में मिलाकर तथा सूक्ष्म तत्वों को 0.5 प्रतिशत के सान्द्रता वाले घोल के रूप में पर्णीय (पत्तीपर) छिड़काव द्वारा करना अति उत्तम रहता है।

खाद व उर्वरक कब डालें ? : बागवानों को चाहिए कि जब फलदार वृक्षों में फल आने के समय में एक माह बाकी हो तभी उनमें उर्वरकों का प्रयोग करने से न चूकें। इसके अतिरिक्त फल लगने के डेढ़ माह बाद भी उर्वरकों के प्रयोग से अच्छे परिणाम सामने आये हैं। सिर्फ उर्वरकों के इस्तेमाल पर ही बागवान पूरा भरोसा न रखें, क्योंकि जीवांश खाद (गोबर व कम्पोस्ट की सड़ी खाद) उर्वरकों की तुलना में कहीं अच्छे साबित होते हैं। फलों के मिठास एवं अच्छे गुणों के लिए जीवांश खादों का प्रयोग अवश्य करना चाहिए। जहाँ तक जीवांश खादों के प्रयोग करने के समय की बात है, सर्वप्रथम वृक्षारोपण के समय करें। इसके अतिरिक्त 2-3 वर्ष पुराने वृक्षों में जीवांश खादों का प्रयोग दिसम्बर से

फरवरी के बीच करना चाहिए, क्योंकि उस समय ठण्डक अधिक पड़ती है, जिससे मृदा-ताप गिर जाने से पौधों की दैहिक क्रियाओं में बाधाएँ पड़ने की सम्भावना रहती है। किन्तु इस समय

जीवांश (कार्बनिक) खादों के प्रयोग से मृदा-ताप गिरने नहीं पाता है (फलस्वरूप पेड़-पौधे शीत-कालीन आपदाओं से सुरक्षित हो जाते हैं)।

सारणी

फलदायी पौधों में खाद उर्वरक की मात्रा (किया० प्रति पौध)

क्रम	फल	उम्र	गोबर की खाद	किसान खाद	पोटैशियम सल्फेट
1.	आम	5 वर्ष से ऊपर	80.000	2,000-2.500	2.500
2.	अमरुद	5 वर्ष से ऊपर	50 000	2.000	.600
3.	अंगूर	4 वर्ष से ऊपर	40 000	2.500	1.000
4.	लीची	5 वर्ष से ऊपर	80 000	3 000	2 000
5.	बेर	5 वर्ष से ऊपर	50.000	2.500	.500
6.	नींबू	4 वर्ष से ऊपर	40.000	3.000	.500
7.	प्रज.ति आड़ु वा अलूचा	4 वर्ष से ऊपर	50.000	2.500	—

खाद वा उर्वरक कहाँ डालें? — अब तक के किये गये अनुसंधानों से यह सिद्ध हो चुका है कि खाद व पोषक तत्वों को ग्रहण करने वाली जड़ें तने से दूर पेड़ के फैलाव (छतरी) के नीचे और 15-20 सेमी० गहराई में फैली होती हैं।

इसलिए खाद व उर्वरकों को हमेशा तने से दूर (50-200 सेमी० अवस्थाके अनुसार) पेड़ की छतरी के नीचे ही प्रयोग करना सर्वोत्तम होता है। □

विज्ञान वार्ता

संकलन : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

प्रवक्ता, वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

(1) महिलाओं के स्तन कैंसर के लिए दूषित खान-पान और पर्यावरण प्रदूषण जिम्मेदार वाराणसी। स्तन कैंसर के अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त चिकित्सक एवं वेल्स (इंग्लैंड) विश्व-विद्यालय के शल्य-चिकित्सक डॉ० डी० जे० टी० वेबस्टर ने जापान एवं यूरोप में महिलाओं में

बड़े पैमाने पर हो रहे स्तन कैंसर के कारणों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि इसके लिए महिलाओं में धूम्रपान की बढ़ती प्रवृत्ति नहीं वरन् औद्योगिक विकास के कारण बढ़ रहा पर्यावरण प्रदूषण, जैविक प्रभाव और दूषित खान-पान जिम्मेदार है। आपने आशा व्यक्त की

कि निकट भविष्य में ही स्तन कैंसर का सुलभ इलाज अधिक से अधिक देशों एवं लोगों को उपलब्ध हो जाएगा।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के चिकित्सा विज्ञान संस्थान में पत्र-प्रतिनिधियों से बातचीत करते हुए उन्होंने भारत में हृदय एवं गुर्दा की अत्यधिक महंगी शल्य-चिकित्सा पर आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा कि इंग्लैंड में 6 सौ पौंड में ऊँचे से ऊँचे स्तर की शल्य-चिकित्सा संभव है।

डॉ० वेबस्टर हिन्दू विश्वविद्यालय के चिकित्सा विज्ञान संस्थान के सर्जरी विभाग के तत्ववाधान में 14 और 15 अक्टूबर 1984 को आयोजित 'एसोसियेशन ऑफ सर्जन्स ऑफ इंडिया' की उत्तरप्रदेशीय शाखा के दसवें वार्षिक अधिवेशन में भाग लेने यहाँ आये। उन्होंने संस्थान में व्याख्यान के अलावा अपनी शल्य-चिकित्सा की आधुनिक तकनीक का प्रदर्शन भी किया।

(2) कैंसर शोध कार्य हेतु डॉ० पी० बी० देसाई को श्रीमती विमला शाह पुरस्कार

वाराणसी। वर्ष 83 का श्रीमती विमला शाह पुरस्कार टाटा कैंसर अस्पताल के महा-प्रबन्धक, निदेशक एवं प्रमुख सर्जन डॉ० पी० बी० देसाई को दिया गया। काशी के सम्मानित नागरिक एवं समाजसेवी श्री उदय सरोज शाह के अनुदान से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा यह पारितोषिक प्रति दूसरे वर्ष एक भारतीय कैंसर वैज्ञानिक को दिया जाता है। श्री शाह की पत्नी श्रीमती विमला शाह की स्मृति में स्थापित इस पुरस्कार में दस हजार रुपये नकद, प्रशस्ति-पत्र एवं विश्वविद्यालय द्वारा प्रदत्त एक मेडल दिया जाता है।

कैंसर पर शोधार्थियों को प्रोत्साहन देने हेतु इस पुरस्कार के लिए बनायी गयी चयन समिति नाम की घोषणा करती है। डॉ० देसाई के पूर्व

यह सम्मान डॉ० डी० जे० जयसवाल और डॉ० एन० सी० मिश्र को प्राप्त हुआ है। तृतीय पुरस्कार डॉ० देसाई को 15 अक्टूबर 1984 को पूर्वार्द्ध कुलपति द्वारा चिकित्सा विज्ञान संस्थान के सभागार में प्रदान किया गया।

(3) गोला नगर में प्रदूषण का जहर

पिछले कुछ महीनों से गोलाकर्ण नाथ खीरी की हालत बदतर होती जा रही है। स्थानीय चीनी मिल के प्रदूषण से नगर की पचास हजार जनता बुरी तरह से त्रस्त है।

चीनी मिल अपनी डिस्टलरी का भीषण दुर्गन्धयुक्त रासायनिक जल एवं छीजन सरेआम खुले नाले द्वारा नगर के मध्य बहा रही है जो स्थानीय मेला मैदान में भरा रहकर मच्छरों जैसे न जाने कौन-कौन से कीटों को जन्म दे रहा है। भीषण दुर्गन्धपूर्ण जल में किलोल करती सुअरों की टोलियों से स्थिति और भी खराब हो गई है। मिल के कुछ अधिकारियों की लापरवाही के कारण नगर के एक खुले तालाब में शीरा भर दिया है। इस तालाब में गिरकर प्रायः मवेशी मर जाते हैं और सड़ते रहते हैं। यह चीनी मिल बिना फिल्टर किए ही प्रदूषणयुक्त सैकड़ों घन लीटर जल से प्रतिदिन नगर के मेला मैदान को भर रही है।

दर्जनों एकड़ निजी भूमि जलमग्न हो चुकी है। फैंक्ट्री का जल खुल्लम खुल्ला सराप नदी में बहा दिया जाता है, जिससे प्रतिवर्ष भारी मात्रा में मछलियाँ मर जाती हैं। समीपवर्ती क्षेत्र की हज़ारों एकड़ फसल रासायनिक जल से जलकर नष्ट हो रही है।

जल प्रदूषण के साथ-साथ वायु प्रदूषण का भी नागरिकों को खतरा है क्योंकि मिल से प्रायः पीले रंग की गैस खुले आसमान में छोड़ दी जाती है जिससे नगर के ऊपर धुन्ध का वातावरण बन जाता है।

मिल के व्वायलरों की भट्टी में गन्ने की खोई को जलाया जाता है जो चिमनी से उड़कर आकाश पर मडराती रहती है।

(4) दाढ़ी और मूँछ, बेहद खतरनाक

सावधान, आपकी दाढ़ी और मूँछ आपके लिए खतरनाक हो सकती हैं।

सोवियत अनुसंधानकर्ताओं के एक दल की हाल में प्रकाशित एक रिपोर्ट में कहा गया है कि दाढ़ी मूँछ वाले लोगों में सांस के साथ कई दर्जन जहरीली गैसों अन्दर जाती हैं, जिनमें फेनाल, बेंजीन, अमोनिया, टाउलीन, ऐसिटोन, आइसोप्रिन आदि शामिल हैं।

रिपोर्ट के अनुसार दाढ़ी रखना नुकसानदेह है, मूँछें रखना उससे ज्यादा तथा दोनों रखना सबसे अधिक नुकसानदेह है।

किसी दाढ़ी-मूँछ वाले व्यक्ति के लिए सिगरेट पीना नुकसान की मात्रा को आठ गुना बढ़ा देता है। अनुसंधानकर्ताओं का कहना है कि इस आम धारणा में कोई दम नहीं है कि मूँछों से हवा छनकर अन्दर जाती है।

(5) जर्मनी में आयुर्वेद लोकप्रिय हो रहा है

पुणे विश्वविद्यालय तथा पश्चिम जर्मन विज्ञान एवं शिक्षा-मन्त्रालय छात्रों के लिए आयुर्वेद तथा योग के सिद्धांतों पर आधारित नया पाठ्यक्रम तैयार कर रहे हैं।

वेस्ट जर्मन न्यूज़ पत्रिका के अनुसार पश्चिम जर्मनी में लोग आयुर्वेदिक चिकित्सापद्धति तथा योग से स्वस्थ रहने के सिद्धांत में बहुत रुचि ले रहे हैं।

आयुर्वेद में ऐसी कई बीमारियों का इलाज बताया गया है जिनका आधुनिक डॉक्टरों के पास कोई इलाज नहीं है। शीघ्र ही उच्च कोलोस्ट्रॉल से पीड़ितों के लिए एक आयुर्वेदिक दवा बाज़ार में उपलब्ध होने लगेगी।

(6) तकनीकी विकास के दौरान हिमालय का महत्व बना रहे

(रामधनी द्विवेदी, मुख्य-सम्पादक, 'अमृत प्रभात', इलाहाबाद)

लखनऊ 3 जनवरी। राष्ट्रों और सभ्यता के विकास में वातावरण का महत्वपूर्ण योगदान होता है। शीतोष्ण वातावरण ने देशों के सांस्कृतिक और प्राविधिक उत्थान में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हमें यह भी तथ्य स्वीकार करते हुए ऊँचाई वाले क्षेत्रों का उपयोग विकसित तकनीक पर आधारित बस्तियों की स्थापना के लिए करना चाहिए। यह आवश्यक है कि हिमालय के महत्व को बनाये रखते हुए हम इस क्षेत्र के प्राविधिक संपन्नता के लिए भी काम करें।

ये उद्गार साइंस कांग्रेस के 72वें अधिवेशन के शुभारंभ के अवसर पर कांग्रेस के अध्यक्ष डॉ० ए. एस. पेंटल ने अपने अध्यक्षीय भाषण में अधिवेशन के मुख्य विचारणीय विषय उच्च स्थलीय अध्ययन (पर्वत संरक्षण और सम्पन्नता) को प्रतिपादित करते हुए व्यक्त किये। इस संबंध में उन्होंने सुझाव दिया कि भारत सरकार को पर्वतों के विकास और क्षेत्रीय संपन्नता के लिए अलग विभाग गठित करना चाहिए।

डॉ० पेंटल ने कहा कि इसके पहले जब भी हिमालय क्षेत्र के विकास की बात हुई, वनों की कटाई, सड़क, भवन, बाँध और जलाशयों के निर्माण के रूप में ही हुई, लेकिन इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। इन अनुभवों को देखते हुए पर्यावरणविद् इस क्षेत्र के विकास में अब रुचि नहीं ले रहे हैं। कुछ पर्वतीय राज्यों में अन्य राज्यों की तरह विकसित तकनीक पर आधारित उद्योग लगाने की बात हो रही है, लेकिन प्रदूषण फैलता है। हमारा देश प्रदूषण के मामले में वैसे भी पश्चिम के देशों से आगे है। इसलिए सुरक्षित तरीका यही होगा कि हिमालयीय क्षेत्रों में हम उस प्रविधि का उपयोग करें जिनसे फैलाव हो।

प्रस्तावित पर्वत विकास विभाग इससे संबन्धित सभी पहलुओं पर काम कर सकता है। यह विभाग उच्च स्थलों से संबन्धित विभिन्न अनुसंधानों में समन्वय भी स्थापित करेगा।

डॉ० पेंटल ने यह सुझाव दिया कि पर्वतीय क्षेत्रों के विकास के लिए विशाल अनुसंधान केन्द्र की स्थापना की जानी चाहिए। वास्तव में यह प्रविधि चिकित्सा, पशुपालन और कृषि विज्ञान अनुसंधान केन्द्र होना चाहिए जिसका मुख्य कार्य उच्च स्थलीय क्षेत्रों की समस्या का समाधान करना हो। लेकिन यह साधनी रखनी होगी कि यह संस्थान शिमला, दार्जिलिंग या नैनीताल में नहीं अपितु किसी नए क्षेत्र में हो। यह संस्थान अपने आप में स्वायत्तशासी होना चाहिए। उन्होंने बताया कि इसमें लगभग पाँच अरब रुपये खर्च होंगे। यह राशि देखने में अधिक लग सकती है लेकिन इसका व्यापक लाभ मिलेगा।

(7) 'हिन्दी कैसी भी हो, है मोहम्बत की भाषा'

लखनऊ, 3 जनवरी। राष्ट्रपति ने अब तक की परम्परा के विपरीत विज्ञान कांग्रेस में अपना उद्घाटन भाषण हिन्दी में दिया। इस पर जब पंडाल में कुछ कानाफूसी हुई तो राष्ट्रपति ने कहा, 'मैं जानता हूँ कि यहाँ मौजूद प्रतिनिधियों को खासतौर पर विदेशियों को मेरे हिन्दी में बोलने से तकलीफ होगी लेकिन मेरी भाषा हिन्दी और उर्दू के मिलाप से बनी है। यह भाषा कैसी भी हो लेकिन मोहम्बत की भाषा है।'

राष्ट्रपति ने उपस्थित प्रतिनिधियों पर हल्का सा कटाक्ष करते हुए कहा कि 'आपके कण्ठ के

लिए मेरे दिल में बड़ा आदर है—क्योंकि मैं जानता हूँ कि आप सबकी पढ़ाई अंग्रेजी भाषा में ही हुई है।

(8) कई युवा वैज्ञानिक पुरस्कृत

लखनऊ, 3 जनवरी। राष्ट्रपति श्री जैल सिंह ने आज लखनऊ के यू० एस० लवानिया सहित 13 युवा वैज्ञानिकों को उनकी उल्लेखनीय वैज्ञानिक उपलब्धियों के लिए साइंस अकादमी पुरस्कार दिया। पुरस्कार 16 वैज्ञानिकों को दिया जाना था पर तीन समारोह में उपस्थित नहीं थे।

पुरस्कार पाने वाले 12 वैज्ञानिकों को 5000 रु० नकद और एक ताम्रपत्र दिया गया। एक अन्य वैज्ञानिक डॉ० एस० डी० माथुर को सत्येन्द्र नाथ बोस युवा वैज्ञानिक पुरस्कार (1984) दिया गया।

जिन वैज्ञानिकों का चयन इस वर्ष साइंस अकादमी पुरस्कार के लिए किया गया था उनके नाम हैं—डॉ० ए० के० गिरी (कलकत्ता), पी० डी० गुप्त (बम्बई), डॉ० आर० बी० होसुर (बम्बई), डॉ० आर० एन० कुलकर्णी (बंगलौर), डॉ० यू० सी० लवानिया (लखनऊ), डॉ० मैथिली शरण (दिल्ली), डॉ० टी० पद्मनाभन (बम्बई), डॉ० हनुमंत राव (दिल्ली), डॉ० डी० एस० रे० (कलकत्ता), डॉ० जी० वी० एस० शास्त्री (वाराणसी) डॉ० के० विश्वनाथम (दिल्ली), और डॉ० वी० के० चक्रवर्ती (कलकत्ता)।

इस अवसर पर दो वैज्ञानिकों—डॉ० आर० एन० गाडगिल (मद्रास) और डॉ० के० वी० चक्रवर्ती (मद्रास) को राष्ट्रपति ने हीरालाल चक्रवर्ती पुरस्कार दिया। □

भूल सुधार

['विज्ञान' मार्च 1985 अंक में 'कम्प्यूटर' नामक लेख में पृष्ठ 5 पर चित्र संख्या 2 में पहले दो Connection on हैं जिनके नीचे , , । लिखा है तथा बाद के दो off हैं जिनके नीचे 0 , 0 है। बाद के दो तो ठीक हैं। पहले दो को भूल से off दिखा दिया गया है, कृपया उसे सुधार लें, वे on हैं। — सम्पादक]

नवीन शिक्षा नीति

वर्ष 1985 के प्रारंभ में ही केन्द्र पर प्रधान मंत्री के रूप में श्रीयुत राजीव गांधी ने आरूढ़ होते ही कई नई नीतियों के कार्यान्वित किये जाने की घोषणा की जिनमें से नवीन शिक्षा नीति एक है। इस नीति से शिक्षा-जगत् में और विशेष रूप से विश्वविद्यालय स्तर पर अनेक प्रकार की चर्चायें चलने लगीं। जो जिसके मन में था, उसने उसी को नवीन शिक्षा के भावी स्वरूप में व्यक्त करना प्रारंभ कर दिया। अब चार मास बीतने को हो रहे हैं और लोगों की जिज्ञासा तथा कुतूहल पहले जैसा ही बना हुआ है। अभी कुछ दिन हुए दिल्ली में देश भर के विश्वविद्यालयों के कुछ कुलपतियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें नवीन शिक्षा नीति के विषय में जो विचार-विमर्श हुए उसकी कुछ झलकी अखबारों में आई है। श्री राजीव गांधी ने संक्षेप में यह कहा था कि रोजगार को उपाधियों से विश्रुंखलित कर दिया जायगा। स्पष्ट है कि आम जनता तथा बुद्धिजीवी दोनों ही उपाधियों तथा रोजगारों को लेकर अनेक प्रकार से ऊहापोह करते रहे हैं। कुछ लोगों को उसमें राजनीतिक चातुरी दिखती है तो कुछ लोगों का विचार है कि जो भी शिक्षा का ढाँचा चल रहा है उससे वह चरमरा उठेगा, लाभ शायद ही हो सके। इसके विपरीत कुछ लोगों की यह गहन भावना है कि ऐसा होने से देश का कल्याण होगा। उनका तर्क है कि व्यर्थ ही इतने विद्यार्थी विश्वविद्यालयों की खाक छानने के लिए अभी तक बाध्य होते रहे हैं।

अब वे इस नई नीति के अन्तर्गत, हाईस्कूल-इण्टर के बाद ही अपनी रुचि के कार्यों की ओर उन्मुख हो सकेंगे। 3-5 वर्षों में जितने में वे विश्वविद्यालय में उपाधि अर्जित करते उतने में अपना प्रशिक्षण पूरा कर सकेंगे और कार्य-कुशलता तथा प्रशासन-वटुता प्राप्त कर सकेंगे।

निस्सन्देह उन छात्रों के लिए जो मध्यम स्तर के हैं और जिनका उद्देश्य नौकरी प्राप्त करना ही है, उन्हें रोजगार से उपाधियों के इस संबंध-विच्छेद से प्रसन्नता होगी। हो सकता है उन्हें प्रसन्नता न भी हो, परंतु अध्यापक तथा अभिभावक समान रूप से प्रसन्न हैं। हाँ, जो लोग विश्वविद्यालय के शिक्षा-स्तर में गिरावट का अनुभव करते रहे हैं या कि विश्वविद्यालयों में अशांति के लिए छात्रों की बड़ी संख्या को दोषी ठहराते रहे हैं, वे भी प्रसन्न होंगे। उनके अनुसार शिक्षा के प्रति समर्पित अच्छे से अच्छा विद्यार्थी ही अब उच्च उपाधि के लिए विद्यालय में प्रवेश लेगा। उसे नौकरी की विशेष चिन्ता नहीं होगी, वह विषय का आलोड़न-अवगाहन कर सकेगा, उसकी गहराई में जायेगा, शोध करेगा और समय आने पर विश्वविद्यालय में ही अध्यापन करेगा।

नई नीति वैसे तो फलप्रद प्रतीत होती है लेकिन डर इस बात का है कि कहीं काम की तलाश वालों की भीड़ इस कदर न बढ़ जाय कि सारे बंधन टूट जायें और अधकचरे लड़के सभी क्षेत्रों में छाकर उपद्रव मचाने लगें। यदि उपाधि या योग्यता को सचमुच बंधन नहीं बनाना है तो

प्रशिक्षण और दक्षता-परीक्षण के लिए व्यापक तैयारियाँ की जायें। भले ही स्कूली या विश्व-विद्यालय परीक्षा में उत्तीर्ण होना आवश्यक न हो किन्तु कार्य प्रशिक्षण में किसी प्रकार की छूट या ढील न बरती जाये। वैसे भी आजकल लगभग सभी ऐसे कार्यों के लिए, जिनमें वेतन अथवा छात्रवृत्ति मिलती है, दक्षता-परीक्षण होता है और निर्धारित योग्यता से कम योग्यता वाले व्यक्तियों को कोई पद अथवा छात्रवृत्ति नहीं मिलती है। सरकार को एक न्यूनतम योग्यता निर्धारित करनी होगी। आरक्षण में भी सरकार को यही नीति अपनानी चाहिये। आरक्षण यदि आवश्यक है तो रहे, परन्तु उसके लिए न्यूनतम योग्यता के लिए एक परीक्षा अनिवार्य रखी जाय और आरक्षण उन्हीं व्यक्तियों को दिया जाय जो इस परीक्षा में उत्तीर्ण हों।

शिक्षा की नई नीति से एक और गहन समस्या सामने आयेगी और वह होगी पहुँच के

आधार पर पद पाना। भाई भतीजावाद के बोल-बाले के बारे में कुछ न कुछ छपता ही रहता है। आम लोगों की धारणा यह है कि अधिकांश सेवाओं में योग्य व्यक्ति रह जाते हैं और जिनकी पहुँच होनी है वे ही पद पर जाते हैं। परन्तु इन पहुँच वालों को भी पद पाने के लिए कम से कम एक डिग्री तो प्राप्त करनी ही पड़ती है। जब रोजगार का उपाधि से संबंध विच्छेद हो जायगा, उपाधि का होना आवश्यक नहीं होगा और पूरा कार्य पहुँच पर ही आधारित होगा तो कैसे-कैसे लोग प्रशासन में आयेगे, उनमें कितनी कुशलता होगी देश को वे कैसे आगे बढ़ायेगे, यह सब सोचकर ही सिहरन उत्पन्न होती है ?

अतः हम जो भी नीति अपनायें उस पर भली-भाँति विचार कर लें, उसके गुणों व दोषों का विश्लेषण कर लें, तभी इस पर कोई निर्णय लें। ऐसा कहा जाता है कि जल्दबाजी में अक्सर काम खराब हो जाता है। □

सामान्य सापेक्षता सिद्धान्त के पक्ष में जयनाद

डा० जयत विष्णु नारलीकर

टाटा इंस्टीट्यूट ऑव फंडामेंटल रिसर्च, बम्बई

अनुवाद : राधवेन्द्र कृष्ण स्ताप

ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती (यू० पी०)

[पिछले अंक में आपने आइंस्टीन के सामान्य सापेक्षता सिद्धान्त और उसके परीक्षणों के विषय में पढ़ा। अब पढ़िये आइंस्टीन के पश्चात् ब्रैन्स-डिके सिद्धान्त,

हायल-नारलीकर सिद्धान्त और डिराक-सिद्धान्त के विषय में और अंत में आइंस्टीन के अपूर्ण स्वप्न—एकीकरण-सिद्धान्त के विषय में। —सम्पादक]

आइंस्टीन के पश्चात्

आइंस्टीन अपने जीवनकाल में कितने श्रद्धा-युक्त विस्मय की वस्तु और प्रतिभापुंज माने गये यह एक प्रचलित पद्य से स्पष्ट होता है—

टु आइंस्टीन-हेयर ऐण्ड वायलिन
बी गिव अवर फाइनल नाड

दो अंडरस्टूड बाई जस्ट टू फोक्स

हिमसेल्फ-ऐण्ड समटाइम्स-गाड !

सामान्य सापेक्षता के प्रारम्भिक वर्षों में यह कहा जाता था कि इसे केवल तीस वैज्ञानिक समझ सके हैं। यह तीसरा, दूसरा या दसवाँ भी हो सकता था। परन्तु इससे इस विशिष्ट सिद्धान्त

विज्ञान

● मई 1985

की रहस्यमयता स्पष्ट होती है जिससे इसे उच्च स्थान मिला।

1955 में आइंस्टीन की मृत्यु के पश्चात् के दो दशकों में इस स्थिति में नाटकीय परिवर्तन हुआ। प्रतिद्वन्द्वी सिद्धांत विकसित हुए और सामान्य सापेक्षता में ही गुरुत्व के सम्बन्ध में नवीन अंतर्दृष्टि की खोज का प्रयास किया गया। गुरुत्व के सम्बन्ध में वैकल्पिक दृष्टि के उदाहरण ब्रैन्स-डिके सिद्धांत, हायल-नारलीकर सिद्धांत और डिराक-सिद्धांत हैं। दिक्काल-विलक्षणता की अवश्यभाविता, जहाँ भौतिक के ज्ञात-नियम भंग हो जाते हैं, गुरुत्वीय-विकिरण की प्रकृति, श्याम-छिद्र भौतिकी और धनात्मक-मात्रा प्रमेय आइंस्टीन-परवर्ती काल के सामान्य सापेक्षता परिणाम हैं। आइए, इन पर संक्षिप्त दृष्टि डाली जाये।

गुरुत्व के सम्बन्ध में नवीन सिद्धांतों का विकास एक अच्छा लक्षण है। इनमें से ब्रैन्स-डिके सिद्धांत ने सामान्य सापेक्षता और अपने मध्य विभेदन की दृष्टि से प्रायोगिक विधियों को तीव्रतम चुनौती दी थी। पहले उल्लिखित विभिन्न परीक्षण जो सौरमण्डल में किये गये इस चुनौती के प्रत्युत्तर में ही बने थे और उनका निर्णय सामान्य-सापेक्षता के पक्ष में ही रहा।

ब्रैन्स-डिके और हायल-नारलीकर सिद्धान्त, गुरुत्व-सिद्धान्त में मैक-नियम के समावेशन के प्रयत्नों से उत्पन्न हुए। मैक-नियम को आइंस्टीन ने बड़ा महत्वपूर्ण स्वीकार किया था। मैक का तर्क था कि पदार्थ का जड़त्व (जिसकी चर्चा हम न्यूटनीयतिनियमों के सन्दर्भ में कर चुके हैं) वस्तु का मात्र आंतरिक गुण नहीं है वरन् इसका प्रारंभ ब्रह्माण्ड की व्यापक संरचना से भी है। सामान्य सापेक्षता में इस सिद्धान्त का समावेशन न कर पाने की असफलता ने आइंस्टीन का मैक-नियम के प्रति भ्रम उत्पन्न कर दिया। परन्तु मैक के विचारों को मूल्यवान समझने वाले

भौतिकशास्त्रियों को निश्चय ही सामान्य सापेक्षता सिद्धांत अपूर्ण प्रतीत होता है।

डिराक-सिद्धांत भौतिकी में तथाकथित बड़ी विमि-हीन राशियों के रहस्य के कारण उत्पन्न हुआ। $(10)^{40}$ जैसी संख्याएं ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म गुणों की व्यापक गुणों से तुलना करने में क्यों प्राप्त होती हैं?

यद्यपि सामान्य सापेक्षता सिद्धांत ने ब्रह्माण्ड के प्रथम व्यवहार्य आदर्श सामने रखे थे, यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह गया। डिराक-सिद्धांत ने इसकी व्याख्या का प्रयत्न किया और इन्हीं से यह परिणाम सामने आया कि गुरुत्व-स्थिरांक G वास्तव में स्थिर नहीं है, वरन् इसमें समय के साथ परिवर्तन होता रहता है।

ब्रैन्स-डिके और हायल-नारलीकर सिद्धांतों द्वारा प्रस्तुत ब्रह्माण्ड के कुछ आदर्श रूपों में भी यह भविष्यवाणी होती है। अनुमानित दर अत्यंत अल्प है—लगभग 1 खरब अंशों में प्रतिवर्ष कुछ अंशों का परिवर्तन। चंद्रमा एवं अन्य ग्रहों के खगोलीय-निरीक्षणों से संयुक्त परमाणु-घड़ियाँ, सिद्धांत रूप में इस परिवर्तन का मापन कर सकती हैं। उदाहरण के लिये, इन सिद्धांतों के अनुसार पृथ्वी की परिक्रमा में चंद्रमा द्वारा लिये जाने वाले समय-मान में भी अल्प परन्तु मापनीय परिवर्तन होता है। यू० एस० नैवल रिसर्च आब्जर्वेटरी, वाशिंगटन डी० सी० के वान फ्लैन्डर्न ने 1981 में चंद्रमा की स्थिति की गणनाओं के आधार पर यह विचार प्रस्तुत किया था कि G के मान में उपरोक्त परिमाण का ह्रास समय के साथ घटित होता है। परन्तु अभी अक्टूबर 1983 में मंगल पर उतरने वाले वाइकिंग यान के सीमा मापनों की डीप स्पेस नेटवर्क (यू० एस० ए०) द्वारा विस्तृत विश्लेषण से यह निष्कर्ष प्राप्त हुआ कि G-परिवर्तन, यदि उपस्थित हो भी, तो उसका मान उपरोक्त अनुमान से और न्यून—

एक हजार अरब भाग में कुछ भाग—होना चाहिये।

सामान्य सापेक्षता में गुरुत्व-स्थिरांक G प्रकृति का एक स्थिरांक स्वीकार किया जाता है। अतः G की स्थिरता सामान्य सामान्य सापेक्षता को स्थापित करेगी और इनकी परिवर्तनशीलता इस सिद्धांत को नष्ट ही करेगी। प्रश्न यह है कि क्या प्रयोगशाला में G का मापन खगोलीय-संदिग्धता से स्वतन्त्र परिस्थिति में करना संभव है? आज की तकनीक में इस प्रकार के प्रयोग की आशा की जा सकती है। परन्तु इसे वास्तविक रूप देने के लिये प्रायोगिक जटिलता के उच्च स्तर की आवश्यकता होगी। टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ फंडामेंटल रिसर्च के आर० कौसिक के प्रयोगों में यह स्तर प्राप्त हो सकने की आशा है।

यद्यपि आइंस्टीन के पश्चात् संभव हुए उपरोक्त सैद्धांतिक-विकास सैद्धांतिक भौतिकी में महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ हैं परन्तु उन्होंने सामान्य सापेक्षता के जटिल और कभी-कभी असाध्य रूप को सामने रखा है। यह आधुनिक प्रतीति सामान्य सापेक्षता के प्रारंभिक वर्षों के 'दुर्बोध' रूप की प्रतीति के छलनात्मक समरूप ही है। 1920 के दशक में सामान्य सापेक्षता को समझ न पाने के कारण और आज इसकी समझ के कारण उत्पन्न दुर्बोधता ही इस छलनात्मक समानता का कारण है।

उदाहरण के लिये 1960 के दशक के शोध यह निष्कर्ष देते प्रतीत होते थे कि दिक्काल असंगति सामान्य सापेक्षता का अपरिहार्य लक्षण है। इस संदर्भ में असंगति का अर्थ गुरुत्व की व्याख्या के लिये आधारभूत दिकीय दूरियों और समयांतरालों को समावेशित करने वाले ज्यामिति के दिक्-काल-नियमों का भंग होना है। ऐसी स्थिति में कोई भला उस सिद्धांत का क्या करे जो अपनी आधारभूत मान्यता को ही अस्वीकार कराने की दिशा में ले जाती है।

विद्युच्चुम्बकीय विकिरण जिसके कारण विद्युच्चुम्बकीय घटना की श्रेष्ठ समझ संभव हुयी, के विपरीत गुरुत्वीय-विकिरण ने केवल सामान्य सापेक्षता में इस घटना की जटिलता की प्रतीति ही कराई है। विद्युच्चुम्बीय सिद्धान्त में एक सरल उदाहरण लें। जब कोई बेतार-प्रेषित चालू किया जाता है तो यह विद्युच्चुम्बकीय तरंगें प्रेषित करने लगता है, तब तक, जब तक कि उसे बंद न कर दिया जाये—तब तरंगें बंद हो जाती हैं। परन्तु गुरुत्व में ऐसा नहीं होता। गुरुत्व-विशेषज्ञों को अभी भी गुरुत्वीय-तरंगों को प्रेषित करने वाले प्रेषित को चालू करने और बंद करने की प्रक्रिया का गणितीय-विवरण खोजना है। विद्युच्चुम्बकीय प्रेषित के लिये प्रयुक्त गणितीय-हल गुरुत्वीय तरंगों की समस्या के हल के लिये कोई संकेत नहीं उपस्थित करता।

पिछले दशकों में सामान्य सापेक्षता के अंतर्गत श्याम-छिद्रता एक प्रचलित शोध-क्षेत्र रही है। श्याम छिद्र (ब्लैक होल) एक इतनी उच्च सम्पीडित वस्तु है कि वह प्रकाश को भी अपनी सतह से गुरुत्वीय आकर्षण से भीतर आकर्षित कर लेता है। दूसरे शब्दों में, ऐसी वस्तु अदृश्य हो जाती है। इसकी उपस्थिति का निष्कर्ष इसके द्वारा वातावरण पर डाले जा रहे गुरुत्वीय आकर्षण से ही प्राप्त किया जा सकता है। क्या प्रकृति में श्याम-छिद्र हैं? इस प्रश्न का उत्तर 'हाँ' है यदि आप ज्ञात और निरीक्षितजगत् की गणितीय अटकलों और अनुमानों से निर्देशित होते हैं। और इसी का उत्तर 'नहीं' भी है, यदि आप को मूर्तसाक्ष्य उपस्थित करना हो। अपनी सारी रमणीयता और सुन्दरता के बावजूद श्याम छिद्र के आधारभूत गुणों से संबंधित परिणाम उन क्षेत्रों से संबंधित हैं जिनका न तो परीक्षण किया गया है और न ही निकट भविष्य में ऐसा किये जाने की संभावना दिखती है।

सामान्य सापेक्षता में कार्य की दुरुहता के

संबंध में दो कारकों का महत्वपूर्ण योगदान है। और विरोधाभास यह है कि यह कारक इस सिद्धांत की विशेषताएं भी हैं। पहला कारक तो गुरुत्व का यह गुण है कि यह दिक्-काल ज्यामिति की अभिव्यक्ति है। तथा जब परिवर्तनशील गुरुत्व की स्थिति सामने आती है तो यह नहीं कहा जा सकता कि इसे परिवर्तित होती दिक्-काल ज्यामिति की शुद्ध स्थिति के रूप में देखा जाये या इसके आंशिक प्रभाव को परिवर्तित होते गुरुत्वीय बल से संयुक्त किया जाये। उदाहरण के लिये एक युग्म तारा प्रणाली (बाइनरी सिस्टम) में आशा की जाती है कि दोनों तारे गुरुत्वीय-तरंग उत्पन्न करने के लिये एक दूसरे के चतुर्दिक गतिमान रहते हैं। सामान्यरूप से एक तरंग के अंतरिक्ष में गतिमान होने की मानसिक कल्पना की जा सकती है। परन्तु ऐसी तरंग की कल्पना कैसे की जाये जो दिक् की परिवर्तनीय प्रकृति को व्यक्त करती हो?

युग्म तारा समस्या दूसरी कठिनाई को भी स्पष्ट करती है। द्वि पिण्ड समस्या जो न्यूटन के गुरुत्वाकर्षण के व्युत्क्रम-वर्ग नियम का आधार प्रस्तुत करती है अभी सापेक्षता सिद्धांत में शुद्धता-पूर्वक हल नहीं की जा सकी है। युग्म तारा प्रणालियों की व्याख्या के सन्निकट समाधान प्राप्त हैं परन्तु इनसे यह ज्ञात करने में सहायता नहीं मिलती कि जब दो अत्यन्त सघन तारे (अथवा श्याम छिद्र) एक दूसरे की परिक्रमा बंद कक्षाओं में करते हैं तो गुरुत्वीय-प्रभाव कैसे परिवर्तित होते हैं? इसका कारण यह है कि आइंस्टीन के समीकरण गणितीय शब्दावली में अरैखिक (नानलीनियर) हैं तथा युग्म तारा प्रणाली के गुरुत्वीय प्रभाव अलग-अलग पिण्डों के गुरुत्वीय प्रभाव के योग द्वारा नहीं प्राप्त किये जा सकते हैं।

अंत में हम आइंस्टीन के अपूर्ण स्वप्न एकीकरण पर विचार करेंगे। आइंस्टीन का दृढ़

विश्वास था कि भौतिकी के सभी मूलभूत बलों का एकीकरण किया जा सकता है, यद्यपि जब उन्होंने सामान्य सापेक्षता का प्रतिपादन किया तब केवल दो-गुरुत्वीय और विद्युच्चुम्बकीय-बल ही ज्ञात थे। अतः यह आश्चर्य की वस्तु नहीं थी कि वह इन दोनों बलों का दिक्-काल की अयुक्लिदीय ज्यामिति के ढाँचे में एकीकरण का प्रयास करते।

वह सफल नहीं हो सके इसके अनेक कारणों की सत्यता और असत्यता एकीकरण की स्थिति की सफलता के साथ ही स्थापित होगी। आंशिक रूप में उनकी असफलता का कारण एकीकरण का शास्त्रीय स्तर पर प्रयत्न था जब कि जैसा आज अनुभव किया गया है, अधिकांश आधारभूत भौतिकी अपने को क्वांटम-स्तर पर व्यक्त करती है। विशेष रूप से क्वांटम विद्युत्गति की निर्बल और सबल अंतर्क्रियाएँ प्रकृति के सूक्ष्म स्तरों (माइक्रोस्कोपिक स्केल) पर ही स्पष्ट होते हैं। आइंस्टीन के प्रयत्न स्थूल स्तर पर थे जहाँ यह पक्ष अस्तित्व को अस्पष्ट कर देते हैं। आज के एकीकरण प्रयास गुरुत्वबल को छोड़ कर शेष तीन आधारभूत बलों के एकीकरण का प्रयत्न कर रहे हैं क्योंकि यह स्वीकार किया जाता है कि सामान्य सापेक्षता द्वारा प्रस्तुत गुरुत्व आज की एकीकरण योजना में समीचीन नहीं है। फिर भी आधुनिक एकीकरण प्रयास आइंस्टीन की दृष्टि के परोक्ष उपहार हैं क्योंकि उन्होंने इसे तब प्रारंभ किया था जब सभी महान् भौतिकशास्त्री इसके प्रति आश्वस्त नहीं थे।

इस परिस्थिति से त्राण पाने के लिये दो विकल्प प्रस्तुत किये गये हैं। पहला तो गुरुत्व का क्वांटम सिद्धांत निर्मित करने से संबंधित है जो अत्यधिक कठिन कार्य है। वास्तव में कठिनाई सापेक्षता और क्वांटम-सिद्धांत-दोनों में ही है। क्वांटम-सिद्धांत प्रकृति की घटनाओं की व्याख्या

सूक्ष्म (माइक्रोस्कोपिक) स्तर पर करता है। जैसे दैनंदिन स्थूल स्तर पर पदार्थ सतत और अभंजनीय प्रतीत होता है परंतु वास्तव में यह परमाणु और अणुओं के अलग-अलग कणों का समुच्चय मात्र होता है। उदाहरण के लिये, स्थूल स्तर पर विद्युच्चुम्बकीय विकिरण तरंगों का अनवरत प्रवाह प्रतीत होता है परंतु सूक्ष्म स्तर पर यह प्रकाश-कणों 'फोटॉनों' से निर्मित माना जाता है। इसी प्रकार भौतिकशास्त्रियों का विश्वास है कि गुरुत्वीय-विकिरण-फोटॉनों की भौति-ग्रैविटॉनों से निर्मित होता है। परंतु यहाँ यह स्मरण रखा जाना चाहिये कि सामान्य सापेक्षता सिद्धान्त के अनुसार गुरुत्व दिक्-काल ज्यामिति की अभिव्यक्ति है। तब ग्रैविटोन को ज्यामितिक अर्थ कैसे दिया जा सकता है? क्या इसका निहितार्थ यह है कि दिक्-काल संरचना सतत नहीं वरन् असतत (डिस्क्रीट) है। अवधारणात्मक दृष्टि से इन प्रश्नों का उत्तर देना अत्यंत कठिन है। जैसे शास्त्रीय स्तर पर गुरुत्वीय-विकिरण विद्युच्चुम्बकीय-विकिरण की अपेक्षा अधिक जटिल सिद्ध हुआ था उसी प्रकार क्वांटम-गुरुत्व क्वांटम-विद्युत्गतिकी की अपेक्षा अधिक दुस्साध्य प्रतीत हुआ है। परंतु यदि गुरुत्व को अन्य प्राकृतिक बलों के साथ एकीकृत करना है तो सामान्य सापेक्षता सिद्धान्त को परिमाणमात्मक बनाना (टु क्वांटाइज़) आधारभूत कार्य होगा।

इस विधि की कठिनाइयों ने अनेक भौतिक-शास्त्रियों को अति-गुरुत्व (सुपर ग्रैविटी) का मार्ग अपनाने को बाध्य किया है। यह गुरुत्व के प्रति एक नयी दृष्टि है जो मूलभूत अंतर्क्रियाओं पर कण-भौतिकविदों की दृष्टि से समानता रखती है। इस मार्ग से सफलता प्राप्त होगी, यह कह सकना अभी संभव नहीं है।

निष्कर्षरूप में सामान्य सापेक्षता सिद्धान्त की क्रियात्मकता आज तक तीन मानदण्डों के

आधार पर निर्णीत की जा सकती है : (1) क्या सिद्धान्त ने आधारभूत भौतिकी में नवीन विचारों का समावेश किया है? (2) क्या यह आज तक सभी परीक्षणों में सफल रही? और (3) क्या दूसरी भौतिक-विज्ञान-शाखाओं से इसकी अंतर्क्रिया नवीन प्रगति का कारण बन सकी? मेरे लिये पहले दो प्रश्नों के उत्तर सकारात्मक "हाँ" में हैं और तीसरे प्रश्न का उत्तर "नहीं" में।

इसलिए मैं आज सामान्य सापेक्षता के लिये जयनाद करने की स्थिति में हूँ।

मैक-नियम

उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में अन्स्टै मैक ने यह विशिष्ट विचार व्यक्त किया कि पदार्थ का जड़त्व उसका आंतरिक गुण नहीं है वरन् इसका अस्तित्व ब्रह्माण्ड की विराट संरचना के कारण है।

व्यवहारिक अर्थों में मैक का मतव्य निम्न था। जब हम कहते हैं कि एक पत्थर की मात्रा एक किलोग्राम है तो हमारा तात्पर्य होता है कि ग्राम की इकाइयों में पत्थर का जड़त्व 1000 ग्राम है। जब हम इसकी तुलना किसी 1 टन मात्रा वाली वस्तु से करते हैं तो हमारा तात्पर्य 1000 गुना अधिक जड़त्व से होता है। इस वस्तु को गति देने के लिये हमें पत्थर की अपेक्षा बहुत अधिक बल लगाना पड़ेगा।

मैक का विश्वास था कि जड़त्व-गुण ब्रह्माण्ड की अनुपस्थिति में संभव नहीं होगा। एक रिक्त ब्रह्माण्ड में एक अकेले पत्थर में कोई जड़त्व नहीं होगा। यह तर्क न्यूटन की उस मान्यता का विरोधी है जिसके अंतर्गत ब्रह्माण्ड हो या न हो किसी भी वस्तु में जड़त्व होगा ही।

वास्तव में इस कथन की सत्यता का परीक्षण इसलिये नहीं किया जा सकता क्योंकि हम ऐसा रिक्त ब्रह्माण्ड नहीं पा सकते जिसमें वस्तु को

रखा जा सके। ब्रान्स-डिके और हायल नारलीकर सिद्धांत मैक के नियम पर आधारित हैं। ब्रान्स-डिके सिद्धांत में गुस्त्व-स्थिरांक को स्थानीय और सूक्ष्म पदार्थ की अंतर्क्रिया से उत्पन्न माना जाता है। यह अंतर्क्रिया एक नवीन अदिश क्षेत्र द्वारा प्रेषित होती है।

हायल-नारलीकर सिद्धांत में एक कण का जड़त्व गणितीय सूत्र द्वारा ब्रह्माण्ड के समस्त अन्य कणों से प्रत्यक्ष सम्बन्धित होता है। जब यह समीकरण पूरी तरह से प्रस्तुत किये जाते हैं तो यह आइंस्टीन के समीकरणों के समान होते हैं परन्तु इनमें गुस्त्व-स्थिरांक स्थिर नहीं होता। इस प्रकार ब्रान्स-डिके और हायल-नारलीकर सिद्धांत ऐसी भविष्यवाणियाँ करते हैं जिनका सामान्य सापेक्षता की तुलना में परीक्षण किया जा सकता है। इस प्रकार मैक-नियम का 'परोक्ष' परीक्षण किया जा सकता है। गुस्त्व-स्थिरांक का परिवर्तन ऐसा ही एक परीक्षण है।

दिक्-काल असंगति

उस क्षण की कल्पना कीजिये जब अचानक सूर्य की आंतरिक ऊष्मा और दाब समाप्त हो जाये। सूर्य अपने ही गुस्त्विय-आकर्षण के अंतर्गत

छोटा होना प्रारम्भ हो जायेगा। इस संपीडन का विरोध करने वाले किसी बल की अनुपस्थिति के कारण 29 मिनटों में सूर्य एक बिंदु मात्र हो जायेगा।

सामान्य सापेक्षता के अनुसार सूर्य की यह भावी स्थिति एक 'असंगति' है। जब सूर्य का संपूर्ण पदार्थ एक बिन्दु में घनीभूत होता है तो इस बिन्दु का घनत्व अनन्त हो जाता है और आइंस्टीन के समीकरणों के अनुसार दिक्-काल की वक्रता भी अनन्त हो जाती है। किसी को यह ज्ञात नहीं है कि इस अनन्त-वक्री दिक्-काल से क्या निष्कर्ष निकाला जाये। गणितज्ञ और भौतिकशास्त्री इन परिस्थितियों से बचने का प्रयास करते हैं। क्या सामान्य सापेक्षता को भी संशोधित करके इस असंगति से बचाने का प्रयास किया जाये? क्योंकि सामान्य सापेक्षता के प्रमेय यह बताते हैं कि पदार्थ के वितरण और ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित सूर्य की परिकल्पनाओं में इस प्रकार के 'अनन्त मान' अपरिहार्य हैं, यदि सामान्य सापेक्षता को गम्भीरतापूर्वक ग्रहण किया जाये। □

(समाप्त)

निवेदन

हमारे कुछ पाठकों का मत है कि विज्ञान की छपाई 14 पाइंट में न होकर 12 पाइंट में हो। इस विषय पर हम अपने सभी पाठकों के विचार जानना चाहते हैं अतः आप से अनुरोध है कि आप हमें लिखें कि विज्ञान की छपाई 14 पाइंट में ही चलने दें या उसे फिर 12 पाइंट में छापना प्रारंभ करें।

—सम्पादक

भारत में विज्ञान शिक्षा कैसी हो

अनिल कुमार शुक्ल

17, म्योर कॉलेज कॉलोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विद्या ददाति विनयम्, विनयात् याति पात्रताम्
पात्रत्वाद् धनम् आप्नोति, धनात् धर्मः ततः सुखम्

यह है भारत में विद्या-प्राप्ति का महत्व और आदर्श। लेकिन दुःख की बात है कि वर्तमान भारत में, शिक्षा प्राप्त की जाती है धन के लिये और हम यह धन, पहले की तरह 'विनय' और 'पात्रता' के आदर्श रास्ते से होकर नहीं पाना चाहते बल्कि कोई 'शार्टकट', खोज निकालना चाहते हैं और तब 'धनात् धर्म' के बजाय 'धनात् अधर्म' करके, 'ततः दुःखम्' भोगते हैं। आखिर यह सब कैसे हो जाता है? विद्या वात् (विद्वान्) आजकल 'वह' करने लगता है, जिसे देख सुनकर देहातों का 'अ-विद्या-वान्' (अविद्वान्) देहाती शर्म से गड़ जाता है! निश्चय ही, हर जिम्मेदार 'भारतीय' का यह दायित्व हो जाता है कि वह इस शर्मनाक परिस्थिति के हर पहलू पर सोचे समझे व कारणों के निराकरण हेतु, हर सम्भव प्रयास करे।

आइये, इस वैज्ञानिक-अंतरिक्ष-युग में हम भारतवर्ष की विज्ञान-शिक्षा की स्थिति व परिस्थिति पर विचार करें। निश्चय ही, हमें सोचना चाहिये कि ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में, हो रहे आविष्कारों की झिलमिलाती दुनिया में, आखिर हम कहाँ हैं? कहाँ है, आर्यभट्ट, वाराहमिहिर, चरक और सुश्रुत का देश? और उस विज्ञान मेले में किधर हैं—सी० वी० रमण और जे० सी० बोस जैसे व्यक्तित्व? क्या कभी सोचा है आपने, हम कहाँ हैं और क्यों 'वहीं' हैं? आइये, इस 'अंतर्राष्ट्रीय युवा वर्ष' में इस दिशा में सोचें और केवल सोचें ही नहीं कुछ करें भी।

करीब दस साल पहले, उत्तर प्रदेश की प्राथमिक पाठशाओं के बच्चों के लिये, विज्ञान की एक पुस्तक निर्धारित हुई थी—'विज्ञान आओ करके सीखें'। बड़ी अच्छी पुस्तक है, सरस व सुबोध भाषा में रोचक प्रयोगों के माध्यम से, बच्चों को विज्ञान सिखाती है, लेकिन 'मुंशीजी' को दिखाने को फुसत नहीं कि, किसी बर्तन में ऊपर-नीचे तीन छेदकर, उसमें पानी भरने पर, नीचे के छेदवाला पानी, सबसे दूर जाकर गिरता है। साथ ही उस शिशु के अभिभावकों को भी, यह जानने की गरज नहीं कि उनका लाड़ला पाठशाला में कौन सा 'विज्ञान' और कैसे 'सीख' कर आया है। सोचिये आखिर क्या होगा, उस अबोध शिशु का भविष्य, जिसकी उत्सुकता का 'अंकुर' निकलते ही कुम्हलाने दिया गया!! बड़ा होने पर, सेब के पेड़ के नीचे बैठा हुआ वह युवक, कैसे पूछ सकेगा कि, पेड़ से टूटा हुआ सेब नीचे ही क्यों गिरा, क्यों न ऊपर गया? पक्षियों को उड़ता देख, क्या वह भी कृत्रिम पंख के सहारे उड़ने की सोचेगा!! मुझे कहना है, आपसे कि आप, अपने लाड़ले को 'विज्ञान' करके सिखाइये और आप कहिये, सरकार से कि प्राथमिक पाठशालाओं में, विज्ञान 'कह' कर सिखाने वाले नहीं, बल्कि 'कर' के दिखाने वाले शिक्षक नियुक्त करे।

जूनियर हाई स्कूल कक्षाओं में भी स्थिति बेहतर नहीं। लगभग अधिकांश विद्यालयों में जूनियर कक्षाओं के छात्रों के लिये, प्रयोग हेतु कोई व्यवस्था नहीं। जहाँ है भी, वहाँ प्रयोग, छात्र नहीं करते, बल्कि शिक्षक महोदय, कभी-कभार, अपने कुर्सी-टेबुल पर विराजमान हो, सौ

छात्रों की कक्षा को 'नुमाइश' दिखाते हैं और इस बात का पूरा-पूरा ध्यान रखते हैं कि कोई छात्र, भूलवश, कहीं उस 'नुमाइशी' उपकरण को छू न दे। सोचिये आप कि, 'कहीं छू न दे' की यह मनोवृत्ति, क्या आपके बच्चे की ज्ञान-पिपासा को शान्त करती है? क्या यह मनोवृत्ति, आपके बच्चे में, 'विज्ञान' के 'ज्ञान' के लिये आवश्यक 'क्या, क्यों, कैसे' की प्रवृत्ति जगाती है? यदि नहीं तो कहिये अपनी 'समाजवादी-लोकतांत्रिक' सरकार से कि, वह जूनियर कक्षाओं के छात्रों के लिये ऐसी सुविधा उपलब्ध कराये कि वे छात्र, न केवल उपकरण को 'छू' सकें, बल्कि उन उपकरणों के सहारे कुछ 'कर' भी सकें।

जहाँ तक हाई स्कूल इण्टर के विज्ञान-छात्रों की बात है वे, वैज्ञानिक उपकरणों के साथ 'कुछ' करते तो अवश्य हैं, लेकिन बिल्कुल अनिच्छा-पूर्वक और वह भी इसलिये कि, कर लें अन्यथा 'पर-इच्छा' (परीक्षा) में अनुत्तीर्ण हो जायेंगे और अनुत्तीर्ण होने पर घर में धुनाई होगी और यह धुनाई इसलिये होगी कि उसने (छात्र ने) प्रयोग-शाला में रखे, धिसे-पिटे उपकरणों के सहारे, पाठ्यक्रम में निर्धारित नीरस, उबाऊ और 'उत्सुकता-निवारक' प्रयोग क्यों नहीं पूरे किये? लेकिन महानुभाव आप अपने पाल्य को 'विज्ञान' न्यूटन, आइंस्टीन, रमण या बोस बनाने के लिये पढ़ा रहे हैं अथवा उसे केवल 'विज्ञान-पढ़ा' बनाने के लिये। अगर आप उसे 'विज्ञान-पढ़ा' बनाना चाहते हैं, तब तो मुझे क्षमा कीजिये, अन्यथा आपको कोशिश करनी चाहिये कि आपके पाल्य का 'विज्ञान-पाठ्यक्रम' ऐसा हो, जो उसमें उत्सुकता का सृजन करे, उसमें 'क्या, क्यों, कैसे' पूछने की प्रवृत्ति जगाये और आपके पाल्य के शिक्षक व शिक्षण सुविधायें, ऐसी हो कि उसकी 'उत्सुकता' और 'जिज्ञासा' शांत हो सके!

इण्टरमिडियेट तक की विज्ञान-शिक्षा, युवक के लिये उस नींव के सदृश है, जिस पर वैज्ञानिक

शोध, खोज व आविष्कार का सतरंगा महल खड़ा होना है। अतः जरूरत इस बात की होती है कि, यह नींव, इतनी पुख्ता बने और इस पुख्ता नींव में, इतना आकर्षण हो कि, उस पर खड़ा होनेवाला महल इससे इतनी मजबूती से जुड़ जाय कि ऊपर बनने वाली अनगिनत मंजिलें, अपने को हमेशा सुदृढ़ आधार पर महसूस करें। अतः मैं आप से कहना चाहूँगा कि, नींव के सुदृढ़ीकरण के पश्चात् उस पर बनने वाले 'आविष्कार-महल' की डिजाइन कैसे हो और उसमें कितनी विविधतायें हो सकती हैं, इस पर आप भी सोचिये और सबको सूचित करिये ताकि इसके हर पहलू उजागर हो सकें। इण्टर के बाद की उच्च-विज्ञान शिक्षा 'कैसी और कैसे' हो, इस संबंध में, मैं अपने विचार बिन्दुवार, प्रकट कर रहा हूँ। मेरे इन विचारों से, आपकी असहमति—सहज, स्वाभाविक व स्वागत योग्य है।

मेरे विचार में, उच्चविज्ञान-शिक्षा—

(i) अत्यन्त सीमित संख्या में केवल उन छात्रों को उपलब्ध करायी जाय, जिनका लक्ष्य, बी. एस.सी., एम. एस.सी. व पी. एच. डी. की उपाधिमात्र पाने के बचाव कुछ 'नया' करना हो।

(ii) कुछ 'नया' करने का इच्छुक इन 'विद्यार्थियों' (विद्यार्थियों के इच्छुक) को, विश्वविद्यालयों में प्रवेश, एक ऐसी परीक्षा के माध्यम से दिया जाय, जिसमें विद्यार्थी के 'विषय-ज्ञान' के बजाय 'विषय-रुचि' का ज्ञान हो सके।

(iii) इन उत्सुक और जिज्ञासु छात्रों को, इनके इच्छानुसार प्रयोग करने की भरपूर सुविधा दी जाय और इन प्रयोगों के दौरान, शिक्षक की भूमिका, वरिष्ठ व अनुभवी सहकर्मी जैसी हो।

(iv) इन विद्यार्थियों के लिये सैद्धांतिक पाठ्यक्रम न्यूनतम हो लेकिन सैद्धांतिक ज्ञान के लिये सुविधायें (यथा-पुस्तकालय) अधिकतम हों। विभिन्न विषयों के लिये स्थापित अलग-अलग

पुस्तकालयों में संबंधित विषय की, अधुनातन पुस्तकें व पत्रिकायें उपलब्ध रहें।

(V) देश-विदेश के, संबंधित विशेषज्ञों को, किसी, निश्चित समयावधि (यथा-एक-सप्ताह) के लिये आमंत्रित किया जाय ताकि विद्यार्थी विशेषज्ञ के व्यक्तित्व व विद्वता से व्यक्तिगत रूप से परिचित होकर प्रेरणा प्राप्त कर सकें।

(VI) विश्वविद्यालयों में प्रवेश से वंचित अन्य विज्ञान छात्रों को (जिनमें, निश्चय ही मेघावी किन्तु 'कुछ नया' करने की तीव्र रुचि से वंचित छात्र होंगे) उनकी योग्यतानुसार आई. टी. आई. पालीटेक्नीक, व इंजीनियरिंग तथा मेडिकल कालेजों, में प्रवेश दिया जाय और ऐसी व्यवस्था की जाय कि शिक्षा प्राप्त कर निकलने के बाद उन्हें उचित रोजगार, तुरत मिल जाय।

मेरा अपना विश्वास है कि यदि, विज्ञान की उच्चशिक्षा हेतु ऐसी व्यवस्था की गई तो, कोई कारण नहीं कि, हमारे देश में न्यूटन, आइंस्टीन,

सी. वी. रमण, जे. सी. बोस, हर गोविन्द खुराना, सुब्रह्मण्यम्, चन्द्रशेखर व सरन नारंग जैसे लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिक बड़ी संख्या में न हो जायें। और फिर कोई कारण नहीं कि वैज्ञानिक आविष्कारों की दुनिया में रूस, अमेरिका, ब्रिटेन व फ्रांस आदि ही दिखें और हमारा महान भारत उस नक्शे में कहीं न हों !

विद्वान पाठकों ! अपने विचारों से आपकी असहमति का आदर व स्वागत करते हुए, मैं अंत में केवल यह कहना चाहूंगा कि, इस 'अंतर्राष्ट्रीय युवावर्ष' में, हमारे देश की विज्ञान-शिक्षा में, ऐसे ठोस व फलप्रद, परिवर्तन हेतु, आप सभी जोर-दार प्रयास करें. ताकि, आज की 'शिशु-पीढ़ी' जब युवा हो तो अपने साथ, खोज, आविष्कार और शांतिमय प्रगति की कहानी, लेकर बढ़े और उस पर यह कलंक न लगे (आज की तरह) कि पढ़े-लिखे भारतीय साक्षर (Literate) तो हैं पर शिक्षित (Educated) नहीं !□

अनपहचाने उड़ते पिंड

आशुतोष मिश्र

कुछ ही सप्ताह पूर्व दूरदर्शन पर एक नया कार्यक्रम "प्रोजेक्ट यू० एफ० ओ०" प्रारम्भ हुआ है। यू० एफ० ओ० अर्थात् "अन आई-डेन्टीफायड फ्लाईंग आब्जेक्ट" "Unidentified flying objects")। नाम ही अत्यन्त विचित्र है। इसका अर्थ हुआ, न पहचानी जाने वाली उड़नेवाली वस्तुएँ। इसको समझने के लिए सबसे पहले पहचानी जाने वाली (Identified) और न पहचानी जाने वाली (Unidentified) उड़ने वाली वस्तुओं में अन्तर स्पष्ट होना चाहिए। तारे, चन्द्रमा, सूर्य, अन्य ग्रह, उल्का

पिण्ड, ग्रहिकाएँ (asteroids) तथा अनेक पिंड हम आकाश में भली-भाँति पहचान सकते हैं। परन्तु इनसे अलग कुछ अन्य वस्तुएँ (पिंड) ऐसी भी हैं जिन्हें हमारे वैज्ञानिक पहचानने और समझ सकने में असमर्थ रहे हैं क्योंकि वे पट्टों से बहुत दूर हैं और उनके विषय में जानकारी मात्र अन्य व्यक्तियों की देखी-सुनी बातों तक ही सीमित है। इन यू० एफ० ओ० को सर्वप्रथम 24 जुलाई 1947 को केनेथ ऑर्नलड नामक एक व्यक्ति ने अपने हवाई जहाज से उड़ते समय देखा था। उसकी आँखों-देखी खबर कुछ इस प्रकार थी—

“वे पिंड पर्वतों की चोटियों के अत्यन्त निकट से उड़ रहे थे, मानों एक दूसरे से जुड़े हों। उनका आकार तश्तरियों जैसा था और सूर्य का प्रकाश उनसे परावर्तित हो रहा था.....मैंने जीवन में कभी ऐसी तीव्र गति वाली वस्तु नहीं देखी थी.....”

उस दिन के बाद ही संसार भर में उड़नतश्तरियों की खबर ने सनसनी पैदा कर दी। अमरीकी वायुसेना ने इन उड़नतश्तरियों का पर्दाफाश करने का फैसला किया। जैसा कि दूरदर्शन में दिखाया गया था, 7 जनवरी 1948 को गॉडमैन एअर फोर्स बेस, केन्चुकी के ठीक ऊपर एक विचित्र वस्तु देखी गई। नेशनल गार्ड एफ-51 के चार पायलट कैप्टेन थामस एफ० मैटल के नेतृत्व में उस वस्तु का पीछा करने चले। कैप्टेन का जब आखिरी सन्देश पृथ्वी पर पहुँचा, तब वह 2000 फुट की ऊँचाई पर उड़ रहा था। उसके बाद उसका रेडियो संपर्क टूट गया, और धरती पर विमान के परखच्चों के बीच उसका मृत शरीर प्राप्त हुआ।

दिखने . स्थान :—कनाडा, मेक्सिको, दक्षिणी अमेरिका, यूरोप, सुदूर पूर्व आस्ट्रेलिया, अफ्रीका, हवाई द्वीपसमूह, ग्रीनलैण्ड तथा अंटार्कटिका।

प्रमुख स्थल :—केन्चुकी, वर्जीनिया, वाशिंगटन आदि।

भारत में भी यदा कदा उड़नतश्तरियाँ दिखने के समाचार प्राप्त होते रहे हैं। कई वर्ष पूर्व जब दिल्ली में अचानक तूफान और बवंडर जैसा आया था, तो यह आशंका प्रकट की गई थी कि उस समय कोई उड़नतश्तरी उतरी थी। फ़तहपुर जनपद जैसे कुछ भारतीय गाँवों में भी ग्रीष्म ऋतु के समय रात्रि में एक मशाल जैसा पिंड आकाश में दूर तक उड़ता हुआ देखा जा सकता है जिसे ग्रामवासी अपनी भाषा में ‘लूका’ कहते

हैं। क्या इसके यू० एफ० ओ० होने की संभावना नहीं है ?

इन्हें देखने वाले व्यक्ति :—जो व्यक्ति आकाशीय निरीक्षण के कार्य में लगे रहते हैं उन्हें ही मुख्यतः ये उड़नतश्तरियाँ दिखती हैं। आम लोग भी इन्हें देख सकते हैं। अभी तक जितनी भी खबरें प्राप्त हुई हैं, वे मुख्यतः राडार-चालकों, मिसाइल-चालकों, वायुमंडल-निरीक्षकों और वायुसेना के पायलटों से प्राप्त हुई हैं।

लोगों से प्राप्त खबरों के आधार पर इन उड़नतश्तरियों की रूपरेखा इस प्रकार हो सकती है—इनका व्यास 30 मीटर या उससे अधिक होता है। परन्तु कुछ का कहना है कि वे 10-15 मीटर से कुछ ही अधिक होती हैं। ये उड़नतश्तरियाँ आकाश में विचित्र कलाबाजियाँ करती चलती हैं। इनकी गति भी कई हजार किलोमीटर प्रति घंटे से अधिक होती है। इनकी मुख्य विशेषता है आकाश में एकाएक स्थिर हो जाना अथवा मुड़ जाना, जो कि मनुष्य के वश में नहीं है।

सन् 1950 में एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसका शीर्षक था—“बिहाइंड द फ़्लाइंग साउसर्स” (“Behind the flying saucers”), जिसमें लेखक फ्रैंक स्कली ने लिखा था, “मैंने कौलेरेडो में दुर्घटनाग्रस्त एक उड़नतश्तरी में दूसरे ग्रह के व्यक्तियों की लाशों को देखा है।” उनके अनुसार ये व्यक्ति बौने थे जिनकी लम्बाई मात्र 97 से० मी० से 112 से० मी० के बीच थी तथा उन्होंने 1890 ईस्वी वाले फैशन के कपड़े पहन रखे थे, जो न तो कट सकते थे, न फट सकते थे।

सन् 1952 में अनेक व्यक्तियों ने इन उड़नतश्तरियों के सदस्यों को देखने का दावा किया। उनके अनुसार वे 2.7 मीटर ऊँचे थे, उनके चेहरे लाल थे, तथा आँखें एक फुट की दूरी पर थीं।

उड़नतश्तरियों की व्याख्या—

1947 में अमेरिकी वायुसेना ने उड़नतश्तरियों की खबरों की एक लम्बी सूची बनाई जिसे प्रोजेक्ट ब्लू बुक (Project Blue Book) की संज्ञा दी गई। 1969 में यह कार्य समाप्त कर दिया गया। लेकिन तब तक लगभग 1000 सूचनाओं की कोई व्याख्या नहीं दी जा सकी थी। इसके बाद अनेक वर्षों तक उड़नतश्तरियाँ नहीं देखी गईं।

परन्तु 1973 में मिसिसिपी से दो व्यक्तियों ने अत्यन्त रोमांचकारी विवरण दिया जिसमें उन्हें किसी अज्ञात ग्रह के व्यक्ति एक विचित्र यान में अन्तरिक्ष में ले गए थे। इनकी खाल चाँदी के समान चमकती थी, और पैर कछुओं जैसे थे। अन्तरिक्ष वैज्ञानिक जे. एलेन. हाइनेक ने जो प्रोजेक्ट ब्लू बुक के भी सदस्य थे, इन व्यक्तियों से सम्मोहन (hypnosis) अवस्था में प्रश्न किए और पाया कि वे पूर्णरूप से सत्य ही बोल रहे थे।

गूढ़ अनुसन्धान के पश्चात् जो तथ्य सामने आए हैं, वे इस प्रकार हैं—

(1) अधिकांश उड़नतश्तरियाँ वास्तव में कोई यान हैं ही नहीं।

(2) अधिकांश घटनाएँ आकाश में वायुमंडलीय कारणों से होती हैं उदाहरणार्थ sundog तथा moondog। वायुमंडल में तैरते बर्फ के क्रिस्टलों से प्रकाश के परावर्तन के फलस्वरूप, विचित्र आकृतियाँ पृथ्वी पर बन सकती हैं, जिनकी चमक सूर्य अथवा चाँद से भी अधिक होती हैं—इन्हें ही सनडाग (sundog) अथवा

मूनडाग (moondog) कहते हैं। अक्सर ही भ्रमवश इन्हें बाह्य-अंतरिक्ष का प्राणी समझ लिया जाता है।

(3) वायुमंडल की विभिन्न परतों द्वारा प्रकाश की किरणें झुकती हैं अथवा मुड़ती हैं जिनसे यान जैसी आकृतियाँ बनना असम्भव नहीं है।

(4) आकाश में उड़नेवाले वायुयानों अथवा वायुमंडलीय अध्ययन कर रहे गुब्बारों से प्रकाश के परावर्तन से भी उड़नतश्तरियों का भ्रम संभव है, और अधिकांश खबरों में पाया गया कि ऊँचे आकाश में उड़ रहे गुब्बारों के फटने से ही उड़नतश्तरियों का भ्रम हुआ।

कॉर्नेल विश्वविद्यालय के डॉ॰ कार्ल सागां का कहना है कि अनेक खबरें मात्र व्यक्तियों के मन की कल्पनाएँ ही हैं क्योंकि उड़नतश्तरियों की बात आजकल फैशन बन चुकी है। परन्तु उड़नतश्तरियों की उपस्थिति को नकारा भी नहीं जा सकता। उनका यह भी कहना है कि यह हो सकता है कि ये उड़नतश्तरियाँ किसी अन्य ग्रह से पृथ्वी पर आती हों। लेकिन अभी तक हमारे पास ऐसा कोई तथ्य नहीं है जिसके आधार पर हम उड़नतश्तरियों के होने या न होने को सिद्ध कर सकें।

अभी इन यू॰ एफ॰ ओ॰ उर्फ उड़नतश्तरियों के विषय में बहुत सा शोध किया जाना शेष है। वैसे यह विषय निश्चय ही विज्ञान कथाओं के लिये रोमांचक सामग्री प्रदान करने वाला है। □

वर्ष 1984 के डॉ॰ गोरख प्रसाद पुरस्कार घोषित

प्रथम—डॉ॰ (श्रीमती) सुशीला राय (जोधपुर)

द्वितीय—डॉ॰ ज्ञानेन्द्र सिंह जोधपुर; डॉ॰ महेश कुमार शर्मा (देहरादून)

तृतीय—डॉ॰ भारतेन्दु प्रकाश (इलाहाबाद)

नारियल-जल : एक उपयोगी पेय

एस० सी० शर्मा

बी-321, कलाकटावर, हरी नगर, नई दिल्ली—110064

कच्चे नारियल में एक प्रकार का द्रव भरा होता है जिसे नारियल-जल या नारियल का दूध कहते हैं। यह एक स्फूर्तिदायक एवं सुखद पेय है एवं गर्मियों में विशेषतया अधिक लाभदायक है। इसके पीने से ताजगी आ जाती है। यह गैस्ट्रो-एन्टेराइटिस (gastroenteritis) नामक रोग की दशा में उपयोगी सिद्ध होता है एवं इसे लवणीय ग्लूकोज के स्थान पर प्रयुक्त किया जा सकता है। इसे अतिसार या दस्त और उल्टी में शारीरिक ऊतक के निर्जलन (dehydration) के विरुद्ध भी प्रयोग किया जाता है। यह गुर्दे में रक्त प्रवाह को बढ़ाता है एवं प्रचुर मात्रा में मूत्र उत्पन्न करता है। इसके साथ-साथ यह एक मूत्रवीर्य रोगाणुरोधक भी है और खनिज से उत्पन्न विषैलेपन की स्थिति में विष को गुर्दे से बाहर निकालने का कार्य करता है। इसके अलावा यह नारियल के पकने एवं अंकुरण में भी अत्यन्त सहायक होता है।

कच्चे नारियल से प्राप्त जल में पानी 95.5%; प्रोटीन 0.1%; वसा 0.1%; कार्बो-हाइड्रेट 4.0%; खनिज पदार्थ 0.4%; कैल्शियम 0.02%, फॉस्फोरस 0.02%; और लोहा 0.5 मिग्रा० 100 ग्रा० होता है। इसके अतिरिक्त कच्चे नारियल के जल में पोटैशियम, सोडियम, मैग्नीशियम, ताँबा, गंधक, और क्लोरीन भी पाया गया है।

नारियल-जल से प्राप्त प्रोटीन में एमीनो अम्ल—आर्जिनीन, ऐलानीन, सिस्टीन एवं सेरीन का प्रतिशत गाय के दूध की अपेक्षा अधिक होता होता है। नारियल के द्रव में कच्चेपन की

अवस्था में शर्करा की सांद्रता अधिकतम होती है। जैसे-जैसे गिरी पकने लगती है, इसमें उपस्थित जल का संघटन जिनमें शर्कराएँ प्रमुख हैं, में भी अभूतपूर्व परिवर्तन होने लगते हैं।

जल में 'बी' समूह के विटामिन एवं विटामिन सी दोनों उपस्थित होते हैं। विटामिन सी की सांद्रता 2.2-3.7 मिग्रा०/100 सी. सी. तक पाई जाती है जो कि गिरी के सख्त होने पर धीरे-धीरे कम होने लगती है। 'बी' समूह के विटामिनों के निम्न मान पाये गये—निकोटिनिक अम्ल 0.64; पेन्टोथिनिक अम्ल 0.52; बायोटिन 0.02; राइबोफ्लेविन (विटामिन बी₂) 0.01; फोलिक अम्ल 0.003 $\mu\text{g/cc}$ इसके अलावा थायमीन (विटामिन बी₁) एवं पायरीडॉक्सीन (विटामिन बी₆) भी सूक्ष्म मात्रा में पाए जाते हैं।

पेय के अलावा नारियल जल कुछ अन्य भोज्यपदार्थों को बनाने में भी प्रयुक्त किया जाता है। फिलीपीन्स में इससे कई प्रकार के पदार्थ बनाए जाते हैं, जिनमें एक स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ जो बाजार में 'नाटा डे कोको' ('Nata De coco') के नाम से बिकता है, अत्यन्त प्रचलित है। केरल में भी इससे एक स्वादिष्ट पदार्थ, जिसे 'कोकोनट-सलाद' कहते हैं, बनाया जाता है। इसे नारियल-जल में शर्करा, एसिटिक अम्ल एवं अनानास से प्राप्त संवर्धन द्रव को मिश्रित करके बनाया जाता है। यह एक बढ़िया डिसर्ट (dessert) है एवं इसका उपयोग अन्य मीठे पकवानों, जैसे फल, सलाद इत्यादि को अधिक सुरस बनाने में किया जाता है। इससे

एक बढ़िया चटनी भी तैयार की जाती है, जिसे बनाने के लिए इसे भूरे रंग की चाशनी तक उबाला जाता है और फिर उसमें लाल मिर्च, प्याज का चूर्ण एवं थोड़ा सा सिरका मिलाया जाता है।

नारियल-जल, शर्करा एवं नींबू-रस को एक साथ उबालकर 'कोकोनट-नींबू शरबत' जो एक चाशनी जैसा एवं स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ है,

तैयार किया जाता है। एक अन्य मुख्य पदार्थ 'सिरका' भी इससे प्राप्त किया जाता है। कभी-कभी इसे दूध में मिलावट के लिए भी प्रयोग किया जाता है। किण्वित नारियल-जल को 'रबर-स्कंद' के रूप में भी प्रयोग किया जाता है एवं इससे एक अच्छे प्रकार की रबर प्राप्त की जा सकती है।□

निगाहें फिर नीम पर

विजय जी

जवाहर कालेज, जारी, इलाहाबाद, 212106

[नीम निर्विवाद रूप से एक उपयोगी वृक्ष है। इसके औषधीय गुण विश्वविख्यात हैं। पहले हर घर के आस-पास नीम के वृक्ष लगाये जाते रहे हैं, किन्तु देहातों के शहरीकरण और औद्योगीकरण के कारण इस वृक्ष को हम भूल चले थे। एक ताजे समाचार में विश्व

स्वास्थ्य संगठन के मुँह-संबंधी स्वास्थ्य कार्यक्रम के अध्यक्ष डॉक्टर डेविड ने मुँह के कैंसर से बचाव के लिए हमेशा नीम के दातून की सलाह दी है। प्रस्तुत है नीम पर विजय जी का लेख।

—सम्पादक]

“फिलीपींस सरकार 40000 हेक्टेयर क्षेत्र में नीम के वृक्ष लगवा रही है, सुनकर आपको आश्चर्य हो सकता है। लेकिन यह सच है। नीम के कीटाणुनाशक और औषधीय गुणों से फिलीपींस ही नहीं दुनिया के तमाम देश आश्चर्य-चकित हैं। प्रश्न उठता है आज जब दुनिया भर के बाजार उन्नत अंग्रेजी औषधियों और कीटाणुनाशक दवाओं से पटे पड़े हैं, नीम के पीछे यह दीवानगी क्यों ?

अमेरिका की प्रसिद्ध विज्ञान लेखिका राशेल कार्सन ने कोई दो दशक पूर्व 'साइलेंट स्प्रिंग' नाम की एक बहुचर्चित किताब लिखी थी। साइलेंट स्प्रिंग याने खामोश बसंत में लेखिका ने पहले एक मनोरम नगरी का चित्रण किया जहाँ चारों ओर हरियाली है, पशु, पक्षी, मनुष्य

सभी आहार-विहार में मगन हैं। एकाएक प्रदूषण महादानव का बज्रपात हुआ फिर सब कुछ खतम हो जाता है। बसंत हमेशा के लिये गायब हो जाता है। दूर नहीं अपने देश भोपाल में पिछली दिसम्बर में यही कारुणिक दृश्य उपस्थित हुआ। पेड़-पौधे, पशु-पक्षी कितने मरे, कोई कल्पना नहीं। भोपाल ही नहीं दुनिया भर में तमाम प्रदूषणजनित घटनाएँ रोज घट रही हैं और आदमी उन सब में कीड़े-मकोड़ों की तरह मर रहा है। प्रश्न उठता है यह विकास किस कीमत पर किया जा रहा है ?

विश्व के उन्नत देशों ने ही सर्वप्रथम विकास की अंधी दौड़ पर प्रश्न चिह्न भी लगाया। दुनिया भर के वैज्ञानिकों की निगाहें तीसरी

दुनिया के देशों में अपनाये जाने वाले परंपरागत कीटनाशकों की ओर गयीं। आज भी गाँवों में लोग नन्हें पौधों से कीड़े-मकोड़ों को भागने के लिए राख छिड़कते हैं, तंबाकू का घोल छिड़कते हैं, और मच्छरों को भगाने के लिये धुआँ करते हैं। नीम की पत्ती और निमोलियों के कीटाणुनाशक गुणों से आज भी गाँव का हर आदमी परिचित है। चन्द्रशेखर लोहमी ने तो मक्के की गिल्ली से राख बनाकर तमाम तरह के देशी कीटनाशक तैयार किये थे जिनका प्रयोग अंग्रेजी कीटनाशकों की तरह किया जा सकता है और वे काफी प्रभावकारी भी रहे हैं।

परंपरागत प्रचलित तमाम कीटनाशकों में नीम का स्थान सर्वोपरि रहा है। यह पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के अलावा पूर्वी अफ्रीका, फिजी, मारीशस, मध्य अमेरिका, आदि में भी पाया जाता है। नीम का वैज्ञानिक नाम (*Azadirachta indica*) है। नीम का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। पुरातत्व अन्वेषकों को मोहनजोदड़ों की खुदायी से प्राप्त कुछ ताबीजों पर नीम का वृक्ष बना मिला है (अर्नेस्ट मैके 1948, अर्ली, इण्डस सिविलाइजेशन, 59)। जातकों में इसके अत्यन्त कड़वे गुण का वर्णन आता है जिसमें कहा गया है कि नीम को चाहे शर्बत और घी से ही क्यों न सींचा जाय वह मीठा नहीं हो सकता। भारतीय चिकित्सा के प्राचीनतम शास्त्रों में चरक, सुश्रुत ने इसके ताजे पत्तों, फलों, फूलों और छाल आदि को कषाय, कल्क आदि रूपों में प्रयोग का वर्णन किया है। इन सबसे पता चलता है कि नीम प्राचीन काल से ही हमारे देश का लोकप्रिय वृक्ष रहा है और लोग बहुतायत से इसका प्रयोग करते थे।

नीम के सम्बन्ध में अनेक सामाजिक और धार्मिक लोक विश्वास प्रचलित हैं। सिन्धु घाटी सभ्यता का मनुष्य जिस प्रकार बुरी शक्तियों को भगाने के लिये नीम का आदर करता था उसी

प्रकार आज भी गाँवों में लोग नीम को दरवाजे पर लगाते हैं, औरतें नीम के वृक्ष पर जल चढ़ाती हैं। लोगों का विश्वास है कि नीम पर देवी जी निवास करती हैं जो गाँव घर की रक्षा करती हैं। उत्तर भारत के गाँवों में जब लोग श्मशान से मृत व्यक्ति का अन्तिम संस्कार करके घर लौटते हैं तो द्वार पर ही रखी आग को पैर द्वारा छूना पड़ता है फिर पास ही रखी नीम की टहनी से पत्ती तोड़कर मुँह में डालना पड़ता है। जार्ज वाट ने भी लिखा है कि 'कुछ जातियों में श्मशान से लौटने पर शोक के प्रतीक रूप में पत्तियाँ मुख में रखी जाती हैं।' मांगलिक समारोहों में तोरण आदि के लिये नीम की टहनियाँ लगायी जाती हैं। मारवाड़ में विवाह के बाद दुलहिन जब घर आती है तो दम्पति एक खेल खेलते हैं जिसे 'सोट सोटकी' कहते हैं। इसमें नीम की टहनी ही उनके बीच का उपकरण होती है। अपने मैसूर यात्रा विवरण में बुकानन ने तीन दिन तक चलने वाले एक उत्सव को देखा जिसमें पीतल के बरतन में नीम की टहनी और नारियल की पूजा की जाती है। नीम को लेकर प्रचलित ढेरों प्रथाओं और परंपराओं को अंधविश्वास कहना उचित नहीं है। वस्तुतः सभी का वैज्ञानिक आधार है जिसके पीछे कल्पना यह थी कि कहीं लोग नीम जैसे उपयोगी वृक्ष को भूल न जायें।

नीम अनेक प्रकार की जमीनों में हो सकता है। सूखे और अपेक्षाकृत कुछ कम सूखे स्थानों में जहाँ वर्षा 18 से 35 इंच तक तथा उच्चतम तापमान 120°F तक होता है, यह अच्छा फलता फूलता है। अधिक ठंड को यह सहन नहीं कर पाता। इसके पके फल या निमकौर जून-जुलाई में जमीन पर गिरते हैं। चिड़ियाँ इनके पके फलों को खाती हैं। यही चिड़ियाँ ही इसे दूर-दूर तक पहुँचा देती हैं। जंगलों-झाड़ियों में यह अपने आप

ढेरों उगा हुआ देखा जा सकता है। इसके पौधे की यदि उचित देख-रेख की जाय दूसरे मौसम तक यह दो से चार फीट तथा तीसरे मौसम के अंत तक पाँच से सात फीट तक ऊँचा हो सकता है। नीम का पूर्ण विकसित वृक्ष 40 से 60 फीट तक ऊँचा हो सकता है।

हर अंग उपयोगी

नीम की जड़, तने और मोटी शाखाओं की छाल, कच्चे फल, पके बीज और उनसे निकलने वाला तेल; फूल, पत्ते, लकड़ी, गोंद, मद आदि प्रत्येक भाग उपयोगी है। छाया के मामले में भी यह आदर्श वृक्ष है। गाँव का हर व्यक्ति इसे दरवाजे पर लगाकर अपने को गौरवान्वित महसूस करता है। इसके पत्तों से गुजर कर आने वाली हवा विशेष स्वास्थ्यदायक समझी जाती है।

नीम की लकड़ी अच्छी और टिकाऊ होती है। कड़वा होने के कारण इसमें कीड़े, घुन, दीमक आदि नहीं लगते। इसका उपयोग इमारती लकड़ी के अलावा गाड़ियों, पहियों, हलों, तेल पेरने की घानियों, जहाजों और लकड़ी के उपकरण बनाने में होता है। हिन्दू इसकी लकड़ी को पवित्र मानते हैं और मूर्तियों के निर्माण में भी व्यवहार करते हैं।

नीम के बीजों में एक कड़वा तेल पाया जाता है। तीव्र दुर्गंध वाले इस तेल का रंग गहरा पीला होता है। वार्डेन ने 15.5°C पर इसका आपेक्षिक घनत्व 0.9235 मालूम किया। लगभग 10° से 60°C पर बिना अपनी पारदर्शकता खोये जम जाता है। कभी-कभी नीम के वृक्ष से स्वयं ही एक स्राव निकलने लगता है जिसे नीम का मद, नीम का रस या नीम की ताड़ी कहते हैं। गुवालयर राज्य से प्राप्त नीम की ताड़ी के एक नमूने का रासायनिक विश्लेषण किया गया। यह हल्के पीले रंग का पकी निमोली की गंध वाला पदार्थ है। 15°C पर इसका आपे-

क्षिक घनत्व 1.589 था। इस ताड़ी का प्रयोग लोग विभिन्न चर्मरोगों व अन्य रोगों में त्वचा पर लगाने और पीने में करते हैं।

निमोली जब पक जाती है तो मीठी हो जाती है तथा उसमें दुर्गंध भी काफी कम हो जाती है। इसे कभी-कभी लोग और प्रायः बच्चे खाते भी हैं। कभी-कभी कुछ लोग इसके पत्ते और फूल को अकेले या सब्जी में पका कर खाते हैं। चरक के समय पत्तियों की सब्जी खाई जाती थी। चक्रपाणि ने पत्तों को खाने की जो विधि बताई है उसमें कड़वाहट काफी कम हो जाती है। उनके अनुसार नीम के पत्तों को घी में मिलाकर अथवा घा में तलकर आँवले के साथ सदा खाते रहने पर फोड़े, त्वचा के चकत्ते, क्षय, छपाकी (अर्टिकेरिया) और अम्लपित्त ठीक हो जाते हैं। स्याम में तो इसके फूलों को सुखा कर रख लिया जाता है जिसे साल भर चटनी या अन्य व्यंजनों के रूप में प्रयोग किया जाता है। नीम की पत्तियाँ पालतू जानवरों को खिलाने के लिये भी काफी उपयोगी हैं। ऊँट, बकरियाँ आदि इन्हें बड़े चाव से खाते हैं।

नीम के पत्ते, छोटी कोमल शाखाएँ तथा खली का उपयोग खाद के रूप में किया जाता है। किसान इस खाद का उपयोग आज भी वृक्षारोपण के पूर्व खोदे गये गड्ढों में भरने के लिये करते हैं। नीम की खाद कीटानुनाशक होती है। जहाँ यह खाद दी जाती है दीमक आदि कीट नहीं आते। नीम की खली में नाइट्रोजन 5 से 6 प्रतिशत तक, फॉस्फोरस दो प्रतिशत तथा पोटैश 1 प्रतिशत तक होता है।

विज्ञान ने दुनिया को एक से बढ़कर एक नायाब कीटनाशक दिये हैं। ये कीटनाशक दुनिया का हित तो कम अहित कहीं ज्यादा कर रहे हैं। डी.डी.टी. का विश्वव्यापी प्रदूषण किससे छिपा है। ध्रुवों पर पायी जाने वाली गिनीपिंग से लेकर माँ के भ्रूण तक में डी.डी.टी. के अंश पाये

गये हैं। इन्हीं सब कारणों से वैज्ञानिक पुनः प्राचीन काल से प्रचलित परंपरागत कीटनाशकों की खोज में लग गये हैं। गाँवों में आज भी मच्छरों को भगाने के लिये, घाव को धोने के लिये, कमरे को कीटाणुरहित करने के लिये नीम की पत्ती का विभिन्न तरह से प्रयोग किया जाता है। पहले पुस्तकालयों की पुस्तकों को दीमकों से बचाने के लिये तथा कपड़ों को सुरक्षित रखने के लिये उनके पास नीम की पत्तियाँ रखी जाती थीं।

नीम के सूखे फल में करीब 44 प्रतिशत तक तेल होता है। पहले यह गाँवों में घानियों में पेरा जाता था जिससे खली और तेल निकलता था। इस तेल का उपयोग साबुन-उद्योग के साथ औषधियों में भी किया जाता है। लेकिन जहाँ यह काम लघु उद्योग के रूप में विकसित होना चाहिये अब मात्र कुछ बड़े कारखाने ही यह काम कर रहे हैं। अतः आज आदमी की रुचि नीम के तेल या खली में नहीं रह गयी है। औद्योगिक प्रयोजन के लिये इस

नीम के नये उपयोग

कोलम्बिया विश्वविद्यालय के ब्यूबो तथा नाकानिशी ने (1978) एक शोधनिबन्ध में सूचित किया है भारतीय नीम वृक्ष की फलियों (निमैली) से उन्होंने एजैंडिरैक्टिन नामक एक सुविदित छेंटीफीडेंट (300 ग्राम फलों से 800 मिग्रा० उपलब्धि) प्राप्त किया जो अफ्रीका की टिड्डी शिस्टोसर्का ग्रेगैरिया की शतप्रतिशत रोकथाम करने में समर्थ है। इसी प्रकार का एक अन्य टर्पीनायड मेलिया-ट्रिट्याल भी पृथक् किया गया, किन्तु इसकी सक्रियता कुछ कम है। प्रथम यौगिक न केवल अफ्रीका के अनेक कीटों को अपितु अमेरिका के जापानी बीटल को विनष्ट करने में सहायक है। अमेरिकी कृषि विभाग तथा लन्दन के ओवरसीज पेस्ट रिसर्च ने नीम के अनेक यौगिक प्राप्त किये हैं और अमेरिका में नीम की खेती को बढ़ावा दिया जा रहा है। अफ्रीका में केन्या, नाइजीरिया आदि में नीम के वृक्ष उगाये जाते हैं। अनेक चिड़ियाँ इसके फलों को खाती हैं जिससे स्पष्ट है कि यह फल पक्षियों के लिए विषैला नहीं है। निमोलियाँ तथा नीम की पत्तियों का रस उद्यानों में नाशीकीटों को नष्ट करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

—शि० गो० मिश्र

तेल को रिफाइन किया जा सकता है। इसके लिये 100 भाग तेल में 1 भाग गंधकाम्ल धीरे-धीरे मिलाते हैं, तापमान 35°C से ऊपर नहीं जाना चाहिये। इसके बाद 100 भाग पानी मिला देते हैं। तेल की तह ऊपर आ जाने पर उसे अलग कर लेते हैं। नीम के तेल में प्राप्त मुख्य क्रियाशील पदार्थ का नाम निम्बिडीन है।

यदि निम्बिडीन को चर्बियों में मिला दिया जाय तो चर्बी कड़वाहट के कारण अखाद्य हो सकती है। निम्बिडीन और सोडियम निम्बिडिनेट का प्रारंभिक अध्ययन लखनऊ मेडिकल कॉलेज में किया गया। अध्ययन से ज्ञात हुआ कि ये एक्जिमा, स्केबीज, पारदीय त्वचाशोथ, फरं-कुलोसिस और जलने आदि में अत्यन्त उपयोगी

हैं। रायल एअर फोर्स की मेडिकल ब्रांच ने गले की खराबी और घाव में निम्बिडीन के गरारों की उपयोगिता की रिपोर्ट दी।

सभी रोगों का एक इलाज नीम

नीम की जड़ पत्ते, फल, फूल और छाल प्रत्येक चौबीस तोला, लोहभस्म, हाड़, पनवाड़, चीतामूल, शुद्ध भिलारे, वायविडङ्ग, खाण्ड, आवला, हल्दी, पिप्पली, काली मिर्च, सोंठ, वाकुची, अमलतास और गोखरू प्रत्येक एक तोला लेकर चूर्ण बनाया जाता है। भांगरे का रस, खैसार के काढ़े तथा लहसुन के काढ़े की क्रमशः भावनाएँ देकर सुखाते जाते हैं। इस प्रकार पंचनिम्ब चूर्ण तैयार होता है। यह सब रोगनाशक तथा कोढ़नाशक रसायन है। योग-रत्नाकर के अनुसार यह योग त्वचा के अनेक प्रकार के दोष, अठारह प्रकार के कुष्ठ तथा सात प्रकार के महाक्षयों को दूर करता है। सब रोगों को नष्ट करके यह रसायन सौ वर्ष तक सुखपूर्वक जीने योग्य बनाता है।

सभी प्रकार के नये-पुराने ज्वर तथा मलेरिया में नीम की छाल अत्यन्त उपयोगी होती है। चक्रपाणि क्षय के रोगी को प्रतिदिन नीम और आंवले को घी के साथ खाने की सलाह देते हैं। पत्तों के कल्क को माथे पर लेप करने से प्रत्येक प्रकार के सिरदर्द को आराम मिलता है। नीम के पत्तों का काढ़ा जिगर के तमाम रोगों को नष्ट करके पेट ठीक करता है। नीम के पत्ते, जड़ की छाल, फूल और फलों से चूर्ण को घी में मिलाकर रोज चाटने पर कामला ठीक हो जाता है। सन्धि-शोध तथा आमवात में नीम के तेल की मालिश

अत्यन्त उपयोगी होती है। चरक के अनुसार मूँग की दाल में नीम के पत्तों को पका कर बनाया गया रसा दमे और हिचकी के रोगियों के लिये फायदेमंद होता है।

एक तोला नीम के पत्ते एक रत्ती कपूर, इतनी ही ह्रींग को सिल-बट्टे पर पीस कर सोने के पहले प्रतिदिन खजूर के साथ खाने पर छूत के रोग पास फटकते तक नहीं। चेचक और खसरा में रोगी को नीम की ताजी पत्तियों पर लिटाया जाता है तथा नीम की टहनियों से हवा किया जाता है। स्त्रियों तथा बच्चों के तमाम रोगों में नीम रामबाण सिद्ध होती है जैसे गर्भाविस्था के विकार, प्रसवोपरान्त कष्टों से मुक्ति, दूध को दोषमुक्त करने आदि। इसी तरह आँख, कान, दाँत, पेट, त्वचा, जङ्घम का संक्षेप में कहें तो कोई ऐसा रोग नहीं है जिसकी चिकित्सा में नीम उपयोगी नहीं है।

दुर्भाग्य से पश्चिम की अंधी दौड़ में हमारा देश भी सरपट दौड़ रहा है। अपने प्राचीन आयुर्वेद को ताक पर रख दिया गया है। फलतः गाँव-गाँव, घर-घर उपलब्ध तमाम जड़ी-बूटियों की तरह नीम भी विलुप्त होती जा रही है। लोग उसके गुणों को भूलते जा रहे हैं। अब नयी पीढ़ी नीम के महत्व को भूलने लगी है जब कि पश्चिमी दुनिया की रुचि इस तरफ बढ़ रही है। हमारा दुर्भाग्य रहा है कि हम अपनी ही चीज का महत्व तब समझते हैं जब पश्चिम के विद्वान उसकी प्रशंसा करते हैं। खैर, देर से ही सही, हम अब भी यदि अपनी देशी चिरपरिचित चीजों का महत्व समझ जायँ तब भी ठीक ही है। □

विज्ञान में विज्ञापन की दरें

कवर का दूसरा एवं तीसरा पृष्ठ.....1000 रु०

अंदर का दूसरा पृष्ठ.....500 रु०, आधा पृष्ठ.....250 रु०

एक चौथाई पृष्ठ.....125 रु०

डार्विनवाद को चुनौती ?

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

प्रकृति में परिवर्तन अचानक होते हैं अथवा धीमी गति से ? प्रकृति आगे बढ़ने के लिए क्या छलांग नहीं लगती ? जीव-जन्तुओं और वनस्पतियों सहित मनुष्य को ईश्वर ने बनाया अथवा लाखों-करोड़ों वर्षों के विकास-क्रम ने ? क्या आदमी बंदर की संतान है ? ये प्रश्न अथवा इन्हीं की तरह के अनेक प्रश्न आदि-काल से ही पूर्वी और पश्चिमी देशों में पूछे जाते रहे हैं। इस विवाद ने विशेष रूप से उग्र रूप तब धारण कर लिया जब आज से लगभग सवा सौ वर्ष पूर्व 1859 में महान विकासविद् चार्ल्स डार्विन (1809—1882) ने अपनी पुस्तक 'द ऑरिजिन ऑफ स्पीशीज' प्रकाशित की। तब से आज तक विकासवाद-संबंधी प्रश्नों को बार-बार उछाला गया है—अवसर चाहे दार्शनिक विचार-विमर्श का रहा हो अथवा जीवविज्ञान और भूगर्भ विज्ञान, आनुवंशिकी और इतिहास, विकासवाद और सृष्टिवाद या विज्ञान और धर्म के पंडितों के बीच चलनेवाली बहसों का।

इस शताब्दी के प्रारंभ में ही जब पृथ्वी की वय-संबंधी डार्विन की प्रयोगात्मक खोजों और प्रसिद्ध भौतिकीविद् केल्विन की गणितीय व्याख्याओं को लेकर विवाद प्रारंभ हुआ तो निर्णय डार्विन के ही पक्ष में हुआ क्योंकि केल्विन के विचार संदिग्ध मान्यता की नींव पर रखे गये थे। केल्विन के अनुसार हमारी इस धरती की वय 100 मिलियन वर्षों से अधिक की हो ही नहीं सकती। इस कारण यदि केल्विन की बात मान ली जाये तो डार्विन का विकासवाद का

सिद्धांत - प्राकृतिक चरण (*Natural Selection*) स्वतः ध्वस्त हो जाता है क्योंकि प्राकृतिक चरण के सिद्धान्त के अनुसार जातियाँ या स्पीशीज बहुत ही लम्बी कालावधियों के दौरान विकसित हुईं।

रेडियोसक्रियता की खोज के पश्चात् केल्विन निश्चित रूप से गलत सिद्ध हो गये। किन्तु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि डार्विन के सिद्धान्त में खामियाँ नहीं हैं। डार्विन के विकासवादी सिद्धान्त में आज भी अनेक दोष नज़र आते हैं।

डार्विन के विकासवाद के विरोध में प्रमुख बात यह है कि लाखों-करोड़ों वर्षों की लम्बी अवधि के बाद भी कुछ स्पीशीज अपरिवर्तित रह गईं जब कि वर्तमान काल के कुछ वैज्ञानिकों के अध्ययनों से यह भी पता चला है कि अनेक जातियों में छोटी कालावधियों में भी अचानक परिवर्तन हो गये। जीवाश्मविज्ञानियों द्वारा जीवन के सैकड़ों रूपों के जीवाश्मों के अध्ययनों से पता चला है कि डार्विन के सिद्धान्त में और भी दोष हैं। इनमें से बहुतों का कारण डार्विन की यह मान्यता है कि प्राकृतिक चरण की प्रक्रिया अत्यन्त धीमी है। और विकास की इसी धीमी प्रक्रिया का लाभ उठाते हुए सृष्टिवादियों ने विकास की सम्पूर्ण मान्यता को ही चुनौती दे डाली। सृष्टिवादियों और विकासवादियों के बीच अर्से तक विवाद चलता रहा पर अब यह विवाद विकासवादियों के पक्ष में लगभग समाप्त सा हो गया लगता है।

पिछले वर्ष भारत आये हुये हार्वर्ड विश्व-विद्यालय, इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध जीवाश्मविज्ञानी स्टीफेन जे० गोल्ड ने तथा अन्य बहुत से जीव-विज्ञानियों ने भी डार्विन के सिद्धान्त की दरारों को भरने का भरसक प्रयास किया है। एस० जे० गोल्ड और एन० एल्ड्रेज का विरामचिह्नित संतुलन' या 'पंकचुएटेड इक्वीलिब्रियम' (*Punctuated Equilibrium*) का सिद्धान्त एक सीमा तक प्रकृति की विकास-सम्बन्धी लम्बी छलांगों की काफी संतोषजनक ढंग से व्याख्या करता है। इस विषय में विशेष उल्लेखनीय बात है इसका तर्कसंगत और सम्पूर्णता के निकट होना। गोल्ड ने अपने पंकचुएटेड इक्वीलिब्रियम के सिद्धान्त को इस प्रकार व्याख्यायित किया है कि कभी-कभी लम्बी कालावधियों में विकास-सम्बन्धी कोई परिवर्तन नहीं हुए अथवा यदि हुए भी तो बहुत ही कम। किन्तु साथ ही इसी दौरान महत्वपूर्ण परिवर्तनों के तेज़ विस्फोट भी हुए। अतः विकास-सम्बन्धी बहुत सी अज्ञात कड़ियाँ जो अभी भी नहीं मिल सकी हैं, उनके सम्बन्ध में वास्तविकता तो यह हैं कि वे कभी थीं ही नहीं।

पिछले दिनों डार्विन के विकास-सम्बन्धी सिद्धान्त - योग्यतम की उत्तर जीविता (*Survival of the Fittest*) को भी कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय, इंग्लैण्ड के प्रसिद्ध जीवविज्ञानी गैब्रियेल डोवर ने चुनौती दे दी है। डोवर ने एक नये सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए बताया कि कुछ विकास-सम्बन्धी परिवर्तनों का कारण स्पीशीज के जीनों (*Genes*) में अचानक हुए परिवर्तन हैं जिन्हें उत्परिवर्तन या म्यूटेशन (*Mutation*) कहते हैं।

आनुवंशिकीविदों के अनुसन्धानों से यह अब पूर्णरूपेण सिद्ध हो गया है कि इस धरती पर पाई जाने वाली वनस्पतियों और जीव-जन्तुओं की जातियों में जो विभिन्नता दिखती है उसका मूल कारण है डी० एन० ए० (कुछ वाइरसों को

छोड़ कर)। डी० एन० ए०, एडीनीन, थायमीन, साइटोसीन और गुएनीन नामक न्यूक्लियोटाइडों (*Bases*) और शर्करा तथा फॉस्फेट से मिलकर बना होता है। ये बेस किस क्रम में और कितनी संख्या में जुड़े रहते हैं, साथ ही डी० एन० ए० की लड़ी कितनी लम्बी है, इसी व्यवस्था पर किसी जीव का रूप निर्भर करता है। कुछ वाइरसों में डी० एन० ए० के स्थान पर आर० एन० ए० यह काम करता है। आर० एन० ए० में थायमीन के स्थान पर यूरेसिल होता है। ये ही डी० एन० ए० और आर० एन० ए० पैतृक गुणों को संतति में ले जाते हैं। और इन्हीं की संरचना में जब कोई परिवर्तन या उत्परिवर्तन होता है तब विकास क्रम में नई स्पीशीज का जन्म होता है, जिसके आनुवंशिक गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में जाते रहते हैं।

जीवविज्ञानी डोवर ने भी इन्हीं डी० एन० ए० अणुओं को विकास के लिए जिम्मेदार ठहराया है और उनके इस सिद्धान्त को 'आण्विक सिद्धान्त' (*Molecular Theory*) या 'आण्विक परिचालन का सिद्धान्त' (*Molecular Drive*) का नाम दिया गया। गोल्ड के अनुसार डोवर का सिद्धान्त 'नया' तो है ही, संभवतः सही भी है।

डार्विन के अनुसार बदलते हुए पर्यावरण ने जानवरों की कुछ जातियों को जीवित रहने के लिए अपेक्षाकृत अच्छी सुविधा प्रदान की। उदाहरण के लिए लम्बी गर्दन वाले ज़िराफ जीवित रहे क्योंकि वृक्षों के पत्तियों को खा सकने में उनकी लम्बी गर्दन सहायक थी जबकि छोटी गर्दन वाले ज़िराफ ऐसा नहीं कर सके और विलुप्त हो गये।

इसके विपरीत डोवर के आण्विक परिचालन के सिद्धान्त के अनुसार जानवरों में परिवर्तन पहले हुये, जबकि पर्यावरण में कोई बदलाव नहीं आया। एक बार जब किसी जानवर में

परिवर्तन हो जाता है (जैसे जब जिराफ की गर्दन लम्बी हो गई), तब वह जानवर अपने लिए एक नया वातावरण खोज लेता है जहाँ वह अपने में हुये परिवर्तन का लाभ उठा सके। डोवर का सिद्धान्त अपेक्षाकृत इस नयी खोज पर आधारित है कि मनुष्यों सहित सभी जीव-जन्तुओं के जीनों या डी० एन० ए० के अणुओं में पुनर्विन्यास (rearrangement) हो सकता है। डी० एन० ए० अणुओं के इसी पुनर्विन्यास को उत्परिवर्तन (Mutation) कहा गया है जिससे नई जाति का जन्म होता है।

यहाँ मैं डार्विन की अत्यन्त धीमी गति वाले विकासवाद के सिद्धान्त के पक्ष में एक उदाहरण देना चाहूँगा। वैज्ञानिक परीक्षणों से पता चला है कि चिम्पांजी और मानव के 97.7 प्रतिशत डी० एन० ए० इतने समान हैं कि वे एक जैसे ही माने जाते हैं जबकि चिम्पांजी और मानव

विकास के क्रम में आज से लगभग 15 मिलियन वर्ष पूर्व अलग हुए। इस 15 मिलियन वर्षों की लम्बी कालावधि में आज भी मानव और चिम्पांजी ज्यों के त्यों एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में बिना किसी परिवर्तन के चले आ रहे हैं। क्या यह इस बात का प्रमाण नहीं है कि विकास की गति धीमी होती है ?

निस्संदेह विकास समस्त जीवविज्ञान का केन्द्रबिन्दु है। विकास को समझना मानव के लिए अपने आपको समझना है। इस बात को जानना है कि इस प्रकृति में उसकी स्वयं की क्या स्थिति है। हम विकासवाद के विभिन्न सिद्धान्तों में जितने ही गहरे पैठते हैं हमें डार्विन के विकास-संबंधी मूल विचारों की सत्यता और चिंतन की ऊँचाइयों का उतना ही अधिक बोध होता है।]

अब आठवें वर्ष में -

वन अनुसन्धान एवं महाविद्यालय, देहरादून के

अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार, 1985

वानिकी विषयों पर मूलतः हिन्दी में लिखित वैज्ञानिक

व तकनीकी ग्रन्थों और लेखों को देय

ग्रन्थ पुरस्कार—श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार 5,000 रु०, उत्तम लेखन पुरस्कार पुरस्कार 3,000 रु०

सराहनीय लेखन पुरस्कार 1,000 रु०

लेख पुरस्कार श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार 500 रु०, उत्तम लेखन पुरस्कार 350 रु०

सराहनीय लेखन पुरस्कार 200 रु०, प्रोत्साहन पुरस्कार — 100 रु०

प्रविष्टियाँ 31 जुलाई 1985 तक स्वीकार्य

विहित आवेदन प्रपत्र, नियम व विवरण अपना पता लिखा व बिना टिकट लगा 10 से०मी० X 25 से०मी० आकार का लिफाफा भेजने पर निम्न से 15 जुलाई 1985 तक प्राप्य।

दुर्गाशंकर भट्ट

सचिव, अ० भा० वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना

वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, डा० घ०, न्यू-फारेस्ट (देहरादून) 248006

आयन विनिमय

डॉ० अशोक महान

प्रवक्ता, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

आजकल आयन विनिमय एक प्रभावी विधि के रूप में जानी जाती है। यह प्राकृतिक प्रतिभास है और प्रकृति में यह निर्जीव मृदाओं बालुओं तथा शैलों एवं जीवित अवयवों में देखा जाता है। इसका अन्वेषण बहुत पुराना है जबकि अर्स्तु के काल में पीने के पानी को बालू द्वारा मृदु किया जाता था। यह विधि प्रयोगशाला से लेकर बड़े-बड़े कलकारखानों में उपयोगी है। जैसा कि इसके नाम से इंगित होता है इसमें समान आवेश वाले आयनों का विनिमय एक प्रावस्था (फेज) से दूसरी प्रावस्था में (द्रव से ठोस या इसके विपरीत) होता है। विनिमय प्रक्रम में एक प्रकार के आयन अपनी पूर्व प्रावस्था (द्रव) से हटकर दूसरी प्रावस्था (ठोस) के आयनों (भिन्न प्रकार के किन्तु समान आवेश वाले) की जगह ले लेते हैं फलतः पहली प्रावस्था में दूसरी प्रावस्था के आयन आ जाते हैं। पूरी प्रक्रिया में आवेश-सन्तुलन एवं अनाविष्टता नियमित रूप से लागू होती है। इसी कारण यह क्रोमैटोग्राफी के अन्तर्गत होते हुये भी थोड़ी भिन्न है। चूंकि आयन दो तरह के होते हैं धनायन तथा ऋणायन, अतः आयन विनिमय या तो धनायन विनिमय होता है या ऋणायन विनिमय। अधिकतर दो प्रावस्थाओं में ठोस-प्रावस्था वाला पदार्थ (अकार्बनिक या कार्बनिक) ही आयन विनिमय गुण वाला होता है। यह पदार्थ संकर (जटिल) या बहुलक आयनी यौगिक होता है और ठोस गतिशील प्रावस्था का कार्य करता है जिसमें बृहत् आव्यूह या प्राधार (धनात्मक या ऋणात्मक) के विशेष स्थलों पर गतिशील धनायन (धनायन विनिमायक) या

ऋणायन (ऋणायन विनिमायक) जुड़े रहते हैं। धनायन विनिमय में दोनों धनायन तथा ऋणायन विनिमय में दोनों प्रकार के ऋणायन प्रतिआयन कहलाते हैं, तथा अतिरिक्त अवशोषित प्रतिआयनों हेतु जो विपरीत आवेश वाले आयन प्राधार में आ जाते हैं उन्हें सह-आयन कहते हैं।

प्रारम्भिक आयन विनिमायक या तो प्राकृतिक सिलिकेट जैसे मॉन्टमॉरिलोनाइट मृत्तिका ('फूलर' या मुल्तानी मिट्टी) या संश्लेषित एल्यूमिनोसिलिकेट थे। इनके अतिरिक्त अनेक अन्य मान्य आयन विनिमायक मृत्तिकाएँ, ग्लौकोनाइट, तथा ह्यूमिक अम्ल आदि भी इस प्रकार के हैं। जल मृदुकरण में विभिन्न मृदाओं, जियोलाइट, या परम्यूटिड का उपयोग विनिमायक के रूप में हुआ है तथापि सैद्धान्तिक पहलुओं को बहुत बाद में परखा गया। वर्तमान दशकों में इस विषय ने तेज प्रगति की है और इस विधि को आधुनिक तकनीकी के रूप में व्यवहृत किया जाने लगा है।

सन् 1903 में हार्म तथा रूम्प्लर ने सम्भवतः प्रारम्भिक एवं परम्यूटिड प्रारूप वाले संश्लेषित तथा औद्योगिक आयन विनिमायक का निर्माण किया, किन्तु उसकी उपयोगिता सीमित थी। ऐडम्स तथा होम्ज (1935) ने ग्रामोफोन रिकार्ड के चूर्ण में आयन विनिमय गुण देखे और कार्बनिक आयन विनिमायकों की नींव डाली। संश्लेषित कार्बनिक रेजिन (आयन विनिमायक बहुलक) अपेक्षाकृत श्रेष्ठ आयन विनिमयगुणयुक्त होते हैं, तथा आवश्यकतानुसार संश्लेषण विधि में परिवर्तन द्वारा इनके गुणों को सुधारा जा सकता है।

आयन विनिमायक विनिमय धनायन या ऋणायनयुक्त (प्रतिआयन) अवलनशील ठोस हैं; और उपयुक्त आयनिक घोल के सम्पर्क में आने पर तुल्य मात्रा में समान आवेश वाले दूसरे आयनों (प्रतिआयनों) का विनिमय कर सकते हैं। साधारणतया आयन विनिमय एक उत्क्रमणीय प्रक्रम है तथा सम्पोषण हेतु पुनः विनिमय भी सम्भव है।

यद्यपि आयन विनिमय शोषण से मिलता-जुलता है क्योंकि दोनों में घुली हुई स्पीशीज ठोस प्रावस्था में ले ली जाती हैं तथापि आयन विनिमय एक स्टॉइकियोमीट्री प्रक्रम है जबकि शोषण नहीं है। शोषण में आयन विनिमय की ठोस प्रावस्था में लिये गये विलेय का स्थान अन्य स्पीशीज द्वारा नहीं लिया जाता। जब आयन विनिमायक किसी विद्युत्-अपघटीय घोल के संयोग में आता है तो प्रतिआयनों का विनिमय होने लगता है, और अनुकूल समयान्तराल में 'आयन विनिमय साम्य' स्थापित हो जाता है। दोनों प्रकार के प्रतिआयन विनिमायक एवं घोल में साम्यावस्था में आ जाते हैं किन्तु यह आवश्यक नहीं कि दोनों प्रकार के प्रतिआयनों के सांद्रण अनुपात दोनों प्रावस्थाओं में एक ही हो। इसके साथ-साथ विनिमायक में विलेय सहित विलायक का भी शोषण होता है। फलस्वरूप विनिमायक में 'फुल्लन' हो जाता है। इस तरह शोषित विलेय का वितरण भी विनिमायक के अन्तराल 'छिद्र द्रव' तथा बाहरी घोल के बीच होता है। कार्बनिक आयन विनिमायक रेजिन के लिये फुल्लन एवं शोषण साम्यों का विशेष महत्व है क्योंकि इनमें इन प्रतिभासों को सुस्पष्टरूप में तथा प्रारम्भ में देखा गया था।

आयन विनिमायक एक विशिष्ट संरचना से युक्त होते हैं जिनका आव्यूह या प्राधार स्थिर वैद्युत्बल या जालक ऊर्जा द्वारा संयोजित रहता है। प्राधार पर अतिरेक धनात्मक या ऋणात्मक

विद्युत् आवेश होता है जो आव्यूह के मुक्त संचालित प्रति आयनों द्वारा पूरित होता है। धनायन विनिमायक के प्राधार को भीमाणु या क्रिस्टलीय पॉलिऐनियन तथा ऋणायन विनिमायक के प्राधार को भीमाणु या क्रिस्टलीय पॉलिकेटियन माना जा सकता है। सरलरूप में आयन विनिमायक की तुलना एक स्पंज से की जा सकती है जिसमें प्रतिआयन अंतरालों (छिद्रों) में मँडराते रहते हैं। जब इस स्पंज को किसी घोल में डुबाया जाता है तो प्रतिआयन अंतरालों से बाहर आकर विनिमय प्रक्रम में भाग लेने लगते हैं और साथ ही साथ वैद्युत् उदासीनता बनाये रखते हैं। इस मॉडल के अनुसार 'आयन विनिमय क्षमता' एक स्थिरांक है जो पूर्णतः प्राधार के आवेश परिमाण से सम्बद्ध है और प्रतिआयनों के स्वभाव से स्वतंत्र होती है। अतः आयन विनिमय प्रतिआयनों का बाह्य घोल तथा बराह अंतराल द्रव के मध्य अनिवार्य सांख्यिकीय पुनर्वितरण है। सैद्धान्तिक रूप में आयन विनिमायक एक स्पीशीज को दूसरी की अपेक्षा ज्यादा वरीयता देता है जिसके निम्नलिखित उपादान हो सकते हैं—

(क) आवेशीय प्राधार तथा प्रतिआयनों के बीच स्थिर वैद्युत् अन्योन्यक्रियाएँ प्रतिआयनों के आकार एवं संयोजकता पर निर्भर करती हैं।

(ख) स्थिर वैद्युत् बलों के साथ-साथ आयनों एवं उनके परिसर की अन्य अन्योन्यक्रियाएँ भी प्रभावक होती हैं।

(ग) बड़े प्रतिआयन विनिमायक के संकीर्ण छिद्रों से त्रिविम द्वारा बहिष्कृत हो जाते हैं।

आयन विनिमय साम्यों में अनेक राशियाँ आवेष्टित होती हैं जो इसके निगमन या अभिलक्षणन में प्रयुक्त होती हैं।

1. आयन विनिमय समतापी रेखांकन (आलेखन) : ये आयन विनिमायक के आयनिक

संयोजन को प्रायोगिक अनुबन्धनों के फलन के रूप में प्रदर्शित करता है।

2. वियोजन गुणक : प्रायः इस गुणक द्वारा आयन विनिमायक में दो प्रकार के प्रतिआयनों में से एक की वरीयता व्यक्त की जाती है। कालम निष्पादन गणना के लिये यह राशि व्यावहारिक महत्व की है। ये आयन विनिमायक एवं घोल में प्रयुक्त दोनों प्रकार के प्रतिआयनों के सान्द्रण अनुपातों की ज्ञप्ति है। यदि वरीय प्रतिआयन संयुक्त होते हैं तो इसका मान इकाई से अधिक होगा अन्यथा कम (जिसे व्यत्क्रमित निर्दिष्ट करते हैं)।

3. वरणात्मक गुणांक : वियोजन गुणक के बजाय इस गुणांक का उपयोग आयन साम्यों के वर्णन हेतु अधिकतर होता है। इसे मोललताओं या मोलरताओं (या तुल्य आपनिक प्रभाजों) के

पदों में व्यक्त किया जाता है। वरणात्मक गुणांक स्थिरांक नहीं होता बल्कि प्रायोगिक दशाओं पर निर्भर करता है। दोनों में मूलभूत फर्क यह है कि वरणात्मक गुणांक में संयोजकताएँ छातांक होती है। इसीलिये वियोजन गुणक इस गुणांक से सामान्यतः भिन्न होता है यदि होड़ वाले प्रतिआयनों की संयोजकताएँ समान नहीं होती हैं।

4. वितरण गुणांक : नियत व्यावहारिक उपयोगिताओं में आयन विनिमय साम्य प्रतिआयनों के वितरण गुणांक के पद में व्यक्त किया जाता है। इसे भी मोललताओं या मोलरताओं में अभिव्यक्त करते हैं। व्यावहारिक गणनाओं में वितरण गुणांक को दोनों प्रावस्थाओं के इकाई परिमाणों (प्रतिग्राम विनिमायक एवं प्रति मि० ली० घोल) में विद्यमान प्रतिआयनों के अनुपात में निरूपित किया जाता है। □

सूचना

विज्ञान परिषद् की अन्तरंग सभा ने विज्ञान लेखन/सम्पादन के क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवा के लिए निम्नलिखित 12 विज्ञान सेवियों को सम्मानित करने का निश्चय किया है। यह सम्मान समारोह अक्टूबर 1985 तक सम्पन्न होगा।

श्री विश्वनाथ प्रसाद 'गुप्तबन्धु' (दिल्ली), श्री गुणाकर मुले (दिल्ली), श्री प्रेमानन्द चन्दोला (दिल्ली), डॉ० श्यामलाल काकानी (राजस्थान), श्री देवेन मेवाडी (लखनऊ), डॉ० ओउम् प्रभात अग्रवाल (कुरुक्षेत्र), श्री विष्णुदत्त शर्मा (दिल्ली), श्री श्यामसुन्दर शर्मा (दिल्ली), श्री डी० एन० भटनागर (दिल्ली), श्री रामधनी द्विवेदी (इलाहाबाद), डॉ० भानुशंकर मेहता (वाराणसी), डॉ० रमेश-चन्द्र कपूर (जोधपुर)।

—प्रधान मन्त्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

भारत में पर्यावरण के प्रति चेतना जाग्रत करने में जन-आन्दोलनों की भूमिका

विजय जी

जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद-212106

भारत जैसे विकासशील देश में, जहाँ औद्योगीकरण अपेक्षाकृत काफी बाद में हुआ, पर्यावरणीय संकट भी काफी बाद में प्रकट हुये। लेकिन देश के सजग वैज्ञानिक, बुद्धिजीवी और लेखक वर्ग ने समय रहते भावी संकट को पहचान लिया। इन्हीं के सद्प्रयासों से देश के विभिन्न हिस्सों में पर्यावरण व प्रदूषण से सम्बन्धित अनेक जन-आन्दोलन हुये और हो रहे हैं। यह आन्दोलनों का ही कमाल है कि पिछले चार-पाँच वर्षों में ही देश में पर्यावरण के प्रति जितनी चेतना विकसित हुई, वह जपने आप में एक उपलब्धि है।

मिट्टी बचाओ अभियान

मध्य प्रदेश के होशंगाबाद जिले की नदी नर्मदा की सहायक तवा पर करीब 3 अरब रुपये की लागत से बाँध बनाया गया है। चारों ओर नहरों का जाल बिछाया गया पर यहाँ की गहरी काली मिट्टी में नहरों से पानी के रिसन की समस्या भी काफी गंभीर हो गयी है। बाँध बनाने वालों ने माना था कि यहाँ करीब 30 प्रतिशत रिसन होगा लेकिन डॉ॰ भूमला जैसे कृषि-विशेषज्ञ ने यहाँ का दौरा करने के बाद बताया कि यहाँ 60 प्रतिशत से भी अधिक रिसन हो रहा है।

एक रिपोर्ट के अनुसार तवा कमाण्ड के

285 गाँवों में से 150 जलभराव व रिसन के शिकार हैं। फसल-चक्र चौपट हो चुका है। दलहन का तो खात्मा हो चुका है। हाँ सोयाबीन जैसी व्यापारिक फसलें जरूर आ गयी हैं जो जिले में ही बनी एक फैक्टरी के लिये उपजाई जा रही हैं। पुराने बीजों की जगह को अब नये बीजों ने ले लिया है। इन्हीं सारे खतरों को भांप कर 1977 से ही कुछ सामाजिक कार्य-कर्त्ताओं और पीड़ित किसानों ने 'ग्राम सेवा समिति' नाम की संस्था बनाकर 'मिट्टी बचाओ अभियान' शुरू कर दिया। इससे देश के अन्य भागों में भी विशाल जल-योजनाओं से लोगों का भ्रम टूटा है और लघु योजनाओं के प्रति अच्छा वातावरण बना है।

स्वच्छ गंगा अभियान

करोड़ों धर्मप्राण जनता की अमृतमयी माँ गंगा बड़े-बड़े शहरों का कूड़ा, कचरा, गन्दगी और कारखानों का जहर ढोने वाली सीवर बन गयी हैं। इसके बावजूद भी आज कितने अंध-भक्त हैं जो कहते हैं कि गंगा का पानी कभी अशुद्ध हो ही नहीं सकता। केन्द्रीय जल प्रदूषण निवारण व नियन्त्रण केन्द्र द्वारा किये गये एक परीक्षण रिपोर्ट में कहा गया है कि गंगा के किनारे बसे किसी भी शहर में गन्दे पानी के उप-चार का सयन्त्र नहीं है। 48 प्रथम श्रेणी व

66 द्वितीय श्रेणी के शहर अपना गन्दा पानी ज्यों का त्यों गंगा में डाल देते हैं। डी० डी० टी०, उर्वरक, चमड़ा, कागज और लुग्दी तथा पेट्रो-केमिकल के हजारों कारखाने गंगा के किनारे स्थापित किये गये हैं। इन कारखानों का दूषित जल लगातार गंगा के जल में मिल रहा है। तेल, शोधक कारखानों के अवशेष तो इतने अधिक हैं कि 1968 में मुंगेर के पास तो गंगा में आग ही लग गयी थी। पहले ही प्रदूषित इस जल में धार्मिक भावना के कारण जब लाखों करोड़ों लोग स्नान करते हैं तो यह और भी प्रदूषित हो जाता है। प्रदूषण के कारण गंगा में जगह-जगह मछलियों की सामूहिक मौतों की सूचना मिलती रहती है। जगह-जगह जल इतना प्रदूषित हो चुका है कि वहाँ आम आदमी को नहाने धोने तक से रोका जा रहा है।

बनारस के 'संकटमोचन फाउंडेशन' ने गंगा को बचाने के लिये वैज्ञानिक, तकनीकी व धार्मिक माध्यम से प्रदूषण की समस्या को जन-जन तक पहुँचाने का बीड़ा उठाया है। इस सिलसिले में गठित 'स्वच्छ गंगा अभियान समिति' ने जनजागरण पखवाड़ा, गोष्ठियों, लेखों दीवार लेखन, पोस्टर, स्लाइड आदि के माध्यम से प्रदूषण के खिलाफ जनजागरण का काम शुरू कर दिया है। शीघ्र ही यह समिति गंगा में तैरता हुआ एक 'बजरा' स्थापित करेगी जो अपने किस्म का पहला तैरता हुआ सूचना केन्द्र होगा। इसमें गंगा के पर्यावरण व प्रदूषण से सम्बन्धित वैज्ञानिक तथ्य, विभिन्न तकनीकी अध्ययन, चित्र, नक्शे व गंगा से सम्बन्धित धार्मिक साहित्य रखा जायेगा। फाउंडेशन गंगा से सम्बन्धित नियमित बुलेटिन, लोकगीत और नाटक आदि की भी योजना बना रहा है।

भागलपुर में एक और आन्दोलन 'गंगा मुक्ति अभियान' चल रहा है। यहाँ गंगा पर सुलतानगंज से पीरपैती तक दो जमींदारों का

कब्जा है। क्षेत्र के 65 गाँवों के करीब 40000 मछुआरे इन जमींदारों के शोषण के शिकार हैं। 'छात्र युवा संघर्ष वाहिनी' ने इन मछुआरों को जमींदारों के खिलाफ संगठित किया है। जमींदार के खिलाफ संगठित यह आन्दोलन अब प्रदूषण को भी अपना एक मुद्दा बना चुका है। यहाँ एक विशाल ताप बिजलीघर बनने वाला है जिसका सारा कचरा गंगा में बहाया जायेगा। इससे गंगा जल का ताप और प्रदूषण बढ़ जायेगा जिससे गंगा की मछलियाँ मर जायेंगी। बिजलीघर बन्द करने और भागलपुर शहर के कचरे की सफाई की माँग जोर पकड़ती जा रही है।

नर्मदा बचाओ अभियान

इस समय देश की सभी नदियाँ प्रदूषित हो चुकी हैं। लेकिन प्रदूषण के खिलाफ केवल गंगा और नर्मदा के किनारे ही जनजागरण अभियान अभी तक शुरू हो पाये हैं। नर्मदा के किनारे 45000 आबादी वाला होशंगाबाद शहर है। यहाँ का सेठानी घाट काफी सुन्दर है। यहाँ रोज शहर और बाहर के हजारों तीर्थ-यात्री स्नान करते हैं। लेकिन सेठानी घाट के ठीक अपर कोरी घाट पर करीब 8000 आबादी की गंदगी नर्मदा में मिलती है। इसके आलावा भी अन्य नालों से सारे शहर की गंदगी नर्मदा में मिलती है।

1979 से ही यहाँ के नागरिकों ने 'नर्मदा बचाओ अभियान' शुरू किया है! शुरू में प्रशासन को ज्ञापन दिये गये। फरवरी 1980 में होशंगाबाद के हजारों नागरिकों के हस्ताक्षर से एक ज्ञापन राष्ट्रपति के पास भेजा गया। इस अभियान में शुरू से ही धार्मिकता का पुट है। बाद में इस अभियान ने 'नर्मदा जयंती उत्सव समिति' का रूप ले लिया। तब से अब तक हर साल बड़े पैमाने पर नर्मदा जयंती मनाई जाती है।

इस जयंती में प्रान्त व देश के राजनीतिज्ञ आमंत्रित किये जाते हैं। हजारों के जनसमूह के सामने नर्मदा को प्रदूषणमुक्त करने की माँग दोहराई जाती है। अन्य धार्मिक व सांस्कृतिक कार्यक्रम भी होते हैं।

अभियान का सार्थक असर भी हुआ है। कोरी घाट नाले से प्रदूषण रोकने के लिये शासन ने 11 लाख रुपये की एक योजना स्वीकृत की है। योजना के अनुसार कोरीघाट नाले का गंदा पानी 3000 एम. एम. व्यास वाले पाइप से बहाकर निथारने के बाद भीलपुरा के पास नदी में मिला दिया जायेगा।

खामोश घानी या साइलेंट वैली रक्षा अभियान

कहा जाता है कि जब पांडवों को 13 वर्ष का अज्ञातवास दिया गया था तो वे सुदूर केरल के उन घने और बीहड़ जंगलों में छिप गये थे जहाँ किसी का पहुँचना बहुत मुश्किल था। पांडवों ने इस बीहड़ को अपनी पत्नी द्रौपदी के दूसरे नाम सैरन्ध्री के आधार पर सैरन्ध्री वन रखा था। इसी सैरन्ध्री वन को आजकल साइलेंट वैली या खामोश घाटी कहते हैं। कहा जाता है कि यह दुनिया के प्राचीनतम वनों में से एक है। यह वन नाना प्रकार के पेड़-पौधों, जड़ी-बूटियों, पशु-पक्षियों का बेजोड़ संग्रहालय है। 'बोटैनिकल सर्वे आफ इंडिया' के अनुसार इस घाटी के बाहरी भाग से लिये गये एक सरसरी अध्ययन से ही 900 से अधिक किस्मों की जड़ी-बूटियों व फूल के पौधों का पता चला है। 'जूलॉजिकल सर्वे आफ इंडिया' ने यहाँ पर अनेक दुर्लभ जीव जन्तुओं का पता लगाया है। इनमें तितलियों, पक्षियों, मछलियों उभयचरों, रेंगनेवालों और स्यनपायी प्राणियों के नाना प्रकार हैं। संसार भर में दुर्लभ शेर जैसी पंछ वाला मकाक बंदर, बाघ और नीलगिरि थार यहाँ मिलते हैं।

साइलेंट वैली से होकर एक नदी कुंतीपूला बहती है। कहते हैं इस नदी का नाम पांडवों की माँ कुन्ती के नाम पर पड़ा है। सरकार ने इस नदी पर 130 मीटर ऊँचा बाँध बनाकर एक विद्युत् परियोजना स्थापित करने का निश्चय किया है। लेकिन जहाँ पर परियोजना स्थापित करने की बात सोची जा रही है वहीं पर सबसे घना वन प्रदेश है। यह स्थान अभी भी नदी सभ्यता से एकदम अछूता है। यदि यह बाँध बन गया तो केवल केरल ही नहीं पूरे दक्षिण भारत के पर्यावरण पर खराब असर होगा। वन तो नष्ट हो ही जायेगा।

साइलेंट वैली बाँध के विरोध में बहुत बड़ी संख्या में संस्थाएँ व व्यक्ति एक मंच पर आये। उनमें से कुछ प्रमुख हैं, केरल शास्त्र साहित्य परिषद्, राष्ट्रीय पर्यावरण योजना समिति, बम्बई नेचुरल हिस्ट्री, इंटरनेशनल यूनियन फार कन्जर्वेशन आफ नेचर, विभिन्न अखबार आदि। इनमें 'केरल शास्त्र साहित्य परिषद्' एक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक संस्था है जिसने शिक्षण के सम्बन्ध में लोक आन्दोलन छड़ रखा है। यह प्रत्येक वर्ष एक 'शास्त्र कला यात्रा' आयोजित करती है जो नाटक जैसी विधाओं के जरिये जनता में वैज्ञानिक चेतना विकसित करती है।

चिपकों आन्दोलन

वनों व वृक्षों के विनाश का दुष्प्रभाव हर जगह प्रकट हो रहा है। लेकिन उत्तराखण्ड में वन-विनाश ने तो तबाही ही मचा दी है। हर साल बरसात के महीनों में भूस्खलन और अपार धन-जन की हानि आम बात हो गयी है। हिमालय नंगा होता जा रहा है। वहाँ की मिट्टी कट कट कर नदियों के तल को ऊँचा उठा रही है जिसके परिणामस्वरूप भयंकर बाढ़ें देश के लिये अभिशाप बन गयी हैं। पहाड़ के लोग

खासकर महिलायें ईश्वन इकट्ठा करने के लिये दिन-दिन भर पहाड़ियों में घूमती हैं। लकड़ी दुर्लभ होती जा रही है। प्रसिद्ध सर्वोदयी नेता सुन्दर लाल बहुगुणा, चण्डीप्रसाद भट्ट, दयौली ग्राम स्वराज्य मण्डल, उत्तराखण्ड संघर्ष वाहिनी, ने उपरोक्त समस्या की ओर पहाड़ के लोगों का ध्यान खींचा है।

26 मार्च 1974 को चमोली के रेती गाँव में पेड़ों को काटने के लिये जब ठेकेदार पहुँचे तो गाँव की 27 महिलायें पेड़ों से चिपक गयीं। पेड़ों की सुरक्षा में छेड़ा गया यह आन्दोलन 'चिपको आन्दोलन' के नाम से विख्यात हुआ।

उपरोक्त संस्थाओं व व्यक्तियों के अलावा हजारों युवक-युवतियों ने गाँव-गाँव घूमकर वृक्षों के प्रति चेतना विकसित की है। आन्दोलन का प्रभाव रहा है कि 9 मई 1974 को उत्तर-प्रदेश सरकार ने एक उच्चस्तरीय जाँच कमेटी की स्थापना की। समिति ने अक्टूबर 1976 में दी गयी अपनी रिपोर्ट में कहा कि 1200 वर्ग किमी० के क्षेत्र में व्यवसायिक वन कटाई पर 10 वर्ष तक प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। समिति ने यह सुझाव भी दिया की शुद्धस्तर पर वन-रोपण का कार्यक्रम चलाया जाय।

प्रदूषण के खिलाफ शहरी आन्दोलन

प्रदूषण से सर्वाधिक प्रभावित देश के नगर व महानगर हैं। वाहनों व कारखानों के निकले धुएँ, धूल और गंदी नालियों ने शहरों को साक्षात् नरक में बदल दिया है। हर बड़े शहर में बुद्धिजीवी लोगों व वैज्ञानिकों ने प्रदूषण के खिलाफ कुछ न कुछ करने का बीड़ा उठा लिया है।

महानगर बंबई में ऐसे भी क्षेत्र हैं जहाँ की आवादी की सघनता विश्व भर में सबसे ज्यादा है। यहाँ पर्यावरण की रक्षा के लिये सर्वप्रथम 'बम्बई बचाओ समिति' बनी। बाद में 'सोवलीन' जैसी संस्थाएं आयीं। 'सोवलीन' में तो बंबई के भाभा परमाणु केन्द्र के अनेक वैज्ञानिक भी हैं। 'एनवायरमेंटल एक्शन ग्रुप' अनेक संस्थाओं का मिला जुला मंच है जिसमें 'फ्रेन्ड्स आफ द ट्रीस', 'बाम्बे सिविक ट्रस्ट' आदि हैं। इन संस्थाओं ने थाल वाइसट के रासायनिक खाद कारखाना, नावाद्वीप में तेल व प्राकृतिक गैस आयोग को अपना निशाना बनाकर प्रदूषण के खिलाफ जनचेतना जाग्रत की।

दिल्ली में 'कल्पवृक्ष' नाम का एक छात्र संगठन है जिसने स्कूलों में छात्रों को पर्यावरण के प्रति चेतना विकसित करने, दिल्ली के प्रमुख मार्गों से पेड़ गिराये जाने वा यमुना के प्रदूषण के खिलाफ अभियान चलाये हैं। 'फारेस्ट लवर्स एक्शन ग्रुप' भी दिल्ली में इसी तरह के कार्य कर रही है। अहमदाबाद में 'द अहमदाबाद स्टडी एक्शन ग्रुप', 'विकास' और 'विक्रय', 'साराभाई सेन्टर फार डेवलपमेंट इंट्रीगेशन' संस्थायें कार्यरत हैं। मद्रास में 'द मद्रास एनवायरमेंटल ग्रुप', 'द सेन्टर फार लीगल एक्शन', 'अरण्यम्' और द मद्रास नेचुरलिस्ट सोसायटी' पर्यावरण की सुरक्षा सम्बन्धी मुख्य संस्थाएं हैं। इसी तरह देश के अन्य शहरों में तेजी से चेतना विकसित हो रही है। वह दिन दूर नहीं जब गाँवों व शहरों का एक-एक आदमी आदमी प्रदूषण के खिलाफ खड़ा हो जायेगा तब निश्चित ही हमें शुद्ध पर्यावरण मिल सकेगा। □

पर्यावरण, वनस्पति और जीव-जंतुओं के विरुद्ध बहुराष्ट्रीय निगमों का युद्ध

डॉ० इवान इवानोव

संयुक्त राष्ट्र विशेषज्ञों का कहना है कि बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्रवाइयों से विकासशील देशों में पर्यावरण को निस्संदेह हानि पहुँचाती है। यह पर्यावरण की रक्षा और दुबारा इस्तेमाल किए जाने वाले साधनों की रक्षा की माँगों के विपरीत है। बहुराष्ट्रीय निगम विकासशील देशों में स्पष्टतया दोहरे मानदंड अपना रहे हैं जिससे पर्यावरण को बड़ी क्षति पहुँच रही है। उदाहरण के लिए, पश्चिमी देशों में खनन के साथ भूमि का विकास भी आवश्यक है। पश्चिम जर्मनी में भूरे कोयले की खानों को पाट कर वहाँ नए गाँव, पार्क और संरक्षण-क्षेत्र बनाए गए हैं। लेकिन नामीबिया में वही खनन कंपनियाँ चट्टानों के ढेर के ढेर पड़े रहने देती हैं।

औद्योगिक, पश्चिमी देशों में पेड़ों की कटाई असंभव या बड़ी मंहगी है। इसीलिए बहुराष्ट्रीय निगम विकासशील देशों में प्रतिवर्ष 1.1 करोड़ हेक्टेयर क्षेत्र में पेड़ों की कटाई का काम करते हैं। फ्रांस के अखबार "ल मांद दिप्लोमैती" के अनुसार इमारती लकड़ी प्राप्त करने या निर्यात वाली फसलें उगाने के उद्देश्य से जंगलों की सफाई यदि न रुकी तो 2000 से पहले ही हिमालय की तराई, मलेशिया और फिलीपीन में आर्द्र उष्णकटिबंधी लकड़ी समाप्त हो जाएगी।

बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्रवाइयों से वनस्पति को ही नहीं, जीव-जंतुओं को भी नुकसान पहुँचता है। व्यापारिक उद्देश्यों के लिए हाथियों और घड़ियालों की हत्या पर प्रतिबंध है लेकिन हर वर्ष पूंजीवादी बाजार में अफ्रीकी हाथी के करीब 700 टन दाँत बेचे जाते हैं। 50,000

हाथियों की हत्या से ही यह संभव है। चमड़े के काम में लगी कंपनियाँ हर वर्ष 20 लाख घड़ियालों की खालों की सफाई करती हैं और वे इस व्यापार को छोड़ना नहीं चाहती। इस तर्क को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि सिर्फ शिकारी अवैध रूप से यह काम करते हैं। खबर है कि बेल्जियम की चर्चित "साबेना" विमान सेवा अवैध निर्यात का काम करती है। उसने अफ्रीका, मुख्य रूप से, जैरे और तांजानिया से हाथी के 300 टन दाँतों की तस्करी की है। इस तरह सम्बद्ध निगमों की पूंजी बढ़ती है और अंतर्राष्ट्रीय रेड डाटा बुक में नई प्रविष्टियाँ होती हैं।

विकासशील देशों में निचले स्तर पर प्रोसेसिंग उद्योग शुरू करने की बड़ी चर्चा चल रही है। इससे उनके औद्योगीकरण में कुछ योगदान हो सकता है लेकिन यह सब बहुराष्ट्रीय निगमों के नियंत्रण में हैं। उसके परिणामस्वरूप अनेक उद्योग इससे अछूते रह गए हैं और सम्बद्ध निगम जहाँ है वहीं उनका आधुनीकरण होगा। मुख्य रूप से "गंदे" अथवा पारिस्थितिकी के लिए खतरा उत्पन्न करने वाले कारखानों का ही स्थानांतरण होगा। उदाहरण के लिए दक्षिण-पूर्व एशिया और लैटिन अमेरिका को एस्वेस्टस का सामान, पारा और बेंजीन यौगिक बनाने वाले कारखाने स्थानांतरित किए जाएंगे। पश्चिम में प्रतिबंधित टेक्नोलॉजी को नवोदित देशों में स्थानांतरित कर देना तो नियम बन गया है।

इस प्रकार के "बहुराष्ट्रीय औद्योगीकरण"

वाले क्षेत्रों में नदियों और झीलों के प्रदूषण से जल का संकट उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए कोलंबिया की राजधानी बोगोटा में नदी का पानी दूषित बन गया और मृत्यु दर बढ़ने का यह प्रमुख कारण है।

बहुराष्ट्रीय निगमों के मूल देशों में प्रति-बंधित, स्वास्थ्य के लिए हानिकारक पदार्थों, सर्वोपरि रसायनों के विपणन से विकासशील देशों की जनता को नुकसान पहुँचता है। यह बात दवाओं पर तो खास तौर से लागू होती है। उदाहरण के लिए, बच्चों में भूख बढ़ाने के उद्देश्य से स्टेरॉयड की बिक्री की जाती है जबकि इससे मानव शरीर का सामान्य विकास प्रभावित होता है। कल्योकीनॉल से आँखों की रोशनी जाती रहती है लेकिन तंत्रिकांति में इसे दिया जाता है। मलेरिया के इलाज के लिए पाकिस्तान को “मलेशन” की सप्लाई हुई लेकिन वहाँ डाक्टर ही सबसे पहले भुगत गए। पेनांग, मलेशिया, स्थित उपभोक्ता संघ ने 44 हानिकारक दवाओं की सूची जारी की है। ये दवाएं औद्योगिक देशों में प्रतिबंधित हैं। अमेरिका की एलाइड, पश्चिम जर्मन की होश्ट, स्विटजरलैंड की होफमैन-ल रोश व अन्य कंपनियाँ विकासशील देशों को ये दवाएं सप्लाई करती हैं।

विषैले रसायनों के बारे में भी यही बात है। विकासशील देशों द्वारा इनका आयात आवश्यक है लेकिन उन पर कोई नियंत्रण नहीं

है। परिणामस्वरूप घाना में हेक्साक्लोरोबेंजीन से झील प्रदूषित हो गई। ईराक में मिथाइल-मर्करी मिले बीजों का खाद्य पदार्थ में स्तेमाल किया गया जिसे खाकर एक लाख लोग बीमार पड़ गए। “ल मांद डिप्लोमैती” ने लिखा है कि कुपोषण, पेय जल की कमी और सफाई के नियमों का पालन न करने से विकासशील देशों की जनता पर विषैले रसायनों का और बुरा असर पड़ रहा है। विकासशील देशों में विषैले रसायनों का सिर्फ 15 प्रतिशत आयात होता है लेकिन इन रसायनों से होने वाला विषाक्त प्रभाव विश्व के कुल प्रभाव का 50 प्रतिशत है।

दुनिया ने बहुराष्ट्रीय निगमों के भयानक अपराध देखे हैं। ब्राजील में अमेरिका की डाऊ केमिकल ने तुकुरुई नदी के बेसिन को रसायन डाल कर प्रदूषित कर दिया जिससे 7000 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई।

कुछ समय पहले भोपाल में भयंकर दुर्घटना हुई जहाँ विषैली गैस रिसने से 200 से अधिक व्यक्तियों की मृत्यु हो गई और करीब 100000 प्रभावित हुए। यह गैस अमेरिकी कंपनी, यूनियन कार्बाइड के प्लांट से रिसी। इस तरह हम देखते हैं कि बहुराष्ट्रीय निगमों की कार्यवाहियों से न सिर्फ पर्यावरण बल्कि मानव जीवन की भी बड़ी हानि होती है। □

(सोवियत समाचार से साभार)

जल-प्रदूषण निवारण में जलकुम्भी की महत्ता

डॉ० सुरेन्द्र कुमार गुप्त

वनस्पति विज्ञान विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-220015

जलकुम्भी (*Eichhornea crassipes*) पोण्टे-डैरियेसी (*Pontedariaceae*) कुल का एक बहुवर्षीय पौधा है। अधिकतर देशों में इसे अपने

दुर्गुणों एवं अनुपयोगिता के कारण जाना जाता है। भारत के दस प्रमुख अहितकारी एवं अनुपयोगी पौधों में जलकुम्भी सर्वोपरि है। यद्यपि

इसका जन्मस्थल दक्षिण अमेरिका है फिर भी यह सर्वव्यापी है। ब्राजील से भारत में सर्वप्रथम 1896 में आने के बाद यह 90 वर्षों की अल्पावधि में ही समूचे देश में फैल गया।

सीवेज निस्तारण एवं प्रदूषण समस्या

गाँवों और कस्बों की बात तो अलग, अधिक-तर शहरी क्षेत्रों में भी स्वच्छ पेयजल वितरण प्रणाली तथा गन्दगी निस्तारण पद्धति (Sewage Disposal System) उपलब्ध नहीं है। यहाँ तक कि देश के अधिकतर प्रथम श्रेणी के शहरों में भी उचित सीवेज एकत्रीकरण तथा उपचार (Sewage Collection and Treatment) का अभाव है जिसमें बंगलोर और अहमदाबाद को छोड़कर सभी प्रदेशों की राजधानियाँ भी सम्मिलित हैं। मद्रास, कलकत्ता, बाम्बे आदि शहरों में भी उपचार-क्षमता मात्र 25 से 50% तक ही सीमित है। विकास में अग्रणी दिल्ली की क्षमता 63% है। सर्वाधिक व्यवस्थित रूप से—बसी चंडीगढ़ में सीवेज-निकास की 100% व्यवस्था है किन्तु उपचार-क्षमता मात्र 25%। सम्मिलित तौर पर केवल प्रथम श्रेणी के शहरों में कुल जनसंख्या के 2/3 भाग सीवेज-निकासी, 5/6 भाग सीवेज-उपचार से वंचित हैं। उपचार पद्धति से उपेक्षित शहरों में मुख्य हैं—विशाखापटनम्, श्रीनगर, धनबाद, राँची, भोपाल, जबलपुर, गोरखपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, मिर्जापुर आदि। इन सुविधाओं के अभाव में अवशेष व्यर्थ-पदार्थ प्राकृतिक-जल में मिलकर उन्हें प्रदूषित करने का काम करते हैं। औसतन 0.5 कि०ग्रा०/व्यक्ति/प्रतिदिन उत्पादित असार-पदार्थ (Refuge) के अनुपात से दसलाख की आबादी वाले शहर में इसका उत्पादन 500 टन प्रति-दिन होगा।

आवासी क्षेत्र से निकसित जल प्रदूषित अवयव अनेकानेक हैं जिसमें मुख्य हैं जैविक

पदार्थ (Organic matter), नाइट्रोजन, फास्फोरस, सल्फर एवं पोटैश की प्रचुरता एवं अन्य ठोस पदार्थ। पदार्थों के सड़ने से सूक्ष्मजीवों का आमद बढ़ता है जिनमें अधिकांशतः रोग-जन्य होते हैं। इनके अतिरिक्त उद्योगों से भारी धातुओं, फिनॉल, वसा, क्षार, प्रोटीन, एल्केला-यड, स्टैरवायड तथा अन्य रासायनिक पदार्थों का निरन्तर प्रवाह प्राकृतिक जल-संचय में होता रहता है। कुल उद्योग में मात्र 1/5 ही स्व-उपचार पद्धति से पूर्ण है शेष तो अपने अवशेष सीधे जल में प्रवाहित कर पहले सतही और फिर भूमिगत जल को प्रदूषित करते रहते हैं।

प्रदूषण और स्वास्थ्य

रासायनिक जल प्रदूषक तत्त्व, सजीवों को विभिन्न प्रकार से नुकसान पहुँचाते हैं। कुछ कार्बनिक पदार्थ तो सीधे विष या कैंसर-जनक (Carcinogens) होते हैं और अन्य, जैविक-ऑक्सीजन की माँग (Biological Oxygen Demand) को बढ़ावा देता है अर्थात् जल में विलेय ऑक्सीजन की मात्रा में ह्रासकर जलीय जन्तुओं एवं वनस्पतियों में घुटन (Suffocation) द्वारा मृत्यु का कारण बनती है। साथ ही पेयजल को दुर्गन्धयुक्त बनाता है जो कम नुकसानदायक भले ही हो किन्तु अप्रिय स्वाद के कारण पीने के लिए अनैच्छिक अवश्यमेव होता है।

अकार्बनिक रसायन, जन्तुओं एवं वनस्पतियों को अनेक प्रकार से दुष्प्रभावित करते हैं। भारी धातुएँ जैवीय-संस्थानों में प्रवेश कर विभिन्न विकृतियाँ जैसे कैडमियम, क्रोमियम व सीसा कैंसरजनक होने के साथ गुर्दा-रोग, रक्तचाप या हाइपरटेंशन तथा अन्य हृदय-संचार विसंगतियाँ (Cardio-Vascular Disorders) उत्पादित करती हैं। चाँदी त्वचा पर नीला एवं भूरा विषमरंगता (Blue-Brown Skin Colouration) उत्पन्न करने के साथ सीमा से अधिक होने पर विषैला हो जाता है।

जल-प्रदूषण स्वास्थ्य विकृतियाँ उभारने के साथ अनेक परजीवी बीमारियाँ जैसे - मलेरिया, फाइलेरिया, कालरा, चेचक, पेचिस, पाइरिया, टी० बी०, टांसिलाइटिस, फैरिजाइटिस, त्वचारोग, जुकाम-खाँसी आदि का कारण बनती है ! भारत की लगभग 50% बीमारियाँ जलोत्पादित हैं। गाँव में मल-विसर्जन (खुले रूप में) द्वारा हो रहे जल-प्रदूषण से प्रायः 80% बच्चे और 50% प्रौढ़ परजीवी कृमि तथा सूक्ष्मजीवों (Helminths, Protozoa Bacteria etc) से उत्पन्न बीमारियों से ग्रसित रहते हैं, जिससे उदर-विकार (Gastrointestinal diseases) आम होती जा रही हैं क्योंकि मात्र 5% गाँव के आबादी को नल-जल की आपूर्ति हो पाती है शेष को अनौपचारिक सतही या भूमिगत जलों पर ही निर्भर रहना पड़ता है !

समस्या का आर्थिक महत्व

उपर्युक्त कथन स्पष्ट करता है कि सीवेज निस्तारण पद्धति एवं उपचार विलास की नहीं अपितु आवश्यकता है। आर्थिक रूप से केवल प्रथम श्रेणी के शहरों में सीवेज निकासी एवं उपचार हेतु अनुमानतः 1500 करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी, ऐसे में यदि उपनगर, कस्बे व गाँव सम्मिलित कर लिए जाँय तो धन की आवश्यकता कई गुना बढ़ जाती है। चालू पंचवर्षीय-योजना में निर्धारित धनराशि इस लगातार प्राकृतिक जल-संचय में प्रदूषणकारक-तत्व घोलते जायेंगे जब तक कि वे पीने व कृषि के लिए अनुपयुक्त न हो जाँय।

विचारणीय बात यह है कि एक तो आर्थिक तंगी दूसरे पेय एवं सिंचाई जल की भीषण आवश्यकता, ऐसे में इस क्षेत्र का उपेक्षित रहना स्वाभाविक है फिर भी समस्या की नाजुकता समझते हुए यथोचित विकल्प आपेक्षित है।

जलकुम्भी एक विकल्प

जलकुम्भी, कृषि, मत्स्यपालन, जल-निकास, सिंचाई, जल - क्रीड़ा, पेय - जल आदि में बाधक होता है। खेती हेतु भूमि को अनुपयोगी बनाकर यह देश की करोड़ों रुपयों की क्षति करता है। वरसात में पौधों की अीममिति वृद्धि के कारण यह समस्या और भी जटिल हो जाती है, यहाँ तक की इसका फँलाव धान के खेतों तक हो जाता है। पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, आसाम, हिमाचल प्रदेश और पंजाब जैसे प्रान्तों में शायद ही कोई जलाशय, गड्ढा या तलेय इससे बचा हो। इनके अतिरिक्त इसकी उपस्थिति नागालैण्ड, तमिलनाडु, त्रिपुरा, अण्डमान निकोबार, लक्षद्वीप, आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक आदि प्रदेशों में भी है। इससे कृषि व मत्स्य-उत्पादन में भारी गिरावट आती है।

जलकुम्भी में पुनरोत्पादन तथा वृद्धि की अद्भुत क्षमता होती है। पौधे का एक न्यून भाग बढ़त अल्प समय में पूरे फसल का रूप धारण कर लेता है जो 8-10 दिन में दुगुनी हो जाती है। इसका कायकी (Physiological) महत्व यह है कि यह खनिज पदार्थ, पोषक तत्व, भारी धातु, कार्बनिक व अकार्बनिक पदार्थ आदि का द्रुतगति से अवशोषण करता है, जिसे ऋणात्मक के रूप में स्वीकारा जाता है। कारण जिस जल में यह उगता है उसके पोषकतत्वों का चूसण कर सिंचाई-जल को कृषि-हेतु सार रहित (अनुपयुक्त) कर देता है। किन्तु इसका दूसरा पहलू, धनात्मक महत्व, घरेलू एवं औद्योगिक स्रोतों से हानिकारक तत्वों के अवशोषक के रूप में परिलक्षित होता है।

प्रचलित सीवेज उपचार प्रणाली से आंशिक प्रदूषक-तत्व ही अलग हो पाते हैं जिसमें अन्य विलेय पदार्थों के साथ भारी धातुओं का अलग-गाव मुश्किल है। रासायनिक-प्रक्षेपण, विद्युत-एकत्रीकरण (Electric-deposition), विलायक

शुद्धिकरण (Solvent extraction), परमाणु विनिमय (Ion exchange), सक्रिय कार्बन अवशोषण (Activated carbon absorption) के द्वारा भारी धातुओं को मुक्त किया जा सकता है। प्रत्युक्त उपर्युक्त प्रक्रिया अतिशय खर्चीला है और इस प्रकार औद्योगिक क्रान्ति से प्राकृतिक स्रोतों में भारी-धातुओं का अभाव शनैः शनैः बढ़ेगा।

प्रायोगिक पुष्टि के आधार पर यदि जल-कुम्भी को औद्योगिक व गृह-स्रोतों के निःस्त्राव पर उगाया जाय तो यह प्रदूषणकारक तत्वों का उचित मात्रा में अवशोषण कर रासायनिक उपचार की आवश्यकता को नकार देता है। परन्तु निःस्त्राव का किसी जलाशय में एकत्रीकरण, जलकुम्भी के समुचित विकास की दृष्टि से, अतिआवश्यक है। सघन जलकुम्भी की उपस्थिति में 0.5 हेक्टेयर भूमि के लैगून (Lagoon) पर 1000 आबादी से निस्तारित सीवेज का प्रतिदिन सफल उपचार सम्भव है। यह 75-90 प्रतिशत प्रदूषकतत्वों का निदान कर सकता है। जलकुम्भी के उपयोग से सीवेज निस्तारण एवं लैगून-भूमि में अभिवृद्धि, साथ-साथ सम्भव है। यदि औद्योगिक निःस्त्रावों का रासायनिक प्रक्रिया द्वारा शोधन किया जाय तो भी गन्दे-जल का समुचित शुद्धिकरण नहीं हो पाता; ऐसे में जलकुम्भी एक सस्ता एवं उच्च क्षमतामय विकल्प है। यह रेडियोधर्मी तत्वों का भी शोषण करने का गुण रखता है। अमेरिका में उपर्युक्त लाभ हेतु इस पौधे का सफल प्रयोग हो भी रहा है।

जलकुम्भी के उपयोग

एक बार उगने पर जलकुम्भी की कार्यक्षमता समिति समय तक ही होती है अतः नये पौधों के विकास हेतु पुराने पौधों की कटाई आपेक्षित है। काटकर अलग-अलग किये पौधों को

यथावत् छोड़ देने पर जीवाणु-विघटन के फल-स्वरूप अवशोषित पदार्थ मुक्त हो पुनः जल में प्रवेश कर जायेंगे। ऐसे में सावधानी बरतने के साथ-साथ कटे जलकुम्भी को अन्य तरीके से भी उपयोग में लाना वैज्ञानिक कुशलता होगी।

1. पशु-चारे में

प्रोटीन, खनिज-पदार्थ एवं लवण की प्रचुरता के कारण यह दूब घास के समकक्ष समझा जाता है तथा विकसित देश, अमेरिका में चारे के रूप में उपयोग भी किया जा रहा है।

2. उर्वरक में

यह एक उत्तम कार्बनिक उर्वरक का भी स्रोत है। कार्बन: नाइट्रोजन का अनुपात 23:1 होने के कारण इसे दलहन की (25:1) बराबरी प्राप्त है।

3. बायोगैस उत्पादन में

इसका उपयोग बायोगैस में होना, जीवाश्म-ईंधन का एक अच्छा विकल्प है। इस से विस्थापित गैस पूर्णतः गोबरगैस जैसी होती जिसमें 60-80% मीथेन होती है। यदि गोबर के साथ शुष्क जलकुम्भी का चूर्ण मिला दिया जाय तो बायोगैस उत्पादन में डेढ़ गुने की वृद्धि हो जाती है। एक कि० ग्रा० शुष्क जलकुम्भी से 374 लीटर बायोगैस उत्पन्न की जा सकती है तथा एक हेक्टेयर क्षेत्र से प्रतिदिन 600 कि० ग्रा० शुष्क जलकुम्भी। अतः 224400 लीटर बायोगैस प्रति हेक्टेयर प्रतिदिन प्राप्त होना सम्भव है।

निकिल एवं कैडमियम की उपस्थिति से बायोगैस में मीथेन का उत्पादन बढ़कर 93.1% हो जाता है। धातु-संक्रमित पौधों से गैस उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो जाती है अतः प्रदूषित क्षेत्र से एकत्रित जलकुम्भी बायोगैस उत्पादन में अधिक उपयोगी सिद्ध होगी।

4. बहुमूल्य धातुओं की पुनः प्राप्ति

जलकुम्भी द्वारा बायोगैस उत्पादन के साथ ही अन्य कई लाभ सम्भव हैं।

(अ) प्रदूषक तत्त्वों का जल एवं मृदा में पुनः प्रवेश रुक जाता है।

(ब) जलकुम्भी को क्रमशः काटते रहने से जलजन्य-रोग कारक जीव (मच्छर, मक्खी, कृमि तथा अन्य जीवाणु) का विनाश होता रहता है।

(स) बायोगैस उत्पादन के उपरान्त अवशेष राख से आवश्यक, उपयोगी एवं बहुमूल्य धातुओं एवं तत्त्वों का अलगाव कर उपयोग में लाया जा सकता है।

ईदृशः इसकी फसल के पुनरोद्भव एवं पुनर्बृद्धि के लिए समायानुसार बराबर काटते रहना अपेक्षित है और सुविधानुसार बायोगैस संयन्त्र में उपयोग अति लाभप्रद है।

अन्ततः गहरे हरे रंग की पत्तियों तथा बेंगनी रंग के फूलों से आच्छादित गन्दे नाले एवं तालाब ये पौधे अपनी गन्दगी छुपाते हैं अपितु ये जल-प्रदूषण-निवारण के साथ प्रकाश-संश्लेषण प्रक्रिया द्वारा वायुमण्डल से कार्बनडाइ-ऑक्साइड की मात्रा कम कर उसमें ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ाकर पर्यावरण के शुद्धिकरण का भी काम करते हैं।□

रेयॉन संयंत्रों से फैलता प्रदूषण

डॉ० ओमप्रभात अग्रवाल

730, देव कॉलोनी, रोहतक (हरयाणा)-124001

बढ़ते औद्योगीकरण के साथ-साथ देश में प्रदूषण के नये आयाम सामने आ रहे हैं। भोपाल त्रासदी इसी का चरम उदाहरण है। लगभग एक वर्ष से भी अधिक समय से भारत सरकार के श्रम मंत्रालय एवं पर्यावरण विभाग रेयॉन कारखानों से फैलते प्रदूषण से चिंतित हैं। श्रम मंत्रालय ने तो सभी राज्यों के मुख्यमन्त्रियों से भी इस बात की प्रार्थना की है कि जहाँ-जहाँ भी रेयॉन कारखाने हों, वहाँ-वहाँ फैक्ट्री के अन्दर तथा बाहर पर्यावरण को शुद्ध बनाये रखने के लिये समुचित व्यवस्था की जाय। स्मरणीय है कि विस्कोस रेयॉन के अनेक संयन्त्र मध्य प्रदेश में ग्वालियर एवं नागदा, केरल के माबूर, गुजरात में सूरत तथा महाराष्ट्र में बम्बई आदि नगरों में लगे हुए हैं। यहाँ के निवासियों ने शायद ही कभी सोचा होगा कि रेयॉन जैसी जनोपयोगी वस्तु के उत्पादन से भी प्रदूषण फैल सकता है। प्रदूषण कैसे फैलता है—इसे समझने

के लिये आइये पहले देखें कि रेयॉन है क्या और उसके उत्पादन की प्रक्रिया क्या है ?

रेयॉन मनुष्य द्वारा आविष्कृत सबसे पहला कृत्रिम रेशा है। वैसे इसे कृत्रिम रेशा कहना उचित नहीं है। रेशा तो यह प्राकृतिक ही है—वृक्षों के तनों में मिलने वाला सेल्यूलोज़ का रेशा। मानव तो इसे केवल इस प्रकार संवार देता है कि वह बढ़िया चमकदार कपड़ों की बुनाई के लिये इस्तेमाल हो सके। रेयॉन वस्त्रों की चमक के ही कारण पहले इसे कृत्रिम रेशम कह कर पुकारा जाता था। विस्कोस रेयॉन कहने का फैशन तो काफी देर में चला। सेल्यूलोज़ को रेयॉन में बदलने के लिये वृक्षों के तने की लुग्दी की परतें बना लेते हैं और फिर उन्हें कास्टिक सोडा के घोल में भिगो देते हैं। कुछ और प्रक्रियाओं से गुजारने के पश्चात् इस सेल्यूलोज़ की अभिक्रिया कार्बन डाइसल्फाइड नामक रासायनिक द्रव से कराई जाती है। अभिक्रिया

के फलस्वरूप सेल्यूलोज़, घोल के रूप में आ जाता है। घोल में यह सेल्यूलोज़ जैन्थेट के रूप में उपस्थित होता है। यही पदार्थ रेयॉन है। रेशों में बदलने के लिये इस घोल को अत्यन्त सूक्ष्म छिद्रों में से प्रेशर (दबाव) के साथ गुजारा जाता है। छिद्रों से निकलने वाली सेल्यूलोज़ जैन्थेट की अति बारीक फुहारें एक अम्लीय विलयन में गिरती हैं और गिरते ही रेशों का रूप ग्रहण कर लेती हैं। धोने और सुखाने के बाद ये रेशे वस्त्रों की बुनाई के लिये तैयार हो जाते हैं। कपड़े के साथ-साथ मोटरगाड़ियों के टायरों, होज पाइपों तथा फैक्ट्रियों में काम आने वाली बेल्टों के निर्माण में भी इनका उपयोग किया जाता है, यद्यपि धीरे-धीरे नायलॉन रेयॉन के रेशों को विस्थापित करता जा रहा है।

स्पष्ट है कि रेयॉन के उत्पादन में कार्बन डाइसल्फाइड की भूमिका महत्वपूर्ण है। कार्बन और गन्धक से बना यह यौगिक ही रेयॉन उद्योगों से फैलने वाले प्रदूषण का स्रोत है। यह स्वयं भी एक प्रदूषक और विषैला द्रव है जो अति शीघ्र वाष्पीकृत हो जाने की क्षमता रखता है। इसी गुण के कारण रेयॉन फैक्ट्रियों के वातावरण में इसकी वाष्प की काफी मात्रा उपस्थित रहती है। स्पष्ट है कि फैक्ट्रियों के बाहर के वायुमंडल में भी इसके मिल जाने की संभावना सदैव बनी रहती है। कार्बन डाइसल्फाइड मिली वायु में सांस लेने के परिणामस्वरूप सिरदर्द, चक्कर, मतली आदि की शिकायतें पैदा हो सकती हैं। आलस्य भी बढ़ जाता है। यदि वातावरण में इसकी मात्रा कुछ अधिक हो और काफी समय तक वह श्वास के माध्यम से शरीर में प्रवेश करती रहे तो मस्तिष्क के प्रभावित होने के कारण अनिद्रा और पागलपन की व्याधियाँ उत्पन्न हो सकती हैं। यदि मात्रा काफी अधिक हो और ऐसे वातावरण में लम्बी

अवधि तक काम करना पड़े तो कोमा की स्थिति भी आ सकती है।

जैसा कि लिखा जा चुका है, कार्बन डाइसल्फाइड गंधक से बना होता है। यही गंधक रेयॉन के रेशों को तैयार करने की प्रक्रिया में अपने दो नये यौगिकों, हाइड्रोजन सल्फाइड तथा सल्फर डाइऑक्साइड गैसों को जन्म देता है। दोनों ही गैसों प्रदूषक प्रकृति की हैं तथा मनुष्य, पशु-पक्षियों एवं वनस्पतियों आदि पर अवांछनीय प्रभाव डालती हैं। रेयॉन संयन्त्रों से फैलने वाले प्रदूषण में ये गैसों भी निश्चय ही हिस्सा बटाती हैं।

हाइड्रोजन सल्फाइड गैस अपनी सड़े अंडे वाली गंध के कारण वातावरण में काफी कम मात्रा में उपस्थित होने पर भी आसानी से पहचानी जाती है। श्वास के माध्यम से शरीर में प्रवेश करने पर यह सम्पूर्ण प्रश्वसन तंत्र में प्रदाह उत्पन्न करती है और ब्रांकाइटिस तथा न्यूमोनिया जैसे रोगों का कारण बन सकती है। इसके घने वातावरण में अधिक देर तक रहने से प्रश्वसन तंत्र की कार्यक्षमता स्थायी रूप से नष्ट हो सकती है। यह गैसों आँखों को भी प्रभावित करती हैं। इसके सम्पर्क में आने पर आँखें लाल हो जाती हैं तथा पानी बहने लगता है। स्वच्छ वातावरण के लिये आवश्यक है कि वायु के प्रति दस लाख अणुओं में इसकी मात्रा बीस से अधिक न हो।

सल्फर डाइऑक्साइड आम प्रदूषक गैसों में से है। कोयले से चलने वाले बिजलीघरों द्वारा फैलने वाले प्रदूषण में भी इस गैस की प्रमुख हिस्सेदारी होती है। यह एक विचित्र तीखी गंध वाली दमघोट गैस है। शरीर पर इसके प्रभाव लगभग वही होते हैं जो हाइड्रोजन सल्फाइड गैस के, परन्तु तीव्रता कहीं अधिक होती है। यह केवल श्वास के ही माध्यम से शरीर के अन्दर नहीं पहुँचती बल्कि चमड़ी के छिद्रों से भी प्रवेश

कर जाती है। इसीलिये, शरीर द्वारा ग्रहण की गई इसकी मात्रा काफी अधिक होती है। इसके अपेक्षाकृत घने वातावरण में थोड़ी देर रहने पर दम घुट कर मृत्यु हो जाने की पूरी संभावना रहती है। इसीलिये वातावरण में वायु के प्रति दस लाख अणुओं में इसके पाँच अणुओं से अधिक की मात्रा सुरक्षित नहीं मानी जाती। ऊपर से तुरंत यह कि जल में यह आसानी से घुल जाती है जिसके परिणामस्वरूप जल तेजाबी हो जाती है। इसी गुण के कारण वायुमंडल में इसकी उपस्थिति से अम्लीय वर्षा हो सकती है। कहना न होगा कि अम्लीय वर्षा विकसित देशों के लिये एक विकट समस्या बन चुकी है और अब भारत में भी यदा कदा होने लगी है। यदि अभी से ठोस कदम न उठाये गये तो अगले दस वर्षों में भारत में अम्लीय वर्षा सामान्य सी बात हो जायेगी। इस वर्षा के प्रभाव से पुरानी ऐतिहासिक इमारतें धीरे-धीरे नष्ट होने लगती हैं और धरती की उर्वराशक्ति क्षीण होने लगती है। 1972 में अमरीका की प्रख्यात पत्रिका न्यूजवीक ने लिखा था कि वर्षा होने पर आप वाशिंगटन में बने लिंकन के संगमरमर के स्टैचू के वर्षा-जल से घुलने की सनसनाहट पास खड़े होने से सुन सकते हैं। सल्फर डाइऑक्साइड गैस वनस्पतियों की बाढ़ को भी रोक देती है। पत्तियों पर घबूबे उभर आते हैं और वे जल्दी गिर जाती हैं। योरोप एवं अमेरिका के

औद्योगिक नगरों में अकसर प्रकट होने वाले स्मॉग (धूमित कोहरा) की दमघोंटू प्रकृति भी इसी गैस के कारण होती है। दिसम्बर 1952 में लंदन पर एक ऐसा ही भयंकर स्मॉग छा गया था और लगभग 3500-4000 व्यक्तियों की मृत्यु का कारण बना था। 1930 में बेल्जियम की मेयूज़ घाटी में भी इस गैस ने कुछ ऐसा ही कहर ढाया था। फिर भी इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि रेयॉन संयंत्रों से फैलने वाला सल्फर डाइऑक्साइड प्रदूषण, कोयले तथा पेट्रोलियम से चलने वाले उद्योगों से फैलने वाले इसी प्रदूषण की अपेक्षा नगण्य सा ही होता है।

रेयॉन संयंत्रों से वातावरण के प्रदूषित होने का खतरा एक सच्चाई है। परन्तु इससे डर कर इन संयंत्रों को बंद नहीं किया जा सकता। ये संयंत्र मानव की मूल आयश्यकता वस्त्र की पूर्ति के लिए आवश्यक हैं। अब केवल सूत पर निर्भर नहीं रहा जा सकता। आवश्यकता केवल इस बात की है कि खतरे को कम से कम करने के लिए उचित कदम उठाये जाय ताकि कामगार एवं संयंत्रों के आस पास की बस्ती की जनता निडर हो कर रह सके। आधुनिक विज्ञान की सहायता से ऐसा निश्चित रूप से किया जा सकता है। आशा है इन संयंत्रों के व्यवस्थापक अपने सामाजिक दायित्व के निर्वाह में चूक नहीं करेंगे।□

प्रदूषित जल और हमारा स्वास्थ्य

डॉ० रुचि श्रीवास्तव

मेडिकल कॉलेज, इलाहाबाद

जल मानव जाति के लिए अत्यन्त आवश्यक है और इसके बिना जीवन सम्भव नहीं। जहाँ एक ओर जल जीवनदायी है वहीं वर्तमान

प्रदूषण के परिप्रेक्ष्य में जल साक्षात् कालदूत भी बन सकता है क्योंकि अनेक घातक रोगों के फैलने का माध्यम प्रदूषित जल होता है। अनेक

महामारियाँ भी जल के माध्यम से ही फैलती हैं। जैसे दिल्ली में 1956 में लगभग 20000 लोग वाइरल हेपेटाइटिस (पीलिया) के शिकार हुए थे जिनमें से 73 मृत्यु को प्राप्त हो गए। इस

भयंकर महामारी का कारण पीने वाले जल का मलजल द्वारा प्रदूषण था। प्रदूषित जलसे उत्पन्न प्रमुख रोगों के नाम निम्नलिखित तालिका में दिए गये हैं—

प्रदूषित जल से उत्पन्न रोग

रोग के कारक	रोगों के नाम
1. वाइरस	पीलिया, पोलियो
2. बैक्टीरिया	हैजा, दस्त, पेचिस, टायफाइड, पैराटाय-फाइड, आदि
3. प्रोटोजोआ	अमीबिएसिस, जियार्डिएसिस
4. हेलमिन्थ	हाइडेटिड सिस्ट, एस्केरिएसिस, एन्ट्रो-बिएसिस आदि
5. लेप्टोस्पायरा	वील रोग (Weil's disease)
6. जलीय पोषक	गिनी वर्म, फिशटेप वर्म, शिस्टोसेमिएसिस आदि

जल प्रदूषण के स्रोतों में सबसे प्रमुख और सबसे अधिक हानिकारक मलजल (Sewage) ही है। एक रिपोर्ट के अनुसार हमारी राजधानी दिल्ली का 3,20,000 किलोमीटर अनुपचारित वाहित मल प्रतिदिन यमुना की धारा में जगह-जगह विसर्जित होता है जिसमें 96% मानव का मलजल होता है। ग्रीष्म में जब अन्य नदियों के साथ यमुना का जल भी कम हो जाता है तब पवित्र यमुना कितनी शुद्ध और पवित्र रह जाती होगी इसका आप स्वयं अनुमान लगा सकते हैं।

हमारे आदि ऋषि-मुनि अपार ज्ञानी थे और वे हमारे भले के लिये अनेक विधि-विधान निश्चित कर गये हैं—यदि हम उन्हें मानें तो। सम्भवतः जल प्रदूषण के इस खतरे का उन्हें पूर्वानुमान था तभी तो मनु स्मृति में जल में मल-मूत्रादि के विसर्जन का निषेध है—

नाप्सु मूत्रं पुरीषं वाष्ठीवनं समुत्सृजेत्।

अमेध्यलिप्तमन्यद्वा लोहितं वा विषाणिवा ।
(मनु स्मृति 4-56)

[अर्थात् जल में मल-मूत्र, थूक या अन्य दूषित पदार्थ, रक्त अथवा विष का विसर्जन न करें।]

औद्योगिक अपशिष्ट यदि नदियों में बिना उचित उपचार के विसर्जित कर दिये जाय तो ये भी मानव स्वास्थ्य के लिए समस्या बन सकते हैं। खेतों में प्रयोग किए जाने वाले बहुत से कीटनाशी, जीवनाशी (पेस्टिसाइड), उर्वरक, खरपतवारनाशी पदार्थ वर्षा या सिचाई के जल द्वारा आस-पास के जल-स्रोतों में पहुँचकर उन्हें प्रदूषित करते हैं और हानि पहुँचाते हैं।

इसके अतिरिक्त सड़े गले पदार्थ, कूड़ा करकट, वर्षा गर्मी आदि अनेक भौतिक कारणों से भी जल प्रदूषित होता है।

यदि हम जल प्रदूषण के प्रमुख स्रोतों पर ध्यान दें तो जल प्रदूषण रोका जा सकता है।

जैसा पहले भी कहा गया है, मलजल जल प्रदूषण का सबसे भयंकर कारण है अतः इस पर विचार करना विशेष रूप से आवश्यक है। इसके लिये नगर-नगर से इकट्ठा किये जाने वाले मलजल का विसर्जन से पूर्व उचित उपचार होना चाहिए। आमतौर से यह दो प्रमुख चरणों में होता है (या होना चाहिये) — (1) प्राथमिक या आरम्भिक और (2) द्वितीयक।

आरम्भिक या प्राथमिक उपचार के लिये पहले इसे एक विशिष्ट कक्ष से प्रवाहित करते हैं जिसे 'स्क्रीनिंग चेम्बर' कहते हैं। यहाँ मल-जल में उपस्थिति कूड़ा-करकट, लकड़ी के टुकड़े, सड़े-गले पदार्थ आदि बड़े टुकड़े 'छन' जाते हैं। शेष जल 'ग्रिट चेम्बर' में भेज दिया जाता है जहाँ यह एक फुट प्रति सेकेण्ड की गति से बहता है और लगभग 30 सेकेण्ड तक के लिये रुकता है। यहाँ कुछ और भारी पदार्थ नीचे बैठ जाते हैं। अब यह मल-जल प्राइमरी सेडिमेन्टेशन टैंक में भेज दिया जाता है। यहाँ इसकी गति 1-2 फीट प्रति मिनट रहती और यह 6-8 घंटों तक यहीं रहता है। इतनी अधिक देर तक रुकने तथा इतनी धीमी गति से बहने के कारण अन्य निलम्बित पदार्थ भी काफी मात्रा में नीचे बैठ जाते हैं। साथ ही इस मलजल में उपस्थिति ढेरों जीवाणु या बैक्टीरिया अनाक्सीय विधि से कार्बनिक पदार्थों का ऑक्सीकारक विघटन करते रहते हैं।

यहाँ से निकलने वाले बहिःप्रवाह (effluent) में अगणित बैक्टीरिया और अन्य कार्बनिक पदार्थ कोलायड रूप में होते हैं। अतः इसका आगे और उपचार किया जाता है। इसके लिए जैविक ऑक्सीकरण (Biological oxida-

tion) का सिद्धान्त प्रयोग में लाया जाता है। विशिष्ट विधियों द्वारा विशिष्ट प्रकार के स्थानों में जूग्लियल (Zooglyal) परत बनने दी जाती है जो कोशिकीय या सूक्ष्म (माइक्रोस्कोपिक) जीवों द्वारा बनती है। इस परत के द्वारा कार्बनिक पदार्थों का ऑक्सीय विघटन होता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य विधि द्वारा दबाव के साथ हवा प्रवाहित करके बैक्टीरिया द्वारा कार्बनिक पदार्थों का ऑक्सीय विघटन कराया जाता है।

जैविक विघटन के बाद बचा मलजल 'सेकण्डरी सेडिमेन्टेशन टैंक' में भेज दिया जाता है जहाँ यह 2-3 घंटों के लिए रोका जाता है। अब जो पदार्थ नीचे बैठता है वह गाढ़ा बदबूदार काले रंग का होता है जिसे 'स्लज' (Sludge) कहते हैं। इसे 'स्लज डाइजेसन प्लांट' में भेजकर उससे उत्पन्न मीथेन गैस जलाने व प्रकाश करने के काम लाई जा सकती है। इसके अतिरिक्त स्लज की उत्तम कम्पोस्ट खाद भी बन सकती है। बचे हुए उपचारित मलजल का हानिकारक प्रभाव अब तक लगभग समाप्त हो जाता है और इसे नदी या सागर में प्रवाहित किया जा सकता है जहाँ यह तनूकरण और जल में घुली ऑक्सीजन द्वारा ऑक्सीकरण के बाद शुद्ध हो जाता है। इस नदी से पेयजल के लिये जल संस्थानों में भी जल भेजा जा सकता है जहाँ उचित उपचार के बाद यह नलों द्वारा घर-घर पहुँचाया जाता है। परन्तु नदी में विसर्जित करने के लिये कुछ सीमाएँ निर्धारित की गयीं हैं और यदि यह मलजल बहिःप्रवाह उन कसौटियों पर खरा नहीं उतरता तो इसे नदी में विसर्जित नहीं करना चाहिए। दिल्ली में अब इस मलजल से सफलता पूर्वक मीथेन गैस और कम्पोस्ट खाद बनाई जा रही है। □

पर्यावरण में ओजोन

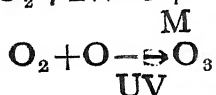
डॉ० ए० के० गुप्ता

एग्रीकल्चरल इंस्टीट्यूट, नैनी, इलाहाबाद

भूमि से 50 कि० मी० के वायुमण्डल को ट्रोपोस्फियर कहा जाता है, जिसमें भूमि सतह से ऊपर जाने में ताप घटता है और कम से कम 210K तक हो जाता है। 50 कि० मी० से ऊपर का वायुमण्डल स्ट्रेटोस्फियर कहलाता है, जिसमें ऊपर जाने पर ताप बढ़ता जाता है जो अधिकतम 280 K तक होता है। पर्यावरण के इन दोनों भागों में ओजोन पाया जाता है जो पर्यावरण की गैसों का प्राकृतिक एवं महत्वपूर्ण अंश है।

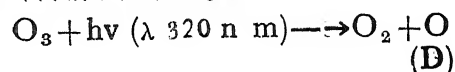
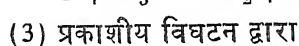
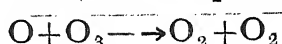
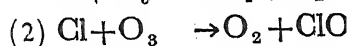
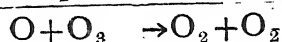
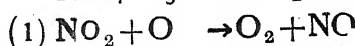
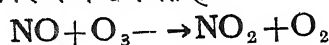
पर्यावरण में इसके द्वारा दो प्रकार की समस्याएँ उद खड़ी हुई हैं। प्रथम बाह्यवायु-मण्डल या स्ट्रेटोस्फियर में इसकी मात्रा निरन्तर घटती जाती है जो सूर्य से आने वाली अल्ट्रावायलेट विकिरणों को पृथ्वी तक आने से रोकती है और एक 'रक्षक छतरी' का कार्य करती है। दूसरे—पर्यावरण में नाइट्रोजन ऑक्साइडों (NO_x) और वाष्पीकृत हाइड्रोजन की मात्रा निरन्तर बढ़ने से ओजोन की मात्रा में वृद्धि होती है, जिसका सीधा प्रभाव जनस्वास्थ्य तथा वनस्पति पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त इसमें इन्फ्रारेड किरणों को अधिशोषित करने की अभूतपूर्व क्षमता है जो प्राकृतिक जलवायु को प्रभावित कर सकती है। वैसे तो ये समस्याएँ अलग-अलग हैं और कोई भी भयंकर परिणाम सामने नहीं आये हैं पर अगर ध्यान न दिया गया तो निश्चय ही एक समय यह समस्या विकराल रूप धारण कर लेगी।

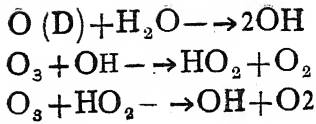
स्ट्रेटोस्फियर में ओजोन का निर्माण प्रकाश में ऑक्सीजन से होता है। $O_2 + h\nu \rightarrow O + O$



स्ट्रेटोस्फियर को ओजोन सतह भी कहा जाता है। ओजोन सूर्य से आने वाली अल्ट्रा-वायलेट (UV) विकिरणों (तरंग दैर्घ्य, 3200—2950 Å⁰ या कम) कभी-कभी पृथ्वी पर आने से रोकती है। स्ट्रेटोस्फियर में ओजोन का घनत्व घटने से ये विनाशी विकिरणें पृथ्वी तक पहुँच कर भयावह स्थिति उत्पन्न कर सकती हैं। कई स्थानों पर इनकी कमी के कारण अल्ट्रावायलेट (UV) द्वारा चर्म का झुलस जाना व चर्म-कैंसर आदि देखा गया है तथा पौधों की वृद्धि एवं उनमें प्रकाशसंश्लेषण की कमी पाई गई है।

विकसित देशों में प्रचलित सुपरसानिक हवाई जहाज स्ट्रेटोस्फियर के निचले भाग में हैं। उनके धुँये में वाष्प (H₂O), कार्बनऑक्साइड (CO_x), नाइट्रोजन ऑक्साइड (NO_x), सल्फर डाइऑक्साइड और गैसीय हाइड्रोकार्बन तथा हेलोजिनेटेड हाइड्रोकार्बन आदि होते हैं। स्ट्रेटो-स्फियर में वायु का संचार न होने से ये वर्षों तक पड़े रहते हैं। नाइट्रोजन ऑक्साइड तथा हेलोजेन एवं हाइड्रोकार्बन ओजोन को स्ट्रेटो-स्फियर में नष्ट करते हैं।





ट्रोपोस्फियर

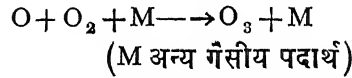
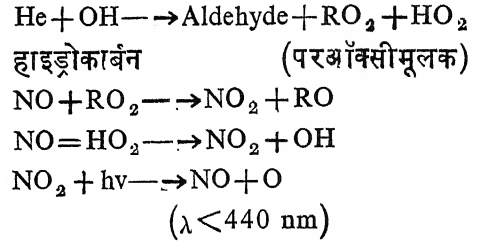
ट्रोपोस्फियर में ओजोन प्रकाशीय रासायनिक ऑक्सीकरण द्वारा बनता है और वायुमंडल की गैसों में उपस्थिति रहता है। इसका कुछ अंश स्ट्रेटोस्फियर से भी आता रहता है। सामान्यतया ओजोन 20—100 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$, 10-50 भाग प्रति शत लक्षांश (करोड़) होता है। ओजोन की मात्रा इससे अधिक होते ही (160—240 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$, प्रदूषण उत्पन्न करता है जो जीवों तथा वनस्पतियों के लिये हानिकारक है। ट्रोपोस्फियर में ओजोन की मात्रा अमेरिका में 120 भाग प्रति शत लक्षांश (ppb) पायी गयी है और देखा गया है कि मात्र 60ppb की मात्रा बढ़ने पर फसल की वृद्धि एवं उत्पादन प्रभावित होती है।

ट्रोपोस्फियर में ओजोन इन्फ्रारेड किरणों के लिये बहुत महत्वपूर्ण है। यह इन्फ्रारेड की किरणों को अधिशोषित कर भूमि के ताप को बढ़ा देता है। अन्य देशों में 1980 के लगभग ओजोन की मात्रा स्ट्रेटोस्फियर में निम्न प्रकार देखी गई—

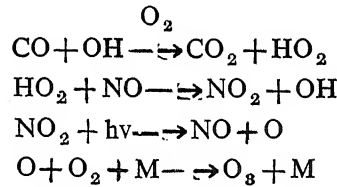
स्वीडन—	290 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$
नार्वे—	307 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$
गोटनवर्ग—	160 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$
ओस्लो—	220 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$
जर्मनी—	रानइ (Rhine) घाटी में 300 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$
नीदरलैण्ड—	197 (100—250 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$) औसत
ब्रिटेन—	400 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$ (1883 में)—300 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$
डेनमार्क—	160 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$
अमेरिका—	160-240 $\mu\text{g}/\text{घन मीटर}$

ट्रोपोस्फियर में ओजोन मुख्यतया वाहनों के धुओं, फैक्टरी के धुओं, पेट्रोलियम के उद्योगों के धुओं, जलने वाले ईंधन के धुओं से बनते हैं। ओजोन निम्न मुख्य क्रियाओं द्वारा ट्रोपोस्फियर में निरन्तर बवती रहती है—

(1) वाष्पीकृत हाइड्रोकार्बन जिनमें एल्कीन, एल्केन और एरोमेटिक सम्मिलित हैं, के ऑक्सीकरण द्वारा—



(2) धुये के कार्बन मोनोऑक्साइड के ऑक्सीकरण द्वारा—



ट्रोपोस्फियर का निचला भाग या पृथ्वी की सतह से 1 किलोमीटर का वायुमंडल जीवों तथा पौधों के लिये बहुत महत्वपूर्ण है जिसमें ओजोन की मात्रा उद्योगों एवं वाहनों की वृद्धि से बढ़ती है। रिफाइनरियों, पेट्रोलियम उद्योग, ताप-विद्युत् उत्पादक संयंत्रों, शहरी क्षेत्र में वाहनों, वायुमार्गों, रेलगाड़ियों तथा पारम्परिक ईंधनों के धुओं व जंगल में लगी आग के धुओं द्वारा पृथ्वी की सतह का पर्यावरण प्रदूषित होता रहता है। इनमें मुख्यतः नाइट्रोजन ऑक्साइड (NO_x), सल्फर ऑक्साइड (SO_x), कार्बन ऑक्साइड (CO_x), फ्लोराइड, इथिलीन, अमोनिया, क्लोरीन, वाष्पीकृत हाइड्रोकार्बन,

क्लोरीनयुक्त हाइड्रोकार्बन हैं। इन प्रदूषकों के प्रकाशीय ऑक्सीकरण क्रिया द्वारा ओजोन बनती है। अत्यधिक नाइट्रोजनयुक्त खाद के प्रयोग से भी पर्यावरण में नाइट्रोजन ऑक्साइड की वृद्धि होती है।

सतह पर प्रदूषकों का जमाव तीन कारणों से होता है। (1)—वायु के महान कणों के साथ नीचे गुरुत्वाकर्षण द्वारा बैठने से (2)—नमी या वर्षा के साथ या एयरोसॉल के साथ बैठने तथा (3)—गैस के अधिशोषण से सतह के पौधों व मृदा पर इन प्रदूषकों का जमाव होता है। फिर वर्षा या अन्य स्रोतों द्वारा पर्यावरण के अन्य भागों, जैसे जलाशयों व भूमि में व भूमिगत जलाशयों में फैल जाते हैं। जल में घुलनशील होने के कारण पौधों में पुनः प्रवेश कर ऑक्सीकृत होते हैं। इन प्रदूषकों का ऑक्सीकरण प्रकाश की किरणों द्वारा होता रहता है। इन वायु-प्रदूषकों का सीधा प्रभाव पौधे की वृद्धि पर पड़ता है। इन प्रदूषकों से बने ओजोन का सीधा प्रभाव पत्तियों के कोषाभित्तियों एवं क्लोरोप्लास्ट पर पड़ता है जिससे प्रकाशसंश्लेषण में अवरोध उत्पन्न होता है तथा खाद्य पदार्थ का संचय घट जाता है। मृदा में ओजोन के प्रभाव से ही नाइट्रोजन का योगिकीकरण प्रभावित होता है।

वायुमण्डल में ओजोन की $200 \mu\text{g}/\text{घन मीटर}$ से अधिक मात्रा वनस्पति-जगत् के लिये हानिकारक है—विशेष कर NO_2 , SO_2 से संयोग करके और भी घातक हो जाती है। जंगलों एवं फसलों पर इसका प्रभाव देखा गया है। ओजोन रबरसंश्लेषण, पालीमर, ब्यूटाडीन, आइसोप्रिन, तथा स्टाइरीन आदि से संयोग कर उन्हें भुरभुरा बना देता है, जिससे उनकी गुणता खराब हो जाती है। ओजोन फाइबरों, रंगों, पेन्टों आदि को नष्ट करता है।

अमेरिका में देखा गया है कि कृषि के कुल उत्पादन की 2-4% क्षति इन वायु प्रदूषणों के

कारण होती है जिससे 90% ओजोन, SO_x , तथा NO_x द्वारा होता है। इसी प्रकार योरोप, जर्मनी, ब्रिटेन में भी ओजोन का कुप्रभाव देखा गया है।

नवजात पौध (Seedling), चौड़ी हरी पत्तियाँ तथा मटर, तम्बाकू आदि ओजोन के प्रति अधिक संवेदनशील होते हैं। विभिन्न देशों में फसल पर ओजोन के प्रभाव का अध्ययन किया गया है।

जर्मनी—1980-81 में सेम व जंगल पर इसके प्रभाव $100 - 250 \mu\text{g}/\text{घन मीटर}$ पर देखे गये हैं।

नीदरलैण्ड—1979-81 में पौधों पर हानिकारक प्रभाव देखा गया है। आलू, पालक, सेम, फलों के उत्पादन व गुणता में कमी आई है।

ब्रिटेन (UK)—1979-83 में ओजोन के $160-300 \mu\text{g}/\text{घन मीटर}$ मात्रा से क्लोवर (clover), गाजर, मूली, पालक, जौ, अंगूर, मटर, सेम आदि के उत्पादन एवं गुणता में कमी देखी गई।

डेनमार्क—(1977-1980) में $160 \mu\text{g} - 400 \mu\text{g}/\text{घन मी०}$ ओजोन के प्रभाव से जौ, रेप, मटर, राईग्रास, आलू, क्लोवर, पालक, एल्फाल्फा आदि के उत्पादन में कमी देखी गई।

स्वीडन—(1975-1979)—में पालक और आलू में $(108 - 112 \mu\text{g}/\text{प्रतिघन मी० ओजोन से हानि देखी गई।$

अमेरिका—(1979-80) में $160-240 \mu\text{g}/\text{घन मी० ओजोन से पाइन, अंगूर, क्लोवर आदि के उत्पादन से कमी आई।$

यह स्पष्ट है कि ओजोन की स्ट्रेटोस्फियर में कमी तथा अधिकता दोनों ही हानिकारक है। इसका जमाव एक समय भयंकर दुष्परिणाम दे सकता है अतः आवश्यक है कि वैज्ञानिक इसकी मात्रा के प्रति सतर्क रहें। ऐसे उपाय खोजने पड़ेंगे जिससे सतह के पर्यावरण में इसकी मात्रा बढ़ने न पाये। □

भारतीय वन्यजीव

राकेश कुमार खरे

कक्षा 10, वर्ग विज्ञान

रामराज इण्टर कॉलेज, पट्टी, प्रतापगढ़ (उ० प्र०)

प्रकृति ने भारत को अनेक अमूल्य निधियाँ प्रदान की हैं। नयनाभिराम वनस्पतियाँ तथा वन्य जीव ऐसी ही निधियाँ हैं। इन्होंने हमारे देश को विशेष रूप से मनोहरता प्रदान की है। हमारे देश की कला और धर्म, काव्य तथा लोक-वार्ताओं में वन्य पशुओं तथा पक्षियों का प्रमुख स्थान रहा है।

हमारे देश में विभिन्न प्रकार का जलवायु पाया जाता है। भारत के पूर्वी भाग की पहाड़ियों में मूसलाधार वर्षा होती है किन्तु पश्चिमी भाग में थार का मरुस्थल है। दक्षिण में गर्म आर्द्र उष्णकटिबन्धीय वर्षा वाले जंगल हैं तो उत्तर में ठंडे अल्पाइन चारागाह। जलवायु की यह विभिन्नता अनेक प्रकार के जीव-जन्तुओं के लिए उपयुक्त जीवन परिस्थितियाँ प्रस्तुत करती हैं।

सौ वर्ष पहले देश में प्रचुर संख्या में जीव-जन्तुओं का विकास था। यहाँ के विशाल मैदानों में झुंड के झुंड काले मृग, चीतल, नीलगाय, तेंदुआ, स्याहगोश तथा अन्य पशु रहा करते थे और भारत के जंगल गौरों, सांभरों, बाघों तथा हाथियों से परिपूर्ण थे। किन्तु कुछ वर्ष पहले यह स्थिति बदल गई। विकाससम्बन्धी गतिविधियाँ निरन्तर बढ़ती जा रही हैं। इससे जंगली जीव-जन्तुओं के ठिकानों पर जोर पड़ता है। उनकी सीमायें काफी घट गई हैं और उनका स्वरूप बदल गया है। इसका नतीजा यह हुआ कि इनकी कुछ जातियों का लोप हो गया है और कुछ लुप्तप्राय हैं।

जीवों की सुरक्षा के लिए हालके वर्षों में कई उपाय किये गये हैं। किन्तु वन्य जीवों की सुरक्षा

के लिए सबसे महत्वपूर्ण बात है—अनुकूल जनमत तैयार करना, क्योंकि इसके बिना पशु-पक्षियों के संरक्षण के लिए किये गये सभी प्रयत्नों का कोई खास फायदा न होगा। इस लेख में कर्दम हिरन, सिंह, स्याहगोश और तेंदुआ के विषय में संक्षेप में बताया जा रहा है।

कर्दम हिरन

ऐसा हिरन केवल भारत में पाया जाता है। इसे दलदल वाला हिरन कहते हैं। उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र, असम और सुन्दर-वन के कर्दम हिरनों के खुर बाहर निकले हुये और चौड़े चपटे होते हैं। खोपड़ी कुछ विशाल होती है। जबकि मध्य प्रदेश के कठोर खुले मैदान में पाये जाने वाले इन हिरनों के खुर छोटे और कसे होते हैं। कर्दम हिरनों के बालों की बनावट करीब-करीब ऊब की तरह होती है। इनके सींगों की बनावट भिन्न-भिन्न होती है। आमतौर पर कर्दम हिरन की सींग में 10 से 14 शाखायें होती हैं किन्तु साधारण हिरन के 20 शाखायें होती हैं। इसकी दृष्टि और श्रवण शक्ति परिमित किन्तु घ्राण शक्ति बड़ी तीक्ष्ण होती है। कर्दम हिरनों की संख्या घटती जा रही है। नर हिरन (कर्दम हिरन को छोड़कर) के नाभि में कस्तूरी पायी जाती है। कस्तूरी दवाओं के काम आती है। कर्दम हिरन एक संरक्षित जीव है।

सिंह या लायन

एशियाई या भारतीय सिंह ईरान, ईराक तथा उत्तरी और मध्य भारत में पाये जाते हैं।

भारतीय सिंह अफ्रीकी सिंहों की तरह होता है। फर्क केवल यह है कि भारतीय सिंह के शावकों के बदन पर अफ्रीकी शावकों की अपेक्षा चित्तियाँ कुछ कम दिखायी देती हैं। इनकी पूँछ के झब्बे कुछ ज्यादा लम्बे होते हैं। भारतीय सिंह और अफ्रीकी सिंह की आदत में कोई खास फर्क नहीं है। इनकी गर्जन शक्ति बहुत तीव्र होती है। सिंह “जंगल का राजा” कहा जाता है। दिन में ये पेड़ की छाया में विश्राम करते हैं। शाम को भोजन की तलाश करते हैं। शाम के झुटपुटे में, और सूर्योदय के ठीक पहले इनकी दहाड़ कुछ ज्यादा तीव्र हो जाती है। गिर के जंगलों में वे अक्सर जंगली जानवरों और मवेशियों का शिकार करते हैं।

स्यहगोश या काराकल

स्याहगोश सामान्यतया कच्छ के उत्तरी और उत्तर-पश्चिमी पहाड़ियों, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश और मध्य भारत के शुष्क इलाकों में पाया जाता है। इसका माथा चौड़ा तथा कान में घने बाल होते हैं। यह अगले पैरों की

अपेक्षा पिछले पैरों पर ज्यादा ऊँचा खड़ा होता है। इसके शरीर के बाल घने तथा मुलायम होते हैं। यह विरला प्राणी है और कठिबता से पकड़ में आता है। यह रेगिस्तानों और झाड़ीदार जंगलों का जीव है। यह पक्षियों, कृन्तकों, बारह-सिंहों, छोटे हिरनों का शिकार करता है।

तेंदुआ या लेपर्ड

तेंदुआ समस्त भारत में पाया जाता है। भारत के बाहर वर्मा, श्री लंका में भी मिलता है। भारतीय प्रायद्वीप का तेंदुआ विशेष प्रकार का होता है। इसके बाल चिकने तथा छोटे होते हैं। बालों का रंग चटकीला गेरुआ होता है जिस पर पास-पास काली चित्तियाँ होती हैं। यह अक्सर दिन में शिकार करता है—खासकर जब इसे रात में आहार न मिला हो। तेंदुआ जिस किसी प्राणी को—किसी मवेशी, हिरन, बंदर, शिकार के छोटे जानवर या साही जैसे बड़े कृन्तक को, बिना किसी जोखिम के जब भी दबोचता है तो उसे मारकर चट कर जाता है। □

भोपाल के पर्यावरण पर भिक दुर्घटना का प्रभाव

उमेश सिंह

शोध छात्र, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

पिछले वर्ष भोपाल में 2-3 दिसम्बर की रात, कीटनाशक बनाने वाली ‘यूनियन कार्बाइड’ नामक फैक्ट्री के एक भूमिगत टैंक से लगभग 30 टन जहरीली (भिक) गैस रिसने के कारण रासायनिक उद्योग की सबसे बड़ी दुर्घटना हुयी। लगभग 40 मिनट तक रिसने वाली यह गैस “मिथाइल आइसोसायनेट” थी। इस दुर्घटना में हजारों मनुष्यों एवं जानवरों की मृत्यु हुयी है। अनेक लोग महीनों जिन्दगी और मौत के

बीच संघर्ष करते रहे और आज भी कर रहे हैं। इस दुर्घटना के बाद विश्व भर के राज-नीतिज्ञों, वैज्ञानिकों और बुद्धिजीवियों को यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ा कि ऐसी घातक रासायनिक अभिक्रियाओं के अतिरिक्त कोई सुरक्षित विकल्प है अथवा नहीं ?

यूनियन कार्बाइड के भोपाल स्थित इस कारखाने में “कार्बोरिल” नामक कीटनाशक का उत्पादन होता था। इस कीटनाशक के निर्माण

की प्रक्रिया में “मिथाइल आइसोसायनेट” नामक जहरीली गैस का निर्माण होता है। इस गैस के रखरखाव की समुचित व्यवस्था न होने के कारण ही यह भीषण नरसंहार हुआ।

मिक के प्रभाव जानने से पहले यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि मिक है क्या ?

मिथाइल आइसोसाइनेट

मिथाइल आइसोसाइनेट (मिक), आइसो-सायनिक अम्ल (HNCO) का एक एस्टर है। इस गैस का नाम साइनाइड से पूर्णतः भिन्न है। मिक गैस का रासायनिक नाम—मिथाइल कार्बाइल एमीन आइसोसाइनेटोमीथेन है। इसका रासायनिक सूत्र $\text{CH}_3-\text{N}=\text{C}=\text{O}$ है। यह

एक रंगविहीन तरल है और इसकी गंध ताजी काटी गयी घास से उठने वाली गन्ध जैसी होती है। इसकी खोज 1888 में हुयी थी किन्तु इसके क्वथनांक के बारे में अभी तक वैज्ञानिक एकमत नहीं हो पाये हैं। अत्यधिक वाष्पशील तथा ज्वलनशील होने के कारण इसके क्वथनांक को कुछ वैज्ञानिक 37-39 डिग्री से० मानते हैं और कुछ 43-45° से० मानते हैं। मिक गैस का विशिष्ट गुरुत्व 27° से० तापमान पर 0.9230 है। इसका वाष्प घनत्व 2.2 है।

भारत में कार्बामिट के कीटनाशकों को, जिनके उत्पादन में मिथाइल आइसोसायनेट का प्रयोग होता है निम्न सारिणी में दिखाया गया है।

भारत में कार्बामिट कीटनाशकों का उत्पादन

नाम	व्यवसायिक नाम	उत्पादक फैक्ट्री	वार्षिक उत्पादन लगभग (टन)
1—एल्डीकार्ब	टेमिक	यूनियन कार्बाइड	10
2—बेगाम	बेगान	बेयरइंडिया लिमिटेड	140
3—कार्बारिल	सेविन	(क) यूनियन कार्बाइड (ख) पोषक लि० बड़ौदा	2000 (पंजीकृत)
4—कार्बोफेथुरान	फेथुराडान	रैलिस इण्डिया लि०	150

भोपाल के पर्यावरण पर प्रभाव

जल एवं मृदा पर प्रभाव

कीम अस्पताल बम्बई से डॉक्टरों का एक दल भोपाल सर्वेक्षण के लिये गया था। उसने पाया कि वहाँ का जल आज भी सुरक्षित नहीं है और उसमें औसत से अधिक थायोसायनेट है जो जल एवं अन्य साधनों से वहाँ के लोगों के शरीर में पहुँच रहा है। वहाँ की अवभूमि में साइनायड का स्थायित्व बना हुआ है।

यह सर्वेक्षण दल मार्च के अन्तिम सप्ताह में वहाँ गया था। सर्वेक्षण दल के डॉक्टरों के अनुसार पीड़ित लोग तब तक ठीक नहीं हो सकते जब तक कि वहाँ जल का शोधन करके उसमें मौजूद थायोसायनेट को निष्क्रिय नहीं

किया जायेगा। क्योंकि वे नियमित प्रदूषित जल का उपयोग कर रहे हैं। इससे उनके शरीर में थायोसायनेट की मात्रा बढ़ती जा रही है। इस थायोसायनेट की मात्रा भोपाल के जल में 3 से 4 पी० पी० एम० के बीच मौजूद है। डॉक्टरों के दल ने जल में थायोसायनेट की तुलना जब बम्बई तथा भोपाल के पीने वाले जलों से की तो उन्हें पता चला कि भोपाल के जल में 2 पी० पी० एम० से अधिक है जब कि बम्बई के जल में थायोसायनेट केवल 0.8 पी० पी० एम० है।

वास्तव में डॉक्टरों का दल जो भोपाल में सात दिन तक रुका था उसने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि उनके शरीर के खून में भी थायो-सायनेट का स्तर बढ़ने लगा था। उन्होंने यह

सुझाव दिया कि वहाँ के प्रभावित लोगों को कम से कम 3 वर्षों के लिये भोपाल छोड़ देना चाहिये।

गर्भस्थ शिशु पर प्रभाव

गैस काण्ड के बाद भोपाल में करीब 3 हजार गैस पीड़ित महिलाओं को प्रसाव हुआ। इनमें 200 महिलाओं ने मरे बच्चों को जन्म दिया, 400 शिशु पैदा होने के कुछ समय के बाद मर गये। करीब 8 प्रतिशत महिलाओं का गर्भपात हो गया। गैस-प्रभावित क्षेत्रों में अभी करीब 1000 महिलायें गर्भवती हैं। कुछ गैस पीड़ित महिलाओं ने विकृत बच्चों को भी जन्म दिया है लेकिन ऐसे बच्चों की तादाद के बारे में पता नहीं लग सका। गैस-प्रभावित इलाके के सात क्षेत्रों की करीब 47 प्रतिशत गर्भवती महिलाओं का अपने आप गर्भपात हो गया था। कुछ गर्भवती औरतों को तो दूषित प्रभाव को देखते हुए गर्भपात कराया गया।

नवजात शिशु पर प्रभाव

भोपाल 1 जून, की रिपोर्ट से अनुसार विश्व की दर्दनाक गैस त्रासदी का यह असर अभी भी दिखायी दे रहा है। हजारों गैस पीड़ित गर्भवती महिलाओं की प्रसूति और उनके नवजात शिशुओं की जाँच के बाद डॉक्टरों ने एक रिपोर्ट में यह चौकाने वाले तथ्य उजागर किये हैं। नवजात शिशुओं की एकसरे रिपोर्ट भी चौकाने वाली है। रिपोर्ट के मुताबिक इन बच्चों के यकृत (लिवर) में नीले धब्बे पड़ गये हैं। इन बच्चों को न सिर्फ कफ की शिकायत है, बल्कि उन्हें दमा के रोग ने भी पकड़ लिया है। बताया जाता है कि अनेक बच्चों ने आँखों की ज्योति खो दी है। जीवित बच्चों में कोई ऐसा नहीं है जिन्हें पूर्ण रूप से स्वस्थ कहा जा सके।

गर्भवती महिलाओं पर प्रभाव

गर्भवती महिलाओं के परीक्षण के बाद पता चला कि उनका गर्भाशय काफी विकसित है जो

इस बात का प्रमाण है कि उनके गर्भाशय में भ्रूण या गर्भस्थ शिशु का विकास सामान्य नहीं है।

डॉक्टरों के सर्वेक्षण दल ने जिन सात क्षेत्रों के सर्वेक्षण के पश्चात् अपनी रिपोर्ट दी उन सात क्षेत्रों की कुल आबादी 60 हजार है। इनमें जयप्रकाश नगर, केंची छोल, चाँदबड़, नूर महल रोड, सिंधी कालोनी, हमीदिया रोड, बरखेड़ी, बैरसिया रोड, काजी कैंपटीला, जमालपुर, छोलारोड, फूटा मकबरा, स्टेशन रोड बजरिया, शाहजहानाबाद और जहाँगीराबाद का कुछ हिस्सा शामिल है।

वयस्क पुरुषों एवं महिलाओं पर प्रभाव

भोपाल 3 जून, चिकित्सकों के एक दल द्वारा की गयी जाँच से पता चला है कि गैस-त्रासदी के परिणामस्वरूप यहां गैस पीड़ितों का मानसिक संतुलन बिगड़ गया है। इनका शिकार मुख्य रूप के 45 वर्ष से कम आयुवाली महिलायें हुयी हैं।

यह दल फरवरी, 85 में छोला रोड शासकीय पोलीक्लिनिक में रोगियों को चिकित्सा सेवायें प्रदान कर रहा है। अप्रैल मास तक क्लिनिक में मानसिक असंतुलन से पीड़ित 168 वयस्क आये। इनमें से अधिकांश “न्यूरोसिस” किस्म की मानसिक गड़बड़ियों जैसे “न्यूरोटिक डिप्रेशन”, “एंग्जाइटी” आदि से पीड़ित पाये गये। कुछ व्यक्ति “एक्जास्ट रिएक्शन” से ग्रसित पाये गये।

कीम अस्पताल, बम्बई के डॉक्टरों का यह सुझाव कि भोपाल के प्रभावित लोगों को 3 वर्षों के लिये भोपाल छोड़ देना चाहिये, संभव नहीं है। वे कहाँ जायें? अतः सरकार को चाहिये कि भोपाल की जनता के भविष्य को देखते हुये प्रभावित मनुष्यों को अन्य प्रकार की बीमारियों से बचाने के लिये तत्काल प्रभावी कदम उठाये। □

तीन विज्ञान कथायें : समीक्षात्मक दृष्टि

अनिल कुमार शुक्ल

17 म्योर कॉलेज कालोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

वैज्ञानिक उपलब्धियों को जन सामान्य तक पहुँचाकर, उनमें, विज्ञान के प्रति रुचि उत्पन्न करने में, विज्ञान कथाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है और इस महत्वपूर्ण दायित्व को, पाश्चात्य देशों के विज्ञान-कथा साहित्य ने, बखूबी निभाया भी है। लेकिन, दुर्भाग्यवश भारत में, इस दिशा में अभी तक, कोई ठोस कार्य नहीं हो पाया है। यद्यपि, बंगाली व मराठी भाषाओं में, विज्ञान कथा साहित्य ने, अपनी शैशवास्था पारकर, बालपन में प्रवेश कर लिया है, किन्तु अन्य क्षेत्रीय भाषाओं एवं हिन्दी में, अभी तक कोई उल्लेखनीय उपलब्धि नहीं हासिल हुई है। हिन्दी में तो, कैलाश साह, राममूर्ति एवं राजेश्वर गंगवार आदि गिने-चुने नामों को छोड़कर, कोई 'विज्ञान-कथा-लेखक' ढँढ़ना भी मुश्किल है। हिन्दी के अतिसीमित विज्ञान कथा साहित्य का, और भी दुखद पहलू तो यह है कि, जो विज्ञान-कथायें लिखी भी गई हैं, उनके नाम उन कथाकारों के नाम व संबंधी पत्रिका या प्रकाशक आदि की भी जानकारी, किनी विज्ञान-संस्था या विज्ञान पत्रिका के पास उपलब्ध नहीं है। हर्ष एवं संतोष का विषय है कि 'विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद की मासिक पत्रिका 'विज्ञान' ने, अपने वार्षिकांक (नवम्बर 84-जनवरी 85) को, विज्ञान कथा विशेषांक' के रूप में प्रकाशित कर तथा फरवरी 85 का अंक; 'विशेषांक' के परिशिष्ट के रूप में निकाल कर, इस दिशा में, विद्वान लेखकों व पाठकों का ध्यान, सफलता पूर्वक आकृष्ट किया है।

मैं पाठकों का ध्यान, तीन विज्ञान कथाओं की ओर आकृष्ट करना चाहूँगा। ये तीनों

ही विज्ञान कथायें, बाल-उपन्यास के रूप में, रोचक शैलियों में लिखी गई हैं। एक तरफ ये बच्चों का स्वस्थ मनोरंजन करती हैं तो दूसरी तरफ, रोचक कथा के रूप में, वैज्ञानिक तथ्यों को समझाकर, उनमें वैज्ञानिक उपलब्धियों व संभावनाओं के प्रति रुचि एवं उत्सुकता का भी सृजन करती हैं। अपनी शैली व रोचकता के कारण, ये विज्ञान कथायें, विज्ञान के वयस्क एवं सुरक्षित पाठकों को भी, शुरू से अंत तक बाँध रखने में, सफल होती हैं।

(1) 'राजा की अंतरिक्षयात्रा', कथाकार दीप, पृष्ठ संख्या-60, मूल्य-रुपये 3.50, प्रकाशक विश्वविजय प्रकाशन, एम 12, कनाट सर्कस, नई दिल्ली—1

इस विज्ञान कथा का नायक, राजा, घर पर पिटाई के डर से, भागकर जंगल में चला जाता है जहाँ उसे एक गोल-मटोल, विचित्र वस्तु दिखती है। वह उत्सुकतावश, उसमें प्रवेश कर उनमें लगे अनेक यंत्रों का निरीक्षण करता हुआ ज्यों ही एक बटन दबाता है कि वह वस्तु उड़ चलती है। तब कहीं उसे मालूम होता है कि यह तो कोई 'अंतरिक्षयान' है। वह साहस नहीं खोता एवं उसके अनजान यंत्रों को इधर-उधर करके अंततः एक ऐसे वीरानग्रह पर, पहुँचता है, जहाँ गुरुत्वाकर्षण बहुत कम है। इस वीरान ग्रह पर अनेक विचित्र अनुभवों के बाद वह अपने मित्रों को बुला लेने के लिये पृथ्वी पर लौटता है। उसका विचार है कि मित्रों के साथ हमेशा के लिये यहीं, सचमुच का 'राजा' बनकर रहेगा। लेकिन, उसके मित्र उस वीरान ग्रह पर, थोड़े ही दिनों में ऊब जाते हैं, और उन्हें अपने घर

की याद आने लगती है। शुरू में तो राजा, वापस लौटने को तैयार नहीं होता, पर जब सभी बच्चे मिलकर उसे धमकाते हैं तो, वह यह सोचकर वापस लौटने को तैयार हो जाता है कि वह अबकी बार, मम्मी-पापा को साथ लिवा लावेगा। किन्तु धरती पर उतरते ही, पुलिस, उस यान पर कब्जा कर लेती है और 'राजा की अंतरिक्ष यात्रा' यहीं समाप्त हो जाती है। यद्यपि इस विज्ञान कथा में, वैज्ञानिक तथ्य व कल्पनायें कुछ कम एवं कहानी का अंश ज्यादा है, तथापि बच्चों के लिये, विज्ञान कथा की दिशा में, 'दीप' द्वारा किया गया यह प्रयास प्रशंसनीय ही कहा जायेगा।

(2) मंगल की सैर - कथाकार—सुशील कपूर, पृष्ठ संख्या 46, मूल्य दो रुपये, प्रकाशक-विश्वविजय प्रकाशन, एम-12, कनाट सर्कस, नई दिल्ली—1

दीपू के चाचा उमेश बहुत बड़े वैज्ञानिक हैं और दीपू को भी वैज्ञानिक ही बनाना चाहते हैं। डॉ० उमेश, हमेशा, विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों एवं सिद्धान्तों को सरल एवं रोचक भाषा में, दीपू को बड़े प्यार से समझाते हैं।

डॉ० उमेश ने, एक विशेष अंतरिक्षयान विकसित किया है, जो अपनी यात्रा के दौरान पृथ्वी के संपर्क में तो रहता है, पर यान का पूरा नियंत्रण स्वयं अंतरिक्षयात्री ही करता है। उमेश चाचा दीपू को उस यान में ले जाकर, उसकी पूरी कार्य विधि समझाते हैं। उमेश चाचा की मंगलयात्रा के ठीक एक दिन पूर्व, दीपू टहलते-टहलते अनायास ही, अंतरिक्षयान में प्रवेश करता है। अब आगे की घटना, स्वयं कथाकार के शब्दों में—

“कल अपना अंतरिक्ष सूट पहनकर उमेश चाचा इस कंट्रोलरूम में आयेंगे और वह इस कुरसी पर बैठेंगे। दीपू कुरसी पर बैठ गया और सोचने लगा 'इसके बाद चाचा

कहेंगे कि हमारी सब तैयारियाँ अब पूरी हैं, रेडी.....और फिर प्रयोगशाला के कंट्रोलरूम में उल्टी गिनती शुरू होगी.....दस.....नौ.....आठ.....तीन.....दो.....एक.....जीरो, जीरो बोला जाते ही, झट उमेश चाचा यह बटन दबा देंगे।’

अ...ड़...ड़...घड़ाम.....अरे बाप रे..... इतने जोर का धमाका हुआ कि दीपू के कान बहरे हो गये।

हुआ यह था कि दीपू जी ने अपने मन की बात सोचते, सचसुच बटन दबा दिया था और अब राकेट, एक धमाके के साथ आसमान की तरफ बढ़ चला था।”

ऐसी ही सीधी-सरल भाषा एवं रोचक शैली में, कथाकार श्री कपूर ने 'मंगल की सैर' का का पूरा कथानक अत्यंत स्वाभाविक ढंग से विकसित किया है और इस विज्ञान कथा को पठनीय बना दिया है।

(3) शुक्र की खोज—कथाकार-सुशील कपूर, पृष्ठ संख्या-48, मूल्य-चार रुपये, प्रकाशक विश्वविजय प्रकाशन, एम-12, कनाट सर्कस, नई दिल्ली—1

दीपू के चाचा, उमेश, अपने अंतरिक्षयान से चले तो वृहस्पति की ओर, पर मार्ग में पड़ी एक उल्का के कारण, उन्होंने अपना रास्ता थोड़ा बदला, पर उनका यान पुनः सही मार्ग पर नहीं आ सका एवं उनका संपर्क पृथ्वी से टूट गया। 15 दिन से कार्यक्रम के बजाय, जब वे 3 महीने बाद भी नहीं लौटे, तो उनकी खोज बंद कर उन्हें मृत मान लिया गया।

लेकिन दीपू को अपने उमेश चाचा की योग्यता व बुद्धि पर विश्वास था। वे कहीं न कहीं जरूर सुरक्षित होंगे। वह अपने मंगलवासी मित्र, मिक् की सहायता से उन्हें खोजने का निश्चय करता है। अंततः वे दोनों मिक् की उड़नतश्तरी के द्वारा, शुक्र के तूफानी बादलों की

मोटी परत चीर कर, उसके सतह पर उतरते हैं। मंगलग्रह की ही तरह, सतह के नीचे बने नगर में जब वे प्रवेश करते हैं तो प्रारंभिक निराशा के बाद, अप्रत्याशित रूप से, उनकी मुलाकात, उमेश चाचा से अत्यन्त विचित्र ढंग से होती है। डॉ० उमेश शुक्र के जीवों के विनाश की कहानी, उन्हें बताते हैं -

“कभी शुक्र भी, हमारी पृथ्वी की तरह, अनेक देशों में बँटा हुआ था। दो बड़े देशों ने अपने गुट बना रखे थे। बस, इन गुटों के बीच, परमाणु-युद्ध छिड़ गया। लगभग आधे शुक्रवासी

तो इस युद्ध में मारे गये, जो बाकी बचे थे, वे परमाणु विकिरण की झेंट चढ़ गये।”

श्री सुशील कपूर की, रोचक व सरल भाषा तथा विभिन्न वैज्ञानिक तथ्यों व संभावनाओं के कुशल संयोजन ने, इनकी दोनों, विज्ञान कथाओं को, न केवल पठनीय बनाया है, अपितु वे भावी विज्ञान कथाकारों की, विचार-भूमि को आकार देने में भी सहायक सिद्ध होंगी। निश्चय ही, श्री सुशील कपूर की इन विज्ञान कथाओं से, हिन्दी के विज्ञान-कथा-लेखन का भविष्य, आशाजनक लगता है। □

अब आठवें वर्ष में -

वन अनुसन्धान संस्थान एवं महाविद्यालय, देहरादून के

अखिल भारतीय वानिकी साहित्य पुरस्कार, 1985

वानिकी विषयों पर मूलतः हिन्दी में लिखित वैज्ञानिक व तकनीकी ग्रन्थों और लेखों को देय

ग्रन्थ पुरस्कार : श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार 5,000 रु०, उत्तम लेखन पुरस्कार 3,000 रु०
सराहनीय लेखन पुरस्कार 1,000 रु०
लेख पुरस्कार : श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार 500 रु०, उत्तम लेखन पुरस्कार 350 रु०
सराहनीय लेखन पुरस्कार 200 रु०, प्रोत्साहन पुरस्कार 100 रु०
प्रविष्टियाँ 31 जुलाई, 1985 तक स्वीकार्य

विहित आवेदन प्रपत्र, नियम व विवरण अपना पता लिखा व बिना टिकट लगा 10 से० मी० × 25 से० मी० आकार का लिफाफा भेजने पर निम्न से 15 जुलाई 1985 तक प्राप्य।

दुर्गाशंकर भट्ट

सचिव, अ० भा० वानिकी साहित्य पुरस्कार योजना
वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, डा० घ०, न्यू-फारेस्ट (देहरादून) 248006

इक्कीसवीं शती : स्वागत और अभिनन्दन

[विज्ञान परिषद्, प्रयाग के तत्त्वावधान में भाषण]

(19 जून 1985)

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

प्रत्येक दिन के पीछे के विगत सौ वर्षों को हम विदाई देते हैं, और उस दिन के आगे के सौ वर्षों का हम अभिनन्दन करते हैं। मनुष्य के जीवन की भी एक सम्भवनीय शतायु है, और हममें से प्रत्येक व्यक्ति सौ वर्ष जीने का अभिलाषी है—दीर्घायु हो, पूर्णायु हो, शतायु हो, सौ शरद जीवें, सौ हेमन्त जीवें, सौ वर्ष जीवें, सौ वसन्त जीवें, ऐसी वैदिक उक्तियों से हम परिचित हैं। आज हमारा वर्ष 1985 कहलाता है, 15 वर्ष बाद ही हमारा सन् 2000 ई० कहलावेगा। और फिर इक्कीसवीं शताब्दी प्रारम्भ हो जायगी। मैं 1905 ई० में पैदा हुआ था। असम्भव तो नहीं, पर मेरे लिए 15 वर्ष और जीने की सम्भावना कम है, पर आप सब तो 25 वर्ष से 65 वर्ष तक के श्रोता मेरे व्याख्यान को सुनने आये हैं। मेरा आशीर्वाद है, प्रभु की कृपा से आपको बीसवीं शती को विदाई और 21वीं शती का स्वागत करने का सुखद अवसर मिले।

हम भारतीयों या हिन्दीभाषियों का एक और कैलेण्डर है—विक्रमी संवत्। आज 1985 ई० में 2042 वि० संवत् है, अर्थात् 42 वर्ष पहले विक्रम की दृष्टि से हमारी 21वीं विक्रम शती प्रारम्भ हो गयी थी। उस समय 1943 ई० (सन्) थी। 21वीं विक्रम शती में हमारा देश स्वतंत्र हुआ था, और सम्पूर्ण 20

वीं विक्रम शती अंग्रेजी के शासन में हमारे देश की कटी। हमारा एक शक संवत् भी है। आज-कल 1907 शक है, ईसवीं सन् से 78 वर्ष पिछड़ा। इसके हिसाब से 21वीं शती आने में अभी 93 वर्ष हैं। (1985 ई० = 2042 वि० = 1907 शक)

जिस 21वीं शती के स्वागत की मैं बात कर रहा हूँ, वह ईसा के जन्म से सम्बन्ध रखती है। 1943 ई० में हमने विक्रम संवत् का उत्सव धूमधाम से मनाया था। उज्जयिनी-मध्यप्रदेश में। विज्ञान परिषद् के एक पुराने सदस्य, प्रयाग विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के विद्यार्थी, मेरे मित्र (विज्ञान के सम्पादकों में भी उनका कुछ समय नाम रहा) श्री युधिष्ठिर भार्गव भारतीय शासन सेवा (I. C. S.) में ऊँचे पद पर थे, और मध्यप्रदेश उनकी सेवास्थली थी। युधिष्ठिर जी के परिश्रम से एक “विक्रम स्मृति ग्रन्थ” प्रकाशित हुआ था (2001 वि० में, 1944 ई० में)। ग्वालियर के नरेश सर जीवाजी राव शिन्दे के संरक्षण में। श्री युधिष्ठिर भार्गव भी दस विशालकाय भव्य ग्रन्थों के पाँच सम्पादकों में से एक थे। आप सब विज्ञान परिषद् के स्नेही हैं। अभी 15 वर्ष का समय है। अगर आप चाहें, तो अभी से तैयारी करें, और अपने दृष्टिकोण से 2001 ई० में 21वीं शती के स्वागत में भव्य स्मृति ग्रन्थ निकालें।

21वीं शती का स्वागत आप करें, किन्तु इस दृष्टि से नहीं, कि जो विश्वव्यापी कैलेण्डर हमारे वैज्ञानिक जगत् ने स्वीकार किया है, उसका सम्बन्ध महात्मा ईसा (यीशू, क्राइस्ट) से—Jesus of history and Christ of faith से है। हमें और आपको महात्मा ईसा के प्रादुर्भाव से कोई सम्बन्ध नहीं, निश्चय है, कि ईसाई सम्प्रदाय के लिए यीशू मसीह का आविर्भाव बहुत ही बड़ी ऐतिहासिक घटना थी। ईसाई जगत् तो 21 वीं शती का अभिनन्दन धूमधाम से करेगा ही—करना भी चाहिए। पर हम-आप तो विज्ञान-परिवार के सदस्य हैं। विज्ञान का प्रसार पिछली तीन-चार शती में ईसा और ईसाइयत के कारण नहीं हुआ। विज्ञान और वैज्ञानिकों की तपोनिष्ठा को इसका गौरव है कि उन्होंने ईसाइयत के विरोध की परवाह न करते हुए, अपनी सत्यनिष्ठा का परिचय दिया। यूरोप में विज्ञान की प्रगति का इतिहास इस बात का साक्षी है। ईसाइयत यहूदियों (Jews) की कट्टर शत्रु है, और दोनों की कटुता को आप इतिहास से अलग नहीं कर सकते। किन्तु विज्ञान के विकास में जितना यहूदियों का हाथ है, यह किसी में छिपा नहीं। विज्ञान की परम्परा का सीधा सम्बन्ध वैदिक काल से रहा है, और इसके विकास में प्राचीन युग में चीन, अरब, यूनान, और सीरिया के लोगों ने अपनी आहुतियाँ दीं।

वैज्ञानिकों को अपने इतिहास के लिए कोई कैलेण्डर तो चाहिए था; और वह कैलेण्डर आज ईसवी कैलेण्डर है। मैं आपसे 21वीं शती के स्वागत की बात कर रहा हूँ, किन्तु यह भूल जाइये कि शती का पैमाना ईसाइयत वाला है, जिसने गैलिलियो, कॉपरनिकस आदि वैज्ञानिकों को सताया, जिसने पिछली शती में डार्विन और उसके परावर्ती विकासवादियों का विरोध किया, जिसने ऐथिल ईथर, क्लोफॉर्म ऐसे सम्मूर्च्छकों

(anaesthesia) के प्रयोग का निषेध प्रसूतिका महिलाओं की शल्यचिकित्सा में किया, या जिसने पिछले बीस वर्षों में केप-टाउन के प्रो० बर्नार्ड के हृदयान्तरण (heart-transplantation) प्रयोगों के प्रतिरोध में आवाज़ उठाई।

मेरी अपनी कल्पना है कि 21वीं शती जीवन के मूल्यांकन को एक नया आधार देगी। शताब्दियों के साथ किसी अन्धविश्वास को टंकित नहीं करना चाहिए। शताब्दी या सह-स्राब्दी हमारी इतिहास-प्रिय परिकल्पना की वस्तु है उसी तरह जैसे सतयुग और कलियुग। इनका कोई ऐसा ज्योतिषी आधार नहीं है, कि इसको हम रहस्य बना दें। इतिहास का मूल आधार “परिवर्तन” है। परिवर्तन कभी-कभी धीरे-धीरे होते हैं, और कभी बड़ी त्वरित गति से। यह एक स्वाभाविक नियम है, कि अल्प-संख्यक व्यक्ति परिवर्तन करने के लिए उत्सुक होते हैं—इनमें युग प्रवर्तक बहुत ही कम होते हैं। अधिकांश जनसमुदाय प्रत्येक नये परिवर्तन को सदेह की दृष्टि से देखता है, उसका विरोध करता है, उससे लड़ता भी है, फिर जब थक जाता है, तब वह परिवर्तन को (उपेक्षा भाव से) सहअस्तित्व का स्तर प्रदान करता है, और आगे चलकर परिवर्तन को स्वीकार कर लेता है—रूढ़िवादिता इसी प्रकार बराबर सक्रिय और पराजित होती रही है। 19वीं और 20वीं शती के विज्ञान का इतिहास इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

इंग्लैण्ड का ही इतिहास है—जब सिलाई की मशीन का आविष्कार हुआ, बुद्धी औरतों ने विरोध किया, क्योंकि हाथ की सिलाई उनकी जीविका की आधार थी। रेल का इंजन बना, रेलगाड़ी चलने लगी। घोड़ा गाड़ी चलाने वालों ने हड़तालें कीं, विरोध किया। कम्प्यूटर का युग आया, इसे भी सन्देह की दृष्टि से देखा

जाने लगा। देखना है कि इक्कीसवीं शती में और क्या क्या होगा !

21वीं शती को आप दो प्रकार से देख सकते हैं—केवल शती की दृष्टि से—20 शतियाँ बीतीं, और 21वीं आयी, यह एक दृष्टिकोण है। दूसरा दृष्टिकोण “सहस्राब्दियों” वाला है। दो सहस्राब्दियाँ बीत गयीं और हम तीसरी में प्रवेश कर रहे हैं।

विक्रम-स्मृति-ग्रन्थ में मैथिलीशरणजी की एक कविता प्रारम्भ में है—

दो सहस्र संवत् बीते हैं।

हम निज विक्रय बिना आज फिर मरे-मरे
जीते हैं।

नित्य नये शक-हूण हमारा जीवन-रस
पीते हैं।

होकर भी क्या हुए आज भी उनके मन
चीते हैं।

आपस के सम्बन्ध हमारे कड़ थे हैं, तीते हैं।

मरे-मरे हैं हाथ हृदय ये, किन्तु हाथ रीते हैं।

सन् और संवत्सर दोनों की दृष्टि से भारत का 200 वर्षों में पराभाव ही हुआ है—बाहर के लोगों का भारत में पश्चिमोत्तर मार्ग से प्रवेश करना। यह प्रक्रिया सिकन्दर के समय से प्रारंभ हुई थी। 2500-3000 वर्ष पूर्व भारतीय अपनी भाषा और संस्कृति को लेकर देश के बाहर गये और संसार मात्र में छा गये। इसके बाद पिछले 200 वर्षों के इतिहास में हम भारत से बाहर न गये—भारत पर पश्चिमोत्तर मार्ग से आक्रमण होते रहे हैं—कभी हलके, कभी विकराल। प्रथम सहस्राब्दी में जो आये वे मुस्लिम धर्म लेकर नहीं आये थे। 900 ई० के बाद जो आये थे वे भी वही, पर अब उनके साथ मुस्लिम मजहब भी आया। प्रथम विक्रमी संवत् या प्रथम ईसवी सन् दोनों में 57 वर्ष का ही अन्तर है—मालूम नहीं, हिन्दी भाषा में ‘सन्’ शब्द का किसने प्रयोग प्रारंभ किया। सन् शायद ‘सम्’ का ही

रूप है। यजुर्वेद में वत्सर, संवत्सर, परिवत्सर, इडावत्सर, आदि शब्द काल-मापी हैं। आज हम सन्-संवत् में भेद करने लगे हैं। संवत् शब्द का भी कोई अर्थ नहीं है। यह शब्द संवत्सर का लघु रूप है। वत्स शब्द का अर्थ बच्चा है, वत्सर या संवत्सर काल का बच्चा है।

भारतीय इतिहास के पाँच रंगमंच रहे—

1. पश्चिमोत्तर प्रान्त और पंजाब, 2. मथुरा, 3. मगध का मध्यदेश, 4. सौराष्ट्र-गुजरात और अवन्ती, (उज्जयिनी), 5. आन्ध्र सातवाहनों का दक्षिणपथ। मगध में ऐश्वर्यवान् राजा हुए। पंजाब में मिल-जुले राजाओं का इतिहास रहा। वल्हीओं का पार्थवों का। जब चीनियों ने शकों को छोड़ा, तो दल-बादल सहित ये शक भारत में घुस आये, जगह-जगह पर फैल गए, शकों ने मथुरा को भी आधीन कर लिया। आज हम इस समस्त इतिहास को भूल चुके हैं। शायद 21वीं शती में हम उस इतिहास को भी भूल जायें कि पहली सहस्राब्दी के बाद से जो कबीले भारतमें आये वे गजनी के थे, गौर के थे, कुछ पठान आये कुछ सैयद आये, सब ने अलग-अलग रूप में सलतनतें कीं, जो बाद को आया, वह पहले वाले का दुश्मन था। ये सभी मुसलमान थे, पर मुसलमानों ने अपने से पूर्व के मुस्लिम राज्य को न दिल्ली में बखशा, न आगरा में। मेरा अलग अनुमान है, कि इतिहास हम अतिशीघ्र भूल जाते हैं—आज तो पाकिस्तान, खालिस्तान बंगलादेश, भारत आदि की बातें हैं, वे विश्व के महान् घटनाचक्र में अतितुच्छ मानी जायगी। और 21वीं शती में हम इनको भूल जावेंगे। राज्यों की सीमाओं पर इतिहास ने कभी कोई विश्वास नहीं किया है, और ये सीमायें 40-50 वर्षों की ही चमक-दमक होती हैं। देश की 1820-50 ई० में क्या स्थिति थी, 1850-1900 तक क्या रही, हम भूल गए हैं। मेरे ऐसे व्यक्ति की आयु में हमने 1910-25 तक की स्थिति देखी,

1925-1947 तक की, 1947 से 1970 तक की और इसी प्रकार नयी-नयी परिस्थितियाँ बदलती हुई हम आज भी देख रहे हैं। आगे के युवकों के सामने इसी प्रकार का नया इतिहास भी आवेगा, और प्रवाह के समान आगे बढ़ जावेगा। पिछला सुख और दुःख, शान्ति और क्रांति, द्रोह और मैत्री हम सब भूलते जावेंगे।

यूरोप में 15वीं शती से एक नये युग का प्रारम्भ हो रहा था जिसका प्रवर्तन वहाँ के नाविकों ने किया। पुर्तगाल और स्पेन के नाविकों ने अपने परिचय के लिये दुनिया की खोज आरम्भ की। बड़ी-बड़ी नौकायें लेकर घर से निकल पड़े। इनके साथियों में नौकाओं के चलाने वाले कुशल माझी तो होते ही थे, ये लोग कुतुबनुमा यंत्र भी साथ ले जाते थे। जहाँ जाते वहाँ के फूल-पौधों का निरीक्षण करते थे, वहाँ जलचर, स्थलचर और नभोचर जन्तुओं से भी वे परिचय प्राप्त करते थे, इसके साथ पादरी धर्मोपदेशक भी होता था। इन लोगों ने जीवट के काम किये और अपरिचित लोगों का परिचय प्राप्त किया। मैंने अपनी अफ्रीका की यात्राओं में वे स्थान देखे—केप ऑव गुडहोप (दक्षिण अफ्रीका का अन्तरीप), मोम्बासा से कुछ ऊपर जहाँ वास्को-डि-गामा ने अपनी पताका लहराई। कोलम्बस तो भारत की खोज करते-करते अमेरिका पहुँच गया। 14-16वीं शती की ये घटनायें हैं, जिनसे आप परिचित हैं। भारत का मानचित्र बना है, अफ्रीका का मानचित्र बना है—ये सब नकशे यूरोप के छोटे-छोटे देशों के नाविकों की देन हैं। यूरोप के इन छोटे देशों के लोगों ने भूगोल विज्ञान की नींव डाली, साहस करके और ज़न्दगी को ख़तरे में डालकर। समुद्र यात्रा की ये कहानियाँ थीं, फिर वे द्वीप-द्वीपान्तर में और महाद्वीपों में भीतर घुस गये। उत्तरी अमेरिका, दक्षिणी अमेरिका और आस्ट्रेलिया—इन दूरस्थ स्थलों का संसार को

परिचय देना साधारण काम न था। मनुष्य ने समुद्रों और सागरों पर शासन कर लिया। यह सारा काम अस्तव्यस्त रूप से नहीं, नितान्त वैज्ञानिक ढंग से सम्पन्न हुआ। 19वीं शताब्दी के प्रथमाध्वं तर्क बहुत कुछ प्रोग्राम पूरा हो गया। यूरोपीयों ने वहाँ अपने ढंग से शासन प्रारम्भ किया। खेती की, खानों का पता लगाया, कार-खाने खोले। वहाँ की सम्पत्ति से अपने देशों के दारिद्र्य को इन्होंने दूर किया और वहाँ के वनस्थजीवन में भी परिवर्तन पैदा किये।

अपने इस कार्य में इन्हें दो जातियों से विशेष लाभ हुआ। एक तो थी अफ्रीका की नीग्रो जाति, जिसको अंग्रेजों से पूर्व भी अरब लोग दास (गुलाम) बनाया करते थे, और ये गुलाम एशिया के बाजारों में बेचे जाते थे। भारत में भी गुलाम लाये जाते थे (भारत के इतिहास में तो गुलाम वंश के कतिपय शक्तिशाली राजा भी हुए)। इन गुलामों से यूरोपीय जातियों ने काम लिया! इसके वंशों को वे मार कर समाप्त न कर पाये। ये गुलाम दक्षिण अफ्रीका से (अफ्रीका के अन्य भागों से भी, मोम्बासा, और दार एस-सलाम या जेंज़ीबार से) वेस्टइण्डीज़ और अमेरिका तक के देशों में ले जाये गये। अमेरिका के मूल निवासी रेड-इण्डियन दुनिया से समाप्त-प्राय हो चुके हैं आस्टेलिया के मूल निवासी भी देखने को नहीं मिलेंगे। पर ये नीग्रो या क्रीओल विश्व भर में फ़ैल गये। स्मरण रहे कि वहाँ दास बनाकर ले जाये गए थे, और खेतों में इनसे बेरहमी से काम लिया जाता था।

यह तो थी अफ्रीका की कहानी। भारत में जब यूरोपीय आये (पुर्तगीज़, फ्रेंच, अंग्रेज) तो उन्होंने साम-दाम दण्ड-भेद से इस देश का शासन अपने हाथ में कर लिया। दासत्व की निर्मम प्रथा को ईसाइयों ने 19 वीं शती के अन्त में समाप्त कर दिया। उनकी जगह पर मजदूरों

की आवश्यकता हुई। इस आवश्यकता की पूर्ति में अंग्रेजों ने भारतीयों से काम लिया। बहका-फुसला कर बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश के लोगों को ये “गिरमिटिया” बनाकर अपने उपनिवेशों में ले गये और इस प्रकार जब हमारे भारतीय डच-गायना (जिसे आज सूरनाम कहते हैं) पहुँचे, तो वहाँ ये अच्छी डच भाषा बोलने लगे, जब ट्रिनिगड पहुँचे तो अंग्रेजी बोलने लगे, जब मारिशस पहुँचे तो फ्रान्सीसी बोलने लगे, और जब दक्षिण अफ्रीका पहुँचे, तो भारतीय अन्य भाषाओं के समान अफ्रीकान भाषा भी बोलने लगे हैं। उपनिवेशवाद के अन्तर्गत जितने भी उपनिवेश बने थे, वे कतिपय यूरोपीय राष्ट्रों के ही थे—जर्मन, डच, पोर्तुगीज़, अंग्रेज़, फ्रेंच और स्पेन के। रूस अभी मैदान में 19वीं शताब्दी में नहीं आया था। जर्मन उपनिवेश प्रथम महायुद्ध के अन्ततक समाप्त हो गए थे। रूस को बीसवीं शती के प्रारम्भ में ही जापान ने हरा दिया था। इतिहास का एक बड़ा चमत्कार-पूर्ण वैचित्र्य है कि दूसरे महायुद्ध के अन्त में साम्राज्यवाद समाप्त हो गया—सबसे बड़ा अंग्रेज़ी साम्राज्य था, जो सिकुड़ कर इंग्लैंड, स्कॉटलैंड, और वेल्स के भीतर ही रह गया—आयरलैंड भी इसके हाथों से निकल गया।

भारतवर्ष विदेशी शासन के पराधीन केवल 1857 से 1947 तक रहा—90 वर्ष। सौ वर्ष अंग्रेज़ों के हाथ में आने में लगे (1772-1856)। 1909 में औरंगज़ेब की मृत्यु हुई थी, और मुग़ल शासन समाप्तप्राय था। अंग्रेज़ों से पूर्व हम किसी विदेशी शासन के आश्रय में कभी न थे। केवल निकट के विदेशों से आये हुए आततायियों के शासन में रहे। जो भी आया, उसने हमारे देश के कुछ भाग पर अधिकार जमा लिया। राज्य करने लगा, फिर बाहर से कोई दूसरा आया, उसने भी अधिकार कर लिया। पर जो भी आये, उनका अपने मूल देशों पर कोई भी

अधिकार न था। वहाँ उनकी प्रतिष्ठा भी न थी। पाठानों, सैयदों, खिलज़ियों, तुग़लकों और मोग़लों—सब का यही हाल हुआ। साथ ही यह भी बात है कि भारतीय कभी इतिहास में संघटित नहीं रहे। विदेश से आकर जम गए आततायी को कभी भारतीयों ने देश-शत्रु नहीं माना। व्यक्तियों का स्वार्थ अवश्य था, पर किसी ने इस बात को राष्ट्रीय प्रश्न नहीं बनाया, कि दिल्ली, लाहौर, लखनऊ, पटना, या सुदूर दक्षिण का कौन शासक है। इस देश के न हिन्दू संघटित थे न मुसलमान। कभी-कभी धर्म के नाम पर हिन्दुओं को कुछ ग्लानि हो जाती थी, पर उनको सामूहिक रूप से कोई चिन्ता न थी, 900 से 1900 ई० तक 1000 वर्षों में 10 करोड़ भारतीय मुसलमान बन चुका था।

150 वर्ष पहले 1838 ई० के लगभग जो भारतीय कुली बनाकर विदेशों में ले जाये गए थे, वे आज वहाँ की धरती पर मालिक हो गये हैं—उन्होंने उन छोटे देशों की राष्ट्रीयता को स्वीकर कर ली है। 20वीं शती के इतिहास की यह अलौकिक घटना है। इन भारतीयों को विदेशों में शासन करने में रुचि कम है—अधिक रुचि तो खेती और व्यापार में है। दूसरी जातियों की अपेक्षा अनेक देशों में भारतीय बहुसंख्या में ये हैं पर इनके अल्पसंख्यक क्रिओल साथी ही उस भूमि के मालिक हैं। 21वीं शती में क्रिओलों का (काले अफ्रीकीयों का) देश देशान्तर में शासन बढ़ेगा।

साम्राज्यवाद का अन्त करने में जिन शक्तियों ने विशेष भाग लिया है—उनमें प्रमुख रूस, संयुक्तराज्य अमेरिका और चीन हैं। जापान की स्थिति अपनी निराली है। जर्मन और जापान—यही दो देश ऐसे हैं जिनमें जीवन है, तपस्या है, स्फूर्ति है, और विचित्र संघटन-शक्ति है। रूस को जापान ने हराया तो दुनिया में जापान का नाम हो गया। भारत को चीन ने

हरा दिया, और तब से इस विजय ने उसे शक्ति-शाली राष्ट्रों में ऊँचा स्थान दे दिया है।

21वीं शती का आरम्भ एक संघर्ष से होगा। यह सवर्ष हिमालय के दक्षिण भाग में होगा। इसे हम तृतीय विश्व युद्ध कह सकते हैं। इसके चिह्न स्पष्ट दिखायी दे रहे हैं—अमेरिका ने जपान और चीन से समझौता कर रक्खा है, भारत ने रूस से मैत्री की हुई है। अरब, फारस का कोई महत्व नहीं है (इनके पास तेल का व्यापार मात्र है, तेल से कमाया हुआ धन भी है, किन्तु न नीतिकौशल है, न विज्ञान, न सैन्यशक्ति। आज रूस और अमेरिका दो विशाल शक्तियाँ हैं, इनकी प्रतिद्वन्द्विता से 21वीं शती के युद्ध का आरम्भ होगा। हो सकता है कि परमाणु बम का प्रयोग भी हो। हो सकता है कि विषाक्त-गैसों का भी प्रयोग हो (जिसका सफल प्रयोग भोपाल में हो चुका है)। युद्ध 3-4 सप्ताह का ही होगा। कौन नष्ट होगा, कौन बचेगा, इसका अनुमान लगाना कठिन है। हिन्द महासागर के कुछ स्थल इस महायुद्ध के प्रहरी बनेंगे, पर अधिक विनाश बर्मा से लेकर अरब फारस तक के देशों का होगा। भारत और पाकिस्तान दोनों की एक सी हानि होगी। मैं राजनीतिक प्राग्बोषणा नहीं करना चाहता, किन्तु जिस प्रकार का तनाव दिखाई दे रहा है, उसका परिणाम और कुछ नहीं हो सकता—केवल युद्ध।

इस समय 3 करोड़ के लगभग भारतीय भारतवर्ष से बाहर बसे हुए हैं। जो जिस देश में है, उसका उस देश से संबंध घनिष्ठ हो जायगा। ऐसी परिस्थिति में देशप्रेम या राष्ट्रप्रेम का एक नया रूप उद्घाटित होगा, जिसकी आज कल्पना करनी कठिन है।

एक बात निश्चित है, कि इस तीसरी सहस्राब्दी में जन-जीवन पर से धार्मिक और राजनैतिक सम्प्रदायों का प्रभाव मिट जावेगा। धार्मिक सम्प्रदायवाद का प्रथम वपन पारसी

धर्म के प्रवर्तक महात्मा जरथुस्त के समय से हुआ, जिनको लोगों ने पैगम्बर मशहूर किया (मनुष्य और ईश्वर के बीच में एक विशेष मानव) इस मानववाद में ईसा मसीह और हज़रत मोहम्मद, मूसा, बुद्ध और जैन तीर्थंकर आये, और फिर इसी में से भारतीय अवतारवाद भी अंकुरित हुआ। यह विशिष्ट मानववाद पिछले 2500 वर्ष की कहानी है। 21वीं शती में यह कहानी लुप्तप्राय होने लगेगी। लोग न पैगम्बरवाद स्वीकार करेंगे, न अवतारवाद। आगे के लोगों को एक सूत्र में बाँधनेवाला साधन विज्ञान (वेद, वेदांग, ज्ञान विज्ञान शास्त्र) होगा। विज्ञान किसी देश की बपौती नहीं होगा। समस्त देश मिलजुल कर इसका विकास करेंगे।

मनुष्य का भावी धर्म अध्यात्ममिश्रित विज्ञान होगा। अन्धविश्वासों से मुक्त उसकी आस्तिकता होगी। आस्तिकता का आधार विशाल सृष्टि की अपौरुषेय रचना होगी। यह अपौरुषेय सृष्टि वैज्ञानिकों के अध्ययन का क्षेत्र है। यह सृष्टि-मिथ्या नहीं, स्वप्न नहीं है, यह स-उद्देश्य है, निरुद्देश्य नहीं। इस सृष्टि की रचना में मनुष्य और पशु की सृष्टि भी है, उनके अन्नमय प्राणमय, मनोमय, आनन्दमय और विज्ञानमय कोश की विलक्षणताओं का अध्ययन भी है। इस सृष्टि में दया है, न्याय है, सद्भावना है और जीवन के उच्चतम मूल्य हैं। यह सुघटित सृष्टि विश्व-पुरुष की अपौरुषेयता का प्रमाण है।

स्पष्ट है कि मन्दिरों, मस्जिदों, गिरजों, गुरु-द्वारों, और पागोडाओं के दिन अधिक न रहेंगे। न अवतारों के, न पैगम्बरों के, अगली सभ्यता और अगला धर्म फिर विनम्र मनीषियों का, ऋषियों का, मुनियों का, और तपस्वी वैज्ञानिक साधकों का होगा जिनकी निष्ठा सत्य, तपस्या,

श्रम, निस्स्वार्थ कर्म और प्राणि-कल्याण में होगी।

मैं अपनी पिछली एक यात्रा में बार्सिलोना के एक गिरजे को देखने को गया (मेरिया या मरियम के नाम पर यह गिरजा था)—यह गिरजा संसार का सबसे ऊँचा गिरजा बनने को था। इसके सामने का भाग तैयार हो गया था। उसे गिराने के अधिकारी ने मुझसे बड़े खेद से कहा, कि लोग गिरजा बनाने के लिए अब दाम नहीं देते—विश्वविद्यालयों के निर्माण के लिए देते हैं। यह 22 वर्ष पुरानी बात है। इस शताब्दी के प्रारम्भ तक ऐसी प्रथा थी कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में एक गिरजा होता था, प्रत्येक जेल और अस्पताल में एक चैपल होता था। पर बाद में यह प्रथा अमेरिका से उठ गयी, और यूरोप में भी मिटती जा रही है। 21वीं शती में संसार को एक सूत्र में बाँधने वाले धर्म या धार्मिक सम्प्रदाय—मन्दिर-मस्जिद न होंगे, और जिस नये अध्यात्म और जीवन-मूल्यों का विकास होगा, वह लगभग उसी वैदिक परम्परा में होगा, जो युगों पहले तो थी किन्तु आज से 3000 वर्ष पूर्व लुप्त हो गयी।

19वीं शती का अन्त और बीसवीं शती का प्रारम्भ अनेक समाजवादी दर्शनों के साथ हुआ। ये समाजवादी दर्शन शिल्प और उद्योग के परिणाम थे। जिस समाजवाद की स्थापना के लिए लोगों ने क्रान्तियाँ की, खून और हत्यायें की, वह समाजवाद भी दस-दस वर्ष में बदलता रहा है। मार्क्स से लेकर बर्मा के समाजवाद तक में अब कोई समानता नहीं रह गयी है। प्रत्येक बड़े राष्ट्र के दो रूप हैं—एक तो अपने राष्ट्र को उन्नत करने के लिए, और साथ में सबका एक दूसरा विचित्र रूप है—छोटे राष्ट्रों के शोषण का। आज जब भारत के विरुद्ध चीन, अमेरिका, पाकिस्तान और जापान एक गुट

बनाना चाहते हैं, तो यह किस आदर्श समाज दर्शन के आधार पर? आज संसार अमेरिका और रूस के बीच में बँटा हुआ है। गुट-बन्दी ही प्रधान समाज दर्शन है। 21वीं शती इसी गुट-बन्दी के संघर्ष से प्रारम्भ होगी। क्या रूस समाप्त हो जायगा? क्या संयुक्त राष्ट्र अमेरिका समाप्त हो जायगा? एक युग था, जब एशियाई देशों का प्रभुत्व था, फिर दूसरे युग में यूरोपीय देशों का प्रभुत्व हुआ। फिर तीसरे युग में अमेरिका का प्रभुत्व बढ़ा—अब बारी-अफ्रीका-महाद्वीप के विस्तार की है। यह विस्तार अफ्रीका से अमेरिका (उत्तरी और दक्षिणी) तक फैला हुआ है। अमेरिका के नीग्रों में अधम-भावना नहीं है। उनमें भी एक अभिमान है। वह अपने को गोरों से कम नहीं समझता। निर्धन अवश्य है, क्योंकि उसे निर्धन रखा जा रहा है। शायद 21वीं शती के अन्त तक नीग्रो लोगों का भी भविष्य निखरने लगे।

मेरा अभिप्राय यह है कि सम्प्रदायवाद और समाजवाद, दोनों का युग समाप्ति पर है। स्वार्थ सिद्धियों के लिए दोनों के नाम चल रहे हैं। शिल्पयुग की अपनी समस्यायें हैं, और आगे के इतिहास में शिल्प या तकनीक के पोषण पर ही विशुद्ध विज्ञान का विकास होगा। शिल्प का उदय विज्ञान के बाद हुआ था। विज्ञान ने प्रकृति के व्यापारों को समझने की एक नयी विधा दी थी। इस विधा ने शिल्प को जन्म दिया। बीसवीं शती के प्रारम्भ तक यही बात थी। बीसवीं शती के उत्तरार्ध में शिल्प विशुद्ध-विज्ञान पर हावी हो गया। 21वीं शती भी शिल्प से प्रेरित रहेगी। मिट्टी का तेल समाप्त हो जायगा, कोयले की खानें भी समाप्त हो जायेंगी, जंगल नष्ट हो जायेंगे, वर्षा बन्द हो जायगी—अजीब स्थिति होगी, मनुष्य की आबादी बढ़ जावेगी। ये सब नयी समस्यायें हैं, जिससे मैं आपको डराना नहीं चाहता। यदि तीसरा महायुद्ध भारत की मूमि

पर हुआ, तो भी क्या डरने की बात है ? वही होगा, जो जर्मनी का हुआ, जर्मनी के पड़ोसी राष्ट्रों का हुआ या जापान का हुआ। दिल्ली की विशालकाय इस्पात पर खड़ी इमारतें परमाणु-बम की उत्तप्त ऊर्जा में गल कर पहाड़ी की ढेर बन जायेंगी। शायद सुदूर भविष्य में बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, लुधियाना, फरोदाबाद—ये सब स्थान लोहे की खानें बन जायें, और ध्वस्त ढेरों में से फिर इस्पात तैयार किया जाय !! विश्व के इतिहास में ऐसी घटनायें होती ही रहती हैं।

आप सब विज्ञान परिषद् के सदस्य हैं। 90 वर्ष से विज्ञान परिषद् एक स्वप्न लेकर आगे बढ़ा था। हिन्दी राष्ट्रभाषा होगी। हिन्दी के माध्यम से ज्ञान विज्ञान का उच्चतम अध्ययन होगा। संसार की नहीं, तो कम से कम एशिया की यह पारस्परिक संपर्क की भाषा होगी। 1947 ई० में देश स्वतन्त्र हुआ—हमारे स्वप्न साकार होंगे—ऐसा दीखा पर 10-15 वर्ष में ही भाषा के प्रति हमारा अनुराग फीका पड़ गया। अशक्त देश की भाषा को भी कोई नहीं पूछता। 20वीं शती के प्रारंभ में रूसी भाषा का कोई महत्व नहीं था। यूरोप में यह उपेक्षा की भाषा थी। किन्तु आज शत्रु राष्ट्र भी रूस की भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकते। यह भी स्मरण रखिये कि आपका राष्ट्र भी गौरवांवि नही हो सकता, यदि आप ने अपनी भाषा को सम्पन्न न बनाया।

विज्ञान परिषद् ने राष्ट्र की यह सबसे बड़ी सेवा की है, कि इसने हिन्दी को सशक्त भाषा बनाने का प्रयास किया। इस प्रयास को हम आगे बढ़ाने जायें, इससे बढ़ कर और कोई राष्ट्रीय सेवा नहीं हो सकती। आप युवक और युवतियों को 21वीं शती के निर्माण का अच्छा सुयोग मिलेगा। मेरा आशीर्वाद, व यह भी स्मरण रहे, की अब कोई और देश आपके देश पर शासन नहीं करेगा। शासक के ऊपर बड़ा उत्तर-दायित्व होता है—कोई विदेशी आपका उत्तर-दायित्व लेने को तैयार न होगा। 21वीं शती आर्थिक आदान-प्रदान की होगी। छोटे-मोटे युद्धों और कलहों की भी होगी। यातायात बढ़ेगा। भारत से बाहर संसार में चार-पाँच करोड़ से ज्यादा भारतीय सुख से नहीं बसने दिए जावेंगे। शायद भारतीयों को अफ्रीका, और दक्षिणी अमेरिका में जाकर बसना पड़े। इतने बड़े महाद्वीपों को थोड़े से लोगों के हाथ में नहीं सौपा जा सकता। पर यह तभी सम्भव हो सकेगा, जब भारत प्रथमश्रेणी का प्रबल राष्ट्र बन जावे। न तो रूस आपको प्रथम श्रेणी का राष्ट्र बनने देगा, न अमेरिका। यह आपस के संघटन से ही हो सकेगा। काबुल या ईरान से लेकर बर्मा तक हमें फिर एक विशाल आर्यावर्त्त संघटित करना पड़ेगा। अथवा जब ये सब देश विशाल-मित्र-राष्ट्र बन कर रहना चाहेंगे। □

चिकित्सा विज्ञान के इतिहास की कुछ रोमांचकारी घटनाएँ

डॉ० देवेन्द्र नाथ सिन्हा

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, एनाटॉमी विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई मेडिकल कॉलेज, झांसी 284128

चिकित्सा विज्ञान का इतिहास अनेकानेक रोमांचकारी और अद्भुत घटनाओं से भरा हुआ है। यह निर्विवाद सत्य है कि चिकित्सा विज्ञान के अध्ययन के लिए मानव-लाशों की आवश्यकता होती है। किन्तु प्राचीन काल से ही मानव के धार्मिक संस्कारों में बुरी तरह जकड़े होने के कारण चिकित्साशास्त्र के अध्ययन के लिये शव सामान्य रूप से उपलब्ध नहीं हो पाता था। किन्तु शवों की प्राप्ति का इतिहास कुछ कम रोचक नहीं।

सुश्रुत ने 600 बी० सी० में शरीर रचना के अध्ययन के लिए लावारिस शवों का उपयोग किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने बच्चों के ही मृत शरीर पर अध्ययन कार्य किया है। प्राचीन इतिहास को देखने पर एलसिमियान (500 ईसा पूर्व) का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने मृत मानव शरीर का विच्छेदन कर शरीर रचना के अध्ययन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किया। इतिहास साक्षी है कि इजिप्ट के (300 बी० सी०) एलेक्जेन्ड्रिया विश्वविद्यालय में शरीर रचना का अध्ययन किया गया था और हिरोफिलस (350-280 बी० सी०) का नाम इस शरीर रचना के अध्ययन के क्षेत्र में विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

चिकित्साशास्त्र में लोगों की विशेष रूचि के कारण, मृत मानव शरीर की आवश्यकता धीरे-धीरे बढ़ती गयी और इस प्रकार इसकी प्राप्ति की कहानी ग्रीक साहित्य में आज भी सुरक्षित है। इसका वर्णन हिपोक्रेटिस तथा एरिस्तातिल द्वारा भी किया गया है, लेकिन ऐसा

प्रतीत होता है कि इन लोगों ने मृत जानवरों का विच्छेदन करने के बाद शरीर-रचना का वर्णन किया है क्योंकि उन दिनों विच्छेदन क्रिया के लिए मृत मानवशरीर आसानी से उपलब्ध नहीं हो पाता था। हिरोफिलस ने भी मृत शरीर का विच्छेदन किया था जिसका विवरण आधुनिक युग में भी शरीर रचनाशास्त्र का आधारस्तम्भ माना जाता है।

50 बी० सी०—1050 ए० डी० में चिकित्साशास्त्र के अध्ययन का विकास रूका हुआ था। इसे चिकित्साशास्त्र का 'डार्क एज' कहते हैं। शव-विच्छेदन का इतिहास पुनः 14वीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। मोनडिनो डी लूजी ने 1316 में इटली में सर्वप्रथम शव-विच्छेदन किया। 16वीं शती में वेजेलियस नामक वैज्ञानिक ने शव-विच्छेदन प्रारम्भ किया तथा शरीर के संरचनात्मक अध्ययन के महत्व के बारे में जानकारी दी जिसका उपयोग आधुनिक विज्ञान के लिये आवश्यक बताया गया है। उन्होंने शवों की प्राप्ति के लिये अनेक उपाय किये जिसका उल्लेख अत्यन्त रोमांचकारी था। वेजेलियस ने 6 स्त्री शवों का विच्छेदन भी किया, जिसमें दो शव हत्या के उपरान्त लाये गये थे। शरीर रचना के अध्ययन हेतु उन्होंने शवों को पोस्टमार्टम के बाद शीघ्रता से विच्छेदित करवाया ताकि शवों को परिवार वालों को देने के पहले छात उनको भली-भाँति देख सकें तथा आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकें। उन दिनों अपराधियों को सूली पर चढ़ा देने के बाद उनके शवों को, चोरी-छिपे लाकर

इस प्रकार विच्छेदित कर देते थे ताकि उन्हें पहचाना न जा सके। इस प्रकार उनका उपयोग शरीर रचना के अध्ययन में लाया जाने लगा। शवों को छिपाने के लिये लोगों ने उनको अपने शयन-कक्ष में रखा ताकि लोग उनको खोज न पायें। एक बार की घटना है कि जब वेजेलियस शवों की खोज में कब्रगाह पर गये तो कुछ ऐसे कुत्तों ने उनके ऊपर आक्रमण कर दिया जो अपने भोजन के लिये लाशों की खोज में कब्रगाहों के आसपास घूम रहे थे। वेजेलियस जिस समय पढ़वा में आचार्य के पद पर आसीन हुये, उस समय चीर-फाड़ के लिए शवों की अत्यन्त कमी थी। उन दिनों शवों की खोज में वे कब्रगाहों तक जाते थे और शवों की चोरी करके नाव पर रख कर एक छोटे से नाले के द्वारा, जो मेडिकल कॉलेज के समीप से होकर बहता था, लाते थे। एक बार की घटना है कि एक मृत पुजारी के शरीर से शीघ्र ही त्वचा हटा दिया गया ताकि वह पहचाना न जा सके। फिर उसका उपयोग शरीर रचना अध्ययन के लिये किया गया। इस तरह अनेक अध्यापक एवं छात्र शवों की प्राप्ति के लिये अथक प्रयास करते थे। शवों की प्राप्ति चोरी, डकैती द्वारा ही संभव हो पाती थी क्योंकि शव सामान्यतः सुलभ नहीं हो पाता था। इससे शरीर रचना एवं चिकित्साशास्त्र के अध्ययन में बाधा उत्पन्न हो जाती थी। शवों की डकैती की सबसे पहली घटना 14वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चार चिकित्साशास्त्र के विद्यार्थियों द्वारा की गई। इसका उल्लेख गैलेन ने अपने लेखों में किया है।

सन् 1828 में लन्दन शहर में 100 से अधिक शवों की डकैती की घटनायें प्रकाश में आईं। कठोर कानून एवं पुलिस की सतर्कता के बावजूद भी शवों की चोरी की गयी तथा सुरक्षा के लिये बन्दूकों की भी सहायता ली गयी। अन्त में इस कार्य को लोगों ने व्यवसा-

यिक रूप दे दिया, यहाँ तक कि एक शव को किसी चिकित्सा विद्यालय को बेचने पर 5 पौंड से 50-60 पौंड तक प्राप्त हो जाने लगा।

जब कभी अपराधी बन्द हो जाते थे तो इन्हीं पैसों के द्वारा अपनी जमानत भी करा लेते थे। जेल में रहने तक इनके ठेकेदार इनके परिवार के पालन-पोषण के लिये खर्च भी देते थे अतः उस समय तक यह कार्य सुव्यवस्थित व्यवसाय का रूप ले चुका था।

उन दिनों शरीर रचना के विशेषज्ञों ने अपने घर पर ही शव-विच्छेदन गृह का निर्माण करने का प्रबन्ध कर लिया था जहाँ पर विद्यार्थी अध्ययन करते थे। 1928 में शवविच्छेदन के लिये इस प्रकार के सात केन्द्र लन्दन शहर में तथा कई निजी स्कूलों के रूप में अन्यत्र कार्यरत थे। समय के साथ-साथ चिकित्सालयों में शवों की माँग बढ़ती गई क्योंकि विद्यालय एवं चिकित्साविज्ञान के छात्रों की संख्या अत्यधिक बढ़ गयी। इसका परिणाम यह हुआ कि लोगों ने अपने सगे-सम्बन्धियों को मृत्यु के पश्चात् कब्रगाह न ले जाकर (आर्थिक भावना से प्रेरित होकर) चिकित्सा विद्यालयों को देकर पैसा अर्जित करने लगे। यही नहीं, लोगों का लोभ इतना अधिक बढ़ गया कि वे मृतकों के हकदार बनकर मूर्छित पड़े हुये व्यक्तियों को पैसे के लालच में शव-विच्छेदन गृह तक ले जाकर बेच देते थे। और जब लोभ चरम सीमा तक पहुँच गया तो लोग शराब के नशे में धुत लोगों को भी शवों की तरह बेच देने लगे।

शवों को दूर दराज के चिकित्साविद्यालयों को उपलब्ध कराने के लिये उन्हें बन्द डिब्बों में रखकर कपड़े इत्यादि का लेवल लगाकर चोरी-छिपे एक जगह से दूसरी जगह भेजा करते थे। कई बार इन पैकेटों और गद्दों को स्टेशन इत्यादि से न छुड़ाने के परिणामस्वरूप दुर्गन्ध आने पर इस रहस्य का पर्दाफाश हुआ।

घटना 1783 की है। जॉन हन्टर ने एक बार ओब्रियन नामक एक आयरलैण्डनिवासी को देखा जो आठ फीट चार इंच लम्बा था। चिकित्साशास्त्र में उसके इस अनोखे एवं आश्चर्यजनक लम्बाई का उल्लेख करने के लिये तथा मृत्यु के पश्चात् उसका कंकाल प्राप्त करने की जॉन हन्टर को प्रबल इच्छा हुयी। ओब्रियन को इसका आभास हो गया था। कहते हैं जब ओब्रियन बीमार पड़ा तो उसकी निगाहें जॉन हन्टर से बचने के लिये भयभीत थीं क्योंकि उसको डर था कि जॉन हन्टर उसके मृत शरीर को पाने के लिये लालायित है। जॉन हन्टर ने उसके नौकर होबिसन के द्वारा 500 पौंड में उसके शव को प्राप्त कर लिया। ओब्रियन की मृत्यु 1 जून 1783 में हुई। उसके ताबूत (काफिन) को पत्थर से भरकर भारी कर दिया गया ताकि लोग समझे कि इसमें शव रखा है। ताबूत को समुद्र में डूबो दिया गया ताकि लोग यह समझें कि ओब्रियन को मरणोपरान्त पानी में दफना दिया गया।

अंततोगत्वा उसका कंकाल आयरिश चैनल में न रहकर आज भी जॉन हन्टर के म्युजियम (वर्तमान रॉयल कॉलेज ऑफ सर्जन्स के म्युजियम) में देखा जा सकता है। यह चिकित्सा-शास्त्र के इतिहास की अनोखी घटना है।

घटनाओं का क्रम इतना क्रूर हो गया कि ऐन्ड्रीव ने अपनी बहन के शव को कब्र से निकाल कर शवविच्छेदन क्रिया के लिये बेच दिया। एक बार की घटना है कि शव को कब्र से लेकर इडिनबरा के डॉ० लिज़ार को दे दिया गया और फिर उनके घर से चोरी करके पुनः डॉ० नाकस को बेच दिया गया।

शवों की बढ़ती हुई आवश्यकता एवं माँग को देखदे हुबे तथा आर्थिक उद्देश्य की प्राप्ति के लिये घृणित हत्यायें भी की गयीं जो चिकित्सा-शास्त्र के इतिहास के काले पृष्ठों पर अंकित हैं।

1828 में विलियम वर्क तथा हेरे ने 16 हत्यायें कीं तथा इन शवों को शरीर-रचना के अध्ययन हेतु डॉ० नाकस को बेच दिये। अन्त में इन हत्याओं को गंभीरता पूर्वक लिया गया तथा न्यायालय ने इन दोनों को मौत की सजा सुनाई तथा लिखा की अगर मौत के बाद उनके कंकाल को रखने का प्रचलन होता तो अवश्य ही ऐसा किया जाता ताकि लोगों को इस घृणित अपराध की याद ताज़ी होती रहे। 28 फरवरी 1829 को विलियम वर्क को मौत की सजा दी गयी। यही नहीं, उसके शरीर को सार्वजनिक शव विच्छेदन करने के लिये उपलब्ध करा दिया गया। इस अपराध के बाद लोगों ने अपना क्रोध प्रदर्शित किया तथा सम्बन्धित लोगों जैसे डॉ० नाकस के मकान को भी ध्वस्त कर दिया। डॉ० नाकस ने इस घटना के समय अपने घर के पिछले दरवाज़े से भाग कर किसी तरह अपनी जान बचाई।

शवों की चोरी विश्व के अन्य भागों में भी हुयी जैसे अमेरिका में सिसिसिनाटी (बोट्टो), वेल्टीमोर फिलेडेलफिया, न्यूयार्क। इन्हीं कारणों से 1788 में इन जगहों पर उपद्रव भी हुये। इन सब बातों को देखते हुये ब्रिटेन में 1928 में 'वार्वर्टन ऐक्ट ऑफ एनाटॉमी' बना जिसके द्वारा लावारिस शवों को चिकित्सा-विद्यालयों में भेजने का प्रावधान किया गया ताकि लोग चैन की नींद सो सकें तथा शवों की चोरी जैसे घृणित अपराध को रोका जा सके।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में भी शव-विच्छेदन का अत्यधिक महत्व है। समस्या आज भी पहले जैसी ही है। शवों की माँग दिनों-दिन बढ़ रही है लेकिन शव आवश्यकता से कम उपलब्ध हो पाते हैं। इस समस्या के निदान के लिए जन-जागरण की आवश्यकता है।

लोगों में इस बात की जागृति पैदा करने

की आवश्यकता है कि मरणोपरान्त लोग अपने शरीर को चिकित्सा-विद्यालयों को दान कर दें ताकि उसका उचित उपयोग हो सके। नेत्र,

हृदय एवं किडनी ट्रान्सप्लान्टेशन इत्यादि जैसे कार्यों में उनका उपयोग कर ज़रूरतमंदों की सेवा की जा सके।]

फ्लोराइड और हमारा स्वास्थ्य

डॉ० मुशीला राय

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342001

विश्व स्वास्थ्य संगठन ने फ्लोराइड और नाइट्रेट को हानिकारक रसायनों के रूप में घोषित किया है। जल में फ्लोराइड की 1 मिलीग्राम प्रति लीटर (पी० पी० एम० या पार्ट्स पर मिलियन) तक की स्वीकृत मात्रा है तथा अधिकतम सीमा 1.5 पी० पी० एम० तक निश्चित की गई है (सारणी 1)। संयुक्त राज्य अमेरिका की जन स्वास्थ्य सेवा ने इसकी मात्रा 0.7 से 1.7 पी० पी० एम० तक निर्धारित की है जो कि 10° से 32.5° औसत अधिकतम दैनिक तापक्रम पर आधारित है। अधिक तापक्रम वाले उष्ण देशों में बच्चे अधिक पानी पीते हैं अतः वहाँ औसत मात्रा 0.7 पी० पी० एम० निर्धारित की गई है ताकि दैनिक फ्लोराइड की मात्रा पर नियन्त्रण रखा जा सके (सारणी 2)। स्वास्थ्य संगठनों ने फ्लोराइड की 1 पी० पी० एम० तक मात्रा स्वस्थ दाँतों के निर्माण में परम आवश्यक मानी है, परन्तु 1.5 पी० पी० एम० से अधिक मात्रा वाले फ्लोराइडयुक्त जलों के सेवन से दाँतों में बदरंगापन, खोखलापन और टूटना, भुरभुरापन पनपना और हड्डियों में लचीलापन समाप्त होना आदि लक्षण पाये जाते हैं। ये सभी असामान्यताएँ फ्लोरोसिस रोग के लक्षण हैं, जो कि फ्लोराइड की अधिक मात्रा के सेवन से मनुष्य और चौपायों को स्थाईतौर पर विकलांग बना देते हैं। किसी भी उपचार के

द्वारा इन रोगियों को ठीक नहीं किया जा सकता।

भारतवर्ष में दाँतों के बदरंगापन (Mottling of teeth) का रोग सर्वप्रथम मद्रास राज्य में सन् 1933 में पाया गया था। इसके पश्चात् 1934 में हैदराबाद प्रान्त के कुछ स्थानों में पशुओं में फैली इस बीमारी का उल्लेख मिलता है। फ्लोरस्फार (CaF_2), क्रायोलाइट ($(\text{Na}_3\text{-AlF}_6)$), और फ्लोएपेटाइट [$3\text{Ca}_3\text{PO}_4)_2$, $\text{Ca}(\text{F},\text{Cl})_2$] अयस्कों के रूप में फ्लोरीन पाई जाती है। ये फ्लोराइड खनिज पानी में घुलनशील नहीं हैं, परन्तु अनुकूल परिस्थितियों में ये भू-जल में घुलनशील हो जाते हैं। प्रायः सतही जलों में फ्लोराइड की मात्रा 0.3 पी० पी० एम० तक पाई जाती है परन्तु ज्वालामुखी लावा से निर्मित चट्टानों के निकट पाये जाने वाले जल में यह 1000 पी० पी० एम० से अधिक पाई गई है। इससे भी अधिक मात्रा माइका खनिज (68,000 पी० पी० एम० तक) में विद्यमान है। भू-गर्भी द्रवों में फ्लोराइड की मात्रा 1 से लेकर सैकड़ों पी० पी० एम० तक रिपोर्ट की गई है। समुद्र के जल में इसकी औसत मात्रा लगभग 1.3 पी० पी० एम० होती है। यदि भारत की नदियों का अवलोकन करें तो जहाँ गंगा में ऋषिकेश के निकट 0.12 पी० पी० एम० हैं वहीं सर्वाधिक आन्ध्र प्रदेश के धर्मावरम् की

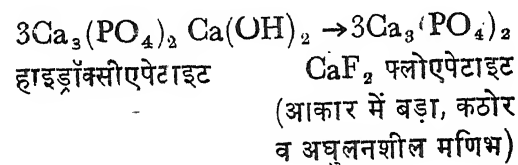
चित्रावती में 3.5 और तमिलनाडु की ताम्रपर्णी नदी में भी 3.5 पी० पी० एम० फ्लोराइड है। हाल के सर्वेक्षणों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि भारतवर्ष के कई प्रान्तों में इसकी जल में मात्रा 20 पी० पी० एम० तक विद्यमान है। इन राज्यों में विशेषकर पंजाब, राजस्थान, आन्ध्रप्रदेश, गुजरात, मद्रास और कर्नाटक के ऐसे कई हजार गाँव सम्मिलित हैं जिनमें फ्लोरासिस से आक्रान्त लाखों रोगी निवास करते हैं। राजस्थान के कुछ गाँवों में रहने वाले रोगी कुबड़े व बाँके हो गये हैं अतः यह क्षेत्र बाँका-पट्टी के रूप में जाना जाता है। इंडिया टुडे (15 मई 1985) के सर्वेक्षण के अनुसार राजस्थान के थार मरुस्थल से जुड़े क्षेत्रों में ही लगभग 3.5 लाख लोग इस बीमारी के कारण लंगड़े हो गये हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय पेय जलदाय और स्वास्थ्य-चित्ता दशक (1981-1990) में भारत सरकार ने शुद्ध पेय जल सभी को सुलभ कराने के लिए निश्चित लक्ष्य रखा है जिसके अन्तर्गत सभी राज्यों के समस्याग्रस्त गाँवों में यह कार्य प्राथमिकता के तौर पर किया जा रहा है।

प्रकृति ने हड्डियों और दाँतों की ऊपरी सतह पर हाइड्रॉक्सीएपेटाइट उपलब्ध कराया

है जो कि अधिक कठोर न होने के कारण फ्लोराइड की अनुपस्थिति में अम्लों, आघात और अन्य रासायनों के लिए अवरोधक नहीं है। फ्लोरीन की 1 पी० पी० एम० तक की मात्रा दाँतों की ऊपरी सतह पर पाये जाने वाले हाइड्रॉक्सीएपेटाइट मणिभों को बड़े, सुदृढ़ व अधुलनशील फ्लोएपेटाइट मणिभों में परिवर्तित कर देती है जो कि दाँतों को एक सुरक्षा कवच प्रदान करता है तथा कठोर तन्तुओं के निर्माण में सहायता करता है। यह कवच आजीवन दाँतों पर बना रहता है, जिसके फलस्वरूप दाँत खोखले नहीं होते तथा हड्डी, दाँत व तन्तु पुष्ट बने रहते हैं। यह परिवर्तन लगभग दस वर्ष की आयु तक पूर्ण हो जाता है। यदि इस आवश्यक आयन को बच्चों को न दिया जाये तो उनके दाँत खोखले हो जाते हैं और जीवन-पर्यन्त कमजोर बने रहते हैं।

रसायनिक सूत्र से परिवर्तन निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है—



सारणी 1—पेयजल के मापदंड फ्लोराइड के संदर्भ में
(फ्लोराइड की मात्रा पी. पी. एम. में)

विश्व स्वास्थ्य संगठन (W. H. O.)		भारतीय आर्युविज्ञान अनुसंधान संस्थान (I. C. M. R.)		संयुक्त अमेरिका जनस्वास्थ्य सेवा (U. S. P. H. S.)	
वर्ष	मात्रा	वर्ष	मात्रा	वर्ष	मात्रा
1963	1.5 तक	1962	1 से 2 तक	1962	0.7 से
1971	0.8 से 1.5 तक	1975	1.0 से 1.5 तक		1.2 तक

सारणी 2—संयुक्त राज्य अमेरिका के जनस्वास्थ्य सेवा द्वारा विभिन्न तापक्रमों पर निर्धारित फ्लोराइड्स की मात्रा (पी० पी० एम०)

औसत अधिकतम दैनिक तापक्रम (से० ग्रे०)	सीमा		निर्धारित सीमा
	निम्न	उच्च	
10.0—12.1	0.9	1.7	1.8
12.2—14.6	0.8	1.5	1.7
14.7—17.7	0.8	1.3	1.5
17.8—21.4	0.7	1.2	1.4
21.5—26.2	0.7	1.0	1.2
26.3—32.5	0.6	0.8	1.1

सारणी 3—फ्लोराइड्स से शरीर के विभिन्न अंगों पर पड़ने वाले दुष्प्रभाव

फ्लोराइड्स की खुराक (पी० पी० एम०)	माध्यम	प्रभाव
0.002	वायु	वनस्पति के लिए हानिप्रद
1	जल	दाँतों के खोखलेपन में कमी
2 या 2 से अधिक	जल	दाँतों में बदरंगापन
8	जल	अस्थि रोग
20 से 80 प्रतिदिन या इससे अधिक	जल और वायु	लंगड़ापन थायरॉयड परिवर्तन
50	भोजन और जल	
100	भोजन और जल	वृद्धि में अवरोध
125 से अधिक	भोजन और जल	गुर्दे में परिवर्तन
2.5 से 5	अत्यधिक खुराक	मृत्यु

सारणी 4—जल और भोजन द्वारा प्रतिदिन ली जाने वाली
फ्लोराइड्स की मात्रा (पी० पी० एम०)

आयु (वर्ष)	जल द्वारा	भोजन द्वारा
1—3	0.390—0.560	0.027—0.265
4—6	0.520—0.745	0.036—0.360
7—9	0.650—0.930	0.045—0.450
10—12	0.810—1.165	0.056—0.560

यदि जल में फ्लोराइड की मात्रा 1.5 पी० पी० एम० से अधिक ली जाती है तो सम्पूर्ण अस्थिपंजर असामान्य हो जाता है। शरीर के विभिन्न अंगों पर अधिक फ्लोराइड की मात्रा लेने का प्रभाव सारणी 3 में दर्शाया गया है।

फ्लोरीन का कैल्शियम फॉस्फेट से निर्मित हड्डियों से अत्यधिक लगाव होता है जिसके परिणामस्वरूप फ्लोराइड कैल्शियमयुक्त यौगिकों के रूप में हड्डियों और कठोर तंतुओं के ऊपर लगातार संग्रहित होता रहता है। इनमें पाये जाने वाले कैल्शियम, फॉस्फोरस, मैग्नीशियम और साइट्रेट आदि के संतृप्त हो जाने के पश्चात् भी इनमें फ्लोराइड असामान्य रूप से संग्रहित होता चला जाता है जिससे अस्थिपंजर असामान्य और भारी हो जाता है। इसमें कुबड़ापन, बाँकापन, टेढ़े हाथ-पैर, जोड़ों पर गाँठें, सीने पर हड्डियों का उठाव, टूटे चितकबरे दाँत और अन्य अस्थि-दोष सम्मिलित हैं।

पिछले पाँच दशकों में विभिन्न देशों में फ्लोराइड का मनुष्य और जानवरों पर पड़ने वाले प्रभाव पर गहन शोधकार्य किया गया है और यह निष्कर्ष निकाला गया है कि पशुओं पर भी फ्लोराइड का दुष्प्रभाव मनुष्यों के समान ही है। मल-मूत्र और पसीना आदि के द्वारा शरीर फ्लोराइड को निष्कासित करता है। परीक्षणों से यह ज्ञात हुआ है कि मल द्वारा 10 से 30 प्रतिशत और पसीने से 50 प्रतिशत तक फ्लोराइड की कुल खाई गई मात्रा निष्कासित की जाती है। गर्म प्रदेशों में 5 पी० पी० एम० से अधिक फ्लोरीन मनुष्य पेशाब द्वारा प्रतिदिन निष्कासित करता है।

जिन प्रदेशों में फ्लोराइडरहित जल वितरित किया जाता है और जिसके कारण बच्चों के दाँत खोखले हो जाते हैं, वहाँ फ्लोराइड की आपूर्ति के लिए खाने व चूसने वाली गोलियाँ

फ्लोराइडयुक्त नमक और फ्लोराइडयुक्त मल्टीविटामिन व अन्य मिश्रण दिये जाते हैं जो कि लाभकारी सिद्ध हुये हैं। विदेशों में जलदाय विभाग 1 पी० पी० एम० का जल सामान्यतया वितरित करते हैं। विभिन्न प्रकार के फ्लोराइड-युक्त मंजन और जेलियाँ भी कुछ अंश तक लाभकारी पाये गये हैं। विभिन्न प्रकार के मंजनों में स्टेनस फ्लोराइड सोडियम फ्लोराइड (0.22%) और मोनो फ्लोरोफॉस्फेट (0.76%) आदि यौगिकों का प्रयोग होता है। हमारे देश में मोनो फ्लोरोफॉस्फेट का ही अधिक प्रचलन है।

जल में से अत्यधिक फ्लोराइड को दूर करने के लिए मुख्यतया दो विधियाँ काम में लाई जाती हैं। प्रथम विधि के अन्तर्गत फ्लोराइड को तलछट के रूप में परिवर्तित कर दिया जाता है। राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी शोध संस्थान, नागपुर (NEERI) द्वारा विकसित नालगोंडा विधि द्वारा फिटकरी और चूने के उपयोग से फ्लोराइड को तलछट में परिवर्तित कर दूर किया जा सकता है। दूसरी विधि के अन्तर्गत आयनएक्सचेंज रेजिन के उपयोग हैं जो कि फ्लोराइड को अपने में सोख लेते हैं।

विभिन्न आयु के बच्चों के लिए जल व भोजन में फ्लोराइड की मात्राएँ निर्धारित की गई हैं (सारणी 4)। खाद्य पदार्थों में जहाँ तक चाय का सम्बन्ध है, विश्व स्वास्थ्य संगठन (WHO) की एक रिपोर्ट के अनुसार चाय की सूखी पत्तियों में इसकी अत्यधिक मात्रा (86 से 98 पी० पी० एम०) तक पाई जाती है। एक उवाल में ताजी पत्तियों से 300 पी० पी० एम० तक यह जल में घुलकर आ जाती है। दूध मिश्रित चाय में इसका असर लगभग समाप्त हो जाता है, परन्तु नित्य प्रति काली चाय का सेवन दाँतों व हड्डियों के लिए बहुत हानिकारक सिद्ध हो सकता है।

अन्त में यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि

प्लोराइड का प्रयोग दो धार वाली तलवार के समान है। 1 पी० पी० एम० तक यह हमारा सच्चा मित्र है और हमारे स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है परन्तु 1.5 पी० पी० एम० से

अधिक इसकी जल में मात्रा हमारे लिए घातक है जो कि स्थाई तौर पर लाखों नागरिकों को अपंग बना रही है, अतः इस तथ्य से जनसाधारण को परिचित कराना अत्यन्त आवश्यक है। □

वन्यजीव संरक्षण : 7-13 जुलाई वन सप्ताह के अवसर पर

मेंढक बचाओ

सतीश कुमार शर्मा

फॉरेस्ट रेंज ऑफिसर (टी०), सदरन फॉरेस्ट रेंजर्स कॉलेज, कोयम्बतूर, तमिलनाडु-641002

मनुष्य के शौक बहुत अजीबोगरीब होते हैं। कभी उचित तो कभी अनुचित। कभी आवश्यक तो कभी अनावश्यक। कभी स्थाई तो कभी शीघ्र बदलने वाले। जहाँ तक मनुष्य के भोजन की बात है वह कभी न एकसा रहा है और न रहेगा। आरम्भ में जब मनुष्य इस धरती पर पैदा हुआ, कंद-मूल-फल और जानवरों का कच्चा माँस ही उसका भोजन था।

आरम्भ में माँसाहारी भोजन को लिस्ट बहुत छोटी थी लेकिन धीरे-धीरे वह बड़ी होने लगी। अब तो हालत यहाँ तक पहुँच चुकी है कि न केवल भेड़, बकरी, गाय, सूअर, हरिण, खरगोश, मुर्गे, कबूतर, तीतर, साँप, कछुये आदि ही मनुष्य का माँसाहारी भोजन हैं बल्कि दीमक, केकड़े, झींगा, चूहे, टिड्डे, मेंढक, चींटियों के अंडे और न जाने कौन-कौन से तुच्छ समझे जाने वाले जीव मनुष्य के भोजन में स्थान पाते जा रहे हैं।

नये स्वादों में मेंढक खाने का स्वाद भी दिनों-दिन बढ़ रहा है। अमेरिका और यूरोपीय देशों में मेंढक खाने का फैशन तेजी से बढ़ता जा रहा है। सौभाग्य से भारत में मेंढक खाने का फैशन अभी इतना नहीं बढ़ा है तथापि मेंढकों की

कुछ जातियों के अस्तित्व को खतरा पैदा हो रहा है क्योंकि विदेशी माँग को पूरा करने के लिए बड़ी मात्रा में जीवित मेंढकों की पिछली टाँगें बेरहमी से काट कर भारतीय बन्दरगाहों से विदेशों को भेजी जाती हैं।

भारत में 1970 से 1980 के बीच 1317486 किलोग्राम से लेकर 3764414 किलो ग्राम तक मेंढकों की टाँगों का निर्यात होने का अनुमान है। मेंढकों का इस उद्योग में कितना विनाश होता है इसका अनुमान विश्व वन्य प्राणी कोष की इस रिपोर्ट से लगाया जा सकता है कि मात्र 1984 में 200 मिलियन मेंढकों को मारा गया।

भारत में यह उद्योग मेंढक की तीन जातियों पर आधारित है—(1) राना टिग्रिना (2) राना क्रासा तथा (3) राना हैक्साडैक्टाइला। राना टिग्रिना की एक बड़ी संख्या जीवविज्ञान प्रयोगशालाओं में प्रतिवर्ष समाप्त कर दी जाती है। लेकिन जब से इसकी टाँगें बाहर भेजी जाने लगी हैं यह प्राणी दबाव में आता जा रहा है।

मेंढक की टाँगों का निर्यात टाँगे प्रति किलो-ग्राम के हिसाब से किया जाता है। विदेशों को 2/4, 4/6, 6/8, 9/12...41/50, 61/80 आदि

श्रेणी की टांगों का निर्यात किया जाता है। 2/4 से तात्पर्य है 2 से 4 तक टांगें या टांगों के टुकड़े प्रति किलोग्राम। 6/8 का अर्थ है 6 से 8 टांगें या टांगों के टुकड़े प्रति किलोग्राम। विदेशों में 6/8 तथा 61/80 श्रेणी की टांगें बहुत लोक-प्रिय हैं।

मेंढकों का यह विनाश कृषि पारिस्थितिकी में काफी असंतुलन पैदा कर सकता है। मेंढकों का मुख्य भोजन कीट-पतंगे हैं। ये कीट-पतंगे हमारी कृषि तथा वन फसलों के बहुत बड़े शत्रु हैं। अगर मेंढकों का विनाश इसी तरह हुआ तो कृषि पारिस्थितिकी तन्त्र (Agro-Ecosystem) में फैली एक महत्वपूर्ण भोजन शृंखला (Food chain) टूट जायेगी और खाद्य जाल (Food web) में दरार पड़ सकती है जिसके दुष्परिणाम हमें भविष्य में भुगतने पड़ सकते हैं।

सरकार ने मेंढकों को बचाने की दिशा में कुछ प्रयत्न किये हैं। इन्हें भारतीय वन्य प्राणी सुरक्षा अधिनियम 1972 के तहत अनुसूची 4 में शामिल किया गया है। 15 जून से 15 जुलाई तक इन्हें पकड़ने पर पाबन्दी लगा दी है। स्मरण रहे यह अवधि मेंढकों का प्रजनन काल होता है। सरकार ने छोटे मेंढकों के पकड़ने पर रोक लगाने के उद्देश्य से 80 टांगें प्रति किलोग्राम श्रेणी के निर्यात पर रोक लगा दी है। हाँलाकि सरकार मेंढक संरक्षण पर ध्यान दे रही है परन्तु जब तक जन साधारण विशेष कर किसान जागरूक नहीं होंगे, उनकी खेती के रखवाले इसी तरह समाप्त होते रहेंगे। आइये, यह हम सबका फर्ज है कि मेंढकों के संरक्षण हेतु जन चेतना जागृत करें और इन्हें विलुप्त होने से बचा लें। □

उड़नतश्तरियों की वैज्ञानिक व्याख्या

आशुतोष मिश्र

1947 से 1973 के बीच यू० एफ० ओ० (अर्थात् उड़नतश्तरी) देखे जाने की अनगिनत खबरें थीं—धीमें-धीमें आम लोगों के साथ-साथ वैज्ञानिकों का भी इनमें विश्वास दृढ़ होने लगा। सन् 1980 और 1984 के मध्य भी न्यूयार्क के आस-पास उड़नतश्तरियों को अनेक व्यक्तियों ने देखा। इसलिए नवम्बर 1984 में ब्रूस्टर, न्यूयार्क में एक कान्फ्रेंस हुई। विषय था—“यू० एफ० ओ०”। इसमें उन सभी व्यक्तियों को आमन्त्रित किया गया जिन्होंने उड़नतश्तरी देखने का दावा किया था। अधिकतर व्यक्तियों के अनुसार ये उड़नतश्तरियाँ अन्डाकार गोलाकार अथवा ‘v’ आकृति की होती हैं। इनमें लाल, हरी बत्तियाँ जलती रहती हैं; ये आकाश

में बिना किसी ध्वनि के उड़ती हैं तथा अचानक गायब हो जाती हैं।

खगोलवेत्ता जे० एलेन हाइनेक, जिनकी अध्यक्षता में यू० एफ० ओ० कान्फ्रेंस हुई थी, उड़नतश्तरियों में विश्वास करते हैं। उनका कहना है, “जिन क्षेत्रों से हम खबरें प्राप्त करते हैं वहाँ मुख्यतः पायलट, नौसेना अधिकारी व अन्य उच्च अधिकारी रहते हैं—कम से कम वे तो झूठ बोलेंगे नहीं।”

परन्तु यहाँ झूठ और सच का प्रश्न ही नहीं उठता। एक ओर जहाँ अनेक व्यक्ति उड़नतश्तरियों को दूसरे ग्रहों से आने-वाले यान समझते हैं, वहीं दूसरी ओर, इनकी सही व्याख्या हो चुकी है। विमानिकी के अध्ययन से

जुलाई 1985 ○

विज्ञान

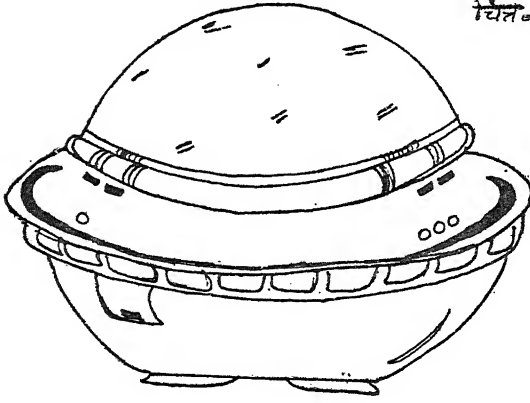
○ 17

यह बातें विमानों के विषय में ज्ञात कर सकते हैं कि—

(i) प्रत्येक विमान के अग्रभाग में लैण्डिंग लाइट्स (Landing Lights) लगी होती है जो विमान लैण्ड करते या उतारते समय प्रयुक्त होती हैं।

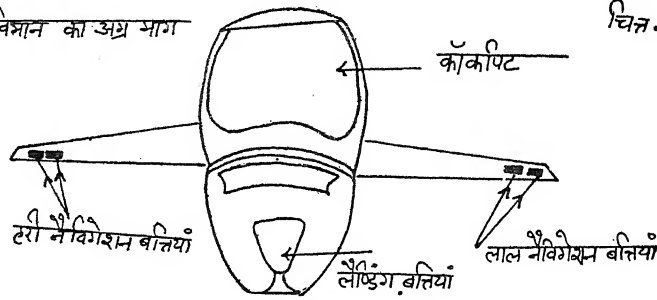
(ii) प्रत्येक विमान के बाएँ पक्ष छोर (Left wing tip) पर लाल वा दाहिने पक्ष छोर (Right wing tip) पर हरा मार्ग-दर्शक प्रकाश (Navigation Lights) लगा होता है। (देखिए चित्र)

(iii) 5000 फीट की ऊँचाई पर उड़ते विमान की ध्वनि पृथ्वी पर नहीं सुनाई



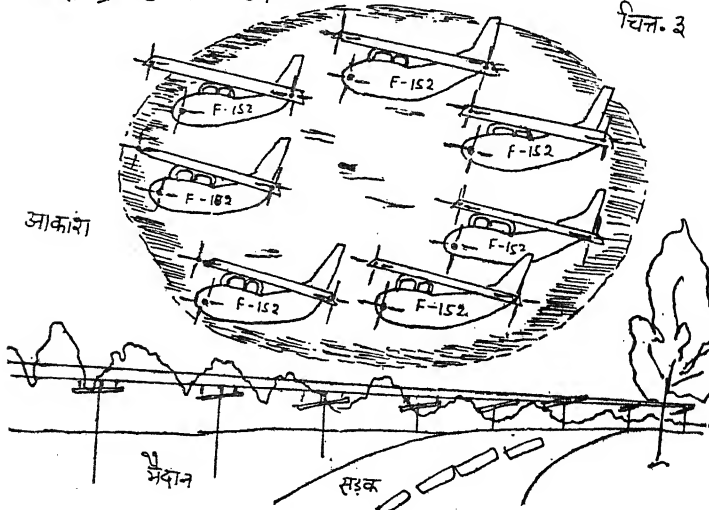
चित्र-1

विमान का अग्र भाग



चित्र-2

क्षेत्र में उड़ते विमानों से सड़क पर जाते व्यक्ति को अनतररी का भ्रम हो सकता है।



चित्र-3

देती; 3000-4000 फीट की ऊँचाई पर उड़ते विमान की एक हल्की ध्वनि आती है जिसे “हम” (“hum”) कहते हैं।

(iv) रात्रि में भी विमानों के झुंड अनेक प्रकार की आकृतियाँ (formations) बना कर चल सकते हैं जो कि मार्गदर्शक प्रकाश तथा रेडियो सम्पर्क द्वारा सम्भव है। (देखिए चित्र)

हडसन नदी घाटी क्षेत्र में, जहाँ उड़न-तश्तरियाँ देखे जाने की खबरें मुख्यतः प्राप्त होती हैं। ऐसे अनेक व्यक्ति हैं जिनके पास अपने छोटे विमान हैं - जिनमें फ्लाईंग सेसना (Flying Cessna) 152 विमान अधिकतर व्यक्तियों के पास हैं। यह विमान केवल एक इंजन का होता है, तथा उड़ते समय बहुत ही क्षीण ध्वनि उत्पन्न करता है। हडसन क्षेत्र के इन शौकिया पायलटों ने दिन के साथ-साथ रात्रि में भी अपनी उड़ानें प्रारम्भ कर दीं। इनके विमान इतने पास पास उड़ते कि कभी तो इनके पक्ष छोरों (wing tips) के बीच की दूरी मात्र 6 इंच रह जाती है। यह कठिन कार्य वे मार्गदर्शक प्रकाश तथा 122.8 व 122.9 मेगाहर्ट्ज पर रेडियो सम्पर्क द्वारा कर लेते हैं। अब आप देखिए कि इन विमानों से उड़नतश्तरियों का भ्रम कैसे पैदा हो सकता है।

मानिए कि आठ फ्लाईंग सेसना 152 विमान रात्रि में 4000 फुट की ऊँचाई पर गोल आकार बनाये उड़ रहे हैं। सड़क से जाने वाला कोई भी व्यक्ति जब आकाश की ओर देखेगा तो उसे करीब 10-16 लाल-हरी बत्तियाँ तथा 5-8 पीली बत्तियाँ दिखेंगी। एकाएक सभी विमान अपनी बत्तियाँ बुझा देते हैं, तो तब व्यक्ति को उनके गायब हो जाने का भ्रम हो जाता है और वह यही निष्कर्ष निकालता है कि उसने उड़न-तश्तरी देखी।

जब पायलटों ने लोगों के भ्रम को देखा तो उन्हें भी आनन्द आने लगा जबकि रात्रि में उड़ते समय मार्गदर्शक प्रकाश बन्द करना

कानूनी अपराध है। हडसन घाटी में तो बात यहाँ तक बढ़ गई कि लोगों ने उड़नतश्तरियों पर लेख लिख-लिख कर स्टार्मविले हवाई अड्डे के बुलेटिन बोर्ड पर लगाने प्रारम्भ कर दिए—दुकानों पर “यू० एफ० ओ० चॉप्स”, “यू० एफ० बिस्किट” तथा ऐसी अनेक वस्तुएँ बिकने लगीं।

परन्तु अचानक ही एफ० ए० ए० (Federal Aviation Administration) की एक टीम ने अपने दौरे में ऐसे अनेक चालकों को अपनी हिरासत में ले लिया जो बिना मार्गदर्शक प्रकाश के उड़ान भरते थे। फलस्वरूप इन दिनों हडसन घाटी में उड़नतश्तरियाँ दिखनी बन्द हो गई हैं।

इससे पहले भी सन् 1967 में अमेरिका की कांग्रेस ने वैज्ञानिकों व भौतिकशास्त्रियों का दल नियुक्त किया जिसके अध्यक्ष थे—प्रो० एडवर्ड कॉनडन। दो वर्ष बाद इस दल की रिपोर्ट “साइंटिफिक स्टडी ऑफ अनआइडेंटिफायेड फ्लाईंग आबजेक्ट्स” (“Scientific study of unidentified flying objects”) प्रकाशित हुई। इस दल का निष्कर्ष यही था कि वास्तव में उड़नतश्तरियाँ हमारे मन का भ्रम ही हैं। यानों के समूह, उल्कापिण्ड, आकाशीय गुब्बारों आदि को अक्सर हम उड़नतश्तरी समझ लेते हैं। सेना भी यदा-कदा ऐसे प्रयोग करती है जिनसे कि उड़नतश्तरी का भ्रम पैदा हो सकता है। उदाहरणस्वरूप जब डीजल, गैसोलिन व सफेद फॉस्फोरस के मिश्रण को जलाया जाता है तब विस्फोट के साथ आकाश में एक काला छल्ला (गैसों का) बन जाता है जिसकी आकृति उड़नतश्तरी से मिलती जुलती सी दिखती है।

इस प्रकार की व्याख्याओं से इस बात की पुष्टि हो रही है कि उड़नतश्तरियाँ वास्तव में दूसरे ग्रहों से आने वाले यान नहीं। और यदि आप भी आकाश में कभी लाल-हरी बत्तियाँ जलती देख लें, तो उन्हें भ्रमवश उड़नतश्तरी न समझ बैठियेगा ! □

शुभ कामनाओं

सहित

लोहिया मशीन्स लि०
कानपुर

निर्माता

वेस्पा एक्स ई० स्कूटर्स, नायलान-6चिप्स एवं

नायलान फिलामेन्ट यार्न

द्रव्य का अविभाज्य घटक क्या है ?

डॉ० श्याम लाल काकानी

स्नातकोत्तर भौतिकी विभाग, मा० ला० व० राजकीय महाविद्यालय, भीलवाड़ा, राजस्थान

कई दशकों से वैज्ञानिक द्रव्य के अविभाज्य घटक की खोज में संलग्न है। वैज्ञानिक प्रगति के साथ-साथ द्रव्य के अविभाज्य घटक के बारे में हमारी धारणा भी परिवर्तित होती रही है। पिछली तीन दशाब्दियों में मूल कणों के क्षेत्र में हुई नई-नई खोजों ने तो इस समस्या को अत्यधिक जटिल बना दिया है।

द्रव्य या पदार्थ का अविभाज्य घटक क्या है, अर्थात् पदार्थ का सूक्ष्म से सूक्ष्म कण कौन सा है ? इस प्रश्न ने पिछली कई शताब्दियों से वैज्ञानिकों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर रखा है। सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक भौतिक-विज्ञानी ऐसे कणों की खोज में रत हैं जो पदार्थ का अविभाज्य घटक हो। भौतिकविज्ञान का यह क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत है और प्रायः इसे 'मूल कण भौतिकी' (Fundamental Particle Physics) कहते हैं। प्रायोगिक भौतिकविदों के लिए यह क्षेत्र जहाँ बड़ा ही रोचक है वहीं सैद्धान्तिक भौतिकविदों के लिए यह क्षेत्र एक बड़ा सिरदर्द भरा एवं विस्मयकारी है। जब सैद्धान्तिक भौतिकविद् पदार्थ के अविभाज्य घटक के बारे में अपनी कोई धारणा बनाते हैं तो प्रायोगिक खोजों से जोरदार धमाका कर सैद्धान्तिक भौतिकविदों की धारणा पर पानी फेर देते हैं। आइये, देखें कि द्रव्य के अविभाज्य घटक के बारे में वैज्ञानिकों की धारणायें किस प्रकार परिवर्तित होती रही हैं और वर्तमान में इस बारे में वैज्ञानिकों की क्या राय है।

18वीं शताब्दी में वैज्ञानिकों का ज्ञान अणु तक ही सीमित था अतः उस समय में अणु को

ही पदार्थ का अविभाज्य घटक माना जाता था। 19वीं शताब्दी में डाल्टन द्वारा परमाणुवाद का सिद्धान्त प्रतिपादित करने और परमाणु की खोज होने पर परमाणु को पदार्थ का अविभाज्य घटक माना जाने लगा। इस शताब्दी के प्रारम्भ में जे० जे० थॉमसन एवं लार्ड रदरफोर्ड के ऐतिहासिक प्रयोगों के परिणामों से स्थिति में अत्यधिक परिवर्तन आया। रदरफोर्ड के अल्फा कण प्रकीर्णन प्रयोग से यह प्रकट हुआ कि परमाणु पदार्थ का अविभाज्य एवं मूलघटक नहीं है अर्थात् परमाणु की भी संरचना होती है। प्रयोगों से प्राप्त प्रेक्षणों से यह निष्कर्ष निकाला गया कि परमाणु के केन्द्रक पर एक भारी धनावेशित नाभिक होता है जिसके चारों ओर स्थायी कक्षाओं में इलेक्ट्रॉन चक्कर लगाते हैं। परमाणु एवं उसकी संरचना से यह खोज नाभिक की संरचना तक पहुँची और नाभिक में प्रोटॉनों एवं न्यूट्रॉनों की खोज हुई। इसके साथ ही वैज्ञानिकों ने यह धारणा बना ली कि पदार्थ इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन से बना होता है और ये ही पदार्थ के अविभाज्य घटक हैं। उस समय इन कणों को मूल कणों की संज्ञा दी गई। लेकिन यह स्थिति भी अधिक लम्बे समय तक नहीं बनी रह सकी। प्रायोगिक भौतिकविदों ने अत्यधिक शक्तिशाली कण त्वरित्रों की स्थापना कर उनसे कई 100 BeV ऊर्जा वाले शक्तिशाली कणों से नाभिकों पर प्रहार करा कर नये-नये कणों की खोज की। कण त्वरित्रों (Particle accelerators) ने निस्संदेह मूल कण भौतिकी के विकास में महत्वपूर्ण योगदान किया है और

कर रहे हैं। यदि हम यह कहें कि कण त्वरित्रों की स्थापना के पीछे मूल भावना ही नाभिक की संरचना की जानकारी की रही तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। पिछले कुछ वर्षों में बृहद् संख्या में मूल कणों की खोज हुई है। सन् 1960 के प्रारम्भ में इन उप-परमाण्वीय कणों की संख्या लगभग 30 थी। आज इन कणों की संख्या लगभग 400 एवं इतनी ही संख्या इनके प्रतिकणों (antiparticles) की है।

इन कणों की उत्पत्ति एवं गुणों से सम्बन्धित कई प्रश्न सैद्धान्तिक एवं प्रायोगिक भौतिकविदों दोनों ही के लिए चुनौती बने हुए हैं। क्या ये कण नाभिक में ही किसी विचित्र रूप में विद्यमान हैं या द्रव्यमान और संघटन ऊर्जा की निर्मुक्ति से उत्पन्न या निर्मित होते हैं? इनके उत्पन्न होने की प्रक्रिया क्या है? इनका जीवन समय (Life time) कितना है? पदार्थ के अविभाज्य घटक से ये कण किस प्रकार संबंधित हैं।

मूल कणों के गुणों का अध्ययन ससंक्त रूप से करने के लिए कई प्रयास किये गये हैं। मूल कणों के व्यवहार को संनियमन करने वाली विभिन्न अन्योन्य क्रियाओं में स्पष्ट अन्तर ही मूल कणों के बारे में हमारे वर्तमान दृष्टिकोण का एक महत्वपूर्ण पङ्क्त है। सामर्थ्य की दृष्टि से इन्हें (i) प्रबल अन्योन्यक्रिया (ii) वैद्युत अन्योन्यक्रिया (iii) दुर्बल अन्योन्यक्रिया एवं (iv) गुरुत्वीय अन्योन्य क्रिया के अवरोही क्रम में रख सकते हैं। प्रबल अन्योन्यक्रियाएँ उन बलों को प्रदर्शित करती हैं जो नाभिक के भीतर कणों को परस्पर बाँधे रखते हैं। इस अन्योन्यक्रिया से निर्धारित कण स्तरों की विभिन्न किस्मों को सम्मिलित रूप से 'हेडरॉन' की संज्ञा दी गई है। हेडरॉनों को दो संवर्गों में विभाजित किया गया है : (i) बेरिऑन न्यूक्लिऑनिक प्रकार के कणों (प्रोटॉन, न्यूट्रॉन इत्यादि) का

समूह (ii) मेसॉन : ये प्रबल अन्योन्यक्रिया के प्रेषित के रूप में कार्य करते हैं। विद्युत-चुंबकीय अन्योन्यक्रियाओं के प्रेषित प्रकाश क्वांटा या फोटॉन होते हैं। उन सभी मूल कण अवस्थाओं का क्षय जो ऊर्जा की दृष्टि से प्रबल हाइड्रॉन उत्सर्जन या अन्य उत्सर्जन में असमर्थ होती है और प्रबल एवं वैद्युत-चुम्बकीय अन्योन्यक्रियाओं द्वारा हाइड्रॉनिक अवस्थाओं में क्षय से वर्जित होती है, दुर्बल अन्योन्यक्रियाएँ कहलाती हैं। गुरुत्वीय अन्योन्यक्रिया, सामर्थ्य की दृष्टि से अन्य सभी क्रियाओं से दुर्बल होती है, स्थूल रूप में पदार्थों के व्यवहार को निर्धारित करती है। सारणी 1 में इन चारों अभिक्रियाओं से संबंधित महत्वपूर्ण तथ्यों का संकलन किया गया है।

सारणी 1 से हमने प्रकृति की चार मूलभूत अन्योन्यक्रियाओं के बारे में जानकारी प्राप्त की। इस शताब्दी के महान वैज्ञानिक अल्बर्ट आइंस्टीन ने इन चारों मूलभूत अन्योन्यक्रियाओं को एकीकृत करने का बहुत प्रयास किया लेकिन उन्हें इसमें सफलता नहीं मिली। डॉ० अब्दुल सलाम और बिनबर्ग ने एक ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है जिससे विद्युत-चुम्बकीय अन्योन्यक्रिया एवं दुर्बल अन्योन्यक्रिया का एकीकरण संभव हो सका है। सलाम एवं बिनबर्ग को इसके लिए सर्वाधिक सम्मान का भौतिकी नोबल पुरस्कार प्रदान कर सम्मानित किया गया है। सलाम-बिनबर्ग सिद्धान्त से अब चारों मूलभूत अन्योन्यक्रियाओं के एकीकरण का मार्ग प्रशस्त हो गया है। हम आशा करते हैं कि निकट भविष्य में ही आइंस्टीन का सपना साकार हो सकेगा। चारों मूलभूत अन्योन्यक्रियाओं का एकीकरण आज भौतिकी की सर्वाधिक जटिल एवं अनसुलझी सैद्धान्तिक समस्या है। चारों मूलभूत अन्योन्य क्रियाओं के एकीकरण के प्रयासों को समझाने के लिए

मूलकरणों के वर्गीकरण, ग्रुप सिद्धांत और सममित का ज्ञान होना आवश्यक है।

सामान्यतया पदार्थ के आधारभूत कण प्रोटॉन, न्यूट्रॉन (स्थायी नाभिकों में अवस्थित) एवं इलेक्ट्रॉन होते हैं। फोटॉन को भी आधारभूत कणों में सम्मिलित किया जाता है। वैसे तो ग्रेविटॉन एवं न्यूट्रिनो को भी पदार्थ के आधारभूत कणों में सम्मिलित किया जाना चाहिए, लेकिन पदार्थ के साथ इनकी अन्योन्य-क्रिया अत्यधिक दुर्बल होने के कारण इतकी छोड़ा भी जा सकता है। अन्य आधारभूत कण अस्थायी होते हैं और अपने जीवन काल (Life time) में दो या दो से अधिक कणों में विघटित हो जाते हैं। आधारभूत कणों का जीवन काल म्यूऑनों के लिए 2×10^{-6} से लेकर हेडरॉन अनुनादों के लिए 10^{-23} सेकंड से भी कम होता है। मूल कणों को प्रायः चार वर्गों में वर्गीकृत किया जाता है।

(i) लेप्टॉन : इस श्रेणी में न्यूट्रिनो, इलेक्ट्रॉन व म्यूऑन आते हैं। न्यूट्रिनो द्रव्यमान रहित कण है यद्यपि अत्याधुनिक प्रयोगों से यह प्रदर्शित होता है कि न्यूट्रिनो का भी अति सूक्ष्म द्रव्यमान होता है।

(ii) बोसॉन : इस श्रेणी में द्रव्यमान रहित कण फोटॉन एवं ग्रेविटॉन आते हैं। ग्रेविटॉन का संसूचन अभी तक संभव नहीं हुआ है।

(iii) मेसॉन : इस श्रेणी में η मेसॉन, k मेसॉन या काइऑन एवं π मेसॉन या पाइऑन आते हैं। η मेसॉन का द्रव्यमान 548 Mev एवं जीवन समय 10^{-16} सेकंड से भी कम होता है।

(iv) बेरिऑन : इस श्रेणी में ओमेगा (Ω) कण, हाइपेरॉन (Ξ^-), Σ^- हाइपेरॉन (Ξ^0), Σ^+ हाइपेरॉन (Σ^-), Λ हाइपेरॉन (Σ^0 एवं Σ^+), लेम्डा हाइपेरॉन (Λ^0), न्यूक्लिऑन (न्यूट्रॉन n^0 एवं प्रोटॉन p^+) आते हैं।

उपर्युक्त वर्णित वर्गीकरण मूल कणों का

आभासी वर्गीकरण ही है। मूल कणों के गुणों के बारे में उपलब्ध सूचनाओं की किसी सिद्धान्त के आधार पर व्याख्या करना एक जटिलतम समस्या बनी हुई है। मूल कणों के सैद्धान्तिक मॉडलों की सहायता से अवश्य ही मूल कणों के गुणों की व्याख्या में सफलता मिलती है। अधिकांश सैद्धान्तिक मॉडलों में कण अवस्थाओं में से कुछ का समावेश कर अन्य अवस्थाओं को इनसे सरलता से प्राप्त किया जाता है। यद्यपि सभी मूल कणों के ये इमारती खंड कुछ मानों में प्रेक्षित कणों के सदृश्य होते हैं, लेकिन मूल रूप में ये अच्छी प्रकार से नहीं समझे जाने वाले सिद्धांत की कल्पित गणितीय सत्तायें ही होती हैं।

प्रबल रूप से अन्योन्यक्रियाशील कणों का एक संयुक्त मॉडल तैयार करने के लिए बहुत पहले एक सुझाव दिया गया था कि मेसॉनों को न्यूक्लिऑन और एक प्रति न्यूक्लिऑन की बद्ध अवस्था समझना चाहिए। बाद में एक सुझाव में सभी मेसॉनों को त्रिक : प्रोटॉन, न्यूट्रॉन एवं लेम्डा कणों एवं उनके संगत प्रतिकणों की गहरी बद्ध अवस्था सुझाया गई। कुछ प्रारंभिक सफलताओं के बावजूद इन मॉडलों से कुछ गलत प्रागुक्तियाँ सामने आईं जिससे ये मॉडल अमान्य हो गये।

क्वार्क मॉडल : क्वार्क मॉडल को मिश्रित कण संरचना का एक सफल मॉडल माना जा सकता है। इस मॉडल को अमेरिका के गैलमॉन एवं स्विजरलैंड के जी. ज्वीग ने सन् 1964 में स्वतंत्र रूप से प्रस्तावित किया था। इस मॉडल के अनुसार समस्त प्रबल रूप से अन्योन्यक्रियाशील कण हेडरॉन भारी पिंडों के त्रिक से निर्मित होते हैं, जिन्हें क्वार्क कहते हैं। इनके संगत प्रतिकण प्रतिक्वार्क से निर्मित होते हैं। त्रिक क्वार्कों को u , d एवं s चिन्हों और त्रिक प्रति-क्वार्कों को \bar{u} , \bar{d} एवं \bar{s} चिन्हों से प्रदर्शित करते

हैं। इन कणों पर इलेक्ट्रॉन के आवेश के रूप में भिन्नात्मक आवेश होता है। इन कणों पर आवेश इलेक्ट्रॉनिक आवेश (e) का क्रमशः $\frac{2}{3}$, $-\frac{1}{3}$ एवं $\frac{1}{3}$ होता है। यद्यपि प्रायोगिक स्तर पर अभी तक किसी भी भिन्नात्मक आवेशित कण की खोज संभव नहीं हो सकी है लेकिन सैद्धांतिक आधार पर इनकी उपस्थिति पर कोई रोक नहीं है। इन कणों की स्पिन क्वांटम 1/2

है। जबकि इनका द्रव्यमान बहुत अधिक आँका गया है। क्वार्क मॉडल के आधार पर भिन्न प्रबल रूप से अन्योन्य क्रियाशील कणों की संरचना सारणी 2 में प्रदर्शित की गई है। इनके अतिरिक्त क्वार्कों के लिए अन्य क्वांटम संख्याएँ भी निर्धारित की गई हैं जो प्रबल अन्योन्य क्रियाओं को समझने के लिए आवश्यक है। □
(शेष अगले अंक में)

सारणी 1

अन्योन्य क्रिया / गुण	गुरुत्वीय	विद्युत्-चुम्बकीय	प्रबल	दुर्बल
1. परास	अनन्त	अनन्त	10^{-13} सेमी से 10^{-12} सेमी	$< < 10^{-14}$ सेमी
2. उदाहरण	खगोलीय बल	परमाण्वीय बल	नाभिकीय बल	नाभिकीय बीटा क्षय
3. सामर्थ्य (प्राकृतिक मात्रकों में)	G न्यूटन $= 5.9 \times 10^{-39}$	$e^2 = \frac{1}{137}$	$g^2 = 1$	G फर्मी $= 1.02 \times 10^{-5}$
4. कण जिनके मध्य ये अन्योन्यक्रियाएँ प्रभावी होती हैं।	प्रत्येक कण	आवेशित कण	हाइड्रॉन	हाइड्रॉन, लेप्टॉन
5. कण जिनका इन अन्योन्यक्रियाओं में विनिमय होता है।	ग्रेविटॉन	फोटॉन	हाइड्रॉन	?
6. आपेक्षिक सामर्थ्य (प्रबल बल की तुलना में)	10^{-39}	10^{-3}	1	10^{-13}
7. अभिलाक्षणिक समय	10^{16} सेकंड	10^{-20} सेकंड	10^{-23} सेकंड	10^{-10} सेकंड

सारणी 2

क्वार्क त्रिक की मुख्य क्वांटम संख्याएँ

क्वार्क	P	$\frac{Q}{e}$	I_s	S	B	Y
u	$\frac{1}{2}+$	$+\frac{2}{3}$	$+\frac{1}{2}$	0	$\frac{1}{3}$	$\frac{1}{3}$
d	$\frac{1}{2}+$	$-\frac{1}{3}$	$-\frac{1}{2}$	0	$\frac{1}{3}$	$\frac{1}{3}$
s	$\frac{1}{2}+$	$-\frac{1}{3}$	-1	-1	$\frac{1}{3}$	$-\frac{2}{3}$

यहाँ B → बेरिऑन क्वांटम संख्या, Y → हाइपर चार्ज क्वांटम संख्या, I_s → समस्थानिक स्पिन क्वांटम संख्या, S → विचित्रता क्वांटम संख्या ($S = Y - B$)।

वैज्ञानिक ऋषि रॉजर बेकन

डॉ० श्रीमती किरण मेहरा

रसायन विभाग, गुप्त गोविन्द सिंह कॉलेज, सेक्टर 26, चण्डीगढ़

आज से एक हजार वर्ष पूर्व विज्ञान के सम्बन्ध में लोगों के हृदय में वह भावना नहीं थी जो वर्तमान समय में दिखलाई देती है। उस समय विज्ञान एक घृणित जादू की विद्या के रूप में समझा जाता था और जो लोग इसका अध्ययन करते थे व इस क्षेत्र में कार्य करते थे वे अधार्मिक घोषित किये जाते थे। प्राचीन काल में अधार्मिक घोषित किये जाने का अर्थ था जीवित जला दिया जाना, आजीवन कारावास में सड़ना या अन्य तरह से कठिन दंड भुगतना। ऐसे समय में जिन लोगों ने विज्ञान का कार्य किया वे बड़े जीवट के व्यक्ति थे। इन्हीं महापुरुषों ने अपनी कठिन तपस्या और लगन के फलस्वरूप विज्ञान को एक सुदृढ़ नींव पर स्थापित किया। रोजर बेकन इसी श्रेणी के एक महापुरुष थे जिनका जन्म 1214 में और मृत्यु 1294 में हुई।

प्राचीन समय में एलेक्जेंड्रिया विश्व-विद्यालय की संसार में बड़ी ख्याति थी। यह विश्वविद्यालय सातवीं शताब्दी के लगभग तक विद्यमान रहा। प्रसिद्ध ज्योतिषी टोलमी (Ptolemy) का समय लगभग सन् 140 ईसवी माना जाता है। किन्तु टोलमी के बाद सातवीं शताब्दी तक जिस समय तक एलेक्जेंड्रिया विश्वविद्यालय अपनी प्रसिद्धि के ऊँचे शिखर पर था, कोई प्रसिद्ध वैज्ञानिक उत्पन्न नहीं हुआ। सम्भव है इसका एक कारण यह भी रहा हो कि लोगों ने यह विश्वास कर लिया था कि प्राचीनों ने विज्ञान की पूर्ण उन्नति कर ली थी और अब आगे इस सम्बन्ध में खोज व मनन करना व्यर्थ था। कारण कुछ भी हो किन्तु

वास्तविकता यही है कि इतनी शताब्दियों में विज्ञान की कुछ भी उन्नति नहीं हुई।

विज्ञान का पुनरारम्भ आठवीं शताब्दी में आरबों ने किया। उन दिनों के अरब निवासी बड़े विद्याव्यसनी थे। वे ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में खोज के कार्य में संलग्न थे। उन दिनों के अरबों की चर्चा कार्नाइल ने इन शब्दों में की है, “वे बड़े उत्साही क्रियावाक्य तथा विचारवान स्वभाव के पुरुष हैं। उनमें एकनिष्ठा और दृढ़ संकल्प शक्ति है।”

आठवीं शताब्दी में अरब जाति अपने ऐश्वर्य के शिखर पर थी। अरबों का साम्राज्य यूरोप के एक बड़े भाग में फैला था। जेरुसलम, दमिश्क आदि बड़े नगरों पर उनका आधिपत्य था। उन्होंने अपने साम्राज्य काल में कई बड़े नगरों की स्थापना भी की। इन नगरों में टर्की में बगदाद, ईजिप्ट में कैरो और स्पेन में कारडोवा प्रसिद्ध हैं। अपने साम्राज्य के बड़े-बड़े नगरों में अरबों ने ज्ञान-विज्ञान की उन्नति के हेतु पाठशालाओं व विश्वविद्यालयों की स्थापना की। संसार के दूर-दूर के भागों से अरबों ने अपने विश्वविद्यालयों में प्रसिद्ध विद्वानों को बुलाकर एकत्रित किया। कारडोवा के विश्वविद्यालय की ख्याति संसार भर में शीघ्र ही फैल गई। साहित्य व विज्ञान का अध्ययन करने के लिए संसार के सभी भागों से विद्यार्थी कारडोवा में पहुँचते थे। इस प्रकार अरबों को इस बात का श्रेय है कि उन्होंने इतिहास के मध्यकाल में विज्ञान को प्रोत्साहन दिया और जीवित बनाये रखा। विद्या के प्रति अरबों की कितनी अधिक

रुचि थी, इस बात का अनुमान एक छोटी सी घटना से लगाया जा सकता है। अरबों के राज्य विस्तार के आरम्भिक समय तक ग्रीस के दार्शनिकों की बड़ी प्रसिद्धि थी। अरबों की शक्ति बढ़ती जा रही थी और वे यूरोप के देशों पर एक के बाद एक अधिकार करते जा रहे थे। सारा यूरोप इनसे त्रस्त था। ऐसे ही समय में अरब के बादशाह ने ग्रीस के बादशाह को एक पत्र लिखा कि वह पाँच टन स्वर्ण ग्रीस के बादशाह को देगा और इस बात की भी जिम्मेदारी लेगा कि ग्रीस में सदा शान्ति बनी रहे और कभी भी अरबों का आक्रमण न हो यदि ग्रीस का बादशाह अपने देशका एक विद्वान दार्शनिक उसके यहाँ विज्ञान की शिक्षा देने के लिए भेज दे। मध्यकालीन समय में अरबों द्वारा लिखी पुस्तकें बड़ी प्रचलित थीं और उनका सब जगह बड़ा आदर था।

अरब लोग अरस्तू के बड़े भक्त थे। अरबों ने ही ग्रीस के इस सिद्ध दार्शनिक के विचारों व उसकी पुस्तकों का प्रचार यूरोप में किया था।

अरबों के अनेक दार्शनिकों का नाम हमें इतिहास में मिलता है किन्तु इनके जीवन के सम्बन्ध की विशेष बातें हमें मालूम नहीं हैं। अरब दार्शनिक अधिकतर चिकित्सक रहे। उन्हें वर्तमान रासायनिक चिकित्साशास्त्र का संस्थापक कहा जा सकता है।

एक अरब दार्शनिक अल्हाजान के सम्बन्ध में हमें इतिहास से कुछ बातें ज्ञात हो सकी हैं। वह मेसोपोटामिया का निवासी था। उसका जीवन काल आज से लगभग एक हजार वर्ष पहले माना जाता है। इसके सम्बन्ध में एक कहानी प्रसिद्ध है कि वह ईजिप्ट आया और वहाँ के शासक को नील नदी की बाढ़ रोकने के सम्बन्ध में एक उपाय बतलाया और यह दावा किया कि इससे बाढ़ रोकने में निश्चय सफलता प्राप्त होगी। नील नदी की बाढ़ प्रत्येक वर्ष आती थी और

अपने दोनों किनारों के नगरों व गाँवों को बहा ले जाती थी। इससे ईजिप्ट की जनता बड़ी त्रस्त थी। अल्हाजान का बताया हुआ उपाय व्यावहारिक सिद्ध नहीं हुआ और नील की बाढ़ को रोकने में सहायक नहीं हो सका। इससे ईजिप्ट के शासक को अल्हाजान पर बहुत क्रोध हुआ और यदि उस समय अल्हाजान ने पागल होने का स्वांग न रचा होता तो उसका जीवित बचना कठिन था। इस घटना के बाद जब तक ईजिप्ट का यह शासक जीवित रहा अल्हाजान उसके भय के कारण एकान्त में रहा, किन्तु इस शासक की मृत्यु के बाद एकान्तवास से बाहर आकर उसने फिर अपने को एक विद्वान वैज्ञानिक सिद्ध किया।

अल्हाजान को प्रकाश-विज्ञान में बड़ी रुचि थी। उसने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध किया कि प्रकाश-किरणें सदा सीधी रेखा के मार्ग में चलती हैं। अल्हाजान चतुर प्रयोगकर्ता था। उसने प्रयोग करने के लिए एक अंधेरा कमरा चुना। इस कमरे के एक ओर की खिड़की में जरा सा छेद कर दिया जिससे केवल इसी मार्ग से प्रकाश-किरणें कमरे में प्रवेश कर सकें। उसने देखा कि जब कमरे का वायुमंडल धूलरहित, एकदम स्वच्छ रहता है तब केवल दीवार या पर्श पर एक स्थान पर ही प्रकाश केन्द्रित रहता है, किन्तु यदि कमरे की हवा में धूल के कण उड़ते रहते हैं तो वे प्रकाश की किरणों को चारों ओर प्रतिबिम्बित करते हैं जिससे कमरे में सब तरफ प्रकाश फैल जाता है। अतः यह स्पष्ट है कि अल्हाजान को प्रकाश किरणों के प्रतिबिम्बित होने के नियमों का भी ज्ञान अवश्य रहा होगा। अल्हाजान ने प्रयोग द्वारा यह भी सिद्ध किया कि प्रकाश किरणें वायु से पानी में जाने पर अपने मार्ग से टेढ़ी हो जाती हैं। इस प्रयोग को दिखलाने के लिए उसने एक काँच के गिलास में पानी भरा। पानी में प्रकाश किरणों का मार्ग

दिखलाई देने के लिए उसमें थोड़ा सा दूध डाल दिया क्योंकि बिना कुछ कणों की उपस्थिति के प्रकाश-किरणें प्रतिबिम्बित नहीं होतीं और फिर दिखलाई नहीं देतीं। आज कल इस प्रयोग को करते समय दूध के स्थान में थोड़ी लाल स्याही पानी में डाल दी जाती है। जब प्रकाश-किरणें पानी पर पड़ती हैं तो वे कुछ झुक जाती हैं और पानी से बाहर निकलने पर फिर पूर्व की भाँति सीधी हो जाती हैं। आजकल एक तेज लैम्प से प्रकाश-किरणें उत्पन्न की जाती हैं। ये किरणें एक दर्पण द्वारा प्रतिबिम्बित होकर पानी पर फँकी जाती हैं और इनका मार्ग हवा में और पानी में दूसरी ओर से देखा जाता है। इस प्रयोग के आधार पर अल्हाजान ने यह नियम मालूम किया कि जब प्रकाश-किरणें एक माध्यम से दूसरे माध्यम में जाती हैं तो वे झुक जाती हैं।

रोजर बेकन के कार्य पर अरबों की गहरी छाप थी। इसीलिए अरबों के सम्बन्ध की कुछ बातें ऊपर बतलाना उचित समझा गया। रोजर बेकन ने अरबों और विशेषकर अल्हाजान के वैज्ञानिक लेखों का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन व मनन किया था। बेकन को हम वर्तमान विज्ञान का संस्थापक कहते हैं।

बेकन के समय में विज्ञान की शोचनीय अवस्था थी। उसने एक स्थान पर लिखा है कि उसे बहुत खोज करने के बाद बड़ी कठिनाई से एक ऐसा अध्यापक मिला जो अरस्तू के सिद्धांतों की जानकारी रखता था और जिसने उन पर मनन किया था। इस अध्यापक में अच्छी योग्यता थी और यह बहुत नम्र व संकोची प्रकृति का था। अपनी नम्रता व संकोची स्वभाव के कारण यह लोगों से अपनी प्रशंसा करवाने में असमर्थ था। इसके विपरीत इससे बहुत कम योग्यता रखने वाले बहुत से व्यक्तियों ने केवल ऊपरी दिखावे तथा विज्ञापन द्वारा प्रसिद्धि प्राप्त कर

ली थी। यह दशा देखकर बेकन को इतना क्रोध आया कि उसने उस समय के अध्यापकों की कड़ी आलोचना की और यह बतलाया कि वे विज्ञान की आधारभूत बातों से कितना अनभिज्ञ थे। बेकन की यह आलोचना लोगों को प्रिय नहीं लगी। इसके कुछ ही दिनों बाद वह पेरिस चला गया। पेरिस उन दिनों विद्या का केन्द्र था। बेकन 4 वर्ष तक पेरिस में अध्ययन करता रहा और इसके बाद धर्मशास्त्र में डॉक्टर की उपाधि ग्रहण कर वह फिर ऑक्सफोर्ड वापस चला आया। बेकन की अवस्था इस समय लगभग 36 वर्ष की थी। वह एक गिर्जे में साधू हो गया। उसके ज्ञान की प्रसिद्धि ऑक्सफोर्ड में चारों ओर फैल गई। किन्तु चूँकि उसने रसायन तथा भौतिक विज्ञान का अध्ययन प्रयोग द्वारा प्राप्त किया था, उसके सम्बन्ध में लोगों में यह धारणा हो गई कि उसे अपने प्रयोगों में भूत-प्रेत आदि निकुष्ट आत्माओं की सहायता रहती है। अतः लोगों के मन में उसके प्रति भय और अविश्वास की भावना ने घर कर लिया। बेकन को लोग एक जादूगर समझने लगे। उसके सम्बन्ध में एक कहानी प्रसिद्ध है कि एक बार इंग्लैंड के राजा और रानी ने उसे अपनी जादूगरी का प्रदर्शन करने के लिए आमंत्रित किया। “उस अवसर पर बेकन ने जादू के ऐसे चमत्कार दिखलाये कि लोग आश्चर्यचकित हो गये। उसके जादू के डब्डे के संकेत करते ही न जाने किस गुप्त स्थान से प्रकट होकर लोग नाचने लगे और फिर एकाएक न जाने कहाँ अन्तर्धान हो गये; बात की बात में मेज़ पर भोजन पदार्थ रकावियों में सजकर आप से आप एकत्रित हो गया जिसका कुछ अंश राजा और रानी ने खाया भी।”

यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि लोग इस प्रकार की आधारहीन बातों पर विश्वास कर लेते हैं। कई शताब्दियों तक रोजर बेकन एक जादूगर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं

समझा गया। अठारहवीं शताब्दी के आरम्भिक काल तक वह केवल एक कीमियागर (Alchemist) के रूप में माना जाता रहा था। यह अभी थोड़े ही वर्षों पहले की बात है कि उसकी पुस्तकों के आधार पर रोजर बेकन का ठीक इतिहास लिखा जा सका है जिससे हमें उसके सम्बन्ध में ठीक धारणा बनाने में सहायता मिली है।

अन्य कीमियागरों की भाँति रोजर बेकन ने भी पारस पत्थर की खोज का प्रयत्न किया इस बात से हमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। आज भी जब कि बेकन को इस संसार को छोड़े कई शताब्दियाँ बीत चुकी हैं, हमें बहुत से बड़े वैज्ञानिक इस बात में विश्वास करते दृष्टिगोचर होते हैं। बेकन और कीमियागरों के दृष्टिकोणों में बड़ा अन्तर था। बेकन ने पारस पत्थर की खोज या ज्योतिष का अध्ययन इस उद्देश्य से कभी नहीं किया कि वह अपना स्वयं का लाभ करे। उसका सारा वैज्ञानिक अध्ययन संसार के हित के विचार से था। यदि हम उन दिनों की अवस्था को दृष्टि में रखते हुए बेकन के कार्य की समीक्षा करें तो हमें यह कहना पड़ेगा कि बेकन द्वारा की गई विज्ञान की उन्नति बहुत महत्वपूर्ण थी। उन दिनों अधिकांश जनता अनपढ़ थी। केवल कुछ लोग ही थोड़ा लिखना व पढ़ना जानते थे।

बेकन गणित का अच्छा पंडित था। उसने इस विद्या को बहुत प्रोत्साहन दिया। उन दिनों पादड़ी लोग भी अधिक विलासप्रिय हो गये थे और उनमें विद्या के प्रति कोई रुचि नहीं थी। बेकन अपने व्याख्यानों व लेखों में उनकी कड़ी आलोचना किया करता था। उसकी इन आलोचनाओं के कारण पादड़ी लोग उससे बहुत रुष्ट थे। वे इस अवसर की खोज में रहते थे कि बेकन को किस प्रकार दण्ड दिया जाय। यह अवसर उन्हें मिल गया। बेकन कुछ वर्षों के

लिए ऑक्सफोर्ड से बाहर अपने अध्ययन के कार्य के लिए गया हुआ था। उसकी अनुपस्थिति का लाभ उठाकर इन्हीं दिनों गिर्जे के उस संघ ने जिसका कि वह सदस्य था, उसके व्याख्यानों को अधार्मिक घोषित कर उसे पेरिस आजन्म कारावास की कैद भुगतने के लिए भेज दिया। उसके विरुद्ध जो अपराध लगाया गया वह यह था कि वह सच्चा धार्मिक ईसाई नहीं था और अपने प्रयोगों में जादू की सहायता लेता था। किन्तु वास्तव में उसके दण्ड का यह कारण नहीं था। पादड़ियों की बुराइयों व उनकी अज्ञानता के प्रति की गई उसकी कड़ी आलोचना ही उसके दण्ड का मुख्य कारण थी। इस कारावास के काल में उसे बहुत कष्ट दिया गया। उसे पेट भरने के लिए पूरा भोजन तक नहीं दिया जाता था। इस कारावास का बेकन ऐसे शुद्ध चरित्र व विद्वान व्यक्ति के ऊपर क्या प्रभाव पड़ा होगा, यह हमारे लिए अनुमान द्वारा समझना भी कठिन है। उसने संसार में अपने अर्जित ज्ञान व विद्या को दूसरों के लिए छोड़ने की आशा त्याग दी होगी। किन्तु ऐसी ही निराशा की अवस्था में उसके पास पोप क्लीमेंट चतुर्थ की ओर से एक पत्र पहुँचा कि पोप उसके वैज्ञानिक लेखों का निरीक्षण करना चाहते हैं। जिस समय बेकन ऑक्सफोर्ड में था उस समय यही पोप इंग्लैंड में पूर्व पोप के प्रतिनिधि के रूप में रह चुका था और वहीं उसने बेकन के ज्ञान की प्रशंसा सुनी थी। वह उन्हीं दिनों बेकन के लेखों का अध्ययन करना चाहता था किन्तु चूँकि वे अधार्मिक घोषित किये जा चुके थे इस कारण वह ऐसा न कर सका था। अब जब कि वह स्वयं पोप के आसन पर विराजमान था, वह बेकन के विरुद्ध लगाये गये अपराध को रद्द कर सकता था और इसी हेतु उसने बेकन से उसके लेख मंगवाये थे।

पोप के इस पत्र से बेकन को हार्दिक प्रसन्नता

हुई। किन्तु साथ ही थोड़ी निराशा भी हुई। निराशा का कारण यह था कि उसके पास अपने वैज्ञानिक विचारों के सम्बन्ध का कोई लेख या अन्य कोई लिखी हुई सामग्री नहीं थी जिसे वह पोप के पास अपने को निरपराध सिद्ध करने के लिए भेज सकता। उसे कोई भी पुस्तक या लेख न प्रकाशित करने की कड़ी आज्ञा थी। वह यह भी जानता था कि वह जो कुछ भी लिखेगा वह नष्ट कर दिया जायगा। अतः उसने तब तक के जीवन काल में कोई पुस्तक या लेख लिखने का प्रयत्न ही नहीं किया था। किन्तु उसके मस्तिष्क में उसके निरन्तर अध्ययन, चिन्तन तथा प्रयोग करने के फलस्वरूप विज्ञान का अपार भण्डार भरा हुआ था। पोप का पत्र पाते ही उसने तुरंत अपने विचारों को शृंखलाबद्ध कर लिखना आरम्भ किया और दो वर्षों से कम समय के भीतर ही उसने तीन बड़े ग्रन्थ लिख डाले। इन ग्रन्थों को अवलोकन करने से उसकी योग्यता का अनुमान हमें हो जाता है। ये सब ग्रन्थ उसने लैटिन भाषा में लिखे हैं, क्योंकि यही भाषा उन दिनों पढ़े-लिखे लोगों की भाषा थी। लिख जाने के बाद इन ग्रन्थों को उसने अपने एक विद्यार्थी के हाथ पोप के पास भेज दिया। अभाग्यवश जिस समय ये ग्रन्थ पोप के पास पहुँचे, पोप बहुत बीमार थे और फिर इस बीमारी में ही कुछ दिनों बाद उनकी मृत्यु भी हो गई। अतः इसका कुछ पता नहीं कि पोप, विलमेट चतुर्थ, ने इन ग्रन्थों को पढ़ा या नहीं और फिर उनके सम्बन्ध में उन्होंने क्या धारणा बनाई। किन्तु बेकन कुछ ही समय बाद कारावास से मुक्त कर दिया गया और उसे इस बात की अनुमति प्राप्त हो गई कि वह ऑक्सफ़ोर्ड वापस चला जाय। पुनः स्वतन्त्र होने के बाद से उसने जीवनपर्यन्त अपना सारा समय वैज्ञानिक कार्यों में लगाया और विशेष कर भौतिक विज्ञान सम्बन्धी प्रयोगों में। किन्तु इन दिनों भी बेकन पादड़ियों की अज्ञानता और

उनकी अन्य बुराइयों की आलोचना करने से अपने को विमुख नहीं रख सका। उसने कई लेखों द्वारा पादड़ियों को यह उपदेश देने का प्रयत्न किया कि उन्हें अपनी बुराइयों को छोड़ कर ज्ञान-प्राप्ति के मार्ग का अनुसरण करना चाहिए। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि तीन वर्ष बाद वह फिर कैद में डाल दिया गया और उसकी सारी पुस्तकें अधार्मिक घोषित कर दी गईं। इस समय उसकी अवस्था लगभग 64 वर्षों की थी। वह 14 वर्षों तक इस बार जेल में रहा और जब पुनः मुक्त हुआ तो उसकी अवस्था 78 वर्ष की थी। इस बार उसे मुक्त कराने के लिए इंग्लैंड के कई ऊँचे पदाधिकारियों की ओर से एक सम्मिलित प्रार्थना पत्र इंग्लैंड के राजा के पास भेजा गया था। मुक्त होने के बाद इस वृद्ध अवस्था में भी उसने धर्म के ऊपर एक आलोचनात्मक लेख लिखा। उसकी मृत्यु लगभग 80 वर्ष की अवस्था में सन् 1274 में हुई। इस प्रकार जीवनपर्यन्त बेकन धर्मान्ध पादड़ियों से लड़ता रहा। विज्ञान की सेवा करने के उपलक्ष में सारा जीवन उसे कठोर कष्ट में व्यतीत करना पड़ा। अपने वैज्ञानिक विचारों की सत्यता स्थापित करने के लिए उसने कितना महान त्याग किया! ऐसे ही त्यागी और साहसी महापुरुषों के उद्योगों के फलस्वरूप ही विज्ञान-वृक्ष की जड़, ऐसे कठिन समय में, जब कि चारों ओर धर्मान्धता फैली हुई थी, रोपित की जा सकी थी।

इस प्रकार रोजर बेकन को हम वर्तमान विज्ञान की नींव डालने वाला कह सकते हैं। रोजर बेकन का नाम बाद में इतिहास में इतना प्रसिद्ध हो गया कि लगभग सभी महत्वपूर्ण खोजों का सम्बन्ध लोगों ने उसके नाम के साथ जोड़ दिया। बारूद और दूरदर्शक यन्त्र के आविष्कार इसी श्रेणी में हैं। इन दोनों वस्तुओं के आविष्कार का श्रेय बहुत समय तक लोगों ने

बेकन को दिया, किन्तु अब हमें स्पष्ट रूप से ज्ञात हो गया है कि बेकन ने इस वस्तुओं का आविष्कार नहीं किया था। बेकन ने अपने ग्रंथों में बारूद की चर्चा अवश्य की है किन्तु यह बेकन से कई शताब्दी पूर्व लोगों को ज्ञात था। दूरदर्शक यन्त्र की चर्चा बेकन ने अपने ग्रंथों में कहीं भी नहीं की है। इसका आविष्कार बेकन

के कई शताब्दी बाद हुआ जान पड़ता है। इसमें सन्देह नहीं कि बेकन लेन्सों का उपयोग जानता था और उसने अभिवर्धक लेन्स (Magnifying lens) का आविष्कार किया, किन्तु दूरदर्शक यन्त्र का आविष्कार उसके द्वारा हुआ, यह नहीं कहा जा सकता। अभिवर्धक लेन्स दूरदर्शक यन्त्र से बहुत भिन्न है। □

होलोग्राफी के उपयोग

डॉ० महेश कुमार शर्मा

वैज्ञानिक, यंत्र अनुसंधान एवं विकास संस्थान, देहरादून—248008

संक्षेप में होलोग्राफी लेसर द्वारा फोटोग्राफी है, जिससे वस्तुओं के त्रिविध चित्र निर्मित किये जा सकते हैं। इस प्रकार के चित्रों को बनाने की कल्पना कोई नई नहीं है। 1948 में हंगरी में जन्मे भौतिकविद् डेनिस गैबर ने मर्करी वाष्प प्रकाश का इस्तेमाल करके सबसे पहले होलोग्राफ बनाया था। यह प्रकाश उस समय सबसे तीव्र था। उन्होंने धुंधले और अस्पष्ट प्रतिबिम्ब प्राप्त किये, परन्तु इससे उनका अद्भुत सिद्धान्त प्रतिपादित हुआ। उस समय उच्च तीव्रता का प्रकाश स्रोत प्राप्य नहीं था, जिससे प्रतिबिम्बों को तीक्ष्ण फोकस में लाया जा सके।

आरम्भ में वैज्ञानिकों ने गैबर के कार्य को महत्वपूर्ण न बताते हुए केवल मनोरंजक प्रयोग की संज्ञा दी थी। परन्तु 1960 में लेसर के आविष्कार हो जाने से स्थिति में परिवर्तन हुआ और अचानक तीव्र तथा शक्तिशाली प्रकाश स्रोत के उपलब्ध हो जाने से एक नवीन विलक्षण तकनीक होलोग्राफी विकसित हुई।

इससे पहले कि होलोग्राफी के उपयोगों के विषय में विचार किया जाए, आइए देखें कि होलोग्राफी क्या है? होलोग्राफ बनाने की तक-

नीकी रूपरेखा जटिल है परन्तु इससे सम्बन्धित सिद्धान्त अपेक्षाकृत सरल है। लेसर किरण पुंज को पहले दो भागों में विभाजित किया जाता है। एक भाग जिसे संकेत किरण कहते हैं, एक लेन्स द्वारा विस्तारित किया जाता है, ताकि यह सम्पूर्ण वस्तु पर ठीक प्रकार से पड़ सके। वस्तु से परावर्तित प्रकाश एक विशेष प्रकार की उच्च विभेदन की काँच की फोटोग्राफी प्लेट पर पड़ता है। परावर्तित प्रकाश की तीव्रता वस्तु की आकृति तथा पृष्ठीय बनावट पर निर्भर करती है और इस प्रकार प्रकाश वस्तु के विषय में जानकारी ले जाता है, जो अन्ततः होलोग्राफी प्रतिबिम्ब बनाने का आधार है।

लेसर किरण पुंज का दूसरा भाग, जिसे निर्देश किरण कहते हैं, एक विशेष कोण पर उसी फोटोग्राफी प्लेट पर डाला जाता है। दोनों किरणें जहाँ आपस में मिलती हैं, प्रकाश की तरंगें अतिव्यापन के कारण व्यतिकरण चित्राभ बनाती हैं, जो फोटोग्राफी प्लेट पर अंकित कर लिया जाता है।

निर्देश किरण का अविस्तारित प्रकाश, संकेत किरण के विस्तारित प्रकाश से व्यतिकरण

करता है, जिससे सूक्ष्म दीप्त तथा अदीप्त बैंड निर्मित होते हैं। जब एक स्रोत का प्रकाश, दूसरे स्रोत के प्रकाश से कला के आधार पर योजित अथवा वियोजित होता है। होलोग्राफ का जटिल कोड इस व्यतिकरण चित्राभ का अंकन होता है। यह प्रकाश तरंगाम द्वारा निर्मित प्रतिबिम्ब के विषय में जानकारी नहीं अंकित करता है, जैसा कि रुद्धिगत फोटोग्राफी में होता है, परन्तु यह प्रकाश तरंगाम के बारे में ही सूचना अंकित कर देता है।

होलोग्राफी प्लेट पर प्रकाश सुग्राही पायस का लेपन होता है, जिसमें सिल्वर हेलाइड के सूक्ष्म क्रिस्टल जिलेटिन के घोल में परिक्षेपित रहते हैं। साधारण फोटोग्राफी फिल्म के समान ही एक्सपोज होलोग्राफी प्लेट डेवेलप की जाती है। फिक्सण तथा ब्लिचिंग के बाद होलोग्राफी प्लेट पर जटिल विवर्तन ग्रेटिंग बन जाती है।

जब संसाधित होलोग्राफी प्लेट पर पुनः निर्माण हेतु प्रकाश उसी कोण पर डाला जाता है, जिस कोण पर मूल निर्देश किरण डाली गई थी तो प्लेट के पीछे वस्तु का पूर्ण त्रिविम प्रतिबिम्ब प्रगट होता है। यह प्रतिबिम्ब, वस्तु के ही आकार का, उसी स्थान पर और प्लेट से उसी दूरी पर बनता है, जिस दूरी पर वस्तु, होलोग्राफ लेते समय रखी गई थी। अधिक जटिल तथा महँगी विधि का इस्तेमाल करके होलोग्राफी प्लेट के सामने की ओर भी प्रतिबिम्ब पुनः निर्मित किया जा सकता है। इस प्रकार के प्रतिबिम्ब की वास्तविकता का भ्रम इतना अधिक होता है कि होलोग्राफ देख रहा व्यक्ति हाथों से प्रतिबिम्ब को छू लेने की अपनी इच्छा को कठिनाता से रोक पाता है।

होलोग्राफ को भिन्न प्रकार—परावर्तन अथवा पारगमन तकनीक—से बनाये जा सकते हैं। परावर्तन होलोग्राफी में संकेत तथा निर्देश किरणें होलोग्राफी प्लेट पर विपरीत दिशाओं

से पड़ती हैं, जबकि पारगमन विधि में ये किरणें एक ही ओर से डाली जाती हैं।

लेसर प्रकाश से अंकित किये हुए होलोग्राफ को लेसर प्रकाश से विकोडित किया जा सकता है। परन्तु आजकल व्यावसायिक कार्यों के लिए बने होलोग्राफ सफेद प्रकाश जैसे घरेलू प्रकाश लैम्प अथवा टार्च से भी देखे जा सकते हैं।

होलोग्राफी में एक विशेष गुण है कि केवल एक ही प्लेट पर एक से अधिक प्रतिबिम्ब अंकित किये जा सकते हैं। केवल निर्देश किरण के कोण के परिवर्तन से होलोग्राफी प्लेट पर अन्य प्रतिबिम्बों को अंकित करना सम्भव है। सैद्धान्तिक रूप से संचयित किये जाने वाले प्रतिबिम्बों की संख्या असीमित है और बाद में पुनः निर्माण हेतु किरण को निर्दिष्ट कोणों पर डालकर इनके त्रिविम चित्र देखे जा सकते हैं।

आइये अब हम होलोग्राफी के उपयोगों के विषय में विचार करें। होलोग्राफी का मुख्य प्रायोगिक उपयोग अभिलेखों व प्रलेखों को संचयित करना है। एक मि० सी० वर्ग आकार के होलोग्राफ से बिना लेंस के इस्तेमाल के ए-4 आकृति के बड़े प्रतिबिम्ब बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार होलोग्राफी का उपयोग माइक्रोफिश में किया जाता है। प्रतिबिम्ब उत्कृष्ट तथा अधिक झिकाऊ होते हैं। बहुत छोटे प्रतिबिम्बों को रिकार्ड करने में क्रांतिक फोकस की भी आवश्यकता नहीं पड़ती है। चूँकि आँकड़े संपूर्ण होलोग्राफ में विस्तारित होते हैं, इसलिए प्रतिबिम्ब पर धूल तथा खरोंच का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता है, जबकि साधारण फोटोग्राफी पुनरुत्पादन में इनसे काफी हानि होती है। उड़नशील रंगों के बारे में भी चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है।

उद्योग में होलोग्राफी सामान्य तौर पर इंजीनियरी संरचनाओं के परीक्षण में इस्तेमाल की जा रही है। कम्पन और कम विरूपण नापने

के लिए प्रायोगिक तकनीकों विकसित की गई हैं। विमान अवयवों के कम्पन तथा प्रतिबल के अधीन धातुओं के विरूपण दो उदाहरण हैं। इस तकनीक में परीक्षण की जा रही वस्तु के होलोग्राफी प्रतिबिम्ब को वास्तविक वस्तु पर अध्यारोपित किया जाता है। वस्तु तथा इसके प्रतिबिम्ब के मध्य आकार अथवा आमा में अतिसूक्ष्म अन्तर होने पर भी व्यतिकरण पैटर्न उत्पन्न होता है, जिससे कम्पन अथवा विरूपण के दौरान वस्तु के स्वरूप में परिवर्तन का पता तुरन्त चल जाता है।

होलोग्राफी व्यतिकरणमिति टायरों के परीक्षण में उपयोग की जाती है। व्यतिकरण चित्रात्म की तुलना द्वारा टायरों के पार्श्व किनारों के सूक्ष्म दोषों के बारे में जानकारी प्राप्त हो जाती है। लाउडस्पीकर कोन के चलन में सूक्ष्म अंतरों का पता लगाने तथा यह देखने के लिए कि ध्वनि विभिन्न आवृत्तियों पर किस प्रकार वितरित होती है, होलोग्राफी व्यतिकरणमिति का इस्तेमाल किया जाता है। इस तकनीक से विमान-इंजनों के पंखों के दोषों के बारे में भी जानकारी प्राप्त की जा सकती है।

होलोग्राफी के अनेक नये तथा विलक्षण उपयोग विकसित किये जा रहे हैं। टेलीविजन क्षेत्र में स्टूडियो प्रेषण के लिए बैकड्राप के समान होलोग्राफ प्रयोग किये जा सकते हैं। आजकल रूढ़िगत द्विविम बैकड्राप के लिए निदेशकों को कैमरा अचल रखना पड़ता है। इसके विपरीत होलोग्राफी बैकड्राप में पैनिंग तथा ट्रैकिंग स्वतन्त्रता से इस्तेमाल की जा सकती है, चूंकि कैमरे के चलने के साथ-साथ त्रिविम पृष्ठ-भूमि के स्वरूप में भी परिवर्तन होता है और ऐसा प्रतीत होता है जैसे वे वास्तविक हों। थियेटर में त्रिविम वस्तुओं को दृश्यों में प्रक्षेपित करना सम्भव है और साथ ही उन्हें वास्तविक वस्तुओं अथवा लोगों पर अध्यारोपित भी किया

जा सकता है। इस प्रकार की होलोग्राफी तकनीकों द्वारा अधिक प्रभावी और विश्वास करने योग्य पिशाचों व प्रेतों के दृश्यों को दिखा पाना सम्भव है और किसी भी शो में त्रिविम बैकड्राप द्वारा वास्तविकता का अद्भुत बोध प्रदर्शित किया जा सकता है।

त्रिविम टेलीविजन एक सम्भावना है, परन्तु इसके विकास में कुछ जटिल तकनीकी समस्याएँ हैं, जिससे यह ज्ञात होता है कि इसके निर्माण में अभी कुछ वर्ष और लगेंगे। रूस में जे० कोमार ने हाल ही में बहु-फ्रेम स्पन्द होलोग्राफी फिल्म विकसित की है जिससे पहली बार वास्तविक त्रिविम चलचित्र तैयार किये जा सकते हैं। विज्ञापन, प्रदर्शनियों, बाजारों तथा दुकानों में विज्ञापन-पट्ट पर प्रदर्शन के लिए होलोग्राफी द्वारा क्रांति आने की सम्भावना है, जिसमें प्रतिबिम्बों की विलक्षणता व अनूठापन अपना एक अलग ही मनमोहक वातावरण प्रस्तुत करेंगे। होलोग्राफी को विकोडित तथा प्रदर्शित करने के लिए अब लेसर के स्थान पर कम महँगे प्रकाशवान उपकरण इस्तेमाल किये जा सकते हैं, जिससे होलोग्राफी इन कार्यों के लिए और अधिक उपयोगी साबित होगी। कुछ विकसित देशों में इन कार्यों के लिए व्यावसायिक फोटोग्राफरों ने साधारण फोटोग्राफी स्टूडियो के समान ही होलोग्राफी स्टूडियो स्थापित कर लिए हैं।

सिक्केरहित सार्वजनिक टेलीफोन में होलोग्राफी कार्ड उपयोग किये जा सकते हैं। टेलीफोन बूथ में होलोग्राफी कार्ड डालने पर, होलोग्राफी पट्टी प्रकाश का एक पैटर्न उत्पन्न करती है, जिससे कार्ड पहचान लिया जाता है और टेलीफोन-काल मिल जाती है। वार्ता के दौरान होलोग्राफी कार्ड पर सन्देश धीरे-धीरे मिट जाता है और यह फिर इस्तेमाल के योग्य हो जाता है। इस प्रकार की युक्ति से कई लाभ हैं। टेली-

फॉन केन्द्र जिनमें धन का उपयोग नहीं होता है, उन्हें हानि पहुँचाने की सम्भावना कम रहती है। होलोग्राफी कार्डों को रद्दो-बदल करना या इनमें जालसाजी करना असम्भव होता है। क्रेडिट-कार्ड संस्थाएँ भी अपने ग्राहकों को होलोग्राफी कार्ड देने के बारे में विचार कर रही हैं।

होलोग्राफी द्वारा चिकित्साचित्रण में एक नया अध्याय जुड़ने की सम्भावना है। मौलिक अन्वेषण के आधार पर यह देखा गया है कि रुद्धिगत एक्स-रे क्रमवीक्षक द्वारा निर्मित अनु-प्रस्थ-काट चित्रों से त्रिविम होलोग्राफ बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार शरीर के आन्तरिक अंग का त्रिविम चित्र प्राप्त हो जाता है, जिससे डॉक्टरों को बहुत अधिक सहायता मिल सकती है।

रेडियोएक्टिव रोपण तथा ड्यूमर के मध्य दूरी मापने के लिये त्रिविम प्रतिबिम्बों का इस्तेमाल किया जा सकता है। भिन्न-भिन्न कालों में लिये होलोग्राफ को अध्यारोपित कर चिकित्साधिकारी भीतरी कैंसर के बढ़ने अथवा घटने के विषय में जानकारी प्राप्त कर सकते हैं और इस बारे में अभी तक पता लगाना बहुत कठिन था। न्यूरोलॉजी में त्रिविम चित्रों द्वारा सर्जन छोटे घावों को सरलता से पृथक कर

सकते हैं; जिन्हें दूर करना इतना आसान नहीं था।

दन्तचिकित्सक क्लीनिकल आँकड़े संचयित करने के लिये होलोग्राफी का उपयोग कर सकते हैं। उपचार से पहले तथा बाद में मुँह की ठीक-ठीक अवस्था का रिकार्ड रखने के लिए विश्व के दन्तचिकित्सक प्रतिदिन हजारों भारी तथा भंगुर पेरिस प्लास्टर के साँचे बबवाते हैं। चिकित्सा, अनुसंधान तथा अन्य कारणों की वजह से उपचार के उपरान्त भी इन साँचों को कई वर्षों तक सुरक्षित रखना पड़ता है, जिससे संचयन तथा पुनः प्राप्ति की असीमित समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसके विपरीत साँचों के स्थान पर, मुँह के त्रिविम होलोग्राफी आँकड़ों को रोगी के विवरणों के साथ एक लिफाफे में बिना किसी कठिनाई के बहुत अधिक समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

होलोग्राफी अभी भी शैशवकाल में है। जैसे-जैसे इसके विज्ञान तथा तकनीक में और अधिक विकास तथा सुधार होता जाएगा, होलोग्राफी के नवीनतम उपयोग उभर कर सामने आते जायेंगे और एक दिन ऐसा आयेगा जब मनुष्य के दैनिक जीवन में यह महत्वपूर्ण तथा स्वाभाविक भूमिका निभाएगी।

द्रव्य का अविभाज्य घटक क्या है ?

डॉ० श्यामलाल काकानी

स्नातकोत्तर भौतिकी विभाग, मा० ल० व० राजकीय महाविद्यालय, राजस्थान

['विज्ञान' के जुलाई अंक में आप ने द्रव्य के अविभाज्य घटक पदार्थ के मूलकणों, क्वार्क मॉडल के विषय में पढ़ा। इस अंक में प्रस्तुत है लेख का शेषांश। —सम्पादक]

क्वार्क मॉडल में मेसॉनों को क्वार्क-प्रति-क्वार्क युग्म (९ ९) की बद्ध अवस्थायें माना गया है। मॉडल के अनुसार ९ एवं ९ के मध्य आकर्षण बल वेक्टर मेसॉनों या ग्लूऑन से उत्पन्न

होता है। मेसॉन, एक से अधिक युग्म से भी निर्मित किये जा सकते हैं, जैसे (९ ९), (९ ९) इत्यादि। लेकिन वास्तव में ऐसे अन्तर्ग्रस्त निकायों की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि

सभी अच्छी प्रकार से स्थापित मेसॉनिक अनुनादों इन कणों के अधःशायी सममिति ग्रुप के ज्ञात निरूपण में सरलता से समंजित की जा सकती है।

बेरिऑन अवस्थाओं को तीन क्वार्क बद्ध अवस्थायें (9 9 9) माना गया है, जिनका संपूर्ण कोणीय संवेग \angle है। वर्तमान (9 9 9) संरूपण सभी ज्ञात अनुनादों के लिए उपयुक्त है लेकिन घनात्मक विचित्रता के मामले एवं जटिल संरचना जैसे—9 9 9 9 इत्यादि अंतर्प्रस्त होती है।

क्वार्क मॉडल के अनुसार हेडरॉनों में भारी पिंड होने चाहिए। घटकों के परिमाण स्वयं हेडरॉनों के द्रव्यमानों से एक कोटि परिमाण में अधिक होने चाहिए। घटकों की बन्धन ऊर्जा भी बहुत अधिक ऊँची होनी चाहिए जो उनके 95% विराम द्रव्यमान को हटा लेती है। सिद्धान्त रूप में ऐसे भारी पिंडों की उपस्थिति बाधक नहीं है।

हेडरॉन कण भौतिकी के क्षेत्र में क्वार्क मॉडल का उपयोग कई विभिन्न घटनाओं की व्याख्या करने में किया गया है। लेकिन अभी तक क्वार्क का प्रायोगिक स्तर पर अभिज्ञान सम्भव नहीं हुआ है। क्वार्कों की उपस्थिति के लिए कई विवेचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं जिसमें सबसे अधिक मान्य व्याख्या यह है कि इनका द्रव्यमान अब तक किये गये प्रयोगों की परास से बहुत अधिक है। उपर्युक्त वर्णित धीमी गति प्रबल बन्धता सीमा की विवेचना यह प्रदर्शित करती है कि बद्ध अवस्थाओं के प्रेक्षित गुण पूर्ण रूपेण मुक्त क्वार्कों के द्रव्यमान से मुक्त होते हैं। ये केवल प्रभावी द्रव्यमान पर निर्भर करते हैं जो कि बद्ध क्वार्क के लिए एक प्राचल है और यह विभव एवं मुक्त क्वार्कों के द्रव्यमान पर निर्भर करता है। अतः हेडरॉनों में बद्ध क्वार्कों के साथ किए गये प्रयोगों से मुक्त क्वार्कों के द्रव्यमान का अनुमान लगाना असम्भव है।

यदि क्वार्क का वास्तव में ही अस्तित्व है तो वे हेडरॉन स्पेक्ट्रम में प्रेक्षित क्वांटम संख्याओं की नियमितता की व्याख्या करते हैं लेकिन साथ ही नई समस्या भी प्रस्तुत करते हैं। क्वार्क पर इलेक्ट्रॉनिक आवेश का $\frac{1}{3}$ या $\frac{2}{3}$ गुना आवेश होता है। इलेक्ट्रॉन हेडरॉन नहीं है। यह सुझाव कि आधारभूत आवेश का मात्रक $\frac{1}{3}$ है, यह प्रश्न उत्पन्न करता है कि इलेक्ट्रॉनिक आवेश आधारभूत आवेश मात्रक का तीन गुना क्यों है? इलेक्ट्रॉन को संरचना प्रदान करने का कोई भी प्रयास बिना कठिनाई उत्पन्न किए हुए नहीं रहता। क्योंकि इससे इलेक्ट्रॉन चुम्बकीय आघूर्ण के प्रायोगिक मानों एवं सुस्थापित क्वांटम विद्युतगतिकी की प्रागुक्तियों में परिशुद्ध मतंक्य की व्याख्या नहीं की जा सकती है। ये प्रागुक्तियाँ इस मान्यता पर आधारित हैं कि इलेक्ट्रॉन एक मूल कण है जो डिराक के समीकरण को संतुष्ट करता है। इलेक्ट्रॉन के लिए सम्मिश्र संरचना उपयुक्त प्रतीत नहीं होती है।

चार्म एवं कलर सिद्धान्त

गैलमान के क्वार्क मॉडल के अतिरिक्त मुख्य रूप से सैद्धान्तिक कारणों से कई अतिरिक्त क्वार्कों के साथ भी मॉडल प्रस्तुत किये गये हैं। ये मॉडल हेडरॉनों के कुछ अतिरिक्त गुणों की व्याख्या करते हैं जिन्हें अभी तक देखा नहीं गया है। सम्मिलित किए गये अतिरिक्त क्वार्क दो प्रकार के हैं (i) चार्म (Charm) क्वार्क एवं (ii) कलर (Colour) क्वार्क। चार्म क्वार्क, गैलमान-ज्वींग क्वार्कों में सम्मिलित वे क्वार्क हैं जिन्हें आधारभूत क्वार्कों की संख्या को n करने के लिए सम्मिलित किया गया है। यहाँ n वह संख्या है जिसे प्रयोगों के साथ प्रागुक्तियों के सुमेल के लिए प्रयुक्त किया गया है। चार्म क्वार्कों की संख्या एक नई संरक्षित संख्या जैसे आवेश, कोणीय संवेग की व्याख्या करती है। चार्म

क्वार्कों का द्रव्यमान रूढ़ त्रिक क्वार्कों के द्रव्यमानों से पर्याप्त रूप से बहुत अधिक होता है।

कलर क्वार्क, n त्रिकों के समुच्चय होते हैं जिनसे कुल $3n$ क्वार्क प्राप्त होते हैं। स्वतंत्रता की कोटि जो विभिन्न क्वार्क त्रिकों में विभेद करती है, कलर की संज्ञा प्रदान की गई है। एक लोकप्रिय मॉडल लाल, नीला एवं सफेद क्वार्क त्रिकों का है। कलर उत्तेजित अवस्थाएँ भी कभी-कभी चार्म अवस्थाएँ कहलाती हैं। लेकिन इन दोनों प्रकार की अपेक्षित अवस्थाओं के मध्य एक निश्चित भौतिक अन्तर होता है। चार्म अवस्थाओं में चार्म क्वार्क होते हैं जो प्रेक्षित हेडरॉन अवस्थाओं से भिन्न होते हैं। कलर अवस्थाओं में पूर्णतया वे ही कलर क्वार्क होते हैं जो हेडरॉन अवस्थाओं में प्रेक्षित होते हैं।

क्वार्क मॉडल की उल्लेखनीय सफलता के बावजूद अब कई प्रयोगों से ऐसे परिणाम सामने आये हैं जो इस मॉडल की प्रागुक्तियों से मेल नहीं खाते हैं। स्टेनफोर्ड लीनियर एक्सीलरेटर सेन्टर, यू० एस० ए० में एक ऐसे प्रयोग में यह देखा गया कि जब उच्च ऊर्जा इलेक्ट्रॉन, उच्च ऊर्जा पोजिट्रॉनों से टकराते हैं तो बृहद् संख्या में हेडरॉन उत्सर्जित होते हैं। इन प्रयोगों में उत्पन्न हेडरॉनों से मेसॉनों का प्रेक्षित अनुपात क्वार्क

मॉडल से प्राप्त संगत मान $(2/3)$ से बहुत अधिक होता है। प्रायोगिक आधार पर अनुपात ऊर्जा आधारित पाया जाता है जो क्वार्क मॉडल की प्रागुक्तियों के विरोधाभास में है। क्वार्क मॉडल के अनुसार उक्त अनुपात ऊर्जा आधारित नहीं होना चाहिए।

क्वार्क मॉडल के कतिपय परिणामों एवं प्रयोगों के परिणामों में विरोधाभासों की व्याख्या चार्म एवं कलर सिद्धांत के आधार पर करने के लिए कई प्रयास किए गए हैं। इन प्रयासों में पर्याप्त सफलता भी मिली है लेकिन J कण के बारे में अभी भी वैज्ञानिक कलर एवं चार्म सिद्धांत पर इसकी चार्मोनियम (Charmonium) के रूप में व्याख्या से संतुष्ट नहीं हैं। प्रयोगकर्ता अभी भी विभिन्न क्वार्कों की खोज में कार्यरत हैं। निसंदेह क्वार्क का प्रायोगिक अभिज्ञान मूलकणों की संरचना को समझने में अत्यधिक महत्वपूर्ण होगा। क्वार्कों की खोज मूल कणों की संरचना को समझने एवं पदार्थों के अविभाज्य घटक को प्राप्त करने में सर्वाधिक महत्व की होगी। कुछ कमियों के बावजूद कलर एवं चार्म सिद्धांत क्वार्क मॉडल के साथ वर्तमान में मूल कणों की संरचना को प्रदर्शित करने वाला सबसे सफल मॉडल मान सकते हैं (विशेष अध्ययन हेतु देखिए : आधुनिक भौतिकी, काकानी इत्यादि M/S द स्टूडेंट बुक कंपनी, जयपुर 3)। □

गंगा नदी का समन्वित अध्ययन

डॉ० रमेशचन्द्र तिवारी

रीडर, कृषि विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गंगा भारतीय जीवन की आदि स्रोत मानी जाती है। सुख, समृद्धि, सिद्धि तथा पवित्रता प्रदान करने वाली गंगा भारतीय मनीषियों व साधकों से जुड़ती आई है। यही कारण होगा कि तमाम तीर्थस्थल गंगा से सम्बद्ध हैं। दूसरी ओर गंगा के मैदानी भाग एवं घाटी में देश की

जनसंख्या, पशुधन, कृषि एवं अन्य प्राकृतिक साधनों की प्रचुरता भी इसका प्रमाण है कि गंगा-जल में कोई विशेषता तो है ही। गंगा जल के ओषधीय गुणों का उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में भरा पड़ा है। यही कारण है कि विदेशों में 'पवित्र गंगा' वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, पत्रकारों व साहित्यकारों के लिए एक अनोखी नदी के रूप में जानी जाती रही हैं। पिछले दो दशकों में गंगा-जल प्रदूषण एवं गंगा की जो दुर्दशा हुई है उसका कुछ पंक्तियों में वर्णन कठिन है किन्तु इतनी जानकारी तो सभी को हो गई कि गंगा-जल की दशा ठीक नहीं है। किसी ने गंगा को "सीवर लाइन" कहा है तो किसी ने गंगा को "गन्दे नाले" की संज्ञा दे दिया। आर्थर कोएटलर ने यहाँ तक लिख दिया कि "वाराणसी में गंगा हिन्दू धर्म का पवित्र नरक है।" अब तो वैज्ञानिक तथ्य भी यही कह रहे हैं कि गंगा को बचाया जाना चाहिए।

गंगा का प्रदूषण कई कारणों से है। इसमें किनारे बस रहे करोड़ों की आबादी वाले नगरों का मल-जल, कूड़ा-कचरा, शव, औद्योगिक रसायनिक-पदार्थों से भरा पड़ा जल, मृदा का कटाव-छटाव आदि प्रमुख हैं। गंगा में बाढ़ की बढ़ रही समस्या, सिंचाई के लिए कम पानी के दिनों में पानी उठा लेना, आदि कारण ऐसे हैं जिन पर वैज्ञानिक अध्ययन जरूरी हो गया है।

लगभग 5 वर्षों पूर्व केन्द्रीय योजना आयोग के अध्यक्ष एवं महान कृषि वैज्ञानिक डॉ० एम० एस० स्वामीनाथन के नेतृत्व में एक समिति ने तीन योजनाओं का प्रारूप तैयार किया था। पहली परियोजना में गंगा का तथा दूसरी में हिमालय क्षेत्र तथा तीसरी में पश्चिमी घाटों का समन्वित अध्ययन करने का विचार था। अभी केवल 'गंगा नदी का समन्वित अध्ययन' परियोजना आरम्भ हो सकी है। हरिद्वार से गंगा-सागर तक गंगा के इस अध्ययन के लिए रुड़की,

कानपुर, प्रयाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, पटना तथा कल्याणी विश्वविद्यालयों को केन्द्र माना गया है। ये केन्द्र तीन वर्ष तक गंगा-जल एवं नदी का समन्वित अध्ययन करेंगे। वाराणसी के काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में बड़े पैमाने पर यह कार्य किया जा रहा है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के कृषि विज्ञान संस्थान, चिकित्सा विज्ञान संस्थान, प्रौद्योगिक संस्थान, वनस्पति विज्ञान, जीव विज्ञान, रसायन, विधि समाजशास्त्र, भूविज्ञान आदि विषयों में कार्यरत अनुभवी वैज्ञानिक इस परियोजना अध्ययन में योगदान कर रहे हैं। भारत सरकार के पर्यावरण विभाग के द्वारा प्रदत्त वित्तीय सहायता के अन्तरगत ये शोध-कार्य आरम्भ किये जा रहे हैं।

गंगा नदी के कृषि संबन्धी अध्ययन के अन्तरगत पहले तो यह जानकारी की जावेगी कि गंगा एवं इसके आसपास के क्षेत्रों में रासायनिक उर्वरकों तथा कीट-व्याधिनाशी रसायनों की कितनी मात्रा एवं कौन सा रसायन प्रतिवर्ष खेतों में डाला जाता है। जहाँ गंगा-जल सिंचाई के लिए उपयोग में लाया जा रहा है वहाँ जल की सिंचाई-उपयुक्तता, उसमें नाइट्रेट, फॉस्फेट, उसके पी० एच०, लवणीयता आदि का लगातार अध्ययन किया जावेगा। यह जानकारी भी प्राप्त की जावेगी कि गंगा-जल द्वारा सिंचाई करने से भूमि एवं फसलों पर क्या प्रभाव पड़ रहा है। इस अध्ययन से यह जानकारी भी प्राप्त की जावेगी कि प्रति हेक्टेयर उपज में कितनी वृद्धि हो रही है।

वानस्पतिक अध्ययन के अन्तरगत गंगा नदी के किनारे पायी जाने वाली वनस्पतियों का अध्ययन किया जावेगा। कई स्थानों पर वनस्पतियों के बायोमास उत्पादन पर परीक्षण किये जावेंगे। पारिस्थितिकी पहलू को लेकर कई प्रकार के अध्ययन किये जाने की भी योजना है।

जलीय-पौधों पर भी व्यापक शोध किया जावेगा। गंगा-किनारे हो रहे भूमि कटाव व वनस्पतियों द्वारा आच्छादन से उसे रोकने-सम्बन्धी पहलू का भी अध्ययन होगा। गंगा नदी के पारिस्थितिकी अध्ययन एवं इकोमाडर्लिंग एवं गंगा से सम्बन्धित वनस्पति साधनों की उत्पादकता, उनसे प्रजनन आदि का जल प्रदूषण के सम्बन्ध में अध्ययन किया जा रहा है। गंगा एवं उसकी सहायक नदियों में गिरने वाले प्रदूषकों का विस्तृत सर्वेक्षण किया जा रहा है। ऐसे पौधों का पता लगाया जाना है जो गंगा-जल प्रदूषण तत्वों की सूचना दे सकें। रोग जनक एवं रोग न उत्पन्न करने वाले फफूंदों पर प्रदूषण के प्रभाव का अध्ययन करने की भी योजना है। ऐसी वनस्पतियों की खोज की जा रही है जो प्रदूषण निरोधी हों। गंगा-जल में जैविक पदार्थों के अपघटन का विवरण प्राप्त करने की योजना है। जल में विभिन्न प्रकार की कार्बो (शैवालों या एल्गी) का अध्ययन भी किया जा रहा है जिससे यह पता चल सके कि आज से 30 वर्ष पूर्व गंगा-जल में पायी जाने वाली कार्बो-समूह की संख्या एवं प्रकार तथा गुणों में कोई अन्तर आया है या नहीं। कार्बो, फफूंद, जीवाणु तथा प्रोटोजोआ की उन जातियों की जानकारी हासिल की जा रही है जो गंगा-जल प्रदूषण की सूचना दे सकें।

गंगा-जल में भारी धातुओं के अध्ययन के अन्तरगत जो विशेष अध्ययन किया जा रहा है वह ये कि गंगा के अवसाद में धातुएँ किस प्रकार बँधी अथवा अवशोषित रहती हैं। गंगा-जल प्रदूषण के गणितीय माडल की जानकारी की जानी है जिससे यह पता चल सके कि मल-जल जब गंगा में मिलता है तो उसकी विसरण प्रवृत्ति कैसी रहती है। जल की गहराई, नाले के प्रवाह व गंगा-प्रवाह की गति आदि का गणितीय लेखा-जोखा प्राप्त किया जा रहा है।

गंगा-जल सेवन से क्या कोई उदर रोग हो

रहा है। इसका विस्तृत अध्ययन चिकित्सा विज्ञान संस्थान के द्वारा किया जा रहा है। स्नान घाटों एवं पेय जल के लगे पम्पों के समीप नमूने लेकर रोग-सम्बन्धी विस्तृत अध्ययन किया जा रहा है। गंगा के जल के साथ विभिन्न प्रदूषक किस प्रकार कुओं व भूमिगत जल में पहुँच रहे हैं, इसका भी अध्ययन किया जा रहा है। फॉस्फेट, नाइट्रेट, तथा अन्य आयनों का मात्रात्मक विश्लेषण करके भूमिगत जल के गुण ज्ञात किए जा रहे हैं।

गंगा-जल में एवं नदी के आसपास उगने वाली वनस्पतियों की ओषधीय उपयोगिता की जानकारियाँ भी की जा रही हैं। यह अध्ययन भी जारी है कि क्या इन वनस्पतियों का व्यापारिक स्तर पर उपयोग किया जा सकता है। मछलियों एवं अन्य जल-जीवों पर हो रहे प्रदूषित गंगा-जल के प्रभाव का अध्ययन किया जा रहा है। तन्तु-संवर्द्धन (टिश्यु कल्चर) विधि से यह खोज की जा रही है। मछलियों की शरीर क्रिया, रक्त, गुणों तथा उनके प्रजनन पर गंगा-जल के प्रभाव की जानकारी भी ली जावेगी।

गंगा के प्रति सामाजिक एवं जन चेतना का अध्ययन भी करने की योजना है। गंगा से सामाजिक एवं आर्थिक स्तर का क्या सम्बन्ध है तथा प्रदूषण से यह कैसे प्रभावित हो रहा है, इसका ब्योरा एकत्र किया जा रहा है। गंगा के किनारे बसे गांवों व कस्बों तथा नगरों में इस अध्ययन को तीन वर्ष तक चलाया जावेगा।

गंगा नदी के समन्वित अध्ययन के लिए चुने गये काशी हिन्दू विश्वविद्यालय केन्द्र का दायित्व मिर्जापुर से बलिया तक गंगा अध्ययन का है।

आशा है प्रदूषण पहलू के अतिरिक्त इस समन्वित अध्ययन से गंगा-जल एवं उसके आस-पास के पर्यावरण का वैज्ञानिक विवरण शीघ्र मिल जायेगा।

इस परियोजना का समन्वय निम्नलिखित से स्पष्ट किया जा सकता है।

पर्यावरण विभाग

(भारत सरकार)



गंगा जल का समन्वित अध्ययन (परियोजना)

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय केन्द्र)

अवधि 3 वर्ष

समन्वयक अनुभाग

कृषि सम्बन्धी अध्ययन (कृषि विज्ञान संस्थान)	वानस्पतिक पारिस्थितिकी (वनस्पति विज्ञान)	मछली एवं जल जीवों का अध्ययन (जीव विज्ञान विभाग)	गणितीय माडल (सिविल अभियंत्रण विभाग)
रोग सम्बन्धी अध्ययन (चिकित्सा वि० संस्थान)	भू भौमिकी (भू भौमिकी विभाग)	आयुर्वेदीय पहलू (आयुर्वेद संकाय)	सामाजिक-आर्थिक पहलू (विधि संकाय)

केरल का लोक-विज्ञान आन्दोलन

विजय जी

जवाहर इंटर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद-212106

विज्ञान एक कठिन विषय माना जाता है। गैर पढ़े लिखों की कौन कहे, पढ़े लिखे लोग भी वैज्ञानिक जानकारी और वैज्ञानिक साहित्य से दूर भागते हैं। वे पहले से ही यह मान बैठे होते हैं कि विज्ञान का पढ़ना और समझना उनके बस की बात नहीं। लेकिन विज्ञान के प्रति उनकी इस उदासीनता के कारण समाज का बड़ा नुकसान हो रहा है। समाज में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास नहीं हो पा रहा है। अंध-विश्वास, ऋतियाँ और कुप्रथाएँ आज भी समाज को अपने चंगुल में फँसाये हुये हैं। विज्ञान की उपलब्धियों का फायदा समाज का मात्र एक छोटा सा वर्ग उठा रहा है।

‘केरल शास्त्र साहित्य परिषद्’ ने इस चुनौती को स्वीकार किया। इस स्वयंसेवी संस्था ने पत्र-पत्रिका, सभा-गोष्ठी-बैठक, विज्ञान यात्रा, गीत, नाटक, आन्दोलन आदि माध्यमों से विज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने का सफल प्रयास किया है। उनका यह प्रयास ही आज ‘लोक विज्ञान आन्दोलन’ के रूप में फल-फूल रहा है।

केरल में विज्ञान को जन-जन तक पहुँचाने का पहला प्रयास 1957 में शास्त्र साहित्य समितियों के माध्यम से शुरू हुआ। मलयालम में विज्ञान पुस्तिकाएँ प्रकाशित की गयीं तथा प्रचार का प्रयास किया गया। लेकिन इस प्रयास में कोई खास सफलता नहीं मिली। 1962 में

‘केरल शास्त्र साहित्य परिषद्’ के रूप में दूसरा प्रयास शुरू किया गया। यह प्रयास सफल हुआ। इसने 1967 तक विज्ञान लेखकों और बुद्धि-जीवियों के लिये एक मंच का कार्य किया। इसके बाद तो परिषद् ने अपना दरवाजा समाज के हर वर्ग के लिये खोल दिया। ग्रामीण, शहरी, नौकरी-पेशा छात्र, अध्यापक, लेखक, कवि, कलाकार सामाजिक व राजनैतिक हर तरह के लोग इसके सदस्य बने। आज स्थिति यह है कि परिषद् की करीब 250 शाखाएँ हैं, करीब 4000 सक्रिय सदस्य हैं और ग्रामस्तर पर 600 ग्रामीण विज्ञान मंच हैं।

परिषद् का संगठन विकेंद्रित है। सबसे छोटी इकाई गाँव या मुहल्लों की बुनियादी होती है। गतिविधियों का संचालन जिला इकाइयाँ और बुनियादी इकाइयाँ स्वयं करती हैं। सामान्य नीतियों का निर्धारण वार्षिक आम सभा में किया जाता है। बहुत थोड़े कार्यकर्ता ही वेतनभोगी हैं। आय का मुख्य स्रोत प्रकाशनों की बिक्री और जनसहयोग ही है।

स्कूल-कालेजों के लिये प्रकाशित विज्ञान पत्रिकाएँ केरल और उसके बाहर भी काफी लोकप्रिय हैं। 1970 से प्रकाशित, ‘यूरेका’ पत्रिका की 60 हजार से अधिक प्रतियाँ छपती हैं। हिन्दी जैसी सर्वाधिक जनसंख्या वाली भाषा में भी ‘विज्ञान प्रगति’ के अलावा शायद इतनी प्रसार वाली कोई विज्ञान पत्रिका नहीं है। ये पत्रिकाएँ विद्यालयों में छात्रों और अध्यापकों के बीच विज्ञान शिक्षण का सफल माध्यम हैं। इन पत्रिकाओं द्वारा आयोजित विज्ञान पहेलियाँ और प्रतिभा-छात्रवृत्तियाँ काफी लोकप्रिय हुई हैं। साहित्य के क्षेत्र में आजकल परिषद् पाँच पत्रिकाओं, पुस्तकों और रिपोर्टों का प्रकाशन करती है।

जनता के बीच अपनी जड़ें जमाने के लिये परिषद् ने शुरू में शैक्षिक कार्यक्रम ही लिये।

1975 में परिषद् ने तय किया कि ‘प्रकृति विज्ञान और समाज’ विषय पर गोष्ठियाँ आयोजित की जायें। इन गोष्ठियों में भौतिक और सामाजिक परिस्थितियों में जो-जो वास्तविक परिवर्तन होते आये हैं उन्हें समझाने पर विशेष जोर दिया जाय। इस कार्यक्रम की मूलभावना यह थी कि ‘विज्ञान और टेक्नोलॉजी’ चन्द लोगों की बपौती नहीं होनी चाहिये। इसके लिये विज्ञान के विकास का अध्ययन कराकर आम जनता में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास किया जाना चाहिये। इन गोष्ठियों की लोकप्रियता खूब बढ़ी। जहाँ अंदाज़ था कि देश भर में इस तरह की 12000 अध्ययन कक्षाएँ चलेंगी वहाँ कुल 30000 चलीं। इस कार्यक्रम की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि ये कार्यक्रम देहाती इलाकों में चलाये गये।

अध्ययन कक्षाओं के माध्यम से एक बार जनता के बीच प्रवेश कर जाने के बाद परिषद् ने अपना ध्यान विकास-सम्बन्धी विषयों पर केन्द्रित किया। सरकार की विकास-नीति तो ऊपर से थोपने वाली होती है। वातानुकूलित कक्षों में विदेशी सभ्यता में पले बड़े-बड़े अफसर आम जनता और गरीबों के लिये बड़ी-बड़ी विकास योजनाएँ बनाते हैं। जैसा कि आमतौर पर हो रहा है ये अधिकांश योजनाएँ निष्प्रभावी होती हैं। योजनाओं की असफलता के दो कारण होते हैं—एक तो यह कि योजनाओं में दूरदर्शिता नहीं होती क्योंकि योजनाकार वास्तविक परिस्थितियों से परिचित नहीं होते। दूसरा, इन योजनाओं में न तो जनता की भागीदारी होती है और न उनकी भागीदारी बढ़ाने का प्रयास ही किया जाता है। ‘केरल शास्त्र साहित्य परिषद्’ ने इस मुद्दे को गम्भीरता से लिया। विकास-सम्बन्धी कई विषय जैसे पानी का प्रबन्ध, भूमि सुधार, मकान निर्माण, ऊर्जा, आरोग्य व्यवस्था और ग्रामीण उद्योग आदि पर नये सिरे

से विचार किया गया। केरल के अर्थशास्त्रियों और विभिन्न शोधों में लगे विद्वानों की मदद से 'केरल के संसाधन' नामक पुस्तिका भी तैयार की गयी। पुस्तक पर खुलकर चर्चा चलाने के लिये 200 कार्यकर्त्ताओं की एक कार्यशाला आयोजित की गयी और पाँच जगह इसकी कक्षा चलाने की योजना बनाई गयी। इन कार्यकर्त्ताओं ने अपने-अपने क्षेत्रों में इसी तरह की कार्यशालाएँ आयोजित कीं। इस तरह छः महीने के अन्दर 12000 अध्ययन गोष्ठियाँ चलाई गयीं। इन गोष्ठियों का बड़ा दूरगामी असर हुआ। लोग विकास के दूसरे पक्ष को भी समझने लगे। यदि कहीं बाँध बनाकर सरकार ने तमाम विकास का दावा किया तो परिषद् ने बाँध से हुये नुकसान को भी जनता के सामने रखा।

उदाहरणस्वरूप केरल के दक्षिण में कुट्टनाड के पास जल नियंत्रण परियोजना के कारण जल संचय वाले इलाकों में तमाम पर्यावरणीय तथा सामाजिक-आर्थिक परिवर्तन हुये। जब लोगों ने परिषद् का ध्यान इस ओर खींचा तो परिषद् ने इस प्रस्ताव को अध्ययन के लिये सहर्ष स्वीकार कर लिया। तमाम जानकारियों और तथ्यों को एकत्र करके परिषद् ने इस विषय पर एक रिपोर्ट तैयार की—'सोशियो-इकोनामिक एन्ड इकोलॉजिकल कान्सिक्वेन्सिज ऑव वाटर कंट्रोल प्रोजेक्ट्स—द केस ऑव कुट्टनाड इन केरल'। रिपोर्ट में परियोजना की तकनीकी और आर्थिक कमियों को उजागर किया गया। रिपोर्ट में पर्यावरण और आर्थिक आवश्यकताओं के अनुकूल वैकल्पिक सुझाव भी पेश किये गये। इस बहस का ही असर था कि राज्य सरकार ने इस विषय पर फौरन एक समिति गठित की।

परिषद् उस समय राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर चर्चित हुआ जब उसने केरल के उत्तर-पश्चिम में स्थित 'साइलेंट वैली पन बिजली परियोजना' का जोरदार विरोध किया।

साइलेंट वैली के प्रभावक्षेत्र में आने वाले वन हिन्दुस्तान के प्राचीनतम वनों में एक है। इस परियोजना के कारण तमाम दुर्लभ जड़ी-बूटियों, पेड़-पौधों और जीव-जन्तुओं की प्रजाति के नष्ट होने का खतरा उत्पन्न हो गया। साइलेंट वैली परियोजना के खिलाफ छेड़ा गया व्यापक जन-आन्दोलन राष्ट्रव्यापी बहस का मुद्दा बना। देश के अन्य भागों में बनने वाले बाँध और पन-बिजली योजनाओं के लाभ-हानि पर अब जोरदार बहसों का दरवाजा खुल गया।

बड़े कारखानों द्वारा किये जा रहे वायु और जल प्रदूषण पर भी परिषद् बराबर निगाह रख रहा है। परिषद् के ही एक अध्ययन दल ने बिरला बन्धुओं की कम्पनी ग्वालियर रेयान्स के कारण चालियर नदी में हो रहे प्रदूषण का अध्ययन किया था। इस मुद्दे पर परिषद् ने लोगों को संगठित किया, कारखाने के सामने धरना दिया और अवशेष को ठिकाने लगाने की व्यवस्था करवाई।

परिषद् की सबसे महत्वपूर्ण प्रवृत्ति 'लोक विज्ञान यात्राएँ' हैं। ये यात्राएँ परिषद् 1977 से आयोजित कर रही है। इस वर्ष राज्य के उत्तर के एक गाँव से यह यात्रा शुरू हुई। इस यात्रा द्वारा 10000 किमी० की दूरी तय की गयी, 900 सार्वजनिक सभाएँ की गयीं और करीब 5 लाख लोगों से सम्पर्क किया गया। 37 दिन तक चलने वाली यह यात्रा त्रिवेन्द्रम के दक्षिण स्थित एक गाँव से समाप्त हुई। प्रतिवर्ष सम्पन्न होने वाली इन यात्राओं में समाज के हर तबके के लोग शामिल होते हैं। विज्ञान के विविध विषयों को लोकभाषा में और लोक माध्यमों से समझाया जाता है। विज्ञान जैसे दुरूह विषय भी ड्रामा के माध्यम से जनता के सामने पेश किये जाते हैं। नाटकों के अलावा उपयुक्त प्रौद्योगिकी और स्वास्थ्य आदि पर चर्चा भी की जाती है तथा लोगों को अधिक से अधिक

प्रश्न पूछने के लिये प्रोत्साहित किया जाता है। इसका बड़ा अच्छा असर हुआ और गाँव के निरक्षर लोगों ने भी विभिन्न बीमारियों के कारण और निदान आदि की जानकारी हासिल कर ली है। इससे अधिक फायदा यह हुआ कि उन्हें 'उपचार से निरोध ज्यादा अच्छा होता है' का महत्व समझ में आ गया।

केरल की तरह का तो नहीं लेकिन प्रदूषण

आदि के मुद्दों पर देश के अन्य भागों में भी छुट-पुट आन्दोलन हो रहे हैं। यह शुभ लक्षण है। लेकिन विज्ञान की सम्पूर्ण प्रवृत्तियों का शिक्षण यदि एक साथ हो सके तो यह आदर्श स्थिति होगी। ऐसा सफल प्रयास केरल शास्त्र साहित्य परिषद् कर रही है। आवश्यकता है इस आंदोलन को राष्ट्रव्यापी बनाने की। □

इलेक्ट्रॉनिक्की : भारत में प्रगति

मूल लेखक—डॉ० एस० एन० घोष

वरिष्ठ प्रोफेसर, इण्डियन नेशनल साइन्स एकेडमी

अनुवाद—आशुतोष मिश्र

इलेक्ट्रॉनों का तप्त धातु से किसी निर्वात नली में उबल कर निकलना अथवा कुछ ठोस पदार्थों—मुख्यतः अर्धचालकों में इलेक्ट्रॉनों के प्रवाह को नियंत्रित करना ही इलेक्ट्रॉनिक्की (Electronics) का आधार है। उत्सर्जन के पश्चात् ये इलेक्ट्रॉन चालकों के अन्दर और/अथवा बाहर बह सकते हैं। जब इलेक्ट्रॉनों का प्रवाह चालकों के अन्दर होता है, तो ऐसी युक्तियाँ वैद्युत् (Electrical) कहलाती हैं जैसे विद्युत् मोटर, टेलीग्राफ, टेलीफोन और विद्युत् बल्ब। और जब इलेक्ट्रॉन चालकों के बाहर नियंत्रित होकर चलते हैं तब इन युक्तियों को इलेक्ट्रॉनिक कहा जाता है जैसे इलेक्ट्रॉन नलिकाएँ (Electron tubes)।

इलेक्ट्रॉनिक युक्तियों का उपयोग संचार (रेडियो, टेलीविजन तथा राडार), गणनाओं, तापमान वियंत्रण, औद्योगिक माल के निरीक्षण, प्रकाश-विश्लेषण, तथा अन्य अनेक कार्यों में होता है। इलेक्ट्रॉनिक्की ने मानव जीवन, संचार,

नौसंचालन, उद्योगों तथा वास्तव में अनसिनत रूप से मानव-प्रयासों को प्रभावित किया है।

ताँबा, चाँदी जैसे चालकों के पृष्ठ पर अत्यधिक संख्या में इलेक्ट्रॉन उपस्थित रहते हैं तथा इन इलेक्ट्रॉनों को चालकों में प्रवाहित भी किया जा सकता है। कुचालकों जैसे पोर्सलीन में साधारण ताप पर वस्तुतः कोई भी मुक्त इलेक्ट्रॉन उपस्थित नहीं रहता, इसलिए इनसे विद्युत् प्रवाह होना कठिन होता है। अर्ध-चालक जैसे सिलिकन या जर्मेनियम, चालकों और कुचालकों के मध्य में है—अर्थात् साधारण ताप पर इनमें कम संख्या में मुक्त इलेक्ट्रॉन उपलब्ध होते हैं। अर्ध चालकों से विद्युत् प्रवाह भी संभव है। इनसे प्रवाहित होने वाले इलेक्ट्रॉनों की संख्या को अपद्रव्य मिलाकर घटाया बढ़ाया जा सकता है—जैसे एण्टीमनी अथवा गैलियम तत्वों की बहुत कम मात्रा। बाद में इसी सिद्धान्त का उपयोग करते हुए द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद बेल टेलीफोन लैबोरेटरी, अमेरिका में ट्रांजिस्टर का

आविष्कार हुआ, जिसे “इलेक्ट्रान नली की संतति” कहा जा सकता है।

प्रारम्भिक विकास—इलेक्ट्रानिकी का पहला प्रभाव था टेलीग्राफ को बेतार के टेलीफोन में परिवर्तित करना। अर्थात् मोर्स कोड के बिन्दुओं एवं रेखाओं का मानव ध्वनि व संगीत द्वारा प्रतिस्थापन। इसका वास्तविक सूत्रपात अमरीकी वैज्ञानिक डॉ॰ एल॰ डी॰ फारेस्ट द्वारा 1906 में ट्रायोड के आविष्कार के साथ हुआ। इनमें एक तीसरी ग्रिड भी निर्वातित नली में प्रयुक्त की गयी जो विरलित गैस में फिलामेण्ट से एनोड तक विद्युत् प्रवाह का नियंत्रण करती है। यह खोज इतनी महत्वपूर्ण थी कि नोबल पुरस्कार विजेता डॉ॰ रावी ने कहा, “इसका परिणाम इतना असाधारण है कि यह अभी तक के महानतम आविष्कारों की कोटि का है।” ऐसा कहा जा सकता है कि इलेक्ट्रानिकी की विशाल उद्योगों में भव्य प्रगति जिससे आज अरबों लोग लाभान्वित हो रहे हैं, इस घटना के साथ प्रारम्भ हुई।

इलेक्ट्रानिकी के उपयोगों को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है (i) रेडियो, राडार व टेलीविजन तरंगों द्वारा संचार में (ii) इलेक्ट्रानिकी युक्तियों में।

स्कॉटिश भौतिकीविद् जेम्स क्लार्क मैक्सवेल ने रेडियो तरंगों द्वारा संचार का विचारसूत्र सामने रखा। लगभग 1864 में उन्होंने अपना शोध कार्य प्रकाशित किया जिसमें उन्होंने सैद्धान्तिक रूप से प्रदर्शित किया कि प्रकाश तरंगों का विस्तार वास्तव में विद्युत् तथा चुंबकीय तरंगों का विचरण है। उनके अनुसार कम्पन करता कोई आवेश रेडियो तरंगे उत्पन्न कर सकता है जिसे बाद में जर्मन वैज्ञानिक हर्ट्ज ने प्रयोगों द्वारा प्रदर्शित भी किया। इन तरंगों द्वारा बिना तार के ही दूर स्थानों तक सन्देश भेजे जा सकते थे, इसलिए ये तरंगे “बेतार

तरंगे” कहलाई। इस कार्य को सर्वाधिक गति तब मिली जब 12 दिसम्बर 1901 को इटली के इंजीनियर मारकोनी ने मोर्स टेलीग्राफ कोड का “S” अक्षर इंग्लैण्ड से अटलांटिक महासागर के पार न्यूफाउण्डलैण्ड भेजा। शीघ्र संचार के लिए व जहाजों से संचार करने की आवश्यकता के कारण बेतार को बहुत प्रोत्साहन मिला। इतने सामान्य श्रीगणेश से ही रेडियो प्रसारण टेली-विजन तथा राडार बन सके।

दो विश्वयुद्धों के बीच विकास—ट्रायोड के विकास के साथ इस काल में ऐसी इलेक्ट्रान नलिकाएँ विकसित की गईं जिनमें कई ग्रिड होते थे। इलेक्ट्रान ट्यूब प्रयुक्त होने वाले ऐसे परिपथ भी बनाये गये जिनसे प्रवर्धन, दोलन तथा रेडियो सिग्नलों का संसूचन हो सकता था। विभिन्न देशों में आयाम माडुलित (Amplitude Modulated) प्रसारण केन्द्र भी विस्तृत स्तर पर घरेलू तथा अन्तर्राष्ट्रीय उपयोग के लिए स्थापित किये गये।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान विकास—द्वितीय विश्वयुद्ध के समय इलेक्ट्रानिकी में दो प्रमुख विकास हुए—(1) माइक्रो तरंगों (microwaves) जो कि मीटर, सेन्टीमीटर, तथा मिलीमीटर की परास के तरंगदैर्घ्य (wavelength) की तरंगे होती हैं, उनका विकास तथा (2) राडार का विकास। माइक्रो तरंगों के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि बिन्दुओं व रेखाओं अथवा ध्वनि द्वारा अन्तर्-महाद्वीपीय संचार दो विधियों से होता था—एक लघुतरंग (shortwave) प्रसारण द्वारा तथा दूसरा माइक्रो तरंग सम्बन्ध द्वारा अर्थात् समाक्ष केबलों (coaxial cables) से जो कि पहाड़ों के ऊपर अथवा समुद्र के अन्दर रखे जाते थे।

राडार में एक तकनीक होती है—आयन-मंडलीय परिज्ञापन (ionosphere sounding)

जिसका उपयोग कुछ प्रयोगों में होता है तथा इसके सीमित कार्यक्षेत्र और उपयोग को संशोधित और विस्तृत करके इस यन्त्र को बनाया गया है जो अत्यन्त मूल्यवान सिद्ध हो सकता है। ऊपरी वायुमण्डल के आयनीकृत क्षेत्रों जो कि दूर संचार में 'रेडियो छत' (radio roof) का कार्य करते हैं, को परिज्ञापित करने के लिए किरणों का एक पुंज आकाश में भेजा जाता है जो इस क्षेत्र से परावर्तित अथवा अपरावर्तित होकर पृथ्वी पर वापस आता है तथा अपने साथ-साथ आयनीकृत क्षेत्रों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण जानकारी भी लाता है। इस प्रविधि का उपयोग राडार बनाने में होता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् विकास—
द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् इलेक्ट्रानिकी में पाँच प्रमुख विकास हुए—

(1) इलेक्ट्रान द्यूब के स्थान पर ट्रांजिस्टरों का प्रयोग।

(2) इलेक्ट्रानिक सर्किटों का लघुरूपण।

(3) इलेक्ट्रानिक कंप्यूटर का विस्तृत उपयोग।

(4) उपग्रहों द्वारा संचार।

(5) टेलीविजन का व्यापारिक स्तर पर उपयोग।

लघुरूपण (Miniaturization) — प्रकृति में छोटी-छोटी कोशिकाएँ जीवनधारी प्रक्रियाएँ करती पाई जाती हैं। जापानियों ने गमलों में बड़े-बड़े वृक्ष विकसित किये हैं तथा स्विट्ज़रलैंड में अत्यन्त परिशुद्ध समय बताने वाली छोटी से छोटी घड़ियाँ निर्मित होती हैं। इसके अनुसार कोई प्रश्न कर सकता है, 'क्या हम इलेक्ट्रानिक परिपथों का भी लघ्वीकरण कर सकते हैं जिससे कि रूढ़ इलेक्ट्रानिक युक्तियों में तारों (wires) के जाल का प्रयोग न करना पड़े? और क्या हम ऐसी परिस्थितियों में कार्य कर सकते हैं जहाँ हाथ और बुद्धि के कार्य करने की आवश्यक-

कता न रहे? उत्तर 'हाँ'। इलेक्ट्रानिकी में लघुरूपण एक महत्वपूर्ण विकास है। ऐतिहासिक दृष्टि से लघुरूपण का विकास इलेक्ट्रान द्यूबों के स्थान पर ट्रांजिस्टरों के उपयोग से आँका जा सकता है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। फिर आते हैं मुद्रित परिपथ जिनमें प्लास्टिक अथवा सिरामिक जैसी कुचालक सतह पर धातु रिबन मुद्रित किये जाते हैं। इनका अनुसरण करते हुए तनु फिल्म परिपथ (thin film circuits) विकसित किए गये जिनसे कि लघुरूपण और भी विस्तृत बनाया जा सकता था। तनु फिल्म परिपथ तथा ट्रांजिस्टरों को मिलाने से स्थान की बहुत बचत सम्भव हो सकी।

लघुरूपण का विस्तृत उपयोग आकाश पर्यवेक्षण में होता है जहाँ आकार और भार दोनों ही विशेष रूप से समन्वित होते हैं। कम्प्यूटरों में भी इनका उपयोग है जिनमें भारी संख्या में इलेक्ट्रानिक घटक प्रयुक्त होते हैं। लघुरूपित घटक आवेग, भारी कम्पन तथा अत्युच्च ताप सह सकने में समर्थ होते हैं तथा इनमें ऊर्जा व्यय भी कम होता है।

इलेक्ट्रानिक कम्प्यूटर—यह एक ऐसी युक्ति है जो संख्याओं व परिणामों पर आधारित गणनाएँ करने में समर्थ होती है। जब इसमें सदैव बदल सकने वाली संख्याओं जैसे लम्बाई, बोल्टता आदि का प्रयोग होता है, तब इसे अनुरूप (analog) कहते हैं जैसे कि स्लाइड रूल। किन्तु जब इसमें ऐसी संख्याओं का प्रयोग होता है जो कि विविक्त गणनीय अवस्थाओं को प्राप्त कर सकती है, जैसे किरिले, चालित व अचालित अवस्थाओं में अभिनत इलेक्ट्रान द्यूब, तब इसे अंकीय (digital) कहते हैं। अनुरूप कम्प्यूटर अधिक तेज तो होते हैं लेकिन अधिक यथार्थ नहीं होते। इनका उपयोग कुछ विशेष कार्यों जैसे संनादी विश्लेषण (harmonic analyser) तथा अवकल विश्लेषक (diffe-

rential analyser) के रूप में होता है। अंकीय कम्प्यूटर आम कार्यों में प्रयुक्त होते हैं।

इलेक्ट्रानिक कम्प्यूटरों ने मनुष्य पर गहन प्रभाव डाला है। सालिड स्टेट सर्किटों का प्रयोग करके ऐसे छोटे कम्प्यूटर बनाए गए हैं जो कि कम्प्यूटर को दिया गया अस्सी प्रतिशत कार्य कर सकते हैं। कुछ वैज्ञानिक प्रश्न ऐसे होते हैं कि बिना कम्प्यूटरों का प्रयोग किए उन्हें हल करने में वर्षों अथवा शताब्दियाँ लग जाँएँ। इस लिए कम्प्यूटर ने विज्ञान के विविध क्षेत्रों में क्रांति ला दी है। ये सेना द्वारा गणनाओं में, उद्योगों के लिपिक कार्य में, प्रशासन में, तथा वेतन आदि की गणनाओं में भी प्रयुक्त होते हैं। साथ ही कम्प्यूटर एक न्यास संसाधन (data processing) या आँकड़ों को प्रबन्धित करने वाली मशीन है अर्थात् इसके द्वारा एक प्रकार के आँकड़े एकत्रित होने के बाद उन्हें छाँटा जाता है। तर्कसंगत विश्लेषण के पश्चात् उन्हें ढंग से प्रस्तुत किया जाता है। कम्प्यूटरों को उद्योगों और मशीनों में प्रयोग के लिए परियोजित किया जा सकता है तथा कार्यक्षमता में वृद्धि प्राप्त की जा सकती है। एक कम्प्यूटर जो कि मृदा विश्लेषण के संबंध में प्रचुर मात्रा में जानकारी संगृहीत कर सकता है वह किसी किसान को यह सलाह देने में समर्थ होगा कि उसे किस फसल में किस खाद को डालना चाहिए।

उपग्रह द्वारा संचार—यदि कोई उपग्रह पृथ्वी से 22300 मील की ऊँचाई पर स्थापित किया जाता है तथा उसको वृत्तीय कक्षा में पृथ्वी के घूर्णन की गति से घुमाया जाता है, तब वह पृथ्वी पर किसी व्यक्ति को आकाश में स्थिर दिखाई देगा तथा पृथ्वी का 1/3 भाग प्रभावित करेगा। इसलिए यदि तीन ऐसे उपग्रह विषुवत रेखा के चारों ओर आकाश में स्थापित

किए जाएँ तथा प्रत्येक में एक आवृत्ति माडुलित (Frequency modulated) ट्रांसमिटर लगा हो तो टेलीविजन के प्रसारण सम्पूर्ण पृथ्वी पर देखे जा सकते हैं। यह अत्यन्त कौतुकपूर्ण है, क्योंकि एक साधारण ट्रांसमिटर की परास (range) मात्र पचास मील की त्रिज्या में ही होती है। यह देखा जा सकता है कि चूँकि उपग्रह में लगा ट्रांसमिटर कम शक्ति का होता है, इसके सिग्नल पृथ्वी पर प्राप्त नहीं किए जा सकते। इसलिए अत्यन्त जटिल व मंहगे स्टेशन उपग्रह से संकेत ग्रहण करते हैं तथा उतने ही जटिल व मंहगे स्टेशन उपग्रह को सिग्नल भेजते हैं। उपग्रह द्वारा संचार से बिम्बलिखित कार्य संभव हैं—(i) पृथ्वी के विस्तृत क्षेत्रों में टेलीविजन प्रसारण (ii) अच्छे आवृत्ति माडुलित कार्यक्रमों का बिना किसी बाधा के प्रसारण (iii) पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक अत्यन्त बड़ी संख्या में टेलीफोन व आह्वानों (Telephone calls) को ले जाना। वास्तव में उपग्रह द्वारा संचार अत्यन्त प्रभावकारी हो सकता है तथा इसके उपयोग के साथ हम इसके निकट आने में समर्थ हो सकते हैं। इसके द्वारा किसी देश में होने वाले रोगी का आपरेशन तथा तथा दूसरी महत्वपूर्ण घटनाओं को दूसरे राष्ट्र के लोग भी देख सकेंगे यह सूचनाओं के अधिक प्रवाह शिक्षा प्रसार तथा सांस्कृतिक आदान प्रदान में सहायक हो सकता है।

भारत में इलेक्ट्रानिकी की प्रगति

प्रो० एस० के० मित्रा का आयन मंडल पर शोध कार्य—भारत में इलेक्ट्रानिकी के क्षेत्र में शोध कार्य का शुभारम्भ प्रो० एस० के० मित्रा द्वारा (University College of Science) कलकत्ता में 1920* में प्रारम्भ हुआ। पेरिस में

*उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में इंग्लैण्ड से भारत लौटने पर प्रो० जे० सी० बोस ने प्रेसीडेन्सी कॉलेज, कलकत्ता में माइक्रोतरंग प्रयोगशाला की स्थापना की तथा अनेक मूलभूत सिद्धान्तों को

प्रो. फैब्री के साथ प्रकाशीय समस्याओं पर कार्य करने के पश्चात् वे (University of Nancy) के प्रो० गटन की प्रयोगशाला में गए। वे वहाँ की क्षमता से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने सर आशुतोष मुखर्जी को जो उस समय कलकत्ता विश्वविद्यालय के उपकुलपति थे इस विषय में एक पत्र लिखा जिसका उत्तर उन्होंने इस प्रकार दिया।

10 मई 1923

प्रिय शिशिर,

मुझे तुम्हारा 10 अप्रैल का पत्र प्राप्त कर और यह जानकर प्रसन्नता हुई कि तुम अपने कार्य में सफल रहे हो। बेतार की टेलीग्राफी द्वारा जैसा कार्य तुम सुझा रहे हो, वह अत्यन्त आकर्षक है। तुम एक योजना बनाओ जो कम से कम लागत की हो। मैं यह देखूँगा कि हम क्या कर सकते हैं। तुम समझ लो कि इसका बहुत विरोध होगा—लेकिन हमें भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। हम लोगों को अपना पथ स्वयं ही प्रशस्त करना होगा। तुम्हारे नवम्बर में वापसी की राह देख रहा हूँ।

भारत लौटने पर प्रो० मित्रा ने वायुमण्डल तथा आयनीकृत स्तरों पर कार्य प्रारम्भ किया जिसके साथ ही भारत में इलेक्ट्रानिक संचार की भी शुरुआत हुई। उन्होंने अपने सहयोगियों के साथ ही—स्तर की खोज की जो तीन आयनीकृत स्तरों में एक है तथा ऊपरी वायुमण्डल और आयनीकृत क्षेत्रों की अनेक विशेषताएँ इसमें पायी जाती हैं।

रेडियो रिसर्च बोर्ड की स्थापना—द्वितीय विश्वयुद्ध के समय भारत सरकार द्वारा सी०

एस० आई० आर० (C. S. I. R.) के बाद शीघ्र ही रेडियो रिसर्च बोर्ड की स्थापना हुई जिसके पहले अध्यक्ष प्रो० एस० के० मित्रा बने। इस बोर्ड ने अनेक इलेक्ट्रानिक रिसर्च योजनाओं की आर्थिक रूप से सहायता की जो विश्व-विद्यालयों या अन्य संस्थानों से सम्बद्ध थीं।

इलेक्ट्रानिक संस्थानों की स्थापना—स्वतन्त्रता के शीघ्र बाद ही अनेक संस्थान स्थापित किये गये जो कि इलेक्ट्रानिक्स में उच्च स्तरीय प्रशिक्षण दे सकते हैं। ये संस्थान हैं :

(1) Institute of Radio Physics and Electronics, कलकत्ता विश्वविद्यालय।

(2) Department of Electrical Communication Engineering, Indian Institute of Science, बंगलौर।

(3) J. K. Institute of Applied Physics, इलाहाबाद विश्वविद्यालय।

(4) Electronics Department, Birla Institute of Technology, पिलानी।

(5) Electrical Communication Engineering, I. I. T., खड़गपुर।

दूसरे इलेक्ट्रानिक संस्थान विभाग बाद में स्थापित किए गये। इसके अतिरिक्त, भारत सरकार ने पिलानी में Central Electronic Research Institute स्थापित किया जो इलेक्ट्रानिक शोध कार्य को बढ़ावा देता है।

इलेक्ट्रानिक आयोग की स्थापना—1962 के चीनी आक्रमण के पश्चात् प्रो० होमी जहाँगीर भाभा ने इलेक्ट्रानिकी की बढ़ती हुई उपयोगिता व महत्ता को भारत के औद्योगिक तकनीकी तथा आर्थिक विकास में सहायक समझा। उन्होंने

सिद्ध किया, जैसे विद्युत-चुम्बकीय तरंगों के परावर्तन के नियम, अपवर्तन आदि। और साथ ही इन तरंगों के विस्तार पर भी कार्य किया। इस समय में जैसा कि वर्णित किया गया है, मारकोनी ने दीर्घतरंगों पर कार्य किया और महाद्वीपों के बीच संचार सम्बन्ध स्थापित किए। चार वर्षों के उल्लेखनीय कार्य के पश्चात् प्रो० बोस को लगा कि हो सकता है कि लघु तरंगों जिन पर वे कार्य कर रहे थे, वास्तव में बहुत कम उपयोगी हों, इसलिए उन्होंने अपना कार्य छोड़ दिया।

अगस्त 1963 में एक आयोग गठित किया जिसके वे अध्यक्ष थे तथा डॉ० विक्रम साराभाई डॉ० एस० भगवन्तम, डॉ० एस० आर० राव और अन्य सदस्य जिनका उद्देश्य था कि भारत में इलेक्ट्रानिकी की प्रगति किस प्रकार सम्भव है। इस आयोग की रिपोर्ट डॉ० भाभा की 1966 में दुःखद मृत्यु के कुछ समय बाद ही प्रकाशित हुई। इस आयोग का मुख्य कार्य था, “इलेक्ट्रानिकी की तीव्र प्रगति की अनिवार्य आवश्यकता की व्याख्या करना, रूपरेखा बनाने व विकास के विषय में शोध कार्य होना, ऐसे क्षेत्रों का पता लगाना जहाँ देशी उत्पादन सम्भव हो तथा इस क्षमता के शीघ्र विकास को प्रेरित करना।” बाद में बम्बई में इलेक्ट्रानिकी पर एक गोष्ठी 24-28 मार्च 1970 को आयोजित हुई जिसके अध्यक्ष डॉ० ए० एस० राव थे। इलेक्ट्रानिकी के अत्यावश्यक विकास की आवश्यकता का अनुभव करते हुए भारत सरकार ने इलेक्ट्रानिक आयोग की स्थापना की जिसके पहले अध्यक्ष डॉ० एम० जी० के० मेनन थे। यह आयोग इन दिनों भारत में होने वाले इलेक्ट्रानिक शोधकार्य का मूलाधार है।

इलेक्ट्रानिक उत्पादन कंपनियों की स्थापना—स्वतन्त्रता के बाद बड़ी संख्या में उत्पादन कंपनियाँ स्थापित की गईं जो इलेक्ट्रानिक उपकरण एवं घटक बनाती हैं तथा राष्ट्र के इलेक्ट्रानिक सामानों की माँग पूरी करती हैं। इन कंपनियों में प्रमुख हैं—

- (i) भारत इलेक्ट्रानिक्स लिमिटेड, बंगलौर
- (ii) इलेक्ट्रानिक कारपोरेशन ऑफ इंडिया, हैदराबाद
- (iii) अपट्रान लिमिटेड, लखनऊ
- (iv) सिस्टोनिक्स अहमदाबाद
- (v) फोटोफोन लिमिटेड, बम्बई
- (vi) डी० सी० एम०, दिल्ली
- (vii) तोशनीवाल इंडस्ट्रीज लिमिटेड, दिल्ली

- (viii) क्लास असोशिएट्स, कलकत्ता
- (ix) सेमीकण्डक्टर डिवाइसेज, पूना
- (x) इंडियन टेलीफोन इंडस्ट्रीज, बंगलौर तथा इलाहाबाद
- (xi) एच० आई० एल०, दिल्ली
- (xii) साइंटिफिक इन्स्ट्रूमेण्ट्स कम्पनी, इलाहाबाद आदि।

इसके साथ-साथ फिलिप्स कम्पनी भी हॉलैंड से इलेक्ट्रानिक सामान तथा देश में बने सामान सप्लाई करती है।

ऑल इंडिया रेडियो की स्थापना—भारत में इलेक्ट्रानिकी की प्रगति में एक अन्य युगांतरकारी घटना रेडियो स्टेशनों की स्थापना है। 1926 में भारत सरकार ने इंडियन ब्राडकास्टिंग कम्पनी को देश में रेडियो स्टेशन बनाने का लाइसेंस दिया जिसके फलस्वरूप दो कम शक्ति के मीडियमवेव प्रसारण केन्द्र 1927 में स्थापित किए गए—एक बम्बई में 23 जुलाई को और दूसरा कलकत्ता में 26 अगस्त को। यह एक ब्रिटिश कम्पनी द्वारा बनाया गया। चूँकि कम्पनी व्यापार चला सकने में असमर्थ थी, इसलिए भारत सरकार ने इसे 1930 में अपने अधीन कर लिया तथा इसको ‘इंडियन ब्राडकास्टिंग सर्विस’ का नाम प्रदान किया जो 1936 में पुनर्गठित होकर आज कल ‘आल इंडिया रेडियो’ बना।

भारत का प्रथम दूरदर्शन केन्द्र दिल्ली में 1959 में बना और जब प्रधान मंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री के मंत्रिमण्डल में श्रीमती इंदिरा गाँधी प्रसारण मंत्री के पद पर थीं, तब दूरदर्शन केन्द्रों का जाल (Network) स्थापित करने का निर्णय लिया गया। 15 अगस्त 1965 से नियमित टी० वी० सेवाएँ प्रारम्भ हुईं। आल इंडिया रेडियो ने अब भारत के सभी महत्वपूर्ण शहरों में दूरदर्शन केन्द्र स्थापित किए हैं। रंगीन दूरदर्शन का प्रारम्भ 1982 से हुआ।

1975 में तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण विकास कार्य हुए—दो बड़े टी० वी० केन्द्र-एक कलकत्ता तथा दूसरा मद्रास में स्थापित हुए तथा SITE (Satellite Instructional Television Experiment) कार्यक्रम का सूत्रपात हुआ। यह भारत में उपग्रह द्वारा संचार का प्रारम्भ है जो INSAT और APPLE नामक उपग्रहों से सम्भव है। विकासशील राष्ट्रों के लिए उपग्रह द्वारा संचार की विशेष महत्ता है। इसके द्वारा सारे विश्व से सम्पर्क सम्भव है जिससे कि विकसित और उन्नत राष्ट्रों का वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान विकासशील राष्ट्रों को प्राप्त हो सकता है और वे सारे संसार को कार्य करते अथवा खेलते हुए देख सकते हैं। यह भारत की कुछ समस्याओं जैसे जनसंख्या विस्फोट, साक्षरता का नीचा स्तर, कृषि उत्पादन में बढ़ोत्तरी की आवश्यकता आदि के निराकरण में योगदान दे सकता है।

इलेक्ट्रानिकी ने हमें द्रुत गति से वहाँ ला खड़ा किया है, जिसकी परिकल्पना स्वयं उसका आविष्कारक भी नहीं कर सकता था। डॉ० एल० डी० फारेस्ट ने, जिन्होंने 1906 में ट्रायोड का आविष्कार करके इलेक्ट्रानिकी के युग का सूत्रपात किया था, वृद्धावस्था में एक बार कहा कि

वे इलेक्ट्रानिकी की प्रगति व उसके जादू से पूर्णतया व्यामोहित हैं। इलेक्ट्रानिक सर्किटों की अत्यधिक कार्यकुशलता, गति तथा परिशुद्धता के कारण ही उनका उपयोग उद्योगों में विविध आयामों में होने लगा है। इलेक्ट्रानिक नियंत्रण प्रविधियों का उपयोग करके उत्पादकों ने अधिक अच्छे, तीव्र गति से और कम दाम पर सामानों का उत्पादन किया है। इलेक्ट्रानिकी का आज विविध क्षेत्रों में उपयोग हो रहा है—घर में तथा मनोरंजन प्रदान करने में संचार, वैज्ञानिक निरीक्षण, उद्योगों, सुरक्षा तथा ओषधियों में। वास्तव में शायद ही कोई ऐसा मानवीय पहलू होगा जिसे इलेक्ट्रानिकी ने प्रभावित न किया हो।

हाँ, यहाँ एक प्रश्न उठता है : क्या इलेक्ट्रानिकी की भविष्य में भी इसी प्रकार द्रुत प्रगति जारी रहेगी ? या इसमें कुछ कमी आएगी ? क्या गणितीय जटिलताएँ इसकी प्रगति को अवबाधित करेंगी ? क्या इलेक्ट्रानिक यंत्रीकरण का विकास प्रतिक्रिया और संवेदनशीलता के लिए आवश्यक परस्पर विरोधी अवस्थाओं द्वारा निर्बद्ध तो नहीं हो जाएगा ? इन प्रश्नों का उत्तर देना अभी कठिन है। परन्तु हमें विश्वास है कि इलेक्ट्रानिकी आने वाले अनेक वर्षों में सम्भावनाओं से ओतप्रोत है। □

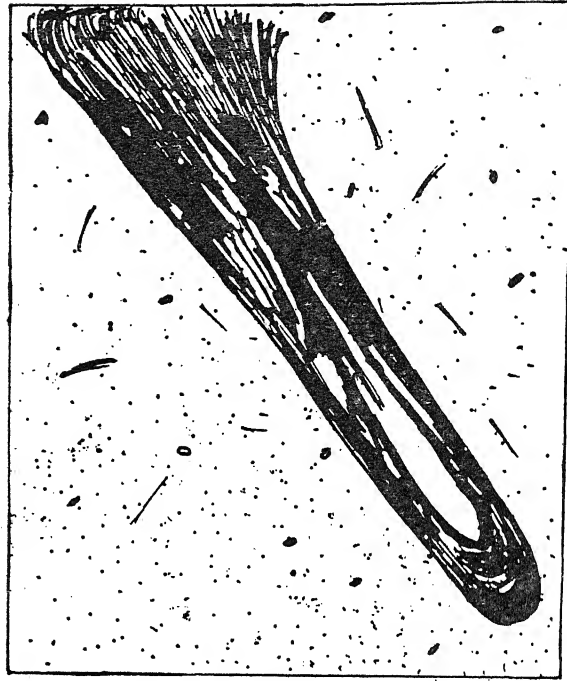
धूमकेतु हेली की वापसी

आशुतोष मिश्र

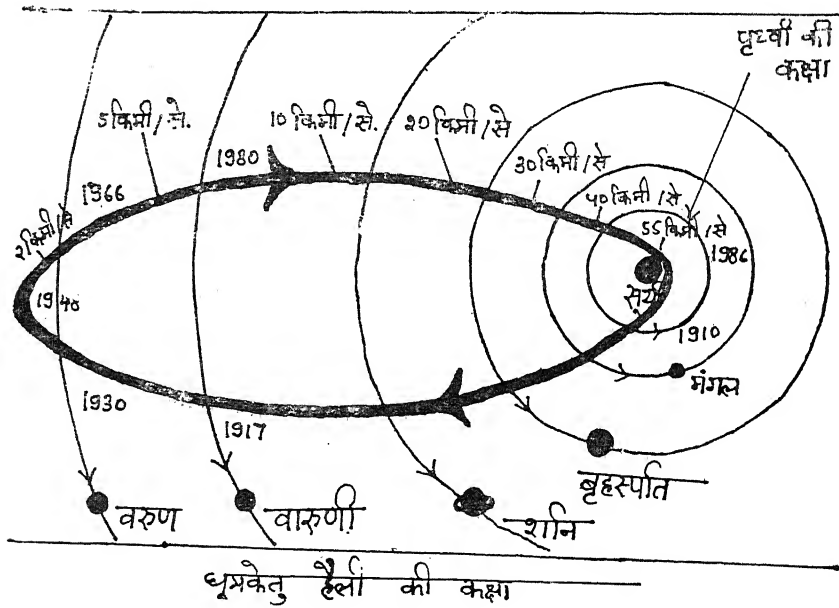
आज से हजारों वर्ष पूर्व भी मनुष्य आकाश-दर्शन में विशेष रुचि रखता था। ग्रह, नक्षत्र, उल्का, धूमकेतु आदि से भी वह परिचित था। परन्तु उसने इन्हें वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं वर्ण धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से देखा। उदाहरणस्वरूप धूमकेतु अथवा पुच्छल तारे के दिख जाने को युद्ध, महामारी, राजा की मृत्यु

अथवा राजपतन आदि महाविनाश लाने वाली घटनाओं से जोड़ा जाता था। आज का वैज्ञानिक इन ढकोसलों में रंचमात्र भी विश्वास नहीं करता। दूसरी ओर वह धूमकेतु के आने को अंतरिक्ष विज्ञान के इतिहास में सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना के रूप में लेता है।

धूमकेतु या पुच्छल तारा जिसे अंग्रेजी में



धूमकेतु हैली



“कॉमेट” कहते हैं, वस्तुतः जमी हुई (frozen) गैसों और अन्य ठोस पदार्थों का पिण्ड होता है। जैसे-जैसे यह सूर्य के निकट पहुँचता है, इसके तापमान में वृद्धि होती है और यह वाष्पित होने लगता है जिसके फलस्वरूप गैसों का एक आवरण बनता है जिसे “कोमा” (coma) कहते हैं। इस कोमा के मध्यभाग में नाभिक (nucleus) होता है। नाभिक तथा गैसीय आवरण मिलकर धूमकेतु के अग्रभाग (head) का निर्माण करते हैं। यद्यपि नाभिक का व्यास कुछ सौ किलोमीटर तक ही होता है परन्तु अग्रभाग का व्यास गैसों के कारण एक मिलियन (10^6) किलोमीटर तक हो सकता है।

जब कोई धूमकेतु मंगल ग्रह के निकट पहुँचता है तब उसकी पूँछ का निर्माण प्रारम्भ होता है। सूर्य के पास पहुँचने पर पूँछ और भी अधिक लम्बी होती जाती है। यह लम्बाई 25 से 350 मिलियन किलोमीटर तक हो सकती है। धूमकेतु में उपस्थित गैसों सूर्य के विकिरण दाब (radiation pressure) द्वारा दूर तक बह जाती हैं। यह विकिरण दाब प्रकाश द्वारा उत्पन्न होता है क्योंकि प्रकाश इस प्रकार का विद्युत्-चुंबकीय विकिरण (Electromagnetic radiation) है, तथा, प्रकाशकण अथवा फोटॉन जब किसी सतह पर पड़ते हैं, तो वे दाब उत्पन्न करते हैं। पूँछ के भी दो भाग होते हैं— गैसीय भाग और धूल तथा अन्य कणों द्वारा निर्मित भाग।

हेली धूमकेतु

इस धूमकेतु को सर्वप्रथम ईसा से 240 वर्ष पूर्व प्रथम प्यूनिक युद्ध समाप्त होने के पश्चात् देखा गया। 66 वीं ईसवी में जब यह यरूसलम के ऊपर से गुजरा तो इतिहासकार जोसीफस ने लोगों को सावधान किया कि यह अनिष्ट का सूचक है। चार वर्षों बाद यरूसलम का पतन हो गया।

1456 में जब हेली धूमकेतु आकाश में प्रकट हुआ तो उस समय बेलग्रेड में तुर्क और ईसाई सेनाएँ आमने-सामने थीं। इस धूमकेतु की पूँछ तलवार के समान खिंची हुई थी और नोक तुर्क सेनाओं की ओर उठी हुई थी। इस युद्ध में ईसाइयों की जीत हुई।

अनेक पौराणिक कथाओं में चर्चित यह धूमकेतु 1910 में सम्राट एडवर्ड सप्तम के निधन और जार्ज पंचम के राज्याभिषेक के समय प्रकट हुआ। यद्यपि आज अधिकांश लोगों के मन से इस धूमकेतु से संबंधित अविश्वास मिट चुका है लेकिन भविष्य में कैसे अंधविश्वास जन्म लेंगे यह कहा नहीं जा सकता।

खगोलशास्त्री एडमंड हेली ने धूमकेतुओं के प्रकट होने से संबंधित सारे दस्तावेजों की खोज-का कार्य संभाला। प्रामाणिक दस्तावेजों में 1337 से 1698 के बीच दिखाई दिए 24 धूमकेतुओं का उल्लेख था। हेली को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि 1531, 1607 और फिर 1682 में दिखाई दिए धूमकेतुओं में समानता थी। हेली ने गणनाओं के पश्चात् यह निष्कर्ष निकला कि वह धूमकेतु एक ही है और उसके पुनः 1758 तथा 1759 के बीच प्रकट होने की भविष्यवाणी की। 1759 के प्रारम्भ में यह धूमकेतु आया और हेली की गणनाएँ ठीक निकलीं।

1910 में इस धूमकेतु ने एक बार फिर मनुष्य को दर्शन दिया और अब 1986 में इसके आने की प्रतीक्षा हम बेताबी से कर रहे हैं। हेली के धूमकेतु का पूर्ण नाम है—P/Halley 1909 C अथवा P/Halley 1910 II, इसका अर्थ यह हुआ कि यह नियतकालिक (Periodic) धूमकेतु हेली है जो कि 1909 में दिखने वाला तीसरा धूमकेतु था तथा 1910 में उपसौर (Perihelion) से गुजरने वाला दूसरा धूमकेतु। उपसौर किसी ग्रह या धूमकेतु की अपनी कक्षा

के ऐसे बिन्दु को कहते हैं जो सूर्य से निकटतम दूरी पर हो। इस धूमकेतु से संबंधित अन्य महत्वपूर्ण आंकड़े इस प्रकार हैं—

भार— करीब 19 बिलियन टन

उपसौर—0.5872 A. V. (I. A. V. = पृथ्वी से सूर्य की दूरी = 149,000,000 कि.मी.)

कक्षीय अवधि (Orbital period)—76 1 वर्ष

नाभिक की त्रिज्या—15 कि.मी.

1910 में पूंछ की लम्बाई—100 मिलियन कि.मी.

पृथ्वी के निकटतम आने की तिथि—11 अप्रैल 1986

इससे संबद्ध उल्काओं की बौछार—4 मई (Eta Aquarid), 20 अक्टूबर (orionid)

मई के अखबारों में जैसा आपने पढ़ा होगा, 1—7 मई 1985 के बीच कुम्भ राशि (Aquaris) के तारे ऐटा (Eta) के आसपास उल्काओं की बौछार हुई। इसे 2:00 बजे प्रातः से सूर्योदय होने तक आकाश में 'चमकीली वर्षा' के रूप में देखा जा सकता था। इसका कारण हेली धूमकेतु की पिछली यात्रा में छोड़ा गया मलबा है जो प्रत्येक वर्ष 4 मई व 20 अक्टूबर को आकाश में दिखता है।

धूमकेतुओं के स्पेक्ट्रोग्राफ से यह प्रकट होता है कि उनमें अनेक गैसों जैसे सायनोजन (CN), कार्बन (C_2), कार्बन मोनोऑक्साइड (CO), नाइट्रोजन (N_2), हाइड्रॉक्सिल (OH), और नाइट्रोजन हाइड्राइड (NH) उपस्थित रहती हैं। जब 1910 में हेली धूमकेतु की पूंछ पृथ्वी के ऊपर से गुजरी तो लोगों ने विषैली गैसों, CN, CO, आदि से होने वाली विषाक्तता की संभावना व्यक्त की। परन्तु इन गैसों का प्रतिशत इतना कम था कि वे फैंटरी से विकलने वाले धुँएँ से भी कम हानिकारक थीं।

दूसरी ओर पृथ्वी की टक्कर यदि किसी धूमकेतु से हो जाये तो बात और ही होगी। एक मंजोले आकार का धूमकेतु भी टक्कर में पृथ्वी से कई बिलियन टन मिट्टी को आकाश में उठाल सकता है जिसके कारण सूर्य की किरणों का पृथ्वी पर आना रुक सकता है और पुनः हिम युग (ice age) आने की संभावना हो सकती है।

इस बार हेली धूमकेतु नवम्बर-दिसम्बर 1985 से दिखायी देने लगेगा तथा इस काल में बिना दूरदर्शी की सहायता से इसे देखा जा सकेगा। इसके पश्चात् इसकी लम्बाई बढ़ते हुए 0.5 A. V. तक पहुँच जाएगी तथा अप्रैल 1986 तक यह धूमकेतु आकाश में 20° तक फैल जाएगी। परन्तु इस दौरान इसे बिना दूरदर्शी की सहायता से देखना संभव न होगा। इसके दिखाई देने की तारीखें इस प्रकार होंगी—26 नवम्बर 1985, 16 दिसम्बर 1985, 5 जनवरी 1986, 25 जनवरी 1986, 14 फरवरी 1986, 6 मार्च, 26 मार्च 1986, 10 अप्रैल 1986, तथा 5 मई 1986, जब यह क्रमशः इन अक्षांशों में स्पष्ट रूप से दिखाई देगा :— 0° , 5° N, 15° N, 35° N, 5° N, 20° S, 30° S, 55° S, तथा 10° S। खगोलशास्त्री डोनाल्ड यीओमॉस के अनुसार हेली धूमकेतु ग्रीनविच समय के अनुसार 9 फरवरी 1986 को प्रातः 10 से 11 बजे के बीच सूर्य से निकटतम दूरी पर होगा।

इस धूमकेतु के मार्ग पर नजर रखने के लिए विश्व भर के खगोलशास्त्री आपस में सहयोग कर रहे हैं। अमेरिका के "नासा" (National Aeronautics and Space Administration-NASA) ने एक विशेष दल "इन्टरनेशनल हेली वाच" (International Halley Watch) का निर्माण किया है जो इस विषय में आँकड़े एकत्रित कर उनका अध्ययन करेगा। हेली धूमकेतु का विशेष अध्ययन तथा

उसके नाभिक व पूँछ का रासायनिक अध्ययन करने के लिए पाँच अन्तरिक्षयान छोड़े जाएँगे—इनमें से दो जापान के होंगे जिनका नाम होगा “प्लैनेट ए” (“Planet A”), दो सोवियत संघ के “प्रोजेक्ट वेगा” (“Project Vega”) के नाम से तथा एक “एसा” (European Space Agency—ESA) का “जोत्तो” (“Giotto”) के नाम से।

ESA ने अपने मिशन का नाम इटली के सुप्रसिद्ध चित्रकार जोत्तो के नाम पर रखा है जिसने 1301 में पादोवा के प्रार्थनागृह के एक भित्ति चित्र में हेली के धूमकेतु को बेलतुलहम के तारे के रूप में चित्रित किया था। “प्रोजेक्ट वेगा” फ्रांसीसी, हंगेरियन तथा रूसी उपकरणों

से लैस है तथा यह हेली धूमकेतु केन्द्र निर्माण 9600 किमी. दूरी से देखेगा व धूमकेतु का अध्ययन करेगा तथा उसके रंगीन चित्र पृथ्वी पर प्रसारित करेगा।

16 अक्टूबर 1982 को हेली धूमकेतु, पलोमर ऑबज़रवेटरी के आठ वैज्ञानिकों द्वारा कठिनाई से आकाश में ढूँढ़ निकाला गया। उस समय यह नेत्रों से देखे जा सकने वाले सबसे धूमिल तारे से 19 मिलियन गुना धूमिल था तथा पृथ्वी से इसकी दूरी 10.93 A. V. थी।

मात्र पाँच-छः महीनों में हम भी इस भव्य खगोलीय घटना को स्वयं देख सकेंगे—बिना किसी प्रकार के भय के, वरन् नये वैज्ञानिक तथ्यों की प्राप्ति की आशा के साथ। □

मछली से उपयोगी उभय उत्पाद

अरविन्द मिश्र

व्याख्याता, मत्स्य प्रशिक्षण केन्द्र, चिनहट (उ० प्र०)

एक समुचित खाद्य पदार्थ के रूप में मछली की उपादेयता निश्चित हो चुकी है। साथ ही, मछली से अनेक ऐसे उभय उत्पाद भी प्राप्त होते हैं, जिनका विशेष व्यावसायिक महत्व है। इस तरह, हमारी खाद्य एवं अर्थ समस्या को हल करने में मछली एक बड़ी आशा के रूप में सामने है। मछली से मिलने वाले प्रमुख उभय उत्पादों में तेल, प्रोटीन, आटा, गोंद, आइ-सिंग्लास तथा मत्स्य चर्म शामिल हैं।

मछली से प्राप्त होने वाले तेलों को दो प्रमुख भागों में बाँटा गया है—

(1) यकृत तैल, और (2) शारीरिक तैल यकृत तैल

मछली के यकृत से प्राप्त होने वाला तेल अपने ओषधीय गुणों के कारण महत्वपूर्ण है।

यह विटामिन ए का अच्छा स्रोत है। साथ ही, विटामिन डी तथा सी की भी थोड़ी मात्रा इसमें पायी जाती है। समुद्री मछलियों, जैसे कॉड, हेलीबट्स, टूनाज, शार्क तथा रेज से व्यवसायिक स्तर पर यकृत तैल की प्राप्ति होती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के पहले तक नार्वे और स्वीडन मत्स्य यकृत तैल व्यापार में अग्रणी थे। भारत में, इस क्षेत्र में रुचि तब जगी जब द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान बाहर से आयात होने वाले इस उत्पाद में भारी कमी आ गयी। भारत सरकार ने वैज्ञानिकों के सहयोग से अपनी सीमा के सागर जलक्षेत्र में ऐसी मछलियों की पकड़ताल प्रारम्भ की, जिनमें तेलों का प्रतिशत अच्छा था। इस दृष्टि से भारतीय शार्क और रेज मछलियाँ काफी भरोसेमन्द साबित हुईं।

यकृत तैल मा विटामिन 'ई' की मात्रा पायी गयी है। विटामिन 'ई' यौन-दुर्बलता के उपचार में प्रयुक्त होता है। विटामिन 'ए' दृष्टि सम्बन्धी दुर्बलता दूर करता है और विटामिन 'डी' स्वस्थ हड्डियों के विकास के लिए आवश्यक है। भारत जैसे देश में जहाँ कुपोषण एक गम्भीर समस्या है, यकृत तैल की बच्चों के स्वस्थ-विकास में महत्वपूर्ण भूमिका है। मुर्गी-पालन और पशुपालन में भी मत्स्य यकृत तैल से उपचारित खाद्य पदार्थों को खिलाने से अच्छा परिणाम मिला है। मछली से यकृत तैल निष्कर्षण के लिए कई विधियाँ प्रचलित हैं।

भारत में शार्क यकृत तैल उद्योग

भारत में जिन शार्कों के यकृत से तैल प्राप्त हो रहा है उनमें प्रमुख हैं, *Galeocerdo tigrinus*, *Carcharhinus melanopterus*, *Carcharhinus gangeticus*, *C. limbatus*, *C. menisorrhah*, *Sphyrna blochi*, *Scoliodon palasorrhah*, *S. walbeehmi* और 'रेज' में *Pristis cuspidatus* तथा *P. microdon* प्रमुख हैं।

शार्क यकृत तैल का उत्पादन और विपणन केरल, बम्बई और मद्रास के मत्स्य विभागों के अन्तर्गत होता है। इनसे वार्षिक उत्पादन लगभग एक लाख गैलन तक है। शार्क यकृत तैल को कई व्यावसायिक नामों से जाना जाता है जैसे, शार्कोविट, इलैस्मिन लिक्विड, इलैस्मिन पल एम० जी० बी०, स्टेफिट, एडामिन आदि।

शारीरिक तैल

मछलियों से शारीरिक तैल (Body oil) का निष्कर्षण भी होता है। इस दृष्टि से, सारडा-इन्स, हेरिंग, सामन मछलियाँ उपयुक्त हैं। शारीरिक तैल निष्कर्षण के लिए समूची मछली ही प्रयुक्त होती है। इस तैल के शुद्धिकरण के लिए 'हाइड्रोजेनेशन' का तरीका अपनाया जाता

है। मालाबार खाड़ी में बहुतायत से मिलने वाली मैकरील और सारडाइन से अधिक मात्रा में शारीरिक तैल निकाला जाता है। इसका प्रयोग खाद्य तैलों के निर्माण, साबुन, पेन्ट, वार्निशों इत्यादि में होता है।

मत्स्य आटा (Fish-meal)

मछली बाजारों तथा तैल निष्कर्षण कारखानों से प्राप्त मत्स्य व्यर्थों से मत्स्य आटे का निर्माण किया जाता है। इसके संगठन में, 55 से 70% प्रतिशत प्रोटीन, 2-15% वसा (चर्बी), 10-12% खनिज और 6-12% जल सम्मिलित होता है। इसके अलावा मत्स्य आटे में लोहे, कैल्शियम, फॉस्फोरस के साथ विटामिन 'ए', 'बी' और 'के' भी पाया जाता है। उच्च गुणवत्ता वाला मत्स्य आटा पशुपालन में पौष्टिक आहार के रूप में प्रयुक्त होता है। अपेक्षाकृत निम्न कोटि का मत्स्य आटा, मत्स्य खाद के रूप में; काफी, तम्बाकू तथा चायबगानों में अच्छी पैदावार के लिए उपयोग में आता है। मत्स्य आटे का अधिक उत्पादन पश्चिमी तट पर करवार और केप कामोरिन में होता है।

मत्स्य चूर्ण

मत्स्य चूर्ण, मत्स्य आटे की बहुत महीन उच्च कोटि है। यह मानव उपयोग के लिए भी उपयुक्त है। खाद्य रूप में इसका प्रयोग गेहूँ और मक्के के आटे में मिलाकर किया जाता है। यह प्रोटीन का बहुत अच्छा स्रोत है। यह पुष्ठाहार के रूप में खमीर-रोटियों (ब्रेड), बिस्कुट, केक, मिठाईयों, साबुन, दलिया आदि में मिलाया जाता है। इन खाद्य पदार्थों में मत्स्य चूर्ण के मिश्रण को दस प्रतिशत के अनुपात में मिलाने की संस्तुति की जाती है। मत्स्य चूर्ण में आसानी से पचने वाले प्रोटीन का प्रतिशत अधिक होता है। इसमें कैल्शियमफॉस्फेट की भी अच्छी मात्रा होती है।

मत्स्य प्रोटीन

शुद्धतम रूप में मत्स्य प्रोटीन, मत्स्य आटे से वसा को पृथक कर लेने के बाद प्राप्त होता है। यह सफेद रंग का चूर्ण (पाउडर) होता है, जिसमें 80-90 प्रतिशत तक घुलनशील प्रोटीन होती है। यह मत्स्य गंध से रहित होता है। परिशोधित मत्स्य प्रोटीन अण्डे की सफेदी (एल्ब्यूमेन) के विकल्प के रूप में 'बेकिंग केक' बनाने व आइसक्रीम के निर्माण में प्रयुक्त होता है। कुछ शोषधीय उत्पादों में भी यह एक महत्वपूर्ण घटक है।

मत्स्य सरेस (गोंद)

मत्स्य सरेस मछली की त्वचा, पंखों (Fins) और अस्थियों से तैयार किया जाता है। इसका उपयोग, पुस्तक-जिह्दसाजी, फर्नीचर उद्योग आदि में होता है।

आईसिंग्लास

यह एक उच्च कोटि का श्लेष्मिय पदार्थ (कोलैजन) है जो मछलियों के वाताशयों (Air bladders) से निर्मित होता है। मुख्यतः इसे कैंट फिशेज, पर्चेज, सियेनिड्स और पालिनेमिड्स 'ग्रुप' की मछलियों से प्राप्त किया जाता है। इसके निर्माण में मछलियों से प्राप्त वाताशयों को धोकर रक्त से पूर्णतया मुक्त कर लेते हैं और सबसे ऊपर के आवरण को खुरच कर पृथक करते हैं। आन्तरिक आवरण को सुखाकर "आईसिंग्लास" बनाते हैं। इसका उपयोग शराबों की कई किस्मों, सिरकों आदि के निर्मलीकरण में होता है। साथ ही, इसका प्रयोग

प्लास्टरों तथा खास किस्म के सीमेन्ट निर्माण में होता है। रूसी आईसिंग्लास, जिसे 'पत्ता', 'पाइप' और 'केक' के नाम से बाजारों में बेचा जाता है, उच्च कोटि का होता है। यह स्टर्जियन मछलियों की कई जातियों से तैयार होता है।

मत्स्य त्वचा

मछलियों की कुछ बृहदाकार किस्मों जैसे शार्क और रेज मछलियों की त्वचा को विशेष ढंग से उपचारित करके अलंकारीक रूप देकर अच्छा व्यवसाय किया जा रहा है। रंगे मत्स्य चर्म से जूतों, हैण्डबैग, तम्बाकूदानी गत्ते के ढक्कनों, हीरे के बक्सों, तलवार की म्यानो तथा अन्य अलंकारी उत्पादों का निर्माण होता है। दक्षिण सागरीय द्वीपों के मूल निवासी कुछ 'पोर्कूपाइन' सदृश काँटेदार मछलियों की सूखी एवं कटीली त्वचा से शिरस्ताण भी बनाते हैं। जापान में तो 'पफूरो' की फूली एवं सूखी चमड़ी से एक किस्म की 'लालटेन' बनाने का धन्धा ही चल निकला है जिसके भीतर जलती मोमबत्ती से अच्छा प्रकाश छन कर बाहर आता है।

उत्तरी यूरोप में कुछ जगहों (यथा फ्रांस) में पायी जाने वाली 'ऐलबरनस' मछली के शल्कों (Scales) से कृत्रिम मोतियों का भी निर्माण होता रहा है। यह उद्योग सत्रहवीं शताब्दी से अस्तित्व में है। शल्कों से कृत्रिम मोती की निर्माण प्रक्रिया में शल्कों से प्राप्त एक रंगीन पदार्थ (रंजक) को मोती के आकार की खोखली शीशे की गोलियों में भर कर उन्हें असली मोती की छवि दे दी जाती है। □

केला खाइये, सेहत बनाइये

डॉ० उमेश चन्द्र पाण्डेय

बी-12, माडल टाउन, बरेली-243005

केला अपने पौष्टिक तत्वों के कारण विश्व का मशहूर फल है। बच्चे, जवान, बूढ़े सब इसे बड़े चाव से खाते हैं। यह फल शीघ्र पचने वाला और कई अन्य स्वास्थ्य गुणों से भरपूर है।

केला फलों का राजा तो नहीं, किन्तु सब फलों की तुलना में इसका सेवन सबसे अधिक किया जाता है। इसका कारण इसका मात्र सस्ता होना नहीं बल्कि सुस्वाद और प्राकृतिक पौष्टिक तत्वों से भरपूर होना भी है।

केले में लगभग वे अधिकांश तत्व विद्यमान रहते हैं, जो मानव शरीर के पोषण व शक्ति प्रदान करने के लिए आवश्यक होते हैं। इनमें प्रमुख हैं—विटामिन 'ए', 'बी', 'सी', 'डी', 'ई', वसा, कार्बोहाइड्रेट, खनिज लवण, शर्करा आदि। इसके अलावा इस फल में कैल्शियम, पोटैशियम, मैग्नीशियम, सोडियम, तांबा (कापर), फॉस्फोरस, क्लोरीन, गन्धक (सल्फर), आदि तत्व भी पाये जाते हैं।

हमारे देश में केला इतनी अधिक मात्रा में पैदा किया जाता है कि यह फल हर कहीं आसानी से मिल जाता है। सस्ता होने के कारण अमीर व गरीब सभी इस फल का सेवन करते हैं।

केले की अनेक जातियाँ व प्रजातियाँ प्रचलित हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि मैसूर तथा निकटवर्ती क्षेत्रों में उगायी जाने वाली किस्म 'रसवलि' सर्वाधिक पौष्टिक व स्वादिष्ट होती है। वैसे तो भूसावल (बम्बई) व कलकतिया केला भी स्वाद में बहुत मीठा होता है।

केले में बीज नहीं पाये जाते हैं अतएव यह आसानी से पच जाता है।

वनस्पति विज्ञान की दृष्टि में केला पुष्प-धारियों के अन्तर्गत म्यूजेसी (एकबीजपत्री) कुल का सदस्य है।

आयुर्वेद के अनुसार केला स्निग्ध, मधुर, कषाय व शीतवीर्ययुक्त फल है। यह तृष्णा, वात-पित्त शामक, कफकारक, योनिस्त्राव रोधक, वेदना स्थापक, मूत्रकच्छ, योनि दोष, वस्ति की उत्तेजना से उत्पन्न रोगों को शान्त करने में सहायक होता है। केला उदर रोग, हृदय शूल, प्रदर, गर्मी के रोग, नेत्ररोग, रक्त-पित्त आदि में भी विशेष रूप से गुणकारी है।

अनुसंधानों से पता चला है कि केले की शर्करा से आँतों में पनपने वाले अनेक हानिकारक जीवाणुओं की वृद्धि पर अंकुश लग जाता है और साथ ही आँतों में सड़न को भी रोकता है।

केला एक पूर्ण आहार है। बच्चों तथा वयस्कों को केला, दूध के साथ दिया जाता है। नियमित सेवन से कुछ समय में ही शरीर के भार में वृद्धि के साथ स्फूर्ति आती है। दुर्बल एवं बीमार लोगों के लिए तो केला एक वरदान है।

केले के रासायनिक विश्लेषण से निम्न अवयव पाये जाते हैं—

कार्बोहाइड्रेट.....	18.0 से 23.4 प्रतिशत
प्रोटीन.....	1.2 से 1.6 प्रतिशत
वसा.....	0.1 प्रतिशत
खनिज पदार्थ.....	0.7 प्रतिशत
लोहा.....	0.4 प्रतिशत

अनुसंधानों से पता चला है कि 100 ग्राम केले से 153 कैलोरी शक्ति प्राप्त होती है।

केला एक पौष्टिक, गुणकारी, सुस्वादु, विटामिनयुक्त तथा स्वास्थ्यवर्धक फल है, किन्तु कुछ लोगों के दिमाग में अभी भी यह गलत धारणा बनी हुई है कि केला खाने से कब्जियत होती है। यह सत्य नहीं है। अच्छा पका, काले छिलके वाला केला कब्जनाशक व पाचन प्रभाव-युक्त है।

ऐसा कहा जाता है कि केले के पौधे का प्रत्येक अंश किसी न किसी रूप में गुणकारी होता है।

भोजन के बाद केला खाना ज्यादा लाभप्रद होता है। हाँ! यदि ज्यादा केले किसी ने खा लिए हों तो घबराने की बात नहीं है, एक-दो इलायची का सेवन करने से वे आसानी से पच जावेंगे।

केला कई प्रकार के रोगों में लाभकारी साबित हो चुका है। बच्चों में दस्त या पेचिश होने पर पका केला, जीरा व नमक का प्रयोग गुणकारी होता है। संग्रहणी रोग में इमली का गूदा व नमक के साथ पके केले का इस्तेमाल करने से शीघ्र आराम होता है।

बहुमूत्रता रोग में केले के सेवन करने से लाभ होता है। प्रदर रोग में सुबह-शाम 1-1 केला, 6-6 ग्राम देशी घी के साथ 8-10 दिनों तक प्रयोग करने से अप्रत्याशित लाभ होता है।

इसके अलावा रक्तातिसार मधुमेह, गठिया, नेफ्राइटिस, राजयक्ष्मा, हृदय रोगों, सूखी खाँसी, पेशाब की जलन आदि रोगों के निदान में केले के सेवन की राय दी जाती है। □

विज्ञान वार्ता

संकलन : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

वनस्पति विभाग, सी. एम. पी. डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

(1) अमेरिकी शटल में एक भारतीय भी अंतरिक्ष में जायेगा

भारतीय अन्तरिक्ष अनुसंधान संगठन (इसरो) की विज्ञप्ति के अनुसार जून 1986 में भारतीय उपग्रह इनसेट-1 सी को प्रक्षेपित करने वाले अमेरिकी शटल में दो अमेरिकी अन्तरिक्ष-यात्रियों के साथ एक भारतीय वैज्ञानिक या इंजीनियर भी अन्तरिक्ष में जायेगा। यह अन्तरिक्षयात्री इसरो का ही होगा। भारतीय अन्तरिक्ष विभाग अमेरिका के नासा के साथ मिलकर भारतीय अन्तरिक्षयात्री द्वारा किए जाने वाले प्रयोग निर्धारित करेगा।

(2) 'प्लास्टिक सर्जरी' मूलतः भारत की खोज

भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान के डॉ० जे० एन० शर्मा सहित दूसरे भारतीय वैज्ञानिकों का यह निश्चित मत है कि 'प्लास्टिक सर्जरी' मूलतः भारत की खोज है। टीपू सुल्तान ने एक बार एक आदमी की नाक काट ली थी जिसे तत्कालीन एक भारतीय चिकित्सक ने आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति द्वारा ठीक कर दिया। बाद में, जब ब्रिटिश चिकित्सक भारतीय चिकित्सकों से यह तकनीक सीखने यहाँ आये तो उन्होंने सुश्रुत संहिता सहित तमाम संस्कृत साहित्य का अध्ययन किया और 'प्लास्टिक

सर्जरी' से सम्बन्धित जानकारीयाँ प्राप्त कीं। उन्होंने ब्रिटेन में इस विधि का काफी विकास किया और इसे इस प्रकार प्रचारित किया जैसे 'प्लास्टिक सर्जरी' मूलतः ब्रिटेन की खोज हो। यह तथ्य निर्विवाद है कि हमारे प्राचीन ग्रंथों में बहुमूल्य वैज्ञानिक ज्ञान का अक्षय भण्डार छिपा है जिसकी खोज अत्यन्त आवश्यक है।

(3) पान के स्वास्थ्यवर्धक गुण

जवाहरलाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय, जबलपुर के डॉ० एम० एल० नायक ने पान पर काफी शोधकार्य करने के बाद यह पता किया है कि पान खाना स्वास्थ्य के लिए लाभदायक है। उन्होंने बताया कि स्वास्थ्य बढ़ाने वाले जो 24 एमिनो अम्ल प्रोटीन का निर्माण करते हैं उनमें से 13 पान में पाये जाते हैं। मिथोनीन और ल्यूसीन नामक एमिनो अम्ल जो हृदय के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक होते हैं पान में काफी मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार पान मुख-शुद्धि के साथ ही साथ स्वास्थ्यवर्धक भी होता है। किन्तु पान के साथ तम्बाकू की लत पड़ जाती है और इससे सदैव सावधान रहना चाहिए।

(4) गंध : मनुष्य की सेवा में

सोवियत संघ की विज्ञान अकादमी के जीव विज्ञान और परिस्थिति विज्ञान संस्थान ने सिद्ध कर दिया है कि वनस्पति जगत् और प्राणी जगत् में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली विभिन्न प्रकार की गंध का उपयोग मानव की सेवा के लिए बड़े प्रभावपूर्ण ढंग से किया जा सकता है। विभिन्न प्रकार के कीट विपरीत लिंग के कीटों को आकर्षित करने के लिए अथवा शत्रुओं से बचने के प्रयास में आत्मरक्षा के लिए तरह-तरह की गंध छोड़ते हैं। इस तथ्य का उपयोग मनुष्य अपने लिए हानिकर कीटों को नष्ट करने, तथा अपने लिए लाभप्रद कीटों को पालने के लिए कर सकता है। पशुपालन, कृषि और फलोद्यान के क्षेत्र में इस तथ्य का व्याव-

हारिक प्रयोग किया जा रहा है और पेड़-पौधों के लिए हानिकर कीटों को विषैले रसायनों से नष्ट करने की बजाए ऐसी गंधों का उपयोग किया जा रहा है जो हानिकर कीटों के शत्रु कीटों को आकर्षित करती हैं और इस प्रकार पेड़-पौधों की सुरक्षा में सहायक सिद्ध होती हैं।

(5) शल्यकर्म के लिए विजली का उपकरण

सोवियत संघ के उक्राइन के खरकोव नगर के इंजीनियरों और चिकित्सकों ने मिल कर शल्यकर्म के लिए उपयुक्त विद्युत् उपकरण तैयार किया है। इसमें आपरेशन के चाकू की नोक का काम उच्च फ्रिक्वेंसी करेंट करती है। विशेष रूप से यकृत, गुर्दे आदि के शल्यकर्म के लिए यह उपकरण बहुत उपयुक्त है क्योंकि इससे खून नहीं विकलता है और घाव की अपने-आप "वैलिंग" भी होती चलती है।

(6) प्रदूषणमुक्त हवा, पानी

पिछले 37 साल में आजादी के बाद हमारे जंगल बहुत तेजी से कटे हैं। उससे हमारा मौसम भी बदल रहा है, हमारी बरसात पर फर्क पड़ रहा है। हम इस पर एक बहुत जोर से आन्दोलन चलाएँगे। हम एक नेशनल बेस्ट लैण्ड्स डेवलपमेण्ट बोर्ड (राष्ट्रीय बंजर भूमि बोर्ड) बना रहे हैं जिससे हर साल पाँच मिलियन हैक्टेयर जमीन पर पेड़ लगाये जायेंगे; जलाने के लिए और चारे के लिए। हम कोशिश करेंगे कि यह जनता का आन्दोलन बने।

गंगा भारत की परम्परा से मिली हुई है। लेकिन आज उसका पानी बहुत गन्दा है। हम एक सेण्ट्रल गंगा एथोरिटी (केन्द्रीय गंगा प्राधिकरण) बना रहे हैं जो गंगा का पानी साफ करेगा, गंगा की पवित्रता बनाये रखेगा। इसी तरह हम देखेंगे कि देश के दूसरे हिस्सों में भी पानी-हवा साफ हो। □

—प्रधान मंत्री राजीव गांधी
(लोक सभा चुनाव के बाद राष्ट्र के नाम प्रसारित प्रथम संदेश से)

हर्पीज रोग की विभिषिका और उपचार

नरेश बाली

द्वारा हिमाद्रीस स्टोर, जोगीपाड़ा, आजरा, गोहाटी—781017 (असम)

भारत जैसे पूर्वी देशों के लिए हर्पीज एक सर्वथा नया नाम है किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका सहित मुक्त यौन-सम्बन्धों वाले पश्चिमी देशों पर यह रोग आफत के घने बादल की तरह लगभग छा ही चुका है तथा दिन-प्रतिदिन वहाँ यह समस्या निरन्तर विकराल से विकरालतम रूप धारण करती चली जा रही है। 'सेन्टर फॉर डिजीज कंट्रोल' द्वारा हाल ही में प्रस्तुत आँकड़ों से यह बात खुल कर सामने आयी है कि हर्पीज रोग अमेरिका में महामारी की स्थिति तक बस पहुँचने ही वाला है। साठ के दशक के मध्य से लेकर अब तक यौन-सम्बन्धों की मुक्तता तथा भारी छूट के कारण, हर्पीज के रोगियों की संख्या में नौ गुना वृद्धि हुई है। आज अकेले अमेरिका में कुल मिला कर छह करोड़ लोग हर्पीज रोग से ग्रस्त हैं तथा, इसके सर्वाधिक खतरनाक रूप जननेन्द्रिय के हर्पीज ने दस प्रतिशत अमेरिकी जनता अर्थात् लगभग दो करोड़ लोगों को पीड़ित कर रखा है। इस रोग द्वारा निरन्तर विकराल रूप धारण करते चले जाने का अन्दाज़ा इस बात से हो जाता है कि ये दो करोड़ लोग प्रतिवर्ष 300000-500000 और लोगों को रोगी बना रहे हैं। ये तो वे आँकड़े हैं जो कि दर्ज हैं, चिकित्सा अधिकारियों का विश्वास है कि इस रोग के अनेक अन्य मामले तो बिना दर्ज हुए ही रह जाते हैं। इसका अर्थ यह निकलता है कि जननेन्द्रिय के रोगों में हर्पीज सूजाक तथा आतशक जैसे भयानक रोगों से भी बाजी मार ले गया है और शायद यह आज का नम्बर एक यौन-हस्तारित रोग है।

हर्पीज रोग क्या है, यह कैसे होता है, इसके पीछे किस दुष्ट-प्रवृत्ति जीव का हाथ होता है तथा इसकी रोकथामसम्बन्धी नवीनतम खोज के बारे में विस्तृत अध्ययन किया जाये। तो सबसे पहले हर्पीज रोग क्या है और इसके पीछे किसका हाथ होता है।

हर्पीज (ग्रीक शब्द) विषाणुजनित त्वचा का रोग है। इस विषाणु से मिलते-जुलते से अधिक और भी विषाणु पाये जाते हैं जिनमें मुख्य हैं लघुमसूरिका या छोटी माता तथा संक्रामक मोनोव्यूक्लियोसिस—Kissing Disease—रोग के विषाणु। हर्पीज-विषाणु छोटी माता के विषाणु की भाँति बहुत ही छोटा होता है—इतना कि इसे हम अति शक्तिशाली सूक्ष्मदर्शी से ही देख पाने में सफल हो सकते हैं। यह विषाणु वसा, प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट की तीन पतली परतों में लिपटे दोहरी कुण्डलिनी वाले अणु डी० एन० ए० का बना होता है।

हर्पीज-पीड़ित व्यक्ति से अन्तरंग सम्बन्ध के माध्यम से यह विषाणु दूसरे व्यक्ति के शरीर में चला जाता है। प्रवेश के थोड़ी देर बाद ही यह बड़ी तेज़ी से लक्ष्य-कोशिकाओं के समीप पहुँच कर कोशिका-भित्ति को भेद कर भीतर कोशिका-द्रव्य में चला जाता है। यहाँ यह वसा, प्रोटीन तथा कार्बोहाइड्रेट से बनी अपनी बाहरी परत का त्याग कर देता है, तथा भीतरी डी० एन० ए० कोशिका-द्रव्य में से होता हुआ केन्द्रक-कला को भी भेद कर केन्द्रक में प्रवेश कर जाता है। इसके बाद विषाणु डी० एन० ए० कोशिका के डी० एन० ए० पर अपनी शक्ति के अनु-

सार थोड़ा या ज्यादा अधिकार जमा लेता है। यह डी० एन० ए०, जो सामान्यतया पोषक कोशिकाओं की संरचना तथा इनके कार्य करते रहने के लिए आवश्यक प्रोटीन का निर्माण करता है, विषाणु डी० एन० ए० के अधिकार में चले जाने के बाद विषाणु दूत आर० एन० ए० (mRNA) तत्व का संश्लेषण करने को बाध्य कर दिया जाता है। यह दूत आर० एन० ए० तब कोशिका के केन्द्रक से बाहर कोशिका-द्रव्य में भेजा जाता है जहाँ इसका संकेत 'पढ़ कर' विषाणु-प्रोटीन का निर्माण-कार्य आरम्भ हो जाता है। निर्माण के पश्चात् विषाणु-प्रोटीन भीतर केन्द्रक को प्रेषित कर दिये जाते हैं। वहाँ ये आक्रमणकारी विषाणु की वंशवृद्धि में सहायता करते हैं। इस तरह असंख्य नये विषाणु उत्पन्न हो कर अधिकृत कोशिका के केन्द्रक से बाहर आते हैं तथा कोशिका-द्रव्य में से बसा, प्रोटीन और कार्बोहाइड्रेट प्राप्त करके उसकी परतों में स्वयम् को लपेट कर कोशिका में से निकलते हैं और फिर सेना की एक टुकड़ी की तरह अन्य स्वस्थ कोशिकाओं पर भी अधिकार जमा कर आगे बढ़ते चले जाते हैं।

हर्पीज रोग के विषाणु दो प्रकार के होते हैं। एक है हर्पीज सिम्पलेक्स 1 और दूसरा सिम्पलेक्स 2, पहली तरह का विषाणु शरीर के केवल कमर से ऊपर तक के भाग पर हमला करता है जबकि सिम्पलेक्स 2 सिर्फ नीचे वाले भाग पर। सिम्पलेक्स 1 के आक्रमण से मुँह, होठों तथा गले में या इसके आस-पास छाले निकलते हैं। आँख का सबसे कोमल भाग कॉर्निया भी इस विषाणु का शिकार बन सकता है।

अधिकतर रोगियों में प्राथमिक संक्रमण के पश्चात् यह विषाणु शरीर की कुछ आन्तरिक कोशिकाओं में चला जाता है। इस अवस्था को गुप्त-संक्रमण कहते हैं। वहाँ यह पुनः अपनी वंशवृद्धि में रत हो जाता है और कुछ समय के बाद फिर से उपर्युक्त लक्षणों के रूप में प्रकट होता है। इसके बाद रोगी के शरीर में यही प्रक्रिया लगातार बार-बार दोहरायी जाती रहती है।

सिम्पलेक्स 1 विषाणु के संक्रमण के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली सर्वाधिक बाधक अवस्था है—मस्तिष्क में जलन का अनुभव। इस अवस्था में विषाणु संक्रान्त त्वचा या फिर शरीर में अपने छिपने के स्थान—तंत्रिका कोशिकाओं से चल कर मस्तिष्क के उन महत्वपूर्ण भागों—जो शरीर की चेतना, वाणी, गति जैसी जैविक क्रियाओं को क्रियाशील रखते हैं—में पहुँच जाता है। मांसपेशियों की ऐंठन, पक्षाघात तथा कौमा की स्थिति लगभग 40 प्रतिशत रोगियों के लिए समयपूर्व मृत्यु का कारण बनती है तथा जो बच जाते हैं उनमें से अधिकतर मानसिक या शारीरिक रूप से विकलांग हो जाते हैं।

इसके विपरीत सिम्पलेक्स 2 विषाणु का संक्रमण लगभग न के बराबर ही घातक सिद्ध होता है—यह अपनी कष्टदायक गतिविधियाँ मात्र जननेन्द्रिय क्षेत्र तक ही सीमित रखता है। सिम्पलेक्स 2 विषाणु सिम्पलेक्स 1 से काफी मिलता-जुलता है। दोनों विषाणुओं में इस साम्यता से इस बात की पर्याप्त आशंका रहती है कि यदि कोई सिम्पलेक्स 1 से पीड़ित है तो इससे शारीरिक सम्बन्ध जोड़ने वाला उसका साथी जननेन्द्रिय के हर्पीज का शिकार हो जाता है।

हर्पीज सिम्पलेक्स 2 विषाणु से ग्रस्त रोगी की जननेन्द्रिय पर लगभग एक आलपिन के सिर के आकार जितने छोटे-छोटे, दूषित द्रव भरे दाने निकलते हैं जिनमें दर्द तथा जलन होती है। साथ ही, कुछ रोगियों में पिंडलियों में दर्द, पीठ का दर्द, बुखार जैसे फलू की तरह के लक्षण तथा लसीका ग्रन्थि में सूजन भी देखी गयी है।

सिम्पलेक्स 2 के मामले में भी गुप्त संक्रमण वाली बात है। जननेन्द्रिय-हर्पीज के आरम्भिक लक्षण सामान्यतः तीन सप्ताह के भीतर ही लुप्त हो जाते हैं और इसके बाद यह विषाणु अपनी वंशवृद्धि की चिन्ता में रोगी के शरीर के भीतर अपने छिपने के स्थान—रीढ़-रज्जु के निचले हिस्से की तंत्रिका

कोशिकाओं में चला जाता है। और कुछ समय के बाद पुनः जननेन्द्रिय पर दानों के रूप में प्रकट होता है। इस तरह थोड़े-थोड़े समय के बाद रोग का बार-बार आक्रमण होता रहता है। वैसे आमतौर से हर्पीज रोग का पुनरावर्तन एक वर्ष में औसतन चार से लेकर पाँच बार तक होता है लेकिन ऐसे मामलों में जहाँ रोगी बहुत बुरी तरह से प्रभावित हुआ हो ऐसा पुनरावर्तन वर्ष में बारह से सोलह बार तक हो सकता है; इस दर से प्रायः रोगी के सामाजिक तथा वैवाहिक सम्बन्धों पर बहुत बुरा असर पड़ता है परिणामस्वरूप उसमें कुष्ठा की भावना पैदा हो जाती है।

रोगी की जननेन्द्रिय पर जिन दिनों दाने विद्यमान होते हैं उन दिनों यौन-सम्बन्ध में काफी खतरा रहता है। जननेन्द्रिय पर निकले छोटे-छोटे दाने अति-संसर्गज होते हैं। जब ये दाने फूटते हैं तो इनमें से लाखों की संख्या में विषाणु बिखर कर बहुत जल्दी रोगी के साथी के शरीर में योनि अथवा लिंग के माध्यम से प्रवेश कर जाते हैं और तब वह भी इस लगभग असाध्य रोग के खतरनाक पंजों में पहुँच जाता है।

चिकित्सकों की ऐसी भी आशंका है कि स्त्रियों में हर्पीज तथा योनि-मुख कैंसर के बीच भीतर ही भीतर काफी गहरा सम्बन्ध है। ऐसा विचार है कि स्त्रियों में इस रोग के पुनर्आक्रमण योनि-मुख के कैंसर के खतरे को पाँच से आठ गुना तक बढ़ा देते हैं इसलिए चिकित्सकों की राय है कि इस खतरे को दृष्टि रखते हुए हर्पीज-पीड़ित स्त्रियों को हर छह महीने बाद अपना परीक्षण करवाना चाहिए। वैसे इस तरह से योनि-कैंसर की आशंका वेश्याओं में ही अधिक रहती है। हर्पीज रोग का एक और भी कुत्सित पक्ष है—ऐसे नवोत्पन्न शिशु जिनकी माँ को हर्पीज रोग हो और शिशु के जन्म के समय उसे यह रोग पकड़ ले, उनमें से आधे या तो मृत्यु के शिकार हो जाते हैं या फिर मानसिक अथवा अन्य किसी तरह से बुरी तरह मंद पड़ जाते हैं। पर, शिशुओं में इस

तरह के संक्रमण को रोका भी जा सकता है—बच्चे को ऑपरेशन द्वारा बाहर निकाल कर।

अब यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस बीसवीं सदी में जब कि हमने अधिकतर रोगों तथा इसके जनकों के विरुद्ध शक्तिशाली औषधियों की खोज और जीवाणुओं का समाप्त करने में शानदार सफलता अर्जित कर ली है तो क्या बात है कि अधिकांश विषाणुओं तथा विषाणु-जनित रोगों की अभी तक कोई कारगर दवा हमारे हाथ नहीं लग पायी है? इसके कारण अनेक हैं जिनमें से एक तो यह है कि जीवाणु एक कोशिका-भित्ति रखते हैं जिसके बिना यह मर जाते हैं तथा अधिकांश जीवाणु-रोधी दवाएँ इसी भित्ति को बुरी तरह से हानि पहुँचा कर या नष्ट करके इन्हें समाप्त कर डालती हैं; जबकि विषाणुओं में ऐसी कोई भित्ति नहीं होती जिसे लक्ष्य करके दवाएँ हमला कर सकें। दूसरी बात यह कि विषाणु रोगी की कोशिकाओं के भीतर ही छिपे रहते हैं, तो इनको समाप्त करने के लिए प्रयोग में लायी गयी औषधियाँ स्वस्थ कोशिकाओं को भी नष्ट कर सकती हैं। इस मामले में एक अन्य समस्या यह है कि हर्पीज जैसे अनेक विषाणु गुप्त-संक्रमण में भी विश्वास रखते हैं जिसके कारण इन्हें समूल नष्ट कर पाना वास्तव में टेढ़ी खीर है। और, सबसे बड़ी तथा शायद सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात, हम अभी तक यह नहीं जानते कि विषाणु वास्तव में किस तरह से रोग का कारण बनते हैं; न ही विषाणु-संक्रमण के आरम्भिक अवस्था में निदान हेतु हमारे पास उचित साधन हैं। संक्रमण का निदान प्रायः ऐसी अवस्था में पहुँच कर ही सम्भव हो पाता है जब विषाणु रोगी पर अपनी पकड़ काफी मजबूत कर चुका होता है। इन्हीं सब कारणों के चलते हर्पीज सहित बहुत से विषाणु अब तक चिकित्सा-विज्ञान की पकड़ से बचे रह कर अपनी घृणित, कष्टदायक, भयंकर तथा विनाशकारी कार्यवाहियों में मजे से संलग्न हैं। जननेन्द्रिय के अन्य रोगों—आतशक तथा सूजाक—की चिकित्सा तो विज्ञान ने सफलता ना दी है किन्तु विषाणुओं के विरुद्ध

दवाओं के विकास का कार्य अभी तक बाल्यावस्था में ही होने के कारण हर्पीज रोग की कोई ऐसी दवा विकसित नहीं की जा सकी है जिसे सही मायनों में दवा कहा जा सके। तात्पर्य यह कि इस रोग के सम्बन्ध में अब तक भी यह धारणा काफी बलवती है कि दवा की तरह हर्पीज से भी बस मृत्यु के साथ ही पीछा छूटता है; ऊपर से, सारा जीवन रोगी इसके कारण अपने यौन-सम्बन्धों तथा प्रतिदिन के सामाजिक व्यवहार में जो बाधा झेलता रहता है वह किसी तरह से कम नहीं। वैसे, अमेरिका की एक दवा-निर्माता कम्पनी हर्पीज के एक टीके का विकास करने में जुटी हुई है जिसके बारे में आशा है कि यह हर प्रकार के हर्पीज के विरुद्ध सफलतापूर्वक प्रयोग की जा सकेगी। परन्तु, इस दवा के बाजार में आने में अभी काफी समय है।

अभी हाल ही में हर्पीज के पुनर्आक्रमण के शमन अथवा इसे रोकने के लिए **एसिक्लोविर** नामक एक दवा बाजार में आयी है जिसे **जोवोरेक्स** नाम से बेचा जा रहा है। **एसिक्लोविर** रासायनिक रूप से उसी तरह के एक पदार्थ का निर्माण करती है जो हर्पीज विषाणु द्वारा अपना डी० एन० ए० बनाने के लिए उद्योग में लाया जाता है। इस तरह, जब विषाणु अपनी वंशवृद्धि करता है तो उस वक्त यह दवा नये विषाणु डी० एन० ए० का निर्माण करती है और तब विषाणु एसिक्लोविर निर्मित गलत डी० एन० ए० के साथ अधिक समय तक जीवित नहीं रह पाते।

नयी चिकित्सा—इसमें एसिक्लोविर दवा की प्रतिदिन 400 से 1000 मिलीग्राम तक मात्रा मुख द्वारा ली जाती है—बहुत बुरी तरह से प्रभावित रोगियों में भी हर्पीज के लगातार बहुत जल्दी-जल्दी होने वाले पुनर्आक्रमण को ही नहीं रोकती वरन् यौन-सम्बन्धों के माध्यम से रोगी में से उसके साथी के शरीर में हर्पीज विषाणु के प्रवेश के खतरे को भी रोक सकने की क्षमता रखती है।

एसिक्लोविर की प्रभावशक्ति से सम्बन्धित दो अध्ययन 'न्यू इंग्लैंड जरनल ऑव मेडिसिन' में प्रका-

शित हुए हैं। इनमें से एक अध्ययन, जो कि अमेरिका के 'नेशनल इन्स्टीट्यूट ऑव एलर्जी एण्ड इन्फेक्शंस डिसीजेज' के विषाणु विज्ञान विभाग के प्रमुख डॉ० स्टोफन ई० स्ट्रॉस के निदेशन में किया गया, में 32 ऐसे रोगियों को लिया गया जो बहुत बुरी तरह से हर्पीज रोग से पीड़ित थे तथा वर्ष में बारह या अधिक पुनर्आक्रमणों का शिकार हो रहे थे। इनमें से आधे रोगियों ने प्लेसबॉस ली और बाकी आधे ने 125 दिन तक दिन में तीन बार एसिक्लोविर कैप्सूल लिये। प्लेसबॉस लेने वाले सभी रोगियों में तो पुनर्आक्रमण ने हमला किया लेकिन एसिक्लोविर का सेवन करने वाले सोलह रोगियों में से मात्र चार में ही यह पाया गया। तदनन्तर, पुनर्आक्रमण के शिकार व्यक्तियों में से 19 को प्रतिदिन एसिक्लोविर दी गयी और तब इनमें से 17 में दवा लेते हुए रोग का फिर से आक्रमण नहीं हुआ। साथ ही, चार महीने के अध्ययन-काल में एसिक्लोविर के सेवन से रोगियों में पार्श्वप्रभाव भी बहुत कम देखे गये।

'न्यू इंग्लैंड जनरल ऑव मेडिसिन' में प्रकाशित द्वितीय अध्ययन युनिवर्सिटी ऑव वाशिंगटन तथा चिल्ड्रेन्स आर्थोपेडिक अस्पताल के डॉ० सॉरेंस कोरी के निदेशन में किया गया। इस अध्ययन के लिए रोग के पुनर्आक्रमणों के शिकार 143 रोगियों को चुना गया। चिकित्सोपरान्त जहाँ प्लेसबॉस लेने वाले 94 प्रतिशत रोगी पुनर्आक्रमण से ग्रस्त पाये गये वहाँ दूसरी तरफ 120 दिन तक प्रतिदिन एसिक्लोविर लेने वाले 68 प्रतिशत रोगी पूरी तरह से इनसे मुक्त हो गये। एसिक्लोविर—चिकित्सा ने पुनर्आक्रमणों की संख्या में कमी करने के साथ-साथ उनकी शक्ति को भी कम किया।

एसिक्लोविर पहली ऐसी दवा है जो जननेन्द्रिय के हर्पीज के पुनर्आक्रमणों की शक्ति का दमन करने में स्पष्ट रूप से प्रभावशाली पायी गयी है। लेकिन दोनों ही अध्ययनों में पाया गया कि चिकित्सा समाप्ति के कुछ महीनों बाद रोग के लक्षण फिर से प्रकट हो गये जिसका मतलब यह है कि उपरोक्त दवा रोग के

विषाणु का समूल नाश करके रोगी को पूर्णतः स्वस्थ न करके केवल पुनर्जाक्रमणों को ही कुछ समय तक रोक पाने में सफल हो पायी ।

एसिक्लोविर हर्पीज रोग की चिकित्सा नहीं है । सही मायनों वाली चिकित्सा से तो हम अभी भी बहुत दूर हैं, यह तो स्वयम् डॉ० स्ट्राँस भी कहते हैं, लेकिन यह दवा इस दृष्टिकोण से काफी महत्वपूर्ण है कि पहले जहाँ हमारे पास इस रोग के विरुद्ध कुछ भी नहीं था वहाँ अब कुछ तो हमारे हाथ में है ।

वैसे इस रोग का एक घरेलू विषांतक भी हाल ही में प्रकाश में आया है । और इसका श्रेय ब्रिस्टल पॉलीटेक्निक के यौनरोग विभाग के प्रमुख डॉ० डेविड शोर को है । यह विषांतक है—इन्स्टेंट कॉफी । कॉफी हर्पीज के विरुद्ध प्रयोगशाला में किये गये प्रयोगों में एक प्रभावशाली शस्त्र सिद्ध हुआ है और इसका

आधार मानव-कोशिकाओं पर प्रयोगों के दौरान कॉफी में भी कैफीन को विषाणु की वृद्धि पर रोक लगाने वाले कारक के रूप में पाया जाना है । तात्पर्य यह कि कॉफी के प्रतिदिन नियमित सेवन से हर्पीज रोग की तीव्रता को देर-सबेर कम करने में काफी मदद मिल सकती है जो इस रोग विशेष के मामले में एक बहुत बड़ी बात है ।

प्रत्यक्ष है कि हर्पीज की सही मायनों में दवा कही जाने वाली वस्तु तो अब तक हमारे पास है नहीं और अभी तक हम इससे कोसों दूर हैं पर, एसिक्लोविर की खोज तथा इसके उपयोग से अब इस गन्दे तथा घृणित रोग एवम् इसके जनक छोटे किन्तु भयानक सिम्पलेक्स विषाणुओं (जिन पर 'देखने में छोटे लगे घाव करें गम्भीर, वाली कहावत शत-प्रतिशत लागू होती है) के विरुद्ध युद्ध का नया युग आरम्भ हो गया है । □

वैज्ञानिक अनुसंधान

कृष्ण प्रकाश त्रिपाठी

38 सर पी० सी० बी० हॉस्टल, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद— 211002

प्रागैतिहासिक काल में मानव जंगलों, पहाड़ों में घूमता हुआ एक असहाय प्राणी था, यह प्राणी हजारों वर्षों तक विराट प्रकृति के विशाल भूधरों, गहन सागरों, ज्वालामुखी उद्गारों, भूकम्पों व आकाश के ग्रह नक्षत्रों व तूफानों के रूप को सहमी दृष्टि से देखता हुआ अचंचित होता रहा । उस मानव के लिए प्रकृति बोधगम्य नहीं थी । प्रकृति की विराटता ने इस प्राणी के समक्ष अस्तित्व का संकट उत्पन्न किया जिसे अन्य प्राणियों की तुलना में उसने हाथ, पैर, आँख, कान, नाक जैसी इन्द्रियों के अलावा मस्तिष्क का प्रयोग करके झेला । धीरे-धीरे यह जन्तु मानव, जिज्ञासु मानव के रूप में निकसित हुआ । अपने विकास-क्रम में मानव ने प्रकृति के साथ तादात्म्य स्थापित किया ।

शनैः शनैः प्रकृति की विराटता उसके लिए भयावह न रह गई । गहन चिन्तन, अदम्य धैर्य एवम् अथक गवेषणा से जिज्ञासु मानव प्रकृति के रहस्यों को जानने, समझने में आनंदित होने लगा । प्रकृति के संबंध में मानव का यह ज्ञान शनैः शनैः विकसित हुआ जो समय के साथ सुव्यवस्थित एवम् सुसंगठित हुआ । प्रकृति को जानने की यही जिज्ञासा विज्ञान है ।

प्रकृति के रहस्यों का अध्ययन करते हुए विद्वानों ने देखा कि प्रकृति की विराटता एवम् उसके कार्य कलाप निश्चित नियमों में बँधे हैं । 15वीं शताब्दी तक जिन कार्यकलापों को दैवी प्रकोप समझा जाता था, वे आज अध्ययन के रोचक विषय हैं । कॉपर-निकस, केप्लर, न्यूटन, गैलीलियो जैसे मनीषियों ने

प्राकृतिक रहस्यों के अंधकार को विज्ञान के प्रकाश से दूर किया।

प्रकृति के तथ्यों, रहस्यों और उसकी घटनाओं को क्रमबद्ध, सुसंगठित, सुव्यवस्थित एवम् तार्किक ढंग से अध्ययन करके निश्चित नियम एवम् सिद्धांत का प्रतिपादन ही वैज्ञानिक अनुसंधान कहलाता है। प्रख्यात भौतिकशास्त्री पॉल डिराक के अनुसार, “विज्ञान में बड़े अनुसंधान दो तरह से किये जाते हैं। कभी किसी विशेष खोज के लिए समय परिपक्व होता है और बहुत से लोग उस खोज में तेजी से लगे होते हैं। यदि हम नोबेल पुरस्कार विजेताओं की सूची पर नजर डालें तो हम देखेंगे कि अक्सर दो या तीन जो एक ही विषय पर खोज कर रहे थे, वे एक दौड़ में लगे थे और जीत का श्रेय उन लोगों में बँट जाता है जो दौड़ में विजयी होते हैं। किन्तु एक और प्रकार की वैज्ञानिक खोज होती है जहाँ एक अकेला आदमी अपने आप काम करता है, उसके प्रतिद्वन्द्वी या प्रतियोगी नहीं होंगे। वह विचारों के ऐसे साम्राज्य में प्रवेश करता है जहाँ कोई भी इससे पूर्व कभी प्रवेश नहीं कर पाया। आइंस्टीन का खोज कार्य अधिकतर इसी श्रेणी का था।”

अनुसंधान का सामान्य स्वरूप निम्नवत् है : समस्या प्रारंभिक प्राक्कल्पनाएँ, अतिरिक्त तथ्यों का संचयन, प्राक्कल्पना की संरचना, अन्य परिणामों का निगमन, परिणामों का परीक्षण व प्रयोग और इनका विवरण :

(1) समस्या

वैज्ञानिक कोई काम करें इसके पूर्व उन्हें किसी समस्या की अनुभूति आवश्यक है। समस्या एक ऐसा तथ्य या तथ्यों का समूह है जिनके लिए हमारे पास कोई स्वीकार्य व्याख्या नहीं होती, जो असामान्य लगते हैं या जो हमारी आशाओं या पूर्व धारणाओं के साथ उपयुक्त नहीं हो पाते।

अनेक वैज्ञानिकों की महानता का कारण समस्याओं के समाधान में प्रयुक्त उनका कौशल नहीं

बल्कि उनके चयन में प्रयुक्त उनका विवेक रहा है। वैज्ञानिक अनुसंधान में मौलिक और सृजनात्मक विचारों की जरूरत होती है। समस्या चुनने के संबंध में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अन्वेषक की इसमें बहुत अधिक दिलचस्पी होनी चाहिए, समस्या शोधकर्ता के विश्व संबंधी दृष्टिकोण के व्यापक परिप्रेक्ष्य में महत्वपूर्ण होना चाहिए।

(2) प्रारंभिक प्राक्कल्पनाएँ (Preliminary Hypotheses)

संसार में इतने अधिक तथ्य हैं, इतनी अधिक सामग्री है कि उन सभी से कोई पूर्व परिचित नहीं हो सकता। प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह अत्यंत धैर्यवान् शोधकर्ता ही क्यों न हो, हर तथ्य को इस निश्चय के लिए उठाना और चुनना चाहिए कि वह किनका अध्ययन करे और किन्हें छोड़ दे। उसे ऐसी प्राक्कल्पना करनी चाहिए जिसके पक्ष या विरोध में वह संगत सामग्री एकत्र करे। आवश्यक नहीं कि यह पूर्ण सिद्धांत ही हो किन्तु कम से कम एक स्थूल रूप-रेखा तो अवश्य होनी चाहिए अन्यथा कोई यह निश्चय कैसे करेगा कि विचार के लिए असंख्य तथ्यों में से किसका चयन करे।

(3) अतिरिक्त तथ्यों का संचयन (Collection of Additional Facts)

प्रत्येक गंभीर खोज किसी तथ्य या उन तथ्यों के समूह से शुरू होती है जो वैज्ञानिक को समस्यात्मक लगते हैं और जो खोज की सम्पूर्ण प्रक्रिया का शुभारंभ करते हैं। प्रारंभिक तथ्य समस्या में निहित होते हैं वे सामान्यतः इतने अल्प होते हैं कि अपने लिए वे किसी पूर्णतः सन्तोषप्रद व्याख्या का संकेत नहीं दे पाते किन्तु किसी दक्ष अन्वेषक को कुछ ऐसी प्राक्कल्पनाओं का संकेत देंगे जो उसे अतिरिक्त तथ्यों की तलाश में ले जायेंगी, ऐसी आशा की जाती है कि ये अतिरिक्त तथ्य अंतिम समाधान के लिए सूत्र प्रस्तुत करेंगे। अनुभवहीन शोधकर्ता अत्यंत स्पष्ट तथ्यों के

अलावा अन्य की उपेक्षा कर देगा किन्तु एक दक्ष शोधकर्ता को जिन अतिरिक्त तथ्यों की ओर उसकी प्रारंभिक प्राक्कल्पनाएँ ले जाती हैं, उनकी परीक्षा की पूर्णता पर वह लक्ष्य रखेगा।

(4) परिकल्पना की संरचना (Formulation of Hypothesis) वैज्ञानिक अपनी खोज की किसी न किसी अवस्था में यह अनुभव जरूर करता है कि उसके समाधान के लिए आवश्यक सभी तथ्यों को उसने प्राप्त कर लिया है। ऐसी विचार प्रक्रिया का परिणाम एक ऐसी प्राक्कल्पना होती है जो सभी तथ्यों की व्याख्या करती है। समस्या बनाने वाले मौलिक तथ्यों और प्रारंभिक प्राक्कल्पना द्वारा निर्दिष्ट अतिरिक्त तथ्यों की व्याख्या उस प्राक्कल्पना द्वारा की जाती है ऐसी व्याख्यात्मक प्राक्कल्पना की वास्तविक तलाश रचना की ऐसी प्रक्रिया है जिसके लिए कल्पना और ज्ञान इन दोनों की आवश्यकता पड़ती है। रचना जब परिकल्पना बन जाती है तो इसका मूल्यांकन किया जाता है।

(5) अन्य परिणामों का निगमन (Derivation of Further Consequences) एक वस्तुतः उपयोगी परिकल्पना केवल उन्हीं तथ्यों की व्याख्या नहीं करती जिनके कारण उसकी रचना की गयी थी। बल्कि यह उनके अलावा अन्य अनेक तथ्यों की भी व्याख्या करती है। एक अच्छी परिकल्पना प्रारंभिक तथ्यों से परे अन्य अनेक तथ्यों की ओर संकेत करती है, जिनकी सत्ता का भान अन्यथा नहीं होता और उन अन्य परिणामों का सत्यापन उन पर से जाने वाली परिकल्पना का समर्थन करेगी।

(6) परिणामों का परीक्षण (Testing the Hypothesis) किसी परिकल्पना के परिणामों अर्थात् उस परिकल्पना के आधार पर की गयी भविष्यवाणियों के परीक्षण के लिए अनेक साधनों की आवश्यकता पड़ सकती है कुछ में केवल प्रेक्षण की आवश्यकता होती है।

(7) प्रयोग (Application) वैज्ञानिक प्रेक्षित तथ्यों के आधार पर ऐसी परीक्षण परिकल्पना का

तर्क करता है जो केवल उन्हीं तथ्यों की ही व्याख्या नहीं करती बल्कि वह व्यावहारिक प्रयोग में ही उपयुक्त है। जब प्रयोग विभिन्न वैज्ञानिकों द्वारा बार-बार दुहराये जाते हैं तो वे दूसरे व्यक्ति के परिणाम पर शंका वा अविश्वास नहीं सूचित करते बल्कि इस सर्वभौम सहमति के लिए होते हैं कि सत्य होने के लिए तथ्यों को सार्वजनीन (Universal) और पुनर्भव योग्य (Repeatable) होना चाहिए। योग्य प्रेक्षकों द्वारा भूयोदर्शन और निपुण निरीक्षण व्यक्तिगत घटकों की कमी करता है और विज्ञान की तथ्यात्मकता (Objectivity) को सुरक्षित रखने में सहायक होता है।

उदाहरण—18वीं शताब्दी में ऊष्मा के कैलॉरिक सिद्धान्त (Caloric theory of heat) को बहुत लोगों ने स्वीकृत किया। ऊष्मा को एक सूक्ष्म व अत्यन्त प्रत्यास्थ तरल वस्तु (fluid) माना जाता था जो किसी पदार्थ से निकाली या उसमें जोड़ी जा सकती थी। उसके द्वारा उस पदार्थ के तापक्रम में परिवर्तन किया जा सकता था। परिकल्पित ऊष्मीय द्रव को अविनाशी समझा जाता था। इसके कणों को परस्पर प्रतिकर्षक (self repellent) किन्तु सामान्य पदार्थ द्वारा आकर्षित माना जाता था और ऐसा कहा जाता था कि वह ऊष्मीय द्रव सर्वव्यापी था। ऊष्मा के कैलॉरिक सिद्धान्त में पर्याप्त व्याख्यात्मक शक्ति थी। गरम किये जाने पर वस्तुओं में होने वाले विस्तार की व्याख्या इस प्रकार की जाती थी कि ऐसा विस्तार उस वस्तु के छिद्रों में प्रवेश करने वाले ऊष्मीय द्रव के कारण होने वाले प्रसार का स्वाभाविक परिणाम था। किसी पदार्थ को पीटने पर पैदा होने वाली ऊष्मा की व्याख्या इस प्रकार की जाती थी कि यह उस पदार्थ में संघनित कुछ उष्णता के छूटने के कारण ऐसा होता है कि इसमें मुक्त उष्णता की मात्रा पीटने से बढ़ जाती है। प्रारंभिक वाष्पयंत्र के ईंधन का शक्ति में परिवर्तन होने की व्याख्या भी कैलॉरिक सिद्धान्त से हो सकती थी। कैलॉरिक पर उष्णता की

किसी मात्रा का ऊँचे ताम्रक्रम से नीचे आना भी किसी मात्रा के ऊँचे स्तर से नीचे स्तर पर गिरने की क्रिया के अनुरूप था। ये दोनों ही यांत्रिक शक्ति के उत्पादन में समर्थ थे। 18वीं शताब्दी के अन्त में ऊष्मा का कैलैरिक सिद्धांत भौतिक पदार्थ के रूप में स्वीकृत था।

स्वीकृत सिद्धांत की इसी पृष्ठभूमि के विरुद्ध काउंट रमफोर्ड ने ऐसी समस्या का सामना किया जिसने उसके बाद की अधिकांश शोधों का मार्गदर्शन किया, रमफोर्ड ने प्रारंभ का वर्णन इन शब्दों में किया, “म्यूनिख के सैनिक बारूदखाने में कारतूसों में छेद करने के काम का मैं निरीक्षण कर रहा था। मैं ऊष्मा की उसी मात्रा से आहत हुआ जो छेदी जाती हुई पीतल की बन्दूक में थोड़े ही समय में उत्पन्न हो जाती है और तब छेद करने वाले व्यक्ति के द्वारा ताप की सहायता से अलग किये गये धातु के टुकड़ों की अपेक्षाकृत अधिक गरमी को मैंने छुआ (यह गरमी खौलते हुए पानी से अधिक गरम थी, यह मैंने प्रयोग द्वारा जाना)। इन घटनाओं पर मैं जितना ही विचार करता, उतना ही जिज्ञासामय और रोचकमय ये मुझे लगतीं।”

यहाँ हमें किसी भी अनुसंधान का प्रथम कदम देखने को मिलता है। एक समस्या का आभास हुआ है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस मामले में अनुभव के तथ्यों और स्वीकृत वैज्ञानिक सिद्धांतों के विरोध के कारण समस्या उठी। प्रासंगिक सिद्धांत दो थे : प्रथम कैलैरिक सिद्धांत, जिसके अनुसार ऊष्मा एक भौतिक पदार्थ है और द्वितीय, पदार्थ के संरक्षण का सिद्धांत, जिसके अनुसार पदार्थ की न तो सृष्टि हो सकती है न विनाश, इसके विपरीत प्रेक्षित तथ्य यह था कि ऊष्मा की काफी मात्रा उत्पन्न हो सकती है और किसी भी अन्य भौतिक पदार्थ में कोई क्षति नहीं दिखाई पड़ती थी। रमफोर्ड ने ऊष्मा की जिस मात्रा का प्रेक्षण किया उसकी उत्पत्ति की व्याख्या उस समय के विज्ञान के द्वारा न दी जा सकी। स्थिति समस्यात्मक थी। इसका समाधान आवश्यक था।

उल्लेखनीय है कि किसी भी उपयोगी खोज को शुरू करने के लिए किसी व्यक्ति में तीन गुणों का होना आवश्यक है—वह वर्तमान सिद्धांतों से परिचित हो, नये तथ्यों का दृष्टा हो और, तथ्य तथा सिद्धांत के संघर्ष या अन्तर की उपस्थिति में वह बेचैन हो।

रमफोर्ड ने बाद में जो प्रयोग किये उनको देखते हुए यह कहा जा सकता है कि उनकी प्रारंभिक परिकल्पना कुछ अधोलिखित जैसी थी। चूँकि वहाँ उपस्थिति किसी अन्य भौतिक पदार्थ में बिना किसी क्षति के पर्याप्त ऊष्मा पैदा की गयी, अतः पदार्थ की पूर्ति को समाप्त किये बिना ऊष्मा (ताप) की असीमित मात्रा प्राप्त करना असंभव है। यह कल्पना निश्चय ही उन मौलिक तथ्यों से सुझायी गयी थी जिन्होंने समस्या खड़ी की थी। इस परिकल्पना के परीक्षण के लिए या इसके द्वारा सुझाये गये तथ्यों के संचयन के लिए प्रयोग करने में रमफोर्ड का यह पूर्वज्ञान सहायक था कि मोटे यंत्रों से छेद करने में तीखे यंत्रों से छेद करने की अपेक्षा अधिक ऊष्मा उत्पन्न होती है।

इस ज्ञान के आधार पर और उपर्युक्त प्रारंभिक परिकल्पना से मार्गदर्शन पाकर रमफोर्ड कुछ अतिरिक्त प्रासंगिक तथ्यों का संचयन करने लगे। ऐसे तथ्यों को उन्होंने अधोलिखित प्रयोग से प्राप्त किया। अत्यधिक दाब में पीतल के एक टुकड़े पर उन्होंने धारहीन स्टील के बने छेद करने के यंत्र को उस समय घुमाया जब दोनों पानी में डूबे थे। यंत्र को दो घोंड़ों ने खींचा। ढाई घंटे बाद पानी खौलने लगा। खौलने की क्रिया तब तक चलती रही जब तक घोंड़े यंत्र को घुमाते रहे। इस प्रकार रमफोर्ड इस अतिरिक्त तथ्य पर पहुँचे कि ऊष्मा की उस मात्रा की कोई सीमा नहीं होती जो पास के भौतिक पदार्थ में बिना कमी किये उत्पन्न होती है। जिस कैलैरिक सिद्धांत के अनुसार किसी पदार्थ में ऊष्मीय द्रव की सीमित मात्रा ही होती है, उसके साथ यह तथ्य निश्चय ही असंगत था।

इस अतिरिक्त सामग्री को एकत्र कर लेने के बाद

काउंट रमफोर्ड ने एक ऐसी प्रारंभिक परिकल्पना की संरचना की जो सामने आये सभी तथ्यों की व्याख्या कर सके। कुछ अनिच्छा के साथ ही उन्होंने सर्व-विदित कैलैरिक सिद्धांत का परित्याग किया, किन्तु तथ्य कठिन थे और उन्हें समझना कठिन था। रमफोर्ड ने लिखा : “जिस चीज को कोई एक पदार्थ या पदार्थों का संगठन बिना किसी सीमा के पैदा करता जाय वह कोई भौतिक वस्तु नहीं हो सकती और मुझे किसी ऐसी चीज की स्पष्ट कल्पना करना जो उन प्रयोगों के ऊष्मा की तरह ही उत्तेजित और अभिव्यक्त की जा सके, यदि असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन है, ऐसा केवल गति के साथ हो सकता है।”

रमफोर्ड की यह परिकल्पना कि “ऊष्मा गति का एक रूप है”, ‘ऊष्मा के गत्यात्मक सिद्धांत’ के रूप में प्रसिद्ध है। उपलब्ध तथ्यों के आधार पर उन्होंने भौतिक या कैलैरिक सिद्धांत को अस्वीकार कर दिया।

किन्तु विज्ञान में भी अन्यत्र जैसे ही प्रगति अकर्मण्यता के विरुद्ध संघर्ष करती है। बहुत दिनों तक कैलैरिक सिद्धांत मान्य था और रमफोर्ड की परिकल्पना इतनी क्रांतिकारी थी कि इसकी स्वीकृति अत्यंत मंद गति से हुई। इसके पूर्व की गत्यात्मक सिद्धांत सार्वजनिक रूप से स्वीकृत हो, अन्य समर्थन आवश्यक था। यह समर्थन अन्य वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत किया गया।

सर हम्फ्री डेवी एक दूसरे महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक थे जिन्होंने अपने आपको ऊष्मा के गत्यात्मक सिद्धांत में लगाया। दोनों सिद्धान्तों से डेवी ने परीक्ष्य परिणामों का अनुमान किया जो एक दूसरे के एकदम विपरीत थे। उन्होंने तर्क किया कि यदि कैलैरिक सिद्धांत सत्य है तो बर्फ के दो टुकड़े जो प्रारंभ में द्रवणांक से नीचे थे और एक रिक्त स्थान में रखे गये थे, अपने बीच होने वाली किसी भी रगड़ से नहीं पिघलेंगे। इसके विपरीत ऊष्मा के गत्यात्मक सिद्धांत को आधार मानकर उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि बर्फ के दो टुकड़े यदि एक दूसरे से रगड़ जायें तो

उनके प्रारंभिक तापक्रम चाहे जो भी रहे हों और यह रगड़ चाहे निर्वात में या इसके बाहर की गई हो, पिघल जायेंगे। इन अनुमानों ने अन्य प्रयोगों का अधिक संकेत किया।

इन अनुमानों से प्राप्त एक निर्णायक प्रयोग डेवी ने किया। उन्होंने अपनी प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन करते हुए बताया कि ‘उन्होंने बर्फ के दो अष्ट फलकाकार टुकड़े लिये जिनके तापक्रम 29° थे। वे 6 इंच लम्बे, 2 इंच चौड़े और $2/3$ इंच मोटे थे। प्रायोगिक ढंग से यह पाया गया कि वर्णित अवस्थाओं में बर्फ पिघलती थी। इस परिणाम से सर डेवी को ऊष्मा के गत्यात्मक सिद्धांत की यथार्थता और कैलैरिक सिद्धांत की अशुद्धता पर विश्वास हो गया। सर डेवी के ही शब्दों में, “प्रायोगिक ढंग से यह सिद्ध हो चुका है कि ऊष्मा की ऊर्जा या पदार्थ का कोई अस्तित्व नहीं, चूंकि घर्षण के कारण पदार्थ विस्तृत हो जाते हैं अतः यह स्पष्ट है कि उनके कण एक दूसरे से अवश्य अलग होंगे। अब पदार्थों के कणों की गति या कम्पन, घर्षण और टक्कर से अवश्य उत्पन्न होगी अतः ठीक ही हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि यह गति ताप या प्रतिकर्षी शक्ति है। दो पदार्थों के कणों के वास्तविक पारस्परिक सम्पर्क में अवरोध उत्पन्न करने वाली और ऊष्मा एवं शीत के हमारे विचित्र संवेदनों को उत्पन्न करने वाली शक्ति या ताप की परिभाषा पदार्थों के कणों की विचित्र गति के रूप में ही की जा सकती है।

अपनी भविष्यवाणियों पर डेवी ने प्रायोगिक परीक्षण किया जिससे रमफोर्ड की परिकल्पना का समर्थन हुआ। डेवी के भी प्रयोगों से अधिक निर्णायक शायद ब्रिटिश भौतिकीविद् जेम्स प्रेस्काट जूल के प्रयोग हुए। ताप के गतिविषयक तुल्य पदार्थ की प्रतिष्ठापना प्रायोगिक रीति से करके जूल ने गत्यात्मक सिद्धांत को परिमाणात्मक बताया।

ताप का गत्यात्मक सिद्धांत विशेषतः अपने परिमाणात्मक रूप में अनेक ढंग से प्रयोज्य है। इसके कुछ प्रयोग तो सैद्धांतिक हैं, विशेष रूप से गैस के

गत्यात्मक सिद्धांत के विषय में यह गतिविज्ञान और ताप की घटनाओं के सिद्धांत में ऐक्य स्थापित करने का काम करता है। तापगतिविज्ञान नामक एक स्वतंत्र विज्ञान इस एकीकरण का एक परिणाम था। जहाँ तक ताप के गत्यात्मक सिद्धांत के व्यावहारिक

प्रयोगों का संबंध है, इसका सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण कृत्रिम शीतीकरण (refrigeration) के क्षेत्र में मिलता है जो उस सिद्धांत द्वारा प्राप्त प्राविधिक परिणामों में से केवल एक है। □

भारत में जीवनाशी कितने लाभप्रद ?

उमेश सिंह

शोधछात्र, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारत प्रगतिशील देश है। इसकी लगभग 75 प्रतिशत जनता कृषि पर निर्भर है। प्रत्येक बड़ा व छोटा धन्धा प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कृषि पर आधारित है। स्वतन्त्र होने के बाद भारत ने कृषि के क्षेत्र में बहुमुखी विकास किया है। हमारा देश पंच-वर्षीय योजनाओं के रूप में सुसंगठित प्रयत्नों के बाद आज खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भर हो पाया है। खाद्यान्न के क्षेत्र में आत्मनिर्भर बनाने का मुख्य श्रेय कृषि की नई तकनीक एवं हरित क्रान्ति के इस युग को जाती है, जिसमें फसल की उन्नतिशील किस्मों (एच० वाई० बी०), रासायनिक उर्वरकों और जीवनाशियों का समुचित उपयोग हुआ है।

आज भारत ने अपने कुल क्षेत्र का लगभग 60 प्रतिशत भाग कृषि करने योग्य बना लिया है फिर भी खाद्यान्न उत्पादन संतोषजनक नहीं है। इसका मुख्य कारण कीटपतंगे एवं व्याधियाँ हैं। लगभग 40 प्रतिशत हानियाँ कीटों एवं व्याधियों द्वारा होती हैं, इसलिये इनकी रोकथाम अत्यन्त आवश्यक है। ये कृषि के प्रत्येक क्षेत्र में हानि पहुँचाते हैं, चाहे फसल खेत में हो या कटाई के बाद भण्डारण की अवस्था में हो। खाद्य एवं कृषि संगठन के निदेशक डॉ० ए० एच० बोइरमा के अनुसार कुल हानि का 30 प्रतिशत कीटों एवं बीमारियों द्वारा लगभग 15 से 20 प्रतिशत हानि प्रति वर्ष होती है, कभी-कभी यह 40-50 प्रतिशत तक हो जाती है।

कीटों द्वारा कुछ फसलों पर की गई हानि का विवरण निम्न है :

फसल	औसत उपज कु० हे०	हानि प्रतिशत में
धान	24-33	17-80
मक्का	20-43	6-67
बाजरा	11-09	11-90
ज्वार	7-88	12-90

चूहों द्वारा हानियाँ खड़ी फसलों पर भी एवं कटाई के पश्चात् खलिहानों में भी की जाती हैं। भारत में लगभग 24,000 मिलियन चूहे हैं। 20 चूहे एक व्यक्ति के भोजन के बराबर भोज्य-पदार्थों की खपत करते हैं। यही नहीं, एक चूहा एक वर्ष में एक टन भोज्य-पदार्थ का उपयोग करता है। इस प्रकार चूहों द्वारा लगभग 24 मिलियन टन भोज्य-पदार्थ प्रतिवर्ष नष्ट किया जाता है। इस प्रकार लगभग 26% बीमारियों द्वारा, 20% कीटों द्वारा और लगभग 15% भण्डारण में हानि होती है। भारत के योजना आयोग के सर्वेक्षण के अनुसार 1976 में कुल कृषि उत्पादन का 19-8 प्रतिशत हानि कीटों एवं व्याधियों द्वारा हुई थी। कुछ फसलें जो मुख्य रूप से प्रभावित हुई थीं, उनमें मूँगफली 47%, कपास 28%, धान 24% और गन्ना 25% है। योजना आयोग के अनुसार कुल कृषि उत्पादन का लगभग 10 से 15 प्रतिशत नुकसान पेस्ट एवं व्याधियों द्वारा होता है।

कीटनाशियों के प्रयोग के उद्देश्य

पिछले दो दशकों में फसलों की रक्षा के लिए अनेक प्रकार के कीटनाशी रसायनों का प्रयोग हुआ है। इसमें संदेह नहीं है कि फसलों की कीटों से रक्षा के लिये इन साधनों के अतिरिक्त अन्य कोई साधन कारगर नहीं है। पादप सुरक्षा मुख्यतः दो प्रकार के होते हैं—

(1) **लांग टर्म आब्जेक्टिव** : इसका उद्देश्य कीटनाशियों का एक या इससे अधिक बार कुछ दिनों के अंतर पर उपयोग करके कीट एवं बीमारियों से बचाना है। इसके अन्तर्गत इनके उपयोग करने की विधियों का प्रसार कीटनाशियों का उत्पादन बढ़ाना एवं कीटनाशियों के गुणों एवं प्रभाव को बढ़ाना है। बाजार में समयानुसार इनकी पर्याप्तता को बनाये रखना है। ताकि किसान इसका उपयोग सही समय पर कर सकें। कीटनाशी का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वे लाभकारी जीवों पर प्रभाव न डालें। इस प्रकार **लांग टर्म आब्जेक्टिव्स** का तात्पर्य यह है कि किसी प्रकार अधिक से अधिक कीट एवं व्याधियों से फसल की सुरक्षा करना एवं प्रयत्न करना कि हानि कम से कम हो।

(2) **शार्ट टर्म आब्जेक्टिव** : इसका उद्देश्य पादप सुरक्षा प्रणाली को इस प्रकार व्यवस्थित करना है कि जिससे इसके परिणाम अतिशीघ्र प्राप्त हों या दूसरे शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि **शार्ट टर्म आब्जेक्टिव** का अर्थ मौजूद पादप सुरक्षा प्रणाली को ही व्यवस्थित रूप से लागू करके फसलों को कीट एवं व्याधियों से बचाना है। इस प्रकार सामूहिक रूप से किसान, वैज्ञानिक एवं प्रसार कार्यकर्ता की सहायता से खड़ी फसलों को कीट एवं व्याधियों से बचाते हैं।

पादप सुरक्षा प्रणाली, का संबंध फसलों की सुरक्षा से है—

1—जीवाणु एवं कवक व्याधियों को रोकने के लिए बीज को बोने से पहले कवकनाशियों से उप-

चारित करते हैं, जिससे इन बीमारियों का प्रभाव न हो।

2—मृदा एवं उसकी सतह पर लगने वाले कीटों से फसलों को बचाने के लिये जीवनाशियों का छिड़काव, नीमेटोसाइड्स या मृदा धूम्रविष को जैव नियंत्रण, कृषिगत नियंत्रण और अन्य नियंत्रणों द्वारा लागू करते हैं।

3—खरपतवार नियंत्रण को रोकने के लिए हाथों से खरपतवार को उखाड़ कर नष्ट करते हैं या शाकनाशियों का प्रयोग करके।

4—चूहों व अन्य कीटों के नियंत्रण के लिये रोडेन्टीसाइड्स व यांत्रिक नियंत्रण विधियों से नियंत्रण करते हैं।

5—घोंघा एवं जलवायु से सुरक्षित रखने के लिये मोलास्कासाइड्स आदि का प्रयोग करते हैं।

भारत में जीवनाशियों का उत्पादन एवं प्रयोग

वर्ष 1983 में जीवनाशी उद्योग के लिए एक उपलब्धिपूर्ण वर्ष रहा है। इस वर्ष वृद्धि दर 19% थी। अन्य देशों की अपेक्षा भारत में जीवनाशी एक अवैरक के प्रयोग का अनुपात बहुत कम है। इसका अनुपात 1-8 है, जबकि विश्व में 1-2 एवं जापान में 1-0.6 का अनुपात है।

भारतीय कृषि वैज्ञानिकों के अनुसार 20% भारतीय कृषक जीवनाशी के प्रयोग के संबंध में जानते ही नहीं और केवल 7% कृषक वास्तविक रूप से इनका प्रयोग करते हैं। वर्ष 1978-82 तक उत्पादन के लिए तालिका प्रथम देखें।

तालिका प्रथम

वर्ष	उत्पादन (टन में)
1978-79	52528 टन
1979-80	49728 टन
1980-81	43260 टन
1981-82	48658 टन

इसके अतिरिक्त जीवनाशियों की आवश्यकता को देखते हुए सरकार समयानुसार इसका आयात भी करती है। एक आँकड़ों के अनुसार सरकार ने वर्ष 1977-78 में 12350 टन जीवनाशी का आयात किया था।

उत्पादन 1 अक्टूबर 1983 तक

तालिका द्वितीय

जीवनाशियों के नाम	कुल क्षमता टन में (इन्स्टाल्ड)
कीटनाशी	91689
कवकनाशी	13084
रोडेंटसाइड्स	1394
शाकनाशी एवं प्लांट ग्रोथ रेगुलेटर	5736
घूम्रविष	8378
कुल क्षमता	115921

जीवनाशियों के प्रयोग से हानियाँ

विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट में, जो 3 जनवरी को दिल्ली में प्रकाशित हुई थी, कहा गया है कि लगभग 4,00,000 लोग प्रतिवर्ष विषैले रसायनों से प्रभावित होते हैं एवं 10000 मनुष्य मौत को प्राप्त होते हैं। ये मौतें अधिकांश विकासशील देशों में होती हैं जिसका मुख्य कारण पर्याप्त सुरक्षा व्यवस्था का न होना है। इसका ज्वलन्त उदाहरण है भोपाल के यूनियन कार्बाइड कारखाने से रिसी गैस।

‘इलस्ट्रेटेड वीकली ऑव इण्डिया’ के अनुसार महाराष्ट्र प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड ने राष्ट्रीय केमिकल्स एवं उर्वरक कम्पनी को बंद करने का आदेश दिया था, क्योंकि बोर्ड ने कम्पनी के आसपास के तालाब एवं वातावरण का निरीक्षण करने के बाद देखा कि वहाँ

अमोनिया का सान्द्रण 24 गुना अधिक था। 12 दिसम्बर 1984 को अमोनिया के रिसाव करने से 4 वर्ष के एक बालक की मृत्यु भी हो गई थी। अमोनिया का सान्द्रण पानी में 50 मिलीग्राम/लीटर से कम होना चाहिए जब कि वहाँ के तालाब, गड्ढों एवं कुएँ आदि में 637-5, 600 और 525 मिलीग्राम/लीटर पर होता था, जो विषबिन्दु की ओर बढ़ रहा है। इसका विषैला प्रभाव 1.125 मिलीग्राम/लीटर पर होता है।

लखनऊ से 7 जनवरी को भारतीय पशुचिकित्सा शोध संस्थान इज्जतनगर के वैज्ञानिकों ने एक रिपोर्ट प्रकाशित की है जिसमें उन्होंने मछली, मांस एवं अण्डे जो बाजार में बिक रहे थे, उनके प्रतिदश (सैम्पल) के निरीक्षण के बाद पाया कि उनमें कीटनाशी के अवशेष हैं, जिसमें डी० डी० टी० एवं बी० एच० सी० का औसत 1 पी० पी० एम० से 8 पी० पी० एम० के बीच है, जब कि सहनशीलता की सीमायें केवल 2—5 पी० पी० एम० हैं।

इसके अतिरिक्त जीवनाशियों का सान्द्रण अधिक होने से पौधों एवं मृदा को भी हानि होती है।

हानि-निवारण

1—जीवनाशी एवं उर्वरक कम्पनियों में पर्याप्त सुरक्षा व्यवस्था होनी चाहिये।

2—ये घनी आबादी से दूरी पर होने चाहिये।

3—जिस प्रदेश में ये कम्पनियाँ हैं वहाँ प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड की स्थापना होनी चाहिये, साथ ही बोर्ड को यह अधिकार होना चाहिये कि यदि कम्पनी से पर्यावरण या मनुष्यों की सुरक्षा को खतरा है तो वह उसे बन्द करने का आदेश दे सके। बोर्ड को चाहिए कि वह एक निर्धारित समय के बाद कम्पनी के आसपास के क्षेत्रों के निरीक्षण के बाद उन्हें ‘नो आब्जेक्शन साटीफिकेट’ दें।

4—आसपास के क्षेत्रों में सघन वन एवं खेती होनी चाहिए जिससे वातावरण प्रदूषित न हो। □

ऊर्जा की बचत ऊर्जा उत्पादन है

विजय जी

जवाहर इंटर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद-212106

आज जिस तेजी से ऊर्जा की माँग बढ़ती जा रही और परम्परागत ऊर्जा स्रोत के खजाने खाली होते जा रहे हैं, वह चिन्ता का विषय है। अगले 20 वर्षों के दौरान तेल की माँग दुगुनी तथा कोयले व बिजली की माँग क्रमशः दुगुनी व तिगुनी हो जायेगी। वैज्ञानिक और योजनाकार शायद इसीलिये जितना ध्यान वैकल्पिक ऊर्जा साधनों की खोज पर लगा रहे हैं। उतना ही ध्यान ऊर्जा की बचत पर भी लगा रहे हैं। पेट्रोलियम बचत अनुसंधान संघ सम्भवतः इसी ढंग का प्रयास है।

तेल की बचत से 800 करोड़ का लाभ

पेट्रोलियम बचत अनुसंधान संघ के एक अध्ययन से पता चला है कि ईंधन के बारे में मामूली सावधानी व उन्नत उपाय बरतने से हर साल 40 लाख टन पेट्रोलियम बचाया जा सकता है। यह देश की कुल 3 करोड़ टन खपत का 13 प्रतिशत है। संघ के एक अध्ययन के अनुसार राज्य परिवहन निगमों की बसों में ईंधन बचत उपाय करने से 8.5 करोड़ रुपये की बचत संभव है। उस दिशा में 24 राज्य परिवहन निगमों में विशेष केन्द्र स्थापित किये गये हैं। यहाँ ड्राइवरों को पेट्रोल बचाने के तरीके सिखाये जाते हैं। संघ ने गुजरात में 1724 सिंचाई पम्पों का अध्ययन करने के बाद पाया कि ठीक आकार के पाइप, बाल्व व मोटर के इस्तेमाल से 28 करोड़ रुपये के ईंधन की बचत हो सकती है। संघ ने ज्यादा पेट्रोलियम खर्च करने वाली 1100 औद्योगिक इकाइयों का अध्ययन करके उन्हें ईंधन बचाने के तरीके बताये हैं। इन उपायों के फलस्वरूप इन उद्योगों को 50 करोड़ रुपये वार्षिक की बचत हुई है।

पेट्रोलियम बचत अनुसंधान संघ ने इंडियन आयल कॉरपोरेशन के अनुसंधान एवं विकास केन्द्र तथा नई दिल्ली के 'होटल मैनेजमेंट एन्ड केट्रिंग एन्ड एप्लाइड न्यूट्रीशन इंस्टीट्यूट' के साथ मिलकर घरों में खाना पकाने के काम में आने वाले ईंधन की बचत के साधनों के बारे में कुछ अनुसंधान किये हैं। इनसे पता चला है कि खाना पकाने के ठीक ढंग अपनाने से औसतन 30 प्रतिशत तक ईंधन की बचत हो सकती है। संघ ने गृहिणियों को निम्नलिखित सुझाव दिये हैं—

1— स्टोव को तभी जलाना चाहिये जब पकवान की सारी सामग्री पहले से ही पास में रख ली गयी हो। क्योंकि बेकार जल रही लौ से प्रतिघंटा 135 ग्राम गैस बेकार जाती है (गैस-स्टोव में)। यह हानि 36 पैसे प्रति घंटे की होती है। थोड़ा-थोड़ा करके पूरे महीने या साल में यही लम्बी रकम की हानि हो सकती है।

2. बर्तन में रखी वस्तु जब उबलने लगे तो लौ कम कर देनी चाहिये। अधिक आँच से पानी तो अधिक उड़ता है परन्तु पकाने में कोई मदद नहीं मिलती। इस छोटी सी सावधानी से 35 प्रतिशत तेल की बचत हो सकती है।

3. छोटा बर्नर सदा ही ईंधन की बचत करता है। छोटा बर्नर बड़े बर्नर की अपेक्षा 6 से 10 प्रतिशत तक कम गैस की खपत करता है (यद्यपि समय थोड़ा जरूर ज्यादा लगता है)। उदाहरणस्वरूप 250 ग्राम आलू उबालने में छोटे बर्नर द्वारा बड़े बर्नर की अपेक्षा 7 मिनट समय ज्यादा लगा परन्तु 6.5 प्रतिशत गैस की बचत हुई।

4. कम गहरे और चौड़े बर्तनों से ईंधन की

बचत होती है क्योंकि चौड़े पेंदे के बर्तन आँच को पूरी तरह ढक लेते हैं।

5. अधिक पानी से अधिक ईंधन की खपत होती है। चावल पकाने के एक प्रयोग में आवश्यक मात्रा से दुगुना जल इस्तेमाल करने से 65 प्रतिशत अधिक ईंधन खर्च हुआ।

6. दाल, चावल आदि को पकाने से पूर्व भिगो-कर रखने से ईंधन की बचत होती है। एक प्रयोग में 250 ग्राम भीगा चना पकाने में बिना भीगा चना की अपेक्षा 22 प्रतिशत ईंधन कम खर्च हुआ।

7. प्रेशर कुकर में खाना पकाने में ईंधन की बचत होती है। सामान्य तरीके की अपेक्षा प्रेशर कुकर में खाना पकाने से चावल में 20 प्रतिशत, भिगोई चने की दाल में 46 प्रतिशत और मांस पकाने में 41.5 प्रतिशत ईंधन की बचत होती है।

8. खाना पकाने के बर्तन को ढक कर रखने से ईंधन की बचत होती है।

9. साफ बर्तन भी ईंधन बचाने में सहायक होते हैं। बर्तन की नीली लौ सही आँच की प्रतीक होती है। लौ का रंग गुलाबी, पीला आदि दिखाई देना खराब बर्तन का प्रतीक है।

‘पेट्रोलियम बचत अनुसंधान संघ’ ने मोटर साइकिल, स्कूटर और मोपेड जैसे वाहनों में तेल की बचत के लिये महत्वपूर्ण सुझाव दिये हैं उदाहरण स्वरूप—

1—स्कूटर, मोटर साइकिल आदि वाहन अंधा-धुंध और तेज चलाने से पेट्रोल की खपत 50 प्रतिशत तक बढ़ सकती है। थोड़े समय की बचत की लालच में दुगुना पेट्रोल फूँकना और दुर्घटना का खतरा मोल लेना ठीक नहीं। संघ ने ईंधन की अधिकतम किफायत के लिये वाहनों को नीचे सुझायी रफ्तार पर ही चलाने की सलाह दी है—

स्कूटर व आटोरिक्षा—40 कि० मी० प्रति घंटा
मोटर साइकिल—50 कि० मी० प्रति घंटा
मोपेड—20 से 30 कि० मी० प्रति घंटा

2—वाहन चालक को पहले ही अंदाज होना चाहिए कि कहाँ रुकना या मुड़ना है। क्योंकि एकदम से ब्रेक पर जोर लगाने से काफी उपयोगी ऊर्जा बर्बाद होती है। वाहन के ब्रेकपैडल पर रखे-रखे वाहन चलाना भी ठीक नहीं। ये आदतें अपनाने से ईंधन में 5 प्रतिशत तक की बचत की जा सकती है।

3 - बिना जरूरत बलच इस्तेमाल करने से भी ईंधन की खपत बढ़ती है। उसका उपयोग केवल पहाड़ों पर चढ़ते-उतरते समय ही करना चाहिये।

4. रेलवेक्रासिंग या ट्रैफिक-जाम के अवसर पर वाहन का इन्जन तुरन्त बन्द कर देना चाहिये।

5. इन्जन को हमेशा तुरन्त स्टार्ट वाली हालत में रखना चाहिये।

इस तरह संघ का दावा है कि यदि देश के किसान, ड्राइवर, गृहिणियाँ और उद्योग ईंधन का बचाव करें तो भारत 800 करोड़ विदेशी मुद्रा हर साल बचा सकता है। तेल ऊर्जा की तरह कोयला और बिजली को भी थोड़ी सावधानी मात्र से काफी मात्रा में बचाया जा सकता है।

चूँकि बिजली का उपयोग सजावट के लिये हो सकता है इसीलिये इसका दुरुपयोग भी बहुत किया जाता है। दशहरा जैसे त्यौहारों पर तो बिजली से सड़कों पर इतनी सजावट की जाती है कि उतनी बिजली से हज़ारों एकड़ की सूखी फसल को हरा-भरा किया जा सकता है। इसी तरह घर में शादी-ब्याह, तीज-त्यौहार आदि पर सजावट के रूप में बिजली का दुरुपयोग किया जाता है। ऐसी सजावट को कानून बनाकर अविलम्ब रोक दिया जाना चाहिये।

अव्यापारिक ऊर्जा की बचत

देश में ईंधन की कुल खपत के आधे से अधिक भाग अव्यापारिक ईंधन (लकड़ी, गोबर, कृषि अवशेष) के रूप में है। घरेलू उपयोग के ईंधन में इस अव्यापारिक ईंधन का हिस्सा करीब 10 प्रतिशत है। आज जब जंगलों को हमने तहस-नहस कर रखा है और लकड़ी की सारी कमी गोबर से पूरी कर रहे हैं,

ऐसी स्थिति में इस अव्यापारिक ईंधन की बचत के उपायों पर भी विचार करना आवश्यक है। हमारे घरों में आज भी वही चूल्हे प्रयुक्त हो रहे हैं जैसे हजारों वर्ष पूर्व भी प्रयुक्त हो रहे थे। आज बदली हुई परिस्थिति में जब ईंधन की भयंकर कमी है ये चूल्हे पूर्णतया अप्रासंगिक हो गये हैं। इन चूल्हों में ऊर्जा की 60 प्रतिशत मात्रा तक बेकार चली जाती है। इसे हम एक विडंबना ही कह सकते हैं कि एक ओर हमारा विकास जहाँ 'इन्सैट' तक पहुँच चुका है वहीं दूसरी ओर हम अपने देशवासियों को सुधरा हुआ धूम्ररहित चूल्हा भी नहीं दे पाये हैं। 'सोशल वर्क एन्ड रिसर्च सेंटर, हिसार' ने एक ऐसे धूम्ररहित चूल्हे का विकास किया है जिसमें अधिकाधिक ऊर्जा प्रयोग में आ जाती है। चण्डीगढ़ से 15 किमी० दूर शिवालिक पहाड़ियों के निकटवर्ती कितने ही गाँवों में इन चूल्हों का उपयोग किया जा रहा है। इन चूल्हों में प्रचलित चूल्हों की अपेक्षा एक चौथाई ईंधन से भी काम चल जाता है। देश में प्रतिवर्ष 13 करोड़ टन लकड़ी मात्र भोजन पकाने में खर्च होती है। चूल्हों के सुधार से बहुत सारा ईंधन बचाया जा सकता है। आज गाँव वालों की सेवा में तमाम सरकारी और गैर सरकारी संस्थाएँ काम कर रही हैं पर किसी को भी ऐसे चूल्हों के प्रचार की फ़िर्र नहीं है। इस सम्बन्ध में सरकार को उचित कदम उठाना चाहिये।

अभी हाल में 'केन्द्रीय यांत्रिक अभियांत्रिकी अनुसंधान संस्थान, दुर्गापुर' ने करीब 50 रुपये की लागत से एक अनोखी धुआँ रहित सिगड़ी का विकास किया है। इस सिगड़ी में खाना पकते रहते समय ही ईंधन से कोक व ईंधन गैस का निर्माण भी होता जाता है। उसके दो समकेन्द्रीय हिस्से होते हैं जो झिरीदार जाली के ऊपर टिके रहते हैं। बाहरी हिस्से में लकड़ी, बुरादा, कोयला या इसका चूरा या अन्य अवशेष भरकर जाली से ढँक देते हैं। भीतरी हिस्से को चारकोल या अर्धकोक से भर देते हैं जो सिगड़ी को जलाने से प्राप्त हुआ है। ईंधन को नीचे से थोड़ी आग रखकर जला देते हैं। आग जलने पर इसके बाहरी भाग में

रखा कोयला, लकड़ी या अन्य पदार्थ कोक में बदल जाता है तथा यहाँ निर्मित गैस अंदर से जुड़े पाइप द्वारा सिगड़ी के भीतरी हिस्से में पहुँचकर जलती है और वहाँ का ताप बढ़ाने का काम करती है। दूसरी बार बाहरी भाग में निर्मित कोक को अन्दर के मार्ग में रखकर जलाया जाता है। इस सिगड़ी को जलाने में 15 मिनट समय लगते हैं और तीन घंटे तक जलती रह सकती है।

मृत्योपरान्त शव को जलाने की प्रथा हिन्दुओं में हमेशा से रही है। वैज्ञानिक भी है। लेकिन शव को वर्तमान ढंग से जलाने में ईंधन अधिक खर्च होता है। श्री जे० सी० पन्त, सचिव, वन विभाग उ० प्र० शासन के निर्देशन में एक नयी विधि निकाली गयी है जिससे 60 प्रतिशत तक ईंधन की बचत की जा सकती है। इस विधि में मृतक को लिटाकर जलाने की जगह मात्र उसे बिठाकर जलाने जैसा परिवर्तन करना पड़ता है। सम्बद्ध संत्रालय द्वारा प्रचारार्थ ऐसे माडल्स भी बनाये गये हैं।

पशु आज भी हमारे ग्रामीण अर्थव्यवस्था के आधार बने हैं। आज भी खेती का अधिकांश काम बैल ही करता है। इस तरह ये पशु हमारी बहुत बड़ी ऊर्जा समस्या को हल कर रहे हैं। लेकिन बढ़ते यंत्रीकरण ने पशुओं के महत्व को घटाया है। सामान ढोने आदि के लिये गाँवों में भी अब ट्रक आदि का प्रयोग शुरू हो गया है। लम्बी दूरी तक माल ढोने के लिये तो इसे उचित कहा जायेगा लेकिन थोड़ी दूरियों के लिये तो बैलगाड़ी व ऊँट जैसे साधनों का ही सहारा लेना चाहिये। भारत में पशुओं की संख्या करीब 23 करोड़ है जिसमें लगभग 8 करोड़ तो बैल हैं। इन बैलों का बाजार मूल्य करीब 100 अरब रुपये के बराबर होगा। यदि प्रत्येक बैल से आधा हासपावर ऊर्जा की प्राप्ति भी मान लें तो कुल चार करोड़ हास पावर की ऊर्जा हमें इनके द्वारा प्राप्त होती है। यह ऊर्जा तीस हजार मेगावाट विद्युत-शक्ति के बराबर है। एक किलोवाट ऊर्जा की प्राप्ति के लिये कम से कम दस हजार रुपये का विनियोग करना पड़ता है। इस तरह

तीस हजार मेगावाट विद्युत-उत्पादन के लिये तीस खरब रुपये तुरन्त व्यय करने की आवश्यकता होगी। ये आँकड़े पशुओं के महत्व को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त हैं।

‘नेशनल काँसिल ऑव अप्लाइड इकोनामिक्स’ तथा ‘इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑव मैनेजमेंट, बंगलोर’ द्वारा किये गये सर्वेक्षण के अनुसार 1971 में पूरे देश में एक करोड़ 21 लाख पशुगाड़ियाँ थीं। सन् 1971 में इनकी संख्या बढ़कर एक करोड़ 51 लाख हो गयी। ग्रामीण यातायात का 70 प्रतिशत भाग पशुगाड़ियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। दुःख की बात है कि इन पशुगाड़ियों में ही रबर टायर व बाल-बियरिंग का प्रयोग हो रहा है। ‘केन्द्रिय सड़क अनुसंधान संस्थान, नई दिल्ली’ तथा ‘भारतीय प्रबन्ध संस्थान, बेंगलूर’ ने मिलकर बैलगाड़ियों के तीन नये आधारभूत माडल -- ‘किसान’, ‘यात्रा’ और ‘मालेनाद’ तथा इनके सात विभिन्न डिजाइन तैयार किये हैं। स्थानीय लकड़ी से

तैयार किये गये इन माडलों के पहियों में बुश बियरिंग अथवा रोलर बियरिंग लगाये गये हैं। जुआ हल्का रहे और पशु पर जोर कम पड़े इसके लिये इसमें शाक आब्जर्वर फिट किये गये हैं। एक ब्रेक की भी व्यवस्था की गयी है। मैदानी इलाकों के किसान अपने रोजमर्रा के काम के लिये ‘किसान बैलगाड़ी’ का प्रयोग कर सकते हैं। इसकी कीमत 3800 से 4500 रुपये तक होगी तथा इस पर डेढ़ से दो टन भार लादा जा सकता है। ‘यात्रा बैलगाड़ी’ ग्रामीण व अर्धशहरी क्षेत्रों के लिये है। इसका प्रयोग मरीजों का लाने ले जाने तथा नाजुक वस्तुयें ढोने के लिये किया जा सकता है। ‘मालेनाद’ माडल पर्वतीय क्षेत्रों के लिये है। इसकी कीमत 1500 से 2000 रुपये तक है। इसे छोटे कद के पशु खींच सकते हैं तथा लगभग डेढ़ टन तक भार लाद सकते हैं। इस तरह गाँव-गाँव इन सुधरी किस्मों के प्रचार से परिवहन का बहुत सारा काम पशुओं द्वारा लिया जा सकता है। □

इलेक्ट्रोफोटोग्राफी

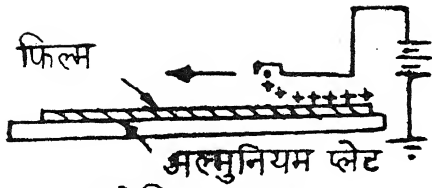
डॉ० सदगुरु प्रकाश

रीडर, अप्लाइड फिजिक्स विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

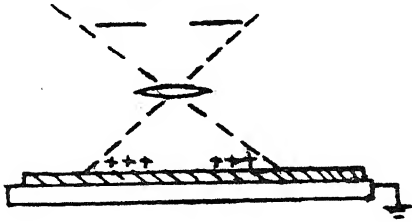
आज जब हम 21वीं सदी की ओर पदार्पण कर रहे हैं, हमारे आचार-विचार और दैनिक गतिविधियों में परिवर्तन स्वाभाविक है। इन्हीं कारणों से इलेक्ट्रो-फोटोग्राफी आज विश्व में एक प्रगतिशील उद्योग है। अधिकतर कार्यालयों में डुप्लीकेटिंग केन्द्र हैं और जन साधारण के उपयोग के लिए भी यह सुविधा बाजार में उपलब्ध है। समय के परिवर्तन के साथ आधुनिक तकनीकी साधनों का उपयोग बढ़ रहा है। टंकन अथवा स्टेन्सिल द्वारा दस्तावेजों की प्रतिलिपियाँ प्राप्त करना पुराना एवं अव्यवहारिक हो गया है। इस प्रकार के साधन अपूर्ण भी हैं, जैसे कि आप किसी अधिकारी का हस्ताक्षर अथवा विशेष संकेत या चित्र प्रतिलिपि में उद्धृत नहीं कर सकते हैं। अमोनिया-

प्रिन्ट, फेरोप्रिन्ट, अथवा फोटोग्राफी विधि कई प्रतिलिपियों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त है। चाहे स्वयं के उपयोग हेतु किसी प्रमाणपत्र की प्रतिलिपि चाहिये हों अथवा किसी व्याख्यान या आदेश के वितरण के लिये सैकड़ों प्रतिलिपियाँ तुरन्त ही चाहिये हों, इलेक्ट्रो-फोटोग्राफी सर्वथा उपयुक्त है। प्रतिलिपि प्राप्त करने का यह एक सहज साधन है, जो प्रतिलिपि के आकार को भी इच्छानुसार बढ़ा या घटा देता है।

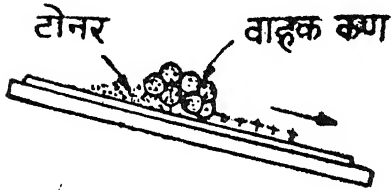
इस विधि का उद्भव सर्वप्रथम अमेरिका में सन् 1938 में हुआ। आरम्भ में इसका प्रयोग सीमित था। इस प्रकार की व्यावहारिक मशीनें सन् 1950 के आस-पास ही बनीं। भारत में ये मशीनें सर्वप्रथम ‘कोरेस इन्डिया’ द्वारा प्रस्तुत की गयीं। साथ ही इस



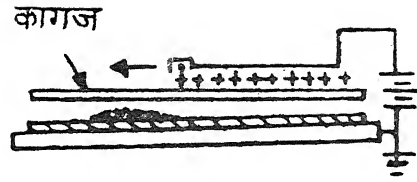
1. आवेशित करना



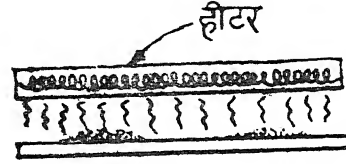
2. एक्सपोजर



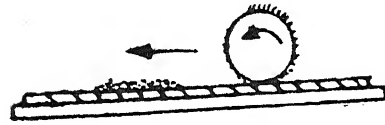
3. डिवलपिंग



4. प्रतिबिम्ब का स्थानान्तरण



5. स्थाइत्व



6. सफाई

उद्योग में बहुत विकास हुआ। इस प्रकार आज कितनी ही डुप्लीकेटिंग मशीनें बाजार में उपलब्ध हैं।

इलेक्ट्रोफोटोग्राफी में सर्वप्रथम विद्युत्-आवेशों द्वारा निर्मित एक छुपी हुयी, दृष्टिहीन प्रतिबिम्ब प्राप्त करते हैं, जिसके माध्यम से स्वच्छ एवं स्थायी प्रतिलिपि प्राप्त की जाती है। साधारण फोटोग्राफी की भाँति इसमें किसी रासायनिक क्रिया का उपयोग नहीं होता। वरन् विद्युत्-आवेशों द्वारा स्याही के कण कागज पर आकर्षित कर लिये जाते हैं। इस प्रक्रिया में मुख्य रूप से निम्नलिखित चरण होते हैं, जैसा कि चित्र में दिखाया गया है।

1. प्लेट को आवेशित करना,
2. दस्तावेज के प्रतिबिम्ब द्वारा प्लेट का एक्सपोजर,

3. डिवलपिंग,
4. प्रतिबिम्ब का स्थानान्तरण,
5. स्थाइत्व और
6. सफाई

इलेक्ट्रोफोटोग्राफी के लिए फोटोचालक प्लेटों की आवश्यकता होती है। जिंक अथवा अल्युमिनियम की प्लेट पर सल्फर या सेलिनियम का लेप करके इस प्रकार की प्लेट प्राप्त की जा सकती है। फोटो चालक प्लेट को सर्वप्रथम अंधकार में 'करोना डिस्चार्ज' द्वारा विद्युत्-आवेशित कर लेते हैं। करोना से लगभग 10 किलो वोल्ट का विभव, संलग्न वातावरण को आयनीकृत कर देता है, जहाँ से विद्युत्-आवेश प्लेट पर स्थानान्तरित किये जाते हैं। प्लेट इस प्रकार समान रूप से आवेशित हो जाती है। अब इस आवेशित प्लेट

पर दस्तावेज को तेज प्रकाश से प्रतिबिम्बित करते हैं। प्लेट के जिस भाग पर प्रकाश पड़ता है वहाँ के आवेश हट जाते हैं, जब कि अंधकारमय भाग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। आवेशों का स्थानान्तरण वहाँ पर पड़ने वाली प्रकाश की तीव्रता के समानुपाती होता है। इस प्रकार दस्तावेज का फोटो चालक प्लेट पर एक विद्युत-प्रतिबिम्ब प्राप्त हो जाता है। अब इस प्लेट पर आवेशित स्याही के कणों का छिड़काव किया जाता है। विद्युत् आकर्षण से स्याही प्लेट पर चिपक जाती है। प्लेट के अनावेशित भाग पर स्याही नहीं लग पाती है। अन्तिम चरण में इस स्याही को कागज पर स्थानान्तरित कर लेते हैं और प्रतिलिपि को स्थायी रूप दे देते हैं।

व्यवहार में इस प्रकार का विद्युत् प्रतिबिम्ब कई रीतियों से प्राप्त करते हैं, जिनमें मुख्य चार विधियाँ हैं।

(1) जिंराक्स विधि : जैसा कि ऊपर बताया गया है, इस विधि में प्रतिबिम्ब फोटो चालक प्लेट पर प्राप्त करके उसे कागज पर स्थानान्तरित कर देते हैं। इसके किये किसी विशेष कागज की आवश्यकता नहीं होती है, अतः यह विधि अपेक्षाकृत सस्ती होती है।

(2) इलेक्ट्रोफॉक्स विधि : इस विधि में फोटो-चालक प्लेट की जगह फोटो चालक कागज का उपयोग करते हैं। कागज पर प्राप्त प्रतिबिम्ब को ही स्थाई बना दिया जाता है। जिंक ऑक्साइड की सिलिकॉन बाइन्डर द्वारा कागज के ऊपर एक फिल्म तैयार कर लेते हैं। इस प्रकार का कागज फोटोचालक हो जाता है।

(3) फोटोएलेक्ट्रेट विधि : इस विधि का विकास सर्वप्रथम रूसी वैज्ञानिक वी० एम० फिडकिन ने किया। फोटो एलेक्ट्रेट पदार्थों में चुम्बकीय पदार्थों की भाँति, विद्युत् आवेश को लम्बे समय तक ध्रुवित रूप में बाँधे रखने का गुण होता है। जिंक ऑक्साइड, लेड ऑक्साइड आदि पदार्थों में यह गुण पाया जाता है। इस प्रकार की प्लेट पर विद्युत् आवेश से जो प्रति-

बिम्ब प्राप्त होता है वह काफी समय तक स्थाई रहता है, जिससे लगातार कई प्रतिलिपियाँ प्राप्त की जा सकती हैं। परन्तु लगातार उपयोग में क्रमशः प्रतिलिपियों का कंट्रास्ट कम होता जाता है।

(4) थर्मोप्लास्टिक विधि : इस विधि में विशेष प्लास्टिक कोटेड कागज का उपयोग किया जाता है। विद्युत् और ऊष्मा के प्रभाव से प्लास्टिक में झुरियाँ पड़ जाती हैं, जिससे प्रतिबिम्ब का आभास होता है। इस विधि में डिवलपिंग की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

प्रथम स्थिति में फोटो चालक प्लेट पर प्राप्त प्रतिबिम्ब दिखाई नहीं पड़ता। इसको स्पष्ट करने को डिवलपिंग कहते हैं। इसके लिये दो प्रचलित तरीके हैं।

(1) सूखी क्रिया विधि : इस विधि में किसी भी तरल पदार्थ का उपयोग नहीं होता है। डिवलपर टोनर (स्याही) और वाहक कण का एक सम्मिश्रण होता है। पारस्परिक घर्षण द्वारा, टोनर और वाहक कणों पर विद्युत् आवेश आ जाता है। इस प्रकार के पदार्थों को एक श्रेणी में क्रमबद्ध किया गया है। घर्षण से श्रेणी में ऊपर के पदार्थ धनावेशित और नीचे के पदार्थ ऋणावेशित होते हैं। आवेश की मात्रा पदार्थों के अन्तराल पर निर्भर करती है। सिलिकॉन, ग्लास आदि धनात्मक कण हैं जबकि सल्फर, स्फाल्ट आदि ऋणात्मक कण हैं। स्याही कणों का आवेश विद्युत् प्रतिबिम्ब के आवेश के विपरीत होना चाहिये। सामान्यतः टोनर कण छोटे ($\sim 10\mu$) और वाहक कण बड़े ($\sim 500\mu$) होते हैं। इस प्रकार एक वाहक कण पर हजारों टोनर कण चिपके रहते हैं। इस मिश्रण को विद्युत् प्रतिबिम्ब पर गुरुत्वाकर्षण द्वारा फैला दिया जाता है। विपरीत आवेश के टोनर कण, वाहक कणों से अलग होकर विद्युत् प्रतिबिम्ब पर चिपक जाते हैं। शेष कणों को झाड़कर अलग हटा दिया जाता है। इस प्रकार एक स्पष्ट प्रतिबिम्ब प्राप्त हो जाता है, जिसे साधारण कागज पर स्थानान्तरित कर लेते हैं।

(2) तरल विधि : द्रव डिवलपर, स्याही और कुचालक द्रव (CCl आदि) का एक कोलायडल घोल होता है। विद्युत् प्रतिविम्ब को इस घोल में डुबो देते हैं जिससे स्याही कण, विद्युत् आर्कषण द्वारा कागज पर आ जाते हैं। इस प्रतिविम्ब को सुखाकर स्थाई बना लेते हैं। साधारणतः गर्म करने पर स्याही कण पिघल कर, कागज में समा जाते हैं और स्थाई प्रति-

लिपि प्राप्त हो जाती है।

भारत इस उद्योग में अभी आत्मनिर्भर नहीं है। उपयोग की कई वस्तुयें विदेशों से निर्यात करनी पड़ती हैं। इलेक्ट्रोफोटोग्राफी से अभी हम रंगीन प्रतिलिपि भी नहीं प्राप्त कर सकते हैं। भविष्य की आवश्यकताओं को देखते हुये, इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना शेष है। □

रेड डेटा बुक

सतीश कुमार शर्मा

फॉरेस्ट रेन्ज ऑफिसर (टी), सदरन फॉरेस्ट रेन्जर्स कॉलेज, कोयम्बतूर—641002 (तमिलनाडु)

शायद बहुत से लोग यह नाम पढ़कर चौंकेंगे क्योंकि इस नाम की पुस्तक उन्होंने आज तक पढ़ी नहीं होगी। परन्तु उनका चौंकना स्वाभाविक ही है क्योंकि यह वास्तव में न तो कोई पुस्तक ही है और न इसका कोई लेखक है। जो भी हो यह बहुत महत्वपूर्ण 'पुस्तक' है।

हमारी पृथ्वी पर बहुत सारे प्राणी व पादप जातियाँ समय के साथ पैदा होती हैं। उनमें से सभी जातियाँ आज पृथ्वी पर जीवित अवस्था में नहीं हैं। बहुत सारी जातियाँ आज या तो विलुप्त (*Extinct*) हो चुकी हैं या होती जा रही हैं। किसी सम्पूर्ण जाति का भू-सतह से नष्ट हो जाना उस जाति का विलुप्तीकरण (*Extinction*) कहलाता है। जातियों का पैदा होना या जातिउद्भवन (*Speciation*) और विलुप्तीकरण प्रकृति में साथ-साथ चलता आया है।

विलुप्तीकरण दो तरह का होता है—1. प्राकृतिक एवं 2. मनुष्यजन्य। प्राकृतिक विलुप्तीकरण एक प्राकृतिक घटना है जिसे रोकना आदमी के वश में नहीं है। प्राकृतिक विलुप्तीकरण की प्रक्रिया में अब तक हजारों जातियाँ समाप्त हो चुकी हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिये गये हैं—

उभयचारीवर्ग—इक्थियोस्टीगा (*Ichthyostega*),

ईयोगायरीनस (*Eogyrinus*), ईरीओप्स (*Eryops*) आदि।

सरीसृप वर्ग—सभी डायनोसॉर्स जैसे इक्थियोसॉर्स (*Ichthyosaurus*) इगुआनोडोन (*Iguanodon*) आदि।

पक्षी वर्ग—आर्कियोप्टेरिक्स (*Archaeopteryx*), इक्थियोर्निस (*Ichthyornis*) आदि।

स्तनधारी वर्ग—मोर्गानुकोडोन (*Morganucodon*), सायनोग्नेथस (*Cynognathus*) आदि।

पौधे—राइनिया (*Rhynia*) आदि।

प्राकृतिक तौर पर विलुप्त हुये प्राणी और पौधों के आज जीवाश्म (Fossils) मिलते हैं जिनके अध्ययन से प्राकृतिक तौर पर विलुप्त हुए प्राणी और पौधों का ज्ञान मिलता है।

प्राकृतिक विलुप्तीकरण भले ही जातियों के लिए एक विनाश क्रिया है तथापि यह नई जातियों के विकास के लिये बहुत जरूरी है। इधर कुछ सालों से मानवजन्य विलुप्तीकरण बढ़ रहा है जो अप्राकृतिक और बहुत ही खतरनाक है! भौतिकवादी मनुष्य आज लगातार प्राकृतिक व्यवस्था में अवरोध बनता जा रहा है। मनुष्य ने जंगलों का सफाया कर वन्यप्राणियों के आवासों को भारी क्षति पहुँचाई है। यही नहीं

शिकार द्वारा भी उसने बड़े पैमाने पर जंगली जानवरों को समाप्त किया है। आवास के अभाव में बचे हुये वन्यप्राणियों ने जीवित रहने की लालसा में नये विकल्प ढूँढने शुरू किये हैं जिससे सारा पारिस्थितिकी तन्त्र (Ecosystem) ही गड़बड़ा गया है। इस सब गड़बड़ से वन्यप्राणियों की संख्या अभी भी खतरनाक ढंग से कम होती जा रही है। कई जातियाँ तो विलुप्तीकरण की दिशा में बढ़ रही हैं।

मानवजनित विलुप्तीकरण के समीप खड़ी जातियों को समय-समय पर वन्यजीव विशेषज्ञ सूचीबद्ध करते रहते हैं। इसी सूची का नाम “रेड डेटा बुक” (Red data book) है। ‘रेड’ शब्द का हिन्दी में अर्थ ‘लाल’ होता है। लाल रंग खतरे का निशान माना जाता है। “रेड डेटा बुक” में दर्ज सभी जातियाँ विलुप्तीकरण के खतरे के या तो पास होती हैं या विलुप्त हो चुकी होती हैं। जो जाति विलुप्तीकरण के सर्वाधिक समीप होती है उसे रेड डेटा बुक में पहले शामिल किया जाता है ताकि प्राथमिकता देकर उस जाति को बचाने की सर्वप्रथम पहल की जा सके।

पाठकों को यह जान कर दुःख होगा कि रेड डेटा बुक में चार ऐसे मानवजनित विलुप्त प्राणियों के नाम भी हैं जो हाल ही में हमारे देश की भूमि से विलुप्त हो गये। वे हैं—(1) चीता (2) गुलाबी सिर वाली बतख (3) जर्डनी करसर और (4) पहाड़ी बटेर। अगर हमारे देश की जनता ने वन और वन्य प्राणी सुरक्षा पर ध्यान नहीं दिया तो शीघ्र ही कई अन्य प्राणी भी इस पंक्ति में आ जायेंगे।

वन्यप्राणियों की वर्तमान संख्या और विलुप्तीकरण तीव्रता के आधार पर वन्यप्राणियों को ‘वन्य प्राणी सुरक्षा अधिनियम 1972’ के तहत पाँच अनुसूचियों में बाँटा गया है। जो प्राणी विलुप्तीकरण के बहुत ही नजदीक हैं उन्हें प्रथम अनुसूची में शामिल किया गया है। उनको तुरन्त ही प्रभावी तरीके से नहीं बचाया गया तो उनके बहुत ही जल्दी विलुप्त होने के आसार हैं जैसे—बाघ, सिंह, काला हरिण, सुनहरा लंगूर, मगर, गोडावण आदि आदि। दूसरी

अनुसूची में वे प्राणी शामिल हैं जिन्हें प्रथम अनुसूची वाले प्राणियों जितना खतरा नहीं है परन्तु वे अभी भी विलुप्तीकरण के खतरे से बाहर नहीं हैं। इनकी रक्षा पर भी तुरन्त ध्यान देना जरूरी है। जैसे नीलगिरि लंगूर, नीलगिरि थार आदि। तीसरी अनुसूची में वे प्राणी शामिल हैं जो पहली व दूसरी अनुसूची की तुलना में विलुप्तीकरण के इतने समीप नहीं हैं जैसे—जंगली सूअर, चीतल, साँतर, नीलगाय आदि। चौथी अनुसूची में वे प्राणी शामिल हैं जो पहले तीनों वर्गों की अपेक्षा अभी काफी सुरक्षित हैं परन्तु उनकी सुरक्षा पर भी बराबर ध्यान तो रखना जरूरी है ताकि उनकी संख्या कम न होने पाये। जैसे—रेगिस्तानी बिल्ली, रेगिस्तानी लोमड़ी, खरहा, बतख, बाज आदि। पाँचवीं अनुसूची में शामिल प्राणियों को विलुप्तीकरण का कोई खतरा वर्तमान में नहीं है। उनकी पर्याप्त संख्या विद्यमान है जैसे कौवा, चूहे, आदि। स्मरण रहे असंवैधानिक रूप से अनुसूची एक से चार तक के प्राणियों का शिकार ‘वन्य प्राणी सुरक्षा अधिनियम 1972’ के अन्तर्गत अपराध है।

अनुसूचियाँ स्थिर नहीं हैं। शिकार व अन्य कारकों से जिस प्रजाति की संख्या कम होने लगती उस जाति का विलुप्तीकरण रोकने के लिये, उसे ‘रेड डेटा बुक’ में प्राथमिकता देकर ऊँचे स्थानांतरित कर दिया जाता है। जैसे कुछ वर्षों पहले गीदड़ सबसे निम्न पाँचवी अनुसूची में था परन्तु अंधाधुंध शिकार की वजह से यह प्राणी विलुप्तीकरण के नजदीक आ गया और इसे बचाने के लिये इसे सर्वोच्च, प्रथम अनुसूची में स्थानान्तरित कर दिया गया है।

साल दर साल नयी-नयी जातियाँ रेड डेटा बुक में शामिल होती जा रही हैं। पहले शामिल जातियाँ ऊँची अनुसूचियों में स्थानान्तरित की जा रही हैं। यह सब इसलिये कि मनुष्य अपनी भौतिक सुविधा के लिये उनका शिकार करता आ रहा है। क्या इस पृथ्वी पर जीने का अधिकार मात्र मनुष्य को है? समय रहते हुये मनुष्य को अपने अधिकारों की सीमायें जान लेनी चाहिये वना वह दिन बहुत दूर नहीं जब मनुष्य को स्वयं ‘रेड डेटा बुक’ में नाम लिखवाना पड़ेगा। □

इस्पात भाषा भारती

(स्टील अथारिटी ऑव इण्डिया लि० की राज-भाषा पत्रिका, सम्पादक : हेमचन्द्र कौशिक)

स्टील इण्डिया लि० की इस्पाती धरती पर हिन्दी में भाषा भारती पत्रिका के रूप में एक स्वस्थ पौध का जन्म और वृद्धि अपने आपमें एक सराहनीय प्रयास तो है ही, प्रेरणादायक उदाहरण भी है। आधुनिकता, अंतर्राष्ट्रीय अस्मिता और राष्ट्रीय एकता की ओट में आज जहाँ अंग्रेजी को अनाधिकारिक वर्चस्व प्राप्त है वहाँ हिन्दी को सँवारने और औद्योगिक क्षेत्रों की कार्य प्रणाली का एक सबल माध्यम बनाने में पत्रिका का सहयोग निर्विवाद रूप से स्तुत्य है। पत्रिका की उपयोगिता इसी तथ्य में निहित है कि देश और काल की आवश्यकता को समझते हुए इसमें ऐसे स्थाई स्तम्भों का समावेश किया गया है जो न केवल औद्योगिक क्षेत्रों की दैनंदिन कार्य प्रणाली को आसान बनाते हैं वरन् भाषा को सार्थक शब्दों और प्रयोगों से समृद्ध भी करते हैं। उदाहरणतः 'ने भी कार्यालय टिप्पणियाँ' (वर्ष 5 अंक 3), इस्पात उद्योग से संबद्ध हिन्दी तकनीकी पर्याय, टिप्पण और प्राख्य लेखन के नमूने आदि स्तम्भों से इस्पात उद्योग के कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में कार्यरत लोगों के लिए भी लाभकारी सिद्ध होंगे।

अहिन्दी भाषियों के सुविधा हेतु अंग्रेजी में ध्वन्यात्मक निर्देशों के साथ प्रकाशित हिन्दी वर्णों की उच्चारण सारणी (वर्ष 5, अंक 3) भी बहु उपयोगी है। इनके अतिरिक्त हर अंक में हिन्दी के पक्ष को सुदृढ़ता प्रदान करने वाले कतिपय उच्चस्तरीय लेखों—मेरी दृष्टि में राजभाषा हिन्दी (गणेश शंकर विद्यार्थी, वर्ष 5, अंक 3), बंगाल और राष्ट्रभाषा (सुभाषचन्द्र बोस, वर्ष 6, अंक 1), आधुनिक हिन्दी साहित्य : प्रगति और उपलब्धि (डॉ० नगेन्द्र, वर्ष 5, अंक 2), राजभाषा के रूप में हिन्दी के विकास की

कहानी (डॉ० रामबाबू शर्मा, वर्ष 4, अंक 2), हिन्दी सबकी भाषा (वर्ष 2, अंक 3), का समावेश हिन्दी की वृद्धि और प्रसार के पत्रिका के एकमात्र लक्ष्य को स्पष्ट करते हैं। अहिन्दी भाषी हिन्दी सेवियों और हिन्दी से इतर अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य का परिचय देने वाले लेखों की उपयोगिता राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से स्वयंसिद्ध है। वैज्ञानिक शब्दों का इतिहास, महान वैज्ञानिकों का परिचय और हिन्दी के विज्ञान लेखकों के परिचय के साथ-साथ वैज्ञानिक विषयों पर लेख तो पत्रिका के कार्यक्षेत्र के अनुरूप हैं ही। इस संबंध में 'विज्ञान के क्षेत्र में हिन्दी का उपयोग' शीर्षक लेख (प्रो० राम चरण मेहरोत्रा, वर्ष 5, अंक 4) विशेष उल्लेखनीय है जो शिक्षण के क्षेत्र में हिन्दी की आवश्यकता और सार्थकता पर विशेष बल देता है।

अब कुछ शब्द पत्रिका के साहित्यिक पक्ष पर। कविताओं, कहानियों, अन्य भाषाओं के साहित्य परिचय और महान साहित्यकारों की प्रेरणा-युक्तियों का यत्न-तत्न प्रयोग पत्रिका के सौन्दर्य को चार चाँद लगा गए हैं। विशेषतः अन्य भाषाओं से श्रेष्ठ कहानी-कविताओं को अनूदित कर हिन्दी में प्रस्तुत करना पत्रिका की सामग्री के चयन को संतुलित करता है। पत्रिका में व्यवहारिकता और उपयोगिता पर विशेष बल है। और यही उसका लक्ष्य भी है। मुद्रण और सम्पादन के सौन्दर्य और लगभग त्रुटिहीन होने के कारण प्रस्तुतीकरण अत्यन्त आकर्षक बन पड़ा है। राजभाषा हिन्दी के प्रति ऐसे उत्साह और प्रेरणा को जगाने वाली पत्रिका के लिए अनेक शुभकामनायें। □

मंजुलिका लक्ष्मी

5 ई/4, लिडिल रोड, जार्जटाउन, इलाहाबाद

‘आविष्कार’ का पेटेंट विशेषांक

(प्रकाशक : नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया, नई दिल्ली—110048)

यह विशेषांक नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कॉरपोरेशन ऑफ इंडिया द्वारा प्रकाशित विज्ञान और प्रौद्योगिकी की लोकप्रिय मासिक पत्रिका ‘आविष्कार’ का पेटेंट विशेषांक है। इस विशेषांक में पेटेंटों, डिजायनों तथा ट्रेडमार्कों जैसे महत्वपूर्ण विषयों पर विशेषज्ञों द्वारा लिखे गये सात सूचनाप्रद तथा उपयोगी लेख हैं। लेखों में विभिन्न क्षेत्रों में व्याप्त समस्याओं, विशेषतया वे जो आज हमारे देश या अन्य विकासशील देशों के सम्मुख उपस्थित हैं, पर प्रकाश डाला गया है। समस्याओं के समाधान की दिशा में सुझाव भी दिये गये हैं।

देश के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए प्रौद्योगिकी के हस्तांतरण में पेटेंट प्रणाली की आवश्यकता तथा इसे और अधिक अनुकूल बनाने पर बल दिया गया है।

इस विशेषांक की उपादेयता इससे और बढ़ जाती है कि इसमें पेटेंटों, डिजायनों तथा ट्रेड मार्कों के विभिन्न पहलुओं पर उठने वाले लगभग 150 प्रश्नों के उत्तर भी दिये गये हैं। इनसे इन सभी क्षेत्रों से संबंधित व्यक्तियों को लाभ होगा। इस विशेषांक में भारतीय पेटेंट कानून के अन्तर्गत पेटेंट, अतिलिखन और प्रतिसंहरण संबंधी कुछ असंगतियों पर भी प्रकाश डाला गया है। इसमें कुछ न्यायालयों में उस संदर्भ में दायर किये गये केसों को भी दिया गया है।

एन० आर० डी० सी० आविष्कारकों को उन पेटेंटों के लिए आर्थिक सहायता उपलब्ध करता है जिनमें नयापन आविष्कारशीलता, व्यावहारिकता और व्यापक दृष्टि से उपयोग किये जाने की संभावना हो। यह एक सराहनीय कदम है और इसका लाभ आविष्कारकों को उठाना चाहिये। विशेषांक के 133वें पृष्ठ पर पेटेंट सहायता के लिए आवेदन-पत्र का प्रारूप भी दिया गया है।

आविष्कारकों के संरक्षण के लिए एक नया साधन उपयोगिता मॉडल प्रणाली पर ज्ञानवर्धक लेख भी पेटेंट विशेषांक की उपयोगिता को बढ़ाने वाला है। इस लेख में भारत तथा अन्य देशों की उपयोगिता मॉडल प्रणाली के बारे में विस्तृत जानकारी है। पेटेंटों आदि के कानूनी परिप्रेक्ष्य पर भी एक लेख है।

यह विशेषांक इस क्षेत्र में किया गया पहला प्रयास है। पेटेंटों, डिजायनों तथा ट्रेड मार्कों से संबंधित इतनी अधिक और ईप्सित सामग्री एक जगह प्रस्तुत करने का कार्य सराहनीय तथा प्रशंसनीय है। विशेषांक का मुद्रण तथा कलेवर भी चित्ताकर्षक है और यह विशेषांक संग्रहणीय है। पाठकों के समक्ष इतनी उपयोगी सामग्री रखने के लिए संपादक, निदेशक तथा एन० आर० डी० सी० साधुवाद के पात्र हैं। □

डॉ० जमदीश सिंह चौहान
सम्पादक ‘विज्ञान’

पुलिस अन्वेषण फोटोग्राफी

(लेखक : विष्णुदत्त शर्मा, प्रकाशक : नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 164, मूल्य रु० 18.50)

पुलिस को अपराधों की खोजबीन करते समय कुछ वैज्ञानिक विधियों की सहायता लेती पड़ती है। तत्सम्बन्धी विज्ञान विधि विज्ञान कहलाता है। प्रायः 130 वर्ष पूर्व से यह विज्ञान उपयोगी सिद्ध होता रहा है किन्तु 1968 में विधि छायांकन (Forensic Photography) का विभाग खुल जाने से आवश्यक

हो गया कि इस नवीन विधि पर पुस्तक लिखी जाय। लेखक को राष्ट्रीय प्रयोगशाला में कार्य करते हुए फोटोग्राफी विषयक विस्तृत अनुभव प्राप्त है अतएव उसने कार्यरत पुलिसकर्मियों को ध्यान में रखकर इस पुस्तक की रचना की है।

इस पुस्तक में 13 अध्याय हैं। हर अध्याय के

प्रारम्भ में एक सूक्ति या कथन है। अध्याय 2 ज्यामितीय प्रकाशिकी पर है जिसमें प्रतिबिम्ब बनने आदि के सम्बन्ध में सैद्धान्तिक व्याख्या दी गई है। लगता है कि मानो यह भौतिकी की पुस्तक है। अगला अध्याय रसायन विज्ञान से सम्बन्धित है। निस्सन्देह लेखक ने विषय के अनुरूप इन अध्यायों के लिखने में काफी साहस बटोरा है। बाद के अध्याय अंगुली छाप, पदचिन्ह, प्रलेख परीक्षण, रंगीन फोटोग्राफी अत्यन्त रोचक हैं। इन अध्यायों में दिये गये विवरण पाठक को प्रयोगात्मक व्यावहारिक जानकारी भी देते हैं।

पुस्तक में यत्न-तत्न त्रुटियाँ रह गई हैं—यथा पृ० 24 पर सिल्वर आयोडीन (इसे आयोडाइड होना चाहिए), पृ० 29 पर मैटवाई सल्फाइड (इसे मेटाबाइ

सल्फाइड होना चाहिए), पृ० 31 तथा अन्यत्र इम्लशन (इसे इमल्सन होना चाहिए)।

पृष्ठ 47 पर लेखक ने सुझाव दिया है कि बलात्कारी की पत्नियाँ अपने पतियों द्वारा ऐसा जघन्य कार्य करने पर विरोधस्वरूप जौहर की चिता में जल जायें तो देश में अपराध कम हो सकते हैं— शायद यह सुझाव कुछ अतिशयतावादी होगा।

पुस्तक सचित्र है, मुद्रण अच्छा है, गेट अप भी अच्छा है। हिन्दी में ऐसी नई कृति के लेखन के लिए लेखक साधुवाद का पात्र है। पुस्तक पठनीय एवं संग्रहणीय है।

डॉ० शिवगोपाल मिश्र
प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्

श्रद्धांजलि

डॉ० श्रीराम सिनहा : एक प्रखर व्यक्तित्व

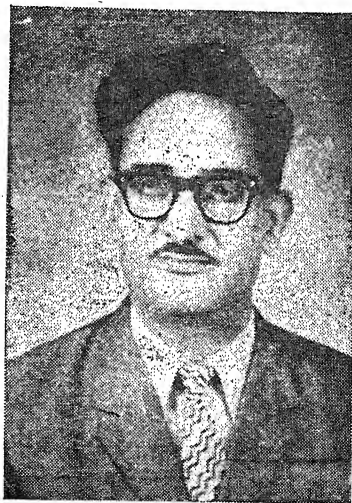
डॉ० राम सुरंजन घर दुबे

रीडर, गणित विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

पिछली 15 अप्रैल (1985) को हुई प्रयाग विश्वविद्यालय, गणित विभाग के डॉ० श्रीराम सिनहा की मृत्यु से विश्वविद्यालय व अन्य अनेकानेक संस्थाओं ने एक मेधावी गणितज्ञ के साथ ही साथ एक उत्साही और प्रबुद्ध व्यक्तित्व भी खोया है। हृदयगति के रुकने से मृत्यु का आघात इतना आकस्मिक था कि उनके सहयोगियों, विद्यार्थियों और परिजनों के लिए उसे जल्दी भूल पाना असंभव है।

डॉ० श्रीराम सिनहा का जन्म आजमगढ़ जिले के घोसी नामक स्थान में 24 अप्रैल 1931 को हुआ था।

डॉ० श्रीराम सिनहा ने 1985 में विश्वविद्यालय के गणित विभाग में एक प्रवक्ता के रूप में प्रवेश किया था। उनकी प्रारंभिक शिक्षा वाराणसी में



हुई। स्नातक और स्नातकोत्तर उपाधियाँ उन्होंने प्रयाग विश्वविद्यालय से ही प्राप्त कीं। यहीं कार्यरत रहते हुए 1958 में आपने डी० फिल की शोध उपाधि भी पाई। यह एक सौभाग्यपूर्ण संयोग था कि उन्हें देश के प्रख्यात गणितविज्ञानी डॉ० बी० एन० प्रसाद के निर्देशन में कार्य करने का अवसर मिला। “निरपेक्ष संकलनीयता-फूरिये श्रेणी और इसकी संयुग्मी श्रेणी तथा उनके अवकलित श्रेणियों की निरपेक्ष संकलनीयता” विषय पर किए गए उनके शोध कार्य को आज सर्वत्र सराहा जाता है। उनके कुशल निर्देशन में कई छात्रों ने डी० फिल० और दो छात्रों ने डी० एस-सी० की उपाधियाँ भी अर्जित कीं। उनके विद्वत्पूर्ण शोधपत्र भारत और विदेशों की अनेक अनुसंधान पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहे हैं।

वे अपने सक्रिय जीवनकाल में देश विदेश की अनेक विद्वत् परिषदों और संस्थाओं से जुड़े रहे थे। उन्होंने वर्ष 1974-75 में दिल्ली में हुई भारतीय विज्ञान कांग्रेस के गणित प्रभाग की अध्यक्षता भी की थी। ‘इलाहाबाद मैथेमैटिकल सोसाइटी’ के तो वे संस्थापक सचिव ही थे और 1958-85 तक उन्होंने सफलतापूर्वक इस दायित्व का निर्वाह किया। वे ‘इण्डियन मैथेमैटिकल सोसाइटी’ और ‘इण्डियन सोसाइटी फॉर मैथेमैटिक्स’ के एकेडेमिक सचिव के पद पर भी रहे। इसके अतिरिक्त वे 1976 से 1983 तक मेहुता शोध संस्थान, गणित एवं गणितीय भौतिकी के एकेडेमिक सचिव के पद को भी सुशोभित करते रहे।

श्रद्धांजलि

डॉ० सिनहा ने अपने शोधकार्य के संबंध में कनाडा, इजरायल, पोलैण्ड, इंग्लैण्ड एवं अन्य यूरोपीय देशों की सफल यात्राएँ भी की थीं। उनकी अपने विषय के प्रति गहरी निष्ठा का परिणाम था कि उन्हें 1980 में भारतीय-अमेरिकी विद्वानों की आदान-प्रदान योजना के अंतर्गत अमेरिका भेजा गया। जनवरी 1982 में उन्हें गणित आध्यापकों की आस्ट्रेलिया एसोसिएशन के नवें द्विवर्षीय सम्मेलन में एक वार्ता प्रस्तुत करने के लिए सिडनी में भी आमंत्रित किया गया था। अपने जीवनकाल के अंतिम वर्षों में डॉ० सिनहा को प्राचीन भारतीय गणित में विशेष रुचि उत्पन्न हो गई थी और वे उस पर कार्य करवा रहे थे।

वे अपने क्षेत्र के विशिष्ट विद्वान होने के साथ ही साथ एक कुशल व्यवस्थापक और सक्रिय गतिशील व्यक्ति थे। अनेकानेक सम्मेलनों, गोष्ठियों, और परि-सम्वादों के कुशल संचालन और सफलता का श्रेय उनकी अदम्य ऊर्जस्विता को ही जाता है। इलाहाबाद मैथेमैटिकल सोसाइटी के प्रथम, द्वितीय और रजत जयंती सम्मेलनों का संयोजन भी उनके ही निर्देशन में हुआ था। ‘विज्ञान परिषद्’, प्रयाग से उन्हें विशेष स्नेह था और उन्होंने विज्ञान गोष्ठी में अध्यक्षीय भाषण भी दिया था।

आने वाले समय में डॉ० सिनहा की कार्यकुशलता और शैक्षिक निपुणता का प्रभाव प्रेरणा बन कर लोगों का मार्गदर्शन करता रहेगा। □

एक वैज्ञानिक का दुःखद अंत

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के भूतपूर्व महानिदेशक डॉ० येल्लावती नायडुम्मा के 23 जून की कनिष्क विमान दुर्घटना में असामयिक निधन से सम्पूर्ण देश स्तब्ध रह गया है।

डॉ० नायडुम्मा का जन्म 10 सितम्बर 1922 को आंध्र प्रदेश के इपुरलंका नामक स्थान में हुआ था। उन्होंने आगे चलकर बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी से औद्योगिक रसायन में स्नातक उपाधि प्राप्त की।

बाद में उन्होंने मद्रास के चमड़ा तकनीकी संस्थान में कार्यरत (1943-45) रहकर सफलतापूर्वक विश्व में चमड़ा उद्योग के महत्व को स्थापित किया। उस क्षेत्र में उनकी कुशलता से प्रभावित होकर मद्रास सरकार ने उन्हें उच्च प्रशिक्षण के लिए ब्रिटेन (1946-47) और अमेरिका (1947-51) भी भेजा। यह उन्हीं की सूझ-बूझ और अथक परिश्रम का परिणाम था कि मद्रास स्थित चर्म संस्थान, केन्द्रीय चर्म शोध संस्थान के रूप में राष्ट्रीय प्रयोगशाला बन सका। 1952 से इस संस्थान में पुनः प्रवेश के बाद वर्ष 1958 में उन्होंने इस संस्थान के निदेशक का पदभार ग्रहण किया और उनके नेतृत्व में इस संस्थान ने विश्व के श्रेष्ठतम चर्मशोध संस्थान में अपना स्थान बना लिया।

वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद् के महानिदेशक के रूप में वे 1971-77 तक कार्यरत रहे। इस अवधि में उन्होंने परिषद् को तकनीकी उत्थान की ओर अग्रसर किया। इसके परिणाम-स्वरूप परिषद् भारतीय उद्योगों के लिए आवश्यक तकनीकी और ज्ञान का प्रमुख स्रोत बन सका। वे एक वैज्ञानिक और तकनीकीविद् के रूप में दोनों के सम्मिलन और निर्माताओं तक उस ज्ञान को पहुँचाने की आवश्यकता को अच्छी तरह समझते थे और इसके लिए उन्होंने पूरे प्रयत्न किए।

वर्ष 1977 में वे पुनः एक बार विशिष्ट वैज्ञानिक के रूप में मद्रास के केन्द्रीय चर्म शोध संस्थान से संबद्ध हो गए। पुनः कुछ दिनों के लिए वे जवाहर

लाल नेहरू विश्वविद्यालय, दिल्ली के उपकुलपति (1981) भी नियुक्त किए गए थे। उनकी योग्यता के कारण ही उन्हें भारत सरकार के सचिव और प्रधानमंत्री के विज्ञान और तकनीकी क्षेत्र के सहायक होने का सम्मान मिला था। वे यू० एन० ओ० राष्ट्र-संघ के 'इंडस्ट्रियल डेवेलपमेंट आर्गनाइजेशन' और 'फूड एण्ड एग्रीकल्चर आर्गनाइजेशन' के भी सम्मानित सलाहकार थे।

उनकी अंतिम यात्रा, जिसमें उनका विमान दुर्घटनाग्रस्त हुआ, भी 'इंटरनेशनल रिसर्च फॉर डेवेलपिंग कंट्रीज़' नामक संस्था के कार्य से जुड़ी हुई थी। भारत सरकार द्वारा उन्हें उनकी विशिष्ट सेवाओं के लिए पद्मश्री की उपाधि से (1971) अलंकृत किया गया था।

डॉ० नायडुडम्मा के निधन से देश ने निष्ठावान शिक्षाशास्त्री, सुविख्यात वैज्ञानिक, तकनीकीविद् और कुशल निदेशक ही नहीं खोया है, वरन् एक मृदुभाषी और सहृदय व्यक्ति भी खोया है।

एक दुःखद संयोग है कि उनकी मृत्यु का समाचार सुनने के थोड़े ही समय के अन्दर उनकी प्रतिभावान चिकित्सक पत्नी डॉ० पवनबाई नायडुडम्मा की भी एक अग्नि-दुर्घटना में मृत्यु हो गई। श्रीमती नायडुडम्मा एक कुशल स्त्री-रोग विशेषज्ञ होने के साथ साथ गरीबों के बीच कार्य करने वाली समर्पित समाज सेविका भी थीं। पूरे देश के साथ विज्ञान परिषद् परिवार दिवंगत आत्माओं को अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता है। □

परिषद् का पृष्ठ

वार्षिक रिपोर्ट 1984-85

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

आलोच्य वर्ष में विज्ञान परिषद् में पूर्व वर्षों की ही तरह कई प्रकार की गतिविधियाँ सम्पन्न हुईं।

मासिक पत्रिका "विज्ञान" का प्रकाशन नियमित रूप से चला और इसका एक विशेषांक, 'विज्ञान कथा

अंक' प्रकाशित हुआ जिसका विमोचन साइंस कांग्रेस अधिवेशन के अवसर पर लखनऊ के हिन्दी संस्थान भवन में सम्पन्न हुआ। यह विमोचन रीवां विश्व-विद्यालय के कुलपति डॉ० हीरालाल निगम ने किया। इस अवसर पर अनेक आजीवन सम्य, गण्यमान वैज्ञानिक तथा अतिथि उपस्थित थे।

'अनुसंधान पत्रिका' का प्रकाशन मन्द गति से चला किन्तु पृष्ठ संख्या में कोई कमी नहीं आई। विगत वर्षों की भांति विज्ञान गोष्ठी का आयोजन साइंस कांग्रेस अधिवेशन के साथ लखनऊ में किया गया जिसमें डॉ० दिव्यदर्शन पन्त ने अध्यक्षीय भाषण दिया।

स्वामी सत्य प्रकाश सरस्वती जी ने एक संयुक्त प्रकाशन करने के लिए विज्ञान परिषद् से सहयोग मांगा जिसके फलस्वरूप 'कुष्ठ रोग' नामक एक उपयोगी पुस्तिका प्रकाशित की गई, इस प्रकार विज्ञान परिषद् 24 वर्षों के बाद पुनः पुस्तक प्रकाशन करने में अग्रसर हुई है।

परिषद् के समक्ष सब से बड़ी समस्या व्याख्यान-शाला के सज्जीकरण की रही है। श्री लोकमणिलाल जी के प्रोत्साहन से ही श्री रमेशचन्द्र कपूर, विश्राम होटल के मैनेजर ने व्याख्यानशाला के विद्युतीकरण के लिए 15 हजार रुपये का दान दिया। इस राशि से बिजली की फिटिंग तथा 29 रॉड्स लगाये जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त कुर्सियों को ठीक से लगाने के लिए पुनः निर्माण कार्य सम्पन्न कराया गया जिससे विभिन्न पंक्तियों के बीच की दूरी बड़ गई है।

श्री लोकमणिलाल जी के सुझाव पर व्याख्यान-शाला तथा नवीन प्रखण्ड की सफेदी कराई गई। चूँकि ग़िल, फाटक आदि में पेंट नहीं हुए थे अतएव आगे पेंटिंग तथा वार्निश का कार्य भी सम्पन्न कराया गया।

स्वामी सत्यप्रकाश जी ने इच्छा व्यक्त की थी कि कम से कम 100 कुर्सियाँ मंगाकर व्याख्यानशाला में सीटिंग व्यवस्था की दिशा में आगे कदम उठाया जाय। एतदर्थ उन्होंने 10 हजार रुपये की राशि,

जिसे उन्होंने विभिन्न दानदाताओं से एकत्र किया था, परिषद् को दी। उनकी इच्छानुसार अब 100 कुर्सियाँ मंगा ली गई हैं। अभी इनको ठीक से व्यवस्थित करना शेष है।

कई वर्षों से अनुभव किया जा रहा है कि पुस्तकालय में पुस्तक रखने के लिये रेकों की कमी है फलतः आम की लकड़ी के दस रैक बनवाये गये और उनकी वार्निश कराई गई। इस प्रकार 'विज्ञान' तथा 'अनुसंधान पत्रिका' के पुराने अंकों को ठीक से रखने के लिए व्यवस्था हो गई है लेलिन जर्नलों की जित्तों को रखने के लिए अब भी रेकों की कमी है। प्रयास हो रहा है कि रूसी, फ्रेंच, स्पैनिश आदि भाषाओं के जर्नलों को नीचे तहखाने में पहुँचा दिया जाय और अँग्रेजी के ही जर्नल शोध छात्रों तथा अपने सदस्यों के उपयोग के लिए ऊपर रखे जायें।

आलोच्य वर्ष में उपर्युक्त दानराशि के अतिरिक्त परिषद् के भूतपूर्व सभापति डॉ० गोविन्दराम तोशनी-वाल से भी 5 हजार रुपये की सहायता प्राप्त हुई।

इसी वर्ष डॉ० रामदास तिवारी, स्वामी सत्य-प्रकाश, तथा डॉ० चन्द्रिका प्रसाद से हिन्दी की पुस्तकें तथा 'विज्ञान' की पुरानी फाइलें पुस्तकालय के लिए दानस्वरूप प्राप्त हुई, जिसके लिए परिषद् उनका अत्यन्त आभारी है और साथ ही उन्हें धन्यवाद दिया जाता है।

इस अवधि में विज्ञान परिषद् के 6 आजीवन सम्य तथा 30 सम्य बनें। विज्ञान के ग्राहकों की संख्या 470 रही।

इस वर्ष हमें सी० एस० आइ० आर०, दिल्ली तथा लखनऊ से दस-दस हजार रुपये का अनुदान प्राप्त हुआ। दिल्ली से 'अनुसंधान पत्रिका' का अनुदान न प्राप्त होने से 'अनुसंधान पत्रिका' के मुद्रण, प्रकाशन का खर्च पूरी तरह से चुकता नहीं किया जा सका। स्वामी जी ने आपत्काल के लिए 'अनुसंधान पत्रिका निधि' निमित्त करने का प्रस्ताव रखा है और इसी के अन्तर्गत उन्होंने 13 हजार रुपये एकत्र करके फिक्स डिपॉजिट में डलवा दिये हैं। उनका विचार है कि

केकड़े द्वीप पर घूमते हैं

ए० देनेप्रोव

ए देनेप्रोव सोवियत रूस के उन विज्ञान कथा शिल्पियों में अग्रणी हैं, जिन्हें विज्ञान गल्प लेखन में अंतर्राष्ट्रीय ख्याति मिल चुकी है। 'केकड़े द्वीप पर घूमते हैं' नामक विज्ञान कथा 'सोवियत भूमि' पत्रिका के मार्च और अप्रैल 1984 अंकों में प्रकाशित हो चुकी है। यह कहानी विशुद्ध गल्प शैली में लिखी गई है पर कहानी का उद्देश्य मात्र मनोरंजन ही नहीं है। प्रसिद्ध विकासविद् चार्ल्स डार्विन (1809-1882) के 'विकासवाद के सिद्धान्त' को आधार बनाकर लिखी गई इस विज्ञान कथा के माध्यम से लेखक देनेप्रोव ने एक ऐसे वैज्ञानिक (इंजीनियर) की कहानी की कल्पना की है जो प्रकृति के नियमों के विरुद्ध एक ऐसे मशीनी केकड़ों की रचना करता है जो सूर्य की रोशनी (ऊर्जा) का अवशोषण करके अपनी प्रतिकृतियाँ बनाने में सक्षम है। इसे वह वैज्ञानिक एक सुनसान द्वीप पर धातु की छड़ों और घनों के साथ छोड़ देता है। फिर तो इन्हीं धातुओं का भक्षण करके मशीनी केकड़ों की संख्या हजारों में पहुँच जाती है। अत्यधिक संख्या के कारण इनमें भोजन (धातु) के लिए आपस में युद्ध प्रारम्भ हो जाता है। वे एक-दूसरे पर आक्रमण करते हैं। भोजन के लिए छिड़े इस आपसी लड़ाई में जो कमजोर साबित होते हैं वे मारे जाते हैं और दूसरे केकड़ों द्वारा खा लिए जाते हैं। जो शक्तिशाली हैं वहीं बचते हैं पर पुनरुत्पादन करते रहते हैं। इन केकड़ों की भूख इतनी विलक्षण है कि वे तम्बू की कीलों, पानी और भोज्य पदार्थों के कनस्तरों तथा कपड़ों के धातु के बटनों को भी चट कर जाते हैं। यही नहीं, धीरे-धीरे इनका आकार भी बड़ा होता जाता है। कुछ तो आदमी से भी

आकार में बड़े हो जाते हैं। अंततः ये केकड़े अपने जनक— इंजीनियर—को भी जान से मार डालते हैं क्योंकि इंजीनियर के दाँत धातु के थे। द्वीप पर कुविलग नामक इस इंजीनियर के साथ एक सहायक बाद भी है जो इस सारी घटना का प्रत्यक्षदर्शी है। इसे कुविलग और उसके वैज्ञानिक प्रयोग से प्रारम्भ से ही घृणा है। इसका मानना है कि कुविलग अपनी वैज्ञानिक प्रतिभा का उपयोग मानवता की भलाई के लिए भी कर सकता था। यही सहायक, इंजीनियर की मृत्यु के पश्चात् उसे वहीं दफनाता है। वह द्वीप के तट पर स्कूनर (दो मस्तूल वाला जहाज) के आने की प्रतीक्षा करता है और जब स्कूनर आ जाता है तो मशीनी केकड़ों को उनके हाल पर छोड़ कर वह वापस आ जाता है। उसे कुविलग की मृत्यु का दुःख नहीं है। उसे संतोष है कि कुविलग को उसके किए की सज़ा मिल जाती है।

इस कहानी में कोई स्त्री पात्र नहीं है। मात्र दो पुरुष एक सुनसान द्वीप पर केकड़ेनुमा मशीनी खिलौनों का करतब देखते हैं। फिर भी, कहीं भी कहानी की रोचकता में कोई कमी नहीं आती। पूरी कहानी अत्यन्त रोचक शैली में लिखी गई है। पारिस्थितिकी की समस्या पर रची गई यह 'चेतावनी कहानी' हमें इस बात का संदेश देती है कि मनुष्य चाहे जितनी भी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति कर जाये, उसे प्रकृति के नियमों के विरुद्ध कोई भी आविष्कार नहीं करना चाहिए।

—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज,
इलाहाबाद

केकड़े द्वीप पर घूमते हैं

ए० देनेप्रोव

“अरे तुम सब लोग जो वहाँ खड़े हो, सावधान रहो।” कुक्लिग ने चिल्ला कर नाविकों से कहा। वे कमर तक पानी में खड़े थे और चप्पुओं से चलाई जाने वाली नाव की बगल से लकड़ी की एक छोटी पेटी उतार रहे थे, और उसे अब खींच कर एक ओर करने की कोशिश कर रहे थे।

इंजीनियर इस द्वीप पर जो दस पेटियाँ लाया था उनमें से यह अन्तिम पेटी थी।

मैंने उदास भाव से उस हल्के स्कूटर को देखा जो तरंगों पर धीरे-धीरे सरकता समुद्र में लगभग दो किलोमीटर दूर चला गया था। वह हम लोगों को वापस ले जाने के लिए 20 दिन में आयेगा।

मैंने अपनी कमीज उतारते हुए कुक्लिग से पूछा, “ये मशीनें लेकर धूप से तपते हुए इस नरक में क्यों आये हो?”

“घबड़ाओ मत, हमें उस तमाम धूप की जरूरत होगी जितनी हमें मिल सकेगी। वैसे तुम्हें बता दूँ कि अभी ठीक दोपहर है और सूरज सीधा हमारे सिरों पर है।”

“तो क्या हुआ” उस “कपोत” पर से अपनी नजर बिना हटाए मैं बुदबुदाया “विषुवत रेखा पर हमेशा ऐसा ही होता है। भूगोल की किसी भी पुस्तक में तुम्हें यह बात मिल जायेगी।”

कुक्लिग बोला, “बाद, आओ हम लोग काम में जुट जायें।”

“देखो बाद, हम लोग चार्ल्स डार्विन के सिद्धान्त को सही ठहराने के लिए एक मनोरंजक छोटा-सा प्रयोग करने जा रहे हैं।”

मैं किसी तरह “ठीक है”, कह कर एक नम्बर की पेटी खोलने में जुट गया।

बड़ा तम्बू ठीक समुद्र के तट पर करीब दो घण्टे में खड़ा कर दिया गया। उसके अन्दर हम लोग

कुदाल, सब्बल, हथौड़ा, कई पेचकस, छेनी तथा धातु का काम करने वाले दूसरे कई औजार ले आये। इस सामान की बगल में हम लोगों ने विभिन्न खाद्य पदार्थों से सैंकड़ों टिन और पीने के पानी से भरे बर्तन रख लिये।

मालिकाना अन्दाज के बावजूद कुक्लिग घोड़े की तरह काम करता रहा। वह वास्तव में और सचमुच उस काम को शुरू करने के लिए उतावाला हो रहा था जिसके लिये हम लोग यहाँ आये थे। अपने काम में हम लोग इतने व्यस्त थे कि हम लोगों ने ख्याल भी नहीं किया कि “कपोत” ने कब अपना लंगर उठाया और वहाँ से कब रवाना हो गया और क्षितिज के परे खो गया।

रात में भोजन करने के बाद हम लोगों ने दो नम्बर की पेटी खोली। इसमें दो पहियों वाली ठेला-गाड़ी थी, यह उसी प्रकार की थी जैसी माल ढोने के लिए रेलवे स्टेशनों पर होती है।”

तीसरी पेटी बहुत भारी थी। मेरा ख्याल था कि उसमें फैक्टरी में बनी मशीन होगी पर जब पहले तख्ते हटाये गये तो मैं चकित हुए बिना नहीं रह सका। वह विभिन्न रूपों और आकारों की धातु की पेटियों और छड़ों से भरी थी।

“कोई यही सोचेगा कि हम लोग यहाँ बच्चों की तरह ब्लाकों का खेल खेलने आये थे,” मैं विस्मित स्वरों में धातु के भारी आयाताकार, घनाकार, गोल और चौरस पिण्डों को टटोलते हुए बोला।

“यह शायद ही-” कुक्लिग ने जवाब दिया और दूसरी पेटी को खोलने लगा। चार नम्बर की पेटी नौ नम्बर की पेटी तक सभी उसी प्रकार की धातु की पेटियों और छड़ों से भरी हुई थीं। ये पेटियाँ और छड़ें तीन किस्म की थीं, काली, लाल और चाँदी जैसी।

मैंने आसानी से समझ लिया कि वे लोहे, तंबे और जस्ते की हैं।

जब मैं अंतिम पेटी के पास पहुँचा तो कुक्लिग बोला :

“उसे हम लोग तब खोलेंगे जब धातु की सभी पेटियों को द्वीप के विभिन्न भागों में ढोकर पहुँचा चुकेंगे।”

मैं और कुक्लिग अगले तीन दिनों तक धातु के टुकड़ों को ठेलागाड़ी पर लाद कर द्वीप के विभिन्न भागों में पहुँचाने में व्यस्त रहे। हम लोगों ने उन्हें छोटे-छोटे ढेर में तथा कुछेक को रेत पर छोड़ दिया तथा इंजीनियर के आदेश पर मैंने कुछ को गाड़ दिया। कुछ ढेर ऐसे थे जहाँ विभिन्न प्रकार की धातु की छड़ें थीं, और कुछ ऐसे थे जहाँ एक ही किस्म की धातु की छड़ें थीं।

जब हम लोग वह सब कर चुके तो हम लोग अपने तम्बू में लौटे और दसवीं पेटी खोलने पहुँचे।

कुक्लिग ने आदेश दिया, “उसे खोलो पर सावधान रहो।”

यह पेटी दूसरी पेटियों से बहुत हल्की और छोटी भी थी।

मैंने खोलने पर देखा कि उसके अन्दर लकड़ी का बुरादा ठूस कर भरा हुआ है और उसके बीच फ़ैल और मोम लगे कागज में लिपटा एक पैकेट है। हम लोगों ने लिपटे हुए कागजों को सावधानी के साथ हटाया।

हमारे सामने जो चीज थी वह शायद एक असाधारण औजार था।

पहली नजर में वह केंकड़े की शकल का धातु का एक बड़ा खिलौना दिखलायी पड़ता था। किन्तु वह मात्र केंकड़ा नहीं था। इसके छः जोड़ी बड़े पाँव थे, उसके अलावा सामने दो पतले एन्टेना थे, जिनके सिरे इस भयानक जीव के अधखुले उभरे हुए “मुँह” में छिपे हुए थे।

केंकड़े के ऊपर निर्मित सुराख में दो जोड़ी आँखें थीं—एक जोड़ी सामने और एक जोड़ी पीछे।

मैं भीचक्का-सा उस चीज को बहुत देर तक देखता रहा।

काफी देर तक चुप रहने के बाद कुक्लिग ने पूछा, “क्या यह पसन्द आया?”

“ऐसे लगता है कि हम लोग सचमुच ब्लाकों और दूसरे खिलौनों से खेलने आये हैं।”

कुक्लिग ने आत्मसन्तोष के साथ कहा, “यह एक खतरनाक खिलौना है। तुम स्वयं देखोगे। इसे उठाकर रेत पर रख दो।”

वह केंकड़ा हल्का सिद्ध हुआ, उसका वजन तीन किलोग्राम से ज्यादा नहीं होगा।

वह रेत पर मजबूती के साथ खड़ा हो गया।

मैंने इंजीनियर से व्यंगपूर्वक पूछा, “हाँ, अब आगे क्या होगा?”

“हम लोगों को थोड़ी देर तक इन्तजार करना पड़ेगा, इसे थोड़ा गर्म होने दो।”

हम लोग रेत पर बैठ गये और धातु के उस छोटे दैत्य को देखने लगे। लगभग दो मिनट बाद मैंने गौर किया कि पीठ पर जो दर्पण लगा था, वह धीरे-धीरे सूरज की ओर घूमने लगा।

“अहा, ऐसे लगता है कि इसमें जीवन आ रहा है।” मैं चकित होकर बोला और खड़ा हो गया।

जब मैं खड़ा हो रहा था तो मेरी छाया अचानक उस यंत्र पर पड़ी, और अचानक केंकड़े के पाँव तेजी से हरकत में आ गये और वह निकल कर धूप में चला आया। यह इतना अचानक हुआ कि मैं अचेतन रूप में उछलकर एक ओर हो गया।

कुक्लिग ठठाकर हँसते हुए बोला, “यह तुम्हारे लिए अच्छा खिलौना है, तुम्हें उसने डरा दिया, क्यों उसने तुम्हें डराया नहीं?”

मैंने अपनी भाँह पर से पसीना पोंछा।

“कुक्लिग, भगवान के लिए बतलाओ हम इसके साथ क्या करने जा रहे हैं। हम लोग यहाँ किस लिए आये हैं?”

कुक्लिग उठा और मेरे पास आते हुए गंभीरता-पूर्वक बोला।

“डाविन के सिद्धान्त की पड़ताल करने !”

मैं धीमे स्वर में बोला, “वह जीवविज्ञान संबंधी सिद्धान्त है, प्राकृतिक वरण का सिद्धान्त है, विकास का सिद्धान्त है आदि आदि...”

“वाह! बहुत ठीक! ज़रा उसे देखो—हमारा नायक पानी पीने गया है।”

मैं स्तब्ध हो गया। वह खिलौना पानी के किनारे तक रेंगकर जा चुका था और अपनी सूढ़ नीचे कर के प्रकटतया पानी चूस रहा था। जो भर कर पानी पीने के बाद, यह पुनः रेंग कर धूप में चला आया और गतिहीन बना रहा।

मैंने उस छोटी मशीन की जाँच की और उसके लिए धृणा की भावना पर काबू नहीं पा सका— इसमें डर की भावना भी मिली हुई थी। मुझे एक क्षण के लिए ऐसे लगा कि वह भदे ढंग का खिलौना—केंकड़ा स्वयं कुक्किलंग से मिलता-जुलता है।

मैंने थोड़ी देर बाद इंजीनियर से पूछा, “क्या यह तुम्हारा आविष्कार है?”

“उह-हुह” वह गुरीकर बोला और मैं भी लेट गया और चुपचाप पुनः उस विचित्र औजार को एक-टक देखने लगा। अब यह पूरी तरह जीवनहीन प्रतीत हुआ।

मैं पेट के बल लेट कर उसके पास रेंग कर पहुँचा और थोड़ी दूरी से उसकी छान-बीन करने लगा।

केंकड़े की पीठ अर्द्ध बेलनाकार थी तथा सामने और पीछे के छोर चौरस थे। इन्हीं छोरों पर मैंने दो सुराख देखे थे जो आँखों जैसे थे। यह प्रभाव और भी अधिक स्पष्ट था कि उनके परे शरीर के अन्दर कुछ चमकदार क्रिस्टल थे। केंकड़े के शरीर के नीचे एक चौरस चबूतरा जैसा नजर आया जो उसका पेट था। चबूतरा के स्तर से थोड़ी ऊँचाई से अन्दर से तीन जोड़ी बड़ी और दो जोड़ी छोटी संड़सियाँ निकली हुई थीं।

मैं केंकड़े के भीतर की चीजें नहीं देख सका।

मैं और कुक्किलंग रेत पर तब तक पड़े रहे जब

तक कि सूरज इतना नीचे नहीं चला गया कि निकट-वर्ती झाड़ियों की छाया धातु के केंकड़े पर नहीं पड़ने लगी। जैसे ही उस पर छाया पड़ी कि वह आसानी से सरक कर फिर धूप में चला गया। फिर भी छाया ने उनका पीछा नहीं छोड़ा। तब हमारा केंकड़ा तट पर रेंगता हुआ पानी के किनारे तक चला गया जो सूरज की किरणों से अभी भी चमक रहा था। ऐसे लगा कि उन किरणों की गर्मी इसके लिए महत्वपूर्ण रूप से आवश्यक है।

हम लोग उठे और उसके पीछे धीरे-धीरे बढ़े।

इस प्रकार हम लोगों ने धीरे-धीरे पूरे द्वीप का चक्कर लगा लिया और अन्त में हम लोग उसके पश्चिमी तट पर पहुँच गये।

यहाँ प्रायः पानी के किनारे धातु का छड़ों को ढेर था। जब केंकड़ा ढेर से लगभग दस कदम की दूरी पर था, अचानक ऐसे लगा कि वह धूप के बारे में सभी कुछ भूल गया और तेजी से धातु की ओर बढ़ा तथा ताँबे की एक छड़ के पास जाकर रुक गया।

कुक्किलंग ने मेरा हाथ छू कर कहा: “आओ हम लोग तम्बू में चलें। दिलचस्प भाग कल सबेरे शुरू होगा।”

तम्बू में हम लोगों ने रात का भोजन चुपचाप किया और हल्के फलालैन के कम्बल लपेट कर सो गये।

दूसरे दिन जब हम लोग धातु की छड़ों के ढेर के पास पहुँचे सूरज आकाश में ऊँचा उठ आया था। वे बहुत शानदार ढंग से जगमगा रहे थे और शुरू में मैं कुछ समझ नहीं पाया।

जब हम लोग धातु के ढेर से दो कदम से अधिक दूर पर रह गये होंगे कि मैंने नीले धुएँ के दो चक्र ऊपर उठते देखे। और उसके बाद...मैं अपनी लीक पर जम गया। मैंने आँखें मल कर देखीं पर वह दृश्य गायब नहीं हुआ। धातु के ढेर के पास दो केंकड़े थे, दोनों उसी प्रकार के केंकड़े थे जैसे एक हमने पिछले दिन शाम को छोड़े थे।

मैं जोर से बोला, “क्या इनमें एक धातु के ढेर के नीचे दबा रह गया था ?”

कुक्लिग पालथी मार कर बैठ गया और हाथ मलते हुए खिलखिला कर हँसा।

मैं चीख मार कर बोला, “क्या तुम मजाक करना बन्द नहीं करोगे ? दूसरा केंकड़ा कहाँ से आया ?”

“इसका जन्म हुआ ! यह रात में पैदा हुआ !”

मैंने अपना होंठ जोर से काट लिया और कुछ कहे बिना केंकड़े के पास गया—धुएँ की पतली सी लकीर उनकी पीठ पर से उठ कर आकाश की ओर जा रही थी। पहले मैंने सोचा कि मुझे भ्रम हो रहा है : दोनों केंकड़े काम में परिश्रम के साथ जुटे हुए थे।

हाँ, हाँ, ठीक वही—वे अपने पतले एन्टेना को हिलाते हुए तेजी से काम कर रहे थे। उनका अगला भाग धातु की छड़ का स्पर्श करता और उनके तल पर विद्युत् चाप निर्मित करता, यह उसी तरह होता जिस प्रकार झलाईगर एक-एक कर धातु से टुकड़े काटता जाता है। इसके बाद केंकड़े उन्हें अपने चौड़े मुँह में रख लेते। यांत्रिक जीव के अन्दर कुछ चीजें लगातार घनघनाती रहतीं। कभी-कभी उनके मुँह से सिसकारी के साथ चिंगारी फूट पड़ती, उसके बाद तैयार पुर्जे अंगों के दूसरे जोड़े ले आते।

केंकड़े के नीचे से एक छोटा चबूतरा सरक कर बाहर आता और उस पर निश्चित क्रम के अनुसार इन पुर्जों की जुड़ाई होती।

एक केंकड़े के चबूतरे पर एक तीसरे केंकड़े की प्रायः पूरी तरह जुड़ाई की हुई प्रतिकृति खड़ी थी, जबकि दूसरे केंकड़े की यांत्रिक प्रक्रियाओं की रूप-रेखाएँ मुश्किल से देखी जा सकती थीं। मैं जो कुछ देख रहा था, उससे मेरे होश गुम हो गये।

मैं बोल पड़ा, “पर ये जीव तो अपने जैसा ही जीव तैयार कर रहे हैं।”

कुक्लिग ने शान्त स्वर में कहा, “बिल्कुल सही बात है। इन मशीनों का एकमात्र उद्देश्य यह है कि ये अपने जैसे जीवों का उत्पादन करें।”

“पर क्या यह सम्भव है ?” मैंने पूछा। मैं पूरी बात समझ नहीं सका।

“क्यों नहीं ? कोई मशीन औजार, उदाहरणार्थ लेथ ऐसे पुर्जों का भी उत्पादन करता है जो उसी प्रकार की लेथ निर्मित किये जाने में प्रयुक्त होते हैं, क्या यह बात नहीं होती ? इसीलिए मैंने एक ऐसी स्वचालित मशीन निर्मित करने का निर्णय किया जो शुरू से आखीर तक अपने आपका पुनरुत्पादन करे। ऐसी मशीनों का नमूना मेरा केंकड़ा है।”

इंजीनियर ने जो कहा था, उस पर मैं सोचने लगा। इस बीच पहले केंकड़े का मुँह खुला और उससे धातु का चौड़ा रिबन बाहर आया। इसने चबूतरे पर जुड़ाई किये हुए समस्त यांत्रिक रूपों को पूरी तरह ढंक दिया, और इस प्रकार तीसरे स्वचालित मशीनी केंकड़े की पीठ बन गयी। जद पीठ अपनी जगह पर आयी तो आगे के दो तेज अंगों ने दो धात्विक शिराओं की अपनी सुराख से झलाई कर दी और नया केंकड़ा तैयार हो गया। इसकी पीठ पर जो खाँचा था उस पर धातु का एक दर्पण चमक रहा था और बीच में एक लाल क्रिस्टल था, यह उसी प्रकार का था जैसा उसके भाइयों के पास था।

उत्पादन करने वाले केंकड़े ने अपने छोटे चबूतरे को अपने पेट के नीचे कर लिया जबकि उसका “शिंशु” अपने मजबूत पाँवों से रेत पर खड़ा था। मैंने गौर किया कि इसकी पीठ पर जो दर्पण था वह धीमी गति से धूप की तलाश में घूम रहा था। कुछ देर खड़ा रह कर नया केंकड़ा सागर तट की ओर बढ़ा और पानी पीने लगा। इसके बाद वह धूप में पहुँचा और गतिहीन होकर अपने को गर्म करने लगा।

मुझे ऐसी अनुभूति हुई कि मानो यह सब मैं सपने में देख रहा हूँ।

जब मैं नवजात केंकड़े को देख रहा था उसी समय कुक्लिग बोला:

“और तुम्हारे लिए चौथा भी निर्मित हो चुका है।”

मैंने सिर घुमाया और देखा कि चीथे कैंकड़े का जन्म हो चुका है।

इसी बीच प्रथम दो कैंकड़े धातु के ढेर पर खड़े रहे, कभी-कभी, और निर्विकार रूप से टुकड़े काटते रहे और अपने अन्दर रखते रहे, जैसा वे बहले कर रहे थे।

चौथा कैंकड़ा भी उसी प्रकार सागर का पानी पीने के लिए चल पड़ा।

मैंने पूछा, “वे पानी किस लिए चूस रहे हैं?”

“वह इसलिए कि संचायक को भरा जा रहा है। जब तक सूरज चमकता है, इसकी ऊर्जा—पीठ पर दर्पण और सिलिकोन बैटरी की मदद से—बिजली में बदलती है। एक दिन के काम के लिए और संचायक को चार्ज करने के लिए पर्याप्त बिजली होती है। रात में स्वचालित यंत्र दिन में संचालक में बची ऊर्जा का इस्तेमाल करता है।”

“तुम्हारा तात्पर्य है कि ये जीव रात-दिन काम करते हैं?”

“दिन और रात अनवरत रूप से।”

तीसरा कैंकड़ा चलने लगा और रेंग कर धातु के ढेर की ओर बढ़ा।

अब तीन स्वचालित यंत्र काम कर रहे थे, जबकि चीथे में सौर ऊर्जा भरी जा रही थी।

“पर धातु के इन ढेरों में सिलिकोन बैटरी के लिए कोई सामग्री नहीं है”, इस भयावह स्व-उत्पादन यांत्रिक प्रक्रिया की प्रविधि समझने का प्रयत्न करते हुए मैंने टिप्पणी की।

“इसकी कतई जरूरत नहीं है। वह चारों तरफ प्रचुर परिमाण में है”, कुक्लिग ने बेढंगे तरीके से अपने पाँव से थोड़ी रेत उछालते हुए उत्तर दिया। “रेत और कुछ नहीं सिलिकोन ऑक्साइड है। कैंकड़े के अन्दर विद्युतिक चाप के प्रभाव से यह शुद्ध सिलिकोन में पुनरस्थापित हो जाता है।”

शाम होते-होते हम लोग अपने तम्बू की ओर लौटे। उस समय छः कैंकड़े धातु के ढेर पर काम कर रहे थे और दो धूप में अपने को गर्म कर रहे थे।

मैंने रात में भोजन के समय कुक्लिग से पूछा, “पर यह सब किस लिए?”

“युद्ध के लिए। कैंकड़े भीतरघाती कार्यवाइयों के लिए भयानक शस्त्र हैं”, उसने साफ-साफ कहा।

“इंजीनियर, मैं तुम्हारी बात समझ नहीं सका।”

कुक्लिग ने अपना स्टू चबाया और उसके बाद किसी उतावली के बिना बोला :

“जरा कल्पना करो कि उस समय क्या होगा यदि हम लोग चुपचाप इन जीवों को शत्रु के भू-भाग पर छोड़ दें।”

“और क्या होगा?” मैंने पूछा और खाना पूरी तरह बन्द कर दिया।

“तुम जानते हो कि किस रूप में ये बढ़ रहे हैं, क्या तुम नहीं जानते?”

“हाँ!”

“कल हम लोगों ने एक कैंकड़े से शुरू किया। अब ऐसे आठ हो गये हैं। अगले दिन ये चौंसठ हो जायेंगे, उसके अगले दिन पाँच सौ बारह और इसी प्रकार बढ़ते जायेंगे। दस दिन में इनकी संख्या दस लाख से अधिक हो जायेगी और उनका उत्पादन करने के लिए तीस हजार टन धातु की जरूरत होगी।”

इन आँकड़ों को सुन कर आश्चर्य में मेरी बोलती बन्द हो गयी।

“हाँ, किन्तु...”

“थोड़े ही समय में ये कैंकड़े शत्रु की सभी धातु चट कर जायेंगे; उसके सभी टैंक, बन्दूकें, विमान। उसकी सभी मशीनें, औजार, यंत्र, उपकरण—उसके भूभाग पर स्थित धातु का हर एक टुकड़ा लील जायेंगे। एक महीने बाद सारी दुनिया में धातु नहीं होगी। वह सब इन जीवों के उत्पादन में खप जायेगी...और यह नहीं भूलो की युद्ध काल में धातु सबसे महत्वपूर्ण सामरिक पदार्थ होती है।”

“तो इसी कारण नौकाधिकरण की तुम्हारे खिलौने में इतनी दिलचस्पी है।” मैं बुदबुदा कर बोला।

“ठीक यही बात है। पर यह पहला माडल है। मेरा इरादा इसे काफी सरल बनाने का है जिससे कि

पुनरुत्पादन प्रक्रिया और भी तेज हो जाये। दो या तीन गुना तेज हो जाये। उनकी संरचना अधिक सुदृढ़ और मजबूत करने का भी इरादा है। उन्हें अधिक संचल करने की इच्छा है। धातु के भण्डारों के प्रति संकेतकों की संवेदनशीलता तेज करना चाहता हूँ। उससे मेरा कैंकड़ा युद्ध काल में प्लेग से भी अधिक भयावह हो जायेगा। मैं चाहता हूँ कि शत्रु को सम्पूर्ण धातु क्षमता दो-तीन दिन में खत्म हो जाये।”

चार दिन बाद इंजीनियर कुक्लिग के केकड़ों ने पूरे द्वीप पर कब्जा कर लिया। यदि उसका आकलन सही है तो अब इनकी संख्या चार हजार से अधिक हो गयी थी।

धूप में चमकते उनके शरीर चारों ओर देखे जा सकते थे। ज्यों ही धातु का एक ढेर खत्म होता कि वे द्वीप की तेजी से तलाश शुरू कर देते और तब तक चैन नहीं लेते जब तक कि वे दूसरे ढेर नहीं पा लेते।

पाँचवें दिन सूर्यास्त के समय मैंने एक भयानक दृश्य देखा: दो केकड़े जस्ते के टुकड़े के लिए लड़ रहे थे।

यह घटना द्वीप के दक्षिणी भाग पर घटी जहाँ हम लोगों ने जस्ते की कई छड़ें गाड़ रखी थीं। विभिन्न स्थलों वाले केकड़े यहाँ अपने यंत्र के जस्ते के भाग उत्पादन करने के लिए नियमित रूप से आया करते थे। उस समय यह हुआ कि लगभग 20 केकड़े उस जगह जमा हुए जहाँ पूरा जस्ता था और सचमुच रेलपेल शुरू हो गयी। वे जीव एक दूसरे को धक्का देकर, खींच कर रास्ते से हटाते और धातु पर अधिकार करने की कोशिश कर रहे थे। एक केकड़ा विशेष रूप से आक्रामक था जो अधिक नमनीय था और मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि वह दूसरों की बनिस्बत अधिक मजबूत और उद्धत था।

अपने भाइयों को दूर हटाते हुए वह उनकी पीठ पर रेंग कर सुराख की पेंदी में पड़े धातु के टुकड़े

को पकड़ने की कोशिश कर रहा था। जब यह अपने लक्ष्य के करीब पहुँच गया था उसी समय दूसरे कैंकड़े ने उसे अपनी सड़सी से पकड़ लिया। उस कैंकड़े ने जस्ते की उस छड़ को विपरीत दिशा में खींचना शुरू किया। जो कैंकड़ा मुझे अधिक नमनीय प्रतीत हुआ था, उसने अंततः अपने प्रतिद्वंदी से उस छड़ को छीन लिया। किन्तु उसने अपनी वस्तु को इसी तरह नहीं छोड़ दिया—वह पहले वाले की पीठ पर सवार हो गया और उसके मुँह में अपनी पतली एन्टेना घुसेड़ दी।

पहले और दूसरे केकड़े की एन्टेना गुंथ गयी और दोनों अत्यधिक शक्ति के साथ एक दूसरे को फाड़ कर टुकड़े टुकड़े करने लगे।

उनके चतुर्दिक जो और जीव थे उनमें किसी ने उस लड़ाई पर जरा भी ध्यान नहीं दिया। पर वह लड़ाई सचमुच जिन्दगी और मौत की लड़ाई थी। मैंने देखा कि जो कैंकड़ा सबसे ऊपर बैठा था अचानक लुढ़क गया, उसका पेट ऊपर हो गया, और धातु का छोटा चबूतरा सरक कर बाहर आने लगा जिससे उसके अंदर के यंत्र सामने आने लगे। उसी क्षण उसके प्रतिरोधी ने विजली की तेजी से उसके शरीर को काटना शुरू कर दिया। जब शिकार का शरीर टुकड़े-टुकड़े हो गया तो विजेता ने उसके क़ैक, गरारी और तारों को फाड़ना शुरू किया और शीघ्रतापूर्वक उन्हें मुँह में ठूसने लगा।

जब पुर्जे लुटेर के शरीर में गये तो उसका चबूतरा शीघ्रतापूर्वक सरक कर बाहर आने लगा और बहुत तेजी से नये यंत्र की जुड़ाई होने लगी।

कुछ मिनट बाद एक नया कैंकड़ा चबूतरे पर से रेत पर गिर पड़ा।

जब मैंने कुक्लिग को बतलाया कि मैंने क्या देखा तो वह खिलखिला कर हँस पड़ा।

उसने कहा, “ठीक यही बात है और जो सबसे ब्रुटिहीन होगा वही बचेगा।”

मैंने उस पर विचार किया और तब विरोध किया :

“तुम्हारा क्या मतलब है—सबसे ज्यादा तृप्तिहीन? वे सभी एक जैसे हैं—क्या वे नहीं हैं? जहाँ तक मैं समझता हूँ वे अपना पुनरुत्पादन एक जैसा ही करते हैं।”

“पर क्या तुम पूरी तरह एक जैसी प्रतिकृति का उत्पादन करना संभव समझते हो? निश्चय ही तुम जानते हो कि जब बालवेयरिंग का उत्पादन किया जाता है तो दो बालवेयरिंग भी पूरी तरह एक जैसे नहीं होते। और तुम ध्यान दो कि वह उत्पादन अधिक सरल है। इस स्वचालित उत्पादन-यंत्र के पास एक सर्वोन्मिकैनिज्म है जो स्वनिर्मित प्रतिकृति की तुलना अपनी संरचना से करता है। क्या तुम कल्पना कर सकते हो कि उस समय क्या होगा यदि वह प्रतिकृति मूल का नहीं बल्कि अपनी पूर्ववर्ती प्रतिकृति का पुनरुत्पादन हो? आगे चल कर एक ऐसे यंत्र का उत्पादन होगा जिसका मूल से कोई मेल नहीं होगा।”

इस प्रकार अधिक मजबूत, अधिक तेज और अधिक सरल प्रतिकृति प्रकट होगी। इसी कारण मैं बैठ कर नक्शे पर ध्यान नहीं लगाना चाहता। मुझे यही करना है कि मैं उस समय का इंतजार कहेगा जब तक कि केंकड़े इस द्वीप पर सभी धातु को लीन नहीं जाते और परस्पर विनाशकारी युद्ध शुरू नहीं करते तथा एक दूसरे को हजम नहीं करने लगते। उसी समय वह स्वचालित यंत्र औटोमेटन निकलेगा जिसकी मुझे वस्तुतः जरूरत होगी।”

उस रात मैं तम्बू के पास रेत पर काफी अरसे तक बैठा इस सब पर सोचता रहा। कई यांत्रिक जीव मेरी बगल से गुजर गये। हालांकि वे दौड़ रहे थे पर उन्होंने काम करना बंद नहीं किया था, उनके यंत्र घनघना रहे थे। एक केंकड़ा मेरे पाँव से टकराया और मैंने गुस्से में उसे ठेल दिया। वह असहाय सा लुढ़क गया और उसका पेट ऊपर हो गया। करीब उसी समय उस पर दो केंकड़ें टूट पड़े और बिजली की चमक से मैं प्रायः अंधा ही हो गया था।

उस अभाग्य केकड़े के टुकड़े किये जा रहे थे। यह मुझे सहन नहीं हुआ। मैं झपट कर तम्बू में गया और एक पेटी से एक छोटा छड़ उठा लाया। कुक्लिंग खरटे भर रहा था।

अंधेरे में उस रेलपेल में मैंने एक केकड़े को देखा जो साधारण रूप में बड़ा था। मैंने उसी विशेष केकड़े पर निशाना लिया और ज्यों ही मेरी छड़ उसकी पीठ से टकरायी कि मैं दर्द से चीख पड़ा और एक ओर कूद गया। बिजली की तेज धारा छड़ से गुजरी और उसके बाद मेरे शरीर से। उस भारी जीव का शरीर विद्युतीकृत हो गया था। मेरे मन में यह बात कौंध गयी, “विकास के परिणामस्वरूप सुरक्षात्मक विशिष्टता पैदा हो गयी।”

पूरी तरह काँपते हुए मैं घनघनाते केकड़ों के झुण्ड के पास पहुँचा ताकि मैं अपना औजार ले लूँ। पर कुछ नहीं अनेक विद्युतिक चाप के झटका देने वाले प्रकाश में मैंने देखा कि मेरी छड़ के टुकड़े किये जा रहे हैं। उनमें सबसे मेहनती सबसे बड़ा केंकड़ा था जिसे मैंने नष्ट करने की कोशिश की थी।

मैं तम्बू में लौट आया और अपनी खाट पर लेट गया।

कुछ समय तक मैंने गहरी नींद में डूब जाने की कोशिश की पर लगता है कि ज्यादा देर तक सो नहीं सका। मैं चौक कर उठा क्योंकि अनुभव हुआ कि कुछ भारी ठंडी चीज मेरे ऊपर रेंग रही हैं। मैं उछल कर खड़ा हो गया। एक केंकड़ा धातु की खोज में हमारे तम्बू में आया था। उसकी विद्युतधारा हमारे उस कनस्टर को काट रही थी जिसमें पीने का पानी था।

मैंने कुक्लिंग को झकझोर कर उठाया और जल्दी जल्दी बताया कि क्या हो रहा है।

उसने आदेश दिया कि सभी कनस्टरों को समुद्र में ले चलो, खाना और पानी समुद्र में ले चलो।

हम लोग अपने कनस्टर सागर तक लाकर उन्हें कमर तक ऊँचे पानी में रखने लगे। हम लोगों ने अपने औजार भी वहीं रख दिये।

भीगे और थके-मांदे हम लोग सागर तट पर सुबह तक बैठे रहे तथा एक झपकी भी नहीं ली। कुक्लिग जोर से हाँफ रहा था और मैं अपने दिल में यह देख कर खुश हो रहा था कि उसे भी अपनी करनी के वारण कठिनाई झेलनी पड़ रही है। पर अब मैं उससे घृणा करने लगा और यह कामना करने लगा कि उसे और भी कठोर सजा मिले।

हम लोग द्वीप पर जब से आये उसके बाद कितने दिन बीत गये मुझे जरा भी याद नहीं है पर एक दिन सुबह के समय कुक्लिग ने पुनीत ढंग से यह घोषणा की—

“सबसे दिलचस्प खेल अब शुरू होने वाला है। यहाँ जितनी धातु थी, उसका इस्तेमाल हो चुका है।”

धातु की सभी घनाकृतियाँ, छड़ें और धातु से डंडे कैंकड़ों में बदल चुके थे और भारी संख्या में वे द्वीप पर घूम रहे थे। उनकी चाल तेज और झटके वाली थी, उनकी बैटरियाँ पूरी तरह चार्ज हो चुकी थीं और काम पर जरा भी ऊर्जा खर्च नहीं हो रही थी। वे तट पर लक्ष्यहीन चक्कर काट रहे थे, पठार पर झाड़ियों में रेंगे रहे थे, एक दूसरे से टकराते थे और कभी-कभी हम लोगों से भी टकरा जाते थे।

उन्हें देख कर मैं इस नतीजे पर पहुँचा कि कुक्लिग सही कर रहा था। कैंकड़े सचमुच एक-दूसरे से भिन्न हैं। वे आकार में, अपनी सड़सियों की लम्बाई, में, कार्यशाला-मुँह के आयाम में, एक दूसरे से भिन्न थे। उनमें कुछ दूसरों से अधिक तेज चलते थे। अधिक संभव है कि उनके अन्दर और भी गहन अंतर हो।

कुक्लिग बोला, “हाँ, अब उनके आपस में लड़ने का समय आ गया है।”

मैंने पूछा, “क्या तुम सच कह रहे हो?”

“निस्सन्देह। इतना ही पर्याप्त होगा कि उन्हें कोबाल्ट चखा दिया जाये जिसके कि वे लड़ाई शुरू कर सकें। उनकी यांत्रिक प्रक्रिया इस रूप में निमित्त की गयी है कि यदि थोड़ी सी वह धातु उनके अंदर चली जाय तो यदि मैं यह कहूँ कि उनका आपस में

एक दूसरे के प्रति सम्मान खत्म हो जायेगा तो गलत नहीं होगा।”

दूसरे दिन सुबह मैं और कुक्लिग अपने “सागरीय गोदाम” पहुँचे। हम लोगों ने समुद्र तल से आवश्यक परिमाण में टीनों में बन्द भोजन-पानी उठाया और उसके साथ ही कोबाल्ट की चार भारी छड़े जिन्हें इंजीनियर ने विशेष रूप से प्रयोग के निर्णायक चरण के लिए बचाया था।

ज्यों ही कुक्लिग ने रेत पर पाँव रखा कि उसे तत्काल कई कैंकड़ों ने घेर लिया क्योंकि वह कोबाल्ट की छड़ों को सिर पर उठाये हुए था। उसके शरीर से जो छाया बनती थी वे उधर जाने का साहस नहीं करते थे, पर मैं अनुभव कर सकता था कि नयी धातु का अविर्भाव निश्चित रूप से उन्हें उत्तेजित कर रहा था। इंजीनियर से कई कदम अलग खड़े होकर मैंने अत्यधिक चकित होकर देखा कि कई जीवों ने उछलने का भोंड़ा प्रयास किया।

“उनकी गति में जो विविधता है उसे देखो। और वे किस प्रकार एक दूसरे से भिन्न हैं। हम लोग उन्हें बाध्य करेंगे कि वे परस्पर विनाशकारी युद्ध में फँसे और उसमें जो सबसे मजबूत और योग्य होगा वही बचेगा। और वे और भी अधिक वृद्धिहीन संतान उत्पन्न करेंगे।”

इतना कह कर कुक्लिग ने कोबाल्ट की छड़ें एक-एक कर झाड़ियों की ओर फेंक दीं।

उसके बाद क्या हुआ, सचमुच इस बात का वर्णन करना कठिन है।

कई कैंकड़े तत्काल छड़ों पर टूट पड़े और एक-दूसरे को धकियाते हुए उन्हें अपनी विद्युतिक चिंगारी से काटने लगे। दूसरे व्यर्थ में चारों ओर भीड़ लगाकर उसी प्रकार धातु का टुकड़ा छीनने की कोशिश करने लगे। कुछ कैंकड़े दूसरों की पीठ पर रेंग कर चढ़ गये और पूरी ताकत से रेल-पेल के बीच में पहुँचने की कोशिश करने लगे।

तग्लियाँ बजाते हुए उल्लासपूर्वक सैनिक इंजीनियर बोला, “देखो, वहाँ तुम पहली लड़ाई देखो।”

जिस जगह कुक्लिग ने धातुओं की छड़ें फेंक दी थीं, वह स्थान कुछ मिनट बाद भीषण संग्राम-स्थल बन गया तथा अधिक से अधिक संख्या में केकड़े वहाँ पहुँच गये।

काटी हुई यांत्रिक-प्रक्रिया के पुर्जों के रूप में और कोबाल्ट जब अधिक संख्या में केकड़ों के मुँह में पहुँच गये तो वे जंगली और निर्भीक लुटेरों में बदल गये और तत्काल अपने सम्बन्धियों पर दूट पड़े।

इस लड़ाई के प्रथम चरण में वे केकड़े आक्रमण-कारी पक्ष में थे जिन्होंने कोबाल्ट चखा था। यह वे केंकड़े थे जिन्होंने उन स्वचालित केकड़ों (आत्म-मातों) को काटा था जो धातु का एक टुकड़ा पाने की उम्मीद में द्वीप के तमाम हिस्सों से आये थे। किन्तु ज्यों-ज्यों अधिक से अधिक केंकड़ों ने कोबाल्ट चखा उनकी आपसी खड़ाई अधिक भयानक एवं उग्र होती गयी। लड़ाई के दरमियान पैदा हुए जीव भी इस लड़ाई में कूब पड़े।

स्वचालित केकड़ों की वह पीढ़ी विलक्षण थी। वे आकार में छोटे थे पर सचमुच बहुत तेज रफ्तार से चल-फिर सकते थे। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि उन्हें अपनी बैटरियाँ चार्ज करने की जरूरत नहीं रही।

वे सौर ऊर्जा से पूर्णतया सन्तुष्ट थे क्योंकि वे काफी बड़े दर्पण से उसे आत्मसात करते थे लेकिन उनकी आक्रामकता अद्भुत थी। वे एक साथ कई केंकड़ों पर हमला कर सकते थे और अपनी विद्युतिक चमक से दो-तीन को काट सकते थे।

कुक्लिग पानी में खड़ा था, और उसके चेहरे पर आत्म-सन्तुष्टि का भाव परिलक्षित था। वह अपने हाथ रगड़ रहा था और कह रहा था :

“विलक्षण, मैं अब कल्पना कर सकता हूँ कि आगे क्या होगा।”

जहाँ तक मेरा सवाल था, मैं इस लड़ाई को गहन क्षोभ और आशंका के साथ देख रहा था। इस लड़ाई के फलस्वरूप क्या पैदा होगा ?

इस लड़ाई के दौरान जो नये केकड़े पैदा हुए वे आकार में छोटे थे पर उनमें सचलता बहुत अधिक थी, और अब नये आकार के केकड़ों का प्रादुर्भाव होने लगा। वे और सभी दूसरों के मुकालाबे काफी बड़े थे। उनकी गति धीमी थी, पर उनमें अंतर्निहित भारी शक्ति का अनुभव कोई भी कर सकता था और उन छोटे-छोटे केकड़ों का सामना उन्होंने अच्छी तरह किया जो उन पर हमलाकर रहे थे।

सूरज डूबने लगा था, और तत्काल छोटे केकड़ों के कार्यकलाप में उल्लेखनीय परिवर्तन आया—वे सभी पश्चिमी तट पर जमा हो गये और उनकी गति बहुत धीमी होती जा रही थी।

कुक्लिग रूखी आवाज में बोला, ‘यदि वह पूरी भीड़ नष्ट न हो जाये तो शैतान मुझे नष्ट कर दे। उनमें किसी में बैटरी नहीं है और ज्यों ही सूरज डूबेगा, वे सभी खत्म कर दिये जायेंगे।’

बात सच थी। ज्यों ही छोटे केकड़ों की भीड़ पर झाड़ियों की छाया पड़ी कि वे तत्काल पूरी तरह निश्चल हो गये। वे अब छोटे लुटेरों के हमलावर सैनिक नहीं रहे बल्कि मृत धातु का बड़ा ढेर मात्र।

अब बड़े केकड़े इत्मीनान के साथ उनकी तरफ बढ़े। उनमें कुछ आदमी के आधे आकार के बराबर ऊँचे थे और उन्हें एक-एक कर शान्तिपूर्वक चट करने लगे। उन विशाल केकड़ों के चबूतरों पर और भी बड़े आकार के केंकड़ों की रूप-रेखा नजर आयी।

कुक्लिग ने भौंह सिकोड़ी। साफ था कि विकास का यह रूप उसकी इच्छा के अनुरूप नहीं था। धीमो गति वाले विराट आकार के स्वचालित केकड़े शत्रु के पृष्ठ प्रदेश में भीतरघाती कार्रवाइयों के लिए अच्छे हथियार नहीं थे !

जिस समय विशालकाय केकड़े छोटे केकड़ों का काम तमाम कर रहे थे, उस समय सागर तट पर स्थायी शान्ति छा गयी थी।

मैं आधी रात को भयानक चीख सुनकर जगा। मैं उछल कर खड़ा हो गया पर रेतिले सागरतट के सिवा कुछ नजर नहीं आया और यह दिखलायी पड़ा

कि सागर तारामण्डित काले आकाश से मिल रहा था ।

चीख फिर झाड़ियों की ओर से आयी पर इस बार आवाज कुछ धीमी थी । और तब मैंने ख्याल किया कि कुक्लिग मेरी बगल में लेटा हुआ नहीं है । जिस ओर से मेरी समझ से आवाज आती सुनायी पड़ी, मैं उसी दिशा में तेजी से भागा ।

सागर हमेशा की तरह शांत था तथा कभी-कभी मंद लहर रेत से हिलोरें लेती टकराती और मुश्किल से सुनायी पड़ने वाली हिश की ध्वनि सुनायी पड़ती । किन्तु मुझे ऐसे लगा कि जिस स्थान पर हम लोगों ने अपने खाने और पीने के पानी का भण्डार रखा था, वहाँ सागर तल अधिक कंपित हो रहा है । कुछ चीज वहाँ पानी उछाल रही है और मथ रही है ।

मैंने सोचा कि वह अवश्य कुक्लिग होगा ।

मैं पानी के नीचे अपने भण्डार के पास पहुँचते पहुँचते जोर से बोला, “इंजीनियर वहाँ तुम क्या कर रहे हो ?”

“मैं यहाँ हूँ ।” अचानक उसकी आवाज मेरे कहीं दाहिनी ओर से आयी ।

“हे भगवान तुम वहाँ हो ?”

इंजीनियर की आवाज फिर सुनायी पड़ी ।

“मैं यहाँ हूँ । मैं गर्दन तक पानी में खड़ा हूँ । यहाँ आओ, क्या तुम आओगे ?”

मैं पानी के अंदर गया और किसी कड़ी चीज से टकराकर लड़खड़ाया । यह एक केंकड़ा था जो अपनी बड़ी संड़सियों पर गहरे पानी में खड़ा था । पुछा, “तुम इतनी गहराई तक क्यों गये ? वहाँ तुम क्या कर रहे हो ?”

वह मोटा आदमी आर्तभाव से गिड़गिड़ाते हुए बोला, “उन लोनों ने मुझे रगेद कर यहाँ पहुँचा दिया ।”

“रगेद कर ? किसने ?”

“केंकड़ों ने ।”

“यह तो असंभव है, वे मुझे नहीं खदेड़ते, तो तुम्हें क्यों रगेदेंगे ?”

पानी में मुझे एक और केंकड़ा मिला, उसका चक्कर काट कर पार किया तो मैं इंजीनियर की बगल में पहुँच गया । वह सचमुच गर्दन तक पानी में खड़ा था ।

“मुझे बतलाओ कि क्या हुआ ?”

वह बोला पर उसकी आवाज काँप रही थी, वास्तव में मैं स्वयं भी नहीं जानता । जब मैं सो रहा था तो एक केंकड़ा मुझ पर गिर पड़ा । मैंने सोचा कि वह संयोग से गिरा होगा और थोड़ा हट गया, पर वह फिर मेरे पास आया और अपनी अन्टेना से मेरे चेहरे का स्पर्श किया...मैं उठा और दूर हट गया । उसने मेरा पीछा किया । मैंने दौड़ना शुरू किया । यह केंकड़ा मेरे पीछे लग गया । इसके बाद एक और पीछे लगा...फिर एक और...केंकड़ों की पूरी जमात मेरे पीछे दौड़ रही थी । उन लोगों ने रगेद कर पानी तक पहुँचा दिया”

“कितनी विचित्र बात है, ऐसी बात तो पहले कभी नहीं हुई थी, मैं बोला, “यदि उन लोगों में विकास के फलस्वरूप मनुष्य से घृणा उत्पन्न हो गयी तो उन लोगों ने मुझ पर भी दया नहीं बरती होगी ।”

कुक्लिग रूखे स्वर में जोर से बोला,

“वह मैं नहीं जानता । हलाँकि मैं अब इतना ही जानता हूँ कि तट पर जाने में मुझे भय लगता है...”

“यह सूखेंतापूर्ण बात है ।” मैं बोला और उसका हाथ पकड़ लिया । “आओ हम लोग पूर्वी तट की ओर बढ़ चलें । मैं तुम्हारी हिफाजत करूँगा ।”

“किस प्रकार ?”

“हम लोग वहाँ रुकेंगे जहाँ हमारी चीजें जमा हैं और मैं कुछ भारी चीज उठा लूँगा । हो सकता है हथौड़ा उठा लूँ...”

इंजीनियर गुराहट की आवाज में बोला, “नहीं, नहीं, धातु की कोई चीज नहीं । बेहतर यही होगा कि एक पेटी खोल कर उसका तख्ता उठा लो या लकड़ी से बनी कुछ दूसरी चीज लो ।”

हम लोग किनारे-किनारे धीरे-धीरे आगे बढ़े ।

जब हम लोग अपने भण्डार के पास आये तो मैं इंजीनियर को छोड़ कर तट की ओर बढ़ा ।

मुझे पानी उछालने की जोरदार आवाज सुनायी पड़ी और यंत्र की घन-घनाहट ।

वे जीव हमारे कनस्तरों को नष्ट कर रहे थे । वे वास्तव में हमारे जल के नीचे रखे गये थे ।

मैं जोर से चीख पड़ा, “कुविलग हम लोग बर्बाद हो गये । वे हमारे भोजन के कनस्तर खा गये हैं ।”

वह आकुल स्वर में बोला, “ने खा चुके हैं ? तो अब हम लोग क्या करेंगे ?”

“तुम्हीं वह व्यक्ति हो जिसे बतलाना चाहिए कि हम लोग अब क्या करेंगे । यह सब तुम्हारा वेहूदा काम है, क्या नहीं है ? तुमने भीतरघाती कार्रवाई के लिए इस शस्त्र का विकास किया जिसे तुम सबसे ज्यादा चाहते हो । अब तुम्हें ही हमें इस शंशट से निकालना होगा ।

अंधेरे में, केंकड़ों के बीच रेंग कर टटोलकर मांस, अनन्नास, और बन्द टिन में जो खाद्य सामग्रियाँ मुझे मिलीं, मैंने उन्हें ढोकर रेतीले पठार पर पहुँचाया । जितनी खाद्य सामग्रियाँ पड़ी थीं उन्हें देखकर यही प्रतीत हुआ कि इन जीवों ने सचमुच उस समय बहुत बड़ा काम कर डाला जब हम लोग सोये हुए थे । एक भी कनस्तर मुझे नहीं पिला जो कटा-फटा नहीं था ।

जिस समय मैं अपनी खाद्य सामग्रियों के भण्डार को सहेज रहा था तो कुविलग गर्दन तक पानी में तट से कोई बीस-एक कदम की दूरी पर खड़ा था ।

जो कुछ हुआ था उससे मैं चौंका उठा था और इतना उसमें खो गया था कि उसके बारे में सब कुछ भूल गया । किन्तु एक तीखी आवाज से मुझे उसके अस्तित्व की याद आयी ।

“बाद, मेरी मदद करो, भगवान के लिए मेरी मदद करो, वे फिर मेरे नजदीक आ रहे हैं ।”

मैं पानी में कूद पड़ा और धातु के उन दैत्यों पर से कूदता फाँदता कुविलग की ओर झपटा । उसके

निकट पहुँचने में मुझे पाँच कदम ही रह गये थे कि मैं एक और विशाल केंकड़े के सामने पड़ गया ।

उसने मुझ पर जरा भी ध्यान नहीं दिया ।

मैं बोला, “नर्क में जायें, क्या कारण है कि तुम्हारे लिए उनमें थोड़ा भी प्रेम नहीं है ? तुम आखिरकार एक प्रकार से उनके जनक हो...।”

इंजीनियर रूखे ढंग से बोला, “मेरी समझ में नहीं आता । बाद, तुम इन्हें भगाने के लिये कुछ करो । यदि इनसे एक और ऊँचा केंकड़ा पैदा हो गया तो मैं खत्म हो जाऊँगा ।”

“और ‘विकास’ करो । अच्छा यह बतलाओ कि केंकड़े की सबसे कमजोर जगह कौन सी है ? इनकी यांत्रिक प्रक्रिया को नष्ट करने का सबसे जल्द उपाय क्या है ?”

“पहले उनके परवलीय दर्पण तोड़ देना या बैटरी निकाल देना काफी था । पर अब मैं कुछ भी नहीं जानता हूँ...अब विशेष खोजबीन करनी होगी...।”

“भाड़ में जाओ तुम और तुम्हारी खोजबीन ।” मैं सख्ती से अपने दाँत भींचकर बोला और मैंने केंकड़े की पतली अन्टेना को पकड़ लिया जो वह कुविलग के चेहरे की ओर फैला रहा था ।

केंकड़ा पीछे हटा । मुझे उसकी दूसरी अन्टेना भी मिली और उसे भी मोड़ दिया । वे ताँबे के तारों के समान आसानी से मुड़ गये ।

धातु से बने उस प्राणी को स्पष्टतया यह बात पसन्द नहीं आयी और वह धीरे-धीरे पानी से बाहर निकलने लगा । मैं और इंजीनियर पुनः तट की ओर बढ़े ।

जब सूरज ऊपर उठ आया तो सभी केंकड़े पानी से बाहर निकल आये और कुछ समय तक रेत पर खड़े होकर अपने को गर्म करते रहे । मैंने इस मौके का फायदा उठाया और कम से कम पाँच केंकड़ों के परवलीय दर्पण तोड़ दिये और उन्होंने हिलाना-डुलाना बन्द कर दिया ।

किन्तु दुर्भाग्यवश उससे परिस्थिति में किसी प्रकार का सुधार नहीं हुआ क्योंकि वे तत्काल दूसरे केंकड़ों के शिकार हो गये और अधिक संख्या में स्वचालित प्राणी बहुत तेज रफ्तार से निर्मित होने लगे। सभी केंकड़ों की सिलिका निर्मित बैटरी को नष्ट करना व्यर्थ का प्रयास था। कई बार मेरा वास्ता विद्युतीकृत केंकड़ों से पड़ा जिससे उनसे लड़ने का संकल्प नष्ट हो गया। कुक्किलग पूरे समय पानी में रहा।

शीघ्र वे दैत्य लड़ाई में फँस गये और इंजीनियर के बारे में सब कुछ भूल गये।

हम लोग जल्दी से उस लड़ाई के मैदान को पीछे छोड़ कर द्वीप के दूसरे भाग में चले आये। पानी में कई घण्टे तक खड़े रहने के कारण कुक्किलग की हड्डियाँ तक सड़ हो गयी थीं और उसके दाँत बज रहे थे। वह तट पर लेटने के सिवा और कुछ नहीं कर सकता था और लेट कर उसने कहा कि मैं उस पर रेत के ढेर बना दूँ।

इतना करके मैं अपने असली शिविर की जगह पर आया ताकि अपने कपड़े लूँ और जो बचा खाना है उसे सहेजूँ। और तभी मुझे पता चला कि तम्बू फाड़ दिया गया है—जमीन में ठोंकी गयी कीलें गायब हो चुकी हैं और यही हाल धातु की छल्लों का भी हुआ जिनमें रस्सियाँ बँधी थीं।

कैम्पास को उठाने पर मुझे अपने और कुक्किलग के कपड़े मिले। यहाँ भी केंकड़ों की गतिविधियों के चिह्न थे—धातु के सभी बटन, हुक और बक्कलस खत्म हो चुके थे। वहाँ केवल जले हुए कपड़े रह गये थे।

इस बीच केंकड़ों के बीच लड़ाई तट से द्वीप के भीतरी भाग में पहुँच गयी। जब मैं पठार पर गया तो मैंने कई ऐसे भीमाकार केंकड़े देखे जिनकी सड़सियाँ आदमी की ऊँचाई तक थीं। वे जोड़ी में धीरे-धीरे अलग होतीं और फिर एक-दूसरे से अत्यधिक तेज रफ्तार के साथ टकरातीं।

जब वे टकरातीं तो मैं एक धातु के दूसरे के साथ

टकराने से उत्पन्न खनखनाहट सुन सकता था। विशाल केंकड़ों की धीमी रफ्तार से मैं अनुभव कर सकता था कि उनमें कितनी अधिक शक्ति है और उनका कितना अधिक वजन है।

जब मैं देख रहा था, उसी समय कई केंकड़े जमीन पर फेंक दिये गये और तत्काल उनके टुकड़े कर दिये गये।

किन्तु इन पागल मशीनों की लड़ाई से मेरा जी ऊब गया था, अतः उन तमाम चीजों को जिन्हें मैं बचा सकता था, उठा कर उस ओर बढ़ा जिधर कुक्किलग को छोड़ आया था।

सूरज की किरणें बहुत प्रखर थीं अतः मैं रास्ते में कई बार सागर के शीतल जल में डुबकी लगाता गया।

मैं रेत के उस टीले के पास पहुँच रहा था जहाँ मैंने कुक्किलग को छोड़ा था। वह गहरी नींद में सो रहा था। रात भर पानी में रहने के कारण पूरी तरह थक गया था। उस समय पठार की ओर से आते हुए एक विशाल केंकड़े पर मेरी नजर पड़ी।

वह मुझ से लम्बा था और उसके अंग ऊँचे तथा मजबूत थे। वह झटकेदार ढंग से कूदता हुआ बढ़ रहा था तथा उसका शरीर विचित्र ढंग से झुकता था। उसके सामने की अन्टेना बहुत लम्बी थी और रेत पर उसके पीछे-पीछे घिसटती थी। इसका कार्य-शाला—मुँह विशेषरूप से अतिविस्तृत था जो कम से कम इसके शरीर के बराबर था।

मैंने तत्काल उसका नाम “मत्स्यमगर” रखा जो भदे ढंग से रेंग कर समुद्र के किनारे जा रहा था और उसने धीरे-धीरे अपने शरीर को सभी दिशाओं में घुमाना शुरू किया। मानों वह भ्रूहस्यावली पर नजर डाल रहा हो। अनजाने में कैम्पास ताम्बू को हिलाया जैसे रास्ते में खड़ी गाय दूर भगाने के लिए कोई कपड़े आदि हिलाता है। किन्तु चाहे जो भी हो, उसने मुझ पर ध्यान नहीं दिया और बहुत विचित्र ढंग से थोड़ा अर्द्ध वृत्ताकार चक्कर काट कर रेत के उस ढेर की तरफ बढ़ा जहाँ कुक्किलग लेटा हुआ था।

यदि मेरे दिमाग में यह बात आती कि वह दैत्य इंजीनियर की ओर बढ़ रहा है तो मैं तत्काल उसकी सहायता करने के लिए दौड़ पड़ता। पर केंकड़े की गति का प्रक्षेप-पथ इतना अनिश्चित था कि शुरू में मैंने सोचा कि यह सागर की ओर जा रहा है। जब इसने पानी का एक क्षण के लिए अपनी अन्टेना से स्पर्श किया, तेजी से मुड़ा और तेजी से कुक्किलग की ओर बढ़ा तो मैंने जो सामान उठा रखा था, उसे फेंका और जितनी तेजी से हो सकता था, दौड़ पड़ा।

वह “मत्स्यमगर” कुक्किलग पर सवार होकर रुका और थोड़ी देर के लिए बैठ गया।

मैंने गौर किया कि किस प्रकार उसकी लम्बी अन्टेना इंजीनियर के चेहरे की बगल में रेत में टटोल रही है।

दूसरे ही क्षण वहाँ रेत के बादल घुमड़ पड़े जहाँ एक क्षण पहले रेत का टीला था। कुक्किलग उछल कर पाँवों पर खड़ा हो गया मानो उसे किसी ने डस लिया हो और घबड़ा कर उस दैत्य से उछल कर हटा।

पर काफी देर हो चुकी थी...

पतली अन्टेना इंजीनियर की मोटी गर्दन में मजबूती से लपेट दी गयी थी और उसे ऊपर उठाकर केंकड़े ने अपने मुँह की ओर खींचा। कुक्किलग असहाय सा हवा में झूल गया। उसकी वहि और पाँव छटपटा रहे थे।

एक क्षण के शिक्षक के बिना मैंने केंकड़े की लम्बी संड़सी को पकड़ा और अपनी पूरी ताकत लगाकर खींचा। इससे जो भी हुआ हो, मैं शायद जमीन में घँसे इस्पात पाइप के ऊपर गिरने की कोशिश कर रहा था। पर “मत्स्यमगर” जरा भी हिला नहीं।

ऊपर बढ़ कर मैं उसकी पीठ पर चढ़ गया। एक क्षण के लिए मेरा चेहरा कुक्किलग के विकृत चेहरे के बराबर आया। मेरे दिमाग में बात आयी, “उसके दाँत ! उसके धातु के दाँत थे।”

मैंने अपनी सारी ताकत लगा कर धूप में चमक रहे परवलीय दर्पण पर धूँसा मारा। केंकड़ा उसी

जगह चक्कर काटने लगा। कुक्किलग का नीला चेहरा, निकलती आँखें प्रायः कार्यशाला-मुँह की बगल में थी। और तब सबमुच कुछ भयानक घटना घटी। बिजली की चमक इंजीनियर के ललाट और कनपटियों पर पड़ी। केंकड़े की संड़सी की पकड़ ढीली हो गयी और लौह महामारी के सर्जनकर्ता की जीवन-हीन स्थूल काया रेत पर पड़ी थी।

जब मैं कुक्किलग को दफना रहा था, उस समय कई विशाल केंकड़े एक दूसरे का उस द्वीप पर पीछा कर रहे थे। उन्होंने न तो मुझ पर और न इंजीनियर के शव पर ध्यान दिया।

मैंने कुक्किलग के शरीर को ताम्बू के कैनवास में लपेटा और द्वीप के बीच में मामूली गड्ढे में जिसे मैंने रेत में खोदा था, दफना दिया। मुझे किसी प्रकार के दुख का अनुभव नहीं हुआ। रेत से मेरा मुँह किरकिरा हो गया था और मैं उस मृतप्राणी और उसके दुष्कृत्य को कोसता रहा।

मैं कई दिनों तक तट पर चुपचाप पड़ा रहा, तथा उस ओर क्षितिज को निमिषेष्ट देखता जिधर से “गुलुब्बा” आने वाला था। समय की गति असहनीय रूप से लम्बी प्रतीत होती थी और ऐसा लगता था कि क्रूर सूरज सिर के ऊपर रुक गया है। थोड़ी-थोड़ी देर मैं पानी के पास जाकर धूप से अपना जलता चेहरा पानी में डुबा लेता।

अपनी भूख और भयानक प्यास को भूलने के लिए मैं कुछ बिलकुल अमूर्त बातों के बारे में सोचने लगता। मैंने उन तमाम चालाक आदमियों के बारे में सोचा जिन्होंने अपनी प्रतिभा दूसरों का बुरा करने में नष्ट कर दी। उदाहरण के लिए कुक्किलग के आविष्कार को लें। मेरा विश्वास था कि इसका इस्तेमाल अच्छे उद्देश्य के लिए हो सकता था। उदाहरण के लिए धातु के उत्पादन के लिए इन जीवों का विकास इस प्रकार निर्देशित किया जाता ताकि वे कारगर ढंग से उस उद्देश्य की पूर्ति करते। मैं इस निष्कर्ष पर पहुँच कि यदि यांत्रिक प्रक्रिया को तदनुरूप उन्नति किया

जाता तो यह भारी विशालकाय प्राणी के रूप में नहीं विकसित होता।

एक बार मुझ पर एक विशाल गोलाकार छाया पड़ी। काफी कठिनाई के बाद मैंने अपना सिर उठाया और देखा कि वह क्या है जो मेरे और सूरज के बीच खड़ा हुआ है। मैंने पाया कि मैं एक विशाल केंकड़े की संड़सी के बीच पड़ा हूँ। यह तट पर आया था

और लगा कि क्षितिज को आंर देख रहा है और किसी चीज का इन्तजार कर रहा है।

मैं जब स्कूटर (दो मस्तूल वाले जहाज) पर सवार हुआ तब कप्तान गाले ने मुझसे पूछा कि उस भारी यंत्र को लादा जाये या नहीं जो तट पर है तो मैंने कहा कि इसकी कोई जरूरत नहीं है। □

[‘सोवियत भूमि’ से साभार]

समय-यान की सवारी

कथाकार : व्लादीमीर जायाट्स

संक्षिप्त स्वतंत्र रूपांतर : अनिल कुमार शुक्ल

17 म्योर कॉलेज कॉलोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय

उस दिन शाम को मैं बहुत खुश था और खुश भी क्यों न होऊँ ! उस दिन तो वर्षों की मेहनत के बाद, समय यंत्र (टाइम मशीन) बनाने की मेरी कल्पना साकार हुई थी। अपने ‘समय यंत्र’ के कल्प-पुर्जों की अंतिम जाँच करते-करते, मैं कल्पना-सागर में डूब-उतरा रहा था कि, अचानक मेरा कमरा जगमगा उठा और बहुत ही मधुर संगीतमय ध्वनि पूरे वातावरण में छा गई। जब मैंने सिर उठाया तो अपने सामने सुनहले कपड़ों में सजे, एक अजनबी को मुस्कराते पाया। अपने इस विशेष कमरे में, बिना पूछे प्रवेश कर जाने वाले, उस व्यक्ति को मुस्कराते देखकर तो मेरे तन-बदन में आग लग गई। “कौन हो तुम और बिना पूछे तुम अंदर कैसे आ गये :”

लेकिन आश्चर्य ! उस पर तो जैसे मेरी झुंझलाहट का कोई असर ही नहीं पड़ा और उसने बहुत ही शांत व मधुर आवाज में कहा, “हम बाइसवीं सदी के मध्यकाल में हैं और आज है—9 सितम्बर 2132” “....तो....”

“मैं जानना चाहता हूँ कि क्या मैं प्रो० सतीश (जन्म 1950 ई०), रेडियो इंजीनियर के सही पते पर आया हूँ ?”

“जी हाँ, मुझे ही लोग प्रो० सतीश कहते हैं, लेकिन आपके शुभागमन का मकसद क्या है ?”

“असल में हम लोग यानी ‘कालविद् इतिहासज्ञ (हिस्टोरियन-टेम्पोरोलॉजिस्ट)’ इस तथ्य पर एकमत नहीं हो पा रहे हैं कि सर्वप्रथम ‘समय यंत्र’ का आविष्कार किसने किया था ? मेरी तथा कुछ अन्य विद्वानों की धारणा है कि यह आविष्कार आपने किया, जब कि कुछ अन्य विद्वान यह श्रेय 21 वीं सदी के फ्लोरिडा ब्राउन को देते हैं....”

“ब्राउन का सिर” अपने आविष्कार का श्रेय दूसरे को जाते सुनकर मैं आपसे बाहर हो गया। “यह मैं हूँ मैं, जिसने वह सिद्धांत खोजा और मैंने इन्हीं हाथों से वह मशीन बनाई है। आँख खोलकर देख लोये है वो मशीन....।”

लेकिन तुरन्त ही मुझे महसूस हुआ कि मैं बेकार चिल्लाये जा रहा हूँ ! अब तक वह अजनबी मेरे ‘समय यंत्र’ को देख चुका था और उसने संतुष्टि भरे स्वर में स्वीकारा “हाँ, तो यही है वह पहला समय यंत्र।”

तभी मैंने अजनबी से पूछा, “लेकिन आप तथ्य का पता लगाने मुझ तक क्यों आये ? क्या आपके

रिकार्ड से इसकी जानकारी आसानी से नहीं हो जाती ?”

“आसानी से !” अजनबी ने आश्चर्य से मुझे घूरते हुये कहा, “लेकिन आपके समय तो ‘सूचना विस्फोट’ (इन्फार्मेशन एक्सप्लोजन) अभी शुरू भी नहीं हुआ था। हम लोगों के यहाँ तो 12 वीं पीढ़ी कम्प्यूटरों के द्वारा भी, प्राप्त सूचनाओं का विश्लेषण इतना श्रमसाध्य एवं मेहनत है कि, हम लोगों का ‘समय यान’ (‘टेम्पोमोबाइल’) बनाना पड़ा।”

“लेकिन क्या सूचनाओं के विश्लेषण की कोई अन्य सरल प्रक्रिया नहीं है ?”

“हम लोग प्रयास कर रहे हैं” हताशा भरे स्वर में अजनबी कहता रहा “लेकिन इन तमाम कठिनाइयों के बावजूद, शोधकार्य तो रोके नहीं जा सकते ! आखिरकार, मानवीय अस्तित्व भी तो ‘समस्या एवं समाधान’ की प्रक्रिया (प्रोसेस ऑफ कॉग्निशन) में ही निहित है !!...अच्छा तो मुझे अब विदा लेनी ही चाहिये...मेरे ‘समय यान’ की ऊर्जा अब समाप्तप्राय ही है...”

अभी उसका वाक्य खत्म भी नहीं हुआ था कि, मुझे ‘क्लिक’ की आवाज सुनाई पड़ी और सुनहले कपड़ों वाला वह अजनबी अन्तर्ध्यान हो गया। अभी मैं उसी के बारे में सोच रहा था कि, पुनः मेरे कमरे में एक विचित्र आवाज उभरी तथा एक और अजनबी मानव आकृति मेरे कमरे में उपस्थित थी। जैसे ही मैं उसकी ओर मुखातिब हुआ, बिना किसी भूमिका व संबोधन के, कुछ कर्कश सी आवाज में वह बोल उठा, “...तो जनाब...आप ही हैं प्रो० सतीश यानी ‘समय यंत्र’ के आविष्कारक...”

मेरे स्वीकृति में सिर हिलाते ही वह फिर बोल पड़ा, “बहुत खूब ! यही बात तो मैं वर्षों से सिद्ध करना चाहता था !! लेकिन कहाँ है आपका बनाया वह समय यंत्र ?”

अनिच्छापूर्वक मैंने मशीन की ओर संकेत भर कर दिया। ध्यानपूर्वक उसे देखने के बाद उसने कहा “दिखती तो बड़ी साधारण है, लेकिन है विश्वसनीय !”

अचानक ही मेरा ध्यान उसक ‘छाती पर लगे एक बक्स की ओर आकर्षित हुआ। जब कभी इस अजनबी को उपयुक्त शब्द या वाक्य बोलने में कठिनाई होती थी, वह इसी बक्स में फुसफुसाता था। मैंने पूछ ही लिया “वह क्या चीज है ?”

“यह है सार्वभौम अनुवादक” (यूनिवर्सल ट्रांस-लेटर) यानी वह मशीन जो किसी भी युग की बोली का अनुवाद वांछित भाषा में कर सकती है। यदि आप चाहें तो इसे ले सकते हैं, क्योंकि अपने देश-काल (टाइम एण्ड स्पेस) से बाहर यात्रा के समय यह आपकी सहायता करेगा।”

“धन्यवाद” कहकर, उस बड़े किन्तु भारहीन बक्स को लेते हुये मैंने पूछा, “अच्छा तो आप किस शताब्दी से आये हैं ?”

“मैं तेइसवीं सदी के आखिरी कालखंड का मानव हूँ यानी मैं उस सदी से आया हूँ जो बायोरो-बोटिक्स और क्वासीस्टेलेर इंजीनियरिंग की शताब्दी कही जाती है।”

“अच्छी बात है, लेकिन क्या आप लोगों के रिकार्ड में इस बात की जानकारी नहीं है कि, सर्व-प्रथम मैंने ही ‘समय यंत्र’ बनाया था ?”

“संभव है कि हो, पर सूचनाओं व रिकार्ड के अथाह समुद्र में से किसी तथ्य का पता लगा पाना, हमारे युग में लगभग असंभव ही है। हम लोगों की अपेक्षा तो पिछली सदी [यानी बाइसवीं] वाले भाग्य-शाली थे, जिन्हें केवल एक ही ‘सूचना विस्फोट’ का समाधान करना पड़ा, लेकिन अब तो [तेइसवीं सदी में] रोज ही सूचना विस्फोट होते हैं !...अरे ! मैं तो काफी देर तक रुक गया...मेरे ‘समय यान’ की ऊर्जा तो अब खत्म ही होने को होगी...मेरे पास बिल्कुल ही समय नहीं है...”

और तभी...क्लिक...तथा यह अजनबी भी अन्तर्ध्यान !! पर मेरे पास आने वाला यह अंतिम अजनबी नहीं था, बल्कि यह तो अभी शुरुआत हुई थी। हर दो तीन मिनट बाद कोई न कोई पहुँचा ही रहता था ‘समय यंत्र’ के आविष्कारक का पता

(पृष्ठ 16 के बाद और 17 के पहले का
छूटा हुआ मैटर)

लगाने । यानी कहने का मतलब यह कि मैं एक ही तरह के प्रश्नों का उत्तर देते-देते इतना झुंझल । गया कि ज्यों ही बाइसवें 'कालदूत' ['समयदूत' या टेम्पो-रैन्ट] ने मेरे कमरे में प्रवेश किया कि मैं चिल्ला पड़ा, ' दफा हो जाओ यहाँ से, मैं तुम लोगों को देखना नहीं चाहता ।' मेरे इस क्रोध का कारण समझ पाने में असमर्थ वह आगंतुक, कुछ देर तक स्तब्ध खड़ा रहा, लेकिन जैसे ही मैंने, पास पड़े लोहे का एक टुकड़ा मारने के लिये उठाया, वह तत्क्षण अंधकार में विलीन हो गया । और उसके गायब होते ही, मैंने भी उपहार में मिले 'सार्वभौम अनुवादक' को लिया तथा आर्कि-मिडीज से मिलने की इच्छा के साथ, अपने 'समययंत्र' को स्टार्ट किया ।

कुछ ही क्षण बाद मैंने अपने को लगभग 2250 साल पहले के ग्रीक नगर सिराक्यूस—में पाया । थोड़ी ही दूर पर, चपटी छत वाले एक मकान के सामने एक पेड़ के नीचे चौड़े कंधों वाला एक स्वस्थ व्यक्ति बैठा था । दाढ़ी बढ़ाये उस व्यक्ति के एक हाथ में दो कम्पास तथा दूसरे हाथ में गोला था । वह गोले को इस प्रकार घूर रहा था मानों उसमें से कोई अदृश्य वस्तु खोज निकालना चाहता हो ! उस विचार-मग्न व्यक्ति के पास पहुँचकर मैंने अभिवादन किया "आपके हर काम में ईश्वर सहायक हो" और झट से मेरे सार्वभौम अनुवादक ने, मेरे इस अभिवादन का अनुवाद प्राचीन ग्रीक भाषा में कर दिया "क्या आप मुझे महान विद्वान आर्किमिडीज का पता बतायेंगे ?"

"आपको उससे क्या काम है ?" उसकी विचार-

तन्द्रा टूटी ।

' मैं उस महान मनीषी से बात करना चाहता हूँ'

मैंने स्पष्ट किया “मैं यह जानना चाहूँगा कि, क्या वस्तुतः वे ही महान व्यक्ति हैं जिन्होंने प्रसिद्ध सिद्धांत—आर्किमिडीज का नियम—खोजा था, और क्या वास्तव में वे, बड़ी-बड़ी संख्याओं का वर्गमूल निकालने में मिद्धहस्त थे तथा....”

अभी मेरी बात पूरी भी नहीं हुई थी कि, वह व्यक्ति कुछ ऐसे स्वर में गुराया कि, मेरा सार्वभौम अनुवादक भी ‘किरे-किरे’ करने लगा ! और मैं हक्का बक्का उसका मुँह ही देखता रह गया। थोड़ी देर बाद, मेरी चेतना लौटी तो मैंने शिकायत भरे स्वर में कहा “अरे, आप तो बेकार ही लाल-पीले होने लगे, मेरी इच्छा तो केवल यह पता लगाने ...”

“भाड़ में जाय पता लगाना ! पता नहीं कहाँ से सब चले आते हैं दिमाग चाटने !”

अब तक मेरी समझ में आ चुका था कि यही हैं, महाशय आर्किमिडीज और यह स्पष्ट हो गया कि, इनके पास ‘समय यान’ से पहुँचकर, पता लगाने वाला मैं पहला व्यक्ति नहीं था, बल्कि बाइसवीं, तेइसवीं आदि आदि सदियों के मेरे अतिथिगण, आर्किमिडीज महोदय का भी पर्याप्त ‘मनोरंजन’ कर चुके थे।.....और इसीलिये जनाब का पारा सातवें आसमान पर है...तभी मुझे अचानक एक उपाय सूझ गया, उनका पारा जमीन पर उतारने का। मैंने कुछ कर्कश सी आवाज में कहा, “लगता है कि तुम्हारा दिमाग खराब है अथवा तुम पुराने ग्रीकवासी न होकर कोई असभ्य हो अथवा संभव है कि प्राचीन ग्रीक-वासियों को सभ्य एवं सुसंस्कृत मानने की मेरी धारणा ही गलत हो ! ओफ़, यहाँ तो यह पूछना भी गुनाह है कि, महान आर्किमिडीज रहते कहाँ हैं ?”

“मैं ही आर्किमिडीज हूँ”। मेरा तीर निशाने पर बैठा था। ‘मुझे क्षमा कर दो अजनबी, मेरा इरादा तुम्हें दुखी करने की कदापि नहीं था, पर लगता है देवताओं ने मुझे क्षण भर के लिये, विवेकहीन कर दिया था। लेकिन विश्वास करो अजनबी, वस्तुतः उस स्थिति में स्वयं को नियंत्रित रख पाना बड़ा ही

कठिन है, जबकि पूरे सप्ताह, तुम्हारी ही तरह के अजनबी, एक के बाद दूसरे आये और सबके सब एक ही तरह के सूखतापूर्ण प्रश्न करें !”

“आप टीक ही कह रहे हैं”। मैंने भी उनका समर्थन किया। “मैं तो उन सब के प्रश्नों से इतना घबरा गया कि सीधा भागकर आपसे मिलने चला आया !!”

“यानी तुम भी बिद्वान हो !!” आर्किमिडीज खुश हो गये। “अच्छा तो मुझे यह बताओ कि वे लोग और तुम लोग, आर्किमिडीज के नियम को कैसे बताते हो ?”

“अच्छी बात है।” मैं भी उत्साहित हो गया था। “सबसे पहले तो मैं आपको यह याद दिलाऊँ कि जब भी कोई वस्तु जल में डूबती है, तो उसका भार कम होता जान पड़ता है।”

“बिल्कुल सही, बिल्कुल सही” आर्किमिडीज बोल उठे। “मैंने बहुत पहले यह भी बताया था कि, जल, डूबने वाली वस्तु को सीधे ऊपर की ओर फेंकता है।”

“हाँ, उदाहरण के लिये अपने इस गोले को लीजिये। हम यदि इसे इस एक छोटे टब में डुबोयें तो जल का स्तर कुछ ऊँचा उठ जायेगा क्योंकि यह गोला अपने आयतन के बराबर जल हटायेगा। किन्तु गोले द्वारा हटाया गया जल पुनः अपनी जगह पर पहुँचने का प्रयास करेगा और इस प्रयास में गोले को ऊपर की ओर फेंकेगी। अर्थात् गेंद पर एक बल—”

“.....जो कि सीधे ऊपर की दिशा में यानी उर्ध्वाधर लगेगा” आर्किमिडीज बताने लगे, “और यह बल, उस गोले द्वारा हटाये गये जल के भार के बराबर होता है।” अब तक आर्किमिडीज महोदय खुश होकर दोनों हाथ से अपनी जाँघ थपथपाने लगे थे “और यही बात किसी भी वस्तु पर लागू होती है, चाहे वह जिस आकार की हो। यानी यह एक सार्वभौम (यूनिवर्सल) नियम है ! अरे वाह, कितना सुन्दर !!”

“हाँ तो यही है आपका—आकिमिडीज का प्रसिद्ध नियम, जिससे भविष्य में सभी लोग परिचित होंगे और यह नियम सभी स्कूलों के पाठ्यक्रम में शामिल होगा” मैंने कुछ-कुछ भविष्यवाणी करने वालों के अंदाज में कहा।

मेरी बात यानी ‘भविष्यवाणी’ सुनकर आकिमिडीज फूले न समाये। “मैंने इस पर बहुत पहले

विचार शुरू किया था, लेकिन अब तो यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया ! वाह, कितना सुन्दर नियम है यह ! यूरेका !! यूरेका !!!...”

यानी आकिमिडीज महोदय ‘यूरेका, यूरेका’ [Eureka = पा गया] चिल्लाते हुये अपने शहर की गलियों में दौड़ पड़े और मैं अपने ‘समय यान’ पर सवार हो अपने शहर की ओर चल पड़ा !□

आखिरी तस्वीर

विजयजी

जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद—215106

“क्या.....? ? अभी प्रोफेसर वर्मा की आँख जीवित है.....उसमें हत्यारे का चित्र अब भी बना होगा.....उस चित्र को अब भी फोटोग्राफिक प्लेट पर उतारा जा सकता है.....यह तुम क्या कह रहे हो अजीत ? तुम्हारा दिमाग तो ठीक है ?”

“इंस्पेक्टर, मैं बिल्कुल ठीक कह रहा हूँ। तुम मुझे इजाजत देकर देखो न ! मैं केवल मृत प्रोफेसर वर्मा की आँख की रेटिना का चित्र ही तो लेना चाहता हूँ। आखिर इसमें किसी को क्या आपत्ति हो सकती है ?”

“मि० अजीत यह कोई मजाक का समय नहीं है। यदि तुम्हारे इस सनक की भनक कहीं अखबारों या उच्चाधिकारियों तक पहुँच गयी तो मेरी खैर नहीं होगी।”

“इंस्पेक्टर, मैं तुमसे मित्र की हैसियत से बात कर रहा हूँ। प्रोफेसर वर्मा की हत्या से मुझे भी सदमा पहुँचा है। मैं अपराधी का पता लगाने में तुम्हारी मदद करना चाहता हूँ।”

“तुम देख रहे हो न, चारों तरफ कुहराम मचा हुआ है। हजारों लोग जमा हैं, ऐसे में तुम फोटो कैसे लोगे ?”

“आप चाहें तो सब संभव हो जायेगा। अभी भी

प्रोफेसर वर्मा की लाश उसी कमरे में है जहाँ उनकी हत्या हुई है। जाँच-पड़ताल के बहाने थोड़ी देर के लिये कमरा बन्द किया जा सकता है।”

“बन्द कमरे में जाँच-पड़ताल पर शंका भी हो सकती है।”

“मैंने उसका भी उपाय सोच लिया है इंस्पेक्टर। प्रोफेसर वर्मा के पुत्र डॉ० अशोक मेरे मित्र हैं। वे मेरी इस फोटोग्राफी के समर्थक भी हैं। मैं उन्हें अपने साथ ले लूँगा।”

“ठीक है भई, खींचो फोटो, लेकिन जल्दी करना।”

“बस, विदिन फाइव मिनट, केवल पाँच मिनट।”

ठीक बारह घंटे बाद.....। इंस्पेक्टर पुलिस कार्यालय के अपने कक्ष में सहयोगियों के साथ बैठे हत्या की गुत्थी सुलझाने में व्यस्त थे। एकाएक चौकीदार के साथ फोटोग्राफर अजीत कार्यालय कक्ष के गेट पर प्रकट हुआ।

“हेलो अजीत ! भई क्या हुआ तुम्हारी रेटिनल फोटो को कुछ सफलता मिली ?”

“कुछ नहीं साहब, पूरी.....। यह रोबो, यह है प्रोफेसर वर्मा का हत्यारा।”

बाप रे ! कितनी बीभत्स चेहरे वाली तस्वीर थी। मोटे होंठ, पिचकी नाक, बिखरे बाल तथा हाथ में रामपुरी चाकू लिये यह व्यक्ति कितना क्रूर लग रहा था।

एकाएक इंस्पेक्टर अपनी मूर्विग चेयर से पीछे मुड़ा। आलमारी खोलकर उसने एक फाइल निकाला। यह वही फाइल थी जिसमें कुख्यात और पेशेवर अपराधियों के सचित्र विवरण थे। फाइल के पन्ने पलटता इंस्पेक्टर एक जगह रुका, फोटोग्राफर अजीत की फोटो को फाइल की फोटो से मिलाया। उसकी आँखों में चमक दीखने लगी। दोनों फोटो की साम्यता देखकर वह आश्चर्यचकित था। उसने ध्यान से अपराधी का विवरण पढ़ा। कुछ कागज पर नोट किया। एकाएक इंस्पेक्टर खड़ा हो गया। फाइल को आलमारी में रखा और कागज को जेब में रखते हुये अजीत की ओर हल्की मुस्कान फेंकी।

“मिस्टर अजीत ! आज तुमने अपराधशास्त्र को एक महान आविष्कार दिया है। इस सम्बन्ध में तुमसे बहुत बात करनी थी। लेकिन समय कम है, अपराधी को तुरन्त पकड़ना है। बहुत-बहुत धन्यवाद भाई। तुमने हमारे काम को बहुत आसान कर दिया है।”

दूसरे दिन अखबारों में एक ओर जहाँ प्रोफेसर वर्मा का चित्र छपा था वहीं दूसरी ओर फोटोग्राफर अजीत द्वारा ली गई ‘रेटिनल फोटो’ भी छपी थी। मोटे अक्षरों में साफ दीख रहा था—रेटिनल फोटो के आधार पर हत्यारा गिरफ्तार। एक ओर प्रोफेसर वर्मा के प्रति शोक-संवेदनाएँ व्यक्त की गयी थीं, तो दूसरी ओर फोटोग्राफर अजीत की नयी ‘रेटिनल फोटो’ तकनीक की प्रशंसा भी की गयी थी। कई लोगों ने

सरकार से अजीत को पुरस्कृत करने की माँग भी की थी। अखबारों में अजीत का एक संक्षिप्त इंटरव्यू भी प्रकाशित किया गया था।

प्रश्न—मि० अजीत ! आपकी रेटिनल फोटोग्राफी का क्या रहस्य है ?

अजीत—फोटोग्राफी नहीं इसे आप्टोग्राफी कहते हैं। आप जानते ही हैं कि मौत के बाद कई घंटे तक आँखों के आंतरिक अंग ठीक-ठाक रहते हैं। इसीलिये नेत्रदान करने वाले व्यक्तियों की आँखें मौत के बाद निकाली जाती हैं।

जब कोई चीज आँख के सामने आती है तो उसका चित्र आँख की रेटिना पर बनता है जिसकी सूचना तंत्रिकाओं द्वारा मस्तिष्क तक पहुँचती है और व्यक्ति वस्तु को पहचानता है। हत्या के मामले में हत्यारा वह अंतिम व्यक्ति या वस्तु होता है जिसकी तस्वीर मृत व्यक्ति के रेटिना पर बनती है। यह तस्वीर मृत्यु के बाद भी रेटिना पर ही बनी रहती है जिसे फोटोग्राफिक प्लेट पर उतारा जा सकता है।

प्रश्न—आपने आप्टोग्राफी कहाँ सीखी ?

अजीत—मैंने इसे कहीं सीखा नहीं। न ही इसे सिखाने के कहीं कोई विद्यालय हैं। विदेशों में इस क्षेत्र में कुछ काम हुए हैं। लेकिन इस अनुसंधान को अभी कहीं मान्यता प्राप्त नहीं है।

विदेशों में हुये काम को मैंने अच्छी तरह पढ़ा और कसाईघर में लाकर मारे जाने वाले जानवरों पर प्रयोग करता रहा। मारे जाने के तुरन्त पूर्व मैं जानवरों को कोई बड़ी चीज दिखाता तत्पश्चात् मरने के तुरन्त बाद उनकी आँखों का रेटिनल फोटो खींचता। मेरी सफलता का कुल मिलाकर यही राज है।□

यमुना दत्त वैष्णव ‘अशोक’ की रचनायें

विज्ञान कथा : वैज्ञानिक की पत्नी (1937 में पुरस्कृत)

कथा संग्रह : अस्थि पंजर, भेड़ और मनुष्य, अप्सरा का सम्मोहन, शैलगाथा, मेरी श्रेष्ठ वैज्ञानिक कहानियाँ।

उपन्यास : चक्षुदान, अन्न का आविष्कार, अपराधी वैज्ञानिक, राजुली माहसाही, हिम सुन्दरी, पर्वतारोही और पंगु, अंधेरी उजली राहें, दोपहर का अंधेरा, किराता का ईसा (प्रेस में)।

सुमन कुमार की रचनायें : पत्थर रो दिये, मिट्टी बोलती है, तपस्विनी।

कामिक्स की दुनिया

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

व्यक्तिचित्र (पोर्ट्रेट) से कैरिकेचर का जन्म हुआ, कैरिकेचर से कार्टून और कार्टून से कामिक्स बने। कामिक्स का जन्मदाता कौन है यह कहना कठिन है। यूरोप में पेंटर विलियम होगार्थ ने 1931 में जो चित्र बनाये उनमें कामिक स्ट्रिप्स के चिन्ह मिलते हैं। लेकिन कुछ लोगों का विचार है कि कामिक्स अमेरिका की देन है। 1895 में कार्टूनिस्ट आउट-काल्ट ने न्यूयार्क वर्ल्ड के लिए 'येलो किड' कामिक शुरू की। 1907 में बड फिशर ने 'मट्ट' सिरीज को जन्म दिया। 1929 में स्वीडन के एडगर राइस बोरो ने एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना की जो अफ्रीका के घने जंगलों और खूंखार जानवरों के बीच रहता है। यहीं से टार्जन की शुरुआत हुई। इसी लोक पर चल कर लीफाक ने नकाबपोश फैंटम का निर्माण किया। आज इस फैंटम को 140 देशों के 15 करोड़ लोग पढ़ते हैं।

1901 में कार्टूनिस्ट चिकयांग ने एक पारिवारिक कामिक स्ट्रिप "ब्लॉडी" चालू की। यह सिरीज आज विश्व के 200 से अधिक पत्रों में छपती है जिसे 55 देशों की 15 भाषाओं के 20 करोड़ लोग पढ़ते हैं।

बाद में जो टाइटिल्स मशहूर हुए वे थे — सुपर-मैन, बैटमैन, जाडूगर मैड्रेक। इनमें से टार्जन तथा सुपरमैन की फिल्में भी बन चुकी हैं।

नया मोड़

अब तक जितने कामिक्स छपते थे उनके पात्र मनुष्य थे, किन्तु 1928 में वाल्ट डिज़्ने ने पहली

बार जानवरों को लेकर कामिक्स बनाये। उसने एक नन्हें चूहे की कल्पना की जो आदमियों की तरह बोलता था, गाता था। यह चूहा विश्व भर में मिर्की माउस के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बाद में एक बत्ख को लेकर डोनल्ड डक तथा पिल्ले को लेकर स्कैप सिरीज बनाई।

स्वाभाविक था कि कामिक्स के प्रचलन के साथ ही हर अखबार मशहूर टाइटिल्स के लिये छीनाझपटी तथा दौड़धूप करने लगा। फलस्वरूप 1913 में 'किंगफीचर्स सिंडीकेट' की स्थापना की। द्वितीय महा-युद्ध के दौरान सैनिकों के लिए बार कामिक्स पुस्तक रूप में प्रचलित हुए। भारत में कामिक्स का उदय स्वतन्त्रता के बाद हुआ। भारतीय कार्टूनिस्टों ने स्थानीय पात्रों को चुना। अमृत बाजार पत्रिका में कार्टूनिस्ट पिसेल द्वारा खुरो, हिन्दुस्तान टाइम्स में अहमद के चंद्र चौकीदार, और नवभारत टाइम्स के पोपट ने कई वर्षों तक पाठकों का मनोरंजन किया। पिछले 15 वर्षों में तो कामिक्स की पुस्तकों से बाजार पट गया। भारतीय पात्र अब विदेशों तक में पसन्द किये जाने लगे हैं। अमर चित्र कथा सिरीज ने जहाँ धार्मिक सन्तों, ऐतिहासिक पात्रों और राष्ट्रीय नेताओं पर कामिक्स बनाये वहीं डायमण्ड कामिक्स ने पहली बार हास्य पात्रों की सिरीज को पुस्तकबद्ध किया। इस तरह कामिक स्ट्रिप्स के कई प्रकार हुए—अखबारों में क्रमशः छपने से लेकर पुस्तकबद्ध कामिक्स के रूप में। आजकल सबसे लोक-प्रिय कामिक्स हीरो अर्ची है।

आजकल अँग्रेजी में कामिक्स हर उस बाल

साहित्य को कहा जा सकता है जो सचित्र हो, रंगीन हो और पाठ्य पुस्तक से हटकर हो। आज बच्चों का कामिक्स अध्ययन 'स्टेटस सिबल' बन चुका है। बच्चा स्मार्ट क्यों है—क्योंकि वह कामिक्स पढ़ता है।

कामिक्स अखबारों का प्रसार बढ़ाने में सहायक हुए हैं। समाज में जो रोल फिल्मों का है वही अखबारों में कार्टून स्ट्रिप्स का है। स्ट्रिप्स को दैनिक पत्रों का सेपटी वाल्व कहा जाता है। मारधाड़, बलात्कार, दुर्घटनाएँ पढ़ते-पढ़ते दिमागी तनाव बढ़ता है। इसे कम करने में कामिक्स स्ट्रिप्स बड़े सहायक हैं। इसीलिए आज विश्व भर में अखबारों में ये अनिवार्य जरूरत बन गये हैं। अब तो श्री डी कामिक्स भी बन चुके हैं।

कामिक्स के पात्र अधिकतर सोलह वर्ष तक के बच्चे हैं या फिर प्रौढ़ और बूढ़े लोग। अन्य देशों में हमारी पौराणिक कथाएँ खूब चलती हैं। कुछेक कामिक्स लेखकों में अनन्त पै (पै चाचा), प्रताप मुलीक, राम वाईरकर, शोरेन राय, प्रभाशंकर कवड़ी आदि प्रमुख हैं। विदेशों में कामिक्स लेखन और सम्पादन के लिए बहुत सुविधाएँ हैं। हमारे यहाँ अभी कामिक्स विधा उतनी विकसित नहीं हो पाई।

कुछ लोग कामिक्स को लाभप्रद मानते हैं। जो स्वाद मिठाई और आइसक्रीम का है वही उन्हें कामिक्स का लगता है। लेकिन कामिक्स पर आरोप भी कम नहीं हैं। ये बच्चों के चरित्र को बिगाड़ते हैं, इनकी भाषा और व्याकरण अशुद्ध रहती है। कामिक्स चाहे कोई हों, मानसिक धरातल पर उनका असर

अनिवार्यतः बुरा ही पड़ता है क्योंकि बच्चे इन्हें पढ़कर उन्हीं जैसा बनना चाहते हैं। हर कोई फैटम बनना चाहता है।

कामिक्स पढ़ने की आदत सिगरेट पीने की आदत की तरह धीरे-धीरे शुरू होकर लत बन जाती है। दिल्ली, मेरठ, गाजियाबाद से छपने वाले सस्ते कामिक्स तो गन्दी-गन्दी गालियों से भरे होते हैं जिससे बच्चे इन्हीं गालियों का प्रयोग करने लगते हैं। कामिक्स का व्यसन हशीश या मारिजुआना से कम घातक नहीं होता। बच्चे तो बच्चे, कॉलेज जाने वाले लड़के तथा लड़कियाँ उन्हें लेकर पड़े रहते हैं। भूखे रह कर भी वे कामिक्स पढ़ते रहते हैं। कक्षा में, खाने की मेज पर कामिक्स लेकर बैठना हमारी संस्कृति का अंग बनता जा रहा है। वे बच्चों के मन में जादू, अंधविश्वास के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करके श्रम, आस्था तथा आत्मविश्वास को भगाते हैं।

इन्हीं दोषों के कारण कुछ वर्ष पहले अमेरिका में कामिक्स कोड अथॉरिटी स्थापित की गई। इसके सदस्य प्रचारकों ने 41 नियम बनाये हैं जिनमें से कुछ हैं—कामिक्स में स्त्री को पूर्णतः नग्न नहीं दिखाया जायगा, चोरी, डकैती के तरीकों को नहीं दर्शाया जावेगा आदि आदि।

विज्ञान कथा लेखन की विधा के रूप में कामिक्स को अभी उभर कर आना शेष है। कुछ लोगों का कहना है कि यह सशक्त माध्यम होगा विज्ञान को निरक्षरों तथा बालकों तक ले जाने का। पर यह तो भविष्य ही बतावेगा। □

द मार्शियन वे

आइज़क ऐसिमोव

“द मार्शियन वे,” लेखक : ऐसिमोव; प्रकाशक : ग्रेनाडा पब्लिशिंग लिमिटेड; मूल्य : 1.50)

“द मार्शियन वे” प्रसिद्ध अमेरिकी विज्ञान कथा लेखक आइज़क ऐसिमोव द्वारा लिखित चार रोचक विज्ञान कथाओं का संग्रह है। ये चार कथाएँ हैं :

“द मार्शियन वे,” “यूथ” “द डीप”, तथा “संकर बेट”। इन सभी कथाओं में ऐसिमोव की सशक्त लेखनी के दर्शन होते हैं। इसमें लेखक की मात्र

कल्पना ही नहीं, अपितु साथ-साथ वैज्ञानिक आँकड़ों का भी प्रयोग अत्यन्त रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। ऐसा संभव है कि आने वाली शताब्दियों में ऐसिमोव की कल्पनाएँ वास्तव में साकार रूप ग्रहण करें क्योंकि उन्होंने जो लिखा है वह गप्प नहीं है। प्रत्येक कथा में किसी न किसी प्रकारसे पृथ्वी पर भविष्य में उठ खड़ी होने वाली समस्या को उठाया गया है। इसमें से पहली कथा, “द माशियन वे” मुझे सर्वाधिक रुचिकर लगी। प्रस्तुत है “विज्ञान” के पाठकों के लिए इस कथा का सारांश —

“द माशियन वे” मंगल ग्रह के निवासियों पर आधारित कथा है। इनका मंगल ग्रह पर अपना अलग ही साम्राज्य है। कहने को तो हैं ये मंगलवासी परन्तु इनके पूर्वज पृथ्वी के ही वासी थे।

मंगलवासियों का अपना एक विशेष दल है जिन्हें “स्कैवेन्जर्स” (scavengers) कहते हैं। इस दल के सदस्य सदैव आकाश में विचरण करते रहते हैं— मुख्यतः मंगल व पृथ्वी के बीच। कथा में चार व्यक्तियों को मुख्य रूप से प्रदर्शित किया गया है। टेड लांग, मारियो रायोज, रिचर्ड स्वेनसन, तथा कैन्वूट स्वेनसन। पृथ्वी पर हिल्डर नामक व्यक्ति अपना साम्राज्य बनाने की सोच रहा है और कुछ वैज्ञानिक कार्यक्रम टेलीविजन पर प्रस्तुत करता है जिन्हें “स्कैवेन्जर दल” का लांग सुन व देख सकने में समर्थ होता है। इस कार्यक्रम में राकेट तथा उसकी कार्यप्रणाली पर विशेष जानकारी दी जाती है। इन राकेटों में अनेक टंकियाँ प्रयोग में लायी जाती हैं, जिनमें राकेट को चालित करने वाला ईंधन भरा रहता है। जैसे-जैसे राकेट अपने ईंधन का प्रयोग करता जाता है, वह इन टंकियों को आकाश में फेंकता जाता है। ये खाली टंकियाँ भी अत्यन्त मूल्यवान हैं क्योंकि इनमें लाखों टन टंगस्टन, मैग्नीशियम, एल्युमिनियम, तथा स्टील लगा रहता है। पृथ्वी-वासियों के लिए ये भले ही साधारण एवं व्यर्थ लगे, परन्तु मंगल पर, जहाँ इन तत्वों की कमी है, इस तरह लाखों टन मूल्यवान धातुओं का ऐसा फेंका

जाना सोचा भी नहीं जा सकता। इस लिए “स्कैवेन्जर्स” पृथ्वी के राकेटों द्वारा फेंकी गई टंकियों को एक विशेष चुंबकीय विधि द्वारा अपने अधिकार में कर लेते हैं तथा उन्हें एक स्थान पर एकत्रित करते जाते हैं। उन्होंने पृथ्वीवासियों से प्रतिज्ञा भी की है कि वे भविष्य में ‘कभी’, जब मंगल आत्मनिर्भर हो जाएगा, इन टंकियों को लौटा देंगे। मंगल पर जाने वाली पानी व खाने की रसद भी पृथ्वी से ही नियंत्रित होती है।

लेखक की एक रोचक कल्पना है, भविष्य में राकेटों द्वारा जल का ईंधन के रूप में प्रयोग। चूँकि पृथ्वी गर ईंधन के सारे भण्डार समाप्त हो रहे हैं इसलिए एक विशेष उपकरण “प्रोटान माइक्रोपाइल” द्वारा, जल को उबाल कर अत्युच्च दाब की गैस में बदला जाता है तथा यह आमतौर से उपयोग में लाए जाने वाले गैसीय ईंधन का काम देती है। फलस्वरूप जल का मूल्य पृथ्वीवासियों को भी समझ में आने लगा है और वे मंगल पर जाने वाली पानी की रसद में कटौती कर देते हैं। इसका एक और भी कारण है— पृथ्वीवासियों ने मंगल पर दो सौ विलियन डॉलर खर्च किए हैं जिसके बदले में मात्र पाँच विलियन डॉलर मूल्य का लोहा मंगलवासियों ने उन्हें दिया है। जल का मूल्य पचास हजार मंगलवासियों के लिए भी कम नहीं है—इसमें कटौती होना उनके लिए गंभीर सिद्ध होता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने साथ पानी की अलग बोतलें रखता है, घरों में भी “सेकोटर्ग” जैसे वर्तन साफ करने के पाउडर उपयोग में लाए जाते हैं जिनसे बिना पानी के ही वर्तन चमक उठते हैं...। इससे उस समय की झलक मिल सकती है जब वास्तव में पानी का संकट उत्पन्न होता है। परन्तु हम यह भी देखते हैं कि मंगलवासी पृथ्वी पर आश्रित होते हुए भी स्वयं दूसरे उपाय निकाल सकने में समर्थ हैं। इस कटौती से ‘स्कैवेन्जर्स’ की यात्राओं में भी बाधा पड़ती है और वे जल के अन्य स्रोतों का पता लगाने पर बाध्य हो जाते हैं। टेड लांग का अपना सुझाव है कि बृहस्पति तथा शनि ग्रहों पर जल

के विशाल स्रोतों—हिमखंडों के होने की संभावना है तथा उनको उपयोग में लाया जा सकता है परन्तु इसमें भी दो कठिनाइयाँ सामने आती हैं : (i) शनि ग्रह की मंगल से दूरी (ii) शनि ग्रह से उन हिमखंडों को निकालना ।

जल की समस्या को लेकर मंगल ग्रह पर एक बैठक होती है जिसका कश्मिनर है सैनकोव । वह इस बात की चर्चा करता है कि चूँकि पृथ्वी पर चार सौ मिलियन घन मील जल सागरों में भरा पड़ा है, इसलिए यदि मान लिया जाए कि प्रत्येक वर्ष में पाँच हजार उड़ानें होती हैं और प्रत्येक उड़ान में लगभग एक लाख टन जल प्रयुक्त होता है, तो हर वर्ष एक घन मील का उपयोग होता है । अर्थात् एक मिलियन वर्षों में पृथ्वी के एक प्रतिशत जल का मात्र $1/4$ भाग ही उन उड़ानों में खर्च होगा । दूसरे शब्दों में पृथ्वी द्वारा मंगल को जल की कटौती उचित नहीं । तभी इस बैठक में लांग अपना सुझाव सामने रखता है और सैनकोव को यह बात पसन्द आ जाती है ।

शेष कथा में समस्त कथा का अत्यन्त रोचक विवरण है—किस प्रकार वे एक वर्ष में शानि ग्रह

तक पहुँचते हैं, वहाँ किस प्रकाश की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है और वे किस प्रकार सफल होते हैं । लांग के सुझाव के अनुसार ही, हिमखंडों को विमानों में न लादकर, उनको विमान “बनाकर” लाया जाता है । दो मील लंबे और एक मील ऊँचे विशाल हिमखंड में वे विमान उड़ाने वाले जेटों को बाँधकर मंगल की सतह पर यथारूप लाकर खड़ा कर देते हैं । यहाँ पर भी लेखक की कल्पना प्रशंसनीय है । इतना विशाल हिमखंड मंगल ग्रह की आवश्यकता की दो सौ वर्षों तक पूर्ति करने में सक्षम है । इस प्रकार “स्कैवेन्जर्स” अपने अद्वितीय अभियान में सफल होते हैं तथा मंगल ग्रह भविष्य में पृथ्वी पर पानी के लिए निर्भर नहीं रहता ।

पुस्तक अत्यन्त रोचक व पठनीय है तथा भारतीय विज्ञान कथा लेखकों के लिए आदर्श प्रस्तुत करती है कि वे भी विज्ञान कथाओं को ऐसिमोव की भाँति रुचिकर बनाकर लिखें । □

—आशुतोष मिश्र

25, अशोकनगर, इलाहाबाद

‘सारिका’ का विज्ञान कथा अंक

अनिल राजनारायण

17 म्योर कॉलेज कॉलोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

वर्तमान वैज्ञानिक अंतरिक्ष युग में, मानवीय व्यवहार का प्रायः प्रत्येक पक्ष किसी न किसी वैज्ञानिक अनुसंधान से अवश्य प्रभावित होता है । यही कारण है कि वैज्ञानिक तथ्यों और संभावनाओं की जानकारी होना, समाज के प्रत्येक वर्ग की अनिवार्य आवश्यकता हो गई है । लेकिन ये वैज्ञानिक तथ्य जो अपने मूल रूप में नीरस हुआ करते हैं, आम जनता में अपने प्रति रुचि नहीं जगा पाते, अतः इन वैज्ञानिक तथ्यों और संभावनाओं को सुरुचिपूर्ण ढंग से आम जनता तक पहुँचाने के लिये सर्वश्री एच० जी० वेल्स,

जुले वर्न, प्रो० बेलियेव, आइज़क ऐसिमोव, जयंत विष्णु नारलीकर, कैलाशसाह आदि विद्वानों ने विज्ञान कथाओं को माध्यम बनाया । पश्चिमी देशों में विज्ञान कथाओं ने, वैज्ञानिक चेतना जगाने में बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है, लेकिन भारत में, विशेषकर हिंदी के विज्ञानकथाकारों के नाम तो उँगलियों पर ही गिने जा सकते हैं ।

सर्वप्रथम इस दिशा में प्रयास बच्चों की पत्रिका ‘पराग’ ने दिसम्बर 1975 में ‘विज्ञान कथा अंक’ निकालकर किया था, और उससे भी पहले ‘बाल-

भारती' ने जनवरी 1975 के अंक में सुधा मस्करा का विज्ञान उपन्यास 'यंत्रमानव' प्रकाशित किया था। 'पराग' ने पुनः पिछले वर्ष (दिसम्बर 84) विज्ञान कथा विशेषांक निकाला और इसी क्रम में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित मासिक 'विज्ञान' का विज्ञान कथा विशेषांक [नवम्बर 84-जनवरी 85] भी है। लेकिन अभी तक किसी स्तरीय हिन्दी पत्रिका ने विज्ञान कथाओं के लेखन को अपेक्षित प्रोत्साहन नहीं दिया था। यद्यपि 'धर्मयुग', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' व 'कदम्बिनी' आदि में कभी कभार, विज्ञान कथायें पढ़ने को अवश्य मिल जाती थीं, फिर भी, इस कमी की वास्तविक पूर्ति तब हुई जब कि टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रकाशन समूह की कथा पाक्षिक 'सारिका' ने अपने लाखों पाठकों को अपने रजत जयंती वर्ष की सत्रहवीं सौगात 'विज्ञान कथा अंक' [सितम्बर प्रथम पक्ष] के रूप पेश की।

और अब पेश है, 'सारिका' के इस अंक की कुछ विशिष्ट विज्ञान कथाओं का आकलन—

कैरेल चेपेक की चेक विज्ञानकथा 'रोसुम के यंत्र मानव', आज से लगभग चालीस साल पहले, उस समय लिखी गई थी जबकि पृथ्वी पर यंत्रमानवों (रोबोटों) का कोई अस्तित्व नहीं था, लेकिन आज के संदर्भ में, जबकि रोबोटों ने कारखानों व होटलों में प्रवेश पालिया है, उनकी यह विज्ञान कथा, कोरी कल्पना नहीं लगती। उनकी विज्ञान कथा का नायक यानी रोबोट इंजीनियर 'रोसुम' यंत्रमानवों में पीड़ा की नसें विकसित करता है ताकि उत्पादनप्रक्रिया में असावधानी के फलस्वरूप होने वाले नुकसान से, वे यंत्रमानव स्वयं को बचा सकें। और फिर आवश्यकता-नुसार उनमें घृणा और प्रेम की भावनायें भरता है एवं अंततः 'रोसुम' अपने यंत्रमानवों को युद्ध का प्रशिक्षण भी देता है, ताकि (रोबोटों के उपयोग से) बेरोजगार युवक समूहों के आक्रमण से वे अपनी और कारखाने की रक्षा कर सकें। लेकिन 'घृणा' व 'प्रेम' की भावनाओं से युक्त ये रोबोट न केवल बेरोजगार युवकों से छुटकारा पा लेते हैं बल्कि कुछ समय बाद

'रोसुम' के ये यंत्रमानव, मानवों की 'गुलामी' से छुटकारा पाने के लिए विद्रोह कर बैठते हैं! इस भयावह 'भविष्य' की ओर पाठकों का ध्यान सफलतापूर्वक आकृष्ट करने के साथ ही साथ, कैरेल चेपेक ने एक और महत्वपूर्ण सवाल उठाया है—कि यदि हम अपनी छोटी बड़ी सारी गणनायें कम्प्यूटर व कैलकुलेटर से करें और सारे शारीरिक कार्य यंत्रमानवों से, तो क्या हमारा मस्तिष्क, हमारे हाथ-पाँव व हमारी प्रजननशक्ति इसी तरह बरकरार रहेगी?

'रोसुम के यंत्रमानव' की ही तरह, अमेरिकी विज्ञान कथाकार आइज़क एसिमोव की कहानी 'सबूत' तथा रे ब्रेडवरी की विज्ञान कथा 'बदला हुआ प्रेमी' भी मानवसम यंत्रमानवों की संभावना पर आधारित हैं। 'सबूत' का नायक, एक ऐसा यंत्रमानव है जो अपने शहर के निवासियों से कतई अलग नहीं लगता और अपनी लोकप्रियता के बलपर नगर निगम के चुनाव में भी विजयी होता है और जब उसके विरोधी उसे यंत्रमानव बताते हैं तो वह नागरिकों की सभा आयोजित करता है और उस समूह में एक अन्य 'मानव-सम यंत्र मानव' को भेज देता है। जब वह जन समूह से अपनी परीक्षा के लिये कहता है तो दूसरा 'मानवसम' यंत्रमानव समूह में से निकलकर, कहता है कि, यदि वह 'यंत्रमानव' नहीं है तो उस पर प्रहार करे [क्योंकि नियमत कोई यंत्रमानव कभी मानव पर प्रहार नहीं कर सकता] और वह, उस व्यक्ति [जो कि वास्तव में यंत्रमानव ही था] पर प्रहार करके, अपने को 'मानव' सिद्ध कर देता है।

दूसरी विज्ञानकथा 'बदला हुआ प्रेमी' का नायक, एक ऐसा 'प्रेमी' है, जिसकी कई प्रेमिकायें हैं। अतः वह अपनी हर प्रेमिका से मिलने में होने वाली कठिनाई को ध्यान में रखकर अपनी कई 'प्रतियाँ' बनवा-लेता है (जो कि 99 प्रतिशत तक मूल व्यक्ति की तरह हैं)। कुछ समय बाद जब एक प्रेमिका को संदेह होता है और वह उसे गोली मार देती है, तो भी वह मूल प्रेमी की ही तरह व्यवहार करता है किन्तु अंत में

बता देता है कि इस समय उसका वास्तविक प्रेमी अपने घर में बैठा किताब पढ़ रहा है।

यद्यपि उपर्युक्त तीनों विज्ञान कथाओं में कल्पित यंत्रमानवों के 'मानवसम' होने या उनमें 'प्रेम' व 'पीड़ा' आदि की भावनाओं का समावेश भले ही असंभव लगे, लेकिन आज के मानव का जिसका कि धीरे-धीरे मशीनीकरण होता जा रहा है कुछ वर्ष बाद कहीं स्वयं ही, इन कथाकारों की कल्पना का 'यंत्रमानव' तो नहीं हो जायेगा ?

आर्थर कानन डायल की ब्रितानी विज्ञानकथा 'एक मशीन एक वैज्ञानिक' एक ऐसे मशीन की कल्पना करती है, जो किसी भी सजीव या निर्जीव वस्तु को, अणुओं में बदलकर, वायुमंडल में लुप्त कर सकती है और फिर चाहे जिस रूप में, यहाँ तक कि वास्तविक रूप में भी वापस ला सकती है ! इस 'खोज' की सत्यता परखने के लिये, महान वैज्ञानिक प्रो० चैलेंजर एक अन्य व्यक्ति के साथ मशीन के निर्माता थ्यूडोर नाइमर के पास जाते हैं और वहाँ पर नाइमर ने पहले, प्रो० चैलेंजर के साथी को लुप्तकर वापस किया और फिर प्रो० चैलेंजर पर उसने प्रयोग किये। जब प्रो० चैलेंजर ने मशीन की सत्यता को परख लिया तो फिर उन्होंने वही किया जो कभी भगवान विष्णु ने भस्मासुर के साथ किया था यानी प्रो० चैलेंजर ने थ्यूडोर महोदय को बातों में फँसाकर मशीन की कुर्सी पर बैठने को राजीकर लिया और मशीन का लीवर दबाकर थ्यूडोर महोदय को ही अणुओं में बदल दिया और तब मशीन सहित वह पूरा मकान भी जला दिया और अपने स्तब्ध खड़े साथी से प्रो० चैलेंजर ने कहा, "जो कुछ किया ठीक किया यदि वह व्यक्ति जिंदा रह जाता तो संसार में प्रलय आ जाती। इसे यमलोक तक पहुँचाना एक नेक काम है।"

इसी क्रम में, इलिया वर्षावस्की की रूसी विज्ञान कथा 'दंगल' उस विकसित काल खंड की कहानी है जब कि कक्षाओं में अध्यापन का कार्य, मनुष्य नहीं बल्कि मशीनें किया करती हैं। निश्चय ही, मशीनों द्वारा पढ़ाये गये विद्यार्थी उन मशीनों

की ही तरह 'सर्वज्ञ' हुआ करते हैं ! पर उस विद्यालय के दस हजार छात्रों में एक ऐसा छात्र 'मुखारिंस्की' भी निकला, जिसे पढ़ाने के एक नहीं, दो नहीं, तीन अध्यापक मशीनों ने इंकार कर दिया और तब विद्यालय के डीन ने उसे अपने कार्यालय में बुलाकर बताया कि अब उसे सर्वश्रेष्ठ अध्यापक मशीन 'यूनी-वर्सल इन्स्ट्रक्टर विद फीडबैक' के जिम्मे किया जा रहा है। इस अध्यापक मशीन का परिचयपथ और छात्र का दिमाग, अध्यापन प्रक्रिया के दौरान अंगी-भूत हो जाते हैं, फलतः विद्यार्थी द्वारा विषय-वस्तु की ग्राह्यता के अनुसार मशीन की गति भी बदलती रहती है। लेकिन...कम्प्यूटर ने तीन सौ बयालीसवीं बार मुखारिंस्की की बारीकी से जाँच की और प्रमेय का सोलहवाँ पाठांतर पेश किया, पर मुखारिंस्की का दिमाग कभी फुटबाल के मैदान में खेल देखता रहता था अथवा लाल बालों वाली अपनी सुन्दर सहपाठिनी की सम्मोहक मुद्रा का ध्यान किया करता था।और...चौदहवें दिन मुखारिंस्की एक बार फिर डीन के कार्यालय में खड़ा था। डीन ने कहा, "मुखारिंस्की हो मेरे बच्चे, तुमने अभूतपूर्व योग्यता प्रदर्शित की है !...मशीन का तुम्हारे साथ दो सप्ताह का संसर्ग अनुर्वर नहीं रहा। यह एक साधारण पढ़ाने वाली मशीन नहीं रही ... 'स्त्री-प्रेमी पुरुष' हो गई है, फुटबाल की अंध भक्त हो गई है... (और)...यह अत्यधिक आलसी हो गई है।" सहृदय पाठको ! क्षमा कीजियेगा बेचारे तुलसीदास को जो 'मूरख हृदय न चेत जी गुरु मिलहिं बिरंचि सम' लिखते समय यह नहीं सोच पाये कि 'ब्रह्मा' [यानी अध्यापक मशीन] भले ही 'मूरख' मुखारिंस्की को 'चेतना' न प्रदान कर सके, पर 'मूरख' मुखारिंस्की जरूर उस 'ब्रह्मा, [अध्यापक मशीन] को 'चेतन' बना सकता है !

आजकल तो 'समय' को प्रायः निर्विवाद तौर पर चौथा आयाम मान लिया गया है, पर जिस समय एच० जी० वेल्स ने यह विज्ञानकथा 'टाइम मशीन' [कालयंत्र] लिखी, उस समय के संदर्भ में 'समय'

को चौथे आयाम के रूप में कल्पित करना भी एक 'कल्पना' ही लगती है ! वेल्स महोदय की इस विज्ञान कथा का वह कालयात्री, अपने दोस्तों को आठ लाख दो हजार सात सौ एक ई० की बात बताता है। आठ लाख वर्षों बाद के विश्व की यात्रा में, कालयात्री ने जो कुछ देखा, उसके माध्यम से, कथाकार संभवतः यह बतलाना चाहता है कि, जरूरी नहीं कि आने वाले दिनों में, हम आज की तुलना में, सामाजिक व बौद्धिक दृष्टि से उन्नत ही हों ! क्यों कि मानव जीवन में सुविधायें हासिल करने के साथ-साथ संघर्ष की प्रवृत्ति कम होगी और तब निश्चय ही संघर्षहीन सुविधाभोगी युग में पहुँचे हुये, उस कालयात्री ने महसूस किया कि अपने प्राकृतिक शत्रुओं का नाश करने के बाद, मानव को बिना संघर्ष किये, प्रकृति से बहुत कुछ आसानी से मिलने लगा होगा, तथापि उस काल का मानव पूर्णतः प्रकृतिजीवी शायद इस लिये नहीं बन पाया क्योंकि प्रकृतिजीवी होने के लिये भी शायद संघर्ष करना पड़ता ! और संभवतः इसीलिये वहाँ का मानव, दो वर्गों में बँट गया—पहला वर्ग था, सुन्दर, सुकोमल और निश्चित सुविधाभोगियों का, जो रात के अँधेरे से डरते थे और पानी में डूबते हुये अपने साथी को बचाने का प्रयास तक नहीं करते थे ! तथा दूसरा वर्ग था, पृथ्वी के नीचे अँधेरे में रहने वाले, अभावग्रस्त व असंतुष्ट मेहनतकशों का, जो 'उजाले' से डरते थे और रात के अँधेरे में निकलकर, सम्पन्न वर्ग के लोगों का 'शकार' करते थे !! इस कथा को पढ़कर लगता है कि वर्षों पहले जब किसी ने कहा था कि चौथा विश्व युद्ध ईंट-पत्थरों से लड़ा जायेगा, तो और बातों के अलावा उसके दिमाग में, हरबर्ट जार्ज वेल्स की यह विज्ञानकथा 'कालयंत्र' भी रही होगी !

वेल्स महोदय की इस विज्ञान कथा के साथ ही कालयंत्र पर ही टी. के. ब्राउन की एक लघु विज्ञान कथा भी, छपी है, जो कालयंत्र की कल्पना करने वालों के लिये एक चेतावनी सी है। "भविष्य में कूद जाना संभव है, यह तार्किक दृष्टि से सही हो, लेकिन

इसी अंदाज में अतीत की ओर वापस जाना अत्यंत कठिन कार्य है क्यों कि जब व्यक्ति प्राचीन काल में वापस जा रहा होता है, तो उसकी मानसिक अवस्था भी संभव है, बदल रही हो ! और जब टी. के. ब्राउन का कालयात्री फ्रांसिस बेकन से मिलकर, 44 ई० पू० की रोमन विधान सभा में प्रकट होता है और फिर जीवन का उद्भव देखने के लिये पाँच लाख वर्ष पहले के अफ्रीका में पहुँचता है तो उसकी दायीं जेब में एक डिबिया थी, लेकिन वह नहीं जानता था कि टाइम मशीन क्या होती है और उस डिबिया का प्रयोग कैसे किया जाता है !

इन विदेशी विज्ञान कथाओं के बाद, आइये चलें देशी विज्ञान-कथाकारों के कथा-लोक में 'सारिका' के साथ ।

प्रिय पाठकों ! पृथ्वी पर निरन्तर हो रही जन-संख्या वृद्धि ने न केवल सारे जन समुदाय के लिये रोटी, कपड़ा, स्वास्थ्य, शिक्षा और मकान की समुचित व्यवस्था को असंभव बना दिया है, बल्कि जनसंख्या दबाव ने प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग बढ़ाकर प्रकृति के संतुलन को डगमगाने का 'पाप' भी किया है । अरुण साधू की मराठी कहानी 'विस्फोट' के नायक डॉ० मुंजे, इस जनसंख्या विस्फोट के दुष्परिणामों को ध्यान में रखते हुये, ऐसी तरंगों का निर्माण करते हैं जिनके द्वारा वे पृथ्वी की आधी जनसंख्या (जो बूढ़ी और अनुपयोगी है) को समाप्त कर सकते हैं ! लेकिन, यदि ऐसी खोज करने में डॉ० मुंजे जैसा कोई वैज्ञानिक सफल हो जाय तो.....? क्या हम आप ऐसा करने का समर्थन करेंगे ? शायद नहीं.....और यही कारण है कि डॉ० मुंजे की नव विवाहिता पत्नी वसुंधरा को जब इसकी जानकारी होती है, तो वह चीख उठती है..... "नो मैं, ऐसा नहीं होने दूँगी, मैं तुम्हें राक्षस बने नहीं देख सकती" और वसुंधरा प्रयोग के बोर्ड पर लगे एक बड़े से स्वरित पर झपट पड़ती है और 'धड़ाक धड़मस' की आवाज के साथ पूरी प्रयोगशाला राख हो जाती

है और विश्व में सब कुछ यथावत चलता रहता है।

जहाँ अरुण साधू की उपर्युक्त विज्ञान कथा में एक 'मादा' वसुंधरा ने पृथ्वी को विनाश से बचाया तो वहीं कैलाश साह की हिन्दी विज्ञान कथा 'मृत्युंजयी' हमें पृथ्वी के प्रतिनिधि मंडल के साथ, एक ऐसे ग्रह 'क्वासर सिनोरिमा' तक ले जाती है, जहाँ कभी विशेष प्रकार के 'वायरस' यानी विषाणुओं ने चुन-चुनकर सभी 'मादाओं' का ही खात्मा कर दिया। तब.....वहाँ के वैज्ञानिकों ने पुरुष को ही गर्भ-धारण के योग्य बनाना चाहा पर सफलता नहीं मिली तथा जब परखनली शिशुओं की आयु भी बहुत कम साबित हुई तो उन्होंने बचे-खुचे पुरुषों को अमर बनाने का प्रयास शुरू कर दिया। वे लोग मानव को सशरीर अमर तो नहीं बना पाये, पर हाँ, उन्होंने एक ऐसा द्रव तैयार कर लिया, जिसमें उस समय तक बचे 3,000 मानवों का मस्तिष्क चिरकाल तक सुरक्षित रह सके। जब पृथ्वी का प्रतिनिधि मंडल वहाँ की विज्ञान परिषद् के अध्यक्ष के कमरे में पहुँचा तो.....वे सभी ग्लोब के आकार वाले पारदर्शी बर्तन

में मस्तिष्क के रूप में तैर रहे थे। विज्ञान परिषद् के अध्यक्ष महोदय ने, प्रतिनिधि मंडल को अपने ग्रह के इतिहास और वैज्ञानिक विकास से परिचित कराया और उनके लिए पूरे ग्रह की यात्रा की व्यवस्था करा दी। और अंत में जब प्रतिनिधि मंडल, एक महीने बाद लौटने लगा तो, मित्रता की भावना को मजबूत करने के लिये पृथ्वीवासियों के लिये, अपने वैज्ञानिक फार्मूलों व आटोमेशनों की माइक्रोफिल्म भी भेंट की। पर.....धरती की ओर लौटते हुये पृथ्वी के प्रतिनिधि मंडल के नेता, कमांडर सुबल ने डायरी में लिखा, "क्वासर जैसे अमर प्राणियों से, हम नश्वर धरतीवासी बहुत सुखी हैं। हमें जीवन से प्यार है, पर अपंगता से नहीं।"

जी हाँ हम सब लोगों को जीवन से प्यार है, और इसीलिए हम सब चाहते हैं कि न केवल 'सारिका' में बल्कि अन्य स्तरीय हिन्दी पत्रिकाओं में भी 'विज्ञान कथा विशेषांक' की यह परम्परा जारी रहे, ताकि कहीं, हम पृथ्वीवासी भी 'क्वासर' की गलती को दुहरा न दें। □

हिन्दी का विज्ञान कथा साहित्य

अनिल कुमार शुक्ल

हिन्दी के 'अति समिति' विज्ञान कथा साहित्य से 'विज्ञान' के प्रबुद्ध पाठकों को परिचित कराने के उद्देश्य से, इस पत्रिका के विज्ञान कथा विशेषांक [नवम्बर 84-जनवरी 85] में, विज्ञान कथाओं की एक सूची दी गई थी। परन्तु समय एवं सूचना के अभाव के परिणामस्वरूप इस सूची में हिन्दी का सम्पूर्ण विज्ञान कथा साहित्य—मौलिक व अनूदित—शामिल नहीं किया जा सका था। पत्रिका के उस विशेषांक के बाद, कुछ अन्य पत्रिकाओं के 'विज्ञान कथा अंक' निकले हैं तथा पहले प्रकाशित, हिन्दी की कुछ अन्य विज्ञान कथाओं की जानकारी भी मिली

है। अतः इन सब विज्ञान कथाओं की सूची 'विज्ञान' के इस अंक में दी जा रही है। साथ ही, विज्ञान-प्रेमी सुधी पाठकों से निवेदन है कि यदि उन्हें हिन्दी की अन्य विज्ञान कथाओं—मौलिक या अनूदित—की जानकारी हो, तो कृपया, उनका विवरण भेजें। [इस सूची में वे विज्ञान कथाएँ शामिल नहीं हैं, जिनका नाम विज्ञान परिषद् द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'विज्ञान' के 'विज्ञान कथा विशेषांक' में दी गई सूची में है]।

विज्ञान उपन्यास (मौलिक)

यंत्रमानव—सुधा मस्करा, बाल भारती, जनवरी

1985, मंगल की सैर—सुशील कपूर, विश्व विजय प्रकाशन, दिल्ली, शुक्र की खोज—सुशील कपूर, विश्व विजय प्रकाशन, दिल्ली, राजा की अंतरिक्ष यात्रा—दीप कपूर, विश्व विजय प्रकाशन, दिल्ली, मृत्यु किरण—राजेश्वर प्रसाद सिंह, हरे लड्डुओं का देश—शुकदेवप्रसाद (अप्रकाशित), अदृश्य शत्रु—डॉ० नवल बिहारी मिश्र, अपराध का पुरस्कार—डॉ० नवल बिहारी मिश्र, उड़ती मोटरों का रहस्य—डॉ० नवल बिहारी मिश्र, आकाश का राक्षस—डॉ० नवल बिहारी मिश्र ।

अनूदित

● समुद्री दुनिया की रोमांचकारी यात्रा (फ्रेंच)—जुले वर्न, ● ब्रेव न्यू वर्ल्ड (अंग्रेजी)—अल्डूस हक्सले, 'विज्ञान' का विज्ञान कथा विशेषांक, ● द वार ऑव द वर्ल्ड्स (अंग्रेजी)—एच० सी० वेल्स, 'विज्ञान' का विज्ञान कथा विशेषांक एवं 'सारिका' का 'युद्ध कथा अंक' (1985) ● द स्नेक (अंग्रेजी)—जान गोडी, 'विज्ञान' का विज्ञान कथा विशेषांक, कालघटन (अंग्रेजी)—एच. जी. वेल्स, 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, सितंबर 1985 प्रथम पक्ष, अंतरिक्ष युग के संस्मरण—(कनाडा) जे. जी. बलार्ड, 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक सितंबर 1985 प्रथम पक्ष, विस्फोट (मराठी)—अरुण साधू 'सारिका' का विज्ञान अंक सितंबर 1985 प्रथम पक्ष ।

वैज्ञानिक कहानियाँ (मौलिक)

आग से आग कटती है—मनहर चौहान, 'पराग' का विज्ञान कथा विशेषांक, दिसंबर 1975, मिठाई चोर—आदित्य, 'पराग' का विज्ञान कथा विशेषांक दिसंबर 1975, रोबो अध्यापक—महेन्द्र कुलश्रेष्ठ, 'पराग' का विज्ञान कथा विशेषांक दिसंबर 1975, टिकने का सवाल—विनोद विभाकर, 'पराग' का विज्ञान कथा विशेषांक दिसंबर 1975, शीशियों में बंद दिमाग—राजेश्वर गंगवार, 'पराग' का विज्ञान कथा विशेषांक दिसंबर 1975, हरे जीवों के चंगुल

में—राममूर्ति, 'पराग' का विज्ञान कथा विशेषांक दिसंबर 1975, छह इंची वैज्ञानिक—कैलाश साह, 'पराग' का विज्ञान कथा विशेषांक दिसंबर 1975, साढ़े पाँच फुट का जुगनू—जवाहर लाल कौल, 'पराग' का विज्ञान कथा विशेषांक दिसंबर 1975, स्मृतिलुप्त वैज्ञानिक—जयंत विष्णु नारलीकर, मशीनी हठ—दर्पण, 'कादम्बिनी' मई 1984, स्कूल, साढ़ेसाती और अंतरिक्ष दैत्य—सतीश ब. अग्निहोत्री, 'धर्मयुग' 28 जुलाई 1985, सौ साल बाद भारत कैसा होगा—बाल फोंडके, 'धर्मयुग' 28 जुलाई 1985, आदमी का बच्चा—चंचल, 'सारिका' सितंबर प्रथम 1985, मृत्युंजयी—कैलाश साह, 'सारिका' सितंबर प्रथम 1985, घर का जासूस—प्रेमानंद चंदोला, 'विज्ञान प्रगति', जादू भरी फुंकनी—श्याम सरन विक्रम, 'विज्ञान' फरवरी 1985, दोस्ती—रमेश दत्त शर्मा, 'विज्ञान' फरवरी 1985, जमुना पैलेस का चौकीदार—विजय जी, 'विज्ञान' फरवरी 1985; सईस—विष्णुदत्त शर्मा, 'विज्ञान' फरवरी 1985, अंतरिक्ष के मित्र—शुकदेवप्रसाद, 'विज्ञान' का विज्ञान कथा विशेषांक, वैबाहिक कम्प्यूटर—यमुनादत्त वैष्णव 'अशोक' का कथा-संग्रह परजीवी कीड़ा—अनूपसिंह की खोपड़ी—श्रेष्ठ वैज्ञानिक कहानियाँ तारा मंडल, 398 आवास विकास कालोनी, अलीगढ़, चोखती टपटप और खामोश आहट (कथा संग्रह)—प्रेमानंद चंदोल, बैकटीरिया अदालत में (नाटक संग्रह)—प्रेमानंद चंदोला, पर्यावरण—हमारा आंगन (एकांकी)—प्रेमानंद चंदोला, 'बालभारती—अक्टूबर 1985, वरदान (हास्यवैज्ञानिक झलकी)—मनोज कुमार पटेलरिया, 'विज्ञान' का विज्ञान कथा विशेषांक, अधूरा आविष्कार (कथा संग्रह)—डॉ० नवल बिहारी मिश्र, वसुधैव कुटुम्बकम्—शुकदेव प्रसाद, 'विज्ञान', रोबो, मेरा दोस्त—शुकदेव प्रसाद, 'मेला' ।

अनूदित

इण्डिया पब्लिशर्स, लखनऊ द्वारा 1962 में, 'दूसरी दुनिया का मुसाफिर और अन्य कहानियाँ' नामक

कथा संग्रह में प्रकाशित अंतिम कहानी 'प्रो० बर्न का पुनर्जागरण' 'विज्ञान' के विज्ञान कथा विशेषांक में भी प्रकाशित

'ट्वाइटी-ट्वाइटी' अथवा एक मनमौजी हाथी—
ए० वेलियेव, 'सरोम' अथवा मानवनिर्मित दैत्य की कहानी अरकादी व बोरिस स्टूत्गात्स्की, दूसरी दुनिया का मुसाफिर—अलेक्जेंडर काजन्तसेव मंगल का वासी—अलेक्जेंडर काजन्तसेव काला सूर्य—जार्जी गुरेविच, प्रो० बर्न का पुनर्जागरण—ब्लादीमिर शाव-चेन्को, सबूत (अमेरिकी)—आइज़क एसिमोव, 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, हठधर्मी (अमेरिकी)—अल्फर्ड बैस्टर, 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, नया विमान (अमेरिकी)—वाल्ड मैल्डन, 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, खतरा-मानव ! (अमेरिकी)—गार्डन डिकसन 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, एकमशीन, एक वैज्ञानिक (अंग्रेजी)—आर्थर कानन डायल 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, बदला हुआ प्रेमी—रे ब्रेडबर् 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, महाबान के नौ खराब नाम (ब्रितानी)—आर्थर क्लार्क 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, हथियार (अंग्रेजी)—फ्रेडरिक ब्राउन 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, दंगल (सोवियत)—इलियावर्षावस्की—'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, बेतार का बच्चा (रूसी)—बोरिश गोर्बातोव 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, मैं मरना चाहता हूँ (तमिल)—मोहन संजीवन 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, रोसुब के यंत्रमानव (चेक)—कैरेल चेपेक 'सारिका' का विज्ञान कथा अंक, बीसवीं सदी को आखिरी रात (अंग्रेजी)—स्टीफन हीम, शब्दपीठ प्रकाशन, इलाहा-

बाद तथा 'विज्ञान' का विज्ञान कथा विशेषांक 'पृथ्वी के फूल (रूसी)—मिखाइल पुखोव, 'विज्ञान' का विज्ञान कथा विशेषांक, कादम्बिनी अगस्त 1983, कादम्बिनी अप्रैल 1985।

तिलस्मी विज्ञान कथायें

देवकी नन्दन खत्री की कथायें—चन्द्रकांता : संतति (1896), 'सारिका' अपराध व जासूस कथा अंक (1985), नरेन्द्रमोहिनी (1892), वीरेन्द्रवीर (1895), कुसुमकुमारी (1899), काजर की कोठरी, (1902), गुप्त गोदना (1906), अनूठी बेगम (1905), सूतनाथ (1906), हरेकृष्ण जौहर की कथायें—कुसुमलता (1899), जादूगर (1901), निराला नकाबपोश (1902), सयानक खून (1903), किशोरीलाल गोस्वामी—प्रतिशोध (1925), दुर्गाप्रसाद खत्री, लहरी बुक डिपो बनारस 'लालपंजा (1925), रक्तमंडल (1926), सुफेद शैतान 'सारिका' अपराध व जासूस कथा अंक (1985), सुवर्ण रेखा, स्वर्णपुरी, सागर सम्राट, साकेत, कालाचोर, बलिदान, कलंक-कालिमा, संसारचक्र, माया, आकृति विज्ञान—'सारिका' महाविनाश की कहानियाँ, वसंत में जहाँ चिड़ियाँ नहीं चहकती—रैशेल कारसन 'पराग' (दिसम्बर 1975)।

विज्ञान कथा अंक

'विज्ञान' (फरवरी 1985), 'विज्ञान' नवम्बर (1984—जनवरी 1985), 'सारिका' (सितम्बर प्रथम पक्ष, (अंक 388, 1985), 'सोवियत लिटरेचर' (जून 1985)। □

'सागर की गहराइयों में मेरी दिलचस्पी विज्ञान-कथा ने गहरी की'

अदिति पन्त

"मैं तो असल में पौधों की आनुवंशिकी के बारे में पढ़ना चाहती थी। जानना चाहती थी कैसे रंग-विरंगे फूलों की छटा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में पहुँचती है। लेकिन वनस्पति विज्ञान और रसायन विज्ञान में बी० एस-सी० करने के बाद मेरे हाथ आर्थर क्लार्क का वैज्ञानिक उपन्यास 'द डीपरेंज' लगा

बस, मैं डूबती चली गई उसमें। बड़ी रोमांचक कल्पना है। गहरे समुद्रों में खेती करने की, खासतौर से जब खेतिहर डॉल्फिन और ह्वेल हों। इसके बाद तो मुझे समुद्र के बारे में जो भी किताब मिली, पढ़ डाली।"

प्रस्तुति : रमेशदत्त शर्मा

प्रधान संपादक, 'खेती', नई दिल्ली
('धर्मयुग' 17 मार्च 1985, पृष्ठ 50 से साभार)

कृत्रिम बुद्धि

आशुतोष मिश्र

25 अशोक नगर, इलाहाबाद

बुद्धि उन तमाम गुणों में से एक है, जो मात्र जीवित प्राणियों में विद्यमान रहती है और मानव विकास की दृष्टि से अन्य प्राणियों बहुत आगे है। परन्तु यह प्रश्न अत्यन्त स्वाभाविक है कि क्या यह बुद्धि मात्र जीवित प्राणियों तक ही सीमित है? क्या मनुष्य 'कृत्रिम बुद्धि' का विकास नहीं कर सकता? आज के वैज्ञानिकों के समक्ष यह एक बहुत बड़ी चुनौती है जिसपर बहुत सा शोध कार्य हो चुका है और हो रहा है।

बुद्धि क्या है ?

मनोवैज्ञानिकों के अनुसार 'बुद्धि' एक व्यक्ति की प्रयोजनपूर्वक कार्य करने, तर्कपूर्वक सोचने, और अपने परिवेश से भली प्रकार व्यवहार करने की समुचित या एकाकी योग्यता है। मानव मस्तिष्क में सोचने, समझने व तर्क करने की अद्भुत शक्ति होती है जिसके कारण मनुष्य किसी भी प्रकार का निर्णय ले सकता है। जब हम 'कृत्रिम बुद्धि' के विषय में बातें करते हैं तो लगता है हमें एक ऐसा मस्तिष्क बनाना होगा जो ऐसे सभी कार्य कर सके, जो मानव मस्तिष्क करता है। परन्तु कृत्रिम बुद्धि के बारे में ऐसी धारणा भ्रान्तिपूर्ण होगी। कृत्रिम बुद्धि विज्ञान भी ऐसी शाखा है जिसके द्वारा नए प्रकार के कंप्यूटर प्रोग्रामों द्वारा कंप्यूटर को अधिक उपयोगी बनाया जा सकता है— उसमें निर्णय लेने की शक्ति लाई जा सके। परन्तु बुद्धि (Intelligence) होने के पूर्व, ज्ञान (knowledge) का होना आत्यावश्यक है। फ्रेडरिक हेएस राँथ के अनुसार ज्ञान के मुख्यतः तीन तत्व होते हैं—(i) तथ्य (facts), (ii) विश्वास (beliefs) व (iii) स्नायु विज्ञान (neuristics)। 'कृत्रिम बुद्धि' के विकास में इस प्रकार के ज्ञान का संचय होता है, और साथ ही

साथ उसका उपयोग भी। किसी भी समस्या के निवारण में अधिक से अधिक ज्ञान का होना लाभकारी सिद्ध होता है। कृत्रिम बुद्धि प्रोग्राम (Artificial Intelligence Programme) के मुख्य तीन लक्ष्य होते हैं—

- (i) अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त करना।
- (ii) उस जानकारी के उपयोगी हिस्सों को अलग करना।

(iii) तर्क-वितर्क द्वारा उस जानकारी से ऐसे परिणाम निकालना जिनकी आशा भी नहीं की जा सकती।

कृत्रिम बुद्धि (Artificial Intelligence) पर शोध कार्य तीव्र गति से चल रहा है। अमेरिका में इस पर अगले तीन वर्षों में लगभग 1.5 बिलियन डॉलर खर्च किए जायेंगे। ऐसी आशा की जाती है कि अगले पाँच वर्षों में कंप्यूटर क्षेत्र में जो क्रान्ति आएगी, वह कृत्रिम बुद्धि द्वारा ही होगी। इसका मुख्य उपयोग सैनिक कार्यवाही में होगा। उदाहरण-स्वरूप KNOB, TARTR, तथा SPOT ऐसे कंप्यूटर प्रोग्राम हैं, जिनके द्वारा लक्ष्य को भेदने में मिसाइल को निर्देश प्राप्त होंगे। इस क्षेत्र में होने वाले कार्य को मुख्यतः दो भागों में बाँटा जा सकता है—

1. ज्ञान आधारित विशेषज्ञ प्रणाली (knowledge-based Expert Systems)

2. कंप्यूटर दृष्टि (Computer Vision)

विशेषज्ञ प्रणालियों का मुख्य उद्देश्य, संचित ज्ञान का कंप्यूटर प्रोग्रामों द्वारा इस प्रकार उपयोग करना है जिससे कि किसी तर्क तक पहुँचा जा सके। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जाएगी। मान

लीजिए, हमें एक ऐसी विशेषज्ञ प्रणाली का विकास करना है जो जमीन से आकाश में मार कर सकने वाले मिसाइल को लक्ष्य की ओर मोड़ सके। इसमें लक्ष्य की गति, मिसाइल की गति, ऊँचाई, हवा का वेग, मारक दूरी आदि अन्य ऐसे आँकड़े होंगे, जिनका विश्लेषण कंप्यूटर प्रोग्राम द्वारा होगा। अतः प्रोग्राम ऐसा होना चाहिए जिसमें इस प्रकार का विश्लेषण कर सकने की क्षमता हो, और साथ ही साथ तर्क भी हो सके। बुद्धि की परख उसकी तर्कशक्ति द्वारा निर्धारित होती है। एकत्रित सूचनाओं में से जितना अधिक निष्कर्ष निकाला जा सके, उतना ही अच्छा होता है। मान लीजिए, हमारे पास दो सूचनाएँ एकत्रित हैं—(i) मिसाइल अमुक गति से उड़ रहा है और (ii) लक्ष्य मिसाइल से आगे, अमुक गति से जा रहा है। यदि इससे प्रोग्राम द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जाये कि कितनी देर में मिसाइल लक्ष्य तक पहुँच जायेगा, तो ऐसे प्रोग्राम की उपयोगिता समझी जायेगी। परन्तु यह कार्य इतना सरल भी नहीं है क्योंकि इसमें अन्य अनेक तथ्य भी ध्यान में रखने पड़ते हैं, अन्यथा कम जानकारी से निष्कर्ष निकालना हानिप्रद भी हो सकता है। इसलिए कंप्यूटर प्रोग्राम, उलब्ध जानकारी में प्रारम्भिक से अन्तिम स्तर तक उपयोगी बातों की खोज करता है। ये कंप्यूटर भाषाएँ आम कंप्यूटर भाषाओं (COBOL, PASCAL, BASIC आदि) से सर्वथा भिन्न होती हैं। ये हैं—

LISP (List Processing), UNITS, KRL, OWL आदि।

कंप्यूटर दृश्य (Computer Vision)—इसका लक्ष्य उस दृश्य का वर्णन करना होता, जिसका छायांकन किया गया हो। इसके अन्तर्गत छाया की पहचान, तथा उसके गुणों का विश्लेषण आते हैं। यह अत्यन्त जटिल प्रक्रिया होती है, तथा इसमें उपयोग में आने वाले सिद्धान्त मनुष्य के नेत्र की कार्य-विधि के समान होते हैं—किसी भी दृश्य से आने वाले विकिरण को ग्रहण करना, उसके गुणों का विश्लेषण करना तथा उनके आधार पर दृश्य का वर्णन। कृत्रिम बुद्धि के विकास के क्षेत्र में यह नया शोध है, तथा इस पर बहुत सा कार्य होना अभी शेष है।

उपयोग—कृत्रिम बुद्धि का उपयोग दो प्रमुख क्षेत्रों में होने की आशा है—

(i) रोबोट में—भविष्य में ऐसे चलते-फिरते बुद्धिमान रोबोट (Mobile Intelligent Robot) होंगे कि जो पर्यावरण की स्थिति ज्ञात करने में प्रयोग में लाये जाएँगे।

(ii) सेनाओं में।

कृत्रिम बुद्धि मनुष्य को किस प्रकार लाभान्वित करेगी, ऐसा कहना अभी कठिन है, परन्तु उसके निखरते हुए वर्तमान को देखकर हम उसके उज्ज्वल भविष्य की कामना अवश्य कर सकते हैं। □

मलयालम में वैज्ञानिक और तकनीकी लेखन

डॉ० एन० ई० विश्वनाथ अय्यर

भूतपूर्व विभागाध्यक्ष, कोचीन विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम

विज्ञान की मुख्य धारा प्राकृत युग के मानव की तकनीकों से प्रारम्भ होती है। लोगों ने उनका अनुकरण व अभ्यास किया। यह ग्रन्थों से पाने की चीज नहीं रही थी। बाद में वे पुस्तकों में लिखी गई। यूरोप में लौहयुग में ग्रीक लोगों ने विज्ञान का प्रथम

तर्कयुक्त स्वरूप रूपायित किया। विज्ञान के विकास के कई मोड़ कई देशों में प्राप्त होते हैं (जे० डी० बेर्नाल—साइन्स इन हिस्ट्री)।

आधुनिक विज्ञान सत्रहवीं सदी के उत्तरार्ध में औद्योगिक क्रांति के साथ अत्यधिक विकसित होने

लगा। इस पर एक देश का एकाधिकार नहीं था। आधुनिक विज्ञान के आविष्कार और आविष्कारक इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी, इटली, अमेरिका आदि विभिन्न देशों में हुए। जब रूस इस क्षेत्र आ गया तब उसने बड़ी शीघ्रता से विज्ञान के नक्शे में अपना स्थान बना लिया। जिन देशों में वैज्ञानिक अनुसंधान व्यापक रूप से होता गया उनकी भाषाओं में वैज्ञानिक एवं तकनीकी लेखन भी हुआ।

पश्चिम के सम्पर्क से भारत ने भी आधुनिक विज्ञान से लाभ उठाना शुरू किया। यहाँ शिक्षा के अंग के रूप में विज्ञान का प्रवेश आधुनिक विश्व-विद्यालयों की स्थापना के बाद प्रारम्भ हुआ। भारत के सबसे प्राचीन विश्वविद्यालय सन् 1857 ई० में प्रारंभ किए गए। अब सवा सौ वर्ष बीते हैं। इस अवधि में विश्वविद्यालयों में उच्च वैज्ञानिक एवं तकनीकी शिक्षा व अनुसंधान में वृद्धि हुई है। विश्व विद्यालय से बाहर कृषि, वाणिज्य, उद्योग, चिकित्सा विज्ञान आदि अनेक क्षेत्रों में व्यावहारिक अनुसंधान भी हुए हैं। इन सब से संबंधित विचार-विनियम एवं निष्कर्ष अंग्रेजी में लिखे गए। विभिन्न शोध-पत्रिकाएँ ऐसा सामग्री देती हैं। इसके फलस्वरूप अंग्रेजी के माध्यम से वैज्ञानिक व तकनीकी लेखन बड़ी मात्रा में होता आया है।

भारतीय स्वाधीनता की चेतना ने हमारे मन में प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्रीयता की भावना भर दी। अतएव हमारे अनेक वैज्ञानिक एवं तकनीकी-विशेषज्ञों ने विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का लेखन देश की भाषा में करने का समर्थन किया। इस आन्दोलन ने विज्ञान को शिक्षित उच्च वर्ग तक सीमित रखने की प्रवृत्ति को बदलकर सामान्य जन तक पहुँचा दिया। नवीन युग में करोड़ों लोग विज्ञान की व्यवहार की बुनियादी बातों से सुपरिचित हो सके हैं।

भारत के अन्य राज्यों के समान केरल भी वैज्ञानिक एवं तकनीकी ग्रंथों के निर्माण में लगा है। मैं इसकी ऐतिहासिक रूपरेखा की झलक अपने लघु निबन्ध में प्रस्तुत करना चाहता हूँ। जैसाकि प्रारंभ

में निवेदन किया गया, विज्ञान से दक्षिण भारत अपरिचित नहीं। यहाँ के मंदिरों के विशालकाय और ऊँचे गोपुर प्राचीन युग की इंजिनियरी का यश गाते हैं। दक्षिण का आयुर्वेद, सिद्धवैद्य, मर्मवैद्य आदि चिकित्सा-विज्ञान में दक्षिण की सिद्धि की कथा सुनाते हैं। दक्षिण का अंग केरल गृह निर्माण, मंदिर-निर्माण चिकित्सा आदि की अपनी परंपरा रखता आया है। तंत्रसमुच्चयम्, मनुष्यालय-चंद्रिका आदि ग्रंथ केरलीय इंजीनियरों के प्राचीन ग्रंथ हैं। केरल के प्राचीन वैज्ञानिक ग्रंथ दो भाषाओं में उपलब्ध हैं—तमिल और संस्कृत। वे बहुधा छन्द रूप में थे। शिल्पकला आदि का तो व्यावहारिक पक्ष प्रबल था। प्राचीन विज्ञान भी परस्पर आश्रित थे। केरल में चिकित्सा विज्ञान और ज्योतिष का गहरा संबंध था। इस प्रदेश में वैज्ञानिक विकास के होते हुए भी समाज में उनकी विशेष मान्यता नहीं रही। यह तो आधुनिक युग की विशेषता है जो आधुनिक विज्ञान समाज में समुचित स्थान पा सका है। देश के वजट में अब विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के लिए बहुत बड़ी राशि व्यय की जाती है।

अन्य राज्यों के समान केरल में भी आधुनिक विज्ञान का अध्ययन-प्रचार उन्नीसवीं शती के अन्त में होने लगा। प्रारम्भ में वह अंग्रेजी के माध्यम से चलता था। शीघ्र ही इन बातों को मलयालम में भी लिखने की आवश्यकता अनुभव हुई और उसका प्रयत्न प्रारम्भ हुआ।

सन् 1861 ई० में इट्टियेरा कोच्चु प्राद्री नामक ईसाई केरलीय धर्म प्रचारक की लिखिपणक्काव्वर्णनम् (धन के लेने देने का वर्णन) नामक 84 पृष्ठ की छोटी रचना मलयालम की प्रथम तकनीकी पुस्तक मानी गई है। 1872 ई० में श्री केरल वर्मा ने “यूक्लिड्स एलिमेंट्स” के अनुवाद के रूप में एक ज्योमिट्री ग्रन्थ लिखा। 1883 ई० में फ्रोंग मेयर नामक जर्मन पादरी ने “प्रकृतिशास्त्रम्” रचा। मलयालम में विज्ञान के लिए शास्त्र शब्द का व्यवहार होता आया है। “प्रकृतिशास्त्रम्” के तकनीकी शब्द संस्कृत शब्दों

से गढ़े हुए थे—उदाहरण—हाइड्रोक्लोरिक एसिड-जलरिताम्ब । थर्मामीटर-थर्ममान्न, आर्किमिडीज का सिद्धान्त-अर्खिमेदसूत्रम् । इस लेखक ने एक मार्मिक बात बताई, “आज ही आधुनिक विज्ञान मलयालम में सिखाना शुरू करें। शीघ्र ही हम देख सकेंगे कि आधुनिक विज्ञान का कोई भी संकीर्ण तत्व नहीं जिसे हम मलयालम की शैली में बता नहीं सकते।”

उस युग में मलयालम में वैज्ञानिक परिचयात्मक लेख पत्रिकाओं में प्रकाशित होते गए । मलयालम की पठित पाठ्यपुस्तकों में विज्ञान-सम्बन्धी लेख दिये जाने लगे । बीसवीं शती में यह प्रवृत्ति बढ़ती गयी । मलयालम के युगप्रवर्तक आचार्य ए० आर० राजराज-वर्मा स्वयं रसायन-विज्ञान के स्नातक थे । उन्होंने विज्ञान लेखन का समर्थन किया । इसकी भाषा नीति के विषय में उन्होंने लिखा था—“अपनी भाषा के प्रति ममता के बढ़ने से अन्य भाषाओं के शब्दों को न छूने का हठ करना उचित नहीं है । जिस प्रकार मानव को दूसरों की सहायता अनिवार्य है उसी प्रकार भाषा के लिए भी दूसरी (भाषाओं) की सहायता लेना अनिवार्य है ।”

यह उक्ति इसी ओर संकेत करती है कि केरल के भाषा-स्नेही बहुधा संस्कृत के पक्षपाती थे । संस्कृत में रूप निस्पादन की अपार क्षमता के कारण वे संस्कृत शब्द नयी अर्थ-भूमिका में भी प्रयोग करते थे । हिन्दी भाषाविदों में डॉ० रघुवीर भी इसी कोटि के थे ।

मलयालम में वैज्ञानिक शब्दावली के निर्माण का संस्थागत प्रयास सबसे पहले ट्रावनकोर विश्वविद्यालय की तरफ से 1948-49 में हुआ था । इस प्रयास की भूमिका में समिति ने जो नीति निर्धारित की थी उसका संक्षिप्त स्वरूप यों है—“जहाँ तत्सम या तद्भव रूप में अंग्रेजी शब्द प्रचलित नहीं है वहाँ संस्कृत शब्दों को ही स्वीकारने का क्रम अनिवार्य हो गया है । यह शंका न की जाये कि हम संस्कृत के प्रति पक्षपात से या मलयालम की गरिमा के विषय में विश्वास की कमी से ऐसा कर रहे हैं । अंग्रेजी में

प्रचलित अधिकांश सांकेतिक शब्द ग्रीक या लैटिन धातुओं से व्युत्पन्न हैं । इन धातुओं और संस्कृत धातुओं में विस्मयजनक समानता कई बार पाई गई है ।

“अन्य भारतीय भाषाओं ने नूतन शब्दों की रचना के लिए संस्कृत का ही मुख्यतः आश्रय लिया है । संस्कृत और मलयालम का मणिप्रवाल रूप में परस्पर मनोज्ञ सम्मेलन कठिन नहीं है । फिर भी ऐसे प्रसंगों पर हमने मलयालम शब्दों को भी प्रयायवाची के रूप में बड़ी खुशी से स्वीकार किया है ।”

मलयालम में वैज्ञानिक ग्रन्थों एवं निबन्धों के लेखन में सर्वश्री टी० के० जोसफ, प्रो० ए० सी० चाको, एम० राजराजवर्मा आदि प्रथम पीढ़ी के अग्रिम विद्वान थे । इनकी दूसरी पीढ़ी में प्रो० के० सी० चाको, डॉ० के० भाष्करन नायर, के० जी० अतियोटि, कोन्नियूर नरेन्द्रनाथ आदि प्रमुख थे ।

मलयालम के तकनीकी साहित्य के क्षेत्र में लोक-प्रिय लेखन का बड़ा योगदान रहा है । इस दिशा में सबसे अधिक उल्लेखनीय ग्रन्थ विश्वविज्ञानकोश है । साहित्य प्रवर्तक सहकारी संघ, कोट्टयम ने इसका प्रकाशन किया । इसके परिश्रमी संपादक श्री पी० टी० भास्कर पणिकर लोकप्रिय वैज्ञानिक लेखन में बड़े सफल रहे हैं । उन्होंने अनेक नये-नये विषयों पर नये-नये लेखकों से तकनीकी लेख लिखाये । अनेक लोगों ने इस क्षेत्र में प्रथम प्रवेश पाया । इस ग्रन्थ की भाषा लोकप्रिय लेखन की थी ।

मलयालम में वैज्ञानिक एवं तकनीकी ग्रन्थों का युगान्तर आगे चलकर हुआ । सन् 1967-68 में भारत सरकार ने सारे राज्यों को अपनी-अपनी भाषा में विश्वविद्यालयीन स्तर की पुस्तकों के निर्माण के लिए एक-एक करोड़ रुपए का अनुदान दिया था । सारे राज्यों में इससे थोड़ा बहुत कार्य हो सका । किन्तु केरल राज्य के भाषा संस्थान ने अपने प्रतिभा-शाली एवं कर्मठ निदेशक श्री एन० बी० कृष्णवारियर के निर्देशन में जो व्यापक एवं ठोस कार्य किया वह कुछ और ही था । इस संस्थान के ग्रन्थ-निर्माण की

व्याप्ति का कुछ आभास इसकी ग्रन्थमाला शीर्षकों से मिलता है। मुख्य विभाग पाँच हैं। पहला—भौतिक-शास्त्र ग्रन्थ, दूसरा—प्रकृतिशास्त्रग्रन्थ, तीसरा—इंजीनियरी एवं टेक्नॉलॉजी, चौथा—सामूह्यशास्त्र ग्रन्थ, पाँचवां—भाषासाहित्य कला ग्रन्थ। ऐसा कोई विषय मुश्किल से है जिस पर ग्रन्थ-लेखन का प्रयास न हुआ हो। लेखन के लिए दो प्रणालियाँ स्वीकृत हुई—प्रसिद्ध ग्रन्थों का अनुवाद, दूसरा मौलिक लेखन। कुशल लेखकों का दल संस्थान में संपादकीय कार्य के लिए नियुक्त हुआ। बाहरी लोगों से भी लिखाया गया। संस्थान ने पहले वैज्ञानिक शब्दावली एवं मानविकी शब्दावली का निर्माण किया। केन्द्र सरकार ने सहायता देते हुए यह आशा व्यक्त की थी कि यथा-संभव अखिल भारतीय स्तर के मानक तकनीकी शब्दों का प्रयोग किया जाये। उदार विचारों के बारियर जी ने केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा निर्मित बहुत सारे शब्दों को स्वीकार किया। मलयालम के अनुकूल परिवर्तन भी किया।

एकाएक बहुत से विषयों पर नये तकनीकी शब्दों, क्रियाओं और प्रयोगों की आवश्यकता आ पड़ने से मलयालम भाषा पर बड़ा दबाव आ पड़ा। विचित्त लगने वाले नये शब्द रूप, समास, क्रिया-रूप आदि का प्रयोग किया जाने लगा। अँग्रेजी धातु और संस्कृत प्रत्यय, संस्कृत समास, संस्कृत अँग्रेजी समास, अँग्रेजी मलयालम समास आदि नयी प्रवृत्तियाँ देख परम्परागत भाषा के समर्थक झल्ला उठे। किसी पत्रकार ने लिखा कि भाषा-द्रोपदी को इन कीचकों से बचाइए। साहित्यिक विषयों के लिए प्रयुक्त रजिस्टर अब पर्याप्त नहीं थे। संस्थान के प्रयत्न से कई सौ ग्रन्थ लिखे गये। इनमें कुछ प्री-डिग्री, जूनियर टेक्निकल स्कूल आदि के पाठ्यक्रम के अनुकूल थे। संस्थान के कार्य के सामने दो प्रतिद्वन्द्वी आ गये। शुद्ध भाषा की पुकार करने वाले साहित्य प्रेमी एक तरफ थे। दूसरी तरफ अँग्रेजीवां प्रोफेसर लोग थे जिन्होंने मलयालम में लिखे गये इन ग्रन्थों के प्रचार के लिए कुछ भी नहीं किया। उनका समर्थन तक वे नहीं करते थे। प्रादेशिक

भाषा के माध्यम से प्री-डिग्री परीक्षा में लिखने की छूट घोषित होने पर प्राइवेट परीक्षा देने वाले छात्र कला, वाणिज्य आदि में प्रकाशित संस्थान के प्रकाशनों का अधिक उपयोग करने लगे।

संस्थान ने कृषिविज्ञान के क्षेत्र में कई अच्छे ग्रन्थ प्रकाशित किये। इनकी भाषा में व्यावहारिक शैली भी थी। इनकी सफलता का एक कारण यह भी रहा। संस्थान का कार्य अब भी चालू है। मगर अब वह सरकार का एक विभाग सा रह जाने के कारण अपनी समस्याओं का अनुभव करता है।

मलयालम के लोकप्रिय वैज्ञानिक साहित्य के प्रकाशन में केरल शास्त्रसाहित्य परिषद् का योगदान अनुपम रहा है। इसकी स्थापना सन् 1962 ई० में कालिकट में की गई। सर्वश्री डॉ० के० भास्करन नायर, कोन्नियूर नरेन्द्रनाथ, के० जी० अतिकोटि, पी० टी० भास्कर पणिक्कर इसके प्रथम पदाधिकारी थे। गत् बाइस वर्षों में इस संस्थान ने अद्भुत लोकप्रियता प्राप्त की है। निःस्वार्थ सेवा करने वाले हजारों वैज्ञानिक, विज्ञान के अध्यापक, डॉक्टर, इंजीनियर आदि इसमें सहयोग देते आए हैं। अनेक छोटे लोकप्रिय ग्रन्थों के प्रकाशन के अलावा परिषद् ने 1969 ई० से “शास्त्रकेरलम” और 1979 से “यूरिका” पत्रिकाएँ प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। इनकी हजारों प्रतियाँ विकती हैं। स्कूलों में विज्ञान-परीक्षा, गाँव में विज्ञान-वर्ग, वैज्ञानिक चेतना बढ़ाने वाले नुक्कड़ नाटक आदि परिषद् के कार्यक्रमों में शामिल हैं। परिषद् ने ग्रन्थ-प्रकाशन के सीमित क्षेत्र से आगे बढ़कर एक व्यापक नारा स्वीकार किया—“विज्ञान सामूहिक क्रान्ति के लिए”। वह अनेक सार्वजनिक आन्दोलन में प्रमुख योग कर रही है।

शास्त्रसाहित्य परिषद् के लेखक प्रायः वही रहे जिन्होंने भाषा संस्थान के ग्रन्थ लिखे और विश्वविज्ञान कोश के संकलन में भाग लिया था। अपने पूर्व अनुभव से शिक्षा ग्रहण कर इन लेखकों ने अपनी भाषा को सहज और सरल बनाया। यथा संभव अँग्रेजी शब्दों को उसी रूप में लिया गया। शास्त्रसाहित्य

परिषद् की सहकारी संस्था स्टैप्स ने भी कई ग्रन्थ प्रस्तुत किए।

जनता के मानस में वैज्ञानिक और तकनीकी ग्रन्थों के लोकप्रिय रूप के प्रति रुचि बढ़ गई। इसके कारण कई निजी व्यावसायिक प्रकाशक इस क्षेत्र में आए। यद्यपि ऐसे ग्रन्थों की संख्या कम रही तो भी रुचि जरूर ली जाती है। आरोग्यम, मनःशास्त्रम, ज्योतिषम आदि नामों से लोकप्रिय पत्रिकाओं की तो लाख-लाख प्रतियाँ तक छपती हैं। पर शुद्ध तकनीकी लेखन वाली विज्ञान-केरली की दो-तीन हजार प्रतियाँ ही मुश्किल से छपती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मलयालम में वैज्ञानिक और तकनीकी लेखन का स्वागत हुआ है, पर जितना होना चाहिए, नहीं हो सका है। इसका एक व्यावहारिक कारण यह है कि केरल की जनता अंग्रेजी को हटाकर मलयालम को उस स्थान पर स्थापित करने की बात नहीं सोचती। इसके पीछे भी कुछ कारण हैं। एक तो यही कि केरलीयों को शिक्षित होकर बाहर की रोटी कमाना पड़ती है। शिक्षा प्राप्त करने वाले नागरिक युवकों में सहज ही महत्वाकांक्षा होती है।

वे विदेश जाने की कल्पना पहले से ही करने लगते हैं।

पूरे भारत में भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक एवं तकनीकी साहित्य का विकास कम होने के कारणों पर व्यापक विचार अपेक्षित है। इस संगोष्ठी में कई रूपों में वह विचार किया भी जाएगा।

अन्त में मुझे यह निवेदन करना है कि हमारे देश के विभिन्न राज्यों के संस्थान व अन्य संस्थाएँ कई उत्तम मौलिक ग्रन्थ वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्र में प्रकाशित करती आई हैं। इनमें कई ऐसी भी हो सकती हैं जो कृषि, वाणिज्य, मात्स्यिकी आदि क्षेत्रों में पूरे देश के लिए लाभकारी हैं। मलयालम में प्रकाशित कुछ कृषि-ग्रन्थ अच्छे माने गए हैं। ऐसी बात हर क्षेत्र में मिलती है। ये संस्थाएँ परस्पर आदान-प्रदान के जरिए या सहयोगी प्रयास के रूप में योजना-बद्ध रूप से कुछ ग्रन्थों का अनुवाद व प्रकाशन करें तो उनका अखिल भारतीय प्रचार होगा। अंग्रेजी ग्रन्थों की सहायता के बिना ही देशी भाषाओं में स्तरीय ग्रन्थ इस प्रकार मिल सकेंगे। आशा है इस संगोष्ठी में भाग लेने वाले विद्वान अपनी संस्थाओं में इस बिन्दु पर विचार करेंगे। □

निर्धूम चूल्हा की बढ़ती लोकप्रियता

रामपाल

प्रोजेक्ट इंचार्ज, निर्धूम चूल्हा रूरल क्राफ्ट एण्ड टेक्नॉलॉजी सेन्टर, शंकरगढ़, इलाहाबाद

लगातार घट रहे ऊर्जा श्रोतों ने जहाँ एक ओर तमाम वैकल्पिक ऊर्जा श्रोतों की खोज का मार्ग प्रशस्त किया है वहीं ऊर्जा की बचत के नये-नये तरीके खोजने के लिए भी वैज्ञानिकों को बाध्य किया। आजकल के परम्परागत घरेलू चूल्हों में करीब 60% ऊर्जा व्यर्थ नष्ट हो जाती है, जिसका काफी खर्च आता है तथा आँख में धुआँ भी काफी लगता है। इन समस्याओं को देखते हुए वैकल्पिक ऊर्जा विकास संस्थान, उत्तर-प्रदेश तथा आई० ई० आर० टी० (इन्स्टीट्यूट ऑव

इंजीनियरिंग एण्ड रूरल टेक्नॉलॉजी), इलाहाबाद के वैज्ञानिकों ने जगह-जगह पर मनुष्य की आवश्यकता एवं ईंधन की उपलब्धता के आधार पर भिन्न-भिन्न प्रकार के उन्नत निर्धूम चूल्हों का आविष्कार किया है। लकड़ी, उपले (गोबर), कोयला, मिट्टी का तेल (केरोसिन), एल० पी० जी० (गैस), बायोगैस, विद्युत् आदि का प्रयोग विभिन्न प्रकार के चूल्हों में किया जाता है। साधारण चूल्हों में बर्तन रखने से काफी आग बाहर जाने के कारण उसकी गर्मी नष्ट हो

जाती है तथा आग बाहर आने के कारण धुएँ से आँख पर भी असर पड़ता है। निर्धूम चूल्हों में धुआँ कम होता है और वह भी चिमनी के माध्यम से बाहर निकल जाता है। इन चूल्हों पर 30-40 प्रतिशत ईंधन की वचत होती है और रसोई भी काली नहीं होती। धुआँ न होने के कारण आँख व फेफड़े स्वस्थ रहते हैं। हवा का दबाव सही होने के कारण एक बार जलने के बाद चिमनी स्वयं हवा खींचती है जिससे बार-बार फूँक नहीं लगनी पड़ती। हवा के बहाव के नियंत्रण के लिए इसमें डैम्पर लगाये जाते हैं। डैम्पर के सही उपयोग से ईंधन की वचत होती है।

नाडा, प्राड, सहयोग, धौलाधार, धापर पोलिटेक्नीक (धपोली) आदि डिजाइन के चूल्हे प्रमुख हैं। ये पुराने चूल्हों से काफी मिलते-जुलते हैं तथा मिट्टी से ही बनाए जाते हैं। इसको बनाने के बाद दूसरे स्थानों पर नहीं ले जाया जा सकता है।

इसके अतिरिक्त कहीं भी प्रयोग किए जाने वाले चूल्हों में प्रयागिनी (पोर्टेबल मॉडल) लोहे का बना तथा मगन चूल्हा (के० वी० आई० सी०) द्वारा मिट्टी का बना चूल्हा प्रमुख है।

विधि

मिट्टी के चूल्हों को बनाने के लिए चिकनी मिट्टी, भूसा या गोबर या 'चोड़' की पत्तियाँ आदि एस्वेस्टस सीमेंट या लाल मिट्टी का बनाया गया पाइप (चिमनी) दो छेद के चूल्हों के लिए 3" व्यास की तथा 3 छेद के चूल्हे के लिए 4½" व्यास की चिमनी पर लगाने का ढक्कन (काडल) लोहे की चादर या डैम्पर का इस्तेमाल किया जाता है तथा टीन काटने की कैंची, खुरपी, लोहा काटने की आरी, नापने का फीता आदि औजारों की आवश्यकता होती है।

चूल्हा बनवाने वाले की आवश्यकतानुसार चूल्हे का साइज निर्धारित किया जाता है। चूल्हा 2 छेद का बनाया जाय या 3 छेद का बनाया जाय वह व्यक्ति की आवश्यकता पर निर्भर करता है। चूल्हे के छेद

का आकार चूल्हे पर प्रयोग होने वाले बर्तन के साइज के अनुसार निर्धारित किया जाता है। चूल्हा किस जगह बनाया जाता है तथा उसका मुख किस दिशा में रहेगा, चिमनी निकालने के लिए कौन सी जगह उपयोगी होगी इसका भी पहले से निर्णय कर लिया जाता है। साधारणतया दो छेद वाला चूल्हा मध्यम परिवार के लिए उपयोगी है। जहाँ बर्तन बड़े हों और सिर्फ एक छोटे बर्तन को चाय आदि बनाने के काम लाया जाता हो, वहाँ छेदों को बड़ा रखना चाहिए तथा छोटे बर्तन के लिए लोहे के छल्ले का उपयोग किया जा सकता है। खाना पकाने वाले छेदों के बीच का अन्तर कम से कम रखना चाहिए परन्तु इतना ध्यान रहे कि साधारणतया इस्तेमाल होने वाले बर्तन आराम से छेद पर रखे जा सकें। पकाने वाले छेद से चिमनी तक का रास्ता ऐसा होना चाहिए कि चिमनी के पेंदे तक हाथ आसानी से पहुँच सके जिससे समय-समय पर चिमनी के अन्दर जमी हुई कालिख को आसानी से निकाला जा सके।

ध्यान देने योग्य बातें

(1) चिमनी को जाने वाली सुरंग को पूरी तरह से खुला होना चाहिए। गारे या सुखी मिट्टी से अगर रास्ता रुका हुआ हो तो उसे साफ कर देना चाहिए।

(2) दूसरे छेद के लिए वैफल की ऊँचाई ठीक होनी चाहिए तथा पिछले और दूसरे छेद के बीच की सुरंग साफ होनी चाहिए।

(3) चिमनी का डैम्पर तथा सामने वाले डैम्परों को ठीक तरह से फिट होना चाहिए। सामने वाले डैम्परों के गाइड को आगे पीछे नहीं खिसकाना चाहिए तथा डैम्पर को गाइड में ठीक तरह से सरकाना चाहिए।

(4) पकाने वाले छेदों के आकार को बर्तन रख कर फिर से देख लेना चाहिए।

सम्पादकीय

21 वीं शताब्दी में विज्ञान एवं तकनीकी के कारण पर्यावरण में जिस परिवर्तन की संभावना है उसका अनुमान वर्तमान शताब्दी में पर्यावरण के प्रति हम सबों की गहन चिन्ता से ही लगाया जा सकता है। अतएव उसके विषय में और अधिक गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता है। ऐसा विचार किसी एक व्यक्ति को नहीं, अपितु देश के विभिन्न संस्थानों या संस्थागत समूहों के द्वारा किया जाना है। किन्तु इसकी पहल कौन करे ?

विज्ञान परिषद् विगत 73 वर्षों से देश में वैज्ञानिक वातावरण उत्पन्न करने तथा जन-जन में वैज्ञानिक चेतना जगाने का कार्य करती चली आ रही है। इसी उद्देश्य से उसके प्रमुख पत्र “विज्ञान” का प्रतिवर्ष कोई न कोई विशेषांक निकाला जाता रहा है। फलतः इस वर्ष भी परिषद् ने “विज्ञान, तकनीकी एवं पर्यावरण 2001” नामक विशेषांक निकालने की योजना बनाई जिसके लिए विद्वानों से लेख माँगाये गये और उन्हें संपादित करके इस अंक में दिया जा रहा है।

इस विशेषांक की योजना बनाते समय हमारी विचारधारा रही है कि पर्यावरण के समस्त पहलुओं का भली भाँति अध्ययन करके जनता को उससे अवगत कराया जाय। किन्तु हमारा अभिप्राय जनमानस को भयभीत करने का हुरगिज नहीं है। पर्यावरण का हमारे जीवन से कितना घनिष्ठ संबंध है इसका विस्तृत विवरण विशेषांक के लेखों से पाठकों को मिल जायगा।

आज मानव के समक्ष जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य है वह है पर्यावरण संरक्षण। अब समय आ गया है कि इसके महत्व को समझा जाय और उसे कारगर रूप से लागू करने का भरसक प्रयत्न किया जाय।

पर्यावरण संरक्षण का विचार नया नहीं है। यह भारत के धर्म तथा संस्कृति का सदा से अभिन्न अंग रहा है। पहले मनुष्य पेड़ लगाना पुण्य का कार्य समझता था और उस पर कुल्हाड़ी चलाना पाप समझा जाता था। इसके पीछे धार्मिक भावना जो भी रही हो, कहीं न कहीं पर्यावरण संरक्षण का विचार अवश्य रहा होगा। भारत के ऋषि-मुनि जंगलों में आश्रम बनाकर रहते थे। इन आश्रमों में पेड़-पौधों तथा वन्य जीव-जन्तुओं को उन्मुक्तता से रहने व प्रजनन का अधिकार था। प्राचीन शासकों ने भी हर प्रकार के जीवन के प्रति प्रेम भाव बनाये रखने का उपदेश दिया। इसके पीछे भी पर्यावरण संरक्षण की ही भावना रही होगी।

परन्तु लगभग सौ वर्षों में बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव में पर्यावरण को बड़े पैमाने पर दूषित होते देखा गया है। मानव ने अपनी भौतिक सुख-सुविधाओं के साधन जुटाने में प्रकृति के साथ खिलवाड़ करना आरम्भ कर दिया है और उसने इन साधनों की पूर्ति के लिए प्रकृति को इस सीमा तक क्षति पहुँचाई है कि इसके द्वारा स्थापित पर्यावरण संतुलन ही नष्ट हो रहा है और समूची मानव जाति, पेड़-पौधे व अन्य जीवों का अस्तित्व ख़तरे में नजर आ रहा है। ऐसा अनुमान है कि विश्व भर में प्रति वर्ष 1000 से अधिक पशु प्रजातियों और 20.000 पादप पुष्पों की प्रजातियों के विलुप्त होने का ख़तरा है।

किसी भूमि के ऊपर के वन उसके स्वास्थ्य के अच्छे सूचक हैं। हाल के दशकों में नगरीकरण व औद्योगिकीकरण के नाम पर बिना सोचे समझे अंधाधुंध काटे गये जंगलों के कारण हमालय व अन्य पहाड़ी क्षेत्रों के जल ग्रहण क्षेत्रों में भूमि अपरदन, भूस्खलन तथा बाढ़ जैसी समस्याओं का प्रकोप बढ़ गया है। इससे हुई हानि सर्वविदित है। “क्षिपको” आन्दोलन इसी

विनाश को बचाने की दिशा में एक कदम है। किन्तु मनुष्य अपने स्वार्थ में यहाँ तक लिप्त हो गया है कि उसने शान्त घाटी तक को नहीं छोड़ा। धूलीय, गैसीय तथा ध्वनि प्रदूषण कम करने में पेड़-पौधों का विशेष योगदान है।

सड़कों पर लगातार बढ़ती हुई संख्या में चलने वाले वाहन, तथा कल-कारखानों की धुआँ उगलती चिमनियाँ वायुमण्डल में निरंतर ज़हर घोल रही हैं। ऐसा अनुमान है कि वह समय दूर नहीं जब वायुमण्डल में पर्यावरण असंतुलन के कारण इतनी कार्बन डाइऑक्साइड एकत्र हो जायगी कि उसमें सांस लेना भी दूभर हो जायगा। यही नहीं, जो पेड़-पौधे इस बढ़ती हुई कार्बन डाइऑक्साइड को आत्मसात कर सकते हैं उन्हें भी हम काटते जा रहे हैं। इथियोपिया में पिछले कई सालों से चले आ रहे अकाल की विनाशालीला का एक कारण पेड़-पौधों का अधाधुंध काटना भी बताया गया है।

प्रकृति ने हमें सूर्य की परावैगनी किरणों से बचाने के लिए वायुमण्डल में ओज़ोन नामक रसायन की एक छतरी सी तान रखी है। वायुमण्डलीय प्रदूषण के कारण इस छतरी में छेद होने की आशंका पैदा हो गई है। उस दशा से उत्पन्न परिणाम को सोचने मात्र से ही शरीर में सिहरन पैदा हो जाती है।

एक अनुमान के अनुसार विश्व में लगभग 30,000 व्यक्ति हर रोज़ दूषित पानी के कारण मरते हैं। भारत की लगभग 70 प्रतिशत ग्रामीण जनता प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से पीने के साफ पानी की सुविधा के अभाव में ही कालकवलित होती है।

हम आजकल रसायनों के युग में जी रहे हैं। ये हमारे जीवन के लिए अत्यावश्यक रहे हैं। ये न होते तो धरती पर जीवन भी न होता। प्राकृतिक रसायन हमारे लिए प्रायः लाभकारी होते हैं। किन्तु प्रगति के साथ ही मनुष्य ने ऐसे अनेक रसायन बना डाले हैं जो आवश्यक होने के साथ-साथ हानिकारक हैं, और इन्हीं से हमारा पर्यावरण दूषित हो रहा है। पर ये हमारे लिए इतने आवश्यक हैं कि हम उनका प्रयोग बन्द करने की स्थिति में नहीं हैं। आज आवश्यकता इन पर प्रतिबंध लगाने की नहीं है अपितु इनका युक्तिसंगत तथा विवेकपूर्ण प्रयोग करने की है।

अतः यदि हम चाहते हैं कि हमारी आने वाली पीढ़ी स्वच्छ व शान्त वातावरण में सांस ले सके और अपनी आवश्यकताओं तथा आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए अपनी संभावनाओं को बनाये रख सके तो पर्यावरणीय संरक्षण पहली ज़रूरत है। यदि अनुकूल पर्यावरण में समय की मांग के साथ-साथ बदलाव आवश्यक ही है तो उसमें रह सकने के लिए उतनी ही तेज़ी से अपनी अनुकूलनक्षमता पैदा करना भी आवश्यक है।

मैं उन समस्त लेखकों का हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय से लेख भेजकर इस विशेषांक के प्रकाशन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

विशेषांक के सम्पादन में तथा इसे इस रूप में प्रस्तुत करने में मुझे, अपने सहयोगियों डॉ॰ शिवगोपाल मिश्र, श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, डॉ॰ राम सुरंजन धर दुबे, डॉ॰ अशोक कुमार व डॉ॰ अशोक महान का योगदान मिला है। मैं इन सभी के प्रति अपना आभार प्रगट करता हूँ। विशेषांक के विषय में पाठकों की सम्मतियों तथा प्रतिक्रियाओं का मैं स्वागत करूँगा। □

—जगदीश सिंह चौहान

भारतीय पर्यावरण की वर्तमान स्थिति

अनिल कुमार शुक्ल

17, म्योर कॉलेज कॉलोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारत में पर्यावरण के प्रति व्यापक जनचेतना के अभाव को इस क्षेत्र से जुड़े लोग बड़े लंबे असें से महसूस करते रहे हैं तथापि बहुत हाल तक किसी भी व्यक्ति या संस्था ने पूरे देश के स्तर पर इस दिशा में समेकित एवं संगठित अध्ययन का प्रयास तक नहीं किया और वास्तव में इतने विशाल व विविधतापूर्ण देश के संपूर्ण पर्यावरण के बारे में व्यक्तिगत स्तर पर जानकारी रखने की आशा जनसामान्य से करना मेरी दृष्टि में एक भूल है। खुशी की बात है कि इस कठिनाई को ध्यान में रखते हुये ही **सेन्टर फॉर साइंस एण्ड एनवाइरानमेंट (सी० एस० ई०)**, दिल्ली ने इस दिशा में गंभीर प्रयास करते हुये आज से लगभग चार साल पूर्व 'द स्टेट ऑफ इण्डियाज एनवाइरानमेंट 1982' (The State of India's Environment 1982) नामक रिपोर्ट प्रकाशित की थी। और अब उसी की दूसरी कड़ी के रूप में प्रकाशित हुई है 'द स्टेट ऑफ इण्डियाज एनवाइरानमेंट 1984-85'। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि 1984-85 की रिपोर्ट प्रकाशित हो जाने से न तो 1982 की रिपोर्ट का महत्व घटता है और न उसकी आवश्यकता ही कम होती है क्योंकि यह नई रिपोर्ट वस्तुतः पहली रिपोर्ट की पूरक है।

इन दोनों रिपोर्टों को तैयार करते समय श्री अनिल अग्रवाल एवं उनके सहयोगियों का दृष्टिकोण कितना व्यापक रहा है यह बात रिपोर्ट के उस स्थल पर ही स्पष्ट हो जाती है जहाँ पर्यावरण की अपनी अवधारणा को स्पष्ट करते हुये वे कहते हैं, "पर्यावरण

का तात्पर्य केवल सुन्दर वृक्ष व चीते अथवा विलुप्त हो रहे पौधे व विगड़ता पर्यावरण तन्त्र ही नहीं है अपितु यह वह वास्तविकता है जिस पर कि हम सब का अस्तित्व एवं संपूर्ण कृषीय व औद्योगिक विकास निर्भर करता है।"

1984-85 की रिपोर्ट के विभिन्न पहलुओं पर कुछ विस्तार से चर्चा करने से पूर्व मैं 1982 की ऐतिहासिक रिपोर्ट के बारे में भी संक्षिप्त चर्चा करना चाहूँगा जिसमें शायद पहली बार पूरे राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में प्रदूषण-स्तर, भूमिरक्षण एवं वन-विनाश आदि के फलस्वरूप हमारे जीवन-स्तर पर पड़ने वाले प्रभाव का विशद विवेचन किया गया है। मैं यहाँ पर केवल दो उदाहरणों यानी शांति घाटी रक्षा अभियान व चिपको आन्दोलन के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयास करूँगा कि पहली नागरिक रिपोर्ट तैयार करते समय श्री अग्रवाल व उनके सहयोगियों ने कितनी सूक्ष्म दृष्टि एवं गहरी लगन का परिचय दिया है।

केरल के मालाबार क्षेत्र में स्थित है शांति घाटी और इसी शांति घाटी से होकर बहने वाली एक नदी पर बाँध बनाकर जलविद्युत् का उत्पादन करना चाहती है यहाँ की प्रदेश सरकार। सी० एस० ई० की रिपोर्ट के मुताबिक आज से करीब 65 साल पूर्व 1921 में सर्व प्रथम यहाँ बाँध बनाने की बात सोची गई थी। तकनीकी दृष्टि से यह स्थान अन्य स्थलों की तुलना में ज्यादा उपयुक्त तो है ही, पर इस पूरे घाटी क्षेत्र में मिलने वाली जंतुई एवं वानस्पतिक विविध-

ताओं को दृष्टिगत रखते हुये पर्यावरणविदों, वैज्ञानिकों व प्रकृति-प्रेमियों ने यहाँ किसी भी प्रकार के **अनधिकृत** सरकारी प्रवेश का विरोध किया। वास्तव में, सोचा जाये तो हजार से भी अधिक वानस्पतिक प्रजातियों एवं सैकड़ों प्रकार की जंतु प्रजातियों से भरी यह शांतिघाटी एक **जीता जागता प्राकृतिक अजायबघर** ही है। क्योंकि यहाँ अनेक ऐसी जंतु व वानस्पतिक प्रजातियाँ हैं जो या तो इस शांतिघाटी क्षेत्र के बाहर पूरे विश्व में कहीं और पायी ही नहीं जातीं अथवा अब अन्यत्र विलुप्त हो चुकी हैं। पाँच करोड़ वर्ष पुरानी इस अमूल्य प्राकृतिक निधि—शांतिघाटी—को सुरक्षित रखने का भार पूरे विश्व के प्रबुद्ध वर्ग पर तो है ही पर असली दायित्व तो हम भारतवासियों का ही है। और उस स्थिति में तो हमारा दायित्व और भी बढ़ जाता है जबकि केरल की लोकतांत्रिक सरकार प्रदेश की वर्तमान विद्युत्-माँग के **केवल सात प्रतिशत** की (संभावित) पूर्ति के लिये **शांतिघाटी क्षेत्र में** ही बाँध बनाने का **आत्मघाती** संकल्प लिये बैठी हो।

अब आइये चिपको आंदोलन की ओर। हिमालयी वन क्षेत्र में जन्में इस विश्वप्रसिद्ध अहिंसक पर्यावरण आन्दोलन के दो प्रमुख सूत्रधारों—श्री चंडी प्रसाद भट्ट एवं श्री सुन्दरलाल बहुगुणा—की कार्यशैली में वर्तमान विभेद को दर्शाते हुये सी. एस. ई. की पहली रिपोर्ट स्पष्ट करती है कि श्री भट्ट को चमोली क्षेत्र में तो वन-कटाई के ठेकेदार दिखाई नहीं देते पर श्री बहुगुणा के तमाम लेखों, भाषणों एवं कश्मीर से कोहिमा तक की उनकी पदयात्रा (1981) के बावजूद टिहरी क्षेत्र में वनों का कटना जारी है। रिपोर्ट के अनुसार श्री बहुगुणा मूलतः एक पत्रकार हैं जो हिमालय के पूरे क्षेत्र में वनों की कटाई पर पूर्ण प्रतिबंध चाहते हैं ताकि पहाड़ी संस्कृति एवं देश की सीमायें सुरक्षित रह सकें। अपने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये वे संचार एवं प्रचार माध्यमों पर ज्यादा भरोसा रखते हैं जबकि श्री भट्ट पहाड़ी ग्रामवासियों में वन एवं पर्यावरण के प्रति चेतना जगाते हुये उन्हें

वन-विनाश के खिलाफ संगठित करने पर बल देते हैं। श्री भट्ट की धारणा है कि वन-संसाधनों की सुरक्षा एवं उनके विकास का प्रबंध इस प्रकार से होना चाहिये कि पर्यावरण तो सुरक्षित रहे ही साथ ही स्थानीय लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति भी होती रहे।

‘चिपको आन्दोलन’ के संदर्भ में रिपोर्ट में उल्लिखित दो घटनाओं की चर्चा किये बगैर हिमालय के इस पर्यावरण आंदोलन का रूप शायद स्पष्ट न हो सकेगा। ये दोनों ही घटनायें अपने पर्यावरण के प्रति जागरूक उन पहाड़ी वीरांगनाओं की चेतना की प्रतीक हैं जो कि वन-विनाश से उत्पन्न चारे व ईंधन की कमी से ज्यादा और सीधे प्रभावित होती हैं। पहली घटना चमोली क्षेत्र के **भियण्डार (Bhyundar)** गाँव की है जहाँ के ग्रामीणों ने बद्रीनाथ आनेवाले तीर्थ-यात्रियों के लिये हरे वृक्षों को काटने से इनकार कर दिया था। तब वन विभाग ने उस लकड़ी को काटने का ठेका पड़ोसी गाँव के लोगों को दे दिया। जब गाँव की औरतों को इस बात का पता चला तो उन्होंने सारी कुल्हाड़ियाँ चुरा कर रख लीं और पुरुषों के लाख प्रयासों के बावजूद तब तक नहीं लौटाई जब तक कि पुरुषों ने **पेड़ न काटने का वादा** नहीं कर लिया। पर इससे भी रोमांचक स्थिति तो डंगारी-पटौली (Dungari Paitoli) गाँव में तब उत्पन्न हो गई जबकि सरकार ने गाँव की पुरुष-प्रधान पंचायत को सड़क, स्कूल, अस्पताल व रोजगार के सब्जबाग दिखाकर इस बात पर सहमत कर लिया कि गाँव के बगल का जंगल काटकर वहाँ आलू के बीज का फार्म बना दिया जाय। पर जब गाँव की औरतों को यह बात पता चली कि पुरुषों ने गाँव का जंगल **‘बोच’** दिया है तो उन्होंने जबरदस्ती विरोध किया। जिला प्रशासन द्वारा गिरफ्तारी की धमकी व पुरुषों द्वारा लगातार प्रताड़ित किये जाने के बावजूद उस गाँव की औरतों ने श्री भट्ट एवं अन्य कार्यकर्ताओं के सहयोग व समर्थन के बल पर निरंतर मुखर प्रतिरोध किया और अंततः वे **‘अपने जंगल’** को बचा पाने के

संघर्ष में सफल रहें !! शत-शत नमन उन माँ बहनों को जिन्होंने सब कुछ सहा—हम सबके लिये, हमारे पर्यावरण के लिये, जीवमात्र के अस्तित्व के लिये। लगता है ऐसी ही वन्दनीय महिलाओं को ध्यान में रखकर किसी संस्कृत कवि ने लिखा होगा—**यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।**

पर 'चिपको आन्दोलन' एवं अन्य पर्यावरण रक्षा अभियानों द्वारा जगाई गई चेतना के बावजूद, अधिकांश भारतवासी, पर्यावरण के बारे में अत्यंत सतही दृष्टिकोण रखते हैं। और सच्चाई तो यह है कि हम भारतीय लोग यह तो महसूस करते हैं कि हमारा पर्यावरण प्रदूषित है, पर हम यह नहीं सोच पाते कि यह पर्यावरण आज इससे भी अच्छा होता यदि हमने पहले प्रयास किये होते। और फिर अधिकांश भारतीय अभी भी भविष्य में स्वच्छ पर्यावरण सुनिश्चित करने के लिये प्रयत्नशील नहीं हैं। **तथापि सी० एस० ई० की दूसरी रिपोर्ट (1984-85) निराशाजनक नहीं है** तथा यह रिपोर्ट भारतीय पर्यावरण की बेहतरी के लिये प्रयास करने वालों के लिये महत्वपूर्ण गाइड का काम कर सकती है क्योंकि यह रिपोर्ट—भूमि, जल, वन, बाँध, वायुमंडल, आवास, जन-स्वास्थ्य, ऊर्जा आदि—सब पक्षों पर विस्तार से विचार करती है।

'भूमि' के अन्तर्गत रिपोर्ट पर्यावरण के तीन पहलुओं—चराई भूमि, मृदा अपरदन, खनन—पर विचार करती है। रिपोर्ट के अनुसार, वृष्टिपूर्ण सरकारी वन नीति के परिणामस्वरूप पशुओं के चारे की समस्या अत्यधिक उलझती जा रही है। यहाँ तक कि 1200 किमी. से अधिक वर्षा वाले भारत के उस क्षेत्र में भी जहाँ कि मौसम चार महीने से ज्यादा शुष्क नहीं रहता वहाँ भी पशुचारा दुर्लभ होता जा रहा है तथा चारे की खोज में अपने पशुओं के साथ जंगल की ओर बढ़ रहे चरवाहों एवं जंगल के निवासियों के बीच हिंसक संघर्ष आम बात होती जा रही है। पश्चिमी भारत के अपेक्षाकृत शुष्क क्षेत्रों में सौराष्ट्र विश्व-विद्यालय के डॉ० एस० सी० पांडेय एवं उनके सहयोगियों द्वारा किये गये अध्ययन के अनुसार वहाँ

वृक्षों के कटने एवं थोड़ी मात्रा में उपलब्ध घास को ही बार-बार चराने के फलस्वरूप हर बार अगली बरसात [800 मिमी-1000 मिमी] में ढीली पड़ गयी मिट्टी की ऊपरी उपजाऊ परत बह जाती है और अगले आठ महीने इतने शुष्क होते हैं कि फिर वहाँ घास का एक तिनका भी दिख जाना 'आश्चर्य' लगता है। रिपोर्ट की स्पष्ट चेतावनी है कि यदि इस क्षेत्र में प्राथमिकता देकर ईमानदारीपूर्वक बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण न किया गया तो थार का मरुस्थल पूरे मध्यभारत को अपनी चपेट में ले सकता है।

खनिज उत्पादन और पर्यावरण के बीच संबंध को स्पष्ट करती हुई रिपोर्ट उन 40 जिलों के आदिवासियों के कष्टों की तरफ ध्यान आकृष्ट करती है जहाँ हमारे कुल खनिज का आधे से अधिक भाग निकाला जाता है। रिपोर्ट के अनुसार पिछले तीस वर्षों में मूल्य की दृष्टि से खनिज उत्पादन में लगभग पचासगुनी वृद्धि है पर इस 'विकास' की कीमत हमें लाखों हेक्टेयर जंगल का सफाया करके तथा सैकड़ों गाँवों को जनविहीन बनाकर चुकानी पड़ी है।

'जल' के अन्तर्गत रिपोर्ट पाठकों का ध्यान पेय-जल, तालाव एवं मत्स्यपालन पर प्रदूषण के प्रभावों की ओर आकृष्ट करना चाहती है। देश के कई भागों में विशेषकर दूर-दराज के शुष्क इलाकों यथा राजस्थान में गर्मी के दिनों में पेयजल—शुद्ध या अशुद्ध—तो दुर्लभ ही हो जाता है पर देश के शहरी इलाकों के जलनिगमों द्वारा वितरित पेयजल में, कभी-कभी पाये जाने वाले कीटाणु भी ऐसा लगता है हमारे 'पर्यावरण' के अभिन्न अंग बन गये हैं। सी० एस० ई० की रिपोर्ट हमारा ध्यान तेजी से प्रदूषित हो रही नदियों, झीलों, तालाबों एवं बाँधों की ओर आकृष्ट करती है जिसके फलस्वरूप मत्स्यपालन के प्रभावित होने से मछुआरों की जिंदगी पर भी प्रश्नचिह्न लगने लगा है।

पर सी० एस० ई० की इस रिपोर्ट में पर्यावरण असंतुलन का एक सर्वाधिक विवादास्पद आयाम बड़े बाँधों का उभर कर सामने आता है। एक तरफ भारतीय आयोजनाकार सिंचाई, बिजली व अन्य अनेक

लाभों को गिनाते हुये इन 'बहुउद्देशीय' बाँध परियोजनाओं को 'अनिवार्य' बताते हैं तो दूसरी तरफ सी० एस० ई० की रिपोर्ट के मुताबिक ये बड़े बाँध लाभ पहुँचाने की अपेक्षा नुकसान ज्यादा करते हैं। रिपोर्ट नर्मदा बेसिन विकास परियोजना के उदाहरण में स्पष्ट करती है कि यदि परियोजना में प्रस्तावित छोटे-बड़े 329 बाँधों का निर्माण-कार्य संपन्न हुआ तो दस लाख लोग विस्थापित होंगे। इन बाँधों के विकल्प के रूप में रिपोर्ट हजारों वर्ष पुरानी—रामायणकालीन टैंक-पद्धति की संस्तुति करती है। रिपोर्ट स्पष्ट करती है कि विशेषज्ञों की एक गणना के अनुसार यदि देश की 3% जमीन पर तालाब बनाये जायँ तो वे लगभग 25% वर्षाजल को संचित कर सकते हैं। रिपोर्ट का मानना है कि ये छोटे-छोटे बाँध पर्यावरण की दृष्टि से तो वांछनीय हैं ही आर्थिक दृष्टि से भी वरणीय हैं क्योंकि इन छोटे बाँधों से मृदा अपरदन नहीं होता, वनों का विनाश नहीं करना पड़ता और इस प्रकार मरुस्थलीकरण को भी बढ़ावा नहीं मिलता पर इन सबसे बड़ा लाभ तो यह है कि एक भी परिवार को विस्थापित नहीं करना पड़ता।

न केवल मानव, बल्कि जीवमात्र के विकास में उसके 'आवास' की भूमिका को नकारा नहीं जा सकता अतः सी०एस०ई० की रिपोर्ट में भारतीय पर्यावरण के संदर्भ में 'आवास' की समस्या एवं इस समस्या को सुलझाने की प्रक्रिया में पर्यावरण के लिये उत्पन्न हो रहे खतरे की समस्या पर भी विचार किया गया है। देश के सर्वाधिक विकसित महानगर बंबई के निवासियों के आवास की वर्तमान अवस्था की चर्चा करते हुये रिपोर्ट स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देती है कि वर्तमान संकेतों के अनुसार इस शताब्दी के अंत तक बंबई की 70% जनसंख्या को मजबूरन अपना आवास झुग्गी-झोपड़ियों को बनाना पड़ेगा। भवन-निर्माण की बढ़ती लागत के संदर्भ में रिपोर्ट का सुझाव है कि भवन-निर्माण अधिकारियों द्वारा न केवल परंपरागत निर्माण सामग्रियों को बढ़ावा देना चाहिये, उनके प्रयोग के बारे में वास्तुविदों एवं इंजीनियरों को

प्रशिक्षित भी किया जाना चाहिये। इसी संदर्भ में रिपोर्ट हमारा ध्यान दलदली भूमि को तेजी से आवासभूमि में परिवर्तित किये जाने की ओर आकर्षित करती है। रिपोर्ट के अनुसार यद्यपि यह सही है कि दलदली भूमि मच्छर एवं कीट-पतंगों की जन्मभूमि है पर केवल 'इसीलिये' उन्हें भरकर वहाँ कॉलोनियाँ बसा देने से कई परेजानियाँ खड़ी हो जाती हैं। पहला तो शहर की प्राकृतिक जल-निकासी व्यवस्था चौपट हो जाती है और दूसरे कलकत्ता जैसे शहर में दलदली भूमि पर 'साल्ट लेक सिटी' बसा दिये जाने से मछली दुर्लभ हो जाती है। इच्छा होती है यह पूछने की कि—ऐ कलकत्ता वालों! क्या कभी सोचा है आपने कि साल्ट लेक सिटी जब पूरी बन जायेगी तो आपके पड़ोस में करीब 15 हजार परिवार और बस जायेंगे, तब हर साल मिलने वाली 25 हजार टन मछली आपको कहाँ से और किस कीमत पर मिलेगी?

अब कुछ बातें अपने वायुमंडल के बारे में। रिपोर्ट के अनुसार अनुमान है कि देश की राजधानी दिल्ली की लगभग पाँच लाख मोटर गाड़ियों की कृपा से प्रति-दिन लगभग 400 टन प्रदूषित पदार्थ वहाँ के वायुमंडल में मिल जाया करते हैं। और बंबई! तो जनाब आप अब दिल्ली के आंकड़ों से ही अंदाज लगा लीजिये—पर यह जरूर ध्यान रखियेगा कि बंबई में जीपों की संख्या पूरे देश की कुल संख्या की आधी है तथा निजी सवारियों यानी कारों, स्कूटरों आदि की दृष्टि से भी बंबईवासियों ने पूरे देश के 1/5 भाग पर कब्जा कर रखा है। और इसी प्रकार हमारे 'महान' देश के अन्य शहरों में भी वायुमंडल का 'स्तर' उस शहर के 'विकास-स्तर' पर निर्भर है!

'ऊर्जा संकट' न केवल भारत में बल्कि पूरे विश्व में चिंता का विषय है पर उससे भी चिंतनीय बात तो यह है कि हम अपने उपभोग के लिये ऊर्जा जुटाने की प्रक्रिया में अपने ही पर्यावरण को असंतुलित करते जा रहे हैं। रिपोर्ट के अनुसार हाल ही में किये गये एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि बड़े-बड़े ताप-विद्युत् केन्द्रों के समीप रहने वाले करीब दस लाख लोग

प्रदूषण की सरकारी सीमा से भी दस गुने अधिक प्रदूषण के शिकार हैं तथा देश के 48 ताप-ऊर्जा केन्द्र तो ऐसे हैं जिन्होंने प्रदूषण-नियंत्रण के लिये कुछ नहीं किया है।

देश में जलावन की लकड़ी की समस्या कितनी गंभीर है, यह तो हर भारतीय परिवार रोज ही अनुभव करता है पर शायद उसे यह मालूम नहीं कि दिल्ली में उपभोग के लिये जलावन की लकड़ी एक हजार किमी दूर असम से मँगानी पड़ती है जब कि जलावन की लकड़ी लाने के लिये कर्नाटक का हर परिवार प्रतिवर्ष औसतन 1400 किमी की दूरी तय करता है और जनाब, आपका परिवार? नहीं जानते! कोई बात नहीं, सोच कर फिर कभी बताइयेगा। अब आइये अपने शारीरिक विकास के लिये आवश्यक ऊर्जा के बारे में सोचें। हमें और आपको शायद यह तो पता होगा ही कि भारत के अधिकांश परिवारों को उनकी आवश्यकता के मुताबिक पौष्टिक पदार्थ यानी 'ऊर्जा' उपलब्ध नहीं पर क्या आप यह भी जानते हैं कि कुछ धनी देशों के उपभोक्ताओं को माँस की आपूर्ति करने के लिये हमारी सरकार प्रतिवर्ष हजारों दुधारे पशुओं के वध की अनुमति देती है! और अब अंत में रिपोर्ट का यह सुझाव कि यदि एक अच्छे स्टोव का प्रयोग किया जाय तो एक औसत गाँव में औरतों द्वारा खर्च की जाने वाली ऊर्जा का पाँचवाँ भाग बचाया जा सकता है।

हम भारतीयों के स्वास्थ्य पर, हमारे देश के औद्योगिक विकास एवं सरकारी नीतियों का कितना एवं कैसा प्रभाव पड़ता है, इसकी विस्तृत चर्चा करने के बजाय, यहाँ पर रिपोर्ट के निम्न आकलनों की तरफ, पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना ज्यादा जरूरी लगता है कि—

(i) भारत में चिकित्सकों द्वारा जड़ी-बूटियों की तरफ दुराग्रहपूर्ण रुख अख्तियार किया जाता है जबकि पश्चिमी देशों में बनी अधिकांश दवायें (जिनका आयात भारत में होता है) या तो

सीधे जड़ी-बूटियों से बनती हैं अथवा उनके रासायनिक अनुरूपों से।

(ii) देश में प्रतिवर्ष बनाये जाने वाले लगभग 10000 रसायनों में करीब 80% की विषधरता के बारे में, पिछले 40 वर्षों में हमें कोई जानकारी नहीं है।

(iii) परम्परागत कारणों से अल्पपोषित वर्ग में आने वाली भारतीय महिलाओं के लिये, लकड़ी का धुँआ अत्यन्त खतरनाक है, क्योंकि इस धुँये में पायी जाने वाली कार्बन मोनोऑक्साइड गैस महिलाओं में रक्ताल्पता को और बढ़ा देती है।

(iv) देश में अब भी प्रतिवर्ष लगभग दो करोड़ लोग, मलेरिया के शिकार होते हैं, जब कि सरकारी आंकड़ों के अनुसार, यह संख्या केवल 21.6 लाख है।

(v) देश में भोपाल जैसी कई और दुर्घटनायें हो सकती हैं, पर इसका सर्वाधिक खतरा बड़ौदा में है, जहाँ अनेक पेट्रोकेमिकल उद्योग स्थित हैं।

किन्तु भारतीय पर्यावरण का सर्वाधिक चिंताजनक पहलू वन-विनाश से संबंधित है। राष्ट्रीय दूर संचार (Remote sensing) एजेन्सी द्वारा 1984 के मध्य में उपलब्ध कराये गये आँकड़ों को आधार बनाकर, सी० एस० ई० की रिपोर्ट देश में तेजी से कटते जा रहे वनों के प्रति अपनी चिंता जाहिर करती है। उपग्रहों से प्राप्त इन सूचनाओं के विश्लेषण से अनेक चिंताजनक तथ्य स्पष्ट होते हैं—

(i) भारत में वस्तुतः प्रतिवर्ष 13 लाख हेक्टेयर जंगल भूमि का ह्रास हो रहा है जो कि सरकारी आंकड़ों से आठ गुना अधिक है।

(ii) भारत में जंगल केवल 14.10 प्रतिशत भूमि पर ही हैं जबकि सरकारी अनुमान 23 प्रतिशत का है और 1952 की राष्ट्रीय वन-नीति के मुताबिक आदर्श स्थिति 33 प्रतिशत है।

(iii) पहाड़ी क्षेत्रों में 60% भूमिपर वन होने की आदर्श स्थिति केवल अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर व अंडमान-निकोबार द्वीपों में ही है।

(iv) सर्वाधिक वन-विनाश मध्य प्रदेश में हुआ

है जहाँ 20 लाख हेक्टेयर जमीन से जंगल कटे हैं प्रत्येक में 10 लाख हेक्टेयर जमीन जंगलविहीन जबकि महाराष्ट्र, उड़ीसा, गुजरात व जम्मू-कश्मीर हुई है।

अनिल अग्रवाल

अनिल अग्रवाल यानी आई० आई० टी० कानपुर से मेकैनिकल इंजीनियरिंग की डिग्री प्राप्त एक प्रतिभाशाली युवक, जिसने इंजीनियर बनने के बजाय पत्रकार बनकर समाज की चेतना जाग्रत करना ज्यादा आवश्यक समझा। विज्ञान संवाददाता के रूप में उन्होंने 'इलस्ट्रेटेड वीकली ऑफ इंडिया', 'हिन्दुस्तान टाइम्स', 'इंडियन एक्सप्रेस' में काम किया। एक उत्साही पत्रकार के रूप में उन्होंने न केवल 'चिपको आन्दोलन' को नज़दीक से देखा बल्कि स्वयं भी वे पर्यावरण की समस्या से बहुत गहरे जुड़ गये। उन्हें इंटरनेशनल इंस्टिट्यूट ऑफ एनवाइरानमेंट एण्ड डेवलपमेंट, लन्दन में काम करने का अवसर मिला और वे उस संस्था से करीब साढ़े तीन वर्षों तक जुड़े रहे। जब वे 1980 में भारत लौटे तो उन्होंने दिल्ली में 'सेन्टर फॉर साइन्स एण्ड एनवाइरानमेंट' की स्थापना की। 1981 में पेनांग (Penang) में आयोजित एक सेमिनार में उन्होंने 'स्टेट ऑफ मलेशियन एनवाइरानमेंट' पर एक पेपर पढ़ा। इसी समय उनके दिमाग में यह बात आई कि भारतीय पर्यावरण की स्थिति पर भी एक रिपोर्ट तैयार की जाय। उत्साही गतिशील व्यक्तित्व की बदौलत उन्हें समान विचारधारा के अनेक सहयोगी मिले जिनको साथ लेकर उन्होंने भारत के पर्यावरणसंबन्धी विषयों पर प्रकाशित साहित्य एवं उपलब्ध आँकड़ों का संकलन शुरू किया और यही प्रयास 'द स्टेट ऑफ इण्डियाज़ एनवाइरानमेंट 1982', के रूप में साकार हुआ। इस पहली रिपोर्ट को प्रकाशित करने के लिये संपादित किया था—अनिल अग्रवाल, रवि चोपड़ा व कल्पना शर्मा ने। लगभग तीन साल के प्रयास के बाद इस श्रृंखला की दूसरी कड़ी प्रकाशित हुई है 'द स्टेट ऑफ इण्डियाज़ एनवाइरानमेंट 1984-85', जिसे संपादित किया है—अनिल अग्रवाल व सुनीतानारायन ने।

संप्रति अनिल अग्रवाल (37 वर्ष) एनवाइरानमेंट लायज़ाँ सेन्टर, नैरोबी के अध्यक्ष हैं और विश्व के पर्यावरण से संबन्धित अनेक संस्थाओं से जुड़े हुये हैं। उन्हें अभी पिछले वर्ष अक्टूबर 85 में अत्यन्त प्रतिष्ठित 'वर्ल्ड कन्जर्वेशन लेक्चर' (विश्व संरक्षण व्याख्यान) देने के लिये लंदन आमंत्रित किया गया था। सी० एस० ई० के दिल्ली कार्यालय का पता है—

सेन्टर फॉर साइन्स एण्ड एनवाइरानमेंट
707 विशाल भवन
95 नेहरू प्लेस, नई दिल्ली—110099

(v) 1972-82 की अवधि में पंजाब के आधे प्रदेश व जम्मू-कश्मीर ने अपने एक तिहाई जंगल से जंगल साफ हो गये जबकि हरियाणा, राजस्थान व हाथ धोया तो इसी अवधि में महाराष्ट्र ने अपना गुजरात भी पंजाब से ज्यादा पीछे नहीं रहे। हिमाचल एक चौथाई जंगल साफ कर डाला तथा पश्चिमी

बंगाल व तमिलनाडु के जंगलों के पाँचवे भाग का सफाया हो गया ।

(vi) त्रिपुरा, मणिपुर, मेघालय व मिज़ोरम के अलावा अन्य क्षेत्रों में वन, ज़मीन के बजाय सरकारी आँकड़ों में अधिक पाये जाते हैं ।

अब आइये, अपना ध्यान सी०एस०ई० की रिपोर्ट के सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू 'जन' की ओर केन्द्रित किया जाय । 'जन' यानी आप और हम, हमारे ग्रामीण और हमारे देशवासी जिन्हें सी० एस० ई० की यह रिपोर्ट अपने द्वारा संकलित आँकड़ों के विश्लेषण के लिये केन्द्रबिन्दु मानती है । एक ओर यह रिपोर्ट उन मछुआरों के लिये चिंतित है जिन्हें अपने पड़ोस के प्रदूषित नदी-नालों में अब मछलियाँ नहीं मिलतीं तो दूसरी ओर यह रिपोर्ट उन पशुओं की चिंता में है जिन्हें चरने के लिये घास नहीं मिलती और फिर यह रिपोर्ट उन औरतों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करती है जिन्हें प्रतिदिन लगभग दस घंटे ईंधन, चारा व पानी की व्यवस्था करने में लगते हैं तथा इन कामों के लिये जिन्हें औसतन 1400 किमी की पदयात्रा सर्दी-गर्मी-बरसात का ख्याल किये बिना पूरे साल करनी पड़ती है । रिपोर्ट इसलिये भी चिंतित है कि पर्यावरण के असंतुलन से सर्वाधिक प्रभावित होने वाला वर्ग है गरीबों का । वास्तव में प्रदूषण के मुख्य शिकार, भूमिहीन, सीमांत कृषक और महिलायें हैं जो कि सम्पूर्ण ग्रामीण जनसंख्या का तीन चौथाई हिस्सा हैं ! पुनः रिपोर्ट उ० प्र० सरकार द्वारा कागज़ मिलों को सस्ती दर पर घास उपलब्ध की नीति से भूख-मृत्यु के कगार पर पहुँच गये बान (baan) बनाने वाले 40000 परिवारों के लिये भी चिंतित है । साथ ही रिपोर्ट इस तथ्य को उजागर करती है कि वन-विनाश के कारण लकड़ी की कमी व उसके अत्यधिक मूल्य

के परिणामस्वरूप तमिलनाडु में मछुआरों का नाव बनाना, कर्नाटक में ग्रामीणों द्वारा बैलगाड़ी खरीद पाना एवं आंध्र प्रदेश के शिल्पियों द्वारा लकड़ी के खिलौने बना पाना दिन पर दिन कठिनतर होता जा रहा है ।

पर इन तमाम विषम परिस्थितियों के बावजूद रिपोर्ट निराशवादी नहीं है क्योंकि अभी भी बहुत कुछ शेष है जिसे बचाया जा सकता है और अब भी समय है कि बिगड़े हुये को बनाया जा सकता है । यद्यपि शिक्षा का प्रकाश गरीबों की झोपड़ियों तक नहीं पहुँचा है तथापि जागरूकता की पुकार उन तक पहुँच चुकी है । उनकी इस जागरूकता का ही प्रमाण एवं परिणाम हैं—हिमालय के चिपको व दक्षिण के एपिको आन्दोलन जिनमें कि आदिवासियों, ग्रामीणों—विशेषकर महिलाओं ने पेड़ों को कटने से बचाया और इसी जागरण का प्रभाव है—केरल की शान्तिघाटी परियोजना एवं कर्नाटक की बेडथी (Bedthi) परियोजना का स्थगन ।

निश्चय ही पूरे देश में एक तरह की जागृति तो है ही, जरूरत है उसे संगठित कर सही दिशा में मोड़ने की । यह बात हमें हर नागरिक के दिमाग में बैठानी पड़ेगी कि पर्यावरण के असंतुलन का सीधा प्रभाव हम पर ही पड़ता है अतः हम ऐसा कुछ भी न करें जिससे कि पर्यावरण का संतुलन बिगड़े और साथ ही हम यह भी सुनिश्चित करने का प्रयास करें कि कोई दूसरा व्यक्ति भी पर्यावरण के साथ खिलवाड़ कर हमारी पृथ्वी को नरक न बना दे । अभी भी समय है कि हम सक्रिय होकर अपने पर्यावरण की रक्षा करें, उसे बचायें । याद रखिये कि "प्रकृति को उत्तम व्यवस्था के लिए जरूरी है कि व्यवस्था के अन्तर्गत वे व्यक्ति शामिल हों, जिन्हें प्रकृति की निकटता हासिल है ।" □

क्या पर्यावरण आन्दोलन ग़ैर वैज्ञानिक हो चला है ?

अरविन्द मिश्र

व्याख्याता, मत्स्य प्रशिक्षण केन्द्र, चिनहट—227105 (लखनऊ)

पर्यावरण विभाग के भूतपूर्व निदेशक वसन्त केलकर ने पर्यावरण को लेकर एक सार्थक बहस छोड़ी ('साइंस टुडे' मई 1985) थी। उनका मानना था कि पर्यावरण आन्दोलन ने 'विज्ञान विरोधी' रुख अपना लिया है। वात अटपटी जरूर है, किन्तु वसन्त केलकर के दावे में दम है।

पर्यावरण शब्द इधर प्रायः विज्ञानसम्मत अर्थों में ही प्रयुक्त होता आया है। पर्यावरण आन्दोलन की आधारशिला पर्यावरण और पारिस्थितिकी (इकोलोजी) के कुछ मूल सिद्धान्तों पर टिकी है। पर्यावरण आन्दोलन का मुख्य स्वर ही वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुरूप पर्यावरण के संरक्षण और सन्तुलन को बनाये रखने का रहा है। ऐसे में यदि यह आवाज़ उठे कि यह आन्दोलन ग़ैर वैज्ञानिक हो गया है तो इसे हल्के-फुल्के ढँग से नहीं लेना चाहिये। आखिर वे कौन सी बातें हैं जिनसे प्रभावित होकर किसी ऐसे ग़ैरे ने नहीं बल्कि स्वयं भारत सरकार के विज्ञान और तकनीकी विभाग के उपसचिव और पर्यावरण विभाग के निदेशक जैसे जिम्मेदार पदों पर रह चुके एक वरिष्ठ अधिकारी ने पर्यावरण के सन्दर्भ में यह नया सवाल उठाया है ?

पर्यावरण शब्द दरअसल इधर बहुत पिट गया है। अब इस पर वैज्ञानिक सन्दर्भ का अंकुश हट सा गया है और एक 'फ़ैशनेबुल' शब्द ('कैच फ़्रेज' !) के रूप में इसका इस्तेमाल बढ़ता जा रहा है। आज पर्यावरण शब्द हरेक की जुवान पर है। अतिलोक-प्रियता का शिकार हो चुका यह शब्द अब अपनी वैज्ञानिक गरिमा खो चुका लगता है।

वसन्त केलकर द्वारा शुरू की गयी बहस के कुछ गहन मुद्दों पर विचार करने के पहले आइये हम पर्यावरण शब्द के वैज्ञानिक सन्दर्भ से परिचित हो लें। किसी भी प्राणी के चारों ओर मौजूद स्थितियों को

उस प्राणी का सम्पूर्ण पर्यावरण माना जाता है। जैसे मानव का पर्यावरण उसके चारों ओर घिरे परिवेश या वातावरण की ओर संकेत करता है। इसके अन्तर्गत वायु, जल, शोर भवन, समुद्र, झील, पार्क, वाहन, नदी, पर्वत, जीव-जन्तु, वनस्पतियाँ, खुले मैदान, पर्वतों की गुफायें आदि आदि सभी कुछ शामिल हैं। यानी मानव का पर्यावरण बहुत विस्तृत है। किन्तु इस विस्तार में भी एक अद्भुत सन्तुलन बना रहता है। पर्यावरण के हर घटक एक दूसरे से बहुत ही संवेदनशील सन्तुलन बनाये हुये हैं जिसे "पारिस्थितिकी सन्तुलन" या "पारिस्थितिकी जाल या तन्त्र" भी कहते हैं। इस सन्तुलन में किसी तरह का व्यतिक्रम पूरे पर्यावरण की व्यवस्था को बिगाड़ सकता है। आज मानव की औद्योगिक प्रगति के चलते उपजे प्रदूषण से पर्यावरण के सन्तुलन के बिगाड़ जाने की आशंका बढ़ चली है। यद्यपि कि मानव का पर्यावरण सुदीर्घ एवं अति विस्तृत है किन्तु मानव द्वारा उत्पन्न प्रदूषण भी विकराल रूप धारण करता जा रहा है अतः विश्व के हर कोने से प्रकृति-प्रेमियों, संरक्षणवादियों, पारिस्थितिकीविदों और पर्यावरण-शास्त्रियों की पुरजोर आवाज़ें पर्यावरण की संरक्षा एवं सुरक्षा पर जोर देती रही हैं। इस पर्यावरणीय चेतना ने पश्चिमी देशों में एक संगठित जनान्दोलन का भी रूप ले लिया है। भारत में भी यह आन्दोलन मुखरित हो रहा है। अब तक "पर्यावरण चर्चा" केवल बुद्धिजीवियों के बीच की बात थी, किन्तु अब पर्यावरण शब्द तेज़ी से थोड़ा पढ़े लिखे आम लोगों में भी परिचित हो रहा है। इसका कारण प्रदूषण की बड़ी-बड़ी दुर्घटनायें हैं, जिनके संचार-माध्यमों द्वारा उल्लेख में 'पर्यावरण' शब्द जुड़ता ही है। पर्यावरण से आम आदमी परिचित हो यह बहुत अच्छी बात

है। किन्तु आज पर्यावरण को तुड़े-मुड़े रूप में आम आदमी के सामने पेश किया जा रहा है। उसके लिये पर्यावरण एक दहशत भरा शब्द बन चुका है जो कि अपणकुन सूचक है। पर्यावरण का मतलब अब केवल हादसा और भयंकर नरमेध है। पर्यावरण एक अदृश्य पिशाच बन चुका है। उससे डरने की जरूरत है। उससे भयग्रस्त बने रहना है। इस तरह आज पर्यावरण आन्दोलन खुद अपने ही लक्ष्यों से बुरी तरह भटक चुका है जिसके जिम्मेदार भी कुछ अतिउत्साही प्रकृति-प्रेमी, पर्यावरण विद और हमारा संचार (प्रचार) तन्त्र ही है।

बसन्त केलकर का दावा है कि कुछ अतिवादी पर्यावरणविदों और पारिस्थितिकी वैज्ञानिकों के भावुकता से भरे क्रिया-कलापों ने पर्यावरण आन्दोलन को विज्ञानविरोधी मोड़ दे दिया है। उनके लिये आज 'पेस्टीसाइड', 'एन्टीबायोटिक्स', 'केमिकल फर्टिलाइजर' आदि "गन्दे" शब्द बन चुके हैं। बहुत से पर्यावरणविद तो पेस्टीसाइड (कीटनाशी रसायन) का इस्तेमाल इसलिये अनुचित मान रहे हैं कि उससे कीट-पतंगों का अस्तित्व नष्ट हो रहा है। उनकी इस मुहिम में पेस्टीसाइड द्वारा आदमी पर पड़ने वाले दुष्प्रभावों की बात गौण हो गयी है। जैसे कीट-पतंगों का हित आदमी से भी बढ़कर है। पेस्टीसाइड तो कीट-पतंगों के ही नाश के लिये बने हैं। हाँ ! उनका अन्धाधुन्ध नहीं बल्कि सन्तुलित प्रयोग होना चाहिये। किन्तु इन भावुकताग्रस्त (ओढ़ी हुई भावुकता ?) पर्यावरणविदों के क्या कहने जो यह दलील पेश करते हैं कि "कीट-पतंगे भी जीवधारी हैं और उन्हें जीने का पूरा हक है"। इस तरह मानव के चिन्तन के इतिहास में एक सर्वथा नयी मानसिकता "पर्यावरण नैतिकता" का सूत्रपात हुआ है, जिसका वैज्ञानिक आधार है। इस पर्यावरणीय नैतिकता के कुछ प्रमुख सिद्धान्तों के अन्तर्गत, (1) पृथ्वी एक 'पूर्ण तन्त्र' (क्लोस्ड सिस्टम) है, जो कि सीमित वायु, पानी तथा भोजन से युक्त व अपशिष्ट के निपटान की सीमित क्षमता रखती है। (2) पृथ्वी की मिट्टी स्थलचारियों

के लिये अच्छी स्थिति में बनी रहनी चाहिये। (3) आदमी और प्रकृति की कुशल व्यवस्था पारिस्थितिकी के सिद्धान्तों पर सम्भव है। (4) अन्य जीवधारियों का भी अधिकार (प्रकृति प्रदत्त !) है कि वे अस्तित्व में रहें, आदमी प्रकृति का एक भाग भर है बस, वह अन्य जीवधारियों का विजेता नहीं है। (5) प्रकृति में जीवन की विविधता बनी रहनी चाहिये, जिससे पर्यावरणीय बदलाव के समय पारिस्थितिकी-तन्त्रों का स्थायित्व और उनकी अनुकूलन-क्षमता बनी रहे। (6) प्रकृति के सन्तुलन में बड़े बदलाव आदमी और अन्य जीवधारियों के क्रिया-कलापों पर प्रतिकूल प्रभाव डाल सकते हैं। (7) मानव जनसंख्या का कम घनत्व (दबाव) प्राणी-प्राणी में प्रतिस्पर्धा घटाता है, जैविक विविधता की संरक्षा करता है, प्रदूषण कम करता है और तेजी से कम हो रहे संसाधनों की माँग में कमी ला देता है। (8) एक उच्चस्तरीय जीवनपद्धति के लिये स्वच्छ वायु, पानी, भोजन, सुखद परिवेश, और प्रशान्ति आवश्यक है। (9) और यह कि शिक्षा प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जो लोगों में प्रकृति-प्रेम की गहरी भावना विकसित कर सके। "पर्यावरणीय नैतिकता" के तहत इन मूल मुद्दों में एक अन्तर्निहित वैज्ञानिकता भले ही हो, किन्तु अब इन्हें भावुकता का जामा पहनाया जा रहा है। इनकी वस्तुनिष्ठता बाधित हो गयी लगती है। जैसे आधुनिक उद्योगों की ही बात लें। पर्यावरण अतिवादी उन्हें एकमत होकर मानव के लिये "अभिशाप" का दरजा देते हैं, क्योंकि उनसे असीमित प्रदूषण उत्पन्न हो रहा है और हमारा पर्यावरण दूषित हो रहा है। आधुनिक उद्योगों ने मानव-जीवन को कितना सुखमय बनाया है, यह बात ये पर्यावरणविद नजरअन्दाज कर जाते हैं, जिससे वस्तुस्थिति का सन्तुलित विवेचन नहीं हो पाता। आधुनिक उद्योगों के जन्म के पीछे चूँकि विज्ञान ही रहा है अतः अब आधुनिक "विज्ञान" भी इस पर्यावरण-विदों के कटघरे में आ गया है। आधुनिक विज्ञान ही प्रमुख अपराधी है। इसी के तो चलते भयानक नाभिकीय विस्फोट हुये हैं।

यदि पर्यावरणविदों की सभी दलीलें मान ली जायें तो हमें पुनः पाषाणयुग की ओर लौटना होगा, प्रगति की घड़ी की सुईयों को वापस घुमा देना होगा क्योंकि तभी पर्यावरण उस रूप में संरक्षित हो पायेगा, जैसा कि अतिवादी पर्यावरणविद् चाहते हैं। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या यह सम्भव है? हमें पुनः “गुफा जीवन” की ओर लौटने में व्यावहारिक परेशानियाँ हैं। आज जरूरत इस बात की है कि हमारे प्रगति और पर्यावरण के रिश्तों में एक तालमेल बनाया जाय। हम अपने विवेक से इसे बनाये रख सकते हैं। औद्योगिक दुर्घटनायें न हों और प्रदूषण न बढ़े इसके लिये हमें चौकस रहना होगा। कारवार, सुरक्षा व्यवस्था सुनिश्चित करनी होगी। औद्योगिक प्रदूषण को दूर करने का सबसे सीधा और सरल हल यदि उद्योगों का सफाया माना जायेगा तो हम बड़ी मुसीबत में पड़ जायेंगे। उद्योगों ने मानव जीवन में गुणात्मक परिवर्तन किये हैं। ऐसे उद्योग हैं, जो बड़ी मात्रा में रासायनिक खाद, खर-पतवार और कीटनाशी रसायन तथा पादप-वृद्धि के लिये हार्मोन बना रहे हैं। इनके वन्द होने से हमारे लिये अन्न के लाले पड़ जायेंगे। भोपाल की औद्योगिक दुर्घटना केवल लापरवाही और सुरक्षा-साधनों की कमी के कारण हुई है। यह भी सही है कि ऐसे उद्योग मानव आवादी के सूत्रों में नहीं स्थापित होने चाहिये। किन्तु इसके लिये पूरी आधुनिक प्रौद्योगिकी पर प्रश्नचिह्न लगाना उचित नहीं है।

भोपाल दुर्घटना को लेकर डॉ० अनिल सदगोपाल के नेतृत्व में एक जनआन्दोलन भड़क चुका है। खबर मिली थी कि भोपाल में गैस-पीड़ितों की पुलिस से जमकर मुठभेड़ हुई थी और डॉ० सदगोपाल के साथ कई अन्य लोग बंदी हुये थे। भोपाल का मामला बहुत

संवेदनशील है। लेकिन कोशिश यही होनी चाहिये कि यहाँ पर्यावरण आन्दोलन एक संकट ही बनकर न रह जाय।

पर्यावरण आन्दोलन को सनसनीखेज पत्रकारिता से भी खतरा है। पर्यावरण से जुड़ी घटनाओं और दुर्घटनाओं को पूरे सन्तुलन के साथ जनमानस के समक्ष रखना होगा। लोकप्रिय पत्र-पत्रिकायें पर्यावरण शिक्षा के क्षेत्र में अहम भूमिका निभा सकती हैं। उन्हें चाहिये कि वे पर्यावरण के क ख ग को आम पाठक तक पहुँचायें, न कि उसके विरूपित स्वरूप को। भारत के पर्यावरण विभाग ने चित्ताकर्षक पोस्टरों के माध्यम से पर्यावरण को “विज्ञापित” करने का बीड़ा उठाया है। लेकिन सच बात तो यह है कि ‘पर्यावरण’ को विज्ञापन की संस्कृति से दूर रखना होगा क्योंकि वह विज्ञापन की वस्तु नहीं है।

पर्यावरण भारत के लिये बहुत “मँहगा” और “अनावश्यक” उपक्रम नहीं है। हमारी कुछ पर्यावरणीय समस्यायें निस्सन्देह जटिल होती जा रही हैं। उनमें वनों का विलुप्तीकरण (अन्धाधुन्ध कटान से), मरुस्थलीकरण, नदियों का प्रदूषण ऐसी समस्यायें हैं जिन पर तुरन्त ध्यान देना है। विषैले रसायनों के उपयोग में पूरी सुरक्षा और अनुशासन की व्यवस्था होनी चाहिये। यह नहीं होना चाहिये कि पर्यावरणीय मुद्दों को हम भावुकता का जामा पहनायें या उन्हें राजनीतिक रंग दे दें।

इक्कीसवीं सदी के विश्व पर्यावरण के स्वरूप को निश्चित करने में हमारा चिन्तन वस्तुनिष्ठता पर ही आधारित होना चाहिये। कोरी भावुकता हमें सदैव अन्धे मार्ग की ओर ही ले जायेगी। जबकि मानव की चिर अभिलाषा रही है “तमसो मा ज्योतिर्गमय।” पर्यावरण चिन्तन का भी मूल मन्त्र यही है। □

पर्यावरण में धूम-कुहरा और प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा

डॉ० महेश कुमार शर्मा

वैज्ञानिक, यंत्र अनुसंधान एवं विकास संस्थान देहरादून-248008

पर्यावरण में धूम-कुहरा और प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा वायु प्रदूषण हैं। अंग्रेजी का SMOG (धूम कुहरा) शब्द, SMOKE (धूम) और FOG (कुहरा) शब्दों से मिलकर बना है। इस शब्द का नामकरण उन्नीसवीं सदी के अन्त में डॉ० एच० ए० डेस वोएक्स द्वारा किया गया था।

इतिहास

वायु प्रदूषण का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। आदि काल में कन्दरा में रहने वाले मनुष्य ने उष्णता तथा गर्मी प्राप्त करने, कच्चे मांस को भूनने, रात को अपने आस-पास के परिवेश को प्रकाशयुक्त बनाने और रात को ही शिकार की खोज में घूमने वाले जंगली जानवरों को दूर रखने के लिए जब पहली बार आग जलाना सीखा था, वस तभी से कदाचित् वायुमंडल प्रदूषण का भी आरम्भ हुआ।

बहुत समय बाद चिमनी के आविष्कार से जहाँ एक ओर मनुष्य जाति को अग्नि का लाभ पहुँचा, वहीं दूसरी ओर सारा समाज वायु प्रदूषण की हानि से बच न सका। जैसे-जैसे सम्प्रदाय बढ़ते गये, वैसे-वैसे वायु प्रदूषण का प्रभाव भी बढ़ता गया। इस समस्या का पहला दस्तावेज शायद रोम के निवासियों द्वारा नगर की अशुद्ध वायु के बारे में शिकायत थी। 1273 में भी लंदन में कोयले का जलाना निषिद्ध था और 1378 में एडवर्ड प्रथम की उद्घोषणा का उल्लंघन करने और समुद्री-कोयला जलाने पर सैनिकों द्वारा एक आदमी का सिर धड़ से अलग तक कर दिया गया था। 1578 में एलिजाबेथ प्रथम समुद्री-कोयले के धुएँ और दुर्गन्ध से इतनी अधिक दुःखी और परेशान हुई कि संसद का अधिवेशन जारी

रहने पर भी, उन्होंने कोयले के जलाने पर प्रतिबन्ध लगा दिया था।

सत्रहवीं सदी में रोजनामचा लिखने वाले और पर्यावरणीय विशेषज्ञ जॉन इवलिन इंग्लैंड के लगातार कटते हुए वनों पर रोक लगाने में तो सफल हुए परन्तु लकड़ी के स्थान पर उपयोग किये गये ईंधन से उत्पन्न वायु प्रदूषण को कम करने में नाकामयाब रहे। उन्नीसवीं सदी से औद्योगिक क्रांति के कारण, वायु प्रदूषण, विशेष रूप से धुएँ की वजह से, निरन्तर बढ़ता ही गया। 1873 में इंग्लैंड में कुहरे के कारण अनेक व्यक्तियों और घरेलू पशुओं की मौतें हुईं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के सेंट लुइस नगर में 1876 में पहला वायु प्रदूषण अध्यादेश जारी हुआ जिसमें केवल यह कहा गया कि फैक्टरियों की चिमनियाँ आस-पास की इमारतों से कम से कम 20 फीट ऊँची होनी चाहिए। 1881 में शिकागो में “घना धुआँ” आपत्तिजनक पदार्थ माना गया और इसके लिए 5 से 50 डॉलर तक दंड की व्यवस्था की गई। 1912 तक अमेरिका के 2 लाख से अधिक आबादी वाले 28 में से 22 नगरों में धुआँ कम करने के लिए अधिनियम जारी किए गये।

वायु प्रदूषण नियंत्रण के उपायों का कड़ाई के साथ पालन न होने के कारण विश्व के अनेक महानगरों और औद्योगिक क्षेत्रों में निश्चल वायु प्रदूषण के कारण कई धूम-कुहरा दुर्घटनाएँ हुईं जिसमें अनेक व्यक्तियों की मौत का शिकार होना पड़ा। मुख्य दुर्घटनाएँ निम्नलिखित स्थानों पर हुईं लंदन (1952, 1956, 1957, और 1963), न्यूयार्क (1953, 1963 और 1966), डोनोर, पेन-सिल्वेनिया (1948), ग्लास्गो और बेल्जियम की

मीयूज घाटी (1930), संसार के बहुतेरे बड़े शहर धूम-कुहरा और प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा के प्रभाव से ग्रस्त हैं। इनमें मुख्य हैं : शिकागो, डेनवर, हाउस्टन, ग्लासगो, लॉसएंजेलस, फिलाडेल्फिया, न्यूयार्क, सेंटलुइस, वाशिंगटन, एथेन्स, बैंकाक, बेलग्रेड, लंदन, फ्रैंकफर्ट, मैड्रिड, पेरिस, रौटरडम, साओ पाँलो, सिडनी, टोकियो, विएना आदि। न्यूयार्क महानगर का धूम-कुहरा चित्र (1) में दिखाया गया है जिससे गगनचुम्बी इमारतों के ऊपरी सिरे धूम-कुहरा के समुद्र में टापुओं के समान दिख रहे हैं। कभी कभी धूम-कुहरा, विशेष रूप से सर्दियों में, इतना घना हो जाता है कि दोपहर को भी आधी रात के समान अंधेरा छाया रहता है।

नगरीय क्षेत्रों का विकास, मोटर गाड़ियों का अधिक उपयोग, औद्योगिक विस्तार, विद्युत् जनन के लिए जीवाश्म ईंधनों का इस्तेमाल, लोहा, इस्पात व शैल रसायनों का उत्पादन, पेट्रोलियम का शोधन आदि कारणों के साथ-साथ स्थानीय वतावरण (औद्योगिक, आवास, कृषि संबंधी आदि), जलवायु (ताप, हवा, उत्क्रमण, आर्द्रता आदि) और स्थलाकृति (पर्वत, वन, मैदान, घाटी, प्राकृतिक बेसिन आदि), धूम-कुहरा और प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा की समस्या उत्पन्न करने में अपना विशेष प्रभाव डालते हैं।

धूम-कुहरा

आखिर यह धूम-कुहरा है क्या ? पर्यावरण में



चित्र—1. न्यूयार्क महानगर में धूम-कुहरा।

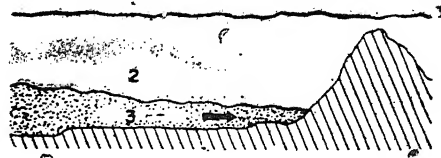
साधारण तौर पर इस प्रकार का वायु प्रदूषण उस समय उत्पन्न होता है, जब घरों और औद्योगिक भट्टियों में जीवाश्मी ईंधनों, विशेष रूप से कोयले के जलने से धूम और सल्फर डाइऑक्साइड की बहुत अधिक मात्रा वायु में निर्मुक्त होती है। ये पदार्थ अधिकतर वायुमंडल में सब तरफ फैल जाते हैं। परन्तु कुछ विशेष अवस्थाओं में ये बहुत अधिक घने और संकेन्द्रीय हो जाते हैं और नमी से संयुक्त होकर धूम-कुहरा बनाते हैं।

धूम-कुहरा से सबसे गंभीर दुर्घटना 1952 में लंदन में हुई थी। 5 तथा 9 दिसम्बर 1952 के बीच दक्षिण-पूर्व इंग्लैंड के ऊपर आकाश में लगभग स्थिर धुएँ का एक प्रतिचक्रवात केन्द्रित था। लंदन क्षेत्र में ताप व्युत्क्रमण हुआ अर्थात् धरती के समीप वायु शीतल हो गई जिससे यह अपने ऊपर की वायु की तुलना में ठंडी हो गई। इसके फलस्वरूप वायु की ऊपर की ओर गति बन्द हो गई। निश्चल वायु में धुएँ और सल्फर डाइऑक्साइड की सान्द्रता शीघ्रता से बढ़ गई। शीतल वायु का जल-वाष्प, धुएँ के धूल और टार के सूक्ष्म कणों के चारों ओर द्रव बूंदों में द्रवित हो गया और इस प्रकार अप्रिय धूम-कुहरा बन कर पर्यावरण में छा गया। वातावरण में दृश्यता केवल कुछ फीट दूरी तक ही रह गई। ऐसा अनुमान है कि लगभग 4000 लोगों की इस धूम-कुहरा में सांस लेने से मृत्यु हुई थी।

प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा

अमेरिका का लॉस एंजेलिस, संसार का पहला नगर है जो दो बार 1932 और 1984 में ओलिंपिक खेलों की मेजबानी कर चुका है। इस शहर में 1940 के दशक में पहली बार एक भिन्न प्रकार के धूम-कुहरे की समस्या उत्पन्न हुई। लॉस एंजेलिस में वास्तव में वे सब ईंधन उपयोग में नहीं लाये जाते थे जिनके कारण अन्य स्थानों में धूम-कुहरा की समस्या उत्पन्न होती थी परन्तु फिर भी इस नगर की धूम-कुहरा की समस्या अत्यन्त गंभीर और चिन्ताजनक हो गई।

यह पाया गया कि लॉस एंजेलिस का धूम-कुहरा मूल रूप से वायु में धुएँ के कारण नहीं था, परन्तु मोटर गाड़ियों के निर्वर्तकों और कुछ विशिष्ट औद्योगिक प्रक्रमों से निकली गैसों पर सूर्य के प्रकाश के प्रभाव से था। लॉस एंजेलिस में अक्सर ताप व्युत्क्रमण होता है (देखिये चित्र (2))। समुद्र से आई शीतल नम वायु गर्म शुष्क वायु के नीचे दब कर निश्चल



चित्र — 2. प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा के बनने में तापीय व्युत्क्रमण : 1. शीतल वायु, 2. गर्म शुष्क वायु, 3. शीतलतम वायु

रहती है और इस शीतल नम वायु में लदे गैसों के रूप में प्रदूषक वायुमंडल में मुक्त नहीं हो पाते हैं। सूर्य का चमकीला प्रकाश इन प्रदूषकों को अन्य पदार्थों में परिवर्तित कर प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा बनाता है। जब गर्म हवा ऊपर की ओर उठती है तो यह प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा समीप के पर्वतों की ओर फैल जाता है। लॉस एंजेलिस के समान ही प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा की समस्या विश्व के अन्य भागों में भी पाई जाती है।

1950 के दशक में ऐरी जे० हाजेन-स्मिथ, रसायनज्ञ ने प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा के बनने में सूर्य के प्रकाश और प्रकाशरासायनिक क्रियाओं की भूमिका के बारे में पता लगाया। उन्होंने बताया कि यह धूम-कुहरा, 24 घंटों के चक्रीय पैटर्न में मुख्यतः निम्न-लिखित पदों में बनता है :

1. वायुमंडल में नाइट्रोजन के ऑक्साइड (NO_x) और हाइड्रोकार्बन का उत्सर्जन। NO_x आवश्यक सौर ऊर्जा अवशोषित कर हाइड्रोकार्बन की क्रियाओं को परिचालित करने में सहायता करते हैं।

2. सूर्य के प्रकाश के अवशोषण द्वारा NO_2 का प्रकाशिक वियोजन।

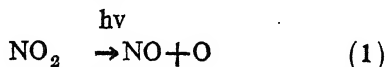
3. NO_x का उपभोग और साथ ही ऑक्सीकारकों का बनना । ये ऑक्सीकारक ओजोन, परमाणु ऑक्सीजन, परऑक्साइड और ऊर्जित ऑक्सीजन होते हैं ।

4. हाइड्रोकार्बन के ऑक्सीकरण द्वारा विभिन्न प्रकार के उत्पादों का बनना । ये अधिकतर ऐरोसॉल और आँखों में चिरचिराहट पैदा करने वाले अशुकारी पदार्थ होते हैं ।

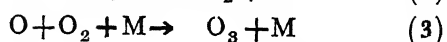
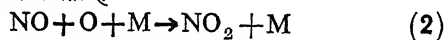
5. प्रदूषकों का इधर-उधर फैलना ।

स्पष्ट है कि जब 2, 3 तथा 4 पदों की अभिक्रियाएँ हो रही होती हैं तो तापीय व्युत्क्रमण या अन्य प्रकार के मौसम या स्थलाकृतिक प्रभाव जिससे वायु संहति का वायुमंडल में इधर-उधर फैलाव रुक जाता है, प्रकाश रासायनिक धूम कुहरा की समस्या को और अधिक गंभीर बना देते हैं ।

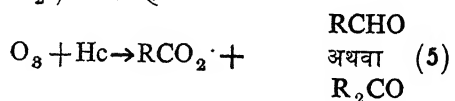
सूर्योदय से पहले उत्सर्जित हाइड्रोकार्बन और NO_x वायुमंडल में संचयित हो जाते हैं और NO का NO₂ में ऑक्सीकरण हो जाता है । जैसे ही सौर विकिरण इन पर पड़ती है, निम्नलिखित अभिक्रिया शीघ्रता से होती है और बहुत ही अधिक क्रियाशील परमाण्वीय ऑक्सीजन बनती है ।



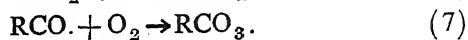
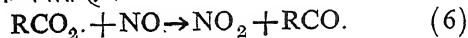
यह परमाणु ऑक्सीजन कई प्रमुख क्रियाओं को प्रारम्भ करती है :



जहाँ M वायुमंडल में गैसों के अन्य अणु, Hc ओलीफिन या ऐरोमैटिक प्रकार के हाइड्रोकार्बन और R. तथा RCO. मुक्त मूलक हैं जिनमें एक या अधिक अयुग्मित इलेक्ट्रॉन होते हैं । अभिक्रिया (3) में बनी ओजोन भी हाइड्रोकार्बन से क्रिया करके मुक्त मूलक (RCO₂·) बनाती है :



ये मुक्त मूलक NO₂ को NO में परिवर्तित कर देते हैं और ऑक्सीजन से क्रिया करके परऑक्साइड मूलक बनाते हैं ।



अभिक्रिया (5) में विभिन्न प्रकार के ऐलिडहाइड और कीटोन भी बनते हैं जो आरंभिक हाइड्रोजन की संरचनाओं पर निर्भर करते हैं । ये अंत में द्रवित होकर ऐरोसॉल बनाते हैं जिनसे पर्यावरण में दृश्यता कम हो जाती है ।

प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा में एक अन्य प्रकार के मुख्य यौगिक आँखों में चिरमिराहट उत्पन्न करने वाले अशुकारी पदार्थ हैं जैसे परऑक्सीऐसीटिल नाइट्रेट (PAN) और परऑक्सीबेन्जॉयल नाइट्रेट (PB₂N) । ये पदार्थ परऑक्साइड मूलकों पर NO₂ की क्रिया से बनते हैं ।

PAN और PB₂N दोनों ही प्रबल ऑक्सीकारक बहुत ही तेज अशुकारी और वनस्पति जीवन के लिए नितान्त विषैले पदार्थ हैं । इनके अतिरिक्त अन्य मूलकों पर NO₂ की क्रिया से दुर्बल ऑक्सीकारक ऐसिलनाइट्रेट भी बनते हैं ।

यह इस प्रदूषण में हो रही सभी अभिक्रियाओं की पूरी सूची नहीं है, इनके अतिरिक्त भी अन्य महत्वपूर्ण प्रक्रियाएँ होती रहती हैं । उदाहरण के तौर पर प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा में सल्फर डाइ-ऑक्साइड गैस भी होती है जो अन्य पदार्थों से क्रिया करके विषैले यौगिक बनाती है । कुल मिलाकर प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा के प्रतिदिन के चक्र में मूलतः सुबह प्राथमिक प्रदूषकों का उत्सर्जन होता है, इसके बाद इनका ऑक्सीकारकों में सौर विकिरण द्वारा प्रकाश रासायनिक परिवर्तन होता है और अन्त में ये ऑक्सीकारक हाइड्रोकार्बन से क्रिया करके अनेक प्रकार के उत्पाद बनाते हैं ।

धूम-कुहरा और प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा के प्रभाव

पर्यावरण में धूम-कुहरा और प्रकाश रासायनिक

धूम-कुहरा प्राणि और वनस्पति जीवन, इमारतों तथा पदार्थों पर अपना बुरा प्रभाव डालते हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि दुनिया के कई भागों में धूम-कुहरा के कारण घटी दुर्घटनाओं में अनेक व्यक्तियों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा था। इन भयंकर प्रमुख हादसों की तुलना में, मनुष्य के स्वास्थ्य पर निम्नस्तरी परन्तु निरन्तर धूम-कुहरा के वातावरण का सूक्ष्म और कालान्तर में प्रभाव अधिक महत्वपूर्ण है। इस वायु प्रदूषण में रहने वाले व्यक्तियों को चिरकालीन श्वसन रोग जैसे एमफिसेमा, ब्रोंकाइटिस और दमा हो जाते हैं। इस प्रदूषण के कारण कैंसर और हृदय रोग से मरने वालों की संख्या अधिक हो जाती है। धूम-कुहरा के प्रभाव से धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों को फेफड़ों का कैंसर अधिक होता है।

प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा में उपस्थित ऑक्सीकारकों में मुख्यतः ओज़ोन, PAN और PBN से आँखों में चिरमिराहट होती है और पानी आता है। श्वसन-तंत्र की श्लेष्मल झिल्ली में जलन होने से खाँसी, श्वास रुकने, दम घुटने और फुफ्फुस में सूजन की बीमारियाँ हो जाती हैं और दीर्घकालीन श्वसन-व्याधियों में वृद्धि होती है। इस प्रदूषण से दमे की शिकायत भी बढ़ जाती है।

बच्चों में इस प्रकार के वायु प्रदूषणों से दमा, एलर्जी और गम्भीर श्वसन संक्रमण रोग हो जाते हैं। बचपन में इस प्रकार की व्याधियों की वजह से भविष्य के जीवन में दीर्घकालीन बीमारियाँ हो जाती हैं। वातावरण में प्रकाश रासायनिक ऑक्सीकारकों के कारण स्वस्थ बच्चों में व्यायाम-प्रदर्शन की क्षमता कम हो जाती है।

इन प्रदूषणों के कारण पालतू पशु और जानवर वृद्धता की ओर शीघ्रता से बढ़ते हैं। इसमें क्रोमोसोम की क्षति हो सकती है और बीमारियों के प्रतिरोध और सहन करने की क्षमता भी कम हो जाती है।

धूम-कुहरा और प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा से वनस्पति-जीवन को हानि पहुँचती है। इससे कोशिकायें

पूर्णतः नष्ट हो सकती हैं, पेड़-पौधों के उपजने और वृद्धि के ढाँचे में परिवर्तन हो सकता है, पत्तियों की निचली सतह पर पीला चमकीलापन आ जाता है, फूल, फल और फसल के उत्पादन और स्वरूप पर असर पड़ता है और वनों को क्षति पहुँचती है।

ये वायु प्रदूषक विभिन्न प्रकार के पदार्थों को नुकसान पहुँचा रहे हैं। कुछ पदार्थ जैसे इस्पात इनसे संक्षारित हो जाते हैं। इमारतें, स्मारक और मूर्तियों का इनसे अपरदन हो रहा है। इनके कारण भविष्य में पुरातन स्मारकों जैसे एथेन्स का एक्रोपोलिस के नष्ट हो जाने की आशंका बनी हुई है। प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा में उपस्थित ऑक्सीकारक रंगीन पदार्थों को रंगहीन तथा वस्त्रों की शक्ति कम कर देते हैं और खरब में दरार डालकर उन्हें नष्ट कर देते हैं।

इन वायु प्रदूषणों से दृश्यता कम हो जाती है जिससे विमानों, जहाज़ों और मोटर गाड़ियों के सुरक्षित प्रचालन में कठिनाई होती है और यातायात के निर्धारित कार्यक्रम छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। इन प्रदूषणों के कारण पर्यावरण में कम दृश्यता से संसार के अनेक भागों में दुर्घटनाएँ भी हुई हैं।

रोक-थाम के उपाय

धूम-कुहरा और प्रकाश रासायनिक धूम-कुहरा के कारण पर्यावरण प्रदूषण रोकने का सबसे प्रमुख, महत्वपूर्ण और सरल उपाय यह है कि प्रदूषकों के स्रोतों पर नियन्त्रण किया जाए। प्रदूषकों की जितनी कम मात्रा बाहर निकलेगी, उतना ही वायुमण्डल कम दूषित होगा।

प्रदूषक-स्रोतों पर नियन्त्रण विभिन्न प्रकार के उपयुक्त संयंत्रों, पदार्थों तथा विधियों को इस्तेमाल करके किया जा सकता है। उदाहरणतः दहन से पहले ईंधनों को शोधित किया जाता है ताकि उत्सर्जित गैसों में प्रदूषकों की मात्रा कम की जा सके। इसीलिए गन्धक के ऑक्साइड के उत्सर्जन को कम करने के लिए, इस्तेमाल से पहले कोयले का परिष्करण तथा पेट्रो-लियम ईंधनों का विसल्फीकरण किया जाता है।

प्राकृतिक गैस के जलने से गन्धक के ऑक्साइड बाहर कम निकलते हैं, इस कारण विदेशों में बहुत अधिक ईंधन इस्तेमाल करने वाले संयन्त्र प्राकृतिक गैस को ही उपयोग में लाते हैं ताकि पर्यावरण प्रदूषण कम हो सके।

गीली रासायनिक-स्कर्विंग विधि से अपशिष्ट व उत्सर्जित गैसों में से सल्फर डाइऑक्साइड को अवशोषित कर दूर करने के लिए कुछ अघुलनशील सूक्ष्म चूर्णित पदार्थों जैसे चूना, चूना पत्थर, मैग्नीशियम हाइड्रॉक्साइड के जलीय तनु घोल अथवा सोडियम लवणों जैसे सोडियम कार्बोनेट, वाइकार्बोनेट, हाइड्रॉक्साइड, सल्फाइट आदि के स्कर्विंग घोल उपयोग किए जाते हैं।

नाइट्रोजन के ऑक्साइड के मुख्य स्रोत उष्मा तथा शक्ति के संयंत्र, परिवहन के साधन तथा कुछ रासायनिक संयंत्र—नाइट्रिक अम्ल उत्पादन संयंत्र आदि हैं। दहन प्रक्रियाओं में नाइट्रोजन के ऑक्साइड के उत्सर्जन को निम्न तरीकों से कम किया जा सकता है : (1) फायर में कम अतिरिक्त वायु का इस्तेमाल, (2) द्विचरण दहन का उपयोग, (3) ईंधन-गैस का पुनः परिचालन तथा (4) जल का अन्तःक्षेपण। विदेशों में स्वचालित मोटर गाड़ियों के निकास में से नाइट्रोजन के ऑक्साइड की मात्रा को कम करने के लिए 1975 से उत्प्रेरक सम्परिवर्तक उपयोग में लाये जा रहे हैं।

यद्यपि स्कर्विंग विधि में सोडियम लवणों के घोल सल्फर डाइऑक्साइड को दूर करने के लिए प्रभावकारी हैं, परन्तु गैसों में से नाइट्रोजन के ऑक्साइड

को अवशोषित करने में ये उतने सहायक नहीं हैं। कारण यह है कि किसी निश्चित ताप पर नाइट्रोजन के ऑक्साइड, सल्फर डाइऑक्साइड की तुलना में जल में कम घुलनशील हैं। यदि परिमुक्त गैसों में गन्धक के ऑक्साइड नहीं हैं तो सोडियमयुक्त विधियों को नाइट्रोजन के ऑक्साइड के उन्मूलन में उपयोग किया जा सकता है। एक अति आधुनिक विधि में अपशिष्ट गैसों में से नाइट्रोजन के ऑक्साइड दूर करने के लिए यूरिया का तनु अम्लीय विलयन इस्तेमाल किया जाता है।

स्थिर तथा चलायमान इंजनों में हाइड्रोकार्बन ईंधनों के अपूर्ण दहन से और स्प्रे पेंट, विलायक शोधन, मुद्रण, रासायनिक तथा धातुकर्मक व अन्य प्रकार के संयंत्रों से, जिनमें अधिक हाइड्रोकार्बन से युक्त विभिन्न द्रवों का उपयोग होता है, हाइड्रोकार्बन वाष्प प्रदूषक उत्सर्जित होते हैं। इंजन के डिजाइन तथा ट्यूनिंग को सुधार कर ताकि ईंधन में हाइड्रोकार्बन की मात्रा का पूर्ण दहन हो सके, निर्गम हाइड्रोकार्बन की मात्रा को घटाया जा सकता है। रासायनिक उद्योगों ने कुछ नये प्रकार के विलायकों का विकास किया है जो कम वाष्पशील हैं और जिनसे कम हाइड्रोकार्बन वाष्प उत्सर्जित होते हैं।

प्रकाश रासायनिक धूम कुहरा में प्रबल प्रकाश रासायनिक ऑक्सीकारकों जैसे ओजोन, परऑक्सीएसीटिल नाइट्रेट, परऑक्सीबेन्जॉयल नाइट्रेट आदि का नियंत्रण, पर्यावरण में नाइट्रोजन के ऑक्साइड और हाइड्रोकार्बन वाष्प के प्रभावकारी नियंत्रण पर निर्भर करता है।□

ओजोन और पर्यावरण

डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

प्रोफेसर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा) —124001

अमेरिका का लॉस एन्जेलिस नगर अपनी शान-शौकत और तड़क-भड़क के लिये विश्व-विख्यात है। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। यह एक और बात के लिये भी प्रसिद्ध है—अपने 'स्मॉग' (धूम

कुहरा) के लिये। इस नगर की प्राकृतिक स्थिति ऐसी है कि धुंध यहाँ बहुत पड़ती है। फिर इसी धुंध में मिल जाते हैं अनगिनत कारखानों की गगनचुंबी चिमनियों से निकलते धुँयेँ में उपस्थित कोयले के बारीक

कण तथा अनेक प्रकार की रासायनिक गैसों, और इस प्रकार बन जाता है दमघोंदू धूम-कुहुरा अथवा स्मॉग। इस स्मॉग की दानवीय जकड़ कितनी शक्तिशाली होती है, यह इसी से स्पष्ट है कि कभी-कभी इससे बचने के लिये नगरवासियों को कुछ समय के लिये शहर से बाहर चले जाने पर विवश हो जाना पड़ता है।

पचास के दशक में लॉस एंजेलिस के इसी कुख्यात धूम-कुहरे में रसायनवेत्ता ए० जे० हागेनस्मिट ने एक विचित्र प्रकार की तीखी गंध अनुभव की और पाया कि यह गंध ओजोन गैस के कारण थी। फिर तो यह भी सिद्ध हुआ कि इस कुहरे में उपस्थित जलवाष्प के अतिरिक्त अन्य रसायनों का 90 प्रतिशत ओजोन होती है। कुहरे की दमघोंदू प्रकृति का कारण भी यही गैस पाई गई।

आश्चर्य की बात है कि ऑक्सीजन के परमाणुओं से ही बनी यह गैस ऐसी प्रकृति की स्वामिनी है। जहाँ केवल दो परमाणुओं वाली ऑक्सीजन गैस वातावरण को शुद्ध और ताजा बनाती है, वहीं तीन परमाणुओं से बनी इस गैस की नगण्य सी मात्रा भी पर्यावरण को प्रदूषित करती है। इसीलिये अब कभी-कभी इसे प्रदूषक ऑक्सीजन भी कह कर पुकारा जाने लगा है। धरातल के पास के वायुमंडल (ट्रोपोस्फियर—धरातल से अधिकतम 50 किलोमीटर की दूरी तक) के प्रति दस लाख भाग में यदि दो भाग भी ओजोन के हों तो खाँसी और सीने में दर्द की शिकायतें पैदा होने लगती हैं। ओजोन, श्वसन-तंत्र को तो गम्भीर रूप से प्रभावित करती ही है, इससे सर-दर्द, मिचली इत्यादि असुविधायें भी उत्पन्न होती हैं। यदि काफी दिनों तक बराबर ओजोनयुक्त वातावरण में रहा जाय तो धीरे-धीरे गुर्दे और फेफड़े काम करना बन्द करने लगते हैं। अत्यधिक गहरे ओजोन-स्मॉग में देर तक श्वास लेते रहने से मृत्यु भी हो सकती है। सबसे चिंतनीय बात तो यह है कि ओजोन का बहुत ही हलका वातावरण भी बुढ़ापा जल्दी लाता है। कृषि पर भी इसका खराब असर पड़ता है। जून 1983 में नैरोबी में हुई संयुक्तराष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम समिति की बैठक में

पर्यावरण के ओजोन प्रदूषण पर गम्भीरता से विचार किया गया। इसी बैठक में प्रस्तुत एक रिपोर्ट में बताया गया कि किंचित अधिक ओजोन के वातावरण में मूंग-फली का उत्पादन पचास प्रतिशत, गेहूँ का तीस, सोयाबीन का तैंतालीस तथा मक्की का दस प्रतिशत तक कम हो गया।

फलों के वृक्षों पर भी असर पड़ने की सूचनायें सामने आयी हैं। एक समय अमेरिका के मेरीलैंड एवं वेस्ट वर्जीनिया प्रदेशों में क्रिसमस के अवसर पर सजावट के लिये प्रयोग किये जाने वाले लगभग आठ लाख 'क्रिसमस ट्री' वृक्षों के ओजोन प्रदूषण से बिलकुल नष्ट हो जाने का खतरा पैदा हो गया था। कैलिफोर्निया के संतरे व नींबू के पेड़ों एवं अंगूर की बेलों पर भी इस प्रदूषण का असर पड़ा और उत्पादन कम हो गया। 1940 में वर्जीनिया के तंबाकू का उत्पादन करने वाले किसानों को भी इसके प्रभाव से पौधों की पत्तियों में उत्पन्न रोग का सामना करने को विवश होना पड़ा था।

ओजोन, प्राकृतिक तथा कृत्रिम रबर एवं आइसो-प्रिन, स्टाइरीन आदि बहुलकों से बनी वस्तुओं से भी अभिक्रिया कर उन्हें कमजोर और भुरभुरा बना देती है।

चिंतनीय तथ्य तो यह है कि पृथ्वी के पास के वायुमंडल में इस गैस की बढ़ती उपस्थिति के लिये मनुष्य के क्रिया-कलाप ही उत्तरदायी हैं। स्वचालित वाहनों के इंजनों तथा बिजलीघरों के स्टीम बायलरों में एक गैस पैदा होती है—नाइट्रिक ऑक्साइड (NO)। यही गैस उन औद्योगिक प्रक्रियाओं में भी उत्पन्न होती है जो अत्यन्त ऊँचे ताप पर संपन्न की जाती हैं। स्वचालित वाहनों के गंदे धुयें में भी यह उपस्थित होती है। इसी धुयें में हाइड्रोकार्बन वर्ग के भी गैसीय रसायन उपस्थित होते हैं। नाइट्रिक ऑक्साइड तथा इन गैसों का मिश्रण सूर्य की रश्मियों की सहायता से वातावरण की ऑक्सीजन को ओजोन में परिवर्तित कर देता है। उच्च वोल्टता वाले विद्युत् उपकरण जैसे ट्रांसफार्मर आदि तो ऑक्सीजन को सीधे ही

ओजोन में बदल देते हैं। स्पष्ट है कि बढ़ती आधुनिकता ही ऑक्सीजन के इस प्रदूषक रूप की जननी है।

इस सर्वनाशी रूप के अतिरिक्त ओजोन का एक अन्य रूप भी है—रक्षक का रूप, ममतामयी माँ का रूप। पृथ्वी के दूर के वातावरण (स्ट्रेटोस्फियर—धरातल से लगभग 50 किलोमीटर से आगे का वातावरण) में ओजोन के अणु स्वतः ही कुछ घनी मात्रा में पाये जाते हैं—विभिन्न प्रकार के दस लाख भागों में औसतन आठ भाग इस विरल अवस्था में भी। यहाँ पर यह गैस एक अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य करती है—सूर्य रश्मियों की अधिकांश पराबैंगनी किरणों को सोख लेने का कार्य। पराबैंगनी किरणें अतिशय ऊर्जावान एवं जीव मात्र के लिये घातक होती हैं। इनकी अधिक बौछार सहने से चमड़ी की सबसे ऊपरी परत की कोशिकायें टूट-फूट जाती हैं तथा बारीक रक्त-वाहिकायें फूल जाती हैं। क्षतिग्रस्त कोशिकाओं से हिस्टैमीन नामक रसायन उत्पादित होता है, जिसके कारण ब्रोंकाइटिस, न्यूमोनिया, अल्सर, अम्लाधिक्य आदि बीमारियाँ पैदा हो सकती हैं। आँखों पर भी इसका असर गंभीर पड़ता है। उनमें सूजन आ सकती है तथा घाव बन सकते हैं। उत्परिवर्तन (कोशिकाओं में जीनों की व्यवस्था में उलटफेर) की क्षमता के कारण ये किरणें अन्ततः कई प्रकार के चर्म-कैंसर तक पैदा कर सकती हैं। इन्हीं में एक है—मैलिग्नेंट मेलेनोमा, जिसमें चालीस प्रतिशत से अधिक रोगियों की अत्यंत पीड़ायुक्त मृत्यु हो जाती है।

सृष्टि के प्रारंभ में कैसे बनी यह ओजोन छतरी? शक्तिशाली सूर्य किरणों की मार से सामान्य ऑक्सीजन के कुछ अणु टूट-टूट कर दो-दो परमाणुओं में विभक्त होने लग गये। फिर आसपास में ही उपलब्ध कुछ उत्प्रेरकों की सहायता से, बचे हुये अणुओं से इन स्वतन्त्र परमाणुओं के संयोग के फलस्वरूप तीन परमाणुओं वाले ओजोन अणु धीरे-धीरे बनने लगे। आज भी इसी प्रक्रिया से स्ट्रेटोस्फियर में ओजोन बनती रहती है। पराबैंगनी किरणों को सोखने के कारण ओजोन अणु टूट कर पुनः सामान्य ऑक्सीजन में

परिवर्तित हो जाते हैं। परन्तु बराबर चलते रहने वाले नवनिर्माण के कारण ओजोन परत की क्षति-पूर्ति होती रहती है और स्ट्रेटोस्फियर में संतुलन बना रहता है।

यदि किसी प्रकार इस ओजोन छतरी में छेद हो जाय—अर्थात् यदि स्ट्रेटोस्फियर की ओजोन परत स्थान-स्थान पर नष्ट हो जाय—तब क्या होगा? बरसात में छेददार छाता लेकर चलने में जो होता है, वही होगा। धरती पर पराबैंगनी किरणों की तीव्र बौछारें पड़ने लगेंगी और समस्त जगत् में त्राहि-त्राहि मच जायेगी। मानवों में सबसे अधिक नुकसान होगा गोरी चमड़ी वालों को और सबसे कम काली चमड़ी वालों को। काले वर्ण वालों की चर्म-कोशिकाओं में उपस्थित, काले रंग के लिये उत्तरदायी वर्णक इन किरणों से शरीर की रक्षा करने में समर्थ होते हैं। भूमध्यरेखीय प्रदेशों के स्ट्रेटोस्फियर में ओजोन परत सबसे अधिक विरल होती है और इसलिये यहाँ के लोगों को ममतामयी प्रकृति ने अधिक पराबैंगनी किरणों से सुरक्षा के लिये काला रंग प्रदान किया है।

यह सब जानते हुये भौतिक सुविधाओं को अधिक से अधिक प्राप्त करने की अंधी दौड़ में लिप्त, अपने को प्रगतिशील मानने वाला आज का मानव अपनी ही कारतूतों से इस छतरी में छेद करने का प्रयत्न कर रहा है। बात यह है कि फ्लोरोकार्बन वर्ग के रसायन ओजोन को पुनः ऑक्सीजन में परिवर्तित कर सकते हैं। इन रसायनों का उपयोग कई प्रकार से किया जाता है। ऐसे दो यौगिक, फ्रीयॉन—11 एवं फ्रीयॉन—12, दुर्गन्धनाशक स्प्रे एवं रेफ्रिजरेटरों में प्रशीतन के लिये प्रयोग की जाने वाली गैस के रूप में प्रयुक्त होते हैं। ये यौगिक दीर्घजीवी होते हैं और बैक्टीरिया आदि के आक्रमण से भी नष्ट नहीं होते। अतः धीरे-धीरे ऊपर की ओर फैलते हुये अंततः ओजोन परत तक पहुँच जाते हैं और उसके अणुओं को सामान्य ऑक्सीजन में परिवर्तित कर देते हैं। संभावना व्यक्त की गई है कि केवल इसी एक कारण से सन् 2050 तक ओजोन परत के लगभग 16 प्रतिशत तक अणु

नष्ट-भ्रष्ट हो जायेंगे और पर्यावरण गंभीर रूप से प्रभावित होने लगेगा।

कुछ ऐसा ही प्रभाव ध्वनि से भी अधिक तीव्र गति से उड़ने वाले हवाई जहाजों से भी पैदा हो सकता है। इनके इंजनों में ताप इतना अधिक होता है कि वायुमंडल की ऑक्सीजन और नाइट्रोजन के संयोग से नाइट्रिक ऑक्साइड गैस बन सकती है। फ्रियॉन की भाँति यह गैस भी ओजोन के अणुओं को ऑक्सीजन में परिवर्तित कर देने में सक्षम होती है। यदि ये वायुयान ओजोन परत के आस-पास की ऊँचाई पर उड़ें तो यह प्रभाव निश्चय ही ओजोन-छतरी को फ्रियॉन से भी अधिक हानि पहुँचायेगा। कुछ समय पूर्व एक ऐसे जहाज (एस० एस० टी० बोइंग 2707) के निर्माण की योजना अमेरिका में बनी थी, परन्तु वैज्ञानिकों के होहल्ला मचाने पर उसे मूर्त रूप नहीं दिया गया। एंग्लो-फ्रेंच कार्डार्ड एवं रूस के टुपोलेव—144 वायुयान भी इसी श्रेणी के हैं और उड़ रहे हैं। परन्तु चूँकि ये प्रस्तावित बोइंग—2707 से कुछ कम ऊँचाई पर उड़ते हैं अतः इनसे ओजोन परत को निकट भविष्य में कोई विशाल क्षति अनुमानित नहीं है।

वातावरण में किये जाने वाले परमाणु बम परीक्षणों से भी ओजोन छतरी में छेद हो सकता है।

विस्फोट के बाद उत्पन्न नारकीय आग के गोले से बहुत अधिक ऊँचाई पर अत्यधिक मात्रा में नाइट्रिक ऑक्साइड बनती है और ओजोन के अणुओं को नष्ट करती है। कल्पना की जा सकती है कि परमाणु युद्ध में ओजोन छतरी का क्या-क्या हाल होगा। जो इस युद्ध में बच भी जायेंगे, उनका भी जीवन पराबैंगनी किरणों की तीव्र बौछार से दूभर हो जायेगा। कहना मुश्किल है कि भाग्यवान वे होंगे जो इस युद्ध में बच जायेंगे अथवा वे जो मारे जायेंगे।

ओजोन की प्रकृति शिव की प्रकृति है। स्ट्रेटोस्फियर में उसकी उपस्थिति शिव के कल्याणकारी रूप को प्रकट करती है जब कि धरती के पास के वायुमंडल में वह उनके तीसरे नेत्र की भूमिका निभा सकती है। ममतालु प्रकृति ने इसीलिये इस गैस को धरती से काफी ऊपर-ऊपर ही रखा था। पृथ्वी के निकट पहुँचते-पहुँचते सूर्य रश्मियों की शक्ति इतनी घट जाती है कि वे ऑक्सीजन से ओजोन के सीधे उत्पादन में अक्षम हो जाती हैं। परन्तु प्रगति के नाम पर प्रकृति की इस व्यवस्था को मनुष्य ही बिगाड़ रहा है। दूसरी ओर, उसके क्रिया-कलाप स्ट्रेटोस्फियर के ओजोन संतुलन से भी छेड़छाड़ कर रहे हैं। परिणाम क्या हो सकता है—यह अकल्पनीय नहीं है। □

मरुस्थलीय पर्यावरण : थार मरुस्थल के संदर्भ में

डॉ० सुशीला राय

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर—342001

आस्ट्रिया के डॉ० व्लादीमीर कोपेन (1918) के वर्गीकरण के अनुसार संसार के संपूर्ण 1456 लाख वर्ग कि०मी० भू-भाग का 28% क्षेत्र शुष्क है जिसमें 14% वह क्षेत्र है जिसमें लगभग 250 मि०मी० से कम औसत वार्षिक वर्षा होती है तथा अन्य 14% में 250 से 500 मि०मी० तक वार्षिक सिंचन होता है। संसार के शुष्क क्षेत्र कर्क और मकर रेखाओं के निकट सँकरी

पट्टियों में मरुस्थलों के रूप में स्थित हैं। उत्तरी गोलार्ध की पट्टी में उत्तरी अफ्रीका का सहारा, अरेबिया, सीरिया, जोर्डन, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, पाकिस्तान और भारत के मरुस्थल सम्मिलित हैं, जबकि दक्षिणी गोलार्ध में दक्षिण अफ्रीका का कालाहारी, आस्ट्रेलिया और पश्चिमी अर्जेंटाइना के मरुस्थल विद्यमान हैं। इनमें सहारा

मरुस्थल सबसे विशाल है जो अफ्रीका महाद्वीप के लगभग एक चौथाई भाग को अपने में समेटे हुये है। यह उत्तर से दक्षिण तक 1,600 कि० मी० और अटलांटिक महासागर से लाल सागर तक लगभग 4,500 कि० मी० क्षेत्र में फैला हुआ है।

मीगज (1953) द्वारा निर्मित संसार के मरुस्थलों के वार्षिक वर्षा सिंचन के मानचित्रों के आधार पर मैकगिनीज (1968) ने शुष्क क्षेत्रों को तीन भागों में विभाजित किया है :

(1) 60-100 मि०मी० औसत वार्षिक वर्षा वाले अत्यधिक शुष्क क्षेत्र, (2) 60-100 मि० मी० से 150-250 मि० मी० औसत वार्षिक वर्षा वाले शुष्क क्षेत्र और (3) 150-250 मि० मी० से 250-500 मि० मि० औसत वार्षिक वर्षा वाले अर्धशुष्क क्षेत्र।

स्थल, जल, वायु और जीव (प्राणी और पौधे), पर्यावरण के पूरक अंग हैं। जैविक विकास के लिए इनके निर्मल स्वरूप में परस्पर सामंजस्य की आवश्यकता है। प्रकृति ने हमें इन प्रमुख तत्वों का शुद्ध रूप में बाहुल्य प्रदान किया है लेकिन बढ़ती हुई जनसंख्या, अनियोजित औद्योगिक विकास और अनियंत्रित नगरीकरण आदि की परिस्थितियों से इन प्राकृतिक संसाधनों के लगातार ह्रास से पर्यावरण सम्बन्धी समस्याएँ उग्र रूप धारण करती जा रही हैं। हमारे मरुस्थल भी इनसे अछूते नहीं बचे हैं। जल तथा वायु प्रदूषण वनसंपदा और जीवों का निरन्तर क्षय एक चिन्तनीय विषय बन गया है। इन कारणों से मरुस्थलीय पर्यावरण में असंतुलन बढ़ रहा है जिसके फलस्वरूप मरुस्थलों के विस्तार की संभावनाएँ बढ़ गई हैं। लुप्त होने वाले अनेक प्राणी और वनस्पतियों के संरक्षण की आवश्यकताओं ने सभी का ध्यान आकर्षित किया है।

इन अगम्य और अवांस्य मरुस्थलों पर हमारा ज्ञान काफी समय तक अधूरा रहा है। सन् 1930 तक ऊँट ही प्रमुख साधन थे जिनके द्वारा वैज्ञानिक सर्वेक्षण सीमित था परन्तु 1930 के दशक के साथ ही स्वचालित वाहनों के विकास के साथ लीबिया के मरु-

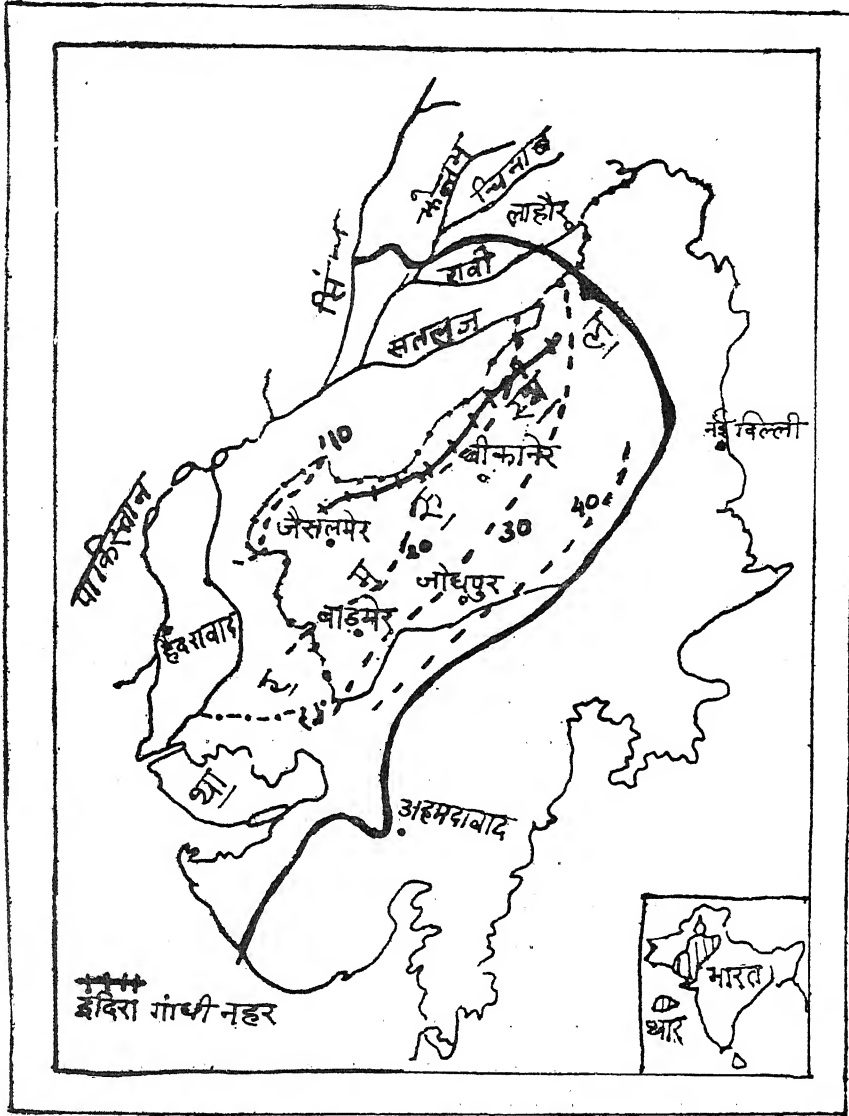
स्थल से क्रमिक अन्वेषणों की शुरुआत हुई जो दूसरे महायुद्ध के साथ पर्याप्त प्रगति तक पहुँची, इसके साथ हवाई सर्वेक्षण और उपग्रह के द्वारा सुदूर संवेदनों के माध्यमों से पर्याप्त ज्ञान अर्जित किया गया है। इन वैज्ञानिक तथ्यों के आधार पर पर्यावरण के प्रमुख अंगों का विधिवत अध्ययन किया जा रहा है।

जलवायु—मरुस्थलों की प्रमुख विशेषता यहाँ का शुष्क वातावरण है—वर्षा सामान्यतः वर्ष में 250 मि० मी० से अधिक नहीं होती। सहारा में जहाँ 11 वर्ष तक एक बूंद भी पानी नहीं गिरा, वहीं अप्रत्याशित धुआँधार वर्षा बगदाद के मरुस्थलों में 15 दिनों के अंदर ही दो साल का कोटा पूरा कर देती है। इसी प्रकार भारतीय मरुस्थल (थार) के 100 वर्ष के वार्षिक सिंचन के आँकड़ों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्रतिवर्ष यहाँ सामान्य व सामान्य से कम वर्षा होती है, परन्तु प्रत्येक चार वर्ष बाद किसी न किसी क्षेत्र पर अत्यधिक वर्षा बाढ़ की स्थिति लाकर तबाही मचा देती है। बारह वर्षों तक थार मरुस्थल के पश्चिमी राजस्थान के शुष्क क्षेत्रों में वर्षा न होने की घटना पिछले दशक की है। न्यून वर्षा के अतिरिक्त अधिक ताप मरुस्थलों की विशेषता है। मरुस्थलीय धूल के कण और बादल 10% ऊर्जा को विक्षेपित करते हैं। शेष 90% मरुभूमि द्वारा प्राप्त की जाती है जो कि भूमि और निचली हवा की सतह को गर्म करती है जबकि नम भूमि सूर्य के ताप का लगभग 40% भाग ही शोषित करती है। रात्रि में मरुस्थल दिन में संग्रहीत इस ताप का पूरा का पूरा अंश (100%) विक्षेपित कर देते हैं। सर्दियों में औसत न्यूनतम ताप 5° सेंटीग्रेड (c) तक पहुँच जाता है। गर्मियों में दिन रात के ताप में लगभग 14°C और 16°C तक अंतर हो जाता है। सहारा के लीबिया क्षेत्र में छाया में 58°C का उच्चतम तापमान मापा गया है। सामान्यतया ग्रीष्मकाल में मरुस्थलों का ताप 50°C होता है और भूमि का ताप 17 से 28°C तक हवा से अधिक गर्म पाया जाता है। मरुस्थलीय रातें ठंडी होती हैं जिसके कारण यहाँ की वनस्पति व प्राणी

जीवित रहते हैं। समुद्र तल से ऊँचाई और भूमध्य रेखा से उत्तरोत्तर दूरी मरुस्थल को अधिक ठंडी जल-वायु प्रदान करती है। भारत और पाकिस्तान में थार मरुस्थल की स्थिति और वर्षा सिंचन चित्र 1 में दर्शाया गया है।

मरुस्थलीय मृदाएँ—ये अधिकतर शुष्क अवस्था

में नरम होती हैं और इनमें कैल्शियम कार्बोनेट, जिप्सम, सिलिकेट और अन्य खनिजों की मात्राएँ भू-गर्भीय स्थिति के अनुसार हो सकती हैं। गतिमान रेत सभी मरुस्थलों की विशेषता है। यह चल रेत जब तक पेड़ों को जमने में सहायता नहीं देती तब तक मृदा के अन्तर्गत नहीं आती। मृदाओं में सोडियम, पोटैशियम



चित्र 1. थार मरुस्थल की स्थिति और वार्षिक सिंचन (से.मी.)

और दूसरे घुलनशील खनिज अधिक होते हैं। खनिज तेल, बोरेक्स, जिप्सम, लाइमस्टोन और अन्य खनिजों का दोहन कितने ही मरुस्थलों से किया जा रहा है। थार मरुस्थल की मृदा प्रायः क्षारीय है (PH 7.9 से 8.6 तक)। इसमें कार्बोनेट और जिप्सम की अधिक मात्रा पाई गई है। कहीं-कहीं बोरॉन की अधिकता, खारा पानी एवं चल रेत के कारण यहाँ की कृषि का उत्पादन बहुत कम है।

मरुस्थलीय जल—मरुस्थलीय मृदा में संरध्रता अधिक होने के कारण वर्षा का जल शीघ्र ही शोषित हो जाता है तथा वर्षा से अधिक सामान्यतः जल का वाष्पीकरण होता है जिससे वातावरण शुष्क बना रहता है। बहुत से मरुस्थलों में भू-जल की काफी मात्रा उपलब्ध है परन्तु यह 100 मीटर से अधिक गहराई पर है। यह भू-जल सतह तक पहुँचते-पहुँचते अत्यधिक खारा हो जाता है। जहाँ यह पेयजल के रूप में उपलब्ध है वह क्षेत्र ही **नल्लिस्तान** कहलाता है। वहाँ सभी सुविधाएँ उपलब्ध होती हैं, वनस्पति, जीव-जन्तु और मनुष्य में सामंजस्य बना हुआ है। थार मरुस्थल के जलों के अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यहाँ लगभग 10% से कम भू-जल पीने योग्य है। जल में अत्यधिक क्षारीयता, खारापन और स्वास्थ्य के लिए हानिकारक तत्व जैसे कि फ्लोराइड और नाइट्रेट पाये जाते हैं। कुल घुलनशील लवणों की मात्रा कहीं-कहीं पर तो समुद्र के जल से भी अधिक है। परिणामस्वरूप साँभर झील, पचपदरा, कच्छ आदि स्थानों पर नमक का उत्पादन किया जाता है। जहाँ यह खारा भू-जल सिंचाई के लिए उपलब्ध है वहाँ 10,000 से 12,000 मिली० ग्राम० प्रति लिटर तक के घुलनशील लवणीय जलों में खारची गेहूँ पैदा कर लिया जाता है।

मरुस्थलीय जीवन—मरुस्थलीय जीवों ने अपने आपको जीवित रखने के लिए शुष्क वातावरण के अनुरूप ढाल लिया है। नम क्षेत्रों में रहने वाले जीवों की तुलना में शारीरिक रचना व क्रियाओं में अन्तर तो इन जीवों में अवश्य है पर विशेषकर इनकी

आदतों में परिवर्तन ही इनको इस वातावरण में जीवित रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। अत्यधिक ताप और शुष्कता से ये जीव अपनी रक्षा करने के लिए सारे क्रिया-कलाप रात्रि और प्रातःकाल के ठंडे वातावरण में ही करते हैं। विभिन्न प्रकार के पक्षी और स्तनधारी जीव प्रातः और सायंकाल बहुतायत से देखे जाते हैं। बड़े-बड़े मकोड़े व अन्य कीड़े, चूहे, गिरगिटान, सरीसृप आदि तो रात को ही भोजन की खोज में बाहर निकलकर मरुस्थल को आबाद करते हैं। जहाँ थार मरुस्थल में नीलगाय, हिरण, चौंसिंगा, काला हिरण, चिकारा, साँभर, लोमड़ी और खरगोश बड़ी सहजता से विचरण करते हैं, वहीं पीले रंग के बालों के गुच्छे वाले चूहे, विभिन्न प्रकार के गिरगिटान, गोह, नेवले, सेही, मकड़े, विषैले साँप, और बिच्छुओं के अतिरिक्त टिट्टियाँ, दीमकें, चींटियाँ, मक्खियाँ और कई दूसरे प्रकार के कीड़े भी बहुतायत से पाये जाते हैं। राष्ट्रीय पक्षी मोर, तोते और शिकारियों के चहेते तीतर, बटेर और तिलोर की जहाँ भरमार है वहीं संरक्षित पक्षी गोंडावड़ (The Great Indian Bustard) आन्ध्र प्रदेश के अतिरिक्त केवल राजस्थान में ही पाया जाता है।

मरुस्थलीय वनस्पति—मरुस्थलीय पादपों का वर्गीकरण चार प्रकार के प्रमुख वर्गों में किया गया है : (1) सूखे से बचने वाले पादप, (2) लम्बी जड़ों के कारण सूखे से बचने वाले पादप, (3) सूखे में दृढ़ रहने वाले सदाबहार पादप और (4) मांसल सूखारोधी पादप। इन पौधों की प्रमुख विशेषताएँ **सारणी 1** में दर्शाई गई हैं। मरुस्थलों में जीवनक्रम उपलब्ध जल पर निर्भर करता है जो वनस्पति की वृद्धि पर नियन्त्रण रखता है, और अन्ततः कीट-पतंगों, जानवरों और मनुष्यों की खुशहाली वनस्पतियों पर निर्भर होती है। नम भूमि की तुलना में यहाँ की वनस्पति उत्पाद गुणों की दृष्टि से अधिक स्वादिष्ट और पौष्टिक होती है।

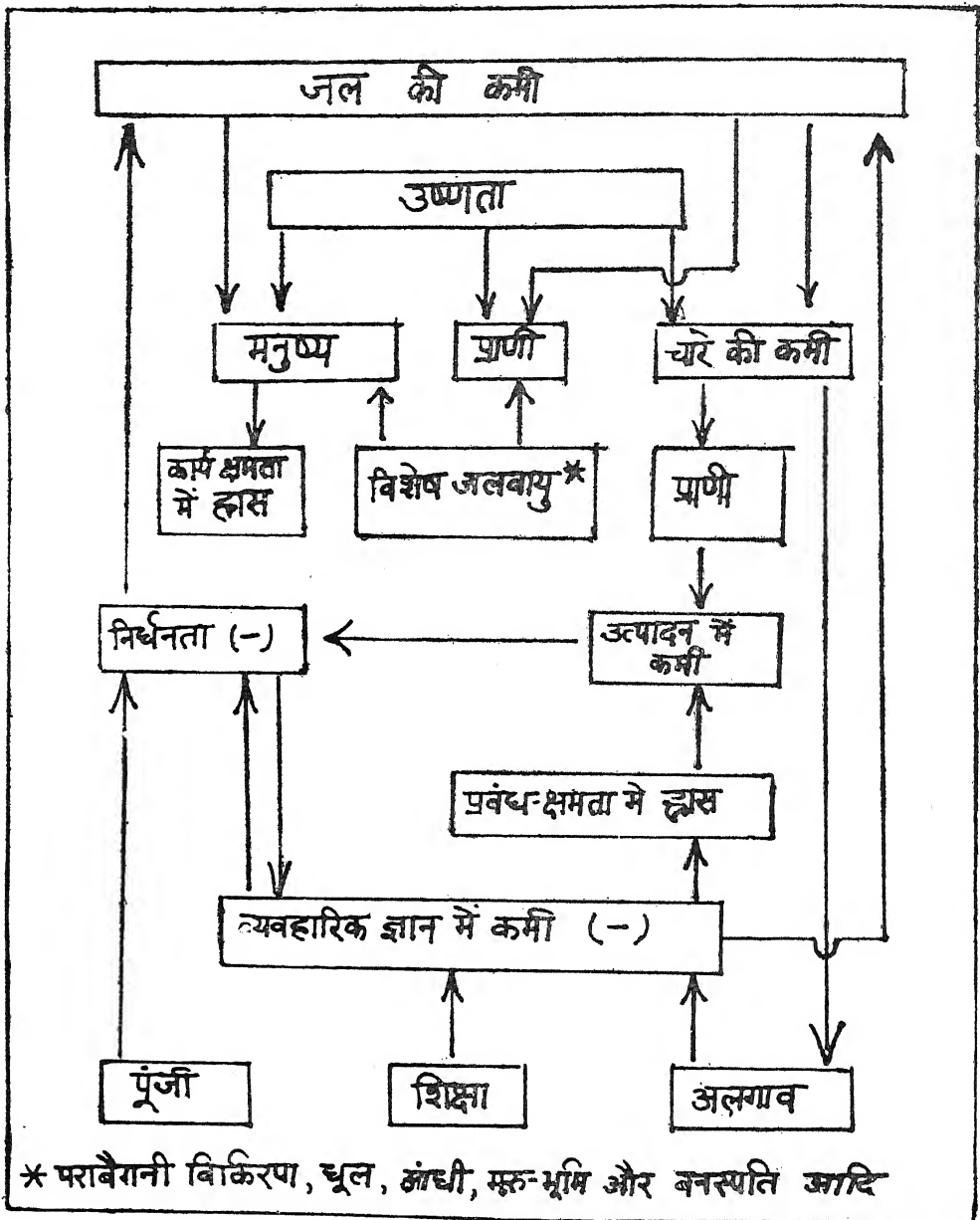
सामाजिक स्थिति—मरुभूमि के विकास के लिए यदि हम विभिन्न कारणों का अध्ययन करें तो उन

सभी के बीच एक सामंजस्य मिलता है जैसा कि चित्र में दिखाया गया है। मरुस्थल की विषम वातावरणीय परिस्थितियों का प्रभाव सर्वप्रथम पौधों पर पड़ता है; उसके पश्चात् जानवर और मनुष्यों पर पड़ता है। अन्ततः मनुष्य के लिए निर्धनता की स्थिति आ जाती है। कृषि उपज में कमी, निर्धनता और सीमित व्यवहारिक ज्ञान मनुष्य में बिलगाव को और बलवती कर देता है, जिसके फलस्वरूप उसके कार्य-संचालन और प्रबन्ध-क्षमता में कमी आती है। अन्ततः पशुधन और उनके उत्पाद जैसे कि दूध, घी, मांस, ऊन आदि के पैदावार में कमी आती है। इस प्रकार **प्रतिकूल पर्यावरण** मनुष्य को आर्थिक, शारीरिक, और मानसिक रूप से तोड़ देते हैं।

थार मरुस्थलीय पर्यावरण—थार मरुस्थल भारत और पाकिस्तान के 4.46 लाख वर्ग कि० मी० क्षेत्र को अपने में समेटे हुये है। भारत में 2.78 लाख वर्ग कि० मी० क्षेत्र के अन्तर्गत पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और गुजरात के क्षेत्र सम्मिलित हैं। जैसे कि चित्र 2 में दिखाया है। देश के सम्पूर्ण भू-भाग का यह 12% है। भारतवर्ष में कुल 3.17 लाख वर्ग कि० मी० उष्ण शुष्क क्षेत्र है, जो सात राज्यों में फैला हुआ है। राजस्थान की मरुभूमि का क्षेत्रफल 1.96 लाख वर्ग कि० मी० है जो देश की संपूर्ण मरु-भूमि का 62% है। जैसलमेर, बाड़मेर, बीकानेर और जोधपुर के शुष्क क्षेत्र रेत और रेत के टीलों द्वारा आच्छादित हैं जो कुछ मीटर से लेकर 100 मीटर तक ऊँचे हो सकते हैं। यहाँ प्रचण्ड आंधियाँ चलती हैं जो रेत के टीलों को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती हैं। बीकानेर के चल रेत के टीले पर्यटकों के आकर्षण का विशेष केन्द्र हैं। कुछ वर्षों से जोधपुर, बीकानेर और जैसलमेर **अन्तर्राष्ट्रीय पर्यटक केन्द्र** के रूप में विकसित हुए हैं। पर्यटन, खनिज तेल की उपलब्धि और इंदिरा गांधी नहर इस क्षेत्र को आर्थिक रूप से सुदृढ़ बनाने में सहायक होंगे।

इस क्षेत्र के रेगिस्तानी इलाकों में आबादी अत्यन्त क्षीण है और औसतन ग्यारह व्यक्ति प्रति कि० मी०

भूमि पर निवास करते हैं। लगभग देश की 30% साक्षर जनता की तुलना में यहाँ लगभग 23% लोग ही साक्षर हैं। प्रमुखतया वर्षा के बाद बाजरे की खेती की जाती है। लाल रंग का खार्ची गेहूँ ही खारे पानी में पैदा किया जाता है। अन्य सिंचित फसलों में गेहूँ, ग्वार, मोठ, रायड़ा, मूंग, तिल, प्याज, जीरा, मिर्च आदि सम्मिलित हैं। पशुपालन से प्राप्त दूध, ऊन और मांस, जीविका के प्रमुख स्रोतों में से एक हैं। प्रायः प्रत्येक कुटुम्ब से कोई न कोई सदस्य सेना और सीमा सुरक्षा बल आदि सेवा कार्यों में रत है, जो परिवार की जीविका चलाने में सहायक है। यहाँ के 'विशनोई' जाति के लोग वन्य जीवों और पेड़ों के संरक्षण के लिए अतभूपूर्व भूमिका निभा रहे हैं। श्री सुन्दरलाल बहुगुणा के 'चिपको आन्दोलन' की भांति पेड़ों की कटाई विशेषकर मरुभूमि के कल्पवृक्ष 'खेजड़ी' की रक्षा करते हैं। इनके गाँवों के निकट हिरणों, नील-गाय, चौसिंगा, मोर, सांभर, काले हिरणों आदि के झुंड देखे जा सकते हैं। प्रमुख पेशा दूध का व्यापार और कृषि है। प्रत्येक वर्ष 'खेजड़ली' मेले का आयोजन कर पशु और पेड़ों की रक्षा करने का वचन दोहराना भी नहीं भूलते। वर्षा 3-4 वर्षों में ही पर्याप्त हो पाती है। 1985 का वर्ष भी अकाल वर्ष रहा। अकाल के वर्षों में चौपाये बड़ी मात्रा में काल के गाल में समा जाते हैं। मात्र 10 रु० में गाय विकती है, बड़ी संख्या में चौपायों को लेकर निकटवर्ती राज्यों में चरवाहे भाग जाते हैं, भू-जल अत्यन्त खारा है। **जानवर, विशेषकर गायें और बछड़े जहाँ सान्द्र नाइट्रेटयुक्त जल के पीने से मरते हैं वहाँ कई लाख लोग अधिक प्लोराइड-युक्त जल पीने से प्लोरोसिस की बीमारी से पीड़ित हैं।** बावली, तालाब व अन्य दूषित जल पीने से हैजा, टायफायड, दस्त व पेचिश, पेट-दर्द और नारू व बाला रोग से पीड़ित होना प्रत्येक वर्ष की कहानी है। खारे पानी के पीने से पेट में पथरी के रोग भी रिपोर्ट किये गये हैं। साथ ही अशिक्षा के कारण अफीम और देशी शराब की लत ग्रामीणों को अशक्त और लाचार बनाये हुये है।



चित्र २. मरुस्थलीय प्राणियों और वनस्पतियों में पारिस्थितिक संबंध

राजस्थान मरुस्थल की वनस्पति का संकलन निष्कर्ष निकाला गया था कि इस मरुभूमि में 507 सर्वप्रथम डथी और किंग ने 1880 और 1890 जातियों के पेड़-पौधे हैं, जिनमें से 116 जातियाँ ई० के मध्य किया था । प्रारम्भिक गणनानुसार यह बाहर से लाई गई हैं । जोधपुर विश्वविद्यालय के हाल

सारणी 1. मरुस्थलीय पौधों की विशेषतायें

क्रसं०	विशेषतायें	सूखे से बचने वाले पादप (Drought Evaders)	लंबी जड़ों के साथ सूखे से बचने वाले पादप (Deeprooted Phreatophytes)	सूखे में दृढ़ रहने वाले पादप (Drought Enduring Evergreens)	मांसलीय पादप (Succulents)
1.	जीवन काल (Life Span)	बहुत कम अवधि, ज्यादातर मौसमी, कुछ वार्षिक उदाहरण-साटा (बोरहाविया)	ज्यादातर वार्षिक उदाहरण-जंगली बबूल, एवं खेजड़ी	ज्यादातर वार्षिक उदाहरण—तुम्बा	बहुवार्षिक उदाहरण—नागफनी एवं थोर
2.	वातावरण के अनुसार मुख्य परिवर्तन	कोई विशेष नहीं	काफी लंबी जड़ें 50-100 फीट लंबी	छोटी या विशेष प्रकार की पत्तियाँ उपस्थित या अनुपस्थित	अक्सर पत्तियाँ अनुपस्थित
3.	प्रकाश संश्लेषण (Photosynthesis)	ज्यादा द्रुतगति से पानी सुलभ होने पर प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया होती है (जैसे C 4 प्रणाली)	उदाहरण—खेजड़ी कोई खास नहीं	उदाहरण—केर बहुत ही कम, पर पानी के दबाव पर प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया हो सकती है। (जैसे C 3 प्रणाली)	उदाहरण—कैक्टस बहुत ही कम गति से सामान्य परिस्थितियों में भी प्रकाश संश्लेषण प्रक्रिया होती रहती है। (जैसे —CAM प्रणाली)
4.	पानी की बचत (Water Economy)	पानी की बचत को सुरक्षित रखने के लिए कोई विशेष परिवर्तन नहीं	लंबी गहरी जड़ें जमीन से पानी प्राप्त करने के लिए होती हैं।	उदाहरण—सूर्यमुखी, अल्फा-अल्फा, सोयाबीन	उदाहरण—कैक्टस एवं क्रैसुलेसी कुल के पौधे
		उदाहरण—साटा	उदाहरण—खेजड़ी की अन्य जातियाँ	पानी के दबाव और भार कम या ज्यादा सहने के लिए विशेष परिवर्तन	पानी संग्रह करने के लिए विशेष परिवर्तन
				उदाहरण—तुम्बा	उदाहरण—कैक्टस एवं क्रैसुलेसी कुल के पादप

के सर्वेक्षणानुसार 592 पेड़-पौधों की जातियाँ मरुभूमि में पाई जाती हैं जो कि अन्य 319 जातियों और 82 उपजातियों के अन्तर्गत आती हैं।

संपूर्ण मरुभूमि में कुछ पेड़-पौधे बहुतायत से पाये जाते हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण पौधों के नाम निम्न हैं : (1) ववूल या कीकर (*Accacia nilotica*), (2) कूमट (*Accacia senegal*), (3) खेजड़ी या सांगरी (*Prosopis cineraria*), (4) जंगली ववूल (*Prosopis juliflora*), (5) धतूरा (*Calatropis procera*), (6) जाल (*Salvadora oleoides*), (7) थोर (*Euphorbia nerifolia*), (8) काँग (*Coligonium polygonoides*), (9) केर (*Capparis decidua*), (10) झूट (*Cenchrus biflorus*), (11) बेर (*Ziglyphus mauritina*), (12) मतीरा (*Citrullus lanatus*), (13) बोरडी *Ziglyphus numalaria*, (14) तुम्बा (*Citrullus colocynthis*), (15) रोहड़ा (*Tecoma undulata*), (16) गुग्गुल (*Comiphora mukul*), (17) बुई (*Aerva tomentosa*), (18) शिनिओ (*Crotolaria burhia*), (19) खिम्प या खिम्पारो (*Leptodermia spartum*), (20) मोरेली (*Lycium barbarum*), (21) नील (*Inbigofera coerulea*) आदि।

ऊँट, भेड़, बकरी और गायें पालतू जानवर हैं। अपने भोजन के लिये ये चौपाए घास व वनस्पतियों पर निर्भर करते हैं। दक्षिण-पश्चिम मानसून के अभाव में राजस्थान काफी वर्षों से अकालग्रस्त होता आ रहा है और इस अकाल के समय जब खाद्यान्न अत्यधिक महँगे हो जाते हैं व आसानी से नहीं मिलते तब यहाँ के निवासी पौधों की पत्तियाँ, घास के बीज व अन्य वनस्पतियों के फूल व जड़ आदि को खाद्यान्नों के साथ मिलाकर खाते हैं। कुछ वृक्षों की पत्तियाँ, फूल, फलियाँ, बीज आदि तो हर समय सम्पन्न लोगों द्वारा भी सन्निधियों के रूप में उबालकर खाये जाते हैं। उदाहरण के लिए केर, कूमट सांगरी आदि बहुत सी झाड़ियाँ और कन्द ग्रामीण लोग इस विश्वास से खाते

हैं कि ये मौसमी बीमारियों को दूर करते हैं जबकि इनमें पोषक तत्व बहुत ही कम होते हैं। इनमें उपस्थित रेशेदार तत्वों की मात्रा अधिक होने से क्षुधा कुछ समय के लिए शांत अवश्य हो जाती है पर अत्यधिक खाने से स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव भी पड़ता है और इनसे दस्त, पेचिश, खून की कमी, चर्म-रोग एवं जलधर जैसे रोग हो जाते हैं।

भारत सरकार ने 1959 में जोधपुर में केन्द्रीय रक्ष (इंजिनेरिंग) अनुसंधान संस्थान की स्थापना की है। इस संस्थान में रेगिस्तान की रोकथाम, पशुपालन, खाद्यान्नों की नई जातियों व उपजातियों और रेगिस्तानों में उगाये जाने वाले पौधों के विषय में महत्वपूर्ण खोज की है। इंदिरा गाँधी नहर का निर्माण भी अन्तिम चरण में है जो निश्चय ही इस मरुभूमि में हरित क्रांति लायेगा जैसा कि राजस्थान के गंगा नगर जिले के चहुँमुखी विकास से सिद्ध हो चुका है।

इस मरुस्थल ने 1955 और 1971 के भारत-पाक युद्ध अपनी आखों से देखे हैं। इसके साथ नित्य-प्रति होने वाले सैनिक युद्धाभ्यास, परमाणु बम का पोखरण में परीक्षण, तेल और प्राकृतिक गैस आयोग एवं आयल इंडिया लिमिटेड के बड़े पैमाने पर खोज इसके सीने को चीरते आ रहे हैं। शिकारी और अन्य धन-लोलुप लोग जानवरों की खालों और आनन्द के लिए वन्य जीवों का निरन्तर हनन कर रहे हैं। इधर कुछ समय से तस्करों की गतिविधि सीमा पार से बढ़ी है। अरबों का शिकार के लिए आना सर्वविदित है यद्यपि भारत सरकार ने इस पर रोक लगा दी है। ठेकेदार व बढ़ती जनसंख्या ईंधन के लिए पेड़ों को लगातार काट-काट कर भूमि को नग्न बनाये दे रहे हैं। इमारती पत्थर (क्षीण), जिप्सम और लाइमस्टोन से संबद्ध चूने व सीमेंट व अन्य उद्योग और खनिजों का खनन यहाँ के पर्यावरण में निरन्तर असंतुलन ला रहा है। वन्य जीव कम हो रहे हैं। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि ये औद्योगिक और आर्थिक विकास इंदिरा गाँधी नहर के साथ यहाँ के पर्यावरण, विशेषकर वन्य जीवों में आमूलचूल परिवर्तन ला सकते हैं। □

नाभिकीय युद्ध की विभीषिका

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

रीडर, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद — 211002

इस समय जिन पाँच राष्ट्रों के पास नाभिकीय हथियार हैं वे हैं अमेरिका, रूस, यू० के०, फ्रांस तथा चीन। भारत, इजरायल, दक्षिणी अफ्रीका तथा पाकिस्तान ने भी कुछ न कुछ नाभिकीय युद्ध सामग्री एकत्र कर रखी है किन्तु पाँच राष्ट्रों में रूस तथा अमेरिका सर्वोपरि हैं। अनुमान है कि इस समय हिरोशिमा में प्रयुक्त परमाणु बम से 10 लाख गुने अधिक परमाणु बम हैं जिनकी संहार क्षमता भी पहले से कई गुनी अधिक है। एक गणना के अनुसार प्रत्येक पुरुष, स्त्री तथा बच्चे के मारने के लिए 3 टन टी० एन० टी० संहारक शक्ति के तुल्य नाभिकीय हथियार हैं।

यह सर्वविदित है कि 6 अगस्त 1945 को 8½ बजे प्रातः 510 मीटर की ऊँचाई पर जापान के हिरोशिमा नगर पर पहला परमाणु बम विस्फोट हुआ और तीन दिन बाद उसी शृङ्खला में 9 अगस्त 1945 को 11:02 बजे 500 मीटर की ऊँचाई पर नागासाकी नगर पर दूसरा बम विस्फोट हुआ। अनुमान है कि इससे 500 मीटर तक के दायरे के सारे लोग मर गये और 2 किलोमीटर तक के दायरे के 60% लोग मरे। विश्व में यह पहला अवसर था जब इतना व्यापक नरसंहार हुआ। भारतीय साहित्य में वर्णित कुरुक्षेत्र युद्ध या अशोक के काल में कलिंग युद्ध में जो नरसंहार हुआ उसकी तुलना में यह कहीं अधिक भयानक था।

आज चारों ओर नाभिकीय युद्ध की सम्भावनाएँ बढ़ रही हैं। गत वर्ष हुए भोपाल गैस कांड ने लोगों की आस्था को डिगा दिया है। नित्य ही अपने देश में तथा अन्यत्र गैस दुर्घटनाएँ होने के समाचार मिलते रहते हैं। जब लोगों के मनो में नाभिकीय युद्ध का विचार उठता है तो उनकी मानसिक स्थिति विगड़ने लगती है। 1960-70 की अवधि में जब विश्व भर

में नाभिकीय हथियारों का परीक्षण हो रहा था तो लोग इतने भयभीत, श्रान्त एवं क्लान्त नहीं थे जितने कि आज हैं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि सचमुच खतरे की घड़ी निकट आ गई है। सर्वत्र तनाव अपनी चरम सीमा पर है किन्तु मनोवैज्ञानिकों का कहना है कि यह शुभ लक्षण है। इसका अर्थ यह होता है कि निकट भविष्य में नाभिकीय युद्ध का हल निकल आवेगा। जो हो।

लेकिन यदि नाभिकीय युद्ध हुआ तो इतना निश्चित है कि पृथ्वी का कोई भी राष्ट्र इसकी विभीषिका से अछूता नहीं रहेगा। अनुमान है कि उत्तरी गोलार्ध का सारा औद्योगिकीकृत समाज नष्ट हो जायगा, करोड़ों लोग या तो प्रत्यक्ष नाभिकीय हथियारों से या उनसे उत्पन्न विकिरणों से मौत के धाट उतर जावेंगे। तृतीय विश्व के अधिकांश लोग हवा, पानी, उर्वरक, भोजन, आर्थिक सहायता आदि के अभाव से मर जावेंगे। आज मनुष्य जिस पर्यावरण पर अवलम्बित है वह उसके प्रतिकूल बन जावेगा।

अनुमान है कि ऐसा युद्ध होने पर मुख्यतः शहर प्रभावित होंगे जिनकी आधी जनसंख्या तुरन्त नष्ट हो जावेगी और आधे लोग बुरी तरह से क्षतिग्रस्त हुये रहेंगे। यही नहीं, बमबारी के फलस्वरूप जो अग्नि-काण्ड होगा तथा इससे जो उष्मा उत्पन्न होगी उससे बचे हुये लोग पुनः प्रभावित होंगे। फिर इससे भी जो बचे रहेंगे वे अवपात (Fallout) के तीव्र विकिरण से बीमारी के शिकार होंगे। इन विकिरणों के फलस्वरूप लोगों की प्रतिसंक्रमण क्षमता घट जावेगी जिसके फलस्वरूप हैजा तथा पेचिश जैसे रोग तेजी से फैलेंगे कारण कि समुचित जल तथा स्वच्छता के साधनों का अभाव हुआ रहेगा।

यही नहीं, शहरी आवादी के बचे हुए लोगों में से एक तिहाई लोग अत्यन्त चिन्ताग्रस्त रहेंगे और शेष 1/5 ऐसी मानसिक अवस्था को प्राप्त हुए रहेंगे कि उन्हें न तो अपना, न ही किसी अन्य का कोई ज्ञान रह पावेगा। फिर, जिन लोगों ने अपने परिवार के लोगों का विनाश होते देखा है वे तीव्र विवृण्णा एवं असंतुलन के शिकार हो जावेंगे। कल्पना कीजिये उन मृतकों के शवों के अम्बार के अम्बार ! उन शवों को हटाने वाला कोई नहीं। बीमारों की तामीरदारी कौन करे ? यदि करना हो तो सारा समय उसी में लग जावे।

तब मचेगी, भगदड़। शहरी लोग जीवन की आवश्यकताओं की तलाश में, सुरक्षित स्थान, भोजन और जल की तलाश में देहात की ओर भागेंगे। गदर का सा दृश्य उपस्थित हो जावेगा। लेकिन तब तक देहातों की नदियों, झीलों, तालों-पोखरों का जल दूषित हुआ रहेगा। यदि कुछ बचा रहेगा तो भौम जल, पृथ्वी के भीतर का कूप जल। वर्षा जल तो नाभिकीय युद्ध के विषैले पदार्थों से भरा होगा, यदि वह जल मनुष्य की चमड़ी पर पड़ जाये तो तुरन्त फफोले उठ आवें।

सम्भावना है कि भोजन सामग्री के अभाव में लोगों को बाध्य होकर रेडियोसक्रिय धूल से प्रभावित वस्तुएँ खानी पड़ेंगी। उनका जीवन कूकरो-सूकरो से भी बदतर होगा। उस समय सर्वत्र 1960-70 के परीक्षण स्थलों की अपेक्षा बीस गुनी रेडियो-सक्रियता व्याप्त होगी। लोग कैंसर, बन्ध्यता तथा आनुवंशिक रोगों से प्रभावित होंगे।

अभी तो हम धूल, कुहरा, स्माग से शहरों में वायु प्रदूषण की शिकायत करते हैं लेकिन नाभिकीय युद्ध के बाद आसमान में इतनी धूल छा जावेगी कि वह सूर्य के सारे प्रकाश को अवशोषित कर लेगी और सप्ताहों तक (हो सकता है महीनों तक) सूर्य प्रकाश को पृथ्वी तक न पहुँचने दे। इससे सर्वत्र घनांधकार छाया रहेगा। मानो सारे लोग गुफा निवासी बन गये हों। उत्तरी गोलार्द्ध में लगी आग

सारे जंगलों को जलाकर सारी फसलें चौपट कर देगी और तैल तथा गैस क्षेत्रों में नाभिकीय विस्फोटों से जो आग लगेगी उससे आसमान में कजली, राख तथा तारकोल के छोटे-छोटे कण भर जावेंगे। जब ये कण नीचे बैठेंगे तो फिर धुंध छा जावेगी। इस धुंध से तथा चारों ओर फैली भगदड़ से सारे कृषि कार्य ठप्प हो जावेंगे। सम्भव है कि इससे आसमान में स्थित ओजोन स्तर भी प्रभावित हो और उसकी मोटाई में कमी आ जाये। यह अवस्था कई वर्षों तक बनी रह सकती है और इससे पृथ्वी पर आनेवाली पराबैंगनी किरणों में वृद्धि के कारण मनुष्यों, पशुओं तथा वृक्षों पर बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

इस प्रकार कृषि तथा प्राकृतिक परिस्थितियों के अशक्त होने से तरह-तरह के नाशीजीव पौदों पर आक्रमण कर देंगे। तिलचट्टों, चूहों तथा सूक्ष्मजीवों की बढ़ोतरी होगी। छोटे-छोटे शरीर वाले नाशीजीव विकिरण के प्रतिरोधी होने के कारण खूब विस्तार करेंगे। इससे उत्तरी गोलार्ध में जीवित प्राणियों के लिए विकट संकट उत्पन्न हो जावेगा और नाभिकीय युद्ध होने के महीनों या वर्षों बाद तक भोजन की कमी बनी रहेगी। कहीं-कहीं प्रबल दुर्भिक्ष पड़ेगा।

नाभिकीय युद्ध होने पर महासागरीय पर्यावरण भी अछूता नहीं रहेगा लेकिन यह स्थल की अपेक्षा रेडियोसक्रिय संदूषण से कम दूषित होगा, फिर भी सूर्य प्रकाश की कमी होने से सागरीय पारिस्थितिक तन्त्र पर घातक प्रभाव पड़ेगा, विशेषतया सागरों के उथले तटों पर पाई जाने वाली मछलियों पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

ऐसे युद्ध के फलस्वरूप समाज में आमूलचूल परिवर्तन होगा। आधुनिक आर्थिक प्रणाली ध्वस्त हो जावेगी और दशकों तक क्या, सदियों तक इसके पुनरुज्जीवित होने की कोई सम्भावना नहीं रहेगी। जो देश उद्योग की दृष्टि से आगे हैं किन्तु जिनकी जनसंख्या अधिक और जहाँ अन्नोत्पादन कम हैं, वे भले युद्ध की सीधी चपेट में न आवें किन्तु दुर्भिक्ष, रोग तथा सामाजिक अशान्ति के शिकार होंगे। उन्हें

उर्वरक, ईंधन, फार्म मशीनरी तथा प्रौद्योगिकी के लाभ से वंचित होना पड़ेगा। ऐसी अराजकता की दशा में तानाशाही सरकारें बनेंगी और उनके कानून मनमाने होंगे। जो समाज बच रहेंगे उन्हें बड़ी कंजूसी से, कम साधनों से काम चलाना होगा।

इन प्रभावों के अतिरिक्त कुछ दूरगामी प्रभाव ऐसे भी हो सकते हैं जो वर्णित प्रभावों को पार कर जायें। उदाहरणार्थ, यदि कल्पना की जाय कि नाभिक रिएक्टरों पर भी बमबारी हो तो अवश्य ही रेडियो-सक्रिय संदूषण के प्रभाव बहुत ही अधिक हो जावेंगे। इनसे निकली रेडियोसक्रियता कहीं अधिक दीर्घकालिक होगी।

यद्यपि नाभिकीय युद्ध का प्रभाव व्यापक तथा भयावह होगा किन्तु ऐसा नहीं है कि सारे लोग विनष्ट हो जायें। महाप्रलय के होने पर भी कुछ न कुछ लोग बचे रहेंगे किन्तु उनका भाग्य अत्यन्त अनिश्चित होगा। वे जिस मानव तथा सामाजिक पर्यावरण में रह रहे होंगे वह इतना बदला हुआ होगा जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

इस वर्णन को आप कपोल कल्पना या कोई पौराणिक प्रतिरूप न समझें। इसे सुप्रसिद्ध पत्रिका 'एम्बियो' के एक विशेषांक के आधार पर तैयार किया गया है। इसके वैज्ञानिक पक्ष पर भी थोड़ा ध्यान देना होगा। चूँकि विश्व इतिहास में पहली बार आज से 40 वर्ष पूर्व जो परमाणु बम विस्फोट हुए थे उसके परिणाम विज्ञानियों को प्राप्त हैं अतएव उनके ही आधार पर सारी कल्पनाएँ वर्ष 2001 के लिए की जा सकती हैं। आप कह सकते हैं कि युद्ध न हुआ तो? लेकिन नाभिकीय युद्ध कई तरह से प्रारम्भ हो सकता है—एक श्रेष्ठ शक्ति द्वारा दूसरी शक्ति पर जानबूझ कर, अथवा परम्परागत युद्ध के विस्तार के फलस्वरूप अथवा यांत्रिक त्रुटि के कारण या नाभिकीय हथियार प्रणाली के ठीक से कार्य न करने या नाभिकीय अस्त्रों के स्वामियों में झुंझलाहट उत्पन्न होने, या नाभिकीय चेतावनी देने वाले कम्प्यूटरों या मनुष्यों की त्रुटिवश, या गैरजिम्मेदार सरकारों द्वारा

इन अस्त्रों की प्राप्ति तथा उनका उपयोग या कि आतंकवादियों द्वारा इनका प्रयोग।

इस तरह दुर्घटना, गलत गणना या पागलपन से कभी भी नाभिकीय युद्ध प्रारम्भ हो सकता है। 1945 में नाभिकीय युद्ध का सूत्रपात इसी तरह हुआ।

मूलतः नाभिकीय बम विखण्डन बम या एटम बम है। इसमें विखण्डन की शृङ्खला क्रिया द्वारा अकूत ऊर्जा अत्यल्प समय में एक सेकंड के दस लाखवें भाग में उत्पन्न होती है जिससे एक शक्तिशाली विस्फोट होता है। यह विखण्डन भारी तत्वों—यूरेनियम या प्लुटोनियम में होता है। अभी तक जो परमाणु बम बने हैं उनमें यूरेनियम-235 या प्लुटोनियम-239 को विखण्डन पदार्थ के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। जब कोई न्यूट्रॉन इन पदार्थों में से किसी के भी परमाणु के नाभिक में प्रवेश करता है तो वह परमाणु विखण्डित होता है, विखण्डन के फलस्वरूप प्रभूत ऊर्जा निस्सृत होती है। इस तरह मूल नाभिक से दो रेडियोसक्रियता नाभिक बनते हैं तथा 2 या 3 न्यूट्रॉन मुक्त होते हैं। अब ये ही न्यूट्रॉन अभिक्रिया को शृङ्खला रूप में आगे चलाते हैं। जिस परमाणु बम ने नागासाकी को ध्वंस किया था उसमें 8 किलोग्राम प्लुटोनियम था। यह पदार्थ उच्च ताप तथा दाब के कारण 1000 किलोमीटर प्रति सेकंड के वेग से फैलता है। नागासाकी में प्रयुक्त बम में 22 किलोटन टी० एन० टी० के तुल्य विस्फोट हुआ। हिरोशिमा बम में यूरेनियम 235 की 60 किलोग्राम मात्रा प्रयुक्त की गई। इसकी विस्फोट क्षमता 125 किलोटन अर्थात् नागासाकी बम से लगभग आधी थी। नागासाकी का बम 3 मीटर लम्बा और इसका आधा चौड़ा था और उसका कुल भार 4500 किग्रा० था। आजकल का अमेरिकी नाभिकीय हथियार 100 किग्रा० भार का तथा 350 किलोटन टी० एन० टी० विध्वंस क्षमता का होता है। कल्पना कीजिये कितना विकास हुआ है विगत 40 वर्षों में। वर्ष 2001 तक अवश्य ही इसकी विध्वंस क्षमता में और वृद्धि होगी।

ज्ञात हो कि परमाणु युग का सूत्रपात हो जाने के बाद हाइड्रोजनबम बनाया गया। इसकी विध्वंसक्षमता 100 किलोटन थी किन्तु 1962 में रूस ने जिस हाइड्रोजन बम का विस्फोट किया वह नागासाकी बम की तुलना में 3000 गुना शक्तिशाली था। तो फिर 2001 में इस बम की कल्पना की जा सकती है। वास्तव में हाइड्रोजन बम संलयन (फ्यूजन) बम है। संलयन क्रिया विखण्डन की उल्टी है। इसमें हल्के नाभिक संयुक्त होकर भारी नाभिक बनाते हैं। इसमें भारी हाइड्रोजन को संलयित करके हीलियम बनाया जाता है। इससे ऊर्जा के साथ-साथ न्यूट्रॉन निष्कासित होते हैं किन्तु भारी हाइड्रोजन के संलयन के लिए जितने उच्चताप की आवश्यकता होती है परमाणुबम द्वारा ही उत्पन्न हो सकता है। अतएव हाइड्रोजन बम में परमाणु बम निहित रहता है फलस्वरूप विखण्डन क्रिया भी होती है।

परमाणु बम विस्फोट में प्रभूत ऊर्जा निकलती है। इसकी आधी ऊर्जा धमाके के रूप में—धक्के के रूप में—प्रयुक्त हुई। यह उच्च दाब उत्पन्न करके ध्वनि के वेग से बढ़ी और 30 सेकंड में 11 किलोमीटर की दूरी पार कर गई। इसके बाद प्रबल प्रभंजन (आँधी) आयी और पीछे-पीछे शून्य उत्पन्न होने से हवाएँ विपरीत दिशा में दौड़ने लगीं। उपर्युक्त ऊर्जा का $\frac{1}{3}$ अंश उष्मा के रूप में था। इससे अंगारे उत्पन्न हुए जिनका ताप सूर्य जितना (कई लाख डिग्री सेंटीग्रेड) था। ये अंगारे बढ़ कर एक सेकंड में 400 मीटर व्यास के हो गये और इनका ताप घटकर 5000° हो गया। इस प्रकार से निकली उष्मा 4 किलोमीटर दूर तक के मनुष्य की चमड़ी झुलसाने के लिए काफी थी। फलतः कुछ लोग जलकर सीधे भाप बन गये, कुछ जल कर मर गये। यह अग्नि प्रभंजन आधे दिन तक चला और उसने 2 किलोमीटर तक के सारे दहनशील पदार्थों को जला डाला। फिर जो राख के कण ऊपर उठे थे, उन्होंने आसमान की नमी को संघनित कर लिया जिससे भीषण जलवृष्टि हुई किन्तु यह वर्षा शुद्ध जल

की नहीं अपितु रेडियो सक्रिय, तैल जैसे द्रव की थी जिसे “काली वर्षा” के नाम से पुकारा गया।

उपर्युक्त ऊर्जा का $\frac{1}{3}$ वां अंश आयनीकारक विकिरण के रूप में था। इसमें न्यूट्रॉन, एक्सकिरण तथा गामा किरणें सम्मिलित हैं। जब न्यूट्रॉन वायुमण्डल की नाइट्रोजन गैस से भिड़न्त करते हैं तो गामा किरणें उत्पन्न होती हैं। ये न्यूट्रॉनों से भी अधिक दूरी तक जा सकती हैं। इन विकिरणों को रैंड इकाई में मापा जाता है। यदि इस तरह से 450 रैंड विकिरण मनुष्य के पूरे शरीर पर पड़े तो वह एक मास में मर जावेगा और यदि 700 रैंड मात्रा हो जाय तो वह तुरन्त मर जायेगा। अनुमान है कि हिरोशिमा तथा नागासाकी में आश्रयहीन मनुष्यों को 1000 रैंड विकिरण में रहना पड़ा जिससे लोग तुरन्त मर गये।

ऐसे विकिरण का पहला प्रभाव होता है मिचली आना, बाद में रक्त की कै, तेज ज्वर, डायरिया तथा आँतों से रक्त प्रवाह होने लगता है। और 10 दिनों के भीतर मृत्यु हो जाती है। किन्तु कम मात्रा होने पर दीर्घकालीन प्रभाव देखे जाते हैं। जिससे रोगी जीवित अवश्य रहता है किन्तु उसे आँख तथा रक्त के रोग, द्यूमर आदि होने लगते हैं। 20 वर्ष के बाद भी लोगों में ल्यूकीमिया देखा गया। जो बच्चे उस समय माँ के गर्भ में थे वे उत्पन्न तो हुये किन्तु उनमें अनेक विकार आ गये यथा छोटा सिर, मानसिक ठिगनापन।

विकिरण के अतिरिक्त अवपात (Fallout) का प्रभाव बहुत काल बाद तक बना रहता है। फलस्वरूप कोई भी स्थान रहने लायक नहीं रह जाता। छोटे-छोटे कण दीर्घकाल बाद, सारे विश्व के ऊपर मँडरा कर धीरे-धीरे, विस्फोट स्थल से दूर-दूर उतरते हैं और भूमि, जल, वनस्पति सबको प्रदूषित बना देते हैं। दक्षिण गोलार्ध के लोग तथा देहात इसी अवपात से पीड़ित हो सकते हैं।

यदि कहीं समुद्र के भीतर विस्फोट हो तो सारे के सारे विकिरण समुद्र द्वारा ग्रहण कर लिये जाते हैं।

एक लेखक का कहना है कि 'मध्याह्न के समय धुंधलका' (Twilight) उत्पन्न हो जावेगा। सारे जंगल देखते-देखते भस्म हो जावेंगे, फिर यह अग्नि शहरों, उद्योग क्षेत्रों से होती हुई खेतों खलिहानों को मँझाती हुई तेल तथा गैस के भंडारों को नष्ट कर देगी। कैसा दृश्य—साक्षात् लंका दहन या लंदन जैसा अग्निकांड। इस अग्नि से निकलते धुएँ की जो मोटी परत बनेगी उससे पृथ्वी तक पहुँचने वाला सूर्य का प्रकाश घट जावेगा। सूर्यमण्डल को उसी तरह देखा जा सकेगा जिस तरह सूर्य ग्रहण के समय। इस तरह जो अंधकार फैलेगा वह हफ्तों रहेगा और सारी खेती चौपट कर

देगा।

यही नहीं इस अग्नि से वायुमण्डल में प्राप्य नाइट्रोजन तथा ऑक्सीजन गैसों मिलकर नाइट्रिक ऑक्साइड गैस बनावेंगी, साथ ही कार्बन डाइ ऑक्साइड तथा कार्बन मोनोक्साइड बनेगी। एथिलीन, प्रोपिलीन जैसे हाइड्रोकार्बन भी बनेंगे। ये ही धूम में व्याप्त होकर मनुष्य के लिए विष सिद्ध होंगे।

सचमुच ही नाभिकीय युद्ध भयावह होगा, अकल्पनीय होगा, मानवता के लिए अभिशाप होगा, पर्यावरण के लिए घोर संकट उत्पन्न करने वाला। कितना लोम-हर्षक होगा 2001 ? □

गैस दुर्घटना का पर्यावरण पर प्रभाव

तुरशनपाल पाठक

सम्पादक, भारत की सम्पदा : वैज्ञानिक विश्वकोश एवं राजभाषा अधिकारी, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, नई दिल्ली-110012

प्रकृति ने पेड़-पौधे, जीव-जन्तु तथा प्राकृतिक पर्यावरण की रचना संभवतः भविष्य के दूरगामी परिणामों को ध्यान में रखकर इस प्रकार की है कि सभी जीव-जन्तु अपना जीवन निर्वाह रूप से जी सकें। वैसे तो कहा गया है "जीव, जीवस्य भोजनम्" अर्थात् एक जीव, दूसरे का भोजन है। भोजन के लिये जीवों द्वारा दूसरे जीवों का संहार करना एक बात है लेकिन वेमत्तलब उन्हें मौत के घाट उतार देना समस्त प्राणीजगत् के लिये गम्भीर बात है। रोजी-रोटी की कमी से मरने वालों की तुलना में आज संसार में प्राकृतिक सन्तुलन के बिगड़ने से मरने वालों की संख्या निरन्तर बढ़ रही है।

यूँ तो हमारे स्वच्छ पर्यावरण को प्रदूषित करने के अनेक कारण हैं, लेकिन वैज्ञानिक तथा औद्योगिक प्रगति के साथ पर्यावरण को प्राणघाती स्तर तक प्रदूषित करने की संभावनायें नित बलवती हो रही हैं। आज उत्पादन बढ़ाने तथा सुख-सुविधाओं को जुटाने

के लिये किये जा रहे आधुनिक प्रयासों में छिपे पर्यावरण प्रदूषण के विस्फोटित होने से मानव जीवन लगभग खरमरा सा गया है।

पर्यावरण को प्रदूषित करने में आज गैस दुर्घटनायें विश्वव्यापी समस्यायें पैदा कर रहीं हैं। आप जानते ही हैं कि वायुमण्डल को किसी भी राजनैतिक अथवा देश-विशेष की सीमाओं में विभाजित नहीं किया जा सकता। अतः गैस दुर्घटनाओं से होने वाले पर्यावरण प्रदूषण से समूचे विश्व को खतरा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। गैस दुर्घटनाओं से होने वाले प्रदूषण की बात होने पर 3 दिसम्बर 1984 को हुई भोपाल गैस दुर्घटना की चर्चा किया जाना आवश्यक है। इस दमघोटू गैस के रिसने से हुये पर्यावरण प्रदूषण से लगभग ढाई हजार से अधिक व्यक्ति तो उसी समय तड़प-तड़प कर दम तोड़ गये और लगभग डेढ़ लाख से अधिक व्यक्ति इस स्तर तक प्रभावित हुये कि उनका जीना दूभर हो गया है। ऐसी घटनाओं का

केवल सामयिक प्रभाव ही नहीं होता बल्कि उसके दूर-गामी गम्भीर परिणाम पर्यावरण को इतना प्रदूषित कर देते हैं कि उसे सन्तुलन की अवस्था में लाना आसान काम नहीं होता है। यहाँ हम इस बात पर चर्चा नहीं करना चाहते कि यह घटना क्यों हुई, किसकी गलती से हुई तथा इसे रोकने के समुचित प्रयास क्यों नहीं किये गये बल्कि कहना यह चाहते हैं कि जब-जब ऐसी गैस दुर्घटनायें होती हैं वे मानव, जीव-जगत्, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे तथा प्राकृतिक सौन्दर्य सहित किसी को भी नहीं बख्शती हैं, जो भी उनके प्रभाव क्षेत्र में आता है, किसी-न किसी प्रकार की हानि अवश्य उठाता है। यहाँ तक की गर्भ में पल रहे भ्रूण भी अच्छे नहीं रहते। भोपाल की विपैली गैस जैसी दुर्घटनायें किसी पर दया नहीं दर्शाती हैं बल्कि उनके रास्ते में आने वाले सभी प्रकार के जीव उनके विपैले प्रभाव से प्रभावित हुये बिना नहीं रहते। मानव, पेड़-पौधे तथा पशु-पक्षी तो हमें दिखाई देते हैं और ये तो प्रभावित होते ही हैं। इसके विपरीत आँख से न देखने वाले बैक्टीरिया (जीवाणु) तथा फंगस (कवक) जैसे सूक्ष्म जीवाणु भी इनकी चपेट में आकर मौत के घाट उतर जाते हैं। इनमें हानिकारक और लाभकारी दोनों प्रकार के जीवाणु होते हैं, जिनके न रहने से प्रकृति में कई प्रकार के असन्तुलन उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है।

आप जानते हैं कि मृत शरीरों की सफाई के लिये प्रकृति ने उन्हें सड़ा कर समाप्त करने के लिये नाना प्रकार के जीवाणु पैदा किये हैं जो निरन्तर मृत शरीरों की सफाई करते रहते हैं। कई बीमारियाँ भी जीवाणुओं के द्वारा फैलती हैं। इनमें निमोनिया भी एक है। एक सूचना के अनुसार भोपाल गैस दुर्घटना से उस क्षेत्र के जीवाणुओं के भी नष्ट हो जाने से लाखों से दुर्गन्ध या सड़ान्ध जैसी स्वाभाविक प्रक्रिया अवरुद्ध हो गई थी और सम्भावित निमोनिया का प्रकोप भी दृष्टिगोचर नहीं हुआ। इसे आप परोक्ष रूप से आंशिक लाभ की दृष्टि से देख सकते हैं, लेकिन लाभकारी जीवाणुओं का भी नष्ट होना गम्भीर चेतावनी का संकेत देता है।

यह सर्वविदित है कि फसलों के लिये हवा में से नाइट्रोजन सोख कर जीवाणु उसे दलहनी फसलों की जड़ों में एकत्र कर पौधों को प्राकृतिक रूप से उपलब्ध कराते हैं जिससे कम खर्च में किसानों को पैदावार मिल जाती है। इसी तरह हवा से नाइट्रोजन द्वारा इंसान को प्रोटीन देने वाले जीवाणुओं का भी हमारे लिये बहुत महत्व है। गैस दुर्घटनाओं से पर्यावरण के प्रदूषित होने पर मानव इस प्रकृतिक लाभ से वंचित हो जाता है। गैस प्रदूषण से जल-जीव भी सुरक्षित नहीं रहते। भोपाल में जलाशयों से मछलियाँ लगभग समाप्त ही हो चुकी हैं। इतना ही नहीं जल के अन्य जल-जीव और सूक्ष्म जीव भी नष्ट हो गये हैं। इनके नष्ट हो जाने से भोपाल में पुनः मत्स्यपालन करना कठिन हो गया है। कुछ वैज्ञानिकों के अनुसार प्रदूषित क्षेत्र की मिट्टी भी प्रदूषित हो गयी है। फल और सब्जियाँ भी गैस प्रदूषण का शिकार हो जाने से खाने योग्य नहीं रहतीं। गुलाब के पौधों तथा मुर्गियों पर प्रत्यक्ष रूप से हालाँकि विपैली गैस का प्रभाव दृष्टि-गोचर नहीं होता लेकिन कालांतर में इन दुर्घटनाओं के प्रभाव से क्या हानि सामने आये, इसका अनुमान इन बातों पर गहन अनुसंधान के बाद ही लगाया जा सकता है।

प्रश्न केवल भोपाल की गैस का ही नहीं है, अपनी फसलों को बीमारियों और कीटों से बचाने के लिए हम न जाने कितने प्रकार के कीटनाशी गैस के रूप में छिड़कते रहते हैं। मच्छर मारने के लिए तो आधुनिक यन्त्रों से महानगरों में गैस के बादल नगर के गली-कुचों से लेकर मकानों के प्रत्येक हिस्से में उड़ेल दिये जाते हैं। डिलड्रिन, एलड्रिन, हेप्टाक्लोर, इपोक्साइड, बैनजीनहैक्साक्लोराइड जैसे कीटनाशक आज पर्याप्त मात्रा में प्रयुक्त होते हैं, जिनका प्रदूषण फैलाने में योगदान कम नहीं है। रसायनज्ञों के अनुसार इनमें क्लोरीन की पर्याप्त मात्रा होती है, जो जीवन के लिये घातक बताई जाती है। इनसे पर्यावरण के प्रदूषित होने पर जीव-जगत् को ख़तरा पहुँचना स्वाभाविक है।

विषैले भोपाल गैस का उपचार सोडियम थायोसल्फेट से

चिकित्सा विशेषज्ञों का कहना है कि दिसम्बर 1984 में यूनियम कारबाइड कारखाने में मियाइल आयसोसाइनेट (मिक) की रिसन से प्रभावित हुए भोपाल के लोगों में अब भी रह-रह कर इस विष-प्रभाव के लक्षण प्रकट होते हैं और उनके उपचार में सोडियम थायोसल्फेट सर्वोत्तम पाया गया है।

लंदन "आब्जर्वर" में प्रकाशित इसके बारे में कि बहुत से गैस प्रभावितों का गलत उपचार हुआ है, भोपाल के हमीदिया अस्पताल के चिकित्सकों ने, जिनका अनुरोध है कि उनका नाम प्रकट न किया जाए, दावा किया है कि सोडियम थायोसल्फेट इस तरह के विष-प्रभाव का अब भी ज्ञात सर्वश्रेष्ठ उपचार है।

मिक-प्रभाव का अध्ययन करने वाले चिकित्सकीय विशेषज्ञों के अनुसार भी जिन गैस-प्रभावितों का उपचार थायोसल्फेट से किया गया उनमें से करीब 60 प्रतिशत की हालत में काफी सुधार पाया गया है। इनका कहना है कि इन रोगियों की चिकित्सा में स्टेराइड्स हारमोन युक्त है, जिसके यौगिक के उपयोग की सिफारिश नहीं की जा सकती। वैसे गैस-पीड़ितों को सांस लेने में कठिनाई की शिकायतों में ब्रोंकोडायलेटर्स प्रभावी पाए गए हैं।

विशेषज्ञों के अनुसार गैस-प्रभावित लोगों में मिक के प्रभाव के लक्षण ज्यादातर एक माह के अन्तर से देख जाते हैं। तब उन्हें आँखों में जलन, मांसपेशियों में तथा पेट में दर्द और सांस लेने में कठिनाई की शिकायतें होती हैं और उसके लिए सोडियम थायोसल्फेट देना बहुत ठीक रहता है।

सोडियम थायोसल्फेट की तीन "खुराकें" ही रोगी को विष-प्रभाव से मुक्त करने के लिए पर्याप्त होती हैं। रोगी को जब भी मिक के लक्षण दिखाई देने पर चौबीस घंटे के अन्दर पहली "खुराक" दी जानी चाहिए। दूसरी "खुराक" तीन या चार दिन में और तीसरी एक या दो माह बाद।

विशेषज्ञ गैस-प्रभावितों में साइनाइड के लक्षण का मिक के साथ सांस में हाइड्रोजन साइनाइड का सीधा प्रवेश अथवा शरीर में ही मिक के साइनाइड का सीधा प्रवेश अथवा शरीर में ही मिक का साइनाइड मूलकों में रूपान्तरण बताते हैं। गैस-प्रभावितों के रक्त का चेरी के फल जैसा रंग और उनके मूत्र के नमूनों में थायो साइनाइड की बड़ी हुई मात्रा भी इस बात का प्रमाण है कि मिक या उसके विघटन से उत्पन्न पदार्थों के कारण साइनाइड जैसे यौगिक उनके शरीर में उत्पन्न हुए हैं।

—तुरशनपाल पाठक

आज देश की घनी आवदी वाले शहरों के अनेक क्षेत्रों में हानिकारक गैसों का अपार भण्डार भरे न जाने कितने कारखाने कार्य कर रहे हैं। समय-समय पर देश के किसी न किसी भाग से इन कारखानों से नाना प्रकार की जानलेवा गैसों के रिसने की घटनाएँ सामने आती रहती हैं। घटना होने पर कुछ शोर-शरावा होता है और किसी कर्मचारी के सर पर लापरवाही की तोहमत थोप कर मामला ठण्डा हो जाता है, या अदालतों की लम्बी प्रक्रिया में फँस जाता है। पर्यावरण को स्वच्छ रखने के लिए बनाये गये नियमों को ताक पर रखना, निर्बाध रूप से चलता ही रहता है। पर्यावरण प्रदूषित होता रहता है और

लोग मरते रहते हैं। वर्तमान परिस्थितियों में गैस दुर्घटनाओं से पर्यावरण प्रदूषित होना आसानी से रोका जाना संभव प्रतीत नहीं होता। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि फिर क्या किया जाये? इस संदर्भ में हमें संभावित घटनाओं की रोकथाम और दुर्घटना हो जाने पर उपचार की रामबाण व्यवस्था का ज्ञान और उचित व्यवस्था होना परम आवश्यक है। देश की प्रगति के लिये उद्योगों का विकास रोका नहीं जा सकता। अतः यदि हमें घातक गैसों से होने वाले प्रदूषण से बचना है तो गैसों की संभावित दुर्घटनाओं के स्रोतों पर पर्याप्त सुरक्षात्मक तथा उपचारात्मक व्यवस्थाओं का प्रबन्ध करना होगा। □

डी डी टी की निर्गति

डॉ० हेमचन्द्र जोशी

सेन्ट्रल इनलैण्ड फिशरीज रिसर्च इंस्टीट्यूट, बैरकपुर (पश्चिम बंगाल)—743101

रसायन विज्ञान के क्षेत्र में पेनिसिलीन के बाद डी० डी० टी ही एक ऐसा रसायन है जो पिछले कुछ दशकों में सर्वोच्च चर्चा का विषय रहा है (जबकि डी० डी० टी० की स्थिति पेनिसिलीन से भिन्न है)। जहाँ पेनिसिलीन का मानव स्वास्थ्य से सीधा संबंध रहा है वहीं डी० डी० टी० परोक्ष रूप में ही मानव कल्याण करती आई है। इसका वर्चस्व इतना बढ़ गया कि ब्लीचिंग पाउडर व पोटाश जैसे साधारण रसायनों की तरह इसका प्रयोग होने लगा। लोग भूलने लगे कि वस्तुतः यह रसायन एक विष है और जब अंधाधुंध प्रयोग के दूरगामी परिणाम स्पष्ट होने लगे तो डी० डी० टी० के प्रयोग पर नियन्त्रण व निषेध की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई। लेकिन आज भी पृथ्वी की दो तिहाई जनसंख्या के स्वास्थ्य व अन्न संरक्षण के लिए डी० डी० टी० का प्रयोग यथावत जारी है दूसरी ओर जहाँ डी० डी० टी० के जैविक व परिस्थितिकीय दुष्प्रभावों पर शोध कार्य का प्रक्रम

समाप्त होता नहीं दिखता, वैज्ञानिक इस रसायन की विश्वव्यापी पावन्दी पर भी सहमत होते नजर नहीं आते, साधारण मानव समाज के लिए यह आम प्रश्न बनता जा रहा है कि 'डी० डी० टी० का क्या करें?'

एक रसायन के रूप में अपनी उत्पत्ति के समय से ही डी० डी० टी० का इतिहास कुछ संदिग्ध रहा है। इस रसायन को यद्यपि 1873 में ही खोज लिया गया था परन्तु इसके कीटनाशी गुणों का पता 1939 में लग सका। यदि इसकी उत्पत्ति के समय ही इसके गुणों का पता लग जाता तो शायद आज इस प्रश्न का उत्तर देना अधिक सरल होता। आज प्रश्न का उत्तर खोजने के प्रयास में पहले इस रसायन की अपार उपलब्धियों की चर्चा अनिवार्य हो जाती है। यदि भारत से ही आरम्भ करें तो डी० डी० टी० की उपलब्धियों का विवरण विस्तृत है। अकेले भारत में ही डी० डी० टी० ने लगभग 50 लाख लोगों को प्राणदान दिया है तथा 1952-60 तक के आठ वर्षों

में डी० डी० टी० के प्रयोग से लगभग दस करोड़ लोगों को मलेरिया इत्यादि कीटजन्य बीमारियों से मुक्ति मिली है। भारत सरकार के अथक प्रयासों के कारण संयुक्त राष्ट्र द्वारा सहायता प्राप्त राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के अन्तर्गत 99% सफलता के साथ मलेरिया उन्मूलन कर लिया गया। इस सफलता का श्रेय है डी० डी० टी० के प्रयोग को। मलेरिया ही नहीं, पिछले कुछ वर्षों में डी० डी० टी० के प्रयोग से जापानी इन्सेफलाइटिस, डेंगू इत्यादि नई-नई बीमारियों की रोकथाम की गई है। भारत की ही तरह विश्व के अन्य गरीब व जनसंख्या बहुल देशों में, जहाँ कि इस तरह के कीटजन्य रोगों का हर समय भय बना रहता है, डी० डी० टी० का प्रयोग एक विश्वसनीय रसायन की तरह किया जाता है। अफ्रीका में पीले बुखार, एशिया में कालाज्वार बीमारियों की रोकथाम डी० डी० टी० से ही सम्भव हो सकी है। जनस्वास्थ्य के अतिरिक्त फसल संरक्षण के लिए भी डी० डी० टी० का प्रयोग होता है। डी० डी० टी० अपनी विलक्षण कीटनाशक क्षमता व कम कीमत के कारण इस क्षेत्र में भी अत्यधिक प्रचलित हुई है। पश्चिमी विकसित देशों में भी द्वितीय विश्वयुद्ध में सैनिक क्षेत्रों में मलेरिया उन्मूलन करने में सफलता के बाद डी० डी० टी० का बड़े पैमाने पर प्रयोग किया गया। वर्ष 1971 तक इसका कृषि व जनस्वास्थ्य के लिए धूलड़ले से प्रयोग होता रहा। 1972 में अमेरिका में प्रथम बार इसका प्रयोग निषिद्ध कर दिया गया। इसके बाद कई अन्य विकसित देशों में इसके प्रयोग पर निषेध लगा दिया या इसका प्रयोग सीमित कर दिया गया।

कृषि व जन-स्वास्थ्य के क्षेत्रों में अभूतपूर्व सफलता के बावजूद डी० डी० टी० के प्रयोग पर निषेध क्यों लगाया गया? 30 वर्षों के निरंतर प्रयोग के बाद डी० डी० टी० के प्रयोग पर यह संदेह एकाएक नहीं उभरा। अमेरिका में वर्ष 1946 से ही डी० डी० टी० के प्रभाव से पक्षियों के अंडे पतले होने व भ्रूण नाश होने तथा मछलियों व अन्य जल जन्तुओं पर

दुष्प्रभाव के प्रमाण मिलने लगे थे। आने वाले वर्षों में भी इस तरह के प्रमाण बढ़ते ही गये। वर्ष 1962 में रोशेल कार्सन ने इन्हीं प्रमाणों को एकत्रित करके एक सनसनीखेज पुस्तक लिखकर विश्व के कीट-विशेषज्ञों को चौंका दिया। तब से डी० डी० टी० पर परीक्षणों का ऐसा सिलसिला जारी हुआ कि वैज्ञानिकों ने महा-द्वीप, महासागर, ही नहीं, एंटार्कटिका व आर्कटिक की वर्ष में भी डी० डी० टी० के अवशेष ढूँढ़ निकाले तथा यह सिद्ध कर दिया कि डी० डी० टी० एक ऐसा रसायन है कि यदि यह एक बार पर्यावरण में प्रवेश कर जाय तो इससे छुटकारा मिलना मुश्किल है। यही नहीं, यह भी कहा जाने लगा कि डी० डी० टी० कैंसर, रसौली (ट्यूमर) व जीव-विनाश इत्यादि प्राण-घाती विकृतियों की भी कारक है। इस तरह के आरोपों में सत्यता ढूँढ़ना मुश्किल नहीं। एक रसायन के रूप में किसी भी विष के इस तरह के प्रयोग की यही परिणति होनी थी। लेकिन डी० डी० टी० के पर्यावरणीय दुष्प्रभावों का प्रचार जहाँ एक ओर वैज्ञानिक तथ्यों से प्रेरित था तो वहीं दूसरी ओर कुछ निहित स्वार्थ भी इसके पीछे कार्यरत थे। यह सत्य है कि विभिन्न कीटों में अवरोधक क्षमता (resistance) बढ़ने के कारण डी० डी० टी० की कीटनाशक क्षमता में ह्रास हुआ। अतः इसका यथोचित कीटनाशी प्रभाव बनाये रखने के लिए इसकी मात्रा बढ़ाने की आवश्यकता पड़ने लगी। किन्तु इस मात्रा को किस सीमा तक बढ़ाया जाय जबकि हम जानते हैं कि डी० डी० टी० एक विष है तथा इसके दूरगामी पर्यावरणीय दुष्प्रभाव हो सकते हैं। दूसरा कारण यह है कि डी० डी० टी० के सफल प्रयोग के बाद अनेक नये-नये कीटनाशी रसायनों का आविष्कार हुआ। परन्तु अभी तक कोई भी ऐसा रसायन नहीं बन सका जो कि डी० डी० टी० की तरह सुविधाजनक, सक्षम सुरक्षित व सस्ता हो। इन रसायनों का प्रयोग बढ़ाने की दृष्टि से भी डी० डी० टी० के पर्यावरणीय दुष्प्रभावों की बढ़ा-चढ़ा कर चर्चा की गई। कुल मिलाकर एक सर्वाधिक प्रचलित कीटनाशी रसायन धीरे-धीरे एक बदनाम रसायन बन

गया। संयुक्त राज्य अमेरिका में वर्ष 1971 में एक समिति का गठन किया गया जिसका उद्देश्य डी० डी० टी० पर उपलब्ध शोध व सर्वेक्षणों का मूल्यांकन करना तथा डी० डी० टी० के उत्पादन पर लगे स्थगन आदेश का अनुमोदन करना था। किन्तु इस समिति की रिपोर्ट में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि डी० डी० टी० के वर्तमान प्रयोग की दर मनुष्य के शारीरिक कार्यकलापों व सुरक्षा के लिए कोई तात्कालिक खतरे पैदा नहीं करती। परन्तु डी० डी० टी० व उसके मेटा-बोलाइडों के पर्यावरण में व्यापक वितरण व विभिन्न जीवों व वनस्पतियों पर उनके दुष्प्रभावों को ध्यान में रखते हुए इस समिति ने प्रस्तावित स्थगन आदेश का अनुमोदन कर दिया। इसके बाद डी० डी० टी० के प्रयोग पर निषेध की जो प्रक्रिया प्रारंभ हुई वह अभी तक समाप्त नहीं हुई है। भारत में भी डी० डी० टी० के प्रयोग पर निषेध की बात बार-बार उठायी जा रही है। लेकिन क्या आज 14 वर्ष बाद भी भारत ने डी० डी० टी० पर निषेध के अमेरिकी कदम का अनुसरण किया? भारत व अमेरिका की भौगोलिक सामाजिक व आर्थिक भिन्नताओं को ध्यान में रखते हुए यह प्रश्न कि 'डी० डी० टी० का क्या करें?' पर्यावरण व विशेषज्ञों के समक्ष भी बड़ी जटिल समस्या है। फिर भी इन पहलुओं की अलग से विवेचना भारतीय संदर्भ में करने से इस प्रश्न की जटिलता कम की जा सकती है।

भौगोलिक दृष्टि से ही देखें। भारत एक उष्ण जलवायु वाला भूभाग है। वर्ष के अधिकतर भाग में देश के 80% क्षेत्र में तापमान लगभग 30 से 45° से० तक रहता है और अधिकांश भागों में नमी भी 56% से अधिक रहती है। ये भौतिक स्थितियाँ डी० डी० टी० के विघटन के संदर्भ में अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। अमेरिका में स्थिति इसके लगभग विपरीत है। इसीलिये भारत में डी० डी० टी० का अर्ध जीवनकाल जहाँ 45-60 दिन आँका गया है। वहीं अमेरिकी जल-वायु में यह 180 दिन है। फिर भी भारत के विस्तृत क्षेत्र से विभिन्न खाद्य सामग्रियों में डी० डी० टी० के अवशेष होने की रिपोर्ट मिली है। सारणी-1 में भारत

के विभिन्न वैज्ञानिकों के शोधपत्रों में दिये गये आँकड़ों को संकलित किया गया है। कहीं-कहीं तो डी० डी० टी० अवशेषों की मात्रा विश्व स्वास्थ्य संगठन व खाद्य एवम् कृषि संगठन द्वारा सुझाई गयी मात्रा से भी अधिक है। लेकिन अमेरिका में हुये शोध व सर्वेक्षणों का आधार अत्यधिक व्यापक है जब कि भारत में हुये सर्वेक्षण कुछ ही भागों तक सीमित है तथा विश्लेषित नमूनों की संख्या भी अमेरिका से कहीं कम है। उदाहरणार्थ मनुष्य के वसातन्तु में डी० डी० टी० के अवशेषों को ही लें। सारिणी-2 में अमेरिकी व भारतीय सर्वेक्षण के स्वरूप की भिन्नता को दर्शाया गया है। भारत में मनुष्य के वसातन्तुओं में जितनी डी० डी० टी० बतायी गयी है। यदि उसे अमेरिकी व भारतीय डी० डी० टी० प्रयोग की दर व जनसंख्या की दृष्टि से देखें तो ये आँकड़े निश्चय ही चौकाने वाले हैं। इससे इस प्रचार की असत्यता भी स्पष्ट होती है कि भारत में मानव वसातन्तु में डी० डी० टी० के अवशेषों की मात्रा विश्व में सर्वाधिक है।

भारत में मानव-वसातन्तुओं में डी० डी० टी० की उपस्थिति का उल्लेख सर्व प्रथम डेल के एक शोध-पत्र (1965) में मिलता है जिसमें यह मात्रा औसतन 27 पी० पी० एम० (मि० ग्रा०/कि० ग्रा०) दर्शायी गयी है जो कि विश्व आँकड़ों के अनुसार सर्वाधिक है (सारिणी-3)। उसके बाद 1974 में रामचन्द्रन के शोध-पत्र में यह मात्रा 20 मि० ग्रा०/कि० ग्रा० है। यह भी विश्व आँकड़ों के अनुसार सर्वाधिक है। तीसरी बार, राष्ट्रीय व्यावसायिक स्वास्थ्य संस्थान, अहमदाबाद की रिपोर्ट में यह मात्रा लगभग 12 मि० ग्रा०/कि० ग्रा० बतायी गयी है। इन उदाहरणों से डी० डी० टी० अवशेष सम्बन्धी प्रदूषण के दो पक्ष उजागर होते हैं एक तो यह कि इन अध्ययनों से डी० डी० टी० अवशेषों की तस्वीर ठीक से नहीं उभरती क्योंकि तीन रिपोर्टों में तीन तरह की बातें कही गयी हैं। इस संदर्भ में राष्ट्रीय व्यावसायिक स्वास्थ्य संस्थान की रिपोर्ट सर्वाधिक विश्वसनीय प्रतीत होती है क्योंकि

जाँच किये गये नमूनों की संख्या सर्वाधिक है तथा रिपोर्ट का स्वरूप व्यापक है। इससे यह स्पष्ट होता है कि डी० डी० टी० अवशेषों के सर्वेक्षण के स्वरूप को यदि और विस्तृत व व्यापक बनाया जाय तो पर्यावरण में डी० डी० टी० के अवशेषों की तस्वीर कुछ भिन्न होगी। यह बात इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि जहाँ अमेरिका में 1951-70 तक बीस वर्षों में लगभग पाँच लाख टन डी० डी० टी० की खपत हुई, वहीं भारत में 1952 के बाद आज तक केवल 2.5 लाख टन (लगभग) डी० डी० टी० की खपत हुई है।

डी० डी० टी० की अवशेष संबंधी विवेचना से दूसरी बात जो स्पष्ट होती है वह यह है कि इसके अवशेषों की असामान्य मात्रा की उपस्थिति डी० डी० टी० के अधिक प्रयोग के कारण नहीं बल्कि इसके अन्धा-धुन्ध प्रयोग के कारण है। जैसे कि पशुओं के चारे में डी० डी० टी० मिला देना, डी० डी० टी० प्रयोग के कुछ दिन बाद ही फसल काट लेना, मुर्गियों के चारे में डी० डी० टी० मिला देना। हमारे किसान अज्ञानता-वश डी० डी० टी० का इस तरह प्रयोग करते हैं। किसानों द्वारा ही नहीं, शहरों में भी डी० डी० टी० का गलत प्रयोग होता है। लोग चूने के साथ डी० डी० टी० मिलाकर अपने घरों में पुताई करते हैं। विभिन्न उद्योग धंधों में भी लोग अपने उत्पादों को कीट पतंगों व अन्य जीवाणुओं, कवकों इत्यादि से बचाने के लिए किसी विशिष्ट रसायन का नहीं, अपितु डी० डी० टी० का ही प्रयोग करते हैं क्योंकि लम्बे उपचार के लिए डी० डी० टी० एक अच्छा और सस्ता रसायन है।

भारत की बढ़ती जनसंख्या व तत्संबंधित जन स्वास्थ्य सुविधायें जुटाने की समस्या के समक्ष डी०

डी० टी० पर निषेध की बात सोची ही नहीं जा सकती इधर पिछले कुछ वर्षों में मलेरिया का प्रकोप फिर सिर उठाता नजर आ रहा है। मलेरिया ही नहीं, ऐसी ही अन्य कीट जन्य बीमारियाँ—जैसे डेन्गू, जापानी इन्सेफलाइटिस इत्यादि देश के किसी न किसी हिस्से में सर्वथा बनी रहती हैं। यद्यपि डी० डी० टी० के अलावा कुछ अन्य रसायन जैसे मैलाथायोन व वी० एच० सी० इत्यादि भी इनकी रोकथाम के लिये प्रयोग में लाये जाते हैं परन्तु डी० डी० टी० जैसा विश्वसनीय रसायन कोई नहीं है। स्वास्थ्य के अलावा बढ़ती जनसंख्या के लिए भोजन जुटाने की समस्या भी उतनी ही विकराल है। कृषि में चूँकि डी० डी० टी० सीधे खाद्य पदार्थों के सम्पर्क में आ जाती है इस लिए इसका प्रयोग जहाँ तक संभव हो कम किया जाना चाहिये।

डी० डी० टी० के प्रयोग पर इलिनॉय विश्व-विद्यालय के कृषिशास्त्र के प्रोफेसर हिल्टीब्रान के शब्दों में शायद इस प्रश्न का उत्तर छिपा है, उन्होंने लेखक से एक विचार विमर्श के दौरान यह बतलाया, “मुझे एक बार मलेरिया हो चुका है अतः मैं मलेरिया होने की बजाय अपने रक्त में डी० डी० टी० की उपस्थिति सहर्ष स्वाकार करूँगा।” भारत में एक तिहाई से भी अधिक लोगों को कभी न कभी मलेरिया का शिकार होना पड़ा है। अतः शायद हम, जिन्हें एक बार मलेरिया हो चुका है अपने रक्त में डी० डी० टी० की उपस्थिति स्वीकार कर लेंगे। हाँ इस मात्रा को विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा सुझाई गई मात्रा से अधिक नहीं होनी चाहिये। □

सारणी—1. विभिन्न खाद्य पदार्थों में डी० डी० टी० के अवशेष (मि० ग्रा०/कि० ग्रा०)

खाद्य पदार्थ	पंजाब	हरयाणा	उत्तर प्रदेश	दिल्ली	बम्बई	आंध्र प्रदेश
तरकारी	0-1.11	0-1.52	—	—	0.3-7.04	0-10.0
गेहूँ	0-6.0	0-6-1.0	0.41-10	—	1.0-8.9	—
दालें	0-102	—	10.0-175.0	—	—	0-8.0

तिलहन	0-1.28	—	—	1.1-3.4	—	—
मांस/मछली	0-0.930	—	0.538	0.5-1.6	—	0-0.20
			(औसत)			
अंडे	0.047-0.97	—	0-0.064	0.0.60.4	—	0-8.01
दूध	0.19-27.0	—	—	0.02-0.75	56-0.216.0	0-5.0
मक्खन	0.3-8.0	0.63-6.94	1.25-2.12	1.1-8.0	—	0.0-33.3
घी	2.57-11.0	—	2.72-13.0	—	—	2.10
						(औसत)

सारणी - 2. अमेरिका व भारत में डी० डी० टी० के अवशेषों पर हुए सर्वेक्षणों का तुलनात्मक अध्ययन

देश	वर्ष डी० डी० टी० प्रयोग प्रारंभ होने के बाद	औसत जन संख्या करोड़ों में	डी० डी० टी० की प्रतिवर्ष औसत खपत (हजार टन)	विश्लेषित मानव वसा नमूनों की संख्या	डी० डी० टी० अवशेषों की औसत मात्रा (मि. ग्रा. / कि. ग्राम)
अमेरिका	1951-70	20	25	15,000	7.00
भारत 1	1951-65	50	10	88	2-7.00
2	1965-74	60	10	90	2-0.00
3	1975-78	64	13	313	1 2.0

सारणी—3. मानव के वसातन्तु में डी० डी० टी० के अवशेष

देश	अवधि	डी० डी० टी० मि० ग्रा० / कि० ग्रा०	स्रोत
1. अजेन्टाइना	1967	13.17	वासरमैन व साथी (1969)
2. ऑस्ट्रेलिया	1965-66	9.3	वासरमैन व साथी (1968)
3. इटली	—	8.2	—
4. फ्रांस	1970	3.02-3.17	फॉनियर व साथी (1972)
5. प० जर्मनी	1967	4.1	वन्सचर व एंकर (1969)

6. पू० जर्मनी	1966	13.1	एंस्ट व साथी (1967)
7. जापान	1971	4.22	तात्सुमि व साथी (1972)
	1972	2.47	कर्ली व साथी (1973)
8. इजरायल	1963-64	8.2	—
9. इंग्लैंड	1963-64	3.3	एगॉन व साथी (1965)
	1969-71	2.5	एव्वट व साथी (1972)
10. अमेरिका	1962-66	10.50	हॉफमैन व साथी (1967)
	1968	1.54	मॉर्गन व रोन (1970)
11. भारत	1965	27.0	डेल व साथी (1965)
	1974	20.0	रामचंद्रन व साथी (1974)
	1976-80	12.0	चटर्जी व साथी (1980)

प्रदूषणमुक्त पर्यावरण के लिए नये शाकनाशियों का प्रयोग

उमेश सिंह

शोध छात्र, रसायन विज्ञान, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

खर-पतवारों का नियन्त्रण ऐसे रासायनिक पदार्थों द्वारा किया जाता है जो शाकनाशी होते हैं। ये अनैच्छिक पौधों को नष्ट कर देते हैं या उनकी वृद्धि को रोक देते हैं। सर्वप्रथम इनका प्रयोग बोर्डो मिश्रण के रूप में सन् 1890 में किया गया था तब से अब तक इनकी संख्या लगभग 305 तक पहुँच गई है।

भारत में शाकनाशियों का प्रयोग सर्वप्रथम

1940 से प्रारम्भ हुआ। शुरू में 2, 4 डी० नामक शाकनाशी का प्रयोग गेहूँ में काफी हद तक लाभदायक भी सिद्ध हुआ, किन्तु फिर भी व्यावहारिक स्तर पर इसका उपयोग नहीं किया जा सका।

खरपतवार पौधों को कीट एवं अन्य पेस्ट की अपेक्षा अधिक हानि पहुँचाते हैं। ये पौधों के पोषक तत्वों, नमी, स्थान एवं प्रकाश को रोक कर प्रकाश

संश्लेषण में बाधक होते हैं। पौधों की कुछ अवस्थाओं में यांत्रिक विधियों द्वारा पौधों एवं खरपतवार को पहचानना मुश्किल होता है जैसे वाली अवस्था में गेहूँ में गेहूँ का मामा या गुल्ली-डण्डा एवं धान में इकाइनोब्लोआ। भारत में खरपतवार द्वारा प्रतिवर्ष 4200 मिलियन रु० की हानि होती है। कुछ मुख्य फसलों में इसकी औसत प्रतिशत हानि इस प्रकार है। गेहूँ में 16%, धान में 41.6% मक्का में 39.8%, मूंगफली में 33.8%, कपास में 47.5% एवं गन्ना में 34.2%। कुछ खरपतवार पशुओं के स्वास्थ्य के लिए भी हानि कारक है जैसे गर्मी में उगने वाला ट्रायन्थेसा मोनोगाइना, यह पौधे में ऑक्सैलेट (Oxalates) एवं नाइट्रेट का संश्लेषण करता है जो पशुओं के लिए हानिकारक है। खरपतवार कितने हानिकारक होते हैं साथ ही इसका फैलाव कितना तेज होता है इसका प्रमाण चीन के प्रोफेसर ली यांग-हान के कार्यों से मिलता है। इन्होंने खरपतवार अनुसंधानशाला, नान-जिंग कृषि विद्यालय, चीन, में देखा कि वधुआ का एक पौधा 50,900—70,000 बीज पैदा करता है।

फसलों की उपज में विभिन्न पेस्टों द्वारा हुई अनुमानित कमी

पेस्ट	हानि रुपये में/वर्ष	प्रतिशत हानि
1. खरपतवार	1,650	33%
2. बीमारियों द्वारा	1,300	26%
3. कीटों द्वारा	1,000	20%
4. संग्रहीत पेस्ट द्वारा	350	70%
5. चूहों द्वारा	300	6%
6. अन्य	400	8%
कुल	5,000	100

इस प्रकार विकसित देशों में शाकनाशियों का उपयोग कुल जीवनाशी का 45% होता है, जबकि भारत में केवल कुल जीवनाशियों का केवल 7% शाकनाशी के रूप में उपयोग में लाया जाता है।

शाकनाशियों की विशेषता यह कि ये बहुत ही सुरक्षित हैं। इनसे न तो वातावरण को खतरा है, न मनुष्यों को और न तो पशुओं को ही। विकसित देशों के वैज्ञानिकों द्वारा किए गये शोधकार्य से पता चलता है कि ये उपज को बढ़ाते हैं साथ ही अन्य उपयोगी सूक्ष्म जीवाणुओं की संख्या को बढ़ा कर भूमि की उर्वराशक्ति को बनाये रखने में भी समर्थ हैं। शाकनाशी के प्रयोग के कुछ दिन पश्चात् भूमि में उपस्थित लाभकारी जीवाणुओं की संख्या बढ़ जाती है।

वर्तमान समय में विकसित एवं विकासशील देशों में कुछ नये शाकनाशी जैसे सममित ट्राएजीन पर कार्य बहुत तेजी से चल रहा है। यह रसायनों का ऐसा वर्ग है जो प्रकाश-संश्लेषण की क्रिया पर प्रभाव डालता है। ट्राएजीन अधिकतर जड़ों द्वारा अवशोषित होता है और वाष्पोत्सर्जन प्रवाह द्वारा पत्तियों के सिरों और किनारों पर जमा होता है। बाद में इन स्थानों पर विषाक्तता की सीमा तक बढ़ जाने के कारण यह प्रकाश-संश्लेषण को प्रभावित करता है। ट्राएजीन से पौधों की वाष्पोत्सर्जन दर कम हो जाती है क्योंकि इससे पर्णरन्ध्र बन्द हो जाते हैं। पत्तियों में स्टार्च व ग्लूकोज का निर्माण भी रुक जाता है।

भारत में 1975 में नाजोवाला ने मक्का में खरपतवार नियन्त्रण के विभिन्न तरीकों को अपनाकर देखा कि यांत्रिक विधि की अपेक्षा सममित ट्राएजीन (एट्राजीन) खरपतवारों का नियन्त्रण कर अच्छी उपज देने में सहायक है।

सामान्यतया एट्राजीन जल्दी ही सभी प्रकार की मृदाओं में अवशोषित हो जाता है परन्तु इसको सक्रिय करने के लिए वर्षा या हल्की सिंचाई आवश्यक होती है। यह जिन खरपतवारों पर नियन्त्रण करता है वे हैं—

1. इकाइनोक्लिआ	(<i>Echinochlea sp.</i>)	—धान (खरीफ में), सोयाबीन, मक्का, ज्वार इत्यादि।
2. गोखरू	(<i>Xanthium sp.</i>)	—मक्का, सोयाबीन।
3. सँवा	(<i>Digitaria sp.</i>)	—
4. वथुआ	(<i>Chenopodium album</i>)	—गन्ना एवं मक्का।
5. मोथा	(<i>Cyperus rotundus</i>)	—गन्ना एवं मक्का।
6. जंगली जई	(<i>Avena sp.</i>)	—गेहूँ में।
7. दुध्नी	(<i>Euphorbia sp.</i>)	—लान, चारा की फसल आदि में।
8. कंटीली (बहुवर्षीय)	(<i>Cirsium arvense</i>)	—रबी के मौसम में मुख्यतः चारागाहों में।

वातावरण पर प्रभाव

राब (1983) के अनुसार शाकनाशी का कोई भी ऐसा ग्रुप ज्ञात नहीं है जो वातावरण को प्रभावित करता हो।

मृदा एवं पौधों में शाकनाशियों का अवशेष

ऐट्राजीन भूमि एवं पौधों में कोई अवशेष नहीं छोड़ता। यह बहुत तेजी से स्थानान्तरित होकर अविषैला यौगिक बनता है। पौधों द्वारा यह अव-

शोषित तथा जल अपघटित हो जाता है और फसल को प्रभावित नहीं करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि भविष्य में उसी प्रकार के शाकनाशी प्रयोग किए जायेंगे जो मानव, मृदा, जल तथा वातावरण पर कोई भी बुरा प्रभाव नहीं डालते होंगे। यह आशा की जाती है कि सन् 2001 तक यह शाकनाशी पूर्णतः चलन में आ जायेंगे, क्योंकि इनके प्रयोग से हमें वातावरण प्रदूषण जैसा कोई भी भय नहीं रहेगा।□

जल प्रदूषण और जल वाहित रोग

डॉ० भानुशंकर मेहता

202 रामापुरा, वाराणसी—10

संसार के सबसे पुराने ग्रन्थ ऋग्वेद ने जल की बहुत महिमा गायी है। वैदिक ऋषियों ने जल को अमृत कहा, विश्वभेषजी अर्थात् सब रोगों की एक दवा बताया। उन्होंने जल में ऊर्जा (अग्नि) की कल्पना की और “योवः शिवतमो रसः” कहकर जल को परम कल्याणकारी बताया। जल हमारे मन, वाणी, चक्षु, श्रोत और आत्मा को तृप्त करते हैं और रोगों से हमारी रक्षा करते हैं। जल को ‘जीवन’ कहा गया।

ऐसे पवित्र जल की शुद्धता बनाये रखने की ओर भी इन मनीषियों का ध्यान गया। यजुर्वेद के तैत्तिरेय आरण्यक में कहा गया कि जलाशयों के पास मल-मूत्र का विसर्जन नहीं करना चाहिये। शूकना नहीं चाहिये। अथर्ववेद के एक मंत्र में वर्षा के और धरती पर पड़े जलों को शुद्ध करके सेवन करने की बात कही और कहा कि शुद्ध जल पीने से अश्वों के समान बल प्राप्त होता है। मनुस्मृति ने निदेश किया है कि नदियों को शुद्ध और पवित्र बनाये रखना चाहिये। जल में मूत्र,

गंदे वस्त्र, रक्त या विपाक्त पदार्थ नहीं डालने चाहिये। याज्ञवल्क्य संहिता ने जीवाणुयुक्त, गंदले, फेनिल, दुर्गन्धयुक्त, खारे, हवा के बुदबुद उठ रहे हों ऐसे, स्नान के जल और जूटे पानी के इस्तेमाल का निषेध किया है। वाराणसी में गंगा प्रदूषण पर आयोजित एक गोष्ठी में गंगा पुरोहित ने एक अच्छी बात कही कि माना कि विश्वनाथ और गंगा पाप मोचन करते हैं पर इसका मतलब ये तो नहीं कि हम कचरा चढ़ा कर इनकी पूजा करें।

कैसी विडम्बना है कि ऐसे जीवनदायी महिमान्वित जल को हमने प्रगति की अंधी दौड़ में, बढ़ती आबादी की बाढ़ में दूषित, रोग-संवाहक और रोगकारक बना डाला है। यह प्रगति है या अधोगति? नदी तट पर हमने नगर बसाये, नगरों के पास बड़े-बड़े उद्योग स्थापित किये और फिर नगर के सीवर और उद्योग के कचरे को नदी में डालकर कर्त्तव्य की इतिश्री कर ली। कभी गंगा जल से अंतर-वाह्य शुद्धि के हित मार्जन और आचमन करते थे और अब उसी जल में अंगुली डुबाने में भी संकोच होता है। काश्मीर को भारत का वहिश्त कहा गया और आज श्रीनगर में प्रतिदिन 51000 किलोलीटर गंदा जल नदी में गिरता है। वातावरण दुर्गन्ध से भर जाता है और हाऊस-वोटें सीवर पर सैर करती प्रतीत होती हैं। वैज्ञानिकों की राय में भारत में सर्वाधिक रोग 'मल' से प्रदूषित पेयजल से होते हैं।

आदमी का जल से बड़ा गहरा संबंध है। पंच तत्व निर्मित इस तन में 60 प्रतिशत जल है। इस जल की मात्रा तनिक भी घटती है तो प्राणदेवता छटपटाने लगते हैं। बालमृत्यु का सबसे बड़ा कारण 'डीहाइड्रेशन' (निर्जलीकरण) है। दूषित पेय से बच्चे को अतिसार या दस्त होने लगते हैं और इस प्रकार शरीर का जल सूखता है, प्राण की मछली जल बिना छटपटा कर मर जाती है। मजे की बात यह है कि जल से बना मानव जल पीता है, जल खाता है क्योंकि खाने की अधिकतर वस्तुयें भी अधिकांश भाग जल से निर्मित होती हैं। संत कबीर ने क्या अच्छी

बात कही है—'तेरे ही नालि सरोवर पानी। जल मैं उतपति, जल मैं वास, जल मैं नलनी तोर निवास'। आधुनिक विकासवाद का मिथ्यान्त बताता है कि मानव के आदिम पूर्वज मत्स्य रूप थे और आज भी भ्रूण (गर्भ में बैठे शिशु) वही पुराना इतिहास दुहराता है और गर्भ में कुछ काल के लिये मछली की तरह सांस लेता है। आगम-निगम बतलाते हैं कि पहले केवल 'जल' था—और उसमें रहने वाला नारायण (नार+अयन) था, फिर सृष्टि हुई और इस सृष्टि का अंत भी महाप्रलय में होगा जब सब कुछ जल में विलीन हो जायगा। रसायनविद् भी मानते हैं कि 'जल' एक ऐसा तरल है जिसमें सब कुछ धुल जाता है।

यह अमृत-औषधि (औष = दोष, धी = धोनेवाला) जल रोगसंवाही बन गया है जो गहरी चिंता का विषय है। हम गंगा को माता मानते हैं, उसे सभी पाप और दोषों का निवारण करने वाली अमृतधार कहते हैं, किसी भी जल को पवित्र बनाने के लिये उसमें गंगा का भाव आरोपित करते हैं, एक बूंद गंगा जल मिला देने से घड़े का जल गंगा जल सा पवित्र हो जाता है। गंगा भारतीय संस्कृति और सभ्यता की प्रतीक धारा है। पर कमाल है कि वैज्ञानिक युग ने गंगा को सीवर बना डालने का उपक्रम किया है। माता को पूतना बनाने की चेष्टा की जा रही है। गंगा को दूषित करना माने 'जीवन' को दूषित करना है और प्रदूषित जीवन अर्थात् विनाश का उपक्रम।

मानव मस्तिष्क में 84 प्रतिशत अंश जल है। तब जैसा जल होगा वैसा ही तो 'सोच' होगा। शायद इसी कारण हमारे संस्कारों में 'पानी' को इतना महत्व प्रदान किया गया। बिना सोचे समझे कहीं भी पानी पीने का निषेध किया गया। दूषित जल पीने से विचार भी दूषित होंगे और बुद्धि दूषित हुई तो समाज का क्या होगा? ताहू पर कुछ और बहुत बड़ी आबादी को तो पीने के लिये भी पर्याप्त जल उपलब्ध नहीं है अस्तु बंजर धरती की भाँति

समाज का मस्तिष्क भी जलाभाव में अनुर्वर हो गया है। साक्षी है हमारी यह भेड़िया-धसान।

सन् 1976 में वैक्वर में हैविटैट कान्फरेंस हुई थी जिसमें संसार के सभी राष्ट्रों ने मिलकर संकल्प किया था कि सन् 1990 तक सबको पीने का शुद्ध जल उपलब्ध कराया जाय। इसी प्रकार सन् 1977 में अर्जेंटीना में संयुक्त राष्ट्र संघ की एक 'वाटर-कान्फरेंस (जल सम्मेलन)' हुई थी जिसमें सन् 1981 से 90 तक के दशक को 'अंतरराष्ट्रीय जल पूर्ति और सैनीटेशन का दशक, घोषित किया गया था। आधी अवधि बीत चुकी है। भारत के सात लाख गाँवों में केवल पचीस हजार गाँवों को पाइप से पानी मिलता है। एक सर्वेक्षण के अनुसार तीस प्रतिशत गाँवों में जल पूर्ति की कोई संतोषप्रद व्यवस्था नहीं है और पच्चीस प्रतिशत में तो कोई जलस्रोत ही नहीं है। बेचारी गृहणी नित्य मीलों दूर यात्रा कर एक-दो घड़े मटमैला गंदा जल लाती है। पानी ढोने में उसकी जिंदगी बीत जाती है। प्यास बुझाने के लिये तीन चौथाई जलभरी धरती पर इतना श्रम और समय का व्यय? गाँवों में कुएँ हैं, तालाब हैं, गड़हियाँ हैं और इनका पानी कितना शुद्ध है यह ऊपर वाला ही जानता है। हाँ गाँव के जमींदार (अभिजात्य, धनी, सम्पन्न, बलवान) का कुआँ पक्का और निर्मल जल का होता है और गंदी बस्ती, गरीब, अन्त्यज के लिये कच्चा गंदेजल का कूप होता है। ये असंख्य अभागे मटमैला, गंदा, खारा, दूषित जल पीते हैं। तृप्त होते हैं और समाज के भगवान को धन्यवाद देते हैं।

नगरों में पेयजल के लिये जल-वितरण की व्यवस्था है। वाटरवर्क्स, ट्यूबवेल्स हैं, पाइपों का जाल बिछा है। बढ़िया प्रबंध है, टोंटी खोलो, शुद्ध जल पियो। मगर समय के दौर में पाइपें सड़ गयी हैं, सीवर और पाइप का गठबंधन हुआ है, जल-अपूर्ति सर्वकालिक नहीं होती। जब पानी आता है तो पाइप में 'निगेटिव प्रेशर' बनता है और जल की पहली धार के साथ वह सीवर का जल भी खींच लेता है। लोग यह 'शुद्ध' जल पीते हैं—कभी-कभी शिकायत भी करते

हैं। पानी में छुछड़े, काली मिट्टी, कीड़े आते हैं। फिर वाटरवर्क्स का जल भी कितना शुद्ध होता है यह भी विचारणीय है। कभी नल से दूधिया पानी आता है तो भ्रम होता है कि कहीं 'डैयरी' से तो नहीं जुड़ गये हैं। कौन देखेगा कि फिटिकरी मिलाई गयी या नहीं, वालू से जल छाना गया या नहीं, पानी टंकी की सफाई का क्या आलम है, उसमें क्लोरीन मिलायी गयी या नहीं? सब चलता है, मरता क्या न करता, प्यास लगती है तो गंदा पानी भी पीता है। कोई पूछे कि नगरों में कितने 'वाटर फिल्टर' बिके हैं तो शायद जलापूर्ति को उसकी कर्तव्यनिष्ठा का प्रमाणपत्र दिया जा सके। फिर गरीब आदमी फिल्टर कहाँ खरीद सकता है। वह तो गंदा जल पीकर भी जलसंस्थान को धन्यवाद देता है।

राजस्थान में पेयजलाभाव है। सिर पर भारी मटके लिये बेचारी गृहणी जब लंबी दूरी तय कर वावड़ी तक पहुँचती है तो पानी में उतर कर घड़े में कीमती पानी भरती ही है। साथ ही वतौर 'गिपट' (उपहार) नार रोग भी ले आती है। कुछ दिन बाद ही उसके शरीर पर फोड़ा सा उभरता है और उसमें से बाहर आता है एक लंबा डोरे से पतला कृमि—नार।

श्रद्धालु सीधा-सादा नागरिक पुण्य अर्जित करने गंगा नहाने जाता है और हर डुबकी के साथ एक तोहफा पाता है। घर आता है तो कै-दस्त शुरू हो जाते हैं। भगवान का कोप होता है। लोग कहते हैं बेचारे को हैजा हो गया। जल में घुला 'मल' अपने करतब पर हँसता है और महाकाल गुपचुप अपना पेट भरता है। फिर मृतक का शव और मल दोनों ही पुण्य-सलिला को भेंट होते हैं। काल-कालरा का चक्र चलता रहता है।

हठी वैज्ञानिक गंगाजल की महिमा की उपेक्षा करके उसकी शुद्धता की जाँच करते हैं। जाँच के परिणाम स्तब्धकारी रहे हैं। काशी में दशाश्वमेध घाट पर जहाँ लाखों श्रद्धालु स्नान करते हैं, जल में लाखों की संख्या में फीकल-कोलाई मिले हैं। पवित्र

जल में हैजा, मियादी बुखार, अतिसार, आँव (पेचिश) के जीवाणु, आमातिसार (अमीबिक डिसेंट्री) के सिस्ट, फफूँदी, पीलिया, गैस्ट्रो तथा बाललकवा (पोलियो) के विषाणु मिले हैं। वे कहते हैं जल की लवणता चौगुनी हो गयी है, उसमें लौह के अंश हैं और यह सब अगले दस वर्षों में चौगुना हो जायगा। गंगातट पर शवदाह होता है। अधजले शव और गर्मा-गर्म राख गंगा को भेंट की जाती है फलतः जल का तापमान पाँच-छ डिग्री सेंटीग्रेट बढ़ता है जिसके चलते जल से 30 से 50 प्रतिशत ऑक्सीजन निकल भागती है। नतीजा भोगती है मछली जो ऑक्सीजन के अभाव में तड़पकर मर जाती है। एक पेपर मिल है और उसके पास बहने वाली नदी के जल का उपयोग करने वाले त्वचा रोग से परेशान हैं। मध्य प्रदेश में शराब के कारखाने के पास रहने वाले जानवर नदी का जल पीकर मरते हैं तो महाराष्ट्र में कारखाने के जल ने मछलियों पर कहर वर्षा किया है। मछुवों का स्वास्थ्य ही नहीं रोजगार भी नष्ट हो गया है।

जल बाहित रोगों की एक तालिका पर गौर फरमायें —

(1) जल में विद्यमान रोगकारक और उनसे पैदा होने वाले रोग :

- (क) विषाणु— पीलिया, पोलियो, गैस्ट्रोइंटराइटिस
 (ख) जीवाणु— अतिसार, पेचिश, मियादी (सालमोनेला, शिगेला, बुखार (टाइफाइड), हैजा फ्रेक्सनर आदि)
 (ग) एककोषीय जीव—अमीबिक डिसेंट्री (आमवात), अमीबा आदि जियार्डियोसिस
 (घ) कृमि —केचुआ, हुकवर्म, चुनचुना, कृमिवर्म, इकाइनोकाकस
 (ङ) लेप्टोस्पाइरा —वील्स डिजीज

(2) जल में विद्यमान कारकों के आश्रयदाता बाहित

- (क) शिस्टोसोमियोसिस (स्नेल बाहित)

(ख) गिनीवर्म (नार)

तथा फिशटेपवर्म — (साइक्राप्स बाहित)

(3) जल में विद्यमान विषाक्त पदार्थ जो अस्वस्थता पैदा करते हैं

खनिज पदार्थ—

सीसा, अंजन, संख्या, सिलीनियम, ताँबा, पारा, सायनाइड, कैडमियम, बेरियम, सल्फाइड्स, नाइट्राइट्स, फ्लोराइड, फीनोल्स, डिटर्जेंट, पेस्टी-साइड विष, तेजाब, तेल, चिकने पदार्थ, ज्वलनशील पदार्थ, वनस्पति विष, विलनशील क्लोरीन।

इनके अलावा बंधे सड़ते जल में मच्छर, मक्खी पैदा होते हैं और ये रोग संवाहक बनते हैं। मलेरिया, फाइलेरिया आदि रोगों का सम्बंध इस नाते जल से जुड़ता है।

एक बात समझने की है कि शुद्ध जल का अर्थ रासायनिक रूप से शुद्ध जल नहीं होता। 'डिस्टिल्ड वाटर' (आसुत जल) बहुत ही बदजायका, फीका, अपेय होता है। जल का भी स्वाद होता है और विभिन्न कृपों की महिमा इसी 'स्वाद' पर आधारित है। स्वाद और गन्ध देने का काम जल में घुली गैसों और रसायन करते हैं। जल में कार्बनडाइऑक्साइड, नाइट्रोजन, अमोनिया, हाइड्रोजन सल्फाइड गैसों, तथा कैल्शियम, मैगनीशियम, सोडियम, सीसा, मैंगनीज के लवण और अल्बुमेन-अमोनिया के यौगिक होते हैं। शुद्ध जल का अर्थ है पानी पारदर्शी, चमकदार, निर्मल, ताजगीभरा, तलछटविहीन और कण विहीन हो। गंदे जल में बालू, मिट्टी, कीचड़, सड़ी-पत्तियाँ, फफूँदी, अलगी, जीवाणु, कृमियों के अंडे, कीट-पतंग आदि होते हैं। ऐसा पानी बदजायका, दुर्गन्धयुक्त, वासी प्रतीत होता है। जब जल सीवर से प्रदूषित होता है या औद्योगिक प्रदूषण से ग्रसित होता है तब तो पीने की बात दीगर उसमें नहाना-धोना भी

वर्जित हो जाता है। आजकल आधुनिक खेती में अंधाधुंध कृत्रिम खाद का प्रयोग होने लगा है, कीटनाशक पेस्टीसाइडों का प्रयोग बढ़ा है, धोने के लिये डिटरजेंट (अरगत्री) और साबुन का उपयोग भी खूब होने लगा है और इससे जल की शमलता आ गयी है।

सीवर जल प्रदूषण ने स्वास्थ्य की विकराल समस्या पैदा कर दी है। बाजार के दवा विक्रेताओं के यहाँ पेट-दर्द, ऐंठन, पतले दस्त, कब्जियत आदि की दवाओं का लेखा-जोखा लिया जाय तो बात स्पष्ट हो जायगी। अनुमान है कि नगरों की शतप्रतिशत आबादी आज आमवात (अमीबियेसिस) से पीड़ित है।

समृद्धि के लिये उद्योग स्थापित हुए हैं। लुगदी, कागज, वस्त्र, चीनी, चमड़ा, लोहा, जूट, शराब, कोलवाशरी, रसायन और खाद के कारखानों का उच्छिष्ट नदी-नालों को मिलता है। हानिकारक रसायन तो जल प्रदूषित करता ही है पर एक विशेष बात प्रकाश में आयी है और वह है 'वायोलॉजिकल मैग्निफिकेशन' की। जल में मान लें डी० डी० टी० बहाया जाता है तो वह जल की वनस्पति में सांद्रित होता है, फिर जलजीवों में और मनुष्य और पशुओं में। नतीजा सामने आने लगा है। मानव-रक्त में डी० डी० टी० के अंश दिखने लगे हैं। पर अभी यह मात्रा अत्यन्त सूक्ष्म है।

नदी-जल सूर्य की रोशनी और आत्मशक्ति से दूषण को दूर कर आत्मशुद्धि कर लेता है पर उस क्षमता की भी सीमा है। जल को धूप में रखें, प्रकाश में रखें, ताँवे के बर्तन में रखें तो वह शुद्ध होता है। जल को एक मिनट उवाल लें और फिर अच्छी तरह हिलाकर वायुसंयुक्त कर लें तो वह जीवाणुरहित बन जाता है। एक गैलन पानी में दो ग्राम फिटकिरी या

20 बूँद टिचर आयोडीन या तनिक सा क्लोर्निंग पाउडर मिलाकर शुद्धिकरण संभव है। चारकोल बालू से छानकर भी पानी साफ करते हैं। अभिजात्य सम्पन्न लोग हैलोजेन की शोलियाँ डालकर पानी साफ करते हैं। यहाँ पानी उवालने की बात भी गौर तलब है। उबाला पानी सुस्वादु नहीं होता। सोवियत वैज्ञानिक कहते हैं कि उबले जल में जलक्रिस्टल नहीं होते अतः वह शरीर के प्रोटोप्लाज्म के लिये ग्रहणीय नहीं है। पानी को जमाकर फिर तरल बनाया जाय तब उसमें गुणकारी क्रिस्टल बन जाते हैं। उपाय बहुत है पर जहमत कौन मोल ले, जो मिलता है पियो। जल संस्थान हमारे धन्यवाद के पात्र हैं क्योंकि उन्होंने इन वर्षों में गंदा जल पिला पिलाकर सभी को रोगसक्षम बना डाला है, विपपायी नीलकंठ बना दिया है। यही कारण है कि गन्दा पानी पीकर भी लोग बीमार नहीं होते, महामारी नहीं फैलती। हाँ विदेशी यात्री सावधान न रहें तो फँस भी सकते हैं।

प्रसिद्ध लेखक मार्कट्वेन भारत आया तो गंगाजल और उसमें हैजे से मरे लोगों की लाशें तैरती देखकर इतना ही कह सका कि यह 'पवित्र विष' है।

हम पानी की इतनी बात कह गये पर पानी है कहाँ? लंदनवासी प्रतिदिन प्रति व्यक्ति 68 गैलन जल पाता है, पेरिस का नागरिक 160 गैलन और न्यूयार्क वाला 270 गैलन पाता है जब कि भारत-वासी को 9-10 गैलन पर संतोष करना पड़ता है, मरुभूमि के वासी को तो एक गैलन भी नहीं मिलता। पानी के अभाव में सीवर चोक हो रहे हैं और चोक सीवर से गन्दगी बढ़ती है। एक कुचक्र चल रहा है जिसके भीतर बाहर पानी है। शायद कलियुग का चक्र हमें 'वे पानी' बना देने को तुला है। लेकिन सीवर जल पीकर भी हम जी रहे हैं, संतोष कीजिये कि औरों को वह भी मयस्सर नहीं है। □

वनारोपण की महत्ता

जो व्यक्ति अपना भविष्य केवल एक दिन के लिये सोचता है, वह फसल उगाता है, जो दस साल आगे की सोचता है, वह पेड़ लगाता है और जो अपनी उम्र भर की सोचता है, वह वन लगाता है।

राजस्थान मरुभूमि के भू-जल और मानव स्वास्थ्य

डॉ० रामगोपाल

अध्यक्ष, प्रयुक्त रसायन प्रभाग, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342001

राजस्थान का थार मरुस्थल, 'महान भारतीय मरुस्थल' (The Great Indian Desert) के नाम से जाना जाता है। यह अरावली पर्वतशृङ्खलाओं के पश्चिम से पाकिस्तान की सिन्धु नदी के उस पार तक के 4.46 लाख वर्ग कि० मी० क्षेत्र में फैला हुआ है।

इस मरुस्थल में प्रति वर्ग कि० मी० में लगभग 25 व्यक्ति रहते हैं। मरुस्थलों की जनसंख्या के दृष्टिकोण से प्रति व्यक्ति भूमि का यह औसत विश्व में सर्वाधिक है। जहरीले सर्पों, हिरणों, मोर, चूहों, गिर-गिटानों, महान भारतीय सारंगों आदि के बीच यहाँ के निवासी सूक्ष्म उपज व पशु-पालन (दूध, ऊन और मांस) के सहारे (अत्यन्त निर्धनता का) जीवन निर्वाह करते हैं। कुपोषण और नशे की लत के अतिरिक्त खारा और अपेय भू-जल और अन्य जल संबंधित रोगों से यहाँ के अधिकांश निवासियों के स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ रहा है।

प्रायः मरुस्थलीय भू-जल नमकीन व खारा होने के कारण पीने के योग्य नहीं होता है। मनुष्य 2,500 पी०पी०एम० (पार्ट्स पर मिलियन या 2.5 ग्राम प्रति लिटर) कुल घुलनशील लवण वाले जल को पीने की क्षमता रखता है। मरुस्थलीय निवासी जो वहाँ की जलवायु में रहने के अभ्यस्त हो गए हैं, 3500 पी० पी० एम० वाले कुल घुलनशील लवण वाले जल को पी सकते हैं, वरतें इन खारे जलों में स्वास्थ्य के लिए हानिकारक आयन जैसे कि आर्सेनिक, सिलेनियम, लेड, नाइट्रेट और फ्लोराइड आदि की मात्रा अनुपस्थित हो या अधिकतम स्वीकार्य सीमा से कम हों। चौपाए पशु 4000 से 10,000 पी० पी० एम० वाले लवणीय जलों को पीकर भी निर्वाह कर सकते हैं, जब कि अधिकतर पौधों में खारे जल में जीवित रहने की क्षमता मनुष्य से भी कम होती है अर्थात् 2500 और

3500 पी० पी० एम० घुलनशील लवणों वाले जल में बहुत से पौधे जीवित नहीं रह सकते। वैसे राजस्थान की मरुभूमि में कुछ खाद्यान्नों की विशेष किरमें और विशेषकर खार्ची प्रजाति का गेहूँ 10,000 पी० पी० एम० और उससे अधिक घुलनशील लवणों वाले जलों में पैदा किया जाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन और भारतीय आगुविज्ञान अनुसंधान परिषद् के अनुसार प्राकृतिक पेय जल में पाये जाने वाले विभिन्न आयनों की अधिकतम स्वीकार्य/वांछनीय और अधिकतम अनुज्ञेय/अनुमंय सीमाएँ दी गई हैं। रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर ने पिछले दशकों में राजस्थान मरुभूमि के लगभग 5000 जलों के नमूनों का परीक्षण किया है। भौतिक-रसायनिक विश्लेषणों के आधार पर थार मरुस्थल के भू-जल की गुणवत्ता भी निर्धारित की गई है। कुल घुलनशील लवणों के आधार पर (500 पी० पी० एम० से कम) मरुभूमि का मात्र 9% भू-जल ही पीने योग्य है।

राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय स्वास्थ्य संगठनों के पेय जल के मानकों के आधार पर 500 पी० पी० एम० घुलनशील लवणों वाले जल ही सुस्वादु और पीने के लिए स्वास्थ्यकर हैं। इससे अधिक घुलनशील लवण जल को नमकीन और अस्विकर बनाते हैं। यद्यपि अधिक नमकीन जल स्वास्थ्य को क्षति नहीं पहुँचाते, परन्तु इनका अधिक समय तक उपयोग विशेषकर रोगियों के लिए हानिकारक सिद्ध हो सकता है। भू-जल में विद्यमान प्रमुख रसायनिक अवयव, उनकी इष्टतम सीमा और स्वास्थ्य पर प्रभाव सारणी-1 में दर्शाये गये हैं। इन प्राकृतिक लवणों के अतिरिक्त औद्योगिक प्रदूषण द्वारा कुछ अन्य अवयव पानी को विषाक्त बनाते हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा घोषित इन आठ अवयवों के पेय जल में पहुँचने के स्रोत व

कारण, इनकी इष्टतम सीमा और इनसे शरीर पर पड़ने वाले प्रभाव सारणी-2 में संकलित किए गये हैं। औद्योगिक प्रदूषण से जोधपुर और पाली के नलकूपों और अन्य जल-स्रोतों में इनकी उपस्थिति पायी गई है और इनकी मात्रा नित्यप्रति बढ़ रही है जो घातक सिद्ध हो सकती है।

जल से सम्बन्धित रोग—भारत सरकार ने अंतर्राष्ट्रीय पेय जलदाय और स्वास्थ्यवित्तता दशक (1981-1990) में स्वच्छ जल सभी नागरिकों को सुलभ कराने का लक्ष्य रखा है। इस राष्ट्रीय लक्ष्य के अन्तर्गत उन 1,53,000 गाँवों को प्राथमिकता देने का प्रावधान है जिनमें पेय जल स्रोत नहीं हैं या

निकटतम स्रोत 1.6 कि० मी० या इससे दूर स्थित हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की रिपोर्ट (1981) के अनुसार विकासशील देशों में चार में से एक व्यक्ति को शौच की और पाँच में से दो व्यक्तियों को ही शुद्ध पेय जल की सुविधाएँ उपलब्ध हैं। संसार में लगभग डेढ़ करोड़ बच्चे इन जल संबन्धित रोगों के कारण काल के गाल में प्रतिवर्ष समा रहे हैं और लगभग 50% मरीज अस्पताल में इन रोगों के कारण भर्ती होते हैं। अविकसित देशों में 80% रोगों का कारण दूषित जल है। राजस्थान में पेयजल व्यवस्था के लिए लगभग 35,000 ग्रामों में पेयजल उपलब्ध कराने की दिशा में इस वर्ष से कार्य किया जा रहा है, जिसमें

सारणी 1—थार मरुस्थलीय भू-जल में प्रमुख रासायनिक अवयव और उनके स्वास्थ्य पर प्रभाव

क्र० सं०	अवयव	प्रमुख स्रोत और कारण	इष्टतम सीमा (मि० ग्रा०/ लि०)	सार्थकता व शरीर पर प्रभाव
1	घुलनशील लवण	मृदा में उपस्थिति अकार्बनिक पदार्थों के विलयन से	500	अधिक मात्रा से दस्त व वमन
2	क्लोराइड	मृदा और चट्टानों से	250	अधिक मात्रा जल को नमकीन व प्यास में वृद्धि करती है
3	सल्फेट	मृदा और चट्टानों से	250	अधिक मात्रा से पानी में कड़वाहट
4	फ्लोराइड	चट्टानों से	1.5	1.0 मि० ग्रा०/लि० तक स्वस्थ दाँतों के निर्माण में आवश्यक, 1.5 मि० ग्रा०/ लिटर से अधिक मात्रा से दाँतों और हड्डियों के फ्लोरोसिस रोग
5	नाइट्रेट	क्षयमान वनस्पति और उर्वरक आदि	50	50 मि० ग्रा०/लि० से अधिक की मात्रा शिशुओं में नीलापन का बीमारी व 100 मि० ग्रा०/लि० से अधिक मात्रा से मनुष्यों और पशुओं में ट्यूमर और कैंसर रोग
6	क्षारीयता	घुलनशील CO ₂ की चट्टानों में क्रिया द्वारा	150	जलदाय पाइपों का क्षरण, अधिक क्षारता से खाद्यान्नों की उपज में कमी

सारणी 2—प्रदूषण द्वारा जल में उपलब्ध अवयव व उनके स्वास्थ्य पर प्रभाव

क्र० सं०	अवयव	प्रमुख स्रोत व कारण	इष्टतम सीमा (मि० ग्रा०/ लि०)	सार्थकता व शरीर पर प्रभाव
1	आर्सेनिक	औद्योगिक प्रदूषण	0.05	कैंसर का कारण
2	बेरियम	कार्बोनेट के रूप में लवणीय जल में	1.0	हृदय, रुधिर वाहिका और नाड़ियों के लिए घातक
3	कैडमियम	विद्युत्-लेपन उद्योगों के विसर्जन से	0.01	वृक्क की धमनियों के लिए घातक
4	सायनाइड	विद्युत्-लेपन अपशिष्ट	0.01	जैव क्रियाओं पर प्रभाव, 50 से 60 मि०- ग्रा०/लिटर मात्रा घातक
5	क्रोमियम (+6)	औद्योगिक अपशिष्ट	0.05	कैंसर का कारण
6	सीसा	औद्योगिक अपशिष्ट व मृदु जल की सीसे के पाइपों पर क्रिया से	0.05	ऊतकों में संग्रहित होकर 'सीसा-विषाक्तता'
7	सीलीनियम	औद्योगिक प्रदूषण	0.01	दंत क्षय और कैंसर कारक
8	चाँदी	औद्योगिक प्रदूषण	0.05	'आर्जिया' रोग जिसमें आँखों और त्वचा का रंग नीला और स्लेटी हो जाता है।

लगभग 21000 समस्याग्रस्त ग्राम भी सम्मिलित हैं।

राजस्थान के शुष्क क्षेत्रों के जल सर्वेक्षण से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि यहाँ जल में खारापन और क्षारीयता के अतिरिक्त फ्लोराइड और नाइट्रेट के लवण पाये जाते हैं। कुछ स्थानों पर इनकी सान्द्रता अत्यधिक है। यहाँ 53% भू-जल अत्यधिक फ्लोराइड (1.5 पी० पी० एम० से अधिक) विद्यमान होने के कारण पीने योग्य नहीं है। 1 पी० पी० एम० तक फ्लोराइड बच्चों के सुदृढ़ दाँतों के निर्माण के लिए अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु अधिक मात्रा वाले फ्लोराइडयुक्त जलों के सेवन से लाखों व्यक्ति फ्लोरोसिस रोग से पीड़ित हैं, जिसके परिणामस्वरूप दाँतों

में बदरंगापन, टूटना, कुवड़ापन, और अपंगता के शिकार हजारों ग्रामों में लाखों लोग निरीह जीवन जी रहे हैं। लगभग 43% भू-जलों में नाइट्रेट की मात्रा 50 पी० पी० एम० से अधिक है। कुछ खारे जलों में इसकी मात्रा 1000 पी० पी० एम० से अधिक पाई गई है जिसके सेवन से विशेषकर गायें व बछड़े अकाल मृत्यु को प्राप्त होते हैं। अधिक नाइट्रेट सान्द्रता वाले जलों का सेवन करने से शिशुओं में 'सायनोसिस' या नीले बच्चों वाला रोग हो जाता है तथा पशुओं और मनुष्यों में द्यूमर और कैंसर होने की पुष्टि भी इस दूषित जल के उपयोग से की गई है। खारे जल के सेवन से यहाँ के लोगों में वृक्क (गुर्दे) और पथरी के रोगों का प्रतिशत भी अधिक पाया गया है।

इन भू-जलों के सेवन के अतिरिक्त बावड़ी, तालाबों, उथले कुओं और टांकों के जलों के सेवन से नारु या बाला रोग, उरदशूल, हैजा, मियादी बुखार, उल्टी, दस्त, पेचिश आदि रोगों से पीड़ित होने की कहानी प्रतिवर्ष यहाँ अनेक ग्रामों में दोहराई जाती है। ये रोग महामारी के रूप में किसी न किसी क्षेत्र में फैलते रहते हैं और अकाल मृत्यु का कारण बनते हैं। पिछले दशक (1971-1981) में राज्य के लगभग 33% (32.97%) की दर से जनसंख्या बहुोत्तरी की तुलना में सीमावर्ती शुष्क जिलों—श्रीगंगानगर, बीकानेर, जैसलमेर और बाड़मेर में यह दर क्रमशः 45.06, 48.09, 44.84 और 44.41% रही है। इस जनसंख्या वृद्धि और औद्योगिक विकास ने सीमित शुद्ध जल स्रोतों पर अधिक भार लाद दिया है। राज्य सरकार ने इस दशक में पेयजल सभी नगरों व गाँवों में सुलभ कराने के लिए युद्धस्तर पर अभियान छेड़ रखा है। राज्य सरकार के वर्ष 1985 के निर्णय के अनुसार इंदिरा गाँधी नहर से रेगिस्तानी जिलों को पेयजल पहुँचाने की योजना है। यहाँ के निवासियों में इस निर्णय से नवीन चेतना का संचार हुआ है। यह नहर राजस्थान के श्रीगंगानगर जिले की भाँति जीवनदायिनी गंगा के रूप में मरुभूमि

में हरित क्रांति लायेगी। इसके साथ खारे पानी, फ्लोराइड व नाइट्रेटयुक्त जलों के दुष्प्रभाव और दूषित जल से उत्पन्न रोगों के प्रति जनसाधारण को आगाह करना अति आवश्यक है।

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर शुष्क क्षेत्रों के जल स्रोतों के सर्वेक्षण का कार्य अबाध गति से कर रही है। भू-जल स्रोतों के मानचित्र पानी की गुणवत्ता के आधार पर बनाए गये हैं। अनुसंधान और विकास कार्यों के अन्तर्गत मरुभूमि निर्लवणीकरण किट, क्षेत्र में जल-परीक्षण का किट और जल को निर्लवणीकरण करने के संयंत्र आदि का निर्माण किया गया है, जिनका उपयोग सेना के अतिरिक्त अन्य सभी के लिए किया जा सकता है।

मरुभूमि के जल संबंधित रोगों, पेयजल व अन्य क्षेत्रीय समस्याओं को ध्यान में रखते हुए भारत सरकार ने जोधपुर में 'मरुभूमि ओषधि संस्थान' (Institute of Desert Medicine) की स्थापना का निर्णय लिया है। यह संस्थान भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद् के कार्यक्षेत्र में होगा, जिसका शिलान्यास केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री ने अभी हाल ही में किया है। □

सागरीय पर्यावरण

श्याम सुन्दर शर्मा

सम्पादक, विज्ञान प्रगति, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-110012

हमारे देश को सागर तीन ओर से घेरे हुये हैं। हमारे सागरीय तटों का विस्तार लगभग 6000 किलोमीटर है और हमारे विशिष्ट आर्थिक सागर का, जो तट से 200 नॉटिकल मील तक फैला है, क्षेत्रफल 20.16 लाख वर्ग किलोमीटर है। यह हमारे देश के कुल क्षेत्रफल का लगभग 61.5 प्रतिशत है।

विश्व के अन्य सागरों की भाँति हमारे देश को

घेरे हुये सागर—अरब सागर और बंगाल की खाड़ी (जो हिन्द महासागर की शाखाएँ हैं)—भी कुछ दशक पूर्व तक, हजारों वर्षों से मानव-निर्मित कूड़ा-कंकट निरन्तर प्राप्त करते रहने के बावजूद, स्वच्छ और स्वास्थ्यवर्द्धक थे। यद्यपि विश्व के अन्य सागरों से जुड़े रहने के फलस्वरूप इन पर भी उन सागरों के प्रदूषण का प्रभाव पड़ता है पर पिछले कुछ वर्षों तक वे अपेक्षाकृत काफी

शुद्ध थे। उनकी स्व-शुद्धिकरण क्षमता अक्षुण्ण थी। वे प्रदूषित नहीं हुये थे। पर पिछले कुछ वर्षों में हमारे देश में औद्योगिक क्रांति आयी। विविध प्रकार के सैकड़ों-हज़ारों कारखाने स्थापित हुये, परमाणु रिएक्टर लगाये गये तथा जनसंख्या विस्फोट हुआ। साथ ही पश्चिम एशिया के देश, विशेष रूप से साउदी अरब और खाड़ी के देश, विश्व के प्रमुख पेट्रोलियम उत्पादक और निर्यातक देश बन गये। उनसे बहुत बड़ी मात्रा में टैंकरों (जल-जहाज़ों) द्वारा कच्चा तेल अन्य देशों को जाने लगा। निश्चय ही इसके लिये टैंकरों को भारत के दक्षिण-पश्चिमी तट के निकट से गुज़रना होता है। टैंकरों से अक्सर तेल रिसता रहता है और सागर को प्रदूषित करता रहता है। इन सब कारणों से हमारे निकटवर्ती सागर भी अब निरंतर प्रदूषित होते जा रहे हैं।

हमारे देश के तटवर्ती इलाके काफी घने बसे हैं। समझा जाता कि देश की लगभग चौथाई आबादी उनके निकट ही बसी है। विशेषज्ञों द्वारा यह अनुमान लगाया गया है कि महानगरों में लोग अपेक्षाकृत अधिक कूड़ा-कंकट उत्पन्न करते हैं। महानगरों में औसतन एक व्यक्ति प्रतिदिन 120 लिटर सीवेज उत्पन्न करता है जब कि छोटे शहरों में सीवेज की उत्पादन की दर लगभग 60 लिटर प्रति व्यक्ति प्रतिदिन है। हमारे तटों पर बसे महानगरों—कलकत्ता, बम्बई, मद्रास आदि तथा छोटे शहरों और गाँवों से सागर में प्रति वर्ष लगभग 35 घन किलो मीटर सीवेज मिलता है।

अरब सागर और बंगाल की खाड़ी में हमारे देश की बड़ी-बड़ी नदियाँ मिलती हैं जो प्रतिवर्ष लगभग 1645 घन किलोमीटर ताज़ा पानी उनमें मिलाती हैं। अरब सागर में गिरने वाली तीन ही प्रमुख नदियाँ हैं—सिंधु (पाकिस्तान में), नर्मदा और ताप्ती जब कि बंगाल की खाड़ी में ब्रह्मपुत्र, गंगा, महानदी, गोदावरी, कृष्णा, कावेरी आदि मिलती हैं। इसलिये उक्त ताज़े पानी का 25 प्रतिशत भाग अरब सागर में और 75 प्रतिशत बंगाल की खाड़ी में मिलता है और लगभग

इसी अनुपात में उनमें मिलते हैं थलीय क्षेत्रों के हानिकारी प्रदूषक—कीटनाशी, संश्लेषित डिटरजेंट तथा अन्य विषैले रसायन—जिन्हें नदियाँ अपने साथ बहा कर लाती हैं। समझा जाता है कि हमारे थलीय क्षेत्रों तथा तटों पर स्थित कारखानों से निकलने वाले व्यर्थ, पर हानिकारी पदार्थों की लगभग 3.5 घन किलोमीटर मात्रा प्रति वर्ष हमारे सागरों में मिलती है। देश में प्रति वर्ष जितने पीड़कनाशियों का और संश्लेषित डिटरजेंटों का उत्पादन होता है, उनकी भी लगभग 25 प्रतिशत मात्रा अंततः सागर में मिल जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे निकटवर्ती सागर भी तेज़ी से प्रदूषित होते जा रहे हैं—यद्यपि वे अब भी भूमध्यसागर या न्यूयार्क के निकटवर्ती सागर अथवा जापान की मिनीमाता खाड़ी की भाँति 'गंदी झीलों' में नहीं बदले हैं। इससे हमारे देश की आबादी, विशेष रूप से तटवर्ती इलाकों में बसी आबादी, भी प्रभावित होने लगी है। इसलिये प्रदूषण को रोकने और अब तक प्रदूषित हो चुके स्थलों को पुनः स्वच्छ करने के लिये कदम उठाना ज़रूरी है। पर इन कदमों के बारे में बताने से पहले प्रदूषकों से होने वाली हानियों की चर्चा करना बेहतर होगा।

प्रदूषण से होने वाली हानियों की चर्चा करते समय अरब सागर और बंगाल की खाड़ी की अपनी विशिष्टताओं की चर्चा करना भी प्रासंगिक होगा। अरब सागर की विशिष्टता यह है कि संसार के उष्णतम भागों में से एक में स्थित होने के फलस्वरूप उसमें से वाष्पीकरण बहुत अधिक होता है। वाष्पीकरण की दर उसमें (अरब सागर में) मिलने वाले ताज़े पानी की दर से अधिक है। इसलिये उसमें ईरान की खाड़ी और लाल सागर के पानी निरंतर मिलते रहते हैं। इसके विपरीत बंगाल की खाड़ी में मिलते रहने वाले ताज़े पानी की दर वाष्पीकरण की दर से अधिक है। इसका प्रभाव प्रदूषक पदार्थों—विशेष रूप से भारी धातुओं का अपने जल में घोलने की क्षमता पर पड़ता है।

तसल्ली की बात है कि अब भी अरब सागर और बंगाल की खाड़ी में पारे के विषैले यौगिकों की, जो सागर में बहुत लम्बे समय तक, 50 से 100 वर्षों तक, बिना विघटित हुये पड़े रह सकते हैं और जो उन समुद्री जीवों में एकत्रित होते रहते हैं, जिन्हें हम खाते हैं, की मात्रा काफी कम है। अब तक भी समुद्री खाद्य जीवों में उनकी मात्रा दस लाख भाग में मात्र 0.5 भाग (शुष्क आधार पर) है। यह मात्रा हानिकारी स्तर तक नहीं पहुँची है। वैसे बंगाल की खाड़ी की खाद्य मछलियों आदि में पारे के यौगिकों की मात्रा अरब सागर के जीवों से अपेक्षाकृत अधिक पायी गयी है।

फसलों की कीड़ों से रक्षा करने के लिये उन पर छिड़के जाने वाले कीटनाशकों की, जो नदियों आदि के पानी के साथ बहकर अंततः सागर में पहुँच जाते हैं, मात्रा भी अरब सागर और बंगाल की खाड़ी में अपेक्षाकृत कम है। इन कीटनाशकों में आमतौर से डी० डी० टी०, बी० एच० सी०, पी० सी० बी० आदि होते हैं। ये भी सागर की अपूर्व खाद्य-शृङ्खला में से गुजरते हुये अंततः उन जीवों के शरीर में पहुँच जाते हैं, जिन्हें हम खाते हैं। अरब सागर के उत्तरी भाग के जीवों में इनकी मात्रा अपेक्षाकृत अधिक पायी गयी है पर अब भी वह हानिकारी स्तर पर नहीं पहुँची है।

अब तक हमारे निकटवर्ती, विशेष रूप से तट-वर्ती, सागरों को सबसे अधिक प्रदूषित करने वाला पदार्थ है—पेट्रोलियम। इन सागरों को प्रदूषित करने वाला अशोधित पेट्रोलियम, जैसा कि आप पहले पढ़ चुके हैं, मुख्य रूप से उन टैंकरों में से रिसता है; जो उसे पश्चिम एशियाई देशों से ढोकर सुदूर पूर्व को ले जाते हैं। वैसे इसकी कुछ मात्रा सागर तट, विशेष रूप से अरब सागर तट पर स्थित तेलशोधक कारखानों के व्यर्थ के रूप में भी मिलती है। समझा जाता है कि अरब सागर में से प्रतिवर्ष 97,50,00,000 टन अशोधित तेल ढोया जाता है जिसमें से 65,20,00,000 पश्चिमी गोलार्ध के देशों को और बाकी सुदूर-

पूर्व के देशों को जाता है। ये टैंकर मुख्यतः हमारे पश्चिमी तट के, विशेष रूप से उसके दक्षिणी भाग के काफी निकट से गुजरते हैं और वह ही सबसे अधिक प्रदूषित होता है। पर बंगाल की खाड़ी पर भी पेट्रोलियम प्रदूषण का प्रभाव पड़ रहा है—विशेष रूप से टैंकरों के धोवनों से।

अध्ययनों में अरब सागर और बंगाल की खाड़ी, दोनों में, सतह से लेकर 20 मीटर गहराई तक पेट्रोलियम हाइड्रोकार्बनों की सांद्रता का पैटर्न लगभग एक जैसा ही पाया गया है। वह इन सागरों के विभिन्न क्षेत्रों में 0 से लेकर 1000 म्यू ग्राम प्रति लिटर तक पायी गयी है।

हमारे तटों को प्रदूषित करने में, विशेष रूप से पेट्रोलियम से प्रदूषित करने में मानसून पवनों भी बहुत योग देती हैं। वे अप्रैल से अक्टूबर तक थल की ओर बहती हैं। इसलिये उस दौरान अरब सागर और बंगाल की खाड़ी की जलधाराओं की दिशा भी थल की ओर हो जाती है और ये जलधारायें अपने साथ तार-कोल की उन गोलियों को भी, जो सागर पर पेट्रोलियम के बिखर जाने के बाद जटिल रासायनिक क्रियाओं के फलस्वरूप बनती हैं, भारी मात्रा में, तटों तक ले आती है। उन दिनों, अरब सागर के तटों, विशेष रूप से दक्षिणी भाग के तटों, पर इन गोलियों की सांद्रता लगभग 28 ग्राम प्रति वर्ग मीटर क्षेत्र तक हो जाती है।

अरब सागर और बंगाल की खाड़ी के प्लांकटनों तथा तटीय अवस्तरों में पेट्रोलियम हाइड्रोकार्बनों की मात्रा (शुष्क भार पर) क्रमशः 19.5 से 83.3 म्यू ग्राम प्रतिग्राम और 4.8 से 8.5 म्यू ग्राम प्रति ग्राम पायी गयी है।

हमारे सागरों का मुख्य प्रदूषक पेट्रोलियम ही है इसलिये यह उपयुक्त होगा कि सागरीय जल के साथ उसकी रासायनिक प्रतिक्रिया और जीव-जन्तुओं पर उसके प्रभावों की चर्चा त्रार विस्तार से कर ली जाये।

आमतौर पर सागर को प्रदूषित करने में पेट्रोल, डीजल जैसे हल्के तेलों का बहुत योग नहीं होता क्योंकि पानी पर बिखरने के बाद वे शीघ्र ही वाष्पित हो जाते हैं। अशोधित खनिज तेल पानी में बिखरने के बाद आसानी से अलग नहीं हो पाता। तेल के प्रदूषण की घटनायें इसी तेल के कारण अधिक भयानक होती हैं। खनिज तेल में अनेक प्रकार के कार्बनिक यौगिक पाये जाते हैं जिनमें प्रमुख है पैराफिन, चक्रीय पैराफिन व ऐरोमैटिक यौगिक जो अलग-अलग रूपों में जीव-जन्तुओं के लिये हानिकारी होते हैं।

खनिज जल पानी से हल्का होता है और उस पर बहुत तेजी से फैल जाता है। एक टन पेट्रोलियम पानी की 1200 हेक्टेयर सतह पर फैल सकता है।

सतह पर बिखरे तेल के हाइड्रोकार्बन पादप प्लांकटनों और जन्तु प्लांकटनों के शरीर में अवशोषित हो जाते हैं और अन्ततः उनका खात्मा कर देते हैं। यही हाल शैवालों तथा अन्य सूक्ष्मजीवों का होता है। बड़ी संख्या में इनकी मृत्यु से सागर की खाद्य-शृंखला गड़बड़ा जाती है और वायुमंडल की ऑक्सीजन आपूर्ति में रुकावट पैदा हो जाती है। वास्तव में समुद्री पौधे ही हमारे वायुमण्डल की 70 प्रतिशत ऑक्सीजन की पूर्ति करते हैं।

पानी पर बिखरने के बाद खनिज तेल में अनेक परिवर्तन होते हैं। तेल की थोड़ी मात्रा पानी में घुल जाती है। कुछ मात्रा सूक्ष्मजीव विघटित कर देते हैं। वे इसके हाइड्रोकार्बनों का, ऊर्जा के रूप में, इस्तेमाल करते हैं। धीरे-धीरे तेल के हल्के अंश वाष्प बन कर उड़ते जाते हैं। इससे वह गाढ़ा और भारी होता जाता है। धूप और ऑक्सीजन उसे बहुलीकृत कर देती है जिससे वह बहुत गाढ़ा और भारी होकर, डामर की छोटी-छोटी काली गोलियों में बदल जाता है। ये गोलियाँ ही हमारे तटों पर जमा होती हैं। पेट्रोलियम के वे अंश जिनमें गंधक, धातुत्व यौगिक, मोम आदि होते हैं, तली में बैठ जाते हैं।

सतह पर बिखरे तेल की गाढ़ी होती परत सागर के पक्षियों के परों को उस समय जकड़ लेती है जब

वे अपना शिकार पकड़ने के लिये सागर में गोता लगाते हैं। समझा जाता है कि इस प्रकार हर वर्ष लगभग दो लाख पक्षी मर जाते हैं।

प्रदूषण दूर करने के उपाय

सागरीय प्रदूषण दूर करने के उपायों की चर्चा करते समय भी सबसे पहले पेट्रोलियमजन्य प्रदूषण दूर करने की बात करना श्रेयस्कर होगा। वर्षों से वैज्ञानिक सागर पर बिखरे तेल को साफ करने के प्रयोग कर रहे हैं। उन्होंने उसे समेटने, साफ करने या रसायनिक रूप से ऐसे यौगिकों में परिवर्तित करने की विधियाँ सुझायी हैं जो समुद्री जीव-जन्तुओं और अन्ततः मनुष्य के लिए हानिकारी न हों।

इनमें शायद सबसे सरल है किसी चूषक युक्ति से तेल की परत को चूस लेना। बन्दरगाहों और थल के अन्दर घुसी खाड़ियों को तेल प्रदूषण से मुक्ति दिलाने के लिये यह विधि काफी इस्तेमाल की जाती है। पर खुले समुद्रों के, बड़े क्षेत्र में फैले तेल को दूर करने के लिये इसका उपयोग नहीं किया जा सकता।

बिखरे हुये तेल पर उपयुक्त अवशोषक पदार्थ फैलाकर भी उसे हटाया जा सकता है। इस काम के लिये पॉलीयूरेथेन फोम काफी उपयुक्त पाया गया है। तेल की सतह पर फोम फैला दिया जाता है। वह तेल को अवशोषित कर लेता है। फिर उस फोम को इकट्ठा करके फेंक दिया जाता है।

पॉलीयूरेथेन फोम के स्थान पर कुछ लोगों ने लकड़ी का बुरादा इस्तेमाल करने के भी सुझाव दिये हैं। तेल की परत पर बारीक, अधिक घनत्व वाला, चूर्ण फैलाकर उसे तली पर बँठाया जा सकता है। स्टीयरेट से उपचारित चाँक चूर्ण एक ऐसा ही पदार्थ है। पर यह बहुत छोटे क्षेत्र में ही बिखरे तेल को ठिकाने लगा सकता है।

टैंकरों से बड़ी मात्रा में तेल छलक जाने पर अथवा टैंकर के दुर्घटनाग्रस्त हो जाने से तेल बड़े क्षेत्र पर बिखर जाता है। उस समय ऊपर बतायी गई विधियाँ कारगर नहीं होतीं। तब जो विधि इस्तेमाल

की जाती है उसका उद्देश्य होता है तेल को बहुत छोटी-छोटी बूंदों में इस प्रकार छितरा देना कि वे बुन्दकियाँ आपस में न मिल पायें। इसके लिये किसी छितराने वाले पदार्थ—डिस्पर्सेन्ट—को उपयुक्त घोलकों में घोलकर तेल पर एक पतली परत के रूप में, फैला दिया जाता है और फिर सागर को मथा जाता है। इससे तेल बहुत छोटी बुन्दकियों में बँट जाता है। डिस्पर्सेन्ट के रूप में डिटरजेंट इस्तेमाल किये जाते हैं। समुद्र पर बिखर गये तेल को ठिकाने लगाने के लिये वैज्ञानिक जीववैज्ञानिक विधियों का उपयोग भी सुझा रहे हैं। इन विधियों में सूक्ष्मजीवों का उपयोग किया जाता है। ब्रिटेन के वैज्ञानिकों ने एक ऐसा पदार्थ विकसित किया है जो अपने वजन से 30 गुना अधिक तेल सोख लेता है। इस पदार्थ की 0.9×0.5 मीटर बड़ी और 1.2 सेमी० मोटी चादर 10 सेकेंड के अन्दर ही आधा टन तेल सोख लेती है।

सागर पर बिखर गये पेट्रोलियम को ठिकाने लगाने में भारतीय वैज्ञानिक डॉ० आनन्द एम० चक्रवर्ती का भी विशेष योग है। संयुक्त राज्य अमेरिका की जनरल इलेक्ट्रिक कम्पनी की प्रयोगशाला में अपने अनुसंधानों के दौरान, कुछ वर्ष पूर्व डॉ० चक्रवर्ती ने **स्यूडोमोनास बैक्टोरिया** का एक ऐसा विभेद विकसित किया है जो पेट्रोलियमभक्षी है। इस विभेद में उसके अपने आनुवंशिक पदार्थ के साथ उसी जाति के (**स्यूडोमोनास**) अन्य चार विभेदों के डी० एन० ए० (**प्लाज़्मिड**) भी मौजूद होते हैं। ये प्लाज़्मिड, जो कोशिका में स्वतंत्र रूप से मौजूद होते हैं, पेट्रोलियम

के चार भिन्न-भिन्न रचकों को विघटित कर देते हैं। डॉ० चक्रवर्ती के इस “आविष्कार” से पहले व्यर्थ (मुख्यतः समुद्र में फैले) पेट्रोलियम के भक्षण हेतु विभिन्न विभेदों के जीवाणुओं का उपयोग करना पड़ता था। पर अब यह काम एक ही विभेद कर सकता है।

औद्योगिक व्यर्थों को समुद्र में फेंकने की एक तर्कसंगत विधि यह है कि उन्हें नलों द्वारा तट से बहुत दूर, गहराइयों में छोड़ दिया जाये। यदि इन पाइपों में डिफ्यूजर भी लगा हो तो अधिक बेहतर होगा। गहराइयों में ये पदार्थ ठण्डे और भारी पानी के साथ मिलते हैं। उन्हें ऊपर जाने के लिये पानी की विभिन्न सतहों को पार करना पड़ता है और हर सतह के साथ ये रुकते जाते हैं। इस प्रकार सबसे ऊपरी सतह का पानी साफ ही बना रह सकता है।

1954 में समुद्र को तेल से प्रदूषित होने से बचाने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाया गया था। इस सम्मेलन में लिये गये निर्णयों के अनुसार टैंकरों को तट से कम से कम 80 किलोमीटर दूर धोया जाना चाहिये जिससे उनका जल तट के निकट न आये। खाड़ियों में न तो टैंकरों को धोना ही चाहिए, न उन तेलवाहक जहाजों को ठहराना चाहिये जिसमें 20 हजार टन से अधिक तेल भरा हो। सागर में रेडियोधर्मी प्रदूषण को रोकने का एक सरल उपाय है, समुचित उपचार के बाद ही रेडियोधर्मी व्यर्थ को सागर में फेंकना। □

औद्योगिक प्रगति और पर्यावरण

विश्वंभर प्रसाद गुप्त, एफ. आई. ई.

आनरेरी तकनीकी संपादक (हिंदी), इंस्टिट्यूशन आफ़ इंजीनियर्स (इं०),

बी-154, लोक विहार, दिल्ली-110034

पर्यावरण के घटक

मानव ने जब पहिले-पहिल आँखें खोली तो अपने

को प्रकृति की गोद में पाया, जहाँ उसे आनन्द भी मिला और भय भी, पोषण भी मिला और विनाश भी। आनन्द और पोषण तो उसने सहज प्राप्य वरदान

जनवरी-मार्च 1986 ②

② 53

मानकर स्वीकार कर लिए, किंतु भय और विनाश से थरथराता भी रहा और साथ ही लोहा लेने का प्रयत्न भी करता रहा। प्रकृति, के वे घटक जिनसे मनुष्य आनन्द और पोषण प्राप्त करता जैसे भूमि, वायु-मण्डल, आस-पास के नदी-पहाड़, झील-सागर, वन-उपवन आदि पर्यावरण के अंग हैं। 'प्रलयंकर' या विनाशकारी घटकों से मनुष्य यथासंभव बचने और दूर रहने, या उनपर काबू पाने का प्रयत्न करने लगा। जीवन में स्वास्थ्य बहुत महत्वपूर्ण है। 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मन' ही अच्छे स्वास्थ्य की परिभाषा है। शारीरिक स्वास्थ्य हमारे आहार (अन्न-जल-वायु) पर निर्भर है जिसका स्रोत इस पृथ्वी का जल-स्थल-वायुमण्डल है। मानसिक स्वास्थ्य भी प्रकारान्तर से इन्हीं पर निर्भर है, क्योंकि 'जैसा खाए अन्न, वैसा बने मन।'।

उद्यम और उद्योग

प्रकृति के कल्याणकारी तथा विनाशकारी घटकों के बीच कोई लक्ष्मण-रेखा नहीं खींची जा सकती। कभी-कभी तो कल्याणकारी घटक ही विनाशकारी बन जाते हैं, जैसे नदी में बाढ़ आना, वन में आग लगना, या पर्वत का ज्वालामुखी बन जाना आदि। विपरीत बुद्धि यानी सदाचरण त्याग कर कदाचरण अपनाने से भी विनाश ही होता है। ऐसी परिस्थितियों से अपना बचाव करने के लिए भी मनुष्य कुछ युक्तियाँ किया करता है। खेती करने, घर बनाने, कपड़े पहिनने, सड़कें-नहरें-रेलें बनाने और अच्छी शिक्षा प्राप्त करने आदि का यही उद्देश्य होता है। इसे हम विकास कहते हैं, और विकास के लिए भाँति-भाँति के उद्यम करते हैं।

उद्यम और उद्योग में बहुत थोड़ा अंतर है, कहीं-कहीं तो दोनों समानार्थक हैं। शक्ति के अर्थ में 'उत्' उपसर्ग दोनों में है, यानी दोनों में परिश्रम निहित है, किंतु 'उद्यम' में 'यम' प्रधान है—'यम' अर्थात् संयम, आत्म-निग्रह; और 'उद्योग' में 'योग' प्रधान है—'योग'

अर्थात् युक्ति, उपाय एवं संपत्ति का लाभ और वृद्धि।

उद्योग, सभ्यता और संस्कृति

पर्यावरण के बीच अपने रहने के ढंग में बराबर सुधार करते रहने को अपनी सभ्यता की उन्नति या प्रगति कहते हैं। भारत में 75 प्रतिशत लोग देहातों में रहते हैं और उनका मुख्य धंधा कृषि है। भारतीय अर्थ-व्यवस्था का आधार आदि काल से ही कृषि रहा है। भारतीय सभ्यता और वैदिक संस्कृति वनों में और खेतों पर ही फूली-फली हैं। कृषि ही मुख्य उद्यम होता था, और है। अन्य सभी उद्यम इसी के पूरक थे।

औद्योगीकरण पर आश्रित पाश्चात्य सभ्यता इसके ठीक विपरीत है। इस उद्योग-प्रधान सभ्यता का केन्द्र पूँजी है, और धर्म स्वार्थ है। तभी तो मालिक-मजदूर के झगड़ों से सारा वातावरण विपाक्त होता रहता है। मालिक-मजदूर से अधिक से अधिक काम लेकर कम से कम मजदूरी देने का इरादा रखता है तो मजदूर अधिक से अधिक दाम लेकर कम से कम काम करने की प्रवृत्ति पालता है।

औद्योगिक प्रगति

काम कम करने या विलकुल न करने की प्रवृत्ति ने मशीनी युग को जन्म दिया, मशीनीकरण औद्योगिक प्रगति का पर्याय हो गया। चलने-फिरने, चढ़ने-उतरने, बोलने-बतियाने, लिखने-पढ़ने, कपड़ा बनाने, सीने और धोने, खाना बनाने, गरज कि हर काम के लिए मशीन होनी चाहिए, और जितनी ही अधिक मशीनों का मनुष्य प्रयोग करे, उतना ही अधिक वह सभ्य कहलाए। यह है सुधार की, उन्नति की, प्रगति की आधुनिक विचारधारा या शहरी संस्कृति जिसकी ओर दुनिया खिंची चली जा रही है।

आज-कल सभ्यता का मानदण्ड कुछ विकसित देशों ने निश्चित कर रखा है, जिनका अनुकरण करने की प्रवृत्ति विकासशील देशों में प्रायः होती है। सभ्यता की इस दौड़ में संसार ने कुछ पाया है, तो कुछ खोया भी है। कभी-कभी तो अपने देश-काल-परिस्थितियों

का ध्यान न रखकर हमने अंधानुकरण में जितना खोया है, उसके अनुपात में हमारी प्राप्ति नगण्य सी रही है।

उद्योग और पर्यावरण

औद्योगीकरण पर आधारित प्रगति के साथ-साथ हमारे पर्यावरण का प्रदूषण भी बढ़ता गया है। सन् 1972 में स्टाकहोम में संयुक्त राष्ट्र संघ ने पर्यावरण प्रदूषण संबंधी एक सम्मेलन करके संसार का ध्यान इस ओर आकर्षित किया था। भारत में सन् 1974 में औषधि अनुसंधान प्रयोगशाला, लखनऊ ने 'औद्योगिक विष विज्ञान' पर एक अन्तर्राष्ट्रीय गोष्ठी की थी। तब वैज्ञानिकों ने वातावरण और स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले अनेक रहस्यों का उद्घाटन करते हुए संसार को सावधान हो जाने की चेतावनी दी थी। किंतु स्थिति सुधरी नहीं, बिगड़ती ही गई।

और यह सब हुआ था तब, जब हम समाचार-पत्रों में पढ़ चुके थे कि—

सन् 1971-72 में बंबई के हाजी अली क्षेत्र का समुद्र-तट, वे मौत मरी लाखों मछलियों से पट गया था, और सारा इलाका महीनों बंदबू करता रहा; उससे दो साल पहिले गंगा में कल-कारखाने का अपशिष्ट बहुत अधिक पहुँचने के कारण मुंगेर के पास पानी में ही आग लग गई थी; और उससे भी दो साल पहिले 1968 में बड़ौदा की महिसागर नदी के स्वच्छ पानी का रंग हरा हो गया था; आदि-आदि।

यह है हमारे उद्योगों की प्रगति का परिणाम — उसी प्रगति का जो वर्तमान सभ्यता की निशानी है, जो शहरीकरण की जड़ है, जिसे हम उन्नति का सुहाना नाम देकर गर्व कर रहे हैं।

क्या यह सचमुच प्रगति है ?

सामान्यतया यह सभ्य समाज का लक्षण समझा जाता है कि वह किसी विशेष खोज का उपयोग व्यवहार में, यानी अपने उद्योगों में कितनी जल्दी कर लेता

है। किसी खोज और उसके उपयोग के बीच पहिले जहाँ कई शताब्दियाँ बीत जाया करती थीं, अब कुछ दशाब्दियाँ भी नहीं, केवल कुछ वर्ष ही लगते हैं। इस पर हम गर्वसहित कहते हैं कि हमारी सभ्यता तेजी से प्रगति कर रही है। किन्तु इस तथाकथित सभ्य मानव समाज की प्रगति की वानगी के रूप में कुछ चौंकाने वाले तथ्य भी हैं जो हमें यह सोचने को मजबूर करते हैं कि क्या यह सचमुच प्रगति है, जो मानव को मानव का शत्रु बनाती है, जो मानव को मानव का शोषक बनाती है, जो मानवता पर ही विनाशक प्रहार करती है। वह तो प्रगति नहीं दुर्गति ही हो सकती है, उन्नति नहीं अवनति ही कही जा सकती है।

आइए ज़रा कुछ पीछे नज़र डालें; देखें, इतिहास क्या कहता है।

पहिली औद्योगिक क्रान्ति

पहिली औद्योगिक क्रान्ति का जन्म उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में इंग्लैण्ड में हुआ था। तब अंग्रेज़ हमारे ही नहीं, अधिकांश संसार के मालिक थे—सर्व सत्ता सम्पन्न। संसार में उनकी तृती बोलती थी। फलतः क्रान्ति बड़ी तेजी से फैली, वे रोक-टोक फैली। सब ने बाह-बाह की — भले ही मैनचेस्टर और लंकाशायर की चिमनियाँ गर्म रखने के लिए ढाका-चँदेरी आदि जगहों के जगप्रसिद्ध बुनकरों के हाथ काटने पड़े हों। मजबूर होकर ही सही, हमने घर-फूँक तमाशा देखा और पश्चिम के साथ औद्योगिक प्रगति पर तालियाँ बजाई, उनकी हाँ में हाँ मिलाई। फिर भी भारतीय चिंतन ने कुछ जोर मारा, और देश में स्वदेशी की लहर आई, विदेशी का वहिष्कार हुआ, जिससे हमारी राजनीतिक क्रान्ति को बहुत बल मिला।

किंतु संसार में क्या हुआ ? औद्योगीकरण का बुखार जो चढ़ा तो क्षिति-जल-पावक-गगन-समीर सभी विकृत हो गए। प्रदूषण बुरी तरह फैल गया। पंच-भूत में ही विकार उत्पन्न होने से पंच भौतिक जीव-जगत् दुखी हो गया। मानसिकता बिगड़ गई; मानवता

मर गई; अपने लाभ के लिए सार्वजनिक हित की बलि दी जाने लगी। उद्योग की चक्की में मानव पिसने लगा।

प्रदूषित पर्यावरण

उद्योगों की माँग पूरी करने के लिए हम पहाड़ों का वनस्पति आवरण ही मिटा रहे हैं। फलस्वरूप पर्वतों की मिट्टी कट-कटकर बही जा रही है, नदियाँ उथली हो रही हैं और मैदानों में बाढ़ें आ रही हैं। मैदानों में भी वन-विनाश हो रहा है जिससे रेगिस्तान बढ़ रहे हैं, वर्षा में व्यतिक्रम पड़ रहा है, जलवायु बदल रहा है।

हमें नाज़ है मोटरों की रेल-पेल पर। तो सुनिए : 1970 में केन्द्रीय जन-स्वास्थ्य इंजीनियरी संस्थान, नागपुर ने भारत के चार महानगरों के पर्यावरण का सर्वेक्षण किया था। आँकड़ों के अनुसार मोटर-गाड़ियों से निकलनेवाले कार्बन-डाइ-ऑक्साइड की मात्रा उस समय 1.0 से 3.5 भाग प्रति लाख थी, जब कि संयुक्त राज्य अमेरिका में नई गाड़ियों के लिए कानूनी सीमा केवल 0.2 भाग रखी गई है। फिर भी मोटरों की संख्या बेतहाशा बढ़ रही है।

जल-प्रदूषण भी भूमि के ऊपर, भूमि के नीचे, पहाड़ों के ऊपर और समुद्रों की तली तक सर्वत्र बढ़ता जा रहा है। प्रदूषित पर्यावरण का एक और पहलू है असाधारण शोर। विशेषज्ञों के अनुसार शोर का कानों पर, हृदय पर और सारे शरीर पर बुरा असर पड़ सकता है। शोर से मानसिक रोग भी हो सकते हैं। अब सोचिए कि चारों ओर से कर्णभेदी शोर के बीच कैसे बेचारे मानव की क्या गति होगी। ऊपर विशाल जेट भयानक गर्जन करते हैं, भूमि पर भारी मशीनें घरघराती हैं। एक ओर मोटर और ट्रक चिल्लपों मचाते हैं, तो दूसरी ओर ट्रांजिस्टर और लाउड-स्पीकर चीखते हैं।

अभिषप्त जीवन

औद्योगिक प्रगति बराबर तेज़ हो रही है। उद्योगों का अपशिष्ट ठोस, तरल और गैस, तीनों रूपों

में हमारे थल, जल और वायु को विषाक्त कर रहा है। ऊँची उठती हुई चिमनियाँ ज़हर उगल रही हैं। हवा में बालू, कार्बन, सल्फेट, नाइट्रेट, सीसा आदि के कण तैरते रहते हैं। इसमें साँस लेने से फेफड़ों की लचक जाती रहती है। हाइड्रोकार्बन यौगिकों से फेफड़ों के कैंसर का भय बना रहता है। दमा और श्वास घर कर लेते हैं।

लंदन के धूम-धुंध की चपेट में आकर एक बार हजारों व्यक्ति मर गए थे। भोपाल गैस काण्ड भुलाया नहीं जा सकता। एक्रोलीन और फार्मल-डि-हाइड की उपस्थिति से नेत्र-प्रदाह और नेत्रपेशी की दुर्बलता, अम्ल-वाष्पों से कंठ-श्लेष्मता और त्वचा रोग, हाइड्रो-जन सल्फाइड से सिर-दर्द और लकवा, गैसोलीन और बेंजीन से घुमरी और प्लोराइड से दाँतों और मसूढ़ों का क्षय जैसी बीमारियाँ होती हैं। पशु भी इन प्रदूषणों से अप्रभावित नहीं हैं।

आयातित शहरी सभ्यता : दो मुहाँ साँप

मानव की व्यथा-क्रथा का अंत नहीं है। औद्योगिक प्रगति और उससे पोषित नगरीकरण के कारण एक ओर तो कोयला, तेल, लकड़ी आदि ईंधन और अन्य खनिज पदार्थों के युग-युग से संचित भंडार खाली होते जा रहे हैं, और दूसरी ओर कूड़ा-कचरा बढ़ता जा रहा है, जिसके निपटाने के लिए जगह ढूँढ़े नहीं मिल रही। इस प्रकार पश्चिम से अत्यंत परिश्रम और चाव से आयातित यह शहरी सभ्यता, जिस पर गर्व करने हुए हम अपने पुराने ग्रामीण परिवेश को दुरदुराते जा रहे हैं, हमारे लिए गुलगुला गढ़ा नहीं, पूरा दो मुहाँ साँप सिद्ध हो रही है, जिसे दूध पिला-पिला कर पालने में उद्योगपतियों, कृषकों, प्रशासकों, और आम जनता, सभी का हाथ है।

कीटनाशी दवाओं और रासायनिक खादों का दुष्प्रभाव तो गाँवों के अपढ़ किसान भी अनुभव करने लगे हैं। अब वे कीटों के लिए नहीं, मनुष्य के लिए हानिकर सिद्ध हो रही हैं। डी० डी० टी० और डाएल्ट्रिन का प्रयोग कई देशों में निषिद्ध कर दिया

गया है। खानों की धूल और धुएँ से, प्लास्टिक के बढ़ते हुए प्रयोग से, खाद्य-पदार्थों में मिलावट से, और विविध उद्योगों के अपशिष्टों से मानव स्वास्थ्य पर कैसा घातक प्रभाव पड़ रहा है, यह अब किसी से छिपा नहीं रहा। आज की चाकचिक्य शहरी सभ्यता का आनन्द उठाने वाले तो इने-गिने ही होंगे, बहुसंख्यक तो अल्पजीवी, अस्वस्थ, अशक्त, असहाय और विकलांगों के रूप में उद्योगों के उप-उत्पाद ही नज़र आते हैं। फिर भी शहर बढ़ रहे हैं, बढ़ाए जा रहे हैं।

नगरीकरण का प्रसार

शहर बढ़ रहे हैं, गाँव उजड़ रहे हैं। कभी लंदन संसार का सबसे बड़ा नगर था, दूसरा था न्यूयार्क; और भारत के सबसे बड़े नगर कलकत्ता का संसार में आठवाँ-दसवाँ नम्बर था। किंतु पूर्व ने पश्चिमी सभ्यता अपनाने के लिये जो दौड़ लगाई, तो हमने भी ऐसी तरक्की की, ऐसी छलांग लगाई कि अब शायद लंदन और न्यूयार्क भी पिछड़ जाएँ। संसार के सबसे बड़े शहर अब विकासशील देशों में हो गए, और हमारी बंबई को भी उनमें से एक होने का गौरव मिल गया। फल क्या है? अमेरिका का लास ऐंजिल्स दुनिया का सबसे अधिक दूषित वायु वाला नगर कहा जाता है और हमारी बंबई उससे होड़ लेने जा रही है। एक विद्वान ने तो यहाँ तक कहा है कि बंबई में दूषित वायु वाला न्यूयार्क है, टोकियो है और लंदन भी है। उपनगर ट्रांवे-चेम्बूर में हर महीने 25-30 टन दूषण-धूल हवा से गिरती है। अकेले बंबई में ही 566 कपड़ा-मिलें, 256 रासायनिक प्रतिष्ठान और शताधिक लघु उद्योग हैं जो दिन-रात हवा पानी में दूषण उगलते रहते हैं।

अन्य महानगर दिल्ली, कलकत्ता, कानपुर आदि भी उन्हीं चरण-चिह्नों का अनुसरण कर रहे हैं। योजना आयोग का अनुमान है कि शहरी आबादी का 20 प्रतिशत गंदी बस्तियों (स्लमों) में रह रहा है; इस शताब्दी के अंत तक बंबई में 75 प्रतिशत लोग स्लमों में रह रहे होंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक

सर्वेक्षण के अनुसार सन् 2000 ई० तक आधी जनसंख्या नगरवासिनी होगी और दो-तिहाई नगरवासी विकासशील देशों में रहेंगे।

निहित उद्देश्य : मानसिक प्रदूषण

उत्पादन बढ़ाकर सबको आवश्यकता की चीजें मुहैया करने के लिये औद्योगीकरण आवश्यक है, किंतु किस रूप में, यह सोचने की बात है। वर्तमान औद्योगिक प्रगति का मूल उद्देश्य कुछ लोगों के द्वारा अधिसंख्य लोगों के शोषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अधिकाधिक लाभ कमाने की दृष्टि से उत्पादन बढ़ाया जाता है, फिर उसकी खपत के लिए कृत्रिम मांग पैदा की जाती है और इसके लिए व्यापक प्रचार करके (जो अधिकांश झूठा होता है) जनसामान्य को बहकाया जाता है। इस मनोवृत्ति का उदाहरण बड़े-बड़े, भड़कीले, रंग-विरंगे और लंबे-चौड़े विज्ञापन हैं, जो लोगों को अहितकर वस्तुयें (जैसे शराब, सिगरेट आदि) भी शौक से मोटी कीमतें देकर खरीदने को उकसाते रहते हैं। प्रेस, रेडियो, सिनमा, टेलीविजन आदि सब इन्हीं उद्योगपतियों, पूंजीपतियों आदि के हाथों में हैं, और ये जो विष मनुष्य के मन में धोलना चाहते हैं, डाल देते हैं। शुद्ध चिन्तन की शक्ति खोकर व्यक्ति उनके लिए उपभोक्ता बाज़ार का एक पुर्जा बन कर रह जाता है।

पहली औद्योगिक क्रान्ति इंग्लैण्ड में हुई थी; ढेरों कच्चा माल एशिया और अफ्रीका के देशों से वहाँ जाता था और पक्का माल बनकर वापस उन्हीं देशों में विकने आता था। शोषण की यह मनोवृत्ति 1854 और 1859 के उन खरीतों से साफ झलकती है जिनके फलस्वरूप कलकत्ता में (तत्कालीन उदार-दली हागसन के शब्दों में संस्कृति-अपहारक) अंग्रेजी शिक्षा देने के लिए विश्वविद्यालय स्थापित हुआ था। खरीतों में कहा गया था कि "इससे योग्य और सच्चे कर्मचारियों के चुनाव के लिए पर्याप्त क्षेत्र मिलेगा और साथ ही विदेशी माल के प्रति अभिरुचि उत्पन्न होगी, तथा कच्चे माल का उत्पादन बढ़ेगा,

जो दोनों ही इंग्लैण्ड के निर्माता उद्योग के लिए संजीवन हैं।" अंग्रेजी शिक्षा के माध्यम से मैकाले की अभिलाषा थी कि भारत का 'सभ्य' समाज रक्त और वर्ण से भारतीय रहते हुए भी "रुचि में, राय में, और आचार-विचार में अंग्रेज हो जाए।"

इस प्रकार पूर्वी देशों की मानसिक शान्ति भंग करके उनमें आचार-विचार और संस्कृति का प्रदूषण आरंभ किया गया और जोर-शोर से फैलाया जाता रहा। साम्राज्यवाद का अंत होने के बाद भी अंग्रेजी-शिक्षा-प्रसूत मानसिक गुलामी फैलती ही रही, रुचि, विचार और चिंतन प्रदूषित होते ही रहे, और शिक्षा जैसे पवित्र और सशक्त माध्यम का उचित उपयोग न करके हमारा सांस्कृतिक पर्यावरण नष्ट किया जाता रहा, जो भौतिक पर्यावरण के प्रदूषण से भी अधिक चिन्तनीय है।

पाश्चात्य शिक्षा द्वारा फैलाई हुई आधुनिक संस्कृति (जो मानव की संस्कृति नहीं विकृति है) शायद मानव इतिहास में पहिली संस्कृति है जिसने मानवीयता और मानवीय आधार की सब मौलिक समस्याओं की उपेक्षा की है। भारतीय संस्कृति के अनुसार जीविका उपार्जन के तीन स्पष्ट मार्ग हैं : उत्तम, समाज को अधिक से अधिक देकर उससे कम से कम लेना, जैसे शिक्षा; मध्यम, समाज की उचित सेवा करके उसका उचित प्रतिदान लेना, जैसे व्यापार और अधम, कम से कम सेवा करके समाज से ज्यादा से ज्यादा ऐंठ लेना, जैसे चोरी-ठगी। 'अग्ने नय सुपथा राये' (अर्थात् हे सर्वशक्तिमान्, हमें उत्तम मार्ग से समृद्धि, ऐश्वर्य तक पहुँचाओ), और 'मागृधः कस्यस्विद् धनम्' (अर्थात् किसी की सम्पत्ति हड़प न करो), भारतीय संस्कृति के ही स्वर हैं जिनकी अवहेलना हो रही है। आजकल दो पैसे से तैयार होने वाली दवा की गोली के लिए उपभोक्ता से तीस-चालीस पैसे वसूल करना व्यवसाय-कुशलता समझी जाती है। मूल्य वस्तु का नहीं, जरूरत का, वल्कि विवशता का ही लिया जाता है। जान-बूझकर घटिया माल बनाया जाता है ताकि माँग बनी रहे, कारखाने चलते रहें। टिकाऊ

माल बनाना पेशे के प्रति गहारी समझी जाती है। मरम्मत या कुछ पुर्जे बदलाई नई चीज़ खरीदने से भी महुँगी कर दी जाती है ताकि लोगों को पुरानी चीज़ें फेंककर नई खरीदनी ही पड़ें। यह बरबादी का अर्थ-शास्त्र ही औद्योगिक प्रगति का मूल मंत्र है।

अनुपयुक्त शिक्षा द्वारा व्याप्त मानसिक प्रदूषण के कारण ही शोषण पर आधारित पश्चिमी सभ्यता फैली, जिसकी चकाचौंध समृद्धि और सत्ता के पीछे मानवता सड़ रही है और अमानुषिक बर्बरता पल रही है। शुद्ध वृत्ति से किए गए वैज्ञानिक प्रयत्नों का उपयोग कैसे हो, इसका निर्णय न वैज्ञानिक करते हैं न समाज; निर्णय करते हैं राजनेता, उद्योगपति और पूँजीपति, जो लोक-कल्याण की दृष्टि से नहीं, अपनी सत्ता, सम्पत्ति और पूँजी की दृष्टि से ही सोचते हैं।

विश्व-शान्ति खतरे में

विकसित देशों ने विकासशील देशों को सहायता देने की योजना बनाई है। पिछड़े यानी विकासशील देश दुनिया में 104 हैं जिनमें दुनिया की कुल आबादी का 70 प्रतिशत रहता है, और दुनिया के खनिज भण्डारों का 70 प्रतिशत भी इन्हीं देशों में है (भारत भी इन्हीं देशों में एक है), परन्तु दुनिया के समस्त औद्योगिक उत्पादन का केवल 7 प्रतिशत इन देशों में बनता है और पूरी दुनिया की केवल 7 प्रतिशत दौलत ही इन देशों में है, वह भी उस वर्ग के पास जो लूट-खसोट में विदेशी पूँजीपतियों के साथ है। उत्तरी अमेरिका में दुनिया की 7.5 प्रतिशत आबादी है जो दुनिया के 50 प्रतिशत बुनियादी साधनों का उपभोग करती है। इस प्रकार कुछ देश अपनी समृद्धि, अपने स्वार्थ के लिए सारे संसार की प्राकृतिक सम्पदा तेज़ी से चट किए जा रहे हैं; अपने-अपने माल की खपत के लिए उनमें स्पर्धा बढ़ती है, जिसकी चरम परिणति है युद्ध।

दो महाविनाशी विश्व-युद्ध हो चुके हैं; तीसरे की तैयारियाँ हो रही हैं। पूँजीवादी मानसिकता की छाया में पलनेवाली औद्योगिक प्रगति से निपीड़ित यह युद्ध-

जर्जर दुनिया नरक हो रही है, हाँ अधिसंख्य जनता सबेरे से शाम तक रोजी-रोटी के लिए एड़ी-चोटी का पसीना एक करती है, फिर भी रात को आधे पेट या खाली पेट ही सो जाती है।

उपयुक्त शिक्षा का अभाव

हमें मिल रही है पाश्चात्य शिक्षा जिससे हम भी पश्चिमी रंग में रंग जाएँ। किंतु जिस पश्चिम को लोग आदर्श मान बैठे हैं, जिन पाश्चात्य विलासी प्रवृत्तियों को अपनाने के लिए लोग लालायित रहते हैं, जिन विकसित देशों को लोग अपना स्वर्ग समझते हैं, उनका कच्चा चिट्ठा अब सबके सामने है। संसार के सबसे धनी देश संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रति तीन सेकण्ड पर एक भयंकर अपराध होता है, यानी प्रति दिन 28,800 अपराध। वहाँ प्रति 31 सेकण्ड पर हिंसात्मक अपराध होता है, प्रति 33 सेकण्ड पर एक मोटरगाड़ी चोरी जाती है, हर पाँच सेकण्ड पर चोरी होती है, प्रति दस सेकण्ड पर सेंधमारी, हर 78 सेकण्ड पर राहजनी-डकैती, हर आठ मिनट पर स्त्री के साथ बलात्कार तथा हर 27 मिनट पर एक हत्या होती है ('कल्याण', गीता प्रेस, गोरखपुर, सितम्बर 1979)। और वहाँ स्वास्थ्य की क्या कहिए। दुनिया भर में सबसे ज्यादा डॉक्टर अमेरिका में हैं, वहाँ चिकित्सा पर खर्च भी सब से ज्यादा होता है, लोग खुराक में विटामिन भी सबसे ज्यादा खाते हैं; फिर भी फौज के लिए स्वास्थ्य परीक्षा में 70 प्रतिशत उम्मीदवार अयोग्य पाये जाते हैं, वहाँ के विद्यार्थी अल्प-पोषित होते हैं। कनाडा में 60 प्रतिशत नागरिकों में 80 प्रतिशत कैल्शियम की कमी है, विटैमिन 'बी' 90 प्रतिशत में कम है, प्रोटीन की 72 प्रतिशत में कमी होती है (सरला देवी, संरक्षण या विनाश, ज्ञानोदय प्रकाशन, हल्द्वानी-नैनीताल)।

यो यह है पश्चिम की ऊँची दूकान का फीका पकवान। वहाँ से हम क्या सीख सकते हैं?

पर्यावरण-दूषण का मूल कारण

पश्चिमी सभ्यता दो-तीन शताब्दियों में ही

पश्चिम को खोखला कर चुकी है, और पूर्व में भी फैल रही है। सारी दुनिया का माहौल खराब हो रहा है, पर्यावरण पूरी गहराई तक दूषित हो रहा है; और इसका कारण बताया जाता है औद्योगिक या वैज्ञानिक प्रगति; किंतु मूल कारण तो है दूषित मानसिकता जो पाश्चात्य शिक्षा से मिल रही है, और जिसके तेजी से विश्वव्यापी प्रसार के लिए कलकत्ता विश्वविद्यालय सरीखे सैकड़ों-हजारों गगनचुंबी अंग्रेजी स्कूल; कान्वेंट और कॉलेज दुनिया भर में खुले हैं। इन प्रासादपुंजों में से निकले हुए स्नातकों का मूल्यांकन करने से पता चलेगा कि भवन तो फैल गए हैं, मस्तिष्क सिकुड़ गए हैं। विश्वविख्यात शिक्षाशास्त्री डॉ॰ राधाकृष्णन् के शब्दों में—“भौतिक सुख पाने के लिए आज भीतरी चरित्र की बलि चढ़ा दी गई है।.....असली शिक्षा वह है, जो सम्पूर्ण मानव तैयार करे। ऐसी शिक्षा की जड़ें भारत की पुरानी परिपाटी में हैं।”

दूसरी औद्योगिक क्रान्ति : कोढ़ में खाज

पहली औद्योगिक क्रान्ति के बाद सौ-सवा-सौ वर्ष में पूँजीवादी पंजा संसार भर में फैल चुका है। अब वह पन्जा और भी अधिक गहरे गड़ाने के लिए कम्प्यूटर क्रान्ति नाम की दूसरी औद्योगिक क्रान्ति का श्री गणेश हो चुका है। कम्प्यूटर का आविष्कार पहिले के आविष्कार के बाद सबसे अधिक गम्भीर क्रान्ति लाने वाला माना जाता है। इस दौड़ में भारत भी पीछे नहीं रहना चाहता। तो जब काठ में पाँव पड़ेगा, तो कोई तो सहायता के लिए आएगा ही। जब स्वावलंबन पीछे छूट रहा है, विदेशों पर निर्भरता बढ़ रही है, स्वदेशी की भावना हवा हो रही है, तब स्वाभाविक है कि बड़ी शक्तियों की थैलियों के मुँह खुले सहायता के वहाने छुट भैया देशों को निगलने के लिए। पहली औद्योगिक क्रान्ति ने इंग्लैण्ड को उछाला था, दूसरी क्रान्ति किसी और को उछालेगी।

वहरहाल कम्प्यूटर क्रान्ति से दुनिया की हालत कुछ सुधरने की आशा नहीं, क्योंकि मानसिकता नहीं बदल रही, दूषित चिंतन नहीं सुधर रहा। आइन्स-

टीन के शब्दों में, “परमाणु की मुक्ति शक्ति ने हमारी चिंतन प्रणाली के अलावा सभी कुछ बदल दिया है, और इसीलिए हम एक अभूतपूर्व संकट में पड़ गए हैं।”

वास्तव में जब तक मानसिकता नहीं सुधरेगी, चिंतन की दिशा नहीं बदलेगी, तब तक यह दूसरी क्रांति भी कोढ़ में खाज ही सिद्ध होगी।

एकमात्र इलाज भारतीय शिक्षा

पर्यावरण सुधारने के लिए समग्र दर्शन जरूरी है। औद्योगिक प्रगति रोकने की नहीं, बल्कि उसके पीछे काम करने वाली दूषित विचार-धारा ही बदलने की आवश्यकता है।

भारत माता ग्रामवासिनी हैं, अतः हमें भारत को विकसित करना है तो वास्तव में गाँवों का विकास होना चाहिए—और गाँवों का विकास करने का अर्थ उन्हें ‘शहर’ बनाना नहीं, गाँवों को उजाड़कर शहरों की आबादी बढ़ाना नहीं, बल्कि गाँवों में ही सारी सुविधाएँ पहुँचाकर, वहीं कुटीरोद्योग-ग्रामोद्योग स्थापित करके लोगों को काम देकर उन्हें आत्म-निर्भर बनाना है। औद्योगिक प्रगति इसी दिशा में होगी तभी वर्ग भेद मिटेगा, गरीबी-अमीरी के बीच की खाई पटेगी और पर्यावरण भी शुद्ध होगा। □

पर्यावरण पर खनन का प्रभाव

डॉ० दुर्गा पद कुइति

भौमिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

विकास के साथ-साथ खनन कार्य की आवश्यकता भी बढ़ती जा रही है। किसी भी निर्माण कार्य जैसे बाँध, सुरंग, पहाड़ों पर मार्ग, रेलपथ, खनिज आदि अथवा उसके निमित्त सामानों के तैयारी के लिये जैसे सिमेन्ट, गिट्टी, पानी, पत्थर की पटिया, ईंट के लिये मिट्टी आदि के लिये प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में खनन की आवश्यकता अनिवार्य हो गई है। प्रगति के लिये खनिज एवं खनिज के लिये खनन आवश्यक है। विश्व के लोग खनन के परिणाम से अवगत हैं। खनिज प्राप्ति के लिये खनन का कार्य प्राचीन समय में भी होता रहा है। इसके प्रमाण अनेक स्थानों पर आज भी गुफाओं के रूप में विद्यमान हैं। प्राचीन सभ्यताओं के मिले अवशेषों में धातु के बने सामानों, जिनमें शिकार तथा भोजन बनाने के बर्तन प्रमुख हैं—ये सभी प्राचीन समय में भी धातुओं के प्रयोग का साक्ष्य देते हैं।

चट्टानों का अपक्षय, अपरदन तथा अनाच्छादन

एक प्राकृतिक क्रिया है। अपक्षय का स्वरूप तथा मात्रा अलग-अलग स्थानों पर भिन्न-भिन्न होती है। चट्टानों की बनावट, उनके ढाल तथा ऊँचाई-निचाई, जलवायु संबंधी दशाएँ आदि मुख्य रूप से अपक्षय को नियंत्रित करती हैं। मानव जब अपने कार्यों में प्रयोग के लिये इन पत्थरों को तोड़ता-फोड़ता है तब इनके अपक्षय, अपरदन तथा अनाच्छादन की गति तेज हो जाती है।

भारत के प्रमुख कोयला क्षेत्र बिहार, बंगाल और मध्यप्रदेश में स्थित हैं। इन क्षेत्रों से पिछले कई दशकों से कोयले का खनन किया जा रहा है। कोयला निकालने के पश्चात् खाली स्थान में बालू भर दिया जाता है। हाल के एक सर्वेक्षण के अनुसार कोयला खान के ऊपर स्थित जैसे धनवाद शहर, किसी भी समय नीचे धँस सकता है। कलकत्ता जैसे महानगर में पेयजल की आपूर्ति भूमिगत जल पर आधारित है। पेयजल वर्षों से बेधन द्वारा जमीन के नीचे से निकाला

जाता है। हाल में किये गये एक सर्वेक्षण के अनुसार कलकत्ता शहर नीचे धँस रहा है तथा पिछले कई वर्षों में कई सेन्टीमीटर धँस चुका है। विद्वानों का मत है कि भूमिगत जल के लगातार निकालने के कारण ऐसा हो रहा है।

अव्यवस्थित ढंग से किया गया खनन कार्य का परिणाम अत्यधिक हानिकारक भी हो सकता है। बिहार राज्य के गया जैसे प्राचीन एवं धार्मिक स्थल में हो रहे खनन कार्य के परिणाम सामने आ रहे हैं। कार्यान्तरिक प्रीकैम्ब्रियन शिलायें छोटे-छोटे पहाड़ों के रूप में गया शहर के चारों ओर फैले हुये हैं। इन पहाड़ों के शिखर, मन्दिरों से सुशोभित मिलते हैं। इस क्षेत्र में मुख्य रूप से नाइसोज प्रेनाइट तथा क्वार्ट्ज-जाइट मिलते हैं। इन शिलाओं से निर्मित मिट्टी निर्माण कार्यों के लिए उपयुक्त है। इस कारण वर्षों से

इस क्षेत्र में लगातार खनन कार्य चल रहा है। इन को तोड़ने के लिए विस्फोटक का भी जम कर प्रयोग किया जा रहा है। अनेक पुराने पेड़ तो नष्ट हो गये हैं तथा नये पेड़ भी जम नहीं पा रहे हैं। विस्फोटक पदार्थों के प्रयोग के कारण च्युति (फाल्ट), संधि (ज्वाइन्ट) आदि और भी कमजोर हो गये हैं, जिसके परिणामस्वरूप इस क्षेत्र की शिलायें अपक्षय, अपरदन एवं अनाच्छादन की क्रियाओं से अत्यधिक प्रभावित हैं। गया शहर के पूर्व की ओर से बहने वाली फाल्गु नदी की गहराई नाममात्र की रह गयी है। यह बाढ़ आने की सम्भावनायें बढ़ने एवं उनके और भी भयावह परिणाम का संकेत है। खनन से चट्टानों के अवपातन एवं स्खलन की सम्भावनायें बढ़ गई हैं। पहाड़ों पर सुशोभित मन्दिरों का आस्तित्व भी खतरे से बाहर नहीं है। □

ग्रामीणों की दृष्टि में बदलता ग्रामीण पर्यावरण

विजयजी

जवाहर इंटर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद-211206

पर्यावरण आज विश्वव्यापी चर्चा का विषय है। तमाम देशी विदेशी संस्थाएँ पर्यावरण के विविध पहलुओं पर लगातार शोध, सर्वेक्षण, जनजागरण और संघर्ष कर रही हैं। आज कोई भी अखबार-पत्रिका ऐसी नहीं है जो पर्यावरण सम्बन्धी लेखों या सूचनाओं की अवहेलना कर सके। मैंने सोचा कि क्यों न मैं अपने आस-पास के बदलते पर्यावरण पर दृष्टि डालूँ? अध्ययन के लिये मैंने जसरा ब्लाक (इलाहाबाद जिला) के 5 वर्ग किमी० के क्षेत्र को चुना। जसरा के चारों ओर फैले इस क्षेत्र में यमुना नदी, एक छोटी झील, ईट-भट्टों का क्षेत्र, खेती-वारी और नहरी सिंचाई का क्षेत्र शामिल है। हमने—उपरोक्त क्षेत्रों में हुये पर्यावरणीय परिवर्तनों की जानकारी के लिये सम्बन्धित क्षेत्रों में रहने वाले कई बुजुर्गों से साक्षात्कार किया।

आइये शुरुआत अपने गाँव (चितौरी) से ही करें।

साठ वर्षीय रामकिशोर दादा यद्यपि पढ़े लिखे नहीं हैं लेकिन खेती-किसानी और घर-गृहस्थी के मामले में काफी अनुभवी हैं। एक सुबह जब मैं उनके पास पहुँचा तो वे अलाव ताप रहे थे। मैंने बातचीत अलाव से ही शुरू की।

दादा ! आज हम आपसे आपके बचपन के समय की कुछ बातें पूछना चाहेंगे। इस समय आप कौड़ा (अलाव) में सूखी घासों और बेहया की सूखी झाड़ी ताप रहे हैं। बचपन में जब आप कौड़ा तापते थे तब क्या जलाते थे ?

अब कौड़ा लगता कहाँ है, कौड़ा में जलाने लायक कोई चीज रह कहाँ गयी है ? हमारे बचपन के समय में लोगों के पास इतने कपड़े-लत्ते नहीं होते थे। आग ही सहारा होती थी। और आग भी आज की तरह

नहीं, बल्कि लकड़ी का कौड़ा लगता था। तीन-चार मोटी लकड़ियाँ उपलों के सहारे जला दिया, फिर आराम से घर भर भारह-बारह बजे तक कौड़े के पास बैठते थे। खूब किस्सा-कहानी होता था।

तब तो चूल्हे का ईंधन भी लकड़ियाँ ही रही होंगी ?

बेशक, लकड़ी की कोई कमी नहीं थी। उपले भी जलाते थे, लेकिन आज की तरह नहीं। तब हम लोग पालतू जानवर घर पर नहीं बाँधते थे। सभी गाँव वाले दिन भर जानवरों को चराया करते थे। रात में खेत पर ही बाँधते भी थे।

कुछ लोग बेहया को तो चूल्हे में भी जला रहे हैं ?

हाँ, वो तो जलायेंगे ही। गरीब बेचारे कौन ईंधन जलायें। लकड़ी तो अच्छे-अच्छे काश्तकारों के पास भी नहीं है। एक उपला ही सहारा है। गरीब के पास तो न जानवर हैं, न खेत और न उपले।

गोबर कम मिलने से ज़मीन की गुणवत्ता में भी फर्क आया होगा ?

बहुत फरक आया है। तब सरकारी खाद (रासायनिक खाद) कहाँ थी ? पशु खेतों में बाँधते थे, गोबर से खूब खाद बनायी जाती थी। तब गाँव के गड़रियों के पास बहुत ज्यादा भेड़े थीं। खेतों में भेड़ें भी बैठाई जाती थीं।

सुनते हैं पहले उपज काफी कम थी ?

हाँ, उपज तो कम थी। दरअसल उपज के लिये सबसे ज़रूरी चीज़ पानी होती है। तब हम लोग वर्षा पर ही भरोसा करते थे। इसीलिये तब हम लोग मोटे अनाज—अरहर, चना, ज्वार, बाजरा आदि बोते थे। आज तो धान, गेहूँ के अलावा और कुछ बोया ही नहीं जाता।

वैज्ञानिक कहते हैं कि देश की मिट्टी में केंचुये कम हो रहे हैं, आप का क्या खयाल है ?

बिलकुल सही बात। अब केंचुये धरती में कहाँ रह गये हैं। पहले तो बरसात में चाहें तो केंचुओं से

टोकरी भर लें। अब तो बाग बगीचों की मिट्टी में ही केंचुये दीखते हैं।

केंचुये लुप्त कैसे हो गये ?

सब खाद-पांस की बात है। पहले ज़मीन में देशी खाद और गोबर वगैरह खूब रहता था।

दादा ! एक कारण और है जिसको शायद आप अनुभव नहीं कर पाये। वह है रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाओं का प्रयोग।

बिलकुल होगा भैया ! अरे इस सरकारी खाद ने तो सारे भोजन का स्वाद ही बिगाड़ दिया है। अब तो किसी चीज़ में वो मीठापन कहाँ ? आजकल के देशी शुद्ध घी पर भी शंका होती है। घर-घर बीमारी भी तो खाद के कारण ही है न। पहले इतनी बीमारी थोड़े ही थी।

अच्छा इन कीटनाशकों के प्रति आपका क्या विचार है ? जब ये दवायें नहीं थीं तब फसलों की बीमारी से आप लोग कैसे निबटते थे ?

पहले इतनी बीमारी कहाँ थी। बीमारी रहती ज़रूर थी लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि बीमारी से पूरी की पूरी फसल चौपट हो जाय। पिछले साल का ही देखो, जोरई का प्रकोप धान पर इतना तेज़ हुआ कि सारी दवा की दूकानों से फालीडाल गायब हो गया। गायब न भी होता तो गरीबों के बस का कहाँ था। केवल बंशी और झुरहूँ का एक-एक बीघा धान ही बचा था परसाल।

वह क्यों ?

देशी धान था न। देशी धान या कोई भी देशी बीज वाली फसल पर रोग का हमला आज भी कम होता है।

जसरा से दो किमी० पूर्व गौहनिया चौराहा। यहाँ अधिकांश पान की गुमतियों और चाय की दूकानें हैं। यहीं एक दुकान पर मुझे पैसठवर्षीय बुदांवा गाँव के शिवधारी मिलते हैं। हाल-चाल के बाद मैंने उन्हें अपना प्रयोजन बताया और उनके क्षेत्र के विषय में पूछताछ शुरू कर दी।

दादा जी, आपके क्षेत्र में नहर आये कितने साल हुये होंगे ?

यही कोई 25—30 साल पहले यहाँ नहर खोदी गयी थी ।

नहर से पहले की ज़मीन, तब होने वाली फसलें, पैदावार आदि के विषय में कुछ बताइये ।

देखिये नहर के पहले और अब काफी कुछ फरक पड़ गया है । वास्तविकता तो यह है कि हम लोग ताबही की ओर ही बढ़ते जा रहे हैं । हमारे यहाँ की ज़मीन में ऊसर का असर पहले से ही था । लेकिन आज ऊसर पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गया है । यह सब लगातार नहर के भराव से हो रहा है । इसके अलावा हमारे गाँव से होती हुई नैनी राजवहा गयी है । उसके दोनों ओर करीब 50 हाथ जमीन तो हमेशा जल-रिसाव के कारण पानी में ही डूबी रहती है । यह सब दसियों साल से चल रहा है । लेकिन आज तक किसी को कोई मुआवजा या लगान में छूट तक नहीं मिली । पैदावार की हालत तो यह है कि पहले हम लोग अरहर, उर्द, तिल आदि फसलें खूब लिया करते थे । अब केवल धान की फसल ही ले पाते हैं । रबी की फसल भी नहीं ले पाते क्योंकि खेत सूखता ही नहीं ।

इस तरह की स्थिति और किन गाँवों में है ?

बुदावा, पंवर, पंवरी, कांटी, कई गाँवों के किसान नहरों के कारण काफी नुकसान उठा रहे हैं । पैदावार तो घटी ही है, ज़मीन का ऊसर होते जाना तो सबसे खतरनाक बात है न ।

पालतू जानवरों के मामले में तब और अब में कोई फर्क आया है ?

बहुत फर्क आया भइया ! इस इलाके के 4-6 गाँवों में देख लीजिये । शायद ही किसी के पास भैंसें मिलें । पहले तो एक-एक गाँव में ही सैकड़ों भैंसें हुआ करती थीं । दूध-घी की नदी बहती थी भैया उस समय । सब सपना हो गया ।

भैंस-गाय पालने में दिक्कत क्या है ?

दिक्कत ! अरे क्या खाकर दूध देंगी ? सूखा पियरा (पयाल) ! अभी बताया ना जब सब तरह की दलहन, तिलहन और मोटे आज की फसल होती थी, जानवर भी स्वस्थ होते थे, दूध देते थे । अब यदि कोई रखता भी है तो या तो दूध देना बन्द कर देते हैं या जल्दी मर जाते हैं । पहले जैसे अब बैल भी कहाँ देखते हैं ।

इलाहाबाद से 15 किमी० दक्षिण और जसरा ब्लाक मुख्यालय से 4 किमी० उत्तर इरादतगंज रेलवे स्टेशन है । इसी से लगी आम के पुराने बाग में मुझे एक बूढ़े सज्जन राम भरोस मिल जाते हैं । वे पेड़ों के नीचे से सूखी टहनियाँ और पत्तियाँ एकत्रित कर रहे थे । जान-पहिचान और हाल-चाल के बाद मैंने उनसे आम के बागीचों के बारे में ही पूछना शुरू किया ।

वावा ! आपके बचपन के समय के आम के बागीचों और अब के बागीचों में क्या फर्क है ?

(हँसकर) अब बागीचे हैं कहाँ साहब ! इने-गिने पुराने दरख्त रह गये हैं । कुछ वर्षों बाद तो क्षेत्र में आम का पेड़ ढूँढ़ने पर ही मिलेगा ।

क्या अब लोग आम के पेड़ नहीं लगा रहे हैं ?

क्यों लगायेंगे भला ? अब तो आदमी को ईंट पियारी है, आम नहीं । अरे इन ईंट भट्टों ने ही तो सत्यानाश किया है सारी आम की फसल का । गर्मी में देखते नहीं हो । पहले जैसे न अब आमों में बौर आये न फल और जो फल आते भी हैं वे थोड़ा बड़े होते ही नीचे से काले पड़ने लगते हैं । आम में जाली पड़ने के पहले ही यह इतना विषैला हो जाता है कि इसे आदमी तो क्या पक्षी भी नहीं छूते ।

इस तरह की शिकायत आपने कहाँ-कहाँ देखी ?

जहाँ-जहाँ ईंट भट्टे होंगे वहाँ-वहाँ यह शिकायत होगी । अपने क्षेत्र में तो आप देख ही रहे हैं । घूरपुर से इलाहाबाद तक के 15 किमी० के क्षेत्र में सैकड़ों ईंट-भट्टे हैं । अब आप इतनी दूरी में रोड के दोनों ओर, मील की चौड़ी पट्टी में केवल पुराने आम के पेड़ देखेंगे । बस केवल पेड़ हैं, फल तो किसी को मिलते नहीं । आगे भी किसी को फल मिलना नहीं है । इसी-

लिये इस क्षेत्र में अब नये आम के बागीचे लगाने ही बन्द हो गये ।

जसरा ब्लाक मुख्यालय से 4 किमी० पश्चिमोत्तर और इलाहाबाद से 15 किमी० दक्षिण यमुना की धारा के मध्य में सुजावन देव का प्रसिद्ध मन्दिर है । कभी यहाँ काफी सुरम्य वातावरण था । यहीं मैंने बड़े बेचई मल्लाह से बातचीत की ।

बाबा ! बचपन में आप क्या करते थे ?

साहब ! सारी उमर यहीं यमुना मैया की गोद में ही बीता है । छोटी उमर से ही नाव चला कर, मछली मार कर पेट पाल रहा हूँ । बाल-बच्चे शहर में मेहनत-मजदूरी का काम करते हैं ।

क्यों ? बाल-बच्चों को यमुना मैया की गोद में काम-धाम नहीं मिलता क्या ?

काम-धाम क्या, हमारे बाप-दादे सभी यमुना में मछली मारते थे । लेकिन मछलियाँ पहले जितनी अब मिलती कहीं हैं ?

मछलियाँ कम होने के क्या कारण हो सकते हैं ?

कारण तो कोई खास मालूम नहीं । सुना है शहरों की गन्दगी में तमाम जहरीली चीजें मिली होती हैं । जब यही जहरीला पानी नदियों में मिलता है तो उसका मछलियों पर खराब असर पड़ता है ।

क्या आपको यमुना के पानी में भी कोई अन्तर मालूम पड़ता है ?

हाँ, कुछ अन्तर तो लग ही रहा है । यहाँ नहाने

आने वालों से ही पूछिये । अब पहले जैसा नीला चमकीला पानी कहाँ ? किनारे के पानी में कालापन बढ़ा है । पानी कुछ कम भी हुआ है । सुजावन देव के बगल यमुना के बीच पहले द्वीप नहीं उभरता था, इधर कई वर्षों से कई एकड़ का द्वीप उभर आता है ।

यमुना में पाये जाने वाले अन्य जल-जन्तुओं में आपको क्या फर्क दीखता है ?

मछली के अलावा अब और कोई जल-जीव तो यहाँ रह नहीं गये हैं । हमारे बचपन में तो यहाँ घड़ियाल तक पाये जाते थे । भैंस के बच्चे जैसे जल-जन्तु सुईस तो खूब थे । कछुये तो वेशुमार थे । मुर्दाघाट पर पहले जब कोई लाश आती थी तो तमाम जल-जन्तु कछुये आदि सिर निकाल-निकाल कर लाश का स्वागत करते थे । अब तो लाशें भी बिना खायी ही रह जाती हैं । गंदगी नहीं बढ़ेगी तो क्या होगा ?

यहाँ यमुना के किनारों के पेड़-पौधों और हरियाली में क्या फर्क आया है ?

अब हरियाली तो सपने की बात हो गयी । देख रहे हैं न, मीलों दूर-दूर तक के कगार सब सूने-सूने लग रहे हैं । इक्की-दुक्की झाड़ियाँ ही दिखती हैं । हमारे बचपन में तो दोनों किनारों पर जंगल जैसा सीन था । तमाम जानवर रहा करते थे—हरिण, नीलगाय, सियार, खरहा, सुअर आदि । सब पेड़-पौधे, जानवरों को आदमी ने ही ख़तम किया । लगता है । कुछ दिनों बाद धरती पर आदमी ही आदमी रहेगा । □

गाँवों का पर्यावरण

अभिषेक तिवारी

अर्थशास्त्र विभाग, इलाहाबाद डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

साधारण भाषा में पर्यावरण को दो भागों में विभाजित किया जाता है, जिसको जैविक पर्यावरण तथा भौतिक पर्यावरण कहते हैं । जैविक पर्यावरण के अन्तर्गत सभी प्रकार की वनस्पति और जीवधारियों

को सम्मिलित किया जाता है, जब कि भौतिक पर्यावरण मृदा, जल, भूस्थलाकृतियों आदि से सम्बन्धित होता है । दोनों प्रकार के पर्यावरण एक दूसरे पर क्रिया एवं प्रतिक्रिया करते रहते हैं और इसमें एक

विशेष प्रकार का सामंजस्य रहता है। यदि किसी मानवीय क्रिया के परिणामस्वरूप इस सामंजस्य में कोई व्यवधान उत्पन्न होता है तो पर्यावरण में अवनति होने लगती है और मनुष्यों का जीवन खतरे में पड़ जाता है। यही कारण है कि वैज्ञानिकों का ध्यान पर्यावरण की अवनति, जिसे व्यवहार में प्रदूषण कहा जाता है, की ओर केन्द्रित रहता है। प्रदूषण की इस समस्या के समाधान के लिये औद्योगीकरण के दुष्प्रभावों से प्रकृति की रक्षा करने हेतु उपाय खोजने के प्रयास किये जाते हैं। पिछले वर्ष भोपाल में एक कारखाने से मिक गैस के रिसाव से उत्पन्न त्रासदी और हाल ही में नई दिल्ली में हुए गैस रिसाव ने औद्योगीकरण से जुड़े पर्यावरण प्रदूषण के खतरों के प्रति वैज्ञानिकों के साथ-साथ जनसाधारण को भी सूचित कर दिया है।

परन्तु जब हम ग्रामीण पर्यावरण पर विचार करते हैं तो हमारे मन में हरे-भरे खेतों और प्रदूषणरहित वातावरण का चित्र बनता है। औद्योगीकरण और उससे जुड़े हुए खतरे ग्रामीण क्षेत्रों से बहुत दूर महानगरों पर मँडरा रहे हैं और प्रगति की धारा से अछूते हमारे गाँव इन समस्याओं से मुक्त हैं। वास्तव में ग्रामीण क्षेत्र में जैविक और भौतिक पर्यावरण का सामंजस्य काफी हद तक बना हुआ है और वहाँ इसे बिगाड़ने वाली मानवीय क्रियाएँ प्रायः नहीं होती हैं। परन्तु वहाँ पर्यावरण का एक नया पक्ष विद्यमान है जो जन-जीवन को कठिन बना रहा है। यह पक्ष है निर्मित पर्यावरण का जो वैज्ञानिकों और विशेषज्ञों द्वारा उपेक्षित है। निर्मित पर्यावरण के अन्तर्गत जीवन का आधार व मानवीय वस्तियाँ सम्मिलित होती हैं। स्पष्ट है कि पर्यावरण का यह पक्ष मानव निर्मित होता है और इसका सीधा प्रभाव इन वस्तियों में जीवन गुजारने वाले व्यक्तियों पर पड़ता है। यदि इन वस्तियों में गन्दगी है, स्वास्थ्य-रक्षा की सुविधायें उपलब्ध नहीं हैं, शुद्ध पीने का पानी प्राप्य नहीं है और शिक्षा की व्यवस्था विद्यमान नहीं है तो वहाँ के निवासी एक अच्छी जिन्दगी व्यतीत नहीं कर सकते हैं। इन सभी सुविधाओं की व्यवस्था मनुष्य स्वयं करने

में सक्षम है और इनके माध्यम से वहाँ के निवासियों को बेहतर जिन्दगी जीने का अवसर प्रदान किया जा सकता है। इन सब व्यवस्थाओं को निर्मित पर्यावरण का नाम दिया गया है।

अतः ग्रामीण क्षेत्रों में पर्यावरण की जो भी समस्या है वह मुख्य रूप से निर्मित पर्यावरण से जुड़ी हुई है। परन्तु प्रदूषण की समस्या की तुलना में ग्रामीण पर्यावरण की माप करना एक कठिन कार्य है। प्रदूषण की स्थिति ज्ञात करने के लिए वैज्ञानिक अपने अत्याधुनिक यंत्रों तथा रसायनों की सहायता से वातावरण में विद्यमान हानिकारक गैसों की उपस्थिति, जल में विद्यमान कीटाणुओं की संख्या, अन्य हानिप्रद द्रव्यों आदि की उपस्थिति ज्ञात कर लेते हैं। परन्तु ग्रामीण पर्यावरण की स्थिति का अनुमान लगाने के लिए कोई सर्वमान्य और कारगर तरीका अभी तक विकसित नहीं किया जा सका है। सामान्य रूप में बेहतर मानव जीवन के लिए जो सुविधायें प्राप्त होनी चाहिए उनकी उपलब्धि को ही मापदण्ड बनाया जा सकता है। परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में जहाँ पीने का शुद्ध पानी भी उपलब्ध न होता हो, जहाँ गन्दगी का साम्राज्य हो और जहाँ मनुष्य पशुओं के साथ पशु जैसा जीवन बिताने को बाध्य हो वहाँ उन अनिवार्य आवश्यकताओं की उपलब्धि ही बेहतर जीवन का मापदण्ड बन जाती है जिन सुविधाओं को हम शहरवासी सुविधा के रूप में मानते ही नहीं हैं, जैसे सफाई, पेय-जल, सड़क, परिवहन, मकान आदि। अतः ग्रामीण पर्यावरण की माप के लिए निम्नलिखित सूचकों को आधार बनाया जा सकता है—

क) स्वच्छता, (ख) शुद्ध पेय-जल तथा (ग) आवास।

1981 की जनगणना के अनुसार भारत के गाँवों में 50 करोड़ लोग रहते हैं—विश्व की आबादी का दसवाँ भाग।

जब हम इन सूचकों के आधार पर अपने देश के ग्रामीण पर्यावरण की स्थिति पर विचार करते हैं तो यह ज्ञात होता है कि मूलतः गाँवों का देश होते हुए

भी यहाँ के 593000 गाँवों में पर्यावरण की स्थिति असन्तोषजनक है।

(क) **स्वच्छता**—देश के गाँवों में स्वच्छता, स्वप्न बन गयी है। सरकारी अनुमान के आधार पर केवल 2% गाँववालों को पर्याप्त सुविधा उपलब्ध है और 2000 ई० तक केवल 25% ग्रामीणों को सफाई सुविधा दी जा सकेगी। प्रायः पूरे देश के गाँवों में शौचालय नहीं हैं जिसके कारण ग्रामवासी मल-मूत्र का त्याग खुले मैदानों में, सड़कों के किनारे अथवा तालाबों के निकट करते हैं। परिणामस्वरूप न केवल गन्दगी फैलती है बल्कि जल-स्रोतों का प्रदूषण भी होता है। यही कारण है कि ग्रामों में अभी भी हैजा, पेचिश, टायफाइड जैसी बीमारियाँ बहुतायत में पाई जाती हैं। गाँवों में कूड़ा तथा अन्य व्यर्थ पदार्थों को फेंकने की कोई उचित व्यवस्था नहीं होती है और घरों के बाहर तथा रास्तों के किनारे कूड़ों के ढेर लगे रहते हैं। इन ढेरों में मक्खियों, मच्छरों तथा कीटाणुओं को आश्रम प्राप्त हो जाता है। बरसात के मौसम में स्थिति और अधिक दयनीय हो जाती है क्योंकि नालियों की कोई व्यवस्था न होने के कारण बरसात का पानी घरों से निकले गन्दे पानी तथा कूड़े के ढेरों के साथ बहता हुआ न केवल सारे क्षेत्र को गन्दा कर देता है बल्कि तालाबों तथा नदियों के पानी को भी दूषित करता है।

(ख) **पेय जल आपूर्ति**—शुद्ध पेय-जल जीवन के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है। हमारे गाँवों में पेय-जल के मुख्य स्रोत नल, कुआँ, नलकूप, तालाब, नदी आदि हैं। इन सब स्रोतों में से तालाब, खुले कुएँ आदि का जल प्रायः प्रदूषित होता है। इनमें मेंड़ इत्यादि न होने के कारण वर्षा का जल, गन्दा जल तथा कूड़ा जैसे प्रदूषण पैदा करने वाली चीजें मिलती रहती हैं। साथ-ही-साथ मनुष्यों व पशुओं के नहाने, साबुन से कपड़े धोने आदि के कारण भी जल दूषित हो जाता है। ऐसा माना जाता है कि भूमिगत जल जब तक बाहरी पदार्थों से दूषित नहीं होता तब तक शुद्ध रहता है परन्तु भूमिगत जल रासायनिक खाद, सूक्ष्मजीवाणुओं, कीटनाशियों आदि से प्रदूषित हो जाता है। विशेष

रूप से उन क्षेत्रों में जहाँ जलस्तर काफी ऊपर होता है वहाँ यह समस्या काफी गम्भीर होती है। इसके साथ-साथ भूमिगत जल में विभिन्न धातुओं के आयनों जैसे लोहा और मैंगनीज आयनों की अधिकता पानी को हानिप्रद बना देती है। इसी प्रकार नहरों का जल यदि पीने के लिये प्रयोग किया जाता है, जो प्लो-राइड, नाइट्रेट तथा नाइट्राइट की अधिकता के कारण स्वास्थ्य को हानि पहुँचाता है। नदियों का जल तो मुख्य रूप से औद्योगिक अपशिष्ट के कारण अत्यधिक प्रदूषित होता है। अतः मानव उपभोग के लिये जो सर्वाधिक सुरक्षित पेय-जल है वह नल का पानी है और पूरे देश के ग्रामीण क्षेत्र में केवल 75000 गाँवों में यह सुविधा उपलब्ध है जब कि 1,73,000 गाँव ऐसे हैं जहाँ 3 किलोमीटर के घेरे में पेय-जल का कोई स्रोत नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय पेय-जल आपूर्ति तथा स्वच्छता दशक के अन्तर्गत 1990 तक समूची ग्रामीण जनता को स्वच्छ जल प्रदान करने का लक्ष्य है किन्तु भारत में शायद ही यह पूरा हो पाये।

(ग) **आवास**—आवास एक अनिवार्य मानवीय आवश्यकता है और इसकी प्रकृति ग्रामीण पर्यावरण को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है। ग्रामीण भारत में आवास की समस्या मात्रात्मक होने के साथ-साथ गुणात्मक भी है। यह अनुमान किया जाता है कि ग्रामीण क्षेत्र में डेढ़ करोड़ से भी अधिक मकानों की आवश्यकता है। जो मकान हैं उनकी स्थिति असन्तोषजनक है क्योंकि वे बिना किसी व्यवस्था के एक थोड़े से क्षेत्र में केन्द्रित होते हैं। इन मकानों में न तो रोशनदानों की व्यवस्था होती है और न आँगन होते हैं, न स्नाना-गार, न रसोईघर आदि का निर्माण किया जाता है। मकानों में जो कमरे होते हैं प्रायः उनका प्रयोग बर-सात तथा सदियों में भंडार घर के रूप में किया जाता है और रहने के लिये केवल आँगन या सहन ही शेष बचता है जहाँ पशु भी रहते हैं, गोबर भी एकत्रित किया जाता है, उपले भी पाथे जाते हैं एवं मनुष्य भी रहते हैं। मकानों के कच्चा होने के कारण जो स्थिति होती है उसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है।

इतना ही नहीं, जो मकान 4 या 5 सदस्यों के लिये उपयुक्त होते हैं उनमें प्रायः दस से अधिक व्यक्ति रहते हैं। मकानों के बनाते समय एक टोले से दूसरे तक जाने की सुविधा, गन्दे पानी की निकास-नाली की आवश्यकता पड़ेगी। घरों को मिट्टी तथा बाँस से बनाने पर बल देना होगा। ईंट और सीमेंट महँगी भवन सामग्रियाँ सिद्ध होंगी। इक्कीसवीं शती में ईंट और सीमेंट को भवन सामग्री के रूप में प्रयुक्त करने की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

निष्कर्ष—ग्रामीण पर्यावरण की स्थिति में सुधार करने के लिये निर्मित पर्यावरण पर विशेष ध्यान देना होगा। इसके लिये स्वच्छता की सुविधाओं, शुद्ध पेय-जल आपूर्ति, सुधरे हुए आवास, परिवहन व्यवस्था तथा स्वास्थ्य सेवाओं की उपलब्धि गाँवों में बढ़ाने के लिये योजनाबद्ध प्रयास करने होंगे। यह हर्ष का विषय है कि भारत ने वर्ष 1980 से “पेय-जल एवं स्वच्छता दशक” लागू किया है, जिसके अन्तर्गत 1990 तक

सभी गाँवों में शुद्ध पेय-जल तथा आधुनिक स्वच्छता सुविधायें उपलब्ध कराने का लक्ष्य रखा गया है। इसी प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में हमारे देश में भी “सन् 2000 तक सबके लिये स्वास्थ्य” योजना चलाई जा रही है। इन कार्यक्रमों द्वारा, आशा की जाती है कि सन् 2001 तक ग्रामीण पर्यावरण में बांछित सुधार हो सकेगा। परन्तु इस दिशा में वैज्ञानिकों और तकनीकी विशेषज्ञों को अपनी विशेष भूमिका का निर्वाह करना होगा। इनकी भूमिका प्रदूषण को रोकने के उपायों की ही नहीं होगी बल्कि सरल, सस्ते और सुरक्षित, स्वच्छ, सुविधाजनक मकानों के डिजाइन विकसित करने तथा शुद्ध पेय-जल की आपूर्ति सुनिश्चित करने के कम खर्चिले तरीकों को खोज निकालने की होगी। यह निःसन्देह एक चुनौतीपूर्ण कार्य है और हमारे वैज्ञानिकों को इसे उत्साह के साथ स्वीकार करना होगा ताकि सन् 2001 तक देश में श्रेष्ठ ग्रामीण पर्यावरण का विकास किया जा सके। □

पर्यावरण का अलक्षित प्रदूषण

अशुतोष मिश्र

25 अशोक नगर, इलाहाबाद

पर्यावरण में तीव्र गति से बढ़ता प्रदूषण आज हमारे समक्ष काल देवता की भाँति आ खड़ा हुआ है। स्थल, वायु, जल किसी को भी हम सुरक्षित नहीं कह सकते। परन्तु इतना अवश्य है कि इन प्रदूषणों के कारणों को हम प्रत्यक्ष रूप में देख सकते हैं और इसलिए उनसे बचने का प्रयत्न आसानी से कर सकते हैं। पर खेद की बात तो यह है कि आज प्रदूषण के क्षेत्र में एक नया आयाम आ जुड़ा है जिसकी मुख्य विशेषता है उसकी अप्रत्यक्षता। यानी कि आप उससे लगातार प्रभावित होते रहते हैं यद्यपि उसका स्रोत आप आसानी से ढूँढ़ नहीं सकते। इस प्रकार का प्रदूषण अपेक्षाकृत क्षीण होता है, परन्तु यह अधिक

हानिकारक भी हो सकता है। अभी तक हमने इस पर ध्यान नहीं दिया है पर चोटी के वैज्ञानिकों ने आशंका व्यक्त की है कि भविष्य में प्रदूषण का शायद सबसे प्रबल रूप यही हो।

कंप्यूटर—समूचे विश्व में कंप्यूटर क्रांति की लहर तो आ गई है परन्तु वर्तमान शोधकार्यों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि कंप्यूटर पर काम करना विशेषकर महिलाओं के लिए घातक सिद्ध होगा। आजकल दफ्तरों वायुसेवा कार्यालयों तथा अनेक उद्योगों में कंप्यूटर पर महिलाओं को कार्य करते देखा जाता है।

“माइक्रोवेव न्यूज़” के नवम्बर 1981 के अंक में

अमेरिका व कनाडा में चार ऐसे महिला दलों का विवरण था जिसमें कंप्यूटर पर कार्य करने वाली महिलाओं के नवजात शिशुओं में अनेक विकृतियाँ पाई गईं। पहली घटना कनाडा के दैनिक “टोरन्टो स्टार” की महिला कर्मचारियों के साथ घटित हुई जिसमें सात में से चार बच्चों में जन्मदोष पाए गए। अमेरिका के मेरिएटा प्रान्त से रिपोर्ट के अनुसार 15 में से सात बच्चों में दोष थे। 1979 व 1980 के बीच डल्लास के सुपरमार्केट में काम करने वाली 12 महिलाओं में से आठ ने विकृत शिशुओं को जन्म दिया। मॉन्ट्रियल हवाई अड्डे पर कार्यरत 13 महिलाओं में से सात के साथ यही घटना घटित हुई। इस प्रकार लगभग 50 प्रतिशत महिलाएँ प्रभावित हुईं। ये सभी महिलाएँ कंप्यूटर टर्मिनलों पर कार्य करती थीं।

हम अभी निश्चित रूप से यह बात नहीं कह सकते कि यह सब कंप्यूटरों के कारण ही था, परन्तु इतना अवश्य है कि कुछ हद तक कंप्यूटर टर्मिनल इसके लिए जिम्मेदार हैं।

कंप्यूटरों पर अधिक समय तक कार्य करने से एक विचित्र भ्रम उत्पन्न होता है जिसे “मैक कॉलो प्रभाव” (Mc Collough Effect) कहते हैं। कंप्यूटर स्क्रीन पर काली पृष्ठभूमि पर हरे अक्षर व आकृतियाँ ऐसा प्रभाव उत्पन्न करती हैं कि सामान्य सफेद अक्षर व आकृतियाँ हल्की गुलाबी सी प्रतीत होती हैं। कंप्यूटर पर बहुत देर तक कार्य करने से यह प्रभाव और भी अधिक होता है—यहाँ तक कि हफ्तों तक यह रह सकता है। मनोवैज्ञानिक भी इस तथ्य से भली भाँति परिचित हैं। मैक कॉलो प्रभाव आँख के “कॉर्टिकल न्यूरानो” के कारण होता है, जो कि विभिन्न रंग व आकृतियों से प्रभावित होते हैं। शोधकर्त्ताओं के अनुसार कंप्यूटरों के बढ़ते उपयोग से यह प्रभाव बहुत अनुभव किया जाने लगेगा।

टेलिविजन व वीडियो—ये भी कंप्यूटर के सामन ही होते हैं क्योंकि इनका स्क्रीन वही होता है जो कंप्यूटर का। परन्तु इनकी दो भिन्नताएँ, कंप्यूटर से

होने वाले दुष्प्रभावों से इन्हें भिन्न करती हैं—

(i) कंप्यूटर पर कार्य निकट बैठ कर किया जाता है जबकि टेलिविजन व वीडियो हम दूर बैठकर देखते हैं। (ii) कंप्यूटर पर उभरने वाली आकृतियों में मुख्यतः अक्षर होते हैं, जबकि टेलिविजन पर मुख्यतः बड़े आकार के चित्र।

इसलिए टेलिविजन से निकलने वाला विकिरण आँखों के लिए विशेषरूप से हानिकारक होता है। टी० वी० व वीडियो दो प्रकार से आँखों को प्रभावित कर सकते हैं—(i) अधिक समय तक देखने से आँखों पर जोर, (ii) विकिरण (radiation) द्वारा विकिरण का कारण स्क्रीन पर टकराने वाले इलेक्ट्रॉन होते हैं। चूँकि स्क्रीन पर कुछ विशेष स्फुरदीप्त (fluorescent) पदार्थ जैसे Zns की परत होती है जो कि इलेक्ट्रॉनों के संपर्क में प्रदीप्ति उत्पन्न करती है। इस प्रकार का विकिरण रंगीन टी० वी० सेटों में अधिक होता है।

ट्यूबलाइट—ऐसा विश्वास है कि गोरे लोगों को सूर्य की परावैगनी (ultraviolet) किरणों द्वारा एक प्रकार का कैंसर (malignant melanoma) होता है। परन्तु यह तथ्य अभी पूर्णतया स्थापित नहीं हो पाया है क्योंकि इस रोग से प्रभावित अधिकतर व्यक्ति दफ्तरों में कामकाज करने वाले थे। अमेरिका व आस्ट्रेलिया के संयुक्त शोधकार्य से यह बात सामने आई है कि इसके पीछे प्रतिदीप्त प्रकाश (fluorescent light या Tube light) का हाथ हो सकता है। ट्यूबलाइट ने प्रकाश से अनेक प्रकाशवेधी अभिक्रियाएँ त्वचा पर होती हैं जिनसे अनेक रोग हो सकते हैं। शोध के समय यह विचित्र बात भी देखी गई है कि घर पर ट्यूबलाइट से इस प्रकार का कोई अधिक प्रभाव नहीं पड़ता। सूर्य के प्रकाश से त्वचा कुछ अधिक मोटी हो जाती है जिससे कि कुछ सुरक्षा भी मिल सकती है। विदेशों में अधिक देर तक दफ्तर में कार्य करने वाले पुरुषों में यह रोग घर से बाहर रहने वाली महिलाओं की अपेक्षा अधिक होता है। यह भी कारण हो सकता है कि यह रोग शरीर के उन भागों में अधिक होता

है जो अधिक ढके रहते हैं। गला व मुँह इससे अधिक प्रभावित नहीं होते क्योंकि बाहर सूर्य का अधिक प्रकाश इन हिस्सों को मिलता है। यह रोग पिछले 30 वर्षों से वृद्धि पर है और भविष्य में भी चिन्ता का कारण बन सकता है।

आयन प्रभाव—शोधकार्यों से यह निष्कर्ष निकाला गया है कि वायुमण्डल में आयनों की संख्या मनुष्य के व्यवहार व उसके स्वास्थ्य को बहुत हद तक प्रभावित करती है। यदि आयनों की संख्या घट जाए तो अनेक प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो सकती हैं जैसे सिर दर्द, वेहोशी और काम में अरुचि। सर्रे विश्वविद्यालय के डॉ॰ हाकिन्स के शोध से यह पता चलता है कि ब्रिटेन में अच्छे सुहावने मौसम के दिनों में आयनों की संख्या प्रति घन सेंटीमीटर में 1000 के लगभग होती है। शहरों में यह लगभग 500 हो जाती है। कुछ दफ्तरों में आयनों की संख्या शून्य भी हो सकती है। प्रयोग के दौरान डॉ॰ हाकिन्स ने इन दफ्तरों में आयनाइज़रों का प्रयोग किया जो लगभग 8000 से 4000 आयन प्रति घन सेंटीमीटर का उत्पादन करते

थे। इस प्रयोग के परिणाम अत्यन्त चकित कर देने वाले थे। सिरदर्द अनुभव करने वाले 15 से 25 प्रतिशत कर्मचारियों की संख्या घटकर 6 प्रतिशत रह गई साथ ही साथ काम करने में उनका मन भी लगने लगा। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि दफ्तरों में आयनों की कम संख्या का कारण वातानुकूलन यंत्र थे। वातानुकूलन यंत्रों में वायु पतली नलिकाओं में से खींची जाती है जिससे ऋणायन इन धातु की नलिकाओं से चिपक जाते हैं और वायु में आयनों की संख्या बहुत ही कम हो जाती है। आयनाइज़रों का प्रयोग करने से अनेक परिस्थितियाँ जैसे ज्वर (fever), दमा (asthma), माइग्रेन (migraine) व ब्रांकाइटिस (bronchitis) रोकी जा सकती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी सुख-सुविधा के सामान, जिन्हें हम मनोरंजन के लिए प्रयोग में लाते हैं, आज हमारे लिए सिरदर्द बनते जा रहें हैं, और हम उनसे अनभिज्ञ हैं। देखें भविष्य में यह इलेक्ट्रॉनिकीय प्रदूषण किस हद तक हमारे जीवन में परिवर्तन लाता है। □

प्रदूषण और भविष्यवाणी

अम्बरीष तिवारी

शोध छात्र, कृषि रसायन संभाग, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

नये वर्ष के आने पर, चुनाव होने पर या किसी ऐसे कार्य से सम्बन्धित जिनमें जन साधारण की रुचि होती है, समाचार पत्रों और पत्रिकाओं में भविष्यवाणियाँ छपती हैं। इनमें से कुछ सत्य सिद्ध होती हैं और कुछ झूठ। बहुधा ये भविष्यवाणियाँ अपने क्षेत्र के विशेषज्ञों के द्वारा की जाती हैं, फिर भी ये गलत हो जाती हैं। आखिर किस कारण से गणनाकारों की गणना में गलती हो जाती है? इस प्रश्न को लेकर एक सर्वेक्षण किया गया। इस सर्वेक्षण में कुछ गणनाकारों ने भविष्यवाणियों के सत्य न सिद्ध होने का

मुख्य कारण 'पर्यावरण प्रदूषण' बताया। किन्तु प्रश्न यह उठता है कि भविष्यवाणियों और प्रदूषण का परस्पर क्या सम्बन्ध हो सकता है? कानपुर के भौतिकीविद् डॉ॰ बाबुल के अनुसार—“जब हम किसी घटना के अमुक क्षेत्र में अमुक समय पर घटने की सम्भावना व्यक्त करते हैं, तो घनी वस्तियों विशेषतः औद्योगिक क्षेत्रों में उस घटना का प्रभाव कुछ समय पहले, या कुछ समय बाद नहीं पड़ता है जबकि आस-पास के ग्रामीण या खुले वातावरण में उस घटना का स्पष्ट प्रभाव दिखाई पड़ता है।” उन्होंने आगे

बताया, “नगरीय और ग्रामीण पर्यावरण का अन्तर ही एकमात्र कारण है जो घटनाओं के प्रभाव को क्षीण या अधिक स्पष्ट कर देता है।”

मद्रास के विद्वान प्रो० सुन्दरेसन ने बताया कि दिल्ली, मद्रास, कलकत्ता, बम्बई, बंगलोर, लुधियाना आदि बड़े औद्योगिक केन्द्रों में प्रायः अधिक प्रदूषण पाया जाता है। यही कारण है कि इन क्षेत्रों से संबंधित भविष्यवाणियाँ प्रायः असत्य हो जाती हैं और इन क्षेत्रों के निवासियों का विश्वास इन भविष्यवाणियों से उठता जा रहा है। ये लोग भविष्यवाणियों को ‘ढकोसला’ और ‘ज्योतिषियों द्वारा जनता को मूर्ख बनाना’ मानते हैं। इनका मत है कि ये भविष्यवाणियाँ केवल ग्रामीणों और अंधविश्वासी लोगों को ही प्रभावित कर सकती हैं।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के भौतिकी विभाग के इशान मेहता ने भविष्यवाणियों पर प्रदूषण के प्रभाव की विस्तार से विवेचना की है। उनके अनुसार वैज्ञानिक घोषणायें जैसे मौसम-सम्बन्धी सूचनायें जो कि पर्याप्त कारणों के बाद घोषित की जाती हैं, अधिकतर पूर्णतः सत्य सिद्ध नहीं होती हैं। वायु प्रदूषण को दोष देते हुए उन्होंने कहा कि वातावरण में नक्षत्रों और गणनाकारों या नक्षत्रों और उससे प्रभावित होने वाले क्षेत्र के मध्य एक धूम्र सतह (Fume layer) अक्सर बन जाती है। यह सतह नक्षत्र की सही स्थिति, गति और प्रभावित क्षेत्र के बारे में भ्रम पैदा कर देती है। यही कारण है कि गणनाकारों की गणना के अनुसार जिस नक्षत्र को उसकी गति के अनुसार, जिस स्थान पर एक निश्चित प्रभाव डालना चाहिये, वह नहीं डाल पाता या अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव डालता है और प्रभाव के स्थान में तथा समय में भी परिवर्तन पाया जा सकता है।

लखनऊ विश्वविद्यालय की डॉ० अर्चना श्रीवास्तव ने लिखा है कि अधिकतर प्रदूषित क्षेत्रों के निवासी प्रदूषण को भविष्यवाणियों के सत्य न सिद्ध होने का कारण न मानकर, ज्योतिषियों की ‘मनगढ़न्त’ कल्पना

मानते हैं। उनके अनुसार भविष्यवक्ताओं को अपनी झूठी बातों के सत्य न सिद्ध होने का पर्याप्त बहाना मिल गया है।

प्रो० विनोद नागर ने लिखा है कि यदि प्रदूषण और नक्षत्रों के मध्य समुचित तालमेल बैठाया जाये तो किसी देश का विकास या विनाश किया जा सकता है। प्रो० नागर ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा है कि प्रत्येक नक्षत्र का अपना अलग प्रभाव होता है जो निश्चित समय के लिये निश्चित क्षेत्र पर पड़ता है। उस क्षेत्र में आने वाले देश की उन्नति अच्छे नक्षत्रों की अच्छी स्थिति से होती है और बुरे नक्षत्रों की बुरी स्थिति से अवनति होती है। बुरे नक्षत्रों के बाद प्रायः अच्छे नक्षत्र अपना प्रभाव डालते हैं और यदि उस क्षेत्र का पर्यावरण अत्यधिक प्रदूषित कर दिया जाये अर्थात् नक्षत्रों और उस क्षेत्र के मध्य एक मोटी धूम्र सतह स्थापित कर दी जाये तो देश पर अच्छे नक्षत्रों का प्रभाव धूमिल किया जा सकता है। इस प्रकार वह देश कमजोर होता चला जायेगा और प्रकृति को दोष दिया जायेगा। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि भविष्य में प्रदूषण का प्रयोग एक हथियार के रूप में हो और ऐसा भी संभव है कि यह नाभिकीय अस्त्रों की अपेक्षा अधिक विध्वंसक रूप में सामने आये।

इस प्रकार यह सत्य प्रतीत होता है कि ‘प्रदूषण’ भविष्यवाणियों के झूठ या गलत सिद्ध होने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है। यदि इस प्रदूषण रूपी दानव से किसी प्रकार मुक्ति मिल जाये तो बहुत संभव है कि हमारे भीतर भविष्यवाणी की वही क्षमता आ सके जो हमारे पूर्वजों में थी। प्राचीनकाल में तो एक किसान भी आकाश देख कर यह अनुमान लगा लेता था कि अगले दिन का मौसम कैसा होगा और उसे क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी होंगी। परन्तु आज ‘उपग्रहों’ के माध्यम से भी हमें कितनी सही सूचनायें प्राप्त हो पाती हैं, यह किसी से छिपा नहीं है। □

प्रकृति में जीवों की भोजन शृंखला

प्रेमानन्द चन्दोला

ई-1, साकेत, एम० आई० जी० प्लैट, नई दिल्ली-110017

जैसा कि सभी जानते हैं, भोजन शरीर में लिया या सोखा जाने वाला वह पोषक पदार्थ है, जो शरीर की वृद्धि, मरम्मत, विभिन्न कार्यों और महत्वपूर्ण प्रक्रियाओं के लिए परम आवश्यक है। इसके बिना शरीर बिलकुल नहीं चल सकता। जीव इसके बिना जिन्दा रह ही नहीं सकते। भोजन या खाद्य पदार्थों से ही जीवों को ऊर्जा (एनर्जी) मिलती है, जो शरीर की विविध जैविक क्रियाओं के लिए बहुत जरूरी और महत्वपूर्ण है। इस ऊर्जा के बलवृत्ते पर ही जीवों की जिन्दगी का चरखा चलता है।

मूल रूप से सारी ऊर्जा का एकमात्र स्रोत सूर्य और केवल सूर्य ही है। लेकिन हरे पौधे के पर्णहरित (क्लोरोफिल) में ही वह अनुद्वी क्षमता है जो इस ऊर्जा को प्रयोग में लाए जाने योग्य भोजन के रूप में बदल सकता है। भोजन के जटिल जाल के माध्यम से ही सभी जीवधारी एक दूसरे पर आश्रित रहते हैं। मुख्यतया वे भोजन, ऊर्जा और ऑक्सीजन के लिए ही एक दूसरे पर निर्भर रहते हैं।

अपनी पोषक प्रक्रियाओं की दृष्टि से प्राणी पौधों से भारी अन्तर रखते हैं। पौधे तो केवल अकार्बनिक पदार्थों यथा पानी, लवणों आदि को ही ग्रहण करते हैं लेकिन प्राणी अकार्बनिक पदार्थों के अलावा सरल या जटिल कार्बनिक पदार्थों को भी ग्रहण करते हैं। मानव तो जैसा कि आप जानते हैं क्या-क्या खा सकता है इसकी कोई सीमा नहीं। प्रकृति में जीवों की भोजन शृंखला को कई तरह से प्रेरित किया जा सकता है अर्थात् जीवों के पहलू से और ऊर्जा के पहलू से भी। मोटेतौर पर इसे इस तरह समझ सकते हैं—“एक समुदाय में अशन या भोजन करने की आदतों के पहलू से परस्पर संबंधित जीवों की वह

शृंखला या क्रम है, जिसमें छोटा जीव उससे बड़े जीव द्वारा खाया जाता है और मंजला बड़ा जीव उससे और भी बड़े जीव द्वारा खाया जाता है।” इस प्रसंग में पुरानी प्रचलित कहावत से बात एकदम समझ में आ जाएगी। बड़ी मछली छोटी मछली को खाती है और बड़ी मछली को उससे भी बड़ी मछली खा जाती है। सार रूप में यही भोजन शृंखला है।

ऊर्जा के पहलू से सार रूप में इसे यूँ व्यक्त कर सकते हैं—“किसी पारिस्थितिक तंत्र में एक जीवधारी से दूसरे जीवधारी में खाद्य ऊर्जा का प्रवाह ही भोजन शृंखला है।”

जीवों की इस भोजन शृंखला में संबंधित जीवों की कई कड़ियाँ होती हैं। स्पष्ट है कि बीच में जितनी कम कड़ियाँ होंगी, ऊर्जा का इस्तेमाल उतना ही ज्यादा होगा और इसके विपरीत जीवों की अधिक कड़ियाँ होने से श्वसन आदि क्रियाओं के परिणाम-स्वरूप ऊर्जा की अधिक हानि होगी। भोजन शृंखला में ऊर्जा का यह प्रवाह रेखीय (लीनियर) प्रकार से होता है यानी एक रेखा में। भोजन शृंखला के प्रत्येक चरण को ऊर्जा का स्तर कहा जाता है। भोजन शृंखला को सरलता से समझने के लिए हम एक उदाहरण देंगे और वह जाना-पहचाना उदाहरण है एक तालाब के पारिस्थितिक तंत्र (इकोसिस्टम) का। इसमें होने वाली भोजन शृंखला इस प्रकार चलती है—शैवाल या सेवार (एल्गी)→जल के छोटे कीट→छोटी मछली→बड़ी मछली→सारस, बगुला आदि मत्स्यभोजी पक्षी। इन सब जीवों से यह भोजन शृंखला पूरी होती है। शैवालों को पानी वाले छोटे कीट खाते हैं, कीटों को छोटी मछलियाँ और छोटी मछलियों को बड़ी मछलियाँ खाती हैं,

और बड़ी मछलियों को सारस, बगुले आदि जलीय पक्षी खाते हैं। इस प्रकार हरे पौधे और अन्य सभी जीव एक शृंखला या कड़ियों द्वारा एक-दूसरे से सम्बन्ध रखते हैं, और इसी को भोजन शृंखला (फूड चेन) कहते हैं। इस शृंखला में एक जीव द्वारा दूसरा जीव प्रभावित होता है। पर्यावरण के सन्दर्भ में लेख का उद्देश्य यही है कि लोगों को अवगत कराया जाए कि पर्यावरण में यदि प्रदूषण होगा और एक जीव अगर विपाक्त होगा तो जो दूसरा जीव उसको खाएगा वह भी विपाक्त होगा। फिर मानव भी तो शाक से लेकर मछली व अन्य प्रकार का मांस खाता है।

प्रकृति में भोजन का संतुलन

केवल हरे पौधों की ही विसात है कि वे अपने भोजन का निर्माण स्वयं कर सकते हैं। मानव नाम का सबसे अधिक विकसित और सभ्य प्राणी भी अपने भोजन का निर्माण स्वयं नहीं कर सकता, वह भी पौधों पर आश्रित है क्योंकि हमारा संपूर्ण भोजन या सारे खाद्य पदार्थ पौधों से ही प्राप्त होते हैं। मानव समेत समस्त प्राणी भोजन के लिए प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हरे पौधों पर ही निर्भर करते हैं।

सरल अकार्बनिक पदार्थों से भोजन बनाने वाले ये हरे पौधे विज्ञान की भाषा में **प्राथमिक उत्पादक** (प्राइमरी प्रोड्यूसर) कहलाते हैं। भोजन शृंखला के मूल आधार ये ही हैं। पौधों पर पोषण प्राप्त करने वाले प्राणी (पादपभोजी) **प्राथमिक उपभोक्ता** (प्राइमरी कंज्यूमर) कहे जाते हैं और मांस खाने वाले प्राणी **द्वितीयक उपभोक्ता** (सेकेन्डरी कंज्यूमर) कहलाते हैं। इसी प्रसंग में अन्य प्रकार के जीव **अपघटनकारी** (डीकम्पोजर) कहलाते हैं, जो मृत या सड़ते-गलते पौधों अथवा जानवरों पर क्रिया करके उन्हें छोटे-छोटे अवयवों में तोड़-फोड़कर उनके इन छोटे अवयवों को पौधों को सुईया कराते हैं। इन उपभोक्ता अपघटनकारी जीवों के उदाहरण हैं जीवाणु (बैक्टीरिया), कवक (फंजाइ) और कुछ प्रोटोजोआ, जो सभी स्तरों पर

अपघटन की क्रिया संपन्न करते हैं और अवांछित मृत जीवों की सफाई भी करते रहते हैं। ऐसा न होता तो यह धरती गंदगी से ही पटी रहती।

पारिस्थितिक तंत्र तथा भोजन शृंखला के अध्ययन से हम यह परिणाम प्राप्त कर सकते हैं कि खाद्य-ऊर्जा का प्रवाह रेखीय प्रकार से होता है किन्तु पर्यावरण में पारिस्थितिक तंत्र विशेषकर जीवों का यह आपसी सम्बन्ध कई तरह से हो सकता है। सामान्य से हटकर मिसाल के तौर पर किसी तालाब के पारिस्थितिक तंत्र में अगर बड़ी मछलियाँ न हुईं तो बगुला या सारस ही छोटी मछली को खा सकता है। इसी तरह जंगल वाले किसी पारिस्थितिक तंत्र में अगर सबसे उत्तम कोटि के उपभोक्ता (जैसे शेर) को द्वितीयक कोटि के उपभोक्ता खाने को नहीं मिलते तो वे पहली कोटि के उपभोक्ता को खा जाएँगे (जैसे खरगोश को)।

पारिस्थितिक तंत्र में खाद्य पदार्थों का जाल जितना बड़ा होगा, पारिस्थितिक तंत्र उतना ही स्थायी होगा। उदाहरण के लिए, किसी पारिस्थितिक तंत्र में अगर पहली कोटि के उपभोक्ताओं की किसी विशेष जाति की (माना खरगोश की) संख्या में कमी होने लगती है तो इसी कोटि के उपभोक्ताओं की (माना चूहों की) संख्या में बढ़ोतरी होने लगती है। इसका परिणाम यह होता है कि दूसरी कोटि के उपभोक्ताओं के लिए भोजन की कमी नहीं होती और पारिस्थितिक तंत्र बना रहता है।

पर्यावरण में जीवों के बने रहने के लिए पारिस्थितिक तंत्र में संतुलन बना रहना बहुत जरूरी है अन्यथा इसके और कई परिणाम देखने को मिलते हैं। अगर पारिस्थितिक तंत्र में पहली कोटि के उपभोक्ता नहीं होंगे तो मुमकिन है कि कुछ समय बाद हरे पौधों यानी उत्पादकों की अधिक वृद्धि और घनी आबादी के कारण वे खुद ही नष्ट हो जाएँ। इसी तरह दूसरी कोटि के उपभोक्ता का भावी जीवन भी पहली कोटि के उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों से बहुत घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है।

पर्यावरण में मानव की भूमिका

पारिस्थितिक तंत्र में मानव की भूमिका बहुत महत्वपूर्ण है और आज के युग में तो और भी ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई है। भोजन शृंखला को ध्यान में रखते हुए अगर हम पारिस्थितिक तंत्र में मानव का स्थान निर्धारित करें तो देखेंगे कि मानव का दर्जा पहली व दूसरी कोटि के उपभोक्ता का है। सभी जानते हैं कि मछली मांसाहारी मानवों का भोजन है, जो कि तालाब वाले पारिस्थितिक तंत्र में भोजन-शृंखला की चोटी पर होती है। वैसे सबसे अधिक ऊर्जा प्राथमिक उत्पादकों यानी हरे पौधों में होती है, इसलिए साग-सब्जियों का आहार करने वाले लोग अधिक ऊर्जा लेते हैं।

देखा जाय तो आधुनिक युग में मानव ने पर्यावरण से बहुत छेड़छाड़ शुरू कर दी है जिससे पारिस्थितिक संतुलन को भी ठेस पहुँची है। इसे ठीक नहीं कहा जा सकता। उसकी यह छेड़छाड़ उसी को महंगी पड़ रही है और अगर सुधार न किया गया तो दिन-ब-दिन यह और भी अधिक महंगी पड़ सकती है। समय पर चेत जाना समझदारी होगी। मानव की छेड़छाड़ से कई प्रकार के पारिस्थितिक तंत्रों को बहुत नुकसान पहुँचा है। मानव अपने स्वार्थ के लिए आए दिन

जंगलों को काटता जा रहा है, जिससे केवल उत्पादन ही नहीं बल्कि सभी कोटि के उपभोक्ता भी नष्ट होते जा रहे हैं। इसका फल यह है कि आज कई प्राणियों तथा पक्षियों की संख्या में कमी आ गई है और कई तो विलोप के कगार पर हैं। पर्यावरण में जो प्राणी बच रहे हैं उसका कारण यह है कि कुदरतन अभी उनका खाद्य जाल काफी बड़ा है और उस पर आँच नहीं आई है। पर आँच आते देर लगती है क्या ?

इन सब बातों के अलावा मानव ने उद्योग स्थापित किए हैं, कारखाने, फैक्टरियाँ व मिलें खोली हैं, जिनसे विषैली गैसों व अन्य हानिकारक पदार्थ निकलकर पर्यावरण को प्रदूषित करते रहते हैं। उद्योगों-फैक्टरियों के बचे-खुचे पदार्थ नदियों में बहा दिए जाते हैं जो उनके परिस्थितिक तंत्र को प्रदूषित व असंतुलित कर देते हैं। यह अपने में एक भारी प्रदूषण गाथा है। छिटपुट रूप में इनका संकेत देने का मकसद यही है कि मानव पर्यावरण संबंधी इन बातों पर ध्यान दे और ध्यान ही न दे बल्कि अपने पर्यावरण को स्वच्छ व स्वस्थ बनाने वाली बातों पर अमल करके पारिस्थितिक तंत्र को शुद्ध व संतुलित बना कर रखे, तभी मानव का कल्याण है। प्रदूषण से पर्यावरण में विष का प्रवाह होता है और यह विष भोजन शृंखला में घुलता जाता है।□

भारतवर्ष की 'व्याघ्र परियोजना', क्यों और किसके लिए !

राम लखन सिंह

निदेशक, व्याघ्र परियोजना भारत सरकार, बीकानेर हाउस, नई दिल्ली—110011

संक्षिप्त रूपरेखा

बाघ हमारा राष्ट्रीय पशु है। सदियों से यह जीव, भारतीय वनों में राज्य करता आ रहा है। विश्व में कोई भी अन्य जीव, अपने भू-भाग के जनमानस से इस सीमा तक नहीं जुड़ा है, जितना बाघ भारतीय जनमानस से। कौन नहीं जानता कि धर्म, जलवायु,

रीति-रिवाज और वेश-भूषा की सीमाओं के आर-पार संपूर्ण भारत की लोक-कथाओं, ललित साहित्य और संस्कृति में रचा-बसा है यह वन्य जीव ! एक ओर बाघ की चर्चा के बिना दादी-नानी की कहानियाँ नहीं पूर्ण होतीं तो दूसरी ओर शक्ति-रूपा दुर्गा की परि-कल्पना भी बाघ के साथ ही पूर्ण हो पाती है। और



चित्र—1. व्याघ्र संरक्षित क्षेत्रों की स्थिति एवं क्षेत्रफल ।

क्र० सं०	नाम	प्रान्त	क्षेत्रफल (वर्ग कि० मी०)
1	कार्बेट टाइगर रिजर्व	(उ० प्र०)	520
2	सरिस्का —,,—	(राजस्थान)	800
3	रणथम्भोर —,,—	(")	392
4	पालामऊ —,,—	(बिहार)	930
5	बक्सा —,,—	(प० बंगाल)	745
6	मानस —,,—	(आसाम)	2840
7	नामदाफा —,,—	(अरुणाचल प्र०)	1808
8	सुन्दरवन —,,—	(प० बं०)	2585
9	सिमलीपाल —,,—	(उड़ीसा)	2750
10	कान्हा —,,—	(म० प्र०)	1945
11	मेलघाट —,,—	(महाराष्ट्र)	1571
12	इन्द्रावती —,,—	(म० प्र०)	2799
13	नागार्जुनसागर —,,—	(आन्ध्र प्र०)	3560
14	बाँदीपुर —,,—	(कर्नाटक)	690
15	पेरियार —,,—	(केरल)	770

अब परिस्थिति विज्ञान के अभ्युदय के बाद भारतीय पर्यावरण का लेखा जोखा रखने वाले प्रकृति-वैज्ञानिकों की भोजन-शृंखला (फूड चेन) भी बाघ के बिना अधूरी रहने लगी है।

इसी बहुपरिचित भारतीय वन्य जीव (रॉयल बंगाल टाइगर) के लुप्तप्राय हो जाने की कभी किसी ने कल्पना भी नहीं की थी। इसीलिए स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद जब हमने अपने राष्ट्र के चहुँमुखी विकास की योजनायें बनायीं तो बाघ उनकी सीमाओं से बाहर रह गया था। क्योंकि बाघ तो भारतीय जंगलों का बादशाह था, उसको किसी की सहायता की क्या आवश्यकता ! इस प्रश्न की ओट में पर्यटन को बढ़ावा देने के नाम पर विदेशी शिकारियों को बाघ के शिकार का निमन्त्रण देने वाली शिकार कम्पनियों का धन्धा फलता-फूलता रहा। इस समय तक लोगों ने ई० पी० गी नामक एक अंग्रेज वन्य जीव प्रेमी द्वारा घोषित यह सूचना ही पढ़ रखी थी कि बीसवीं सदी के प्रारंभ में भारतवर्ष में लगभग चालीस हजार बाघ थे। यह संख्या इतनी अधिक थी कि अंग्रेज बहादुर के साथ-साथ भारतीय रईसों और आला-अफसरों ने भी बाघ के शिकार को 'स्पोर्ट्स' का नाम देकर अंधाधुन्ध शिकार खेलने का शौक पाल लिया था।

संयोग से वर्ष 1969 में वन्य जीवों के संरक्षण के लिए कार्य करने वाली राष्ट्रसंघीय संस्था आई० यू० सी० एन० (इंटरनेशनल यूनियन फॉर कन्जर्वेशन ऑफ नेचर एण्ड नेचुरल रिसोर्सेज) ने अपनी अन्तर्राष्ट्रीय बैठक के लिए नई दिल्ली को चुना। इस अवसर का लाभ उठाकर कैलाश सांखला नामक भारतीय वन्यजीवशास्त्री ने, इस बैठक में 'बाघ की स्थिति' विषय को भी सम्मिलित कराने में सफलता पा ली। अन्ततः जब सांखला को विश्व-मंच पर बाघों की घटती जा रही संख्या के आँकड़े प्रेषित करने का अवसर मिला तो उनकी रिपोर्ट सुनकर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के प्रकृतिशास्त्री सन्न रह गये। सांखला पिछले पन्द्रह वर्षों में बाघ के प्राकृतिक क्षेत्रों में भ्रमण करके उसकी समस्याओं का अध्ययन करते आ रहे थे।

उसके अनुसार उस समय संपूर्ण भारतवर्ष में लगभग ढाई हजार बाघ ही जीवित बचे थे। और उसका प्राकृतवास (हैबीटैट) इस सीमा तक क्षतिग्रस्त हो चुका था कि यदि युद्ध स्तर पर इसे संरक्षण प्रदान करने का अभियान नहीं चलाया गया तो भारतीय चीते की भाँति भारतीय नस्ल का बाघ भी सदैव के लिए विलुप्त हो जायेगा।

श्री सांखला के तथ्यपूर्ण आँकड़ों के प्रकाश में आने का तत्काल लाभ यह हुआ कि आई० यू० सी० एन० ने बाघ को विश्व के लुप्तप्राय वन्य जीवों की अधिकृत पुस्तिका 'रेड बुक' में सम्मिलित कर लिया। इस पुस्तिका में स्थान पा जाने वाले वन्यजीवों को ही अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर, लुप्तप्राय हो जाने वाली नस्ल माना जाता है। इसमें अंकित होते ही, अगले वर्ष 1970 से भारत सरकार ने बाघ के शिकार पर कानूनी रोक लगा दी।

बाघ संरक्षण के दूसरे चरण में अधिकृत रूप से एक अखिल भारतीय 'बाघ गणना' प्रारम्भ करायी गयी। इसका दायित्व सौंपा गया उड़ीसा के विश्व प्रसिद्ध बाघ विशेषज्ञ सरोजराज चौधरी को। चौधरी ने बाघ के पद चिन्हों का रेखाचित्र उतारने वाले एक विशेष यंत्र 'टाइगर ट्रेसर' का आविष्कार पहले ही कर रखा था। उसी की सहायता से सभी प्रान्तों में वर्ष 1972 में वनमार्गों पर उपलब्ध, बाघ के पिछले बायें पैर के रेखाचित्र संकलित कर जब स्पष्टतः विपरीत आकार वाले सभी पदचिन्हों की गणना पूर्ण करायी गयी तो मात्र 1827 बाघ (नर, मादा एवं बच्चे मिलाकर) ही जीवित बचे रहने का प्रमाण मिला।

वन्यजीव-विशेषज्ञ जानते हैं कि मनुष्य की उँगलियों के निशानों की भाँति बाघ के पंजों के निशान भी परस्पर भिन्न होते हैं। इसी सिद्धान्त पर आधारित इस अखिल भारतीय बाघ संगणना से प्राप्त संख्या, कैलाश सांखला द्वारा 1969 में अपने ढंग से आकलित ढाई हजार की संख्या के लगभग बराबर थी इस तथ्य से बाघों की चिन्ताजनक स्थिति की पुष्टि हो गयी।

इसकी अधिकृत जानकारी उपलब्ध होते ही तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने 'बाघ संरक्षण योजना' को स्वीकृति दे दी। इसके लिए 'विश्व वन्य जन्तु कोष' ने भी एक अन्तर्राष्ट्रीय अभियान चलाकर भारत सरकार को दस लाख अमेरिकी डालर की राशि अनुदान स्वरूप उपलब्ध करायी।

भारतवर्ष के राष्ट्रीय पशु बाघ को विनाश के कगार से वापस लाकर एक सुनिश्चित भविष्य उपलब्ध कराने के लिए जो योजना चलायी गयी उसको नाम मिला 'प्रोजेक्ट टाइगर' अर्थात् 'व्याघ्र परियोजना'। इस योजना के अन्तर्गत, चिड़ियाघरों के सीमित घेरे में बाघों के प्रजनन की संकुचित नीति को छोड़कर

वैज्ञानिक आधार पर बाघ को उसके प्राकृतवास (हैबी-टैट) अर्थात् वन क्षेत्रों में प्राकृतिक रूप से रहते हुए, अपने ढंग से फलने-फूलने का अवसर उपलब्ध कराने की नीति अपनायी गयी। इसीलिए भारतीय भूभाग की विविधतापूर्ण जलवायु में उगने वाले बाघ-प्रधान वनों के प्रतिनिधि क्षेत्रों का चयन करके वर्ष 1973 में नौ प्रान्तों में विस्तृत बाघ संरक्षण क्षेत्र (टाइगर रिजर्व) स्थापित किए गये।

इस प्रारंभिक सूची में निम्नलिखित क्षेत्रों में बाघ संरक्षण कार्य प्रारम्भ किया गया। बाद में क्रमशः वर्ष 1978 एवं वर्ष 1982 में दो एवं चार नये क्षेत्र स्थापित किये गये।

वर्ष 1973 में स्थापित बाघ संरक्षण क्षेत्र

क्र० सं०	प्रान्त	'बाघ संरक्षण क्षेत्र' का नाम	बाघ संरक्षण क्षेत्र का क्षेत्रफल
1.	कर्नाटक	बांदीपुर टाइगर रिजर्व	335 वर्ग किलोमीटर
2.	उत्तर प्रदेश	काबेट टाइगर रिजर्व	520 वर्ग कि०मी०
3.	मध्यप्रदेश	कान्हा टाइगर रिजर्व	940 वर्ग कि०मी०
4.	आसाम	मानस टाइगर रिजर्व	391 वर्ग कि०मी०
5.	महाराष्ट्र	मेलघाट टाइगर रिजर्व	311 वर्ग कि०मी०
6.	बिहार	पालामू टाइगर रिजर्व	200 वर्ग कि०मी०
7.	राजस्थान	रणथम्भोर टाइगर रिजर्व	392 वर्ग कि०मी०
8.	उड़ीसा	सिमलीपाल टाइगर रिजर्व	300 वर्ग कि०मी०
9.	पश्चिम बंगाल	सुन्दरवन टाइगर रिजर्व	1330 वर्ग कि०मी०

वर्ष 1978-79 में स्थापित बाघ संरक्षण क्षेत्र

10	केरल	पेरियार टाइगर रिजर्व	777 वर्ग कि०मी०
11	राजस्थान	सरिस्का टाइगर रिजर्व	800 वर्ग कि०मी०

वर्ष 1982-83 में स्थापित बाघ संरक्षण केन्द्र

12	पश्चिम बंगाल	बक्साल टाइगर रिजर्व	745 वर्ग कि०मी०
13	मध्य प्रदेश	इन्द्रावती टाइगर रिजर्व	2799 वर्ग कि०मी०
14	आन्ध्र प्रदेश	नागार्जुन सागर टाइगर रिजर्व	3500 वर्ग कि०मी०
15	अरुणाचल प्रदेश	नामदाफा टाइगर रिजर्व	1808 वर्ग कि०मी०

उपरोक्त बाघ संरक्षण क्षेत्रों की स्थापना से बाघ को स्थायी तौर पर अपने सहयोगियों अर्थात् अन्य भारतीय वन्य जीवों के साथ निर्भय होकर अपने प्राकृतिक घर में रहने का अधिकार मिल गया। इन सभी टाइगर रिजर्व्स में पेड़ों के काटने, नदी-नालों के प्रवाह में बाधा डालने वाली विकास योजनाओं एवं पालतू पशुओं के चराने पर रोक लगा कर, इन वन क्षेत्रों के प्राकृतिक स्वरूप को भावी पीढ़ियों के अध्ययन, शोध एवं उत्क्रमण क्रिया को अबाध रूप से चलाते रहने वाले पवित्र क्षेत्र मान कर संरक्षित किया जा रहा है। यही नहीं, इन क्षेत्रों में बसे हुए वनग्रामों को बाघ संरक्षित क्षेत्र से बाहर बसाने का भी अभियान चलाया गया। इसके लिए समान मात्रा में भूमि उपलब्ध कराते हुए इन वनग्रामों को बाहर बसाने में समस्त आर्थिक सहायता देने का दायित्व भी इसी व्याघ्र परियोजना का अंग बनाया गया है।

अन्ततः 1 अप्रैल 1973 को बीसवीं सदी की इस सर्वाधिक महत्वाकांक्षी वन्यजन्तु संरक्षण योजना 'प्रोजेक्ट टाइगर' का शुभारंभ हुआ। उस समय विश्व में बहुत कम लोगों को विश्वास हो रहा था कि भारतवर्ष जैसी घनी आबादी एवं सीमित साधनों वाला राष्ट्र 'प्रोजेक्ट टाइगर' जैसी तत्काल प्रत्यक्ष लाभ नहीं दे सकने वाली किसी योजना को सफल बना सकेगा। किन्तु आज परिणाम देखकर सभी चकित हैं। उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि बाघ संरक्षण क्षेत्रों की संख्या अगले वर्षों में बढ़ती ही रही है। नये स्थापित क्षेत्रों का क्षेत्रफल पहले की तुलना में अधिक रखा गया है। इसके साथ ही पहले स्थापित टाइगर रिजर्व्स का क्षेत्रफल भी क्रमशः बढ़ाया गया है। आज समस्त 15 बाघ संरक्षण क्षेत्रों का कुल क्षेत्रफल 24, 712 वर्ग किलोमीटर है। यह सम्पूर्ण क्षेत्र अपनी व्यापकता एवं विविधता के कारण भारतीय भूभाग के प्राकृतिक पर्यावरण का प्रतिनिधित्व कर रहा है। इसमें राजस्थान की शुष्क जलवायु में उगने वाले वनों एवं उनमें जन्मे पले वन्य जीवों से लेकर बर्फीली चोटियों वाले अरुणाचल प्रदेश की प्रतिनिधि वनस्पतियाँ एवं

वन्य जीव तक संरक्षित हैं। केरल के सदाबहार वनों एवं महाराष्ट्र के पठारी वनों के साथ ही हिमालय की तराई के पशु-पक्षियों का भी प्रतिनिधित्व 'प्रोजेक्ट टाइगर' के अन्तर्गत हो रहा है। सुन्दरवन के विशिष्ट मैंग्रूव वनों के साथ आसाम के अति घने वनों का समावेश भी इन क्षेत्रों में है। इन सभी में कोई समानता है तो मात्र यही कि भारतीय मूल की बाघ प्रजाति (रायल बंगाल टाइगर) के पदचिह्न, सभी क्षेत्रों में देखने को मिल जाते हैं। बाघ की, विभिन्न परिस्थितियों में जीवित रह सकने की क्षमता देख कर दंग रह जाना पड़ता है। रणथम्भोर में यह मगरमच्छों के साथ संघर्ष करके जी रहा है तो सुन्दरवन में इसे मछली का शिकार करते हुए देखा जा सकता है। मानस में यह पन्द्रह-बीस फीट ऊँची घास में पल रहा है तो कान्हा में छोटी-छोटी झाड़ियों में भी इसने घर बसा रखा है।

'व्याघ्र परियोजना' पर्यावरण संरक्षण की योजना है—

प्रकृति संरक्षण की इस योजना से 'बाघ' का नाम जुड़ा होने के कारण प्रायः लोगों को भ्रम हो जाता है कि मुख्य रूप से यह बाघ प्रजाति को संरक्षण देने की योजना होगी। जबकि यथार्थ यह है कि यह योजना भारतीय पर्यावरण की विविधतापूर्ण जलवायु में उगने वाली वनस्पति एवं उस पर निर्भर दुर्लभ पशु-पक्षियों को एक आत्मनिर्भर (सेल्फ सस्टेनिंग) प्राकृतिक क्षेत्र उपलब्ध कराने की योजना है। जिससे उत्क्रमण की प्रक्रिया में कोई बाधा नहीं आये। इन क्षेत्रों की प्रबन्ध-नीति के पीछे यही वैज्ञानिक चिन्तन निहित है कि किसी भी वन्य जीव (पेड़-पौधे भी वन्य जीव ही हैं) की प्रजाति को विलुप्त होने से बचाने के लिए उन पर्यावरणीय परिस्थितियों को बचाना होगा, जिनमें उस जीव का उत्क्रमण हुआ। बाघ हमारा राष्ट्रीय पशु तो है ही, भारतीय संस्कृति की विविधता में एकता की मूल भावना का प्रतीक भी है। इसीलिए पर्यावरणीय संरक्षण के प्रति व्यापक जनमत जाग्रत करने के उद्देश्य से इस योजना का नाम व्याघ्र

परियोजना' रखना उपयुक्त समझा गया। आप स्वयं ही सोचिए कि उत्तर से दक्षिण और पूरव से पश्चिम तक नाना रूपों में व्याप्त भारतीय पर्यावरण का बाघ से अधिक उपयुक्त प्रतिनिधि कोई अन्य जीव कैसे हो सकता है।

'व्याघ्र परियोजना' के इस बहुआयामी रूप के कारण ही तीन करोड़ रुपये प्रतिवर्ष से भी अधिक व्यय करके अत्यंत उपजाऊ लगभग पच्चीस हजार वर्ग किलोमीटर वन क्षेत्र को राष्ट्र संरक्षित क्षेत्र के रूप में व्यवस्थित किया जा रहा है। इस योजना की सफलता को देख कर आज विश्व के अति आधुनिक राष्ट्र भी भारतीय जनमानस की दूरदर्शिता को सराहने लगे हैं। इस संदर्भ में तत्कालीन भारतीय

प्रधानमंत्री, श्रीमती इन्दिरा गाँधी का यह कथन अत्यंत सार्थक प्रतीत होता है—

“हमें इसकी चिन्ता क्यों है कि बाघ, गैंडा अथवा पौधों की कुछ जातियाँ नष्ट हो रही हैं? जिस पर्यावरण में वन्य जीवों और पौधों की जातियों को संरक्षण देने की क्षमता नहीं हो वह मानवजाति के लिए भी सुरक्षित नहीं माना जा सकता।”

इस सन्दर्भ में देखने से आभास होगा कि यदि बाघ की प्रजाति, प्राकृतिक रूप से संरक्षित है तो स्पष्टतः उसकी सहायक प्रजातियाँ भी संरक्षित बनी रहेंगी। वर्ष 1973 में प्रारंभ की गयी 'बाघ परियोजना' की सफलता का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है।

अखिल भारतीय बाघ संगणना के अनुसार विभिन्न वर्षों में बाघों की संख्या (प्राकृतिक वन क्षेत्रों में)

क्र० सं०	प्रान्त	वर्षवार कुल बाघों की संख्या		
		1972	1979	1984
1.	तमिलनाडु	33	65	97
2.	महाराष्ट्र	160	174	301
3.	केरल	60	134	89
4.	पश्चिम बंगाल	73	296	352
5.	उड़ीसा	142	173	202
6.	कर्नाटक	102	156	202
7.	बिहार	85	110	138
8.	आसाम	147	300	376
9.	राजस्थान	74	79	96
10.	मध्यप्रदेश	457	529	786
11.	उत्तर प्रदेश	262	487	698
12.	आन्ध्र प्रदेश	35	148	164
13.	मेघालय	32	35	125
14.	मनीपुर	1	10	6
15.	त्रिपुरा	7	6	5
16.	मिज़ोरम	—	65	33
17.	नागालैण्ड	80	102	104
18.	अरुणाचल प्रदेश	69	139	219
19.	सिक्किम	—	—	2
20.	गुजरात	8	7	9
योग		1827	3015	4005

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारतीय वनों में बाघों की संख्या में आशातीत वृद्धि हुई है। जिन क्षेत्रों में पहले बाघ के रहने योग्य परिस्थितियाँ उपलब्ध नहीं थीं, वहाँ भी अब बाघ का साम्राज्य फैल गया है। कुछ क्षेत्रों में बाघ की संख्या में कमी भी आयी है जैसे केरल, मनीपुर, त्रिपुरा, मिजोरम। इसके कारणों में अवैध शिकार, बाघों का अन्तर्राज्य आवागमन अथवा नर-मादा की संख्या में असंतुलन भी हो सकता है। इन कारणों की शोध चल रही है।

‘बाघ परियोजना’ ने, पर्यावरण का संतुलन पुनः स्थापित करने के प्रति हमारी क्षमता को प्रदर्शित करने के साथ ही हमें उन कारणों को समझने का अवसर भी दिया है जो हमारे प्राकृतिक संसाधनों को क्षति पहुँचा रहे हैं। प्रत्येक ‘टाइगर रिजर्व’ में एक ‘शोध केन्द्र’ एवं ‘सूचना केन्द्र’ स्थापित किया जा रहा है। यहाँ आम नागरिकों को वांछित पर्यावरणीय जानकारी उपलब्ध कराने के साथ ही भारतीय वैज्ञानिकों को शोधकार्य करने का अवसर भी मिल सकेगा। □

पर्यावरण एवं मानव रोग

डॉ० देवेन्द्र नाथ सिन्हा

प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, एनाटोमी विभाग, महारानी लक्ष्मीबाई मेडिकल कॉलेज, झाँसी-284128

स्वच्छ पर्यावरण मानव की आधारभूत आवश्यकता है, किन्तु इतिहास साक्षी है कि 1945 में हिरोशिमा एवं नागासाकी पर बम विस्फोट करके मानव ने स्वयं अपने अस्तित्व को मिटाया। हिरोशिमा में 80,000 एवं नागासाकी में 45,000 लोग मृत्यु को प्राप्त हुए और वहाँ पर पीढ़ी दर पीढ़ी अपाहिज बच्चे जन्म ले रहे हैं। रेडियोधर्मी विकिरण का प्रभाव आज 40 वर्ष बाद भी देखा जा रहा है। कैंसर, ल्यूकीमिया, आँखों की ज्योति पर प्रभाव एवं मस्तिष्क के कार्य में अवरोध भी पीढ़ियों में उत्पन्न होता देखा गया है। हाल ही में भोपाल गैस त्रासदी के विषैले गैस के दुष्प्रभाव से 2500 से अधिक लोग मारे गये। गर्भावस्था में शिशुओं के स्वास्थ्य पर भी कुप्रभाव पड़ा, जिससे उनमें जन्मजात विरूपता देखी गई। पर्यावरण प्रदूषण का प्रभाव जैविक क्रिया पर होता है। शरीर की कोशिका, ऊतक, अंग एवं संस्थान सभी एक साथ या अलग-अलग प्रभावित होकर शरीर को रूग्ण कर सकते हैं। इनका प्रभाव संरचना पर शीघ्र या कुछ दिनों के बाद भी हो सकता है।

पर्यावरण प्रदूषण का प्रभाव शरीर के निम्न-लिखित भागों को प्रभावित कर सकता है—

1. श्वास, फेफड़े, हृदय एवं रुधिर-नलिकाओं पर।
2. मस्तिष्क एवं उससे सम्बन्धित भागों पर।
3. स्वभाव पर।
4. रुधिर-संस्थान पर।
5. मांसपेशियों एवं अस्थि पर।
6. चर्म पर।
7. जननतंत्रों एवं गर्भावस्था में विकसित शिशु पर।

8. अन्य भाग जैसे—किडनी, पाचन-संस्थान, यकृत, पैंक्रियाज। एवं

9. कैंसर भी उत्पन्न कर सकता है।

प्रारम्भ में जनसंख्या सीमित थी लेकिन धीरे-धीरे प्रगति की गति बढ़ती गयी, जनसंख्या में वृद्धि हुई, औद्योगिक क्रांति का उदय हुआ लेकिन इतना तेज कि उससे हानि होने वाली बातों पर ध्यान तक नहीं दिया गया। आज महानगरों में रात्रि के समय ट्रेन

से यात्रा करें तो चारों तरफ चिमनियों से धुआँ निकलता दीखता है। यही नहीं कुछ चिमनियाँ आग की लपटें फँकती हैं, जो कि रात्रि में प्रातः की लालिमा का बोध देती हैं।

हजारों मजदूर आज भी फेफड़े के रोग, तपेदिक एवं चर्म रोग से पीड़ित हैं। कल-कारखानों में पर्यावरणसम्बन्धी नियमों का उल्लंघन किया गया, केवल आर्थिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु। वायु प्रदूषण कुछ अन्य पर्यावरण समस्या जैसे धूम्रपान, कार्यस्थल पर हवा का अभाव आदि पर भी निर्भर करता है। इसके अतिरिक्त कुपोषण, मिलावटयुक्त भोज्य पदार्थ, दूषित जल, मलिन वस्तियाँ एवं खराब सफाई व्यवस्था भी विकासशील देशों के लिये समस्या के रूप में वायु प्रदूषण से संलग्न हैं जो कि रोगग्रस्त समाज के निर्माण में श्रृंखलाबद्ध कार्य करते रहते हैं। ऐसे परिवेश में रहकर मनुष्य में रोग से लड़ने की शक्ति कम हो जाती है जिसके कारण जीवाणु मनुष्य के शरीर में प्रवेश कर वायु प्रदूषण से होने वाले रोगों को अधिक जटिल बना देते हैं।

वायु में व्याप्त धुएँ, सल्फर डाइऑक्साइड, कुछ तत्वों के लटके कण एवं नाइट्रोजन के ऑक्साइड बड़े शहरों की वायु में प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं। इसके द्वारा उन नगरों में रहने वाले लोगों पर श्वास एवं फेफड़े की बीमारी से स्वास्थ्य पर निरन्तर दबाव बढ़ता जा रहा है। उन नगरों में फेफड़े की बीमारी से मृत्यु अधिक हुयी है। वायु प्रदूषण का प्रभाव जैविक कोशिकाओं पर शीघ्र, या कुछ दिनों के बाद भी हो सकता है। वायु को प्रदूषित करने में यातायात में प्रयोग लाये जाने वाले पेट्रोल एवं डीजल तेल के जलने से उत्पन्न धुएँ अधिक कारगर सिद्ध हुये हैं।

नदियों के तटों पर बसने वाले लोगों में जल के प्रदूषण से पेट-सम्बन्धी बीमारियों की अधिकता पाई गयी। जैसे मियादी बुखार, कालरा, दस्त की बीमारी, कैंचुये इत्यादि की बीमारी। विकासशील देशों में

मृत्यु की लगभग दो तिहाई घटनायें दूषित जल के द्वारा होती है। यह विश्व स्वास्थ्य संगठन के अध्ययन से ज्ञात हुआ है।

कृषिसम्बन्धी रासायनिक पदार्थों की पैदावार को बढ़ाने के लिये उपयोग में लाया जाने लगा जिससे जल, वायु एवं थल में इन रासायनिक पदार्थों की मात्रा बढ़ी एवं पर्यावरण दूषित हुआ। यही नहीं, इनकी मात्रा भोज्य पदार्थों में भी बढ़ी। जिसके कारण मानव रोगों से ग्रसित होता जा रहा है।

पर्यावरण के प्रदूषण से माँ के गर्भ में स्थित शिशु भी अत्यधिक प्रभावित हुआ। आज शिशु भी माँ के गर्भ में सुरक्षित नहीं रह पाता। हिरोशिमा एवं नागासाकी पर परमाणु बम के विस्फोट से विकिरण द्वारा एवं हाल ही में भोपाल गैस त्रासदी के विपैली गैस से शिशुओं में जन्मजात विरूपता देखी गयी है। भ्रूणीय विकास अवस्था संगर्भता से 15 दिन से 60 दिनों का समय एक विशेष महत्व रखता है। इस समय मुख्य अंगों का विकास होता है। यह समय बहुत ही संवेदनशील होता है। पर्यावरण प्रदूषण के प्रभाव से माँ एवं बच्चे में विभिन्न प्रकार की समस्यायें देखने को मिलती हैं जैसे माँ के प्रजनन के विन्यास में परिवर्तन, गर्भपात, क्रोमोजोम एवं जीन में विषमता एवं जीनों में उत्परिवर्तन, भ्रूणावस्था में मृत्यु, प्रसव के समय बच्चों की मृत्यु, जन्मजात विरूपता, बच्चों में मानसिक विषमतायें, बच्चे में कैंसर रोग होना एवं बच्चे की मृत्यु।

आण्विक विकिरण मानव शरीर को अधिक प्रभावित करते हैं। यह शरीर के भागों एवं अंगों को नष्ट कर देते हैं। बाद में कैंसर उत्पन्न कर देते हैं और पीढ़ी दर पीढ़ी इनके प्रभाव से आनुवंशिक दोष उत्पन्न होते रहते हैं। विकिरण का साधारण प्रभाव मितली, दस्त, उल्टी एवं अन्य बीमारियों को जन्म देना है, रक्त कोशिकाओं की कार्य क्षमता नष्ट हो जाती है और रोग-निरोधक क्षमता भी कम हो जाती है। □

गंगा की व्यथा कथा और पुनरुद्धार

श्रीमती मंजुलिका लक्ष्मी एवं प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

5 ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्जटाउन, इलाहाबाद—211002

गंगा का निरंतर बहता जल हमारे धार्मिक और आर्थिक जीवन प्रवाह के मूल में है। सदियों से भारत की जनता परममोक्ष पाने की आशा में न जाने कितने कष्ट बाधाओं सहकर भी गंगा में स्नान करने को लालायित होती रही है। विज्ञान और आधुनिकता का प्रभाव गंगा के प्रति मानव की आस्था को कहीं भी कुंठित नहीं कर पाया है, किन्तु यह एक विषम विडंबना है कि आज विज्ञान और तकनीकी का अवि-वेकपूर्ण प्रयोग पुण्य-सलिला गंगा के जल को निरंतर दूषित कर रहा है।

गंगा के तट पर बसे नगरों के बढ़ते प्रौद्योगीकरण और नागरिक जीवन के उच्छिष्टों के भार को ढोते-ढोते आज गंगा के जल में प्रदूषण की मात्रा इतनी अधिक बढ़ चुकी है कि आगामी पाँच दशकों में गंगा नदी के समूचे प्रवाह में पेयजल के भारी अभाव की आशंका उत्पन्न हो गई है। जिन नगरों के कारखानों और नालों का अनुपचारित मल-जल गंगा में सीधे प्रवाहित कर दिया जाता है वहाँ इस समय तटों से 15 मीटर दूरी तक का जल चिंतनीय सीमा तक प्रदूषित हो चुका है।

नदियों के जल में प्रदूषण का सर्वप्रमुख कारण हैं घरों की गन्दगी तथा मल-मूत्र वाहित नाले और कारखानों से निकले विभिन्न हानिकर रसायनयुक्त अपशिष्ट, किन्तु खेतों से बहकर नदी में समाने वाले उर्वरकों और कृमिनाशकों की भूमिका भी कम गम्भीर नहीं है। यह समस्या केवल गंगा नदी की ही नहीं वरन् यमुना, झेलम, गोदावरी, साबरमती, नर्मदा और कावेरी सदृश उन अनेक नदियों की है जिनके तटों पर बसे बड़े-बड़े नगर या औद्योगिक बस्तियाँ निस्संकोच नदियों में अपना 'विष' उड़ेलती रहती हैं। श्रीनगर के निकट झेलम नदी के जल को केवल

'सीवेज वाटर' (मल-जल वाही नाला) की संज्ञा दी जा सकती है। प्रतिदिन 51000 किलोलीटर गन्दा पानी झेलम में गिरता है। दिल्ली में यमुना इससे कई गुना अधिक—चौबीस घंटे में 3,20,000 किली०—गन्दे जल को ढोती है। आज समूचे देश में एक लाख से अधिक आबादी वाले 142 नगर हैं किन्तु इनमें केवल आठ नगरों में ही मल-जल या कूड़े को निपटाने की समुचित व्यवस्था पाई जाती है। यह बात अलग है कि यहाँ भी पॉपिंग स्टेशन अक्सर बिगड़े रहते हैं। इनके अतिरिक्त 62 नगरों में आंशिक काम चलाऊ व्यवस्था है पर शेष 72 में तो गंदे जल के निपटान की कोई भी व्यवस्था नहीं है। इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि जब 'बड़े' नगरों का यह रवैया है तो छोटे शहरों और गाँवों की दशा कितनी शोचनीय होगी और समुचित जल व्यवस्था के अभाव में उन्हें निरंतर दूषित जल का ही उपयोग करने को विवश होना पड़ता होगा।

यह एक विचित्र विरोधाभास है कि हम जहाँ असीम श्रद्धा से 'गंगा मैया की जय' के उद्घोष करते हैं वहीं दूसरी ओर गंगा में वाहित मल-जल, कारखानों के अपशिष्ट, मानव और पशु के मृत शरीरों और मल-मूत्र का विसर्जन करने में ज़रा भी नहीं हिचकते। संभवतः हमारा यह परम्परागत अंध-विश्वास कि अमृतमयी गंगा कभी प्रदूषित नहीं हो सकती या समस्या को पूरे परिप्रेक्ष्य में देख सकने की अक्षमता ही हमें गंगा के साथ ऐसे घातक खिलवाड़ करने पर मजबूर करते हैं।

गंगा की प्रदूषण यात्रा

आज इस मानवीय अत्याचार के फलस्वरूप गंगा दिन प्रतिदिन 'मृत्यु' की ओर अग्रसर हो रही है।

गंगोत्री से निकल कर गंगासागर तक पहुँचते-पहुँचते गंगा के 2,525 किलो मीटर विस्तार में कम से कम 114 तटवर्ती नगरों का मल-जल निरंतर इसकी धारा को दूषित करता रहता है। इस समूची लम्बाई में लगभग 16,000 तथा गंगोत्री से केवल वाराणसी के बीच 1611 नाले-नालियाँ गंगा में गन्दगी उड़ेलते हैं। अनुमान है कि देश के आठ राज्यों की 992 बस्तियाँ गंगा को प्रदूषित करने की कमोबेश जिम्मेदार हैं। केवल उत्तर प्रदेश को ही 13,00,000 किलो घरेलू और औद्योगिक प्रदूषकों द्वारा गंगा के अमृत को विष में बदलने का 'श्रेय' जाता है। यहाँ लगभग 70 चर्मशोधक कारखानों का अनुपचारित जल वेधड़क गंगा के प्रवाह में बहाया जाता है। हरिद्वार और कलकत्ते के नाले में क्रमशः 14.35 मिलिलीटर और 1.70 मिलियन गैलन दूषित मल-जल गंगा में मिलाते हैं। एन्टीबायोटिक, चर्मशोधन और कागज के कारखानों के अपशिष्ट, पेट्रोरासायनिक दूषित पदार्थ, उर्वरक और गन्दा कचरा सभी गंगा के गर्भ में विलीन होकर समान रूप से न केवल जल को प्रदूषित करते हैं बल्कि नदी में निरंतर गिरते मलबे से पाटकर नदी को उथला भी करते हैं।

हरिद्वार—वस्तुतः हरिद्वार के निकट ऋषिकेश स्थित एन्टीबायोटिक के कारखाने से ही गंगा पर अत्याचार की कथा आरम्भ हो जाती है। उस पर 'भारत हेवी इलेक्ट्रिकल्स' से फेंका गया अपशिष्ट निःसंकोच समस्या को दोगुना करता रहता है। यहाँ से बहाये जा रहे दुर्गन्ध और तैलयुक्त तरल से जल में कार्बन, गंधक और तेजाब की मात्रा इतनी बढ़ गई है कि वह दूषित जल पीने-नहाने के लिए अनुपयुक्त होने के साथ ही सिंचाई के लिए भी हानिकारक है। यह निकटस्थ ज्वालापुर के गोभी और तम्बाकू के खेतों को गम्भीर क्षति पहुँचा रहा है। हरिद्वार के निकट ही वीरभद्र के निकट आई० डी० पी० एल० (भारतीय ओषधि निर्माण लिमिटेड) द्वारा फेंकी गई वनस्पतियों के बेकार अंशों से भरे गड्ढों में ऐसी सड़न पैदा होती है कि दुर्गन्ध और विषैली गैसों से समस्त वातावरण

प्रदूषित होता रहता है। इसी कारखाने द्वारा गंगा नदी में फेंका गया कचरा जल को विषैला और गंदला बनाता है। अपशिष्टों की यह सड़न जल और वातावरण से ऑक्सीजन सोख लेने के लिए भी उत्तरदायी है जिससे आस-पास की वनस्पतियाँ और मछलियाँ एवं अन्य जलचर नष्ट हो जाते हैं। इस अपशिष्ट में मीथेन गैस की भारी मात्रा होती है जो जलीय और वायवीय प्रदूषण का मुख्य कारण है।

कांगड़ी मंदिर और भीमगोडा नालों सहित लगभग 15 छोटे-बड़े नाले सारे हरिद्वार का कूड़ा-करकट लेकर गंगा में मिलते हैं। घाटों पर साबुन लगा कर नहाना, गंदे वस्त्र धोना, तटवर्ती दूकानों से जूठे दोने या अन्य कूड़ा-कचरा फेंकना, तट के आस-पास या नदी में मल-मूत्र त्याग करना आदि समस्याएँ तो आम हैं। यद्यपि घाट की व्यवस्था करने वाली एक प्रमुख संस्था, **श्री गंगा सभा**, के सदस्यों का दावा है कि हरिद्वार में घाटों पर प्रदूषण की समस्या नहीं है पर वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। सारा नगर इस प्रदूषण की चपेट में है और नागरिक इसी दूषित जल में स्नान करने और इसी को पीने को बाध्य हैं। विषैले अपशिष्ट और कूड़े-कचरे की अधिकता के कारण गंगा जल अपनी स्वयंशुद्धिकारक क्षमता खोता जा रहा है। 60 वर्षों पूर्व बनाई गई सीवर लाइन इस पूरे नगर की दोगुनी हो गई आबादी के लिए नितांत अपर्याप्त सिद्ध हो रही है। जाम हो गई नालियों से उफन कर फैलती गंदगी संक्रामक रोगों को निमन्त्रण देती रहती है।

कानपुर—गंगा की व्यथा-कथा में खलनायक की भूमिका निभाने वाला दूसरा नगर है कानपुर, जहाँ 20 करोड़ लीटर कूड़ा-करकटयुक्त दूषित जल 13 बड़े नालों के माध्यम से प्रतिदिन गंगा में समाता रहता है। यहाँ स्थित चर्म उद्योग के लगभग 60 छोटे-बड़े कारखानों का अनुपचारित अपशिष्ट सीधे गंगा में गिराया जाता है। इसमें निहित जहरीली क्रोमियम धातु कैंसर जैसे घातक रोगों और चर्मव्याधियों को जन्म देती है। इनके अतिरिक्त वस्त्र, ऊन व पटसन के

कारखानों के अपशिष्ट, कृत्रिम रबर, लुगदी, कागज और शराब बनाने वाले कारखानों एवं चीनी मिलों के अपशिष्ट तथा डी० डी० टी० कारखानों का कचरा गंगा नदी में मिलकर उसे भयंकर रूप से प्रदूषित करते हैं।

प्रयाग—तीर्थराज प्रयाग में गंगा नदी यमुना और अदृश्य सरस्वती से मिलकर अधिक पवित्र और पतितपावनी होने का महत्व प्राप्त करती हैं। किन्तु विडम्बना यह है कि यमुना के माध्यम से दिल्ली, फरीदाबाद और हरियाणा के कुछ औद्योगिक नगरों का कूड़ा-कचरा यहाँ गंगा जल को और अधिक प्रदूषित करता है। इलाहाबाद में यमुना नदी में बहते शव, तटस्थित धोबीघाट, चाचर नाले का गंदा पानी और कारखानों का अपशिष्ट नित्य प्रति गंगा-त्रिवेणी की पावनता को लांछित करते हैं। एक सर्वेक्षण के अनुसार 1982 के अर्धकुम्भ मेले में 3 करोड़ लोगों ने संगम में स्नान किया। इस अवधि में किए गए परीक्षण में संगम का पानी टायफाइड, पोलिया, हैजा, पेचिश जैसे भयंकर रोगों के कीटाणुओं-जीवाणुओं से युक्त पाया गया। इलाहाबाद के निकट गंगा में पिछले कुछ वर्षों में प्रदूषण का प्रभाव बढ़ा है और जलीय तत्वों का संतुलन बिगड़ गया है। जल प्रदूषण के कारण मछलियों का प्रजनन कम हो गया है और दूसरे महत्वपूर्ण सूक्ष्म-जीवों तथा वनस्पतियों की स्थिति में भी परिवर्तन आया है। स्पष्ट है कि आगामी वर्षों में यह असंतुलन जल की गुणवत्ता पर भारी प्रभाव डालेगा। गंगाजल में पाये जाने वाले कछुए, घड़ियाल और सूँस जैसे जल जीव, जो पानी के जैविक संतुलन के प्राकृतिक उपादान हैं, इस क्षेत्र से लुप्त होते जा रहे हैं। इलाहाबाद में पहले अधिक संख्या में मिलने वाली हिलसा मछली फरक्का बाँध बनने और नदी के जल में कमी आने के कारण अप्राप्य हो गई है। इलाहाबाद के निकट सदियापुर में पकड़ी जानेवाली मछलियों की संख्या में भारी कमी भी इस जैविक असंतुलन की ओर इंगित करती है। उपरोक्त सर्वेक्षण इलाहाबाद स्थित 'नेशनल एकेडमी ऑव साइन्सेज' के प्रोफेसर यू० एस०

श्रीवास्तव के निर्देशन में किए गये। ये इलाहाबाद में गंगाजल की वर्तमान प्रदूषित स्थिति और तत्सम्बन्धी जैविक असंतुलन का परिचायक है। इलाहाबाद में ही स्थित फूलपुर के रासायनिक खाद कारखाने 'इफ़को' से प्रतिदिन छोड़े जा रहे 5500 घनमीटर दूषित अपशिष्ट से लगभग 16 किलोमीटर तक नदी का जल विषाक्त होता रहता है। इनसे भी मछलियों की भारी हानि हुई है।

वाराणसी—मोक्षदायिनी काशी में गंगा की कथा कुछ भिन्न नहीं है। प्रतिदिन 12 करोड़ लीटर मल-जल वाराणसी के नालों से निकलकर गंगा को विषाक्त करता है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के डॉ० बी० डी० त्रिपाठी द्वारा किए गये सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि केवल बनारस के विभिन्न घाटों पर प्रतिवर्ष 23,000—32,000 शव जलाये जाते हैं और उन चिताओं में प्रयुक्त 11,000—15,000 टन जली लकड़ियाँ, मृत शरीरों की राख तथा अधजले शवों का लगभग 150 टन मांस गंगा के गर्भ में समाता रहता है। वर्ष में लगभग 3,000 अधजले शव गंगा में बहते नजर आते हैं। गंगा के घाटों पर जलाये जाने वाले शवों में लगभग 40 प्रतिशत वाराणसी के बाहर से लाये जाते हैं—इस आशा में कि काशी में शवदाह परममोक्ष दिला देगा। इनके अतिरिक्त 7,000 मृत पशुओं के शव भी गंगा को मैली करने के भागीदार हैं।

शवों को जलाने के लिए इतनी लकड़ियाँ इस्तेमाल होती हैं कि प्रतिवर्ष 95-115 हेक्टेयर जंगल का क्षेत्र काटकर नंगा कर दिया जाता है। इससे बढ़ते पर्यावरणीय असंतुलन का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। लगातार शवदाह के कारण बनारस के घाटों—हरिश्चन्द्र और मणिकर्णिका के जल का ताप 30° सेन्टीग्रेड से 50° सेन्टीग्रेड तक बढ़ जाता है। इससे जल में विलेय ऑक्सीजन की मात्रा में 30-50 प्रतिशत तक की कमी आती देखी गई है। यही कारण है कि वाराणसी में प्रतिवर्ष हजारों में 134 बच्चों की मृत्यु प्रदूषित जल के कारण होने

वाले रोगों से होती है। गंगा में गिरने वाले 8 बड़े और 67 छोटे-मोटे नाले तथा कचरे को साफ करने वाले किसी संयंत्र के अभाव में यह समस्या दिनोंदिन गंभीर आयाम लेती जा रही है।

बिहार—बिहार में दुर्गापुर और आसनसोल के कारखानों और 250 कोयला खानों का अपशिष्ट गंगा में प्रवाहित किया जाता है किन्तु यहाँ गंगा को सबसे अधिक प्रदूषित करने वाला नगर पटना है। इस स्थान पर 6 बड़े गंदे नालों से प्रतिदिन 2,50,000 गैलन गंदा जल, गंगा के गर्भ में समाता रहता है। बाटा और मैक्डोवेल डिस्टिलरी क्षेत्र वाले मोकामा नामक स्थान पर तो गंगा की दुर्गति की कथा अकथनीय है। इन्हीं दो कारखानों से ही 250,000 लीटर गंदा पानी रोज गंगा में गिरता है। एक प्रयोग से पता चला कि बाटा वाले क्षेत्र में पानी में छोड़ी गई मछली किसी प्रकार 48 घंटे तक जीवित रह जाती है किन्तु मैक्डोवेल डिस्टिलरी क्षेत्र में गंगाजल में छोड़ी गई मछली तो 5 घण्टे के अन्दर ही दम तोड़ देती है। बिहार में बरौनी तेलशोधक कारखानों से फेंके गये रासायनिक अपशिष्ट द्वारा 1968 में 2 किलोमीटर तक गंगा के जल में भयानक आग लग गई थी। 16 घंटे तक जलती इस आग में हजारों मछलियाँ जलकर मर गईं। फलस्वरूप प्रदूषित हुये गंगा के जल की सहज ही कल्पना की जा सकती है। पटना में लगभग 100 मानव और पशुओं के मृत शरीर प्रतिदिन गंगा में प्रवाहित किए जाते हैं। मोकामा क्षेत्र में व्याप्त प्रदूषण ने जल को प्राणघातक बना दिया है।

कलकत्ता—पश्चिमी बंगाल स्थित कलकत्ता महानगर तक पहुँचते-पहुँचते तो गंगा की दशा और भी शोचनीय हो जाती है। 7 नगरपालिकाओं और छोटे-बड़े असंख्य कारखानों का कचरा ढोते-ढोते यहाँ हुगली में पापनाशिनी गंगा सबसे अधिक गंदी और पंकिल हो जाती है। नदी के दोनों ओर स्थित चर्म-शोधन, वस्त्र उद्योग, कागज व शराब बनाने के लगभग 160 कारखाने नदी में अपना उच्छिष्ट प्रवाहित करते हैं। कारखानों के विषाक्त रसायनों ने यहाँ गंगा

जल के स्वाभाविक रंग को ही बदल दिया है। कलकत्ते में प्रतिदिन 160,006 किलोग्राम आवासीय कूड़ा-कचरा और 29,802 किलोग्राम औद्योगिक मलबा गंगा की भेंट चढ़ा दिया जाता है। पश्चिम बंगाल में गंगा के तटवर्ती अन्य नगरों का कूड़ा भी बिना शोधन के बेहिचक गंगा की गोद में डाल दिया जाता है। इनमें चौबीस परगना, बर्दवान, हावड़ा, मिदनापुर टीटागढ़, गरुलिया और रानीगंज के नाम प्रमुख हैं। इस प्रदूषण के फलस्वरूप जल में मछलियों की घटती संख्या जल की बढ़ती विषाक्तता का स्वयं प्रमाण है। इन कारखानों से बहाये गये कैडमियम, पारा, जस्ता, सीसा की अधिकता ने न केवल मछलियों की संख्या घटाई है वरन् उन्हें जहरीला भी बना दिया है।

गंगा जल : अमृत या विष ?

गंगोत्री से गंगा सागर तक गंगा की 2,555 किलोमीटर लम्बाई में लगभग 600 किलोमीटर तक जल बुरी तरह प्रदूषित हो चुका है। अनेकानेक कारखानों द्वारा अमृतदायिनी गंगा का नाले की तरह उपयोग करने के कारण आज वह अपना सर्वहितकारी रूप तजकर प्राणघातिनी हो रही हैं। जल प्रदूषण के भयंकर दानव ने मानव अस्तित्व के सम्मुख विराट प्रश्नचिह्न खड़े कर दिये हैं। बढ़ते प्रदूषण से रोज अनेक व्यक्ति नये-नये रोगों के शिकार होते हैं। 1984 की ग्रीष्म ऋतु में गंगा का प्रदूषित जल पीने के कारण कलकत्ता के 1500 लोग काल के मुख में चले गये। वहाँ के 80 प्रतिशत निवासी तो सदैव उदर रोगों से ग्रस्त रहते हैं। जल प्रदूषण से होने वाले डायरिया जैसे सामान्य रोगों के अतिरिक्त गुर्दे की क्षति, पोलियो, चर्म रोग, टायफाइड, पोलियो और मोतीभरा जैसे रोग भी जन्म लेते हैं। गंगा की तटवर्ती वस्तियों में प्रतिमिनट 3 बच्चे जल-प्रदूषणजन्य रोगों के कारण काल के ग्रास बनते हैं। 1982 में तटवर्ती आबादी के 16,10,000 लोग यकृत रोग से पीड़ित हुये। 1983 तक यह संख्या बढ़कर 20,00,000 तक पहुँच चुकी थी।

वस्तुतः वाहित मल तथा कारखानों के अपशिष्ट से युक्त गन्दे जल में नाइट्रेट तथा फॉस्फोरस के यौगिक (वाहित मल से) और क्लोराइड एवं सल्फेट के यौगिक (डिटर्जेंट से) मिल जाते हैं। इस विपाक्त जल में एक विशेष प्रकार की ऐसी वनस्पति जन्म लेती है जिसके विपैले तत्व अपने निकट के जलीय जन्तुओं को नष्ट कर डालते हैं। प्रदूषित जल से सिंचित खेतों में नाइट्रोजन-स्थिरीकरण की गति बहुत कम हो जाती है। औद्योगिक अपशिष्ट—तेल व रसायन जैसे प्रदूषक तत्व, जीवाणुओं व अन्य जलीय जीवों को नष्ट कर डालते हैं जो जल के जैवीय परिशोधन में सहायक होते हैं। जल के माध्यम से जहरीले कीटनाशक हमारी खाद्य-शृंखला में शामिल होकर उनका एक अंग बन जाते हैं और शैवाल व हरे पौधों द्वारा अवशोषित होकर हमारे स्वास्थ्य के लिए घातक होते हैं। इनमें डी डी टी प्रमुख है। प्रदूषण की मात्रा कितनी भयावह है इसका इसी से अन्दाज़ लगाया जा सकता है कि गर्मी के मौसम में गंगा के 300 क्यूसेक पानी में से 200 क्यूसेक केवल शहर का दूषित मल-जल और औद्योगिक अपशिष्ट ही होता है। सोडा और क्लोरीन बनाने वाले कारखानों से निकलने वाला लगभग 180 टन पारा प्रतिवर्ष पर्यावरण में मिश्रित होता है और इसका अधिकांश जल में बहाया जाता है। फलस्वरूप प्रति एक किलोग्राम मछली में लगभग 10 मिली ग्राम तक पारा पाया गया है। पारे की उपस्थिति के कारण मछलियों में और इन्हें खाने वाले मनुष्यों में भी रोगों की आशंका बढ़ती है। पारे से 'मिनिमाता' नामक जोड़ों में दर्द और ऐंठन की एक विचित्र बीमारी हो जाती है। **जल प्रदूषण से भारत में प्रति लाख लगभग 360 व्यक्तियों और सम्पूर्ण विश्व में डेढ़ करोड़ व्यक्तियों की मृत्यु होती है।** बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा किये गये एक सर्वेक्षण के आधार पर ज्ञात होता है कि बनारस के दशाश्वमेध घाट से लिए गए 1 क्यूबिक मिलीलीटर गंगा जल में 1,50,000 कोलोफार्म बैक्टीरिया पाये गए हैं जबकि 1 क्यूबिक मिलीलीटर में 500 से अधिक कोलोफार्म

बैक्टीरिया घातक माने जाते हैं। गंगा में स्वयंशुद्धिकरण की क्षमता बहुत अधिक पाई जाते हैं किन्तु कचरे और गंदगी के प्रतिदिन बढ़ते अत्याचार के समक्ष वह भला कब तक ठहर पायेगी? **जल में रेडियोधर्मी तत्वों की उपस्थिति** के कारण कैंसर और कुष्ठ का भय भी बढ़ रहा है। प्रदूषण से गंगा में कुछ ऐसे कवक भी उत्पन्न हो जाते हैं जो **श्वास और चर्म रोगों** को जन्म देते हैं। कूड़े-कचरे के अतिरिक्त कुछ अन्य कारक भी हैं जो गंगा जल को प्रदूषित करते हैं। पम्पों और सिंचाई नहरों द्वारा गंगा से निकाला गया जल गंगा के जल-स्तर को कम करता है और इससे नदी के प्रवाह में अन्तर पड़ता है। उदाहरणस्वरूप सिर्फ इलाहाबाद व गाजीपुर के मध्य 300 किलोमीटर क्षेत्र में ही 28 ऐसे पम्प हैं जो नदी का जल निकालते रहते हैं। नदियों के कगारों पर वृक्षों के कटाव और भूमि कटाव से जल में कीचड़ बढ़ जाता है तथा नदियों की सतह ऊँची होने से बाढ़ का खतरा भी बढ़ जाता है। पुलों के निर्माण के दौरान नदी में गिरता मलबा, उद्योगों के शीतीकरण में जल का बढ़ता तापमान, बाढ़ नियंत्रण उपायों और जल-विद्युत् परियोजनाओं से मछलियों की प्रजनन क्षमता पर कुप्रभाव जैसे सभी तथ्य हमें इस ओर से सतर्क रहने की चेतावनी देते हैं। 'राष्ट्रीय पर्यावरण संरक्षण संस्थान' के अध्यक्ष डॉ० बी० डी० त्रिपाठी के अनुसार प्रदूषण की वर्तमान दर से मात्र 50 वर्षों में गंगा का जल उपयोग के लायक नहीं रह जायेगा। जहरीले कीटनाशक डी डी टी, एल्ड्रिन, गैमेक्सीन, फिनायल, साबुन व अपमार्जक जैसे पदार्थ गंगा में मिलकर अपने तट पर रहने वाली भारत की 37 प्रतिशत आबादी को प्रभावित करते हैं। उल्लेखनीय है कि गंगा तथा इसकी सहायक नदियों में जीव-रासायनिक ऑक्सीजन, जो 5 मिली-ग्राम प्रति लीटर से भी कम होना चाहिए, 20 मिलीग्राम से भी अधिक है। एक अनुमान के अनुसार प्रतिदिन कुल 19,65,900 किलोग्राम प्रदूषित पदार्थ गंगा में गिराये जाते हैं। इनमें से उत्तर प्रदेश 10,90,000 और पश्चिम बंगाल 3,79,000

किलोग्राम प्रदूषित पदार्थ गिराने के उत्तरदायी हैं।

जल प्रदूषण का स्वरूप

जल की शुद्धता का मापदण्ड आखिर क्या है? प्रदूषित अपशिष्ट पदार्थों के साथ प्रमुख रूप से जो जीवाणु जल में आकर मिलते हैं उन्हें **कोलीफार्म** कहा जाता है। यद्यपि ये अपने आप में रोगमूलक नहीं हैं, तथापि इनकी उपस्थिति से संक्रामक जीवाणुओं की उपस्थिति का पता चलता है। प्रदूषण नापने के लिए पानी की एक निश्चित मात्रा में इनकी संख्या ज्ञात की जाती है। जीवाणुवैज्ञानिक यह मानते हैं कि जिस जल के 100 क्यूबिक सेंटीमीटर में एक भी **कोलीफार्म बैक्टीरियम** उपस्थित नहीं है, वह पूर्ण शुद्ध है। अपने देश की आर्थिक और तकनीकी परिस्थितियों के अनुसार 10 मिलीलीटर जल में 5,000 कोलीफार्म जीवाणुओं को उपस्थिति स्वीकारी गई है। स्थिति यह है कि कानपुर में गंगा के पानी में प्रति 100 मिलीलीटर में इनकी संख्या लगभग दस लाख से एक करोड़ तक पायी गयी है।

वस्तुतः सभी नदियों के जल में स्वयंशुद्धिकरण की क्षमता होती है। नदी-नालों में रहने वाले जीवाणु स्वयं ही उसमें गिरने वाली गन्दगी को खत्म कर देते हैं। इनमें से कुछ जीवाणु (**बैक्टीरिया**) वायुजीवी होते हैं जो ऑक्सीजन की उपस्थिति में ही जीवित रहते हैं तथा कुछ अवायुजीवी जो ऑक्सीजन की उपस्थिति में जीवित नहीं रह सकते। वायुजीवी जीवाणु नदियों की सतह पर और अवायुजीवी तली में रहते हैं। इस प्रकार वायुजीवी जल में मिली घुलनशील गन्दगी को 'खाते' हैं तथा अवायुजीवी तली में बैठी ठोस गन्दगी को। वायुजीवी जीवाणु गन्दगी को समाप्त करने के साथ अपनी संख्या में भी वृद्धि करते जाते हैं। उनके द्वारा ऑक्सीजन के अधिकाधिक प्रयोग से पानी में घुली ऑक्सीजन समाप्त होती जाती है। प्रकृति की अनूठी व्यवस्था के कारण बहती हुई नदी वायुमण्डल से पुनः ऑक्सीजन प्राप्त कर लेती है साथ ही जल में स्थित सूक्ष्मपौधों और शैवालों की प्रकाश संश्लेषण क्रिया से मुक्त ऑक्सीजन भी जल में मिलती रहती

है। कूड़े-करकट की मात्रा अत्यधिक बढ़ जाने पर वायुजीवी जीवाणु अधिक बढ़ जाते हैं और फलस्वरूप ऑक्सीजन की माँग भी। जितनी शीघ्रता से ऑक्सीजन की खपत होती है उतनी शीघ्रता से वायुमण्डल से ऑक्सीजन की पूर्ति नहीं हो पाती है। इस अभाव में (ऑक्सीजन के) वायुजीवी जीवाणुओं की संख्या कम होने लगती है और तली से अवायुजीवी जीवाणु सतह पर आकर ऑक्सीजन की अनुपस्थिति में संख्या में खूब वृद्धि करते हैं। ऑक्सीजनरहित अपने खाद्य (गन्दगी) के भक्षण के दौरान वे पानी से हाइड्रोजन मुक्त करते हैं और मल से गन्धक। यही दोनों संयुक्त होकर नदियों में दुर्गन्ध देने वाली हाइड्रोजन सल्फाइड में बदल जाती है।

पाली में गंदगी की भारी मात्रा के कारण सूर्य का प्रकाश भी तली तक नहीं पहुँच पाता जिससे जलीय शैवाल नष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप ऑक्सीजन और शैवालों के अभाव में मछलियाँ भी। जब नदियों के जल में कूड़ा-करकट कम होता है तो वायुजीवी **बैक्टीरिया** पर्याप्त भोजन नहीं पाते और अधिक वंशवृद्धि नहीं कर पाते। परिणामतः नदी के पानी में घुली ऑक्सीजन की खपत भी कम रहती है। स्वच्छ जल में **बैक्टीरिया** की संख्या कम और ऑक्सीजन की मात्रा पर्याप्त रहती है। बेहिसाब प्रदूषित कूड़े-कचरे मल-जल के मिलने पर प्रकृति का यह चक्र गड़बड़ा जाता है और वायुजीवी **बैक्टीरिया** की संख्या बढ़ जाने से ऑक्सीजन की माँग (**बायोलॉजिकल ऑक्सीजन डिमांड—B O D**) भी बढ़ जाती है। जिस नदी के जल में घुली ऑक्सीजन (**डिसॉल्व्ड ऑक्सीजन—D O**) और जैव ऑक्सीजन की माँग (**B O D**) में भारी अन्तर पड़ जाता है, उसे निश्चित रूप से प्रदूषित माना जाता है। पानी की शुद्धता की जाँच के लिए उसका उष्णतामान, पी० एच०, मुक्त अमोनिया, क्लोराइड, नाइट्रेट, नाइट्रोजन, भारीपन आदि की भी जाँच की जाती है।

गंगा जल प्रदूषण नियंत्रण

केन्द्र सरकार ने गंगा की पवित्रता को अक्षुण्ण रखने के लिए कुछ ही समय पूर्व एक 'केन्द्रीय गंगा

प्राधिकरण' का गठन किया है। इस योजना के कार्यान्वयन के लिए केन्द्र ने 250 करोड़ रुपये की सहायता राशि देने का भी संकल्प किया है। इसमें से लगभग 30 करोड़ रुपये प्रथम वर्ष में गंगा के शुद्धिकरण पर व्यय किए जाने का प्रावधान है। 15 सालों के परिश्रम से जल प्रदूषण बोर्ड द्वारा यमुना प्रदूषण पर तैयार रिपोर्टों के आधार पर सितम्बर 1984 में 'केन्द्रीय प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड' ने 'पंचवर्षीय गंगा परियोजना' तैयार कर ली थी। इस परियोजना में सीवर संयंत्रों पर विशेष रूप से ध्यान देने की व्यवस्था है। जिन स्थानों पर सीवर नहीं हैं वहाँ पर नये सीवरों के डालने तथा जहाँ वे टूटे-फूटे हैं, वहाँ उसकी उचित मरम्मत इसका प्रथम लक्ष्य होगा। मल-जल के उपचार के लिए प्रदूषणनिवारक फैक्ट्रियाँ और कारखानों के अपशिष्ट के शोधन के लिए उपचार संयंत्रों की व्यवस्था किए जाने का भी संकल्प किया गया है।

वस्तुतः 1974 में 'जल प्रदूषण निवारण तथा नियंत्रण अधिनियम' नामक एक प्रभावकारी व्यवस्था की गई थी जिसके अन्तर्गत सभी कारखानों द्वारा अपशिष्ट के उपचार यंत्रों का लगाना अनिवार्य कर दिया गया था। साथ ही अनुपचारित अपशिष्ट को किसी नदी में सीधे गिराने को वैधानिक अपराध माना गया। इसी अधिनियम के अंतर्गत गंगा में प्रदूषण की स्थिति का विशेष सर्वेक्षण करके 1984 में उक्त क्रियात्मक योजना तैयार की गई। गंगा को प्रदूषण-मुक्त करने का कार्यक्रम 'सातवीं पंचवर्षीय योजना' का एक मुख्य मुद्दा है। इसमें गंगा को सर्वाधिक प्रदूषित करने वाले उत्तर प्रदेश के 26, बिहार के 15 और पश्चिम बंगाल के 59 नगरों पर विशेषरूप से ध्यान दिया जायेगा। अभी जल प्रदूषण से भयंकर रूप से प्रभावित 27 नगरों में से केवल 10 में सीवर की आंशिक व्यवस्था है। यही 27 नगर गंगा में 84 प्रतिशत प्रदूषण के लिए उत्तरदायी हैं। 45 नगरों को योजना के अन्तर्गत लाया गया है, जिनमें मल-जल के शोधन के लिए संयंत्र लगाये जायेंगे। इसके द्वारा

नदी में सीधे डाले जा रहे मल-जल की दिशा मोड़ कर सीवर लाइनों के द्वारा संयंत्रों तक लाया जायेगा। ये संयंत्र नदी में गिरने के पूर्व गंदे जल की अधिकांश अशुद्धियों को निकाल कर उन्हें अन्य उपयोगों में लाने के लिए तैयार करेंगे। मल-जल से ठोस पदार्थ अलग करके उसे विशाल डाइजेस्टरों में डालकर किण्वन द्वारा उनसे मीथेन गैस का निर्माण किया जायेगा। यह बायोगैस ऊर्जा के रूप में अनेक तरह से प्रयुक्त की जा सकेगी। गैस बचाने के बाद डाइजेस्टरों से बना ठोस पदार्थ जैविक खाद सिद्ध होगा। बचे हुये तरल से पुनः और ठोस पदार्थ अलग करके उस पोषक तरल को शैवाल-संवर्धन या मत्स्य-पालन के लिए उपयोग में लाया जा सकेगा। नाइट्रोजन, फॉस्फोरस और पोटैशियुम इस जल को सिंचाई के लिए भी इस्तेमाल किया जा सकेगा। सीवर संयंत्रों से युक्त किए जाने वाले इन नगरों में कानपुर, इलाहाबाद, वाराणसी, पटना, दक्षिण दमदम, जादवपुर, भाटपाड़ा प्रमुख हैं। हर्ष का विषय है कि ऋषिकेश और हरिद्वार में युद्ध स्तर पर कार्य करके एक करोड़ रुपये के व्यय से गंगा शुद्धिकरण योजना का प्रथम चरण पूरा कर लिया गया है। सीवर लाइनें तैयार कर ली गई हैं।

गंगा परियोजना के अन्तर्गत फ्रान्सीसी सरकार से भी एक समझौता किया गया है जिससे गंगा के शुद्धिकरण में तकनीकी सहायता मिलने की आशा है। नीदरलैंड भी सहयोग कर रहा है। गंगा परियोजना पर इलाहाबाद, वाराणसी तथा कुछ अन्य स्थानों पर कार्य प्रारम्भ भी हो चुके हैं। इस परियोजना के पूर्ण होने पर 75 प्रतिशत प्रदूषण समाप्त हो जाने की आशा है। इसका लाभ गंगा के तटवर्ती इलाके के निवासियों को बायोगैस, बिजली, सस्ती खाद, मत्स्य-पालन और सिंचाई के लिए पोषक जल और सबसे बढ़कर शुद्ध पेय जल के रूप में प्राप्त होगा। साथ ही जल प्रदूषण से होने वाली व्याधियों से भी मुक्ति मिलेगी।

वनस्पतिशास्त्रियों के मतानुसार जलकुंभी में भी जल के शोधन की क्षमता विद्यमान है। छोटे नगरों

जल प्रदूषण नियंत्रण : मील के पत्थर

आज जल प्रदूषण के बढ़ते स्तर को देखते हुए यह विश्वास नहीं होता कि पिछली सदी से ही प्रदूषण नियंत्रण के लिए अधिनियम बनाये जाने लगे थे। आजादी के पूर्व और बाद में बनाये गये ये कानून कितने प्रभावशाली सिद्ध हुये यह विचारणीय है। कुछ प्रमुख अधिनियम निम्नलिखित हैं—

केन्द्रीय जल नियंत्रण अधिनियम

1. द नार्थ इण्डिया कैनाल एण्ड ड्रेनेज ऐक्ट, 1873
2. द आक्सट्रक्शन ऑव फ़ेयरवेज ऐक्ट, 1881
3. द इण्डियन फिशरीज ऐक्ट, 1897
4. द दामोदर वैली कॉरपोरेशन (प्रिवेन्शन ऑव पल्यूशन ऑव वाटर) रेग्यूलेशन ऐक्ट, 1948
5. द रिवर बोर्ड्स ऐक्ट, 1956
6. द मर्चेंट शिपिंग (एमेन्डमेन्ट) ऐक्ट, 1970
7. द वाटर (प्रिवेन्शन एण्ड कंट्रोल ऑव पल्यूशन) ऐक्ट, 1974
8. द वाटर (प्रिवेन्शन एण्ड कंट्रोल ऑव पल्यूशन) सेस ऐक्ट, 1977

राज्य अधिनियम

1. उड़ीसा रिवर पल्यूशन प्रिवेन्शन ऐक्ट, 1953
2. महाराष्ट्र प्रिवेन्शन ऑव वाटर पल्यूशन ऐक्ट, 1969

के कम खर्च वाले जलशोधक संयंत्रों द्वारा इसके प्रयोग को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए।

यदि गंगा जल के शुद्धिकरण की इस वृहद् और सर्वहितकारी योजना को पूरी निष्ठा से लागू किया जा सका तो यह पेय जल की कमी से त्रस्त और प्रदूषित जल के प्रयोग के लिए विवश भारतीय जनता के लिए वरदान सिद्ध होगी। जनमानस में जल प्रदूषण की समस्या के प्रति उत्साह और चेतना जगाने

का कार्य भी यह योजना भली-भाँति सम्पादित कर सकेगी। पंडित नेहरू के शब्दों में—“गंगा सदा सर्वदा हमारे प्रवाहमय संस्कृति की प्रतीक रही है—है और रहेगी। गंगा प्राचीन भारत की स्मृति व प्रतीक है, जो वर्तमान में बहकर भविष्य के महान सागर में गिरती है।” केन्द्रीय गंगा प्राधिकरण गंगा के इसी गौरव को पुनः प्रतिष्ठापित करने और प्रदूषण को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध है। □

सभी प्रकार की सुन्दर, रंगीन

एवं उत्कृष्ट छपाई के लिए

नागरी प्रेस

186, अलोपीबाग, इलाहाबाद-6

को

सेवा का अवसर प्रदान करें

पर्यावरण बचाने के लिए स्वयं को बदलना होगा

श्यामसरन 'विक्रम'

94 लक्ष्मीबाई कॉलोनी, ग्वालियर—474002

इतिहास पृथ्वी का हो अथवा मानव का, कुछेक युग तो विशेष ध्यानाकर्षक रहे ही हैं। प्रस्तर-युग और प्लास्टिक-युग की भाँति हमारा ही 'मानसपुत्र' प्रदूषण-युग भी अपनी गहरी छाप छोड़ जायेगा। उन युगों की भाँति यह प्रदूषण-युग भी हमारी ही उपज है और कुछ हद तक खोटा वेटा भी है यद्यपि शत-प्रतिशत गुनाहगार तो यह भी नहीं !

पर्यावरण का विस्तार असीम और इसके क्षितिज अनन्त हैं। पर्यावरण है तो हम हैं; पर्यावरण की गरज से हम नहीं हैं। तिसपर भी हम हैं कि पर्यावरण में छेड़खानी से, प्रकृति के विधान में दखलन्दाजी से वाज नहीं आते। आम की डाल पर फेंका डेला कभी स्वयं हमारे ही सर से आन टकराता है तब आम खाये की बाह-बाह को चोट खाये की हाय-हाय में भूल जाते हैं। ठीक वैसे ही पर्यावरण को छेड़ेंगे हम और चोट खाने पर हाय-हाय करेंगे हम।

पर्यावरण हमारे व्यक्तित्व से, हमारे कमरे से शुरू होकर हमारे मुहल्ले, शहर, गाँव, जिले और प्रदेश ही क्यों, देश तक को अपने दामन में लिये चलता है। इसका प्रदूषण जाने-अनजाने हम किस प्रकार करते रहते हैं, यह बड़ी सरलता से समझा जा सकेगा। एक कमरा तुम्हारा है जिसे सँवारने की तुम्हें फुर्सत नहीं, एक तुम्हारे मित्र का है जिसे सँवारने से फुर्सत नहीं। तुम्हारे कमरे में दायें को बे-तरतीब किताबें, जुराबें, जूते बिखरे पड़े हैं; बायें को चार दिन से झाड़ू-पोछे के दरसन को तरसते फर्श पर मूड़े-तुड़े कागज-कचरे की बस्ती है; बगल की रसोई से उठता हुआ धुआँ आँखों को पानी-पानी किये दे रहा है; चारपाई तिरछी, रात के पानी का खाली लुढ़कता लोटा, मेज पर मैले कपड़ों के बीच कल की उतारी

ड्रेस, कॉलेज जाने का वक्त नजदीक है और जरूरत की चीजें मिल नहीं रहीं।

उधर तुम्हारे मित्र का कमरा क्या है मानो फ्रेम जड़ी तस्वीर ! स्टडी रूम में मेज पर लेखन-सामग्री, शेल्फ में किताबें, हैंगर पर तैयार ड्रेस, फर्श के कोने में जुराबें, जूते तरतीबवार; धुआँ-धूल बदन पर से विदा ले चुके, ख्वाहमख्वाह दो मिनट बैठ लेने को जी चाहता है !

यह फर्क क्यों—और, कौन है इसका जिम्मेदार ?

प्रदूषण का अर्थ ही है जरूरत की चीज का बे जरूरत की जगह होना और इसका उलटा भी कि अनावश्यक वस्तु का आवश्यकता के स्थान को घेरे रहना। दाँत मुँह के अंदर की शोभा हैं, नाखून अँगुलियों की शोभा और केशराशि याने जुल्फें सिर का सिंगार हैं। इनके टूटने, कटने, गिरने पर हम इन्हें ज्वैलबाक्स में न सहेज कर तुरन्त फेंक कर ही दम लेते हैं...क्यों ? विद्वानों की सभा में मूर्ख व्यक्ति, हंसों के बीच कौआ जैसा कैसा आँखों को चुभता है। नहाने की जगह शौच का मग्गा, पूजाघर में कूड़ा-कंकट और ड्राइंगरूम में लुढ़कती रद्दी की टोकरी, झाड़ू किसे सुहायेंगे ?

ठीक ऐसे ही सूझ-बूझ भरे हैं प्रकृति के विधि-विधान जिनकी थाह पाना तो दूर, हम चंचु-प्रवेश करके ही अपने आपको नाखुदा समझने लगते हैं ! समतल वनरावलि और पर्वतीय उपत्यकाओं के श्रृंगार समान हरे-भरे जंगल किस प्रकार वायु को ऑक्सीजन-सम्पन्न और भूमि को क्षरण से बचाते हैं, यह थोड़ा-बहुत जानते हुए भी हम देखा-अनदेखा करके इनका सफाया करने पर तुले रहते हैं। हमें नगरों-उपनगरों का विस्तार करना है, कोठियाँ, कॉलोनियाँ, बस्तियाँ खड़ी करनी हैं। हमें भूमि चाहिये, जंगल नहीं; और फिर जब जंगल की जरूरत समझ में आती है तब वन-

संवर्धन, कृत्रिम वन-रोपण के नाटक करते हैं, प्राकृतिक जंगलों के अभाव में असंतुलित वातावरण के बीच, वसंत के उतार पर अप्रैल में पाला पड़ते, शीत आगमन पर नवम्बर में पंखे चलते देखकर हाय-हाय करते हैं।

प्रदूषण के नये-नये रूप—मोटे तौर पर ही सही, प्रदूषण की सूची वजनदार तो है—यथा—वायु (वातावरण) का, जल का, भूमि का, शोरगुल का और रेडियो-सक्रिय विकिरण का।

वायु-प्रदूषण—बढ़ते कल-कारखाने, उद्योग-संस्थान, मोटर-ट्रक-परिवहन जिन्दाबाद ! प्रदूषण एक ढूँढ़ो हज़ार मिल जायेंगे। चिमनियों का धुआँ, मोटरों, ट्रकों का धुआँ, धूम्रपान का धुआँ, खेतों में अलाव और कुम्हारों के आवे का धुआँ—इन सब में प्रचुरता से उपस्थित हाइड्रोकार्बन और नाइट्रोजन ऑक्साइड मिलकर सूर्य-रश्मियों के प्रकाश-विश्लेषण द्वारा एक चादर जैसा नया आवरण फैला देते हैं जो नाकों दम कर देता है। इन्हीं में क्रांतिल कार्बनमोनोऑक्साइड भी अपना योगदान देने में पीछे नहीं रहता।

जल-प्रदूषण—‘राम; तेरी गंगा मैली’ के भोंपू बजाए जाइये, पोस्टरों की बारात चिपकाये जाइये, भाषण पिलाते जाइये, पंचों का कहना सर-माथे, पर परनाला तो यहीं गिरेगा। हमें सदियों में गर्मी, गर्मियों में सर्दी चाहिये, वर्षा में वातानुकूलित कमरे चाहिये, दिसम्बर में आम-लीची और जून में मटर-गोभी चाहिये। इनके लिये कोल्डस्टोरेज वारहों महीने जरूरी हैं और पुनः शीत-भंडारों के लिये चाहिये विद्युत्-उत्पादन पर बढ़ा-चढ़ा जोर-शोर; कारखानों के उच्छिष्ट जायें गंगा में; जमुना में, चम्बल और चिनाब में। मानव उच्छिष्ट मल-मूत्र जो कभी खुले खेतों-मैदानों में शौच-प्रथा के दम से उत्तम खाद दे देते थे, आज गटरों, सीवरों की राह जल-प्रवाहों में अथवा भू-तल में दफनाये जाते हैं। गंगा के पानी से हैजा (कुम्भ के दिनों में) और दूषित कुओं के पानी से अतिसार हमें चपेट में ले ले तो वह हमारी ही तो गुस्ताखी का पुरस्कार होगा !

भूमि-प्रदूषण—उपजाऊ भूमि के संरक्षण की किसे पड़ी है ? रहने-बसने के लिये, भूमि चाहिये। खड़े कर

लिये नगर-उपनगर और महानगरों के मेले-झमेले। अब अनाज उपजे भी तो कहाँ ? मकानों की छतों पर ? जो कुछ बच-खुचा भूमि-विस्तार है, उसी से काम चलाओ और ‘हाय-भूख’ के हंगामाकारों में शामिल हो जाओ। पिछली कुछेक शताब्दियों में कुल मिला कर जो न हुआ वो एक आगामी शताब्दी में जनसंख्या दुगुनी होने की दुंदुभि सुनायी देने लगी तो क्या ? आने वाली पीढ़ियाँ संभालें—या हमें कोसती रहें। हमारी तो चैन से गुज़र रही है। आकित की खुदा जाने ! जो थोड़े बहुत खेत जोत भी लिये तो उनमें अनाप-शनाप कीटनाशी दवायें—विशेषतः डी० डी० टी० ऐसे छिड़कें जैसे मौत की वरखा—मौत, पहले कीटों की, तत्पश्चात् दवामिश्रित अनाज खाने वाले पशु-पक्षियों की और बेचारे आदमजाद की भी !

ध्वनि-प्रदूषण—खामोश ! अदालत जारी है, कृपया हार्न न बजायें अस्पताल निकट ही है, ए बच्चो ! ये क्या शोर है—कहकर टीचर भाई जी, बहिन जी के लिये सिर पकड़ कर बैठना ही रह जाता है। परीक्षायें सर पर और पड़ोस में फुल वाल्यूम पर चीखता लाउडस्पीकर—“मैं हूँ डिस्कोडान्सर.....हा, हा, ही, ही, ! आप बीमार हैं ? अस्पताल जाइये; ये तो मुइल्ला है, यहाँ तो हंगामे होंगे ही, आप मरें या जियें, हमारी बला ! शाबास हैं, अमेरिकी सरकार को जिसने S S याने पराध्वनिक वायुयानों की चिल्लाहट से होती जनता की परेशानी देखकर ऐसे यान बनाना ही स्थगित कर दिया, हम फिर भी सुधरना नहीं चाहते।

विकिरण-प्रदूषण—औद्योगीकरण की आँधी ने हमें अंधप्राय बना दिया है। कारखाने बढ़ाने की प्यास अनन्त है जिसकी बलिवेदों पर भू-गर्भस्थ ऊर्जा-सम्पत्ति लुट-लुटाकर द्रौपदी की भाँति अनावृत होती जा रही है—तो, क्या गम है ? आण्विक ऊर्जा-उत्पादन का तो नुस्खा, याने अलादीन का चिराग हमारे हाथ में है। चाहे चिराग का प्रेत हमीं को डकार जाये। आण्विक उत्पादन संस्थानों के उच्छिष्टों का क्या हथ होगा ? समझदार देशों ने नागासाकी-हिरोशिमा न दोहराये जायें, इस दहशत से खुले में अणु-विस्फोटों

पर रोक लगा रखी है परन्तु भूगर्भीय विस्फोट भी तो कम हानिकारक नहीं। यह अलग बात है कि खुले विस्फोटों के कुप्रभावों जैसे ये भूमिगत विस्फोट हथेली पर सरसों जैसा विनाशक करिश्मा नहीं दिखाते परन्तु अन्दर ही अन्दर धरती मैया के परत-दर-परत बखिये-टाँके उधेड़ते, दस-बीस वर्षों के बाद रंग दिखाते हैं और तब हम बद्दुआ देते हैं इनके आविष्कारकों को।

हम अपने को बदलें, अपने लोभ-लालच, आवश्यक इच्छाओं और आवश्यकताओं को अंकुरित करें और प्रकृति के विधि-विधान से संघर्ष नहीं, समझौता करें, समर्पण करें तब तो कुछ बात बने—वर्ना

न कीजे चेक पॉल्यूशन, तो फिर इक ऐसा समां होगा, कि नीचे आस्मां के इक, नया और आस्मां होगा।□

गंगा मैदानी पर्यावरण की चपेट में

डॉ० रमेश चन्द्र तिवारी*

मृदा विज्ञान एवं कृषि रसायन विभाग, कृषि विज्ञान संस्थान, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

गंगा एवं इसकी सहायक नदियों की देन गंगा का मैदानी पर्यावरण विश्व में बेजोड़ माना जाता रहा है। जल-भूमि आदि से समृद्ध लगभग 2500 किमी० लम्बाई तथा 250 से 300 किमी० चौड़ाई में फैला यह भूखण्ड प्राकृतिक साधनों का भंडार है। हिमालय की तराई तथा विन्ध्य पर्वत की तलहटी और पंजाब एवं गंगासागर के मध्य की मैदानी भूमि विश्व में अनोखी मानी जाती है। यही कारण है कि जीवों की संख्या एवं सघनता यहाँ अधिकतम है। इस क्षेत्र के निवासियों की यह धारणा है, कि जब तक हिमालय रहेगा—गंगा रहेगी। प्राकृतिक संसाधनों की कमी से यहाँ के जीव-जन्तु कभी भी जल का अभाव नहीं झेलेंगे। वहाँ के निवासी खेती पर आश्रित हैं और खेती आश्रित है भूमि एवं जल साधनों पर। अतएव जल एवं भूमि में किसी प्रकार का घटियापन इनके लिए प्राणघातक सिद्ध हो सकता है।

जल साधनों का गलत उपयोग

गंगा एवं उसकी सहायक नदियों से जल का अधिकांश पीने अथवा सिंचाई के लिए उपयोग किया जाता है।

लिफ्ट सिंचाई नहर, बाँध, जल-विद्युत् आदि के

रूप में जल को उपयोग में लाया जा रहा है। किन्तु जल-उपयोग की हर कड़ी अंधाधुंध ढंग से ग्रसित है। इसका भूमिगत जल, भूमि, वनस्पतियों आदि पर क्या कुप्रभाव पड़ रहा है, इसकी ओर किसी का ध्यान नहीं है। एक ओर जहाँ नदियों के जल का अधिकांश उठाकर या बाँधकर सिंचाई के लिए उपयोग किया जा रहा है, जिससे नदियों का प्रवाह एवं जल की मात्रा काफी घट जाती है, वहीं दूसरी ओर प्रदूषक पदार्थ उतनी ही मात्रा में नदियों में लगातार गिरते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि जाड़े व गरमी के दिनों (सितम्बर-अक्टूबर से जून तक) में नदियों में प्रदूषण की सान्द्रता बढ़ जाती है। इन्हीं मौसमों में कारखानों एवं अन्य प्रदूषण-स्रोतों की सक्रियता बढ़ जाती है। अतएव जल प्रदूषण घातक स्थिति में आ जाता है। पम्प नहरों का जल प्रबन्ध इतना घटिया है कि सिंचाई के लिए प्रयुक्त जल से कमोबेश जल निरर्थक बहता रहता है और भूमिगत जल का स्तर ऊपर उठता जा रहा है। जिन क्षेत्रों में ये नहरें कई वर्षों से सिंचाई कर रही हैं वहाँ भूमि में लवणता उत्पन्न हो रही है और वृक्ष सूख रहे हैं। भूमि सम्पदा तथा वनस्पति जगत् जल के इस कुप्रबन्ध से स्पष्ट रूप से प्रभावित

*प्रधान अन्वेषक, गंगा नदी का समन्वित अध्ययन (कृषि सम्बन्धी) अनुसंधान परियोजना, पर्यावरण विभाग, भारत सरकार, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—221005

हो रहा है। भूमि से अनाज की फसलें जैसे धान एवं गेहूँ के अतिरिक्त दलहनी एवं तलहनी फसलों का कृषिगत क्षेत्र नगण्य होता जा रहा है। इसके फलस्वरूप जन-जीवन के लिए प्रोटीन का अभाव इस घाटी में उग्ररूप धारण कर सकता है। जल के इस नहरी कुप्रबन्ध से ऐसे निरावन (खरपतवार) पनप रहे हैं जिनका नियन्त्रण एक मँहगा और कठिन कार्य होगा। अतएव यह कहना अत्योक्ति नहीं होगी कि प्राकृतिक संसाधनों के प्रदूषण के साथ भोजन एवं स्वास्थ्य के असंतुलन का खतरा भी मँडराने लगा है।

सड़कों एवं नहरों का जल कहीं जंजाल न बने

प्रत्येक भूमि का अपना प्राकृतिक जल-निकास हुआ करता है। नहरों एवं सड़कों के निर्माण के समय जल-निकास पर ध्यान न देने से काफी भूभाग घटिया एवं अवरुद्ध जल-निकास का शिकार होता जा रहा है। इससे अच्छी भूमियों की उपयोगिता पर प्रश्न-चिह्न लगता जा रहा है। सभी प्राकृतिक साधनों में घटियापन एवं असंतुलन उसी प्रकार बढ़ रहा है जैसा अधिक जल के कारण होता है। वर्षा जल के भरान से कई समस्याएँ उठ रही हैं और कृषि-उत्पादन पर काफी कुप्रभाव पड़ रहा है। सड़कों के किनारे जल-निकासी का काम करने वाली खाली जगह में लगातार मकान बनने से जल-निकास अवरुद्ध हो जाता है। अतएव सिंचाई एवं यातायात साधन बढ़ाने की दौड़ में हम प्राकृतिक साधनों की बलि चढ़ा रहे हैं। होना यह चाहिए कि नहरों एवं सड़क बनाते समय भूमि जल-निकास को सटीक ढंग के प्रभावी बनाया जाय।

ईट-भट्ठों एवं कारखानों का अन्धाधुन्ध निर्माण

प्रायः अच्छी भूमि एवं सघन बाग-बगीचों के आस-पास ईंटों के भट्ठे एवं कारखाने चलाने की कुप्रथा पर कोई रोक नहीं है। भूमि वनस्पति एवं जल साधनों को प्रदूषित करने में इनकी भूमिका से कौन अपरिचित है? किन्तु इस ओर भी किसी की पहल दिखाई नहीं दे रही है। अच्छी भूमियों पर ऐसे कार्य लाखों एकड़

कृषि योग्य भूमि को खेती से छीन ले रहे हैं। तो फिर गंगा के मैदानी भाग की यह सम्पदा कब तक बची रहेगी? मैदानी भाग की भूमि-सम्पदा से बनी ईंटें जंगलों में नगर निर्माण कर रही हैं और सैकड़ों वर्षों की प्राकृतिक देन—मिट्टी पलक झपटे समाप्त होती जा रही है। इस गम्भीर समस्या का शिकार यही भूभाग है। अतः यह आवश्यक है कि घटिया भूमि, बंजर व बेकार भू-खण्डों पर निर्माणकार्य कराया जाय व कारखाने बनाये जायँ। इससे उपयोगिता के अनुसार भूमि का प्रबन्ध लाभकारी होगा।

कृषिजन्य जल प्रदूषक

सम्प्रति वैज्ञानिक खेती में रासायनिक उर्वरकों, कीट-व्याधिनाशी रसायनों आदि का प्रयोग दिन-प्रति-दिन बढ़ रहा है। ये सभी रसायन मुख्यतः मिट्टी की ऊपरी सतह पर ही डाले जाते हैं। इनमें से कुछ रसायन फसल कटने के पश्चात् भी खेत में अवशेष के रूप में पड़े रहते हैं। जो रसायन जल विलेय हैं वे बहते हुए जल अथवा भूमि में रिसते हुए जल के साथ क्रमशः या तो नदियों में जाते हैं या भूमिगत जल में जा मिलते हैं। फफूँदी, जीवाणु तथा कीड़े-मकोड़े मारने वाले विभिन्न प्रकार के ये रसायन प्राणघातक होते हैं। अतएव भूमि अपरदन के साथ इनका जल स्रोतों में जा मिलना जल प्रदूषण के लिए एक प्रश्न-चिह्न है। हो सकता है भविष्य में इनकी अवशेषी मात्रा भूमि एवं भूमिगत जल तथा नदियों में क्रांतिक मात्रा से विषाक्त मात्रा तक पहुँच जाय। इसके लिए अभी से सचेत होना आवश्यक है। कृषि रसायनों एवं उर्वरकों के न्यायोचित उपयोग से ही प्रदूषण से बचा जा सकता है।

सही भूमि एवं जल प्रबन्ध किया जाय

सरकार द्वारा हाल ही में आरम्भ किये गये “वाटर सेड” प्रणाली से ग्रामीण विकास एक अच्छी प्रणाली सिद्ध हो सकती है बशर्ते इसे तकनीकी ढंग से एवं ईमानदारी से क्रियान्वित किया जाय। यदि वाटर सेड का समन्वित प्रबन्ध हो तो पर्यावरण

के सभी संघटकों का दुरुपयोग, प्रदूषण आदि का खतरा टाला जा सकता है। इससे वन पनपेंगे, कृषि उपज बढ़ेगी, उद्योगों को कच्चा माल मिलेगा, चरागाहों का स्वयं विकास हो जावेगा, उद्यान बढ़ेंगे एवं

जन-जीवन समृद्ध होगा। साथ ही पर्यावरण के तमाम घटिया हो रहे पहलू अपने आप नियंत्रण में आ जावेंगे। □

वन-विनाश और पर्यावरण

नरेश बाली

जोगी पाड़ा, डाकघर आजरा, गौहाटी (असम)-781017

स्थापित प्राकृतिक तंत्र में मानव की दखलंदाजी की कहानी बहुत पुरानी है। यह तब से शुरू होती है जब मनुष्यजाति ने अपना होश संभाला। सभ्यता के साथ ही मानव ने प्राकृतिक वनस्पतियों का सफाया करके अपनी आवश्यकतानुसार जंगलों को खेती के योग्य बनाकर कृत्रिम वानस्पतिक तंत्र का निर्माण किया। बढ़ती जनसंख्या के साथ लगातार बढ़ते नगरों को बनाने, सड़कों निकालने तथा उद्योग-धंधे स्थापित करने के लिए वनों का बहुत बड़े पैमाने पर सफाया किया। इससे हमारे पारिस्थितिक तंत्र में भारी असंतुलन की स्थिति पैदा हो गयी जो हमारी आने वाली पीढ़ियों के लिए निश्चय ही बहुत हानिकारक सिद्ध होगी।

हमारे हिमालय प्रदेश के हरे-भरे, घने जंगलों का जो एक खूबसूरत शब्दचित्र आज से करीब सौ साल पहले एक ब्रिटिश अधिकारी कर्नल पियरसन ने अपनी पुस्तक में किया था, अब उसमें काफी परिवर्तन आ गया है। समय के साथ आज यह चित्र अपना वैभव, अपना रंग, अपनी सुन्दरता खो चुका है। हरियाली के स्थान पर तंगी जमीन को दर्शाने वाले अनेक भूरे धब्बे इसमें दिखायी देने लगे हैं जिसे यहाँ के निवासी एक अपशकुन मानते हैं। और दून घाटी? यूँ तो यहाँ पर वनों की कटाई का सिलसिला ब्रिटिश शासनकाल से ही आरम्भ हो गया था जब तत्कालीन सरकार ने बाहर से आकर बसने वाले लोगों को यहाँ की जमीन पट्टे पर देनी शुरू की थी। पर, लोगों को आज भी

याद है कि स्वाधीनता के समय तक भी ये पहाड़ियाँ साल वृक्षों से अच्छी तरह ढँकी हुई थीं। लेकिन आज ऐसे केवल कुछ ही झुंड दिखायी पड़ते हैं और ये भी निकट भविष्य में मानव-स्वार्थ का शिकार बनने ही वाले हैं।

मुद्रा के लोभ में हमने अपने प्राकृतिक वनों का सफाया करके इनके स्थान पर व्यवसायिक महत्व वाले कुछ विदेशी अथवा देसी जातियों के वृक्ष लगाये। साल, टीक तथा ओक के हिस्से की एक बहुत बड़ी जगह हमने चीड़ के वृक्षों को दे दी, यह जानने के बावजूद कि व्यवसायिक दृष्टि से ये वृक्ष चाहे जितने लाभदायक हों, पर पूर्व वर्णित के मुकाबले मिट्टी को बाँधे रखने तथा इसे कटाव से बचाये रखने की शक्ति इनमें नहीं है। जीवांश अर्थात् ह्यूमस बनाने के लिए विघटन का कार्य कर सकने की ताकत भी ये वृक्ष नहीं रखते। जैसा कि हम जानते हैं, ह्यूमस वह पदार्थ है जिससे मिट्टी हल्की होकर उसकी जल-शोषण क्षमता बढ़ जाती है। ह्यूमसयुक्त मिट्टी नमी को काफी समय तक अपने भीतर रोके रखती है। साल तथा ओक वृक्ष त्यागी गयी अपनी कई टन चौड़ी पत्तियों के माध्यम से जमीन को उर्वरा भी बनाये रखते हैं जबकि अन्य व्यवसायिक महत्व वाले वृक्ष, जिनकी पत्तियाँ प्रायः छोटी होती हैं, के साथ ऐसा नहीं है। चौड़ी पत्ती वाले वृक्ष पौष्टिक आर्द्रता को बढ़ावा देते हैं पर चीड़ के वृक्ष ऐसा कर पाने में सामान्यतः असमर्थ हैं। प्राकृतिक वन जिनमें कि विभिन्न जातियों के वृक्ष तथा

वनस्पतियाँ पायी जाती हैं, के स्थान पर केवल किसी एक प्रकार के वृक्षों का रोपण पारिस्थितिक तन्त्र पर बहुत बुरा असर डालता है।

चौड़ी पत्ती वाले अधिकतर वृक्ष तो यहाँ से काफी पहले ही अदृश्य हो चुके हैं और अब ये चीड़ के वृक्ष भी मानव की धन-लोलुपता का शिकार हो रहे हैं। इनसे अधिकाधिक रेजिन प्राप्त कर लेने की लालच की खातिर एक बहुत बड़ी संख्या में हिमालय के ये वृक्ष काल का ग्रास हो रहे हैं। पिछले वर्षों 1700 एकड़ से भी अधिक क्षेत्र पर के जंगल काटकर टिहरी बाँध परियोजना के लिए आकर बसने वालों की भेंट चढ़ा दिये गये। यह अभी तब की बात है जब हम स्वयं को वन-विनाश के विरुद्ध काफी जागा हुआ मानते हैं।

वन-विनाश के इस भयंकर खेल का खतरनाक परिणाम आज हमारे सामने है। इस क्षेत्र में आजकल प्रायः घटने वाले चट्टानों के खिसकने के मामले—जो मृदा-अपरदन का परिणाम है—तथा बड़ी जल्दी सूखते जा रहे जल-स्रोत आम हैं। घाटी के नीचे की नदी काफी सिकुड़ गयी है। इसमें आज पहले जितना जल नहीं रहा। मानसून आती है तो यह नदी तीव्र वेग से बहने लगती है और हज़ारों टन मिट्टी अपने साथ बहा ले जाती है। अधिकतर वृक्षों, वनस्पतियों के समाप्त हो जाने के बाद अब यहाँ पर मिट्टी के कटाव को रोकने, वर्षा के पानी को सारा नीचे बह जाने से रोकने के पर्याप्त साधन नहीं हैं। मिट्टी को बाँधे रखने तथा वर्षा-जल को भीतर जमा रख सकने वाला जड़ों का जाल यहाँ नहीं है जिससे कि अगली वर्षा तक पानी धीरे-धीरे मुक्त होता रहे। छोटी जलधाराएँ तथा सूर्य की गर्मी में नंगी पड़ी धरती सूख चुकी है। ओक वृक्षों का बड़े पैमाने पर सफाया किये जाने का दुष्प्रभाव यहाँ के जल-स्रोतों की पिछले अस्सी वर्षों में पचास से सत्तर प्रतिशत तक की कमी के रूप में देखने में आया है। सघन वनों के अभाव में यहाँ का वन्य-जीवन भी बड़ी जल्दी लुप्त होता जा रहा है।

अन्य हिमालय-प्रदेशों की भाँति हिमाचल प्रदेश का भी अधिकांश भाग आज से करीब डेढ़ सौ वर्ष पूर्व

तक सघन, दिन में भी रात का आभास देने वाले, जंगलों से ढँका हुआ था। पर आज यहाँ के वन उतने घने तथा उतनी विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों से युक्त नहीं रहे। पहले-पहल यहाँ के वृक्ष इनकी लकड़ी के कारण कटने आरम्भ हुए थे, फिर सड़कों और रेलवे के विस्तार के साथ इनका कटाव जोर पकड़ता गया। जंगलों का सफाया करने का यह कार्य न केवल व्यवसायी ठेकेदारों द्वारा ही किया गया बल्कि राज्य सरकार स्वयं भी इसमें लिप्त रही। तब वनों का व्यवसायिक कारणों से काटा जाना जो आरम्भ हुआ, वह सिलसिला आज तक जारी है—पहले से कहीं अधिक तीव्रता, कहीं अधिक निर्ममता के साथ।

जैसा कि हमें मालूम है अकेले हिमाचल प्रदेश का सेब उत्पादन पूरे देश का एक तिहाई है। सेब उत्पादन से मुद्रा की दृष्टि से तो राज्य समृद्ध ज़रूर हुआ है पर शनैः शनैः अपनी वन-सम्पदा से हाथ धोता जा रहा है। व्यवसायिक महत्व को देखते हुए यहाँ लोगों ने जंगल साफ करके सेब के बाग लगाये। सेब का पेड़ फल देने में सामान्यतया पाँच से सात साल लेता है तो इस दौरान किसान इनके बीच में आलू बोते रहते हैं। पर्यावरण की दृष्टि से ऐसे दोनों ही कार्यों से हमें हानि उठानी पड़ती है। एक तो प्राकृतिक वनों के स्थान पर एक ही प्रकार के वृक्ष पारिस्थितिक-तन्त्र में असन्तुलन ला देते हैं और दूसरे आलू की खेती मिट्टी को बाँधे रखने में सहायक नहीं फलस्वरूप यहाँ की मिट्टी की मूल्यवान ऊपरी परत बड़ी तेज़ी से कट रही है।

सेब के वृक्ष प्रौढ़ होकर जब फल देना शुरू करते हैं तो इन फलों को पैक करके बाहर भेजना होता है, जिसके लिए पेटियों की ज़रूरत होती है और तब फिर से शामत आती है निरीह वनों की। राज्य भर में लकड़ी कटाई मिलों की संख्या आज निरन्तर बढ़ती जा रही है और जंगल दिन-ब-दिन सिकुड़ते चले जा रहे हैं। ऐसी परिस्थितियों में प्रबल आशंका है कि आने वाले वर्षों में देश अपने इस राज्य के वनों का एक बहुत बड़ा भाग स्वप्न की भाँति गँवा बैठेगा।

भारत का एक अन्य वन-सम्पदा-समृद्ध प्रान्त है असम। यह भी इस विश्वव्यापी समस्या से अछूता नहीं बचा है। कितने दुर्भाग्य की बात है कि असम जैसे पूर्वोत्तर राज्यों में शैक्षणिक तथा चिकित्सासंबंधी प्रगति का प्रकाश तो देर से पहुँचता है जबकि वन-विनाश का अंधड़ अन्य राज्यों से होता हुआ यहाँ पहले पहुँच चुका है। व्यवसायी लोग पैसे की चकाचौंध में अन्धाधुन्ध लकड़ी काट-काट कर जंगलों का अस्तित्व समाप्त करते चले जा रहे हैं। यहाँ की पहाड़ियाँ जो पहले एक हरी-भरी पट्टी की तरह दिखायी पड़ती थीं, आज भूरे अजगर सी नजर आती हैं। प्रतिदिन कितने ही वृक्ष कुल्हाड़ों तले चीख-चीख कर, दम तोड़ देते हैं,

लेकिन इनकी करुण आवाज सुनने वाला कोई नहीं है।

प्रकृति हर किसी को उसके गलत काम की सजा जरूर देती है। इस दण्ड का प्रभाव यहाँ की जलवायु में मात्र कुछ ही वर्षों में बड़ी तेजी से बदलाव के रूप में आज हमारे सामने है। पहले यहाँ साल में वर्षा के महीने अधिक होते थे, आज ऐसा नहीं है। वर्षा काफी कम होने लगी है और गर्मी अधिक। तात्पर्य यह कि वन-विनाश की वजह से यहाँ की जलवायु धीरे-धीरे गरम होती जा रही है। यह स्थिति हमारे देश की ही नहीं, विश्व के अधिकांश भागों की है। और यदि समय रहते हम चेत नहीं जाते तो इसका अन्त एक प्रलय के रूप में अवश्यम्भावी है। □

फार्म/4 FORM IV

[नियम 8 देखिये (See Rule 8)]

1. प्रकाशन स्थान

2. प्रकाशन अवधि

3. मुद्रक का नाम

(क्या भारत का नागरिक है ?)

(यदि विदेशी है तो मूल देश)

पता

4. प्रकाशक का नाम

(क्या भारत का नागरिक है ?)

(यदि विदेशी है तो मूल देश)

पता

5. सम्पादक का नाम

(क्या भारत का नागरिक है ?)

(यदि विदेशी है तो मूल देश)

पता

6. उन व्यक्तियों के नाम व पते जो समाचार-पत्र के

स्वामी हों तथा जो समस्त पूँजी के एक प्रतिशत

से अधिक के साझेदार या हिस्सेदार हो।

मैं, शिवगोपाल मिश्र एतद्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार ऊपर दिए गए विवरण सत्य हैं।

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-211002

मासिक, प्रत्येक मास का 15 दिनांक

श्री सरयू प्रसाद पाण्डेय

(हाँ)

नागरी प्रेस, अलोपीबाग, इलाहाबाद

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

(हाँ)

रीडर, रसायन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

डॉ० जगदीश सिंह चौहान

(हाँ)

रीडर, रसायन विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-2

शिवगोपाल मिश्र

प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद-2

दिनांक 1-3-86

जनवरी-मार्च 1986 ○

विज्ञान

○ 95

IFFCO
NPK

इफको

IFFCO
Urea

इफको खाद खेत की शान ।

इसके मालिक सभी किसान ॥

क्योंकि

- ✽ इफको एन० पी० के० 12:32:16 एक पूर्ण सन्तुलित एवं पौष्टिक खाद है ।
- ✽ इससे जड़ों एवं व्यांतों का अच्छा विकास होता है ।
- ✽ दानेदार एन० पी० के० बुवाई के समय प्रयोग में आसान है ।
- ✽ केवल सहकारी बिक्री केन्द्रों, कृषि विभाग, एवं इफको कृषि सेवा केन्द्रों से ही उपलब्ध होने के कारण शत-प्रतिशत शुद्ध है ।
- ✽ अधिक घुलनशील होने के कारण पौधों को आसानी से सुलभ तथा शीघ्र प्रभावकारी हैं ।
- ✽ इफको के क्षेत्रीय अधिकारी उर्वरकों के प्रभावशाली प्रयोग तथा उन्नतिशील कृषि तकनीकी कृषकों को उनके खेतों पर निःशुल्क प्रदान करते हैं ।

इण्डियन फारमर्स फर्टिलाइजर कोऑपरेटिव लि०

मुख्य कार्यालय :

गोवर्धन 33/34 नेहरू प्लेस, नई दिल्ली-110019

प्रादेशिक कार्यालय :

8, गोखले मार्ग, लखनऊ-226001

पर्यावरण और कानून

मनोज कुमार पटैरिया

वरिष्ठ संपादन सहायक, भारत की संपदा, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय
सी० एस० आई० आर०, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली—12

संसद में 13 दिसम्बर 1985 को पर्यावरण राज्य मंत्री श्री जेड० आर० अंसारी ने कहा है कि पर्यावरण कानूनों को बदलती हुई आवश्यकताओं के अनुसार ढाला जायेगा तथा उन्हें और कड़ा बनाया जायेगा। इस वक्तव्य से जहाँ एक ओर यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकार यह मानती है कि वर्तमान में पर्यावरण संबंधी विभिन्न कानून आवश्यकताओं के अनुरूप नहीं हैं और उनमें काफी शिथिलता है, वहीं दूसरी ओर इस संभावना की भी आशा बंधती है कि वास्तव में अभी इस ओर ध्यान दे दिया गया तो भारत में, जो कि इक्कीसवीं सदी में बड़े औद्योगिक प्रवेश की राह देख रहा है और विकास के एक क्रांतिक मोड़ पर है, सुव्यवस्थित औद्योगिक विकास की दिशा सुनिश्चित हो जायेगी। इसकी अभी यहाँ पर्याप्त गुंजाइश है।

पिछले दिनों जब लोग गत वर्ष की भोपाल घटना की कटु स्मृति कर रहे थे, तब चार दिसम्बर 1985 की व्यस्त दोपहर को दिल्ली में 'श्रीराम फूड एण्ड फर्टिलाइजर्स' के कारखाने में से ओलियम गैस के हवा में उड़कर देश के पर्यावरण कानूनों का एक बार फिर मजाक उड़ाया, जिसके असर से सरकारी तौर पर 200 तथा गैर सरकारी सूचनाओं के अनुसार 700 लोग प्रभावित हुये थे और राजधानी में भगदड़ मच गई थी। इस गैस से एक वकील की मृत्यु भी हो गयी थी। इन घटनाओं ने वर्तमान पर्यावरण कानूनों की सार्थकता और पर्याप्तता पर एक नहीं, अनेक प्रश्न-चिह्न लगा दिये हैं।

पर्यावरण कानून शृंखला

भारतीय संविधान के निर्देशक सिद्धांतों (धारा

48 और 51 ए) के अनुसार वन और वन्य-प्राणियों सहित नैसर्गिक पर्यावरण की सुरक्षा और उनका विकास करना प्रत्येक भारतीय नागरिक के लिये कानूनन अनिवार्य है। आर्थिक विकास की राष्ट्रीय सुरक्षा पर विशेष नीति में भी पर्यावरण पर जोर दिया गया है। भारत में औद्योगिक प्रदूषण के विरुद्ध 1905 में कानून बनाया गया था, तभी धुआँ कानून (स्मोक नुइसेन्स एक्ट) से रूप में, वायु प्रदूषण को रोकने के स्थानीय नियम, कलकत्ता (1905), बम्बई (1912) और कानपुर (1958) बनाये गये थे। 1927 में भारतीय वन कानून बनाया गया जो अब काफी पुराना पड़ चुका है। 1948 में बनाए गये संविधान में प्रदूषण नियन्त्रण के उपायों का उल्लेख किया गया तथा समय-समय पर संसद में और भी कानून पारित किये गये, जिनसे पर्यावरण कानूनों की शृंखला बन गई। खानों सहित सभी प्रकार के उद्योगों के लिए उनके बहिःस्त्राव आदि से संबंधित मानक बनाने के लिये 1948 में ही भारतीय मानक संस्था की स्थापना की गई।

तदुपरांत प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में पर्यावरण की सुरक्षा से सम्बन्धित अनेक कानून बनाये गये हैं, जो हमारे पर्यावरण के संरक्षण और शुद्धता के प्रति सरकार की चिंता के द्योतक हैं। इनमें प्रमुख हैं : कारखाना संशोधन अधिनियम 1948 (1976 में संशोधित), कीटनाशी अधिनियम 1968, वन्य जीव संरक्षण कानून 1972, वन्य प्राणी संवर्धन कानून 1974, जल प्रदूषण नियन्त्रण कानून 1974, जल प्रदूषण अधिनियम 1975, जल प्रदूषण कर कानून 1977, वायु प्रदूषण अधिनियम 1978, वन संरक्षण कानून 1981, वायु प्रदूषण नियन्त्रण व

निरोधक कानून 1981 और खाद्य अपमिश्रण कानून आदि ।

पर्यावरण विभाग : कारगर उपाय

पर्यावरण प्रदूषण के प्रति अंतर्राष्ट्रीय चिंता से प्रेरित हो कर 1972 में भारत सरकार ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग के अंतर्गत एक उच्च स्तरीय सलाहकार समिति के रूप में “राष्ट्रीय पर्यावरण आयोजन व समन्वय समिति” गठित की थी । बाद में इसका नाम बदल कर राष्ट्रीय पर्यावरण आयोजन समिति कर दिया गया । इसके कार्यों में विकास योजनाओं के पर्यावरण पक्ष का मूल्यांकन, आवास आयोजन, नैसर्गिक पर्यावरण व्यवस्था का सर्वेक्षण और पर्यावरण के प्रति जागृति पैदा करना शामिल है । बाद में यह महसूस किया गया कि पर्यावरण कार्यक्रमों को समन्वित रूप से अमल में लाने के लिये एक अकेली समिति से काम नहीं चलेगा । इसलिये देश में पर्यावरण रक्षा के काम को सुधारने तथा कानूनी और प्रशासकीय स्तरों पर सुझाव देने के लिये फरवरी 1980 में एक समिति की नियुक्ति की गई । श्री नारायणदत्त तिवारी उस समिति के अध्यक्ष थे, जिसे बाद में तिवारी कमिटी कहा गया । तिवारी कमिटी की सिफारिश पर नवम्बर 80 में बने पर्यावरण विभाग ने अगस्त 1981 से प्रदूषण के बारे में विचार, प्रचार और नियंत्रण का काम अपने हाथों में लिया था । अब इस पर जल प्रदूषण नियंत्रण कानून 1974 तथा नये वायु प्रदूषण नियंत्रण कानून पर अमल करने का प्रशासकीय दायित्व भी आ गया है । यह अब जीवमंडल (बायोस्फियर रिजर्व) चारागाह का संरक्षण, दलदल और जल ग्रहण क्षेत्र, तटवर्ती जल का उपयोग और विषैले पदार्थों की रोकथाम के बारे में परीक्षण करने तथा आवश्यक कानून बनाने में मदद करने के लिये एक पर्यावरण कानूनी प्रभाग आरंभ कर रहा है । विभाग के पास पर्यावरण कानून बनाने के लिये प्रयत्न करने की शक्ति है । वन्य जीव संरक्षण कानून 1972 द्वारा भारत में विपत्तिग्रस्त वन्यजीवों की एक बड़ी सूची तैयार की गई है । उन्हें अंधाधुंध शिकार के कारण संभावित

विनाश से बचाने का प्रावधान है । उसकी पहली कार्यसूची में 70 वनचरों, 22 रेंगन वाले प्राणियों व उभयचरों, तथा 41 पक्षियों को दुर्लभ तथा खतरे में पड़ा बताया है । अब इनका समूचे देश में संरक्षण किया जा रहा है । 1981 में ही राष्ट्रीय पर्यावरण बोर्ड की स्थापना की गई । छठी योजना में पारिस्थितिकी और पर्यावरण पर एक अनुच्छेद को शामिल किया जाना तथा नए पर्यावरण मंत्रालय का गठन किया जाना इस बात के संकेत हैं कि समस्या के समाधान हेतु कदम उठाये जा रहे हैं ।

समस्याएँ बाकी हैं

इन सारे प्रयत्नों से पर्यावरण संरक्षण के रास्ते की कई रुकावटें दूर अवश्य हुई हैं, फिर भी कई समस्याएँ बाकी हैं । भारतीय विज्ञान संस्थान के प्रो० माधव गाडगिल का कहना है कि प्रदूषण नियंत्रण कानून में अनेक कमियाँ हैं, उसमें मछली पकड़ने के अतिरेक को रोकने का प्रावधान नहीं है । सरकार द्वारा औद्योगिक कचरे और गंदे पानी का प्रबन्ध अपने हाथ में ले लिये जाने की कोई कानूनी गुंजाइश नहीं है, और विशेष महत्व के भूभागों की सुरक्षा, वायु गुणों की रक्षा के साथ जल प्रदूषण नियंत्रण और नगर योजना जैसे अन्य पर्यावरणीय मामलों में समन्वय तथा उद्योगों के लिये स्थान तय करने के बारे में आवश्यक कदम उठाने का उसमें प्रावधान नहीं है । वायु प्रदूषण नियंत्रण वाले क्षेत्र में किस प्रकार का ईंधन जलाया जाये इसके लिये भी नियम नहीं बना है । इसीलिये इस कानून से वातावरण स्वच्छ नहीं हो सकता । इस कानून में मोटर वाहनों के धुएँ को नियंत्रित करने की भी व्यवस्था नहीं है ।

वर्तमान में अनेक कानून जो विशेष आर्थिक लाभ के लिये विकास तथा साधन स्रोतों के उपयोग की अनुमति देते हैं, वे इस बात की गहराई में नहीं जाते कि उनसे पर्यावरण पर आज और कल कितना बुरा प्रभाव पड़ सकता है । पर्यावरण के स्रोतों के प्रबन्ध से संबंधित कुछ कानून यह स्पष्ट नहीं बताते कि उसे कौन से सामाजिक लक्ष्य प्राप्त करने हैं । कई जगह

जहाँ स्रोतों का साक्षा दो राज्यों के बीच होता है, वहाँ एक राज्य में बने कानून का प्रभाव पड़ोसी राज्य पर प्रतिकूल भी होता है। तिवारी कमिटी ने पर्यावरण संरक्षण संबंधी 30 कानूनी कार्यवाहियों का एक व्यापक सर्वेक्षण किया था, जिसमें कानून में निहित उपर्युक्त बुनियादी कमजोरियाँ साफ उजागर हुई हैं। कमिटी ने पाया कि कई कानून विलकुल पर्याप्त हैं, ठीक हैं, पर उन्हें पूरी तरह से अमल में नहीं उतारा जाता है। कीटनाशक कानून (1968) में कई ऐसे कीटनाशकों के उपयोग को रोकने पर जोर नहीं दिया गया है जो अनेक जीवित प्राकृतिक पर्यावरण स्रोतों पर अपने घातक परिणामों के कारण संसार में बदनाम हो चुके हैं। कुछ देशों में डी० डी० टी० पर प्रतिबंध लगा दिया गया है। उक्त कानून में कीटनाशकों के प्रयोग के बाद बचे अंशों की निगरानी के बारे में पर्याप्त निर्देश नहीं दिये गये हैं।

कमिटी ने केन्द्र तथा 14 राज्यों द्वारा अनुमोदित जल प्रदूषण नियंत्रण व प्रतिरोध कानून 1974 के कार्यान्वयन में बरती जा रही ढील के बारे में कड़ाई के साथ लिखा है। जल प्रदूषण के नियंत्रण और प्रतिरोध के लिये स्थापित केन्द्रीय और राज्य मंडलों में अधिकांश तो राज्यों में सार्वजनिक स्वास्थ्य विभाग की ही एक कमजोर कड़ी बन गये हैं, क्योंकि कमिटी

का कहना है कि कानून में बताये अनुसार बोर्ड क सदस्य सचिव कोई सार्वजनिक स्वास्थ्य इंजीनियर ही हो सकता है जो प्रतिनियुक्ति पर यह कार्य करेगा। कमिटी ने इस तथ्य पर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि पर्यावरण कानूनों का उल्लंघन करने वालों पर सामान्य-न्यायालयों में मुकदमा दायर करने से उसका फौसला होने में लंबा समय लगता है। जिस उपेक्षा से सारी समस्या को देखा जाता है, वह इस बात से स्पष्ट हो जाती है कि 1982 तक प्रदूषणरोधी कानून भंग करने के लिये उद्योगों के खिलाफ केवल 40 मामले विभिन्न अदालतों में उठाये गये थे। एकेडेमी ऑफ एनवायरनमेंटल ला कंजरवेशन एण्ड रिसर्च के अध्यक्ष न्यायभूषित लगेन्द्र सिंह ने कहा है कि संसद को एक कानून पारित करना चाहिये जिसमें देश भर के पर्यावरण प्रदूषण के सभी पहलुओं का समग्र रूप में समावेश हो जाये। उनका विचार है कि इस विषय पर केन्द्र सूची में विशेष उल्लेख किया जाना चाहिये ताकि कानूनी उपाय और उन पर सीधा अमल केन्द्र द्वारा किया जा सके। क्योंकि कड़े और सुस्पष्ट कानून के अभाव में पर्यावरण विभाग के मुठ्ठी भर लोगों में इतनी ताकत नहीं है कि वे इस विशाल देश में जगह-जगह बन रही परियोजनाओं में हो रही पर्यावरण कानूनों की उपेक्षा को ठीक करा पायें। □

विज्ञान की नई पत्रिका

विज्ञान-वीथिका

हिन्दी के माध्यम से विज्ञान के विभिन्न विषयों पर सामयिक, रोचक एवं ज्ञान-वर्धक सामग्री से भरपूर एकमात्र द्वैमासिक पत्रिका और मूल्य : 4 रु० मात्र

सम्पादक : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

5 ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211002

मिलने का पता :

एशिया बुक कम्पनी

9, युनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद-211002

सभी प्रकार के रासायनिक यौगिकों,

उपकरणों एवं

प्रयोगशाला अभिकर्मकों के लिए

हमें लिखें

साइंस कारपोरेशन

104, लीडर रोड, इलाहाबाद

समस्त वैज्ञानिक विषयों की उत्तम छपाई के लिए एकमात्र सर्वोत्तम स्थान

प्रसाद मुद्रणालय

सम्पर्क सूत्र :

श्री अरुण राय

प्रसाद मुद्रणालय

7 बेली एवेन्यू, इलाहाबाद—211002

हमारे अभिनव प्रकाशन

1. Agricultural Engineering	Dr. Radhey Lal	Rs. 60.00
2. I. C. Engines	A. C. Rao	Rs. 30.00
3. Irrigation Hydraulics	Dr. Radhey Lal	Rs. 40.00
4. Tube Wells	S. B. Mittal	Rs. 25.00
5. सरल ऊष्मा इंजिन	टाक तथा शर्मा	Rs. 55.00
6. Steam Tables in S. I. Units	Dr. Satish Chandra	Rs. 3.75
7. D. C. Machines & Transformers	Dr. R. C. Goel	Rs. 55.00

विस्तृत जानकारी के लिए हमें लिखें

सरोज प्रकाशन, 646 कटरा, इलाहाबाद-211002

हमारे मूल्यवान प्रकाशन अत्यन्त कम मूल्य पर

1. परमाणु विलपण्डन	डॉ० रमेशचन्द्र कपूर	रु० 9.00
2. प्रायोगिक भौतिकी	डॉ० सेठी एवं डॉ० कुलश्रेष्ठ	रु० 12.00
3. इलेक्ट्रान विवर्तन	अनु० डॉ० डी० पी० खण्डेलवाल	रु० 3.00
4. दूरबीक्षण के सिद्धान्त	अनु० हरप्रसाद शर्मा	रु० 6.00
5. प्रकाश और वर्ण	अनु० भगवती प्रसाद श्रीवास्तव	रु० 11.50
6. औद्योगिक इलेक्ट्रानिकी के सिद्धान्त और प्रयोग	अनु० प्रोफेसर कृष्णजी	रु० 7.00
7. भौतिकी रसायन	डॉ० सत्यप्रकाश और	
	डॉ० शिवप्रकाश	रु० 11.00
8. अकार्बनिक रसायन	डॉ० हीरालाल निगम	रु० 14.00
9. प्रायोगिक रसायन	महीपाल गुप्त	रु० 12.00
10. प्रकाश रसायन	डॉ० हीरालाल निगम	रु० 11.00
11. कार्बनिक रसायन	प्रोफेसर रामदास तिवारी एवं	
	डॉ० कृष्णचन्द्र श्रीवास्तव	रु० 29.00
12. बीजगणित	डॉ० रामकुमार	रु० 7.50
13. त्रिकोणमिति	राजेन्द्र स्वरूप गुप्त	रु० 6.00
14. गणित का इतिहास	डॉ० ब्रजमोहन	रु० 9.50
15. हिन्दू गणितशास्त्र का इतिहास	डॉ० कृपाशंकर शुक्ल	रु० 5.00
16. शुद्ध गणित की पाठचर्या	अनु० डॉ० ब्रजमोहन	रु० 12.50
17. गणितीय सांख्यिकी का प्रथम पाठ्यक्रम	अनु० जे० पी० जायसवाल	रु० 9.00
18. कशेरुकी प्राणी	अनु० विद्यासागर	रु० 28.00
19. जीवाणुविज्ञान के मूल सिद्धान्त भाग-1, 2	अनु० सुधीरचन्द्र	रु० 40.50
20. जीवरसायन की रूपरेखा	अनु० रामाकिशोर टण्डन	रु० 50.00
21. सैकेराइड रसायन	सन्तप्रसाद टण्डन	रु० 19.00
22. ऊष्मा भौतिकी	डॉ० पी० एन० शर्मा तथा	
	डॉ० जे० एन० सिंह	रु० 17.50
23. प्रकाश संश्लेषण	मुनीशकुमार तथा विक्रमादित्य	रु० 8.00
24. फास्फेट	डॉ० शिवगोपाल मिश्र	रु० 15.00
25. सूक्ष्मानात्रिक तत्व	डॉ० शिवगोपाल मिश्र	रु० 15.00

इनके अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों पर 550 से अधिक ग्रन्थ, मूल्य अत्यन्त ही कम

सूचीपत्र निःशुल्क

शाखा

निदेशक

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान

विज्ञान परिषद् भवन

महात्मा गाँधी मार्ग, लखनऊ

इलाहाबाद-211002

हिन्दी में वैज्ञानिक विश्वकोश

भारत की संपदा

प्राकृतिक पदार्थ

भारत के प्राकृतिक पदार्थों—वनस्पतियों, खनिजों, प्राणियों के बारे में वैज्ञानिक तथ्यों से परिपूर्ण “वेल्थ ऑफ इण्डिया—रा-मैटीरियल्स” का लगभग 5000 पृष्ठों में परिष्कृत एवं परिवर्धित हिन्दी संस्करण प्रामाणिक जानकारी के लिए हिन्दी आकारादि क्रम में, 10 खण्डों में “भारत की संपदा” नाम से सचित्र वैज्ञानिक विश्वकोश के रूप में प्रकाशित हो रहा है। इसके सात खण्ड और दोनों पूरक खण्ड 3432 पृष्ठों में अवतक प्रकाशित हो चुके हैं।

लेख किस बारे में हैं : भारत की संपदा में विशेषज्ञों द्वारा लिखे गये विनिबन्धी (मोनोग्राफिक) लेख ऐसे खनिजों, जीवों और पेड़-पौधों के बारे में हैं जिनसे ओषधियाँ, खाद्यपदार्थ, पेय-पदार्थ, फल, नट और मसाले अथवा बसा, तेल, शाक, स्रग्ध तेल, स्वापक, धूसक तथा चर्वणीय पदार्थ या रंग-रोगन, रेशे और लुगदी, प्रकाष्ठ तथा वन उत्पादों आदि में से कोई न कोई पदार्थ प्राप्त होता है।

लेखों में क्या मिलेगा : वनस्पतियों की सही पहचान और उनके वैज्ञानिक नामों के साथ भारतीय भाषाओं के प्रचलित नाम मिलेंगे। अतिरिक्त जानकारी प्राप्त करने के लिए संदर्भ ग्रंथों की सूची मिलेगी। संदर्भों के उचित उल्लेख के साथ संभाव्य अद्यतन आँकड़े मिलेंगे। प्रत्येक खण्ड के अंत में उसमें आये भारतीय भाषाओं के नामों की अनुक्रमणिका (इण्डेक्स) मिलेगी। फसल पौधों के बारे में उनकी खेती, कटाई, भण्डारण, रोग तथा नाशक जीव और उनका नियंत्रण मिलेगा। प्राकृतिक पदार्थों के उत्पादों के भारत में प्राप्ति-स्थान, उत्पादन, आयात तथा निर्यात के आँकड़े मिलेंगे।

खण्ड	पृष्ठ	शीर्षक	चित्र	मूल्य (रु०)*
प्रथम (अ-औ)	404	723	150	38.00
द्वितीय (क)	446	650	124	36.00
तृतीय (ख-न)	450	501	166	36.00
चतुर्थ (प)	430	312	115	83.00
पंचम (फ से मेरे)	391	448	103	60.00
षष्ठ (मे-रु)	400	398	109	80.00
सप्तम (रे-वा)	440	334	108	135.00
पूरक खण्ड				
पशुधन और कुक्कुट पालन	298	145	125	34.00
मत्स्य और मात्स्यिकी	173	...	107	49.00
				योग, 551.00

अष्टम खण्ड (वाय-सीसे) प्रेस में तथा खण्ड नौ एवं दस प्रकाशनाधीन

*संस्थाओं और पुस्तकालयों को 10% छूट; पैकिंग और डाक व्यय 15 रु० अतिरिक्त

यह ग्रंथमाला वैज्ञानिकों, उद्योगपतियों, विद्यार्थियों, शिक्षण और अनुसंधान संस्थाओं, पुस्तकालयों, विकास अधिकारियों तथा जनसाधारण के लिए समान रूप से उपयोगी है।

बिक्री और वितरण अधिकारी

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी. एस. आई. आर., हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-110012

पर्यावरण : प्राचीन भारतीय दृष्टिकोण

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव

प्रवक्ता, प्राचीन इतिहास विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

पर्यावरण-प्रदूषण आज समस्त विश्व की एक ज्वलन्त समस्या बनी हुई है। पर्यावरण हमारी पृथ्वी पर रहने वाले जीव-जन्तु, वनस्पति, भूमि, जल और वायु से मिलकर बनता है। इसमें इन सभी का समानुपातिक योगदान रहता है। जीव-जन्तुओं, वनस्पतियों तथा पृथ्वी के अन्य पदार्थों के पारस्परिक सम्मिलन और आदान-प्रदान से पर्यावरण सन्तुलित रहता है। हमारे पर्यावरण के सन्तुलन से ही जैविकीय मण्डल (बायोस्फियर) सन्तुलित और स्थिर रहता है। स्पष्ट है कि हमारा जीवन पर्यावरण के सन्तुलन पर ही निर्भर है।

पर्यावरण को सन्तुलित रखने में वनस्पति अर्थात् वृक्षों और वनों का महत्वपूर्ण योगदान है। कहते हैं कि कुल भूमि का एक तिहाई भाग वनस्थली होना आवश्यक है, परन्तु घनी आबादी वाले विश्व के कई ऐसे देश हैं जहाँ कुल भूमि के चौथाई या पाँचवें भाग पर ही वन-वृक्ष हैं। वनस्पति की कमी से हमें शुद्ध वायु (ऑक्सीजन) की मात्रा कम मिलती है जो हमारे मानव जीवन के लिए अति आवश्यक तत्त्व है। ऊपर से औद्योगिक प्रगति के कारण भी शुद्ध वायु में और कमी आती जा रही है। कल-कारखानों की चिमनियों से निकलने वाला धुआँ, पेट्रोल और डीजल से चलने वाली गाड़ियों का धुआँ, फैक्टरियों और मिलों से बह कर नालों से होता हुआ नदियों में गिरने वाला गन्दा पानी अथवा अन्य ऐसे ही पदार्थ आदि विभिन्न कारण हैं जिनसे दिनों-दिन हमारा पर्यावरण दूषित होता जा रहा है। पर्यावरण का यह प्रदूषण यदि इसी प्रकार बढ़ता रहा तो एक दिन पृथ्वी पर जीवन दूभर हो

जायेगा। इसीलिए आज विश्व भर में पर्यावरण-प्रदूषण से बचाव के लिए भाँति-भाँति तरीकों से विचार-विमर्श और तदनुकूल आचरण करने के प्रयास किए जा रहे हैं।

पर्यावरण को शुद्ध बनाये रखने में वृक्षों और वनों की जो महती भूमिका है उससे प्राचीन भारतीय मनीषी पूर्णरूपेण परिचित थे। वैदिक तथा पौराणिक वाङ्मय से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारे ऋषियों-मुनियों ने प्रकृति का सूक्ष्म अध्ययन किया था और उसके फल-स्वरूप उन्होंने वनस्पति तथा पशु-पक्षियों के अस्तित्व पर ही मानव जीवन का अस्तित्व स्वीकार किया था; और तभी उन्होंने सकल जड़-चेतन के प्रति दया और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार का उपदेश दिया था। पर्यावरण के सन्तुलन को ध्यान में रखकर ही ऋषियों ने पशु-पक्षियों, नदी-पर्वतों तथा वन-वृक्षों के प्रति उदार और श्रद्धापूर्ण दृष्टिकोण अपनाया था। वृक्षों को उन्होंने मानव जैसा विचारवान् प्राणी, देवायतन और साक्षात् देवता ही माना था। इसीलिए वृक्षारोपण को उन्होंने एक पुण्य कर्म कहा था और वनस्पति की संवृद्धि के लिए अनेक प्रकार के वृक्षोत्सव और वन-महोत्सव निर्धारित किए थे। उन्होंने वनस्पति संपदा को न नष्ट करने के लिए अनेक सामाजिक प्रतिबन्ध भी लगाये थे और वृक्ष काटने को पाप कर्म ठहराया था। प्राचीन काल में भारतीय जन-मानस का वृक्षों और वनों के प्रति समादर का भाव था।

पर्यावरण में वृक्षों के महत्वपूर्ण योगदान के कारण ही भारतीय मनीषियों ने वृक्ष काटना वर्जित कर दिया था। और तो और, पीपल की पत्तियों तक को

तोड़ने की वर्जना की गई थी। पुष्पित-पल्लवित वृक्ष अथवा लताओं को काटने वाले को राजा द्वारा दण्डित किए जाने का प्राविधान था। मनुस्मृति में निर्धारित किया गया था कि वृक्ष की उपयोगिता के आधार पर उसके काटने वाले को दण्ड दिया जाना चाहिए। वस्तुतः प्रकृति-प्रेमी और पर्यावरण के प्रति सजग

प्राचीन भारतीयों ने वृक्ष काटना एक दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया था तथा ऐसा करने वाले को दण्डित किए जाने की समुचित व्यवस्था थी। हमें अपने पूर्वजों के इन विचारों पर गंभीरता से मनन करना चाहिए और वृक्षारोपण तथा वन-संरक्षा अभियान में अपना सक्रिय सहयोग देना चाहिए। □

आण्विक विकिरण और पर्यावरण

राजेन्द्र कुमार राय

प्रतिभा प्रकाशन, खरौनी कोठी, बलिया (उ० प्र०)—277001

सम्पूर्ण जड़ और चेतन पदार्थ, जो हमारे चारों ओर दिखाई देते हैं, अथवा नहीं दिखाई देते हैं, उन सभी पदार्थों के सम्मिलित नाम को हम पर्यावरण कहते हैं। गत लाखों वर्षों से जल, वायु, वनस्पति और प्राणियों में एक सम्बन्ध स्थापित है, जो पर्यावरण को सन्तुलित रखता है। एक ऐसा चक्र वनस्पति और प्राणियों से निर्मित होता है जो एक-दूसरे के पूरक पदार्थों का निर्माण करता है।

हम जीवन में सभी प्रकार की अधिक सुविधाओं को जुटाने के प्रयास में पर्यावरण में स्थापित सन्तुलन को सतत् बिगाड़ते जा रहे हैं। आधुनिक वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति के परिणामस्वरूप अनेक अपशिष्ट पदार्थ जो उनके उद्योगों एवं फैक्ट्रियों में हो रहे निर्माणस्वरूप पैदा होते हैं, पर्यावरण को सतत् प्रदूषित कर रहे हैं।

संतुलित वातावरण में प्रत्येक अवयव अथवा घटक एक निश्चित मात्रा व अनुपात में होता है। यदि कभी कोई घटक या अवयव कम या अधिक अनुपात अथवा मात्रा में हो जाता है, तो स्थिति जीवधारियों लिए हानिकारक बन जाती है—यानी वातावरण दूषित हो जाता है। यह प्रदूषण कहलाता है। प्रदूषण वायु, जल एवं स्थल की भौतिक रासायनिक एवं जैविक विशेषताओं का वह अवांछनीय परिवर्तन है जो मनुष्यों,

जन्तुओं, पौधों, औद्योगिक स्थानों तथा दूसरे कच्चे माल आदि को किसी भी रूप में हानि पहुँचाता है।

धुआँ, नाली-नालों की गन्दगी, फैक्ट्रियों से निकलने वाला रंग-बिरंगा पानी आदि प्रदूषक तो दिखायी देते हैं, परन्तु कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जो दिखायी तो नहीं देते हैं परन्तु पर्यावरण को सतत प्रदूषित करते हैं, एवं दूरगामी विनाशकारी प्रभाव उत्पन्न करते हैं। ऐसे प्रदूषकों में प्रमुख है नाभिकीय विकिरण जो प्राणिमात्र के लिए अत्यन्त हानिकारक है। प्रायः वे विकिरण जो परमाणु के नाभिक से उत्पन्न होते हैं, 'नाभिकीय विकिरण' कहलाते हैं। इनमें अल्फा (α), बीटा (β) तथा गामा (γ) किरणें, न्यूट्रॉन और हल्के नाभिक के कण भी होते हैं।

प्राकृतिक स्रोत : प्रकृति में स्वतः कुछ पदार्थ सतत् रूप से विकिरित होते रहते हैं। उनको मुख्य रूप से तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

- (i) रेडियोधर्मी खनिज
- (ii) वायु में उत्पन्न रेडियो-न्यूक्लियाइड
- (iii) कॉस्मिक किरणें

रेडियोधर्मी तत्त्व तथा पोटैशियम-40, यूरेनियम-238, थोरियम-232 पृथ्वी की पतों में काफी मात्रा में विद्यमान हैं। यह भू-रेडियोधर्मिता को उत्पन्न करते हैं।

मानव-शरीर के लिए तो विकिरण से बाह्य एवं आन्तरिक दोनों ही प्रकार का खतरा है। जो विकिरण बाहरी स्रोतों से हमारे शरीर तक पहुँचता है, वह बाह्य विकिरण है जैसे कॉस्मिक किरणों आदि से और जो खाद्य पदार्थों के साथ कुछ मात्रा में अन्दर जाकर विकिरित होता है, वह आन्तरिक विकिरण है।

कृत्रिम स्रोत : विकिरण के कृत्रिम स्रोतों के रूप में जो प्रमुख हैं, वे इस प्रकार हैं—

- (i) अणु, परमाणु, हाइड्रोजन बम परीक्षण
- (ii) रेडियोधर्मी अपशिष्ट पदार्थ
- (iii) रेडियो आइसोटोप

अब तक परमाणु बम आदि का परीक्षण करने वाले देशों ने, यह परीक्षण पृथ्वी के अन्दर [रेगिस्तानों में], समुद्र की सतह के नीचे अथवा वायु में किये हैं। ये परीक्षण अत्यधिक ऊष्मा एवं वायुमण्डली तरंगे उत्पन्न करते हैं। जो रेडियोधर्मी धूल वायुमण्डल में विस्फोट के कारण उत्पन्न होती है, वह वर्षा के साथ पृथ्वी के पानी के रूप में एवं वनस्पतियों में इकट्ठी होती है। फिर इन्हीं वनस्पति खाद्य पदार्थों के रूप वे मनुष्यों के शरीर में प्रवेश कर सकती हैं और अपने जीवनकाल तक शरीर में विकिरित होती रहती हैं।

जले हुए रेडियोधर्मी पदार्थों के अवशेष भी इस नाभिकीय विकिरण का एक बड़ा स्रोत हैं। रेडियोधर्मी पदार्थ का जीवनकाल तो कभी-कभी हजारों-लाखों वर्ष होता है यद्यपि समय के साथ उसकी तीव्रता कम होती है। इन अपशिष्ट पदार्थों को सावधानीपूर्वक इकट्ठा किया जाता है। ज़रा सी असावधानी पर्यावरण को अत्यधिक प्रदूषित कर देती है।

अनेक औद्योगिक कारखानों से निकला अपशिष्ट पदार्थ अपने साथ ऐसे पदार्थों के कण भी लाता है जो पर्यावरण में विकिरित होते रहते हैं और आसपास में रहने वाले प्राणियों को हानि पहुँचाते हैं।

जीववैज्ञानिक प्रभाव : यह विकिरण न तो दिखायी देता है और न ही इसमें किसी प्रकार की गन्ध ही होती है, परन्तु शरीर पर इसका प्रभाव बत्काल न दिखाई देकर बीस-पच्चीस साल बाद

दिखायी देता है। प्रायः रेडियोधर्मी नाभिकीय विकिरण जीवित तन्तुओं से जटिल प्रकार के अणु आयनन [आयोनाइजेशन] की प्रक्रिया द्वारा अलग कर देता है और इस प्रकार जीवित कोषों को नष्ट कर देता है।

विभिन्न प्रकार के विकिरणों के दुष्प्रभाव की तीव्रता भी भिन्न होती है। इसी कारण उसका तुलनात्मक जैविक प्रभाव भी भिन्न होता है। निम्नलिखित कणों का जैविक प्रभाव इस प्रकार होता है—

कण/किरण	आर० बी० ई० [R.B.E.]
एक्स किरणें	1
गामा किरणें	1
बीटा किरणें	1
थर्मल न्यूट्रॉन	2 से 5
तेज न्यूट्रॉन	10
अल्फा कण	10 से 20
अधिक ऊर्जायुक्त	10 से 20

मानव शरीर जितना विकिरण ग्रहण करता है, उसको एक डोज [Dose] कहते हैं। इसकी इकाई को रेम [Rem] कहते हैं। रेम 'रोएंटजेन इक्वीवैलेन्ट मैन्' का संक्षिप्त रूप है।

1 रेम = आर आर बी x रेड

यहाँ रेड ग्रहण की गयी ऊर्जा की इकाई है।

1 रेड [Rad] = ग्रहण की गयी ऊर्जा का 100 अर्ग प्रति ग्राम। साधारणतया मनुष्य के लिए 500 मिली रेम प्रतिवर्ष [0.0005 रेम प्रतिवर्ष] तक विकिरण हानिरहित माना गया है।

सावधानियाँ : नाभिकीय विस्फोटों को वायुमण्डल में न करके पृथ्वी में ही किया जाये। वह भी ऐसे क्षेत्र में जो आबादी से बहुत दूर हो। आइसोटोपों का, जहाँ तक हो सके, निर्माण ही न किया जाए, क्योंकि एक बार उनका निर्माण हो जाने पर उनसे हजारों वर्ष तक रेडियोधर्मी विकिरण होता रहता है। इसको समय ही शांत करता है। उद्योगों के उन अपशिष्टों को, जिनमें नाभिकीय अवशेष हों, सावधानी के साथ ही बहाया जाये या पृथ्वी में दबा दिया जाये। □

भूमि कटाव का ग्रामीण पर्यावरण पर प्राव

प्रमोद सिंह

प्रवक्ता, भूगोल विभाग, अग्रवाल डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

ग्रामीण क्षेत्रों में भूमि का कटाव तीव्र गति से हो रहा है। वन नीति के अनुसार देश के 33 प्रतिशत क्षेत्रों में वन होना चाहिये जिनमें पहाड़ी क्षेत्रों में 2/3 तथा मैदानी क्षेत्रों में 1/3 भागों में वन रहना चाहिये। परन्तु देश के केवल 14.8 प्रतिशत भू-भाग पर ही वन पाये जाते हैं। वनों का कटाव पहाड़ी क्षेत्रों में बहुत तीव्र गति से हो रहा है। कुछ क्षेत्रों में इस कटाव का बड़े पैमाने पर विरोध हुआ है। 'चिपको आन्दोलन' तो विश्व में कई भागों में फैला हुआ है। इसका नारा है "क्या हैं जंगल के उपकार, मिट्टी पानी और बयार"। इसकी जन्मदाता ग्रामीण अपढ़ महिलाएँ हैं। 'चिपको आन्दोलन' की वास्तविक शुरुआत भाद्रपद शुक्ला दशमी के दिन जोधपुर (राजस्थान) के खेजड़ली गाँव में सन् 1730 में हुई थी जब अमृता देवी के साथ 362 विधवा स्त्री-पुरुष पेड़ के रक्षार्थ शहीद हुये थे।

उत्तराखण्ड में पहले प्राकृतिक मिश्रित वन थे। इससे स्थानीय लोगों को कंद-मूल, फल एवं चारा मिलता था। बाद में इन्हें काटकर शंकुधारी चीड़ के एकल वन लगाये जाने लगे। जिससे उपर्युक्त वस्तुओं का अभाव होने लगा और स्त्रियों का जीवन अधिक कष्टमय हो गया। जनवरी 1978 में महिलाओं ने कहा, "जंगल हमारा मायका है" और उन्होंने पेड़ों का रक्षाबंधन किया। वनों से होने वाले लाभ को जनमानस तक पहुँचाने के लिये लोकगीतों, पद-यात्राओं का उपयोग किया गया।

इसी प्रकार सन् 1977 में बिहार वन विकास निगम ने छोटा नागपुर के वनों के आर्थिक मूल्य को बढ़ाने के लिये प्राकृतिक साल के वनों को काटकर सागौन के वृक्ष लगाने शुरू किये जिसका सिंहभूमि के

ही आदिवासियों के द्वारा बड़े पैमाने पर विरोध किया गया। आदिवासियों ने सागौन के नये पेड़ों को उखाड़ना शुरू किया जो बाद में दंगों के रूप में भड़क गया। आदिवासियों के इस विरोध ने ही समीपवर्ती आदिवासी क्षेत्रों को मिलाकर झारखण्ड राज्य की माँग को जन्म दिया।

मकानों, कारखानों, जल-विद्युत् परियोजनाओं के निर्माण के समय वनों का कटाव तेजी से होता है। लगभग सम्पूर्ण वन क्षेत्र सरकार के अधीन होने के बावजूद वनों की कटाई में तीव्रता आयी है। सन् 1956 के बाद कनार्टक में 2,22,728 हेक्टेयर वनों की कटाई केवल जल-विद्युत् परियोजनाओं के लिये की गयी। वनों की कटाई से हर वर्ष बाढ़, सूखा एवं अकाल पड़ता है। वनों का भूमि पर आवरण बरसात के झोंके को झेल लेता है और उसकी तीव्रता को कम कर देता है। पेड़-पौधों की जड़ें मिट्टी को अपने जाल में जकड़े रहती हैं तथा भूक्षरण, भूस्खलन को रोकती हैं।

देश की कुल 32.8 करोड़ हेक्टेयर भूमि का 14 करोड़ हेक्टेयर भूमि प्रतिवर्ष हवा या पानी के कटाव का शिकार होती है। लगभग 7,000 करोड़ टन उपजाऊ मिट्टी हर वर्ष भूकटाव के कारण बह जाती है। धरातल पर कुछ इंच उपजाऊ सतह बनने में 500 से 1,000 वर्ष लगते हैं। धरातल पर इस कीमती मिट्टी का बड़ा भाग, समुद्र में बहकर बरबाद हो जाता है, शेष भाग नदियों के तल, बाँध के जलाशयों आदि की तली में बैठ जाता है। आन्ध्र प्रदेश में निजाम सागर जलाशय की क्षमता पिछले पच्चीस वर्षों में घटकर आधी रह गयी है। भाखड़ा बाँध बनाते समय सोचा गया था कि उसमें नदी के

जल के साथ 240 लाख टन के हिसाब से मिट्टी गिरेगी, अब यह मात्रा बढ़कर 330 लाख टन हो गयी है। इतनी बड़ी मात्रा में मिट्टी बहकर आने से 3,500 करोड़ लागत की सिंचाई एवं विद्युत् परियोजना अपनी उम्र खोती जा रही है।

पिछले चालीस वर्षों में बड़े एवं मझले दर्जे के बाँध बनाये गये हैं, जिनकी संख्या 450 के लगभग है। भारत में 2 करोड़ हेक्टेयर भूमि ऐसी है जो पानी के जमाव या उससे जुड़ी क्षार की समस्या की शिकार बनी है। खेतों में सिर्फ सिंचाई का इंतजाम कर देना काफी नहीं है। यदि निकासी का इंतजाम ठीक न किया गया तो पानी फसल को चौपट कर देता है। ठहरा हुआ पानी पौधों की जड़ों तक हवा को जाने नहीं देता जिससे फसल मारी जाती है तथा आने वाली फसलों पर भी इसका कुप्रभाव पड़ता है। सिंचित क्षेत्रों में नहरों और जलाशयों के कारण भूमि में जलस्तर वैसे भी कुछ ऊपर उठ जाता है। खेत में पानी की निकासी की व्यवस्था ठीक न होने की वजह से सिंचाई का पानी ठहर जाता है। ऊपर के पानी और भीतर के पानी के मिश्रण से कहीं-कहीं जमीन में क्षार की मात्रा बढ़ जाती है। यह समस्या पंजाब एवं हरियाणा में अधिक है। उत्तर प्रदेश, बिहार तथा मध्य प्रदेश के सिंचित इलाकों में यह तीव्र गति से बढ़ रही है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण होशंगाबाद (मध्य प्रदेश) की तवा परियोजना है जो सन् 1956 से शुरू की गयी। इस परियोजना के अंतर्गत नर्बदा की सहायक नदी तवा पर एक बाँध

बनाया गया। इस परियोजना पर 91.4 करोड़ रुपये व्यय किये गये तथा 6,00,000 एकड़ भूमि सिंचित करने की व्यवस्था की गयी। सन् 1976 में पहली बार यह पता चला कि जल नहर से बड़े पैमाने पर रिस जाता है। सन् 1976 में किसानों ने मिलकर “मिट्टी बचाओ संस्था” का निर्माण किया। अधिकांश तौर पर भी इस बात की पुष्टि की गयी कि नहर का 60 प्रतिशत जल भूमि में रिस जाता है। इससे काफी इलाका दलदल में बदल गया। सिंचाई परियोजना के प्रारम्भ में ही खरीफ की फसल ज्वार, मक्का, तिलहन का उत्पादन गिरने लगा। इतना ही नहीं, जलाधिक्य के कारण मलेरिया का प्रकोप भी बढ़ गया।

जल संरक्षण एवं भूमि संरक्षण एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और इसके कारण कभी अकाल आता है तो कभी बाढ़। बाढ़ के प्रमुख कारण भारी वर्षा, पहाड़ों के नंगे हो जाने से पानी का तेज बहाव और उसके कारण होने वाला भू-कटाव, भारी मात्रा में मिट्टी का नदियों में बह कर आना, नदियों की सतह का ऊँचा उठ जाना और फिर इसी तरह से नदी में पानी का न समाना और चारों तरफ फैल जाना है। बाढ़, सूखा एवं भू-कटाव की समस्याएँ एक दूसरे से जुड़ी हुई हैं। अभी तक इन तीनों को एक साथ रख कर हल करने की कोशिश नहीं की गयी है। देश में उपलब्ध कुल भूमि एवं कुल जल (धरातलीय एवं भूमिगत) के कुशल प्रबन्ध के बिना हम इससे छुटकारा नहीं पा सकते। □

ग्रामीण पारिस्थितिकी पर राष्ट्रीय संगोष्ठी

अम्बरीष तिवारी

शोध छात्र, कृषि रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद-211002

पर्यावरण विज्ञान अध्ययन केन्द्र, इलाहाबाद द्वारा ग्रामीण प्रौद्योगिकी एवं अभियांत्रिकी संस्थान, गोविन्द वल्लभ पंत सामाजिक विज्ञान संस्थान,

इलाहाबाद विश्वविद्यालय तथा ग्रामीण विकास एकेडमी, इलाहाबाद के सहयोग से ‘ग्रामीण पारिस्थितिकी पर राष्ट्रीय संगोष्ठी’ का आयोजन दिनांक

अप्रैल-मई 1986 ○

विज्ञान

○ 5

12 व 13 अक्टूबर, 1985 को किया गया। राष्ट्रीय संगोष्ठी का उद्घाटन मेरठ विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति प्रो० रामलोचन सिंह ने किया। अपने संशोधन में प्रो० सिंह ने 'ग्रामीण आवास की पारिस्थितिकी और विकास' पर सारगर्भित शोधपत्र प्रस्तुत किया। अपने अध्यक्षीय संबोधन में आर० एन० कपूर, निदेशक, आई० ई० आर० टी०, इलाहाबाद ने वैज्ञानिकों व विचारकों का आह्वान किया कि वे ग्रामीण पर्यावरण में सुधार हेतु ठोस सुझाव प्रस्तुत करें।

संगोष्ठी में देश के विभिन्न भागों से आये लगभग 50 वैज्ञानिकों, समाज वैज्ञानिकों तथा प्रशासकों ने भाग लिया। आई० ई० आर० टी० के सी० डी० सी० हाल में आयोजित इस संगोष्ठी में कुल 67 शोधपत्र प्राप्त हुए थे जिनमें से 38 शोधपत्र वहाँ प्रस्तुत किये गये। इन शोधपत्रों में 'ग्रामीण पारिस्थितिकी' की समस्या पर विभिन्न दृष्टिकोणों से प्रकाश डाला गया था। संगोष्ठी के प्रथम सत्र में 'ग्रामीण पारिस्थितिकी और ग्रामीण विकास की संकल्पना' पर विचार विमर्श किया गया। इस सत्र में डी० पी० नियोग, मुख्य वन संरक्षक, असम, की अध्यक्षता में ग्रामीण पारिस्थितिकी की संकल्पना से लेकर इसमें महिलाओं के योगदान तक से जुड़े शोधपत्र प्रस्तुत किये गये।

संगोष्ठी का दूसरा सत्र 'वन, रेगिस्तान तथा वन्य जीवन की पारिस्थितिकी' पर था। इस सत्र की अध्यक्षता डॉ० बी० एन० बारदलोई, निदेशक, जनजाति शोध संस्थान, गौहाटी, ने की। इस सत्र में वनों के महत्व, वायु प्रदूषण तथा वन्य जीवन से लेकर वैदिक तथा पौराणिक भारत में वनस्पति जैसे विषयों पर चर्चा हुई।

प्रो० डी० एन० राव की अध्यक्षता में हुए तीसरे सत्र की चर्चा का विषय 'व्यावहारिक तथा सामाजिक पारिस्थितिकी' था। इस सत्र में जैव उर्वरक तथा गैस से लेकर कीटनाशी तथा तृणनाशी रसायनों और ग्रामीण क्षेत्रों पर विज्ञान और प्रौद्योगिकी के प्रभाव से लेकर गंगा शुद्धि अभियान तक पर विचार-विमर्श किया गया।

राष्ट्रीय संगोष्ठी का अंतिम सत्र प्रो० एस० एल० कायस्थ की अध्यक्षता में हुआ और इसमें पर्यावरण से सम्बन्धित कानून, शिक्षा नीति तथा प्रबन्धन पर विचार किया गया। इस सत्र में असम के जनजाति क्षेत्रों के प्रबन्धन की समस्या से लेकर वित्तीय तथा राजनैतिक पारिस्थितिकी पर और जल प्रदूषण व कानून से लेकर पारिस्थितिकी संतुलन बनाये रखने में शैक्षिक संस्थानों की भूमिका पर विचार किया गया।

संगोष्ठी का समापन भाषण प्रो० आर० पी० मिश्र, कुलपति, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, ने दिया। प्रो० मिश्र ने पारिस्थितिकी की समस्या को मानव के स्वार्थपूर्ण और संकुचित दृष्टि के परिणाम के रूप में प्रस्तुत किया। अपने अध्यक्षीय संबोधन में प्रो० ए० डी० पन्त, निदेशक, जी० बी० पन्त सामाजिक अध्ययन संस्थान, इलाहाबाद ने वैज्ञानिकों तथा सामाजिक चिन्तकों का पारिस्थितिकीय समस्याओं के समाधान हेतु आगे आने का आह्वान किया। प्रो० डी० एन० राव के धन्यवाद ज्ञापन के साथ संगोष्ठी समाप्त हुई।

यह संगोष्ठी एक सराहनीय प्रयास थी। परन्तु इसमें हिन्दी का बहुत कम प्रयोग हुआ, जिसके कारण जनसामान्य जो पारिस्थितिकी से सबसे निकट का सम्बन्ध रखता है, इससे कम ही प्राप्त कर सका। साथ ही साथ इसमें नीति निर्णयों से प्रत्यक्षतः जुड़े राजकीय वैज्ञानिकों तथा प्रशासकों की अनुपस्थिति रही जिसके कारण गोष्ठी में सर्वसम्मति से बनाये गये ऐक्शन प्लान के महत्वहीन बने रहने की संभावना अधिक है। कुल मिलाकर यह संगोष्ठी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या पर वैज्ञानिकों तथा विचारकों का ध्यान आकर्षित करने में सफल रही। इस गोष्ठी के प्रमुख आयोजक 'पर्यावरण विज्ञान अध्ययन केन्द्र' से, जो इसमें प्रस्तुत किये गये विचारपूर्ण शोधपत्रों को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की योजना बना रहा है, आशा की जाती है कि वह इसे हिन्दी में भी प्रकाशित करने का प्रयास करेगा। तभी जनमानस में पर्यावरण के प्रति चेतना जगाने का उद्देश्य भी पूरा हो सकेगा। □

सतीश कुमार शर्मा

क्षेत्रीय वन अधिकारी, गुलाबबाग, उदयपुर (राजस्थान) 313001

भारतीय जंगलों और उनमें पाये जाने वाले वन्य प्राणी, खास कर बिल्ली कुल (Cat Family) न केवल देशी राजा-महाराजाओं बल्कि विदेशी आक्रमणकारियों और लुटेरों से लेकर विदेशी पर्यटकों के लिये विशेष आकर्षण का केन्द्र रहा है। कितने ही विदेशी अजायब-घरों में भारतीय बाघ, सिंह, तेंदुये आदि की खालें और ट्राफियाँ देखने को मिल जायेंगी। कितने ही देशी-विदेशी रईसों के 'ड्राईंग रूमों' में हमारे देश की सुन्दर बिल्लियों के अवशेष किसी न किसी रूप में मिल जायेंगे। कितने ही अन्धविश्वासी भारतीय परिवारों में बाघ की कथित 'लकी बोन' (Lucky bone)—नाखून, बाल और यहाँ तक कि विष्ठा भी मिल जायेगा।

प्राचीन काल से ही बिल्ली कुल के दो बड़े सदस्य बाघ और सिंह हमारी संस्कृति से जुड़े आ रहे हैं। 'पंचतन्त्र' की कहानियों से लेकर चित्रों और मूर्तियों में इन्हें देखा जा सकता है। भारत में बिल्ली समुदाय का महत्व न पहले कम था न आज है। बिल्लियों के सम्मान और संरक्षण में हम कितनी रुचि ले रहे हैं यह इसी बात से स्पष्ट है कि बाघ को हमारा राष्ट्रीय पशु घोषित किया गया है और हमारे राष्ट्रीय चिह्न में भी सिंह को अपनाया गया है।

हमारी संस्कृति से जुड़े, हमारे वनों के अच्छे स्वास्थ्य के प्रतीक, बिल्ली वर्ग का वैज्ञानिक ज्ञान हमारी नई पीढ़ी को होना ही चाहिये। हमारे देश में बिल्ली कुल के निम्नलिखित सदस्य पाये जाते हैं—

(1) बाघ (Tiger, *Panthera tigris*)

(2) सिंह (Lion, *Panthera leo*)

(3) तेंदुआ (Leopard or panther, *Panthera pardus*)

(4) हिम तेंदुआ (Snow Leopard or Ounce, *Panthera uncia*)

(5) चीता (Cheetah or Hunting Leopard, *Acinonyx jubatus*)

(6) क्लाउडेड लेपर्ड (Clouded leopard, *Neofelis nebulosa*)

(7) मारबल्ड कैट (Marbled cat, *Felis marmorata*)

(8) सुनहरी बिल्ली Golden cat, *Felis temmincki*)

(9) चीता बिल्ली (Leopard cat, *Felis bengalensis*)

(10) मछुआ बिल्ली (Fishing cat, *Felis viverrina*)

(11) जंगली बिल्ली (Jungle cat, *Felis chaus*)

(12) रेगिस्तानी बिल्ली (Desert cat, *Felis libyca*)

(13) स्याहगोश (Caracal, *Felis caracal*)

(14) पालास कैट (Pallas's cat, *Felis manul*)

(15) लिक्स (Lynx, *Felis lynx*)

(16) रस्टी स्पॉटेड कैट (Rusty spotted cat, *Felis rubiginosa*)

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट है कि भारत के जंगलों में बिल्लियों के चार वंश या जेनरा (Genera)—पेन्थेरा, ऐसिनोनिक्स, नियोफेलिस तथा फेलिस एवं उनकी क्रमशः चार, एक, एक तथा दस जातियाँ (Species) पाई जाती हैं। चीता को छोड़कर सभी जातियाँ आज हमारे जंगलों में विद्यमान हैं। परन्तु

दुनिया का सर्वाधिक तेज धावक प्राणी चीता अन्धा-धुन्ध शिकार की वजह से अब हमारे देश के जंगलों से समाप्त हो गया, जबकि इस सदी के आरंभ तक चीता हमारे जंगलों का विशेष आकर्षण था।

उपर्युक्त बिल्लियों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—छोटी बिल्लियाँ (Lesser cats) तथा बड़ी बिल्लियाँ (Big cats)। बाघ, सिंह, तेंदुआ, हिम तेंदुआ और चीता सबसे बड़ी पाँच भारतीय बिल्लियाँ हैं। इन्हें दहाड़ने वाली बिल्लियाँ (Roaring cats) भी कहते हैं। लेकिन जैसा पूर्व में कहा गया है चीते की दहाड़ अब भारत के जंगलों में नहीं रही।

बिल्लियों के पंजे, दाँत आदि शिकार करने के लिये विशेष तौर से अनुकूलित होते हैं। सभी बिल्लियों की शिकार पकड़ने की अपनी जातिगत मुद्रा होती है। ये घात लगाकर छिपते हुये विजली की तेजी से छलाँग लगा कर शिकार की गर्दन पकड़ने की कोशिश करती हैं। इनके मजबूत कैनाइन दाँत शिकार की गर्दन में गहरे तक धँस जाते हैं और शिकार का वच भागना टेढ़ी खीर होता है।

बिल्लियों के नाखून भी विचित्र किस्म के होते हैं। ये हमेशा विशेष प्रकार की थैली में बन्द रहते हैं। जब जानवर शिकार करता है तब ही चीर-फाड़ करने के लिये ये थैली से बाहर आते हैं। इस व्यवस्था से नाखून सुरक्षित और पैने बने रहते हैं तथा घूमने के समय अनावश्यक ही कठोर सतहों के सम्पर्क से दूर बने रहते हैं। परन्तु यह व्यवस्था चीते में कम विकसित होती है। चीता पूरी तरह नाखूनों को अँगुली के अन्दर की थैली में बन्द नहीं कर पाता। चीते का यह गुण श्वान कुल (Dog Family) से मिलता है। कुत्ता, गीदड़, भेड़िया आदि जो श्वान कुल में आते हैं, अपने नाखून अँगुलियों में नहीं समेट सकते। यही कारण है कि इनके नाखून हमेशा बाहर निकले दिखाई देते हैं।

बिल्लियों की त्वचा पर पाये जाने वाले बाल बिल्लियों को रंग प्रदान करते हैं। रंग के आधार पर बिल्लियाँ तीन तरह की होती हैं—(1) चित्ती व

धारीरहित बिल्लियाँ (Plain Coated cats) जैसे सिंह, (2) चित्तीदार बिल्लियाँ (Spotted cats) जैसे चीता, तेंदुआ आदि तथा (3) धारीदार बिल्लियाँ (striped cats) जैसे बाघ आदि।

त्वचा का रंग और उस पर उपस्थित धब्बे व धारियाँ जंगल के वातावरण में जानवर को छुपने में मदद करती हैं। तेंदुये की पीली त्वचा पर काली खोखली चित्तियाँ जंगल में इस तरह का एहसास देती हैं मानों छायादार धरातल पर वृक्ष की पत्तियों से छन कर प्रकाश पड़ रहा हो। इसी तरह बाघ की धारियाँ जंगल के वातावरण में जानवर को छिपने में मदद करती हैं। सिंह गहरे जंगलों का नहीं सवाना घास के मैदानों का प्राणी है। उसकी त्वचा का रंग धब्बे व धारीरहित होता है जो सूखी घास के रंग में धुल-मिल जाता है। इस प्रकार के विचित्र रंग समायोजन से ये चुपके-चुपके शिकार तक पहुँच जाते हैं परन्तु शिकार अपनी तरफ बढ़ती मौत को देख नहीं पाता। इनके पंजों में उपस्थित गदियाँ चलने से उत्पन्न आवाज़ को वहीं सोख लेती हैं और इनके चलने का आभास शिकार को नहीं हो पाता है। अगर जानवर गति में न हो तो इनके रंग और धैर्य के कारण इन्हें मात्र कुछ मीटर के अन्तर से भी देख पाना आसान नहीं है।

सभी बिल्लियों में मात्र सिंह ही एक ऐसी बिल्ली है जिसका लिंग निर्धारण काफी दूर से जानवर को देख कर किया जा सकता है। नर की गर्दन पर बड़े-बड़े बाल होते हैं। यही कारण है कि इसे बब्बर सिंह कहते हैं। मादा की गर्दन पर साधारण लम्बाई के ही बाल होते हैं। सिंह के अलावा अन्य किसी भी बिल्ली में दूर से प्राणी को देख कर लिंग निर्धारण कठिन काम है।

सिंह की पूँछ भी अन्य सभी बिल्लियों की पूँछों से अलग होती है। गाय-भैंस की तरह सिंह-सिंहनी की पूँछ के अंतिम छोर पर काले बालों का गुच्छा होता है। अन्य किसी भी बिल्ली की पूँछ के छोर पर बालों का गुच्छा नहीं होता है।

पेड़ों पर चढ़ने की आदत भी सब बिल्लियों में

समान नहीं है। बाघ पेड़ों पर प्रायः नहीं चढ़ पाता है। बड़ी बिल्लियों में तेंदुआ ही सफलता से पेड़ों पर चढ़ और उतर सकता है। तेंदुआ प्रायः वृक्षों की दुफंकी-त्रिफंकी शाखाओं पर ही आराम करता है। आराम करते समय लंगूर की तरह इसकी पूँछ प्रायः लटकती ही रहती है।

बिल्लियों के निवासस्थानों में भी काफी अन्तर है। बाघ और तेंदुआ घने जंगलों में रहना पसन्द करते हैं तो सिंह खुले घास के मैदानों में रहना पसन्द करता है। ऐसे खुले घास के मैदान गुजरात राज्य के गिर जंगलों में सिंह के लिये आदर्श आवास प्रदान करते हैं। आज सम्पूर्ण एशिया महाद्वीप में सिंह केवल गुजरात के गिर जंगलों में ही पाया जाता है। बाघ और तेंदुआ विस्तृत क्षेत्रों में पाये जाते हैं। बाघ मुख्य रूप से विश्व के चार देशों में मिलता है। ये देश हैं—भारत, नेपाल, भूटान तथा बंगलादेश। संसार के 90 प्रतिशत बाघ भारत में पाये जाते हैं। हमारे पड़ोसी देश श्रीलंका में केवल तेंदुआ ही मिलता है, बाघ नहीं।

हिम तेंदुआ हिमालय के बर्फीले क्षेत्रों में पाया जाता है। बर्फ के रंग से मेल खाता कुछ-कुछ धूसर रंग इसे बर्फ के वातावरण में छिपा कर रखता है। मछुआ बिल्ली जलाशयों के आस-पास बनी रहती है और मछली व अन्य जलीय जीवों का शिकार करती है। रेगिस्तानी बिल्ली शुष्क व अर्द्धशुष्क क्षेत्रों को अपना घर बनाती है।

बिल्लियों की खालें बहुत ही आकर्षक होती हैं। यही आकर्षण इनकी मौत का कारण बन गया। इसी आकर्षक खाल के लिये आदमी ने अपनी बन्दूक इनकी तरफ तान दी। बड़ी बिल्लियों पर तो उसने कह

डा दिया। सभी बिल्लियों को छोड़ दीजिये, मात्र बाघ को ही लीजिये तो इस सदी के आरंभ में भारत के जंगलों में 40,000 बाघों के रहने का अनुमान है। यह सदी पूरी भी नहीं हो पाई और 1972 के आते-आते भारत के जंगलों में बाघों की संख्या रह गई मात्र 1827 !! कितना महाविनाश हुआ एक शानदार प्राकृतिक कृति का? यह कहानी यहीं खतम नहीं होती। गुजरात में सिर्फ मुट्ठीभर ही सिंह बचे और चीता—चीता तो हमेशा के लिये हमने समाप्त कर दिया।

बड़ी बिल्लियों के महाविनाश को रोकने के लिये कदम उठाये जा चुके हैं। कई देशी-विदेशी संस्थायें और सरकारें इस तरफ प्रयत्नशील हैं। बाघ को बचाने के लिये 'बाघ परियोजना' (Project Tiger) और सिंह को बचाने के लिये गिर जंगल में 'सिंह परियोजना' आरंभ की जा चुकी है। इस समय देश के विभिन्न 12 राज्यों के 15 क्षेत्रों को 'बाघ परियोजना' के अन्तर्गत लाया जा चुका है। बाघ परियोजना विश्व की सबसे बड़ी वन्य प्राणी रक्षण परियोजना है।

अब भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य है कि प्राकृतिक संतुलन को बनाये रखने के लिये जंगलों में रहने वाले सभी जंगलवासी मूक वन्य प्राणियों की सुरक्षा में अपना-अपना योगदान दें। हमें जान लेना चाहिये ये जितने खूँखार हैं उतने ही निरापद भी हैं। सिर्फ आवश्यकता है उदार दिल से प्रकृति और उसकी कृतियों से प्रेम करने की। हम सारा जीवन अपने लिये जी रहे हैं, काश कुछ क्षण इन समाप्त हो रहे प्राणियों को भी दे पाते। अगर हमारी लापरवाही से वन और वन्य प्राणी समाप्त होते रहे तो आनेवाली पीढ़ियाँ हमें कभी माफ नहीं करेंगी। □

श्री अनिल अग्रवाल सम्मानित

प्रसिद्ध विज्ञान लेखक श्री अनिल अग्रवाल को पर्यावरण विज्ञान पर उच्च स्तरीय लेखन के लिए गणतंत्र दिवस के अवसर पर 'पद्म श्री' की उपाधि से सम्मानित किया गया है।

हिन्दी में वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद

रमेश दत्त शर्मा

प्रधान सम्पादक, प्रकाशन और सूचना विभाग, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्,

कृषि अनुसंधान भवन, पूसा गेट, नयी दिल्ली—110012

स्वतंत्रता के 48 साल बाद भी न तो हमारा विज्ञान जनता से जुड़ पाया है और न वैज्ञानिक ही। वे जनता से दूर हैं। जनता और विज्ञान के बीच एक खाई हमारी शिक्षा प्रणाली में ही अन्तर्निहित है, जिसमें विज्ञान की शिक्षा का माध्यम गुलामी के दिनों में भी अंग्रेजी था और आज़ादी के बाद भी उसी भाषा में चला आ रहा है। जब लोगों ने इसके खिलाफ आवाज़ उठायी तो उस समय हमारे देश के कर्णधारों को यह बहाना मिला कि हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों की किताबें ही नहीं, फिर पढ़ाई कहाँ से हो पाएगी। फिर कहा गया कि किताबें इसलिए नहीं हैं, क्योंकि शब्दावली नहीं है। जब डॉ॰ रघुवीर जैसे कर्मठ विद्वान ने वैज्ञानिक शब्दावली तैयार कर दी तो वह भी लोगों को पसन्द नहीं आयी और कहा गया कि यह तो बहुत मुश्किल है और सरल शब्दावली बनाने का काम सरकार ने अपने हाथ में ले लिया, जो अभी तक चला आ रहा है। हालांकि इस बीच गणित से लेकर अंतरिक्ष विज्ञान तक और इलेक्ट्रॉनिकी से लेकर मत्स्य विज्ञान तक कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जिसकी बुनियादी शब्दावली हिन्दी में न हो।

लेकिन जब हम जनता तक विज्ञान और तकनीक पहुँचाने की बात करते हैं तो यह सरकारी वैज्ञानिक शब्दावली हमारे बहुत काम की साबित नहीं होती। उदाहरण के लिए कृषि विज्ञान को ही लें। हमें भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की लगभग 40 प्रयोगशालाओं और देश भर में फैले हुए 23 कृषि विश्वविद्यालयों में किये जा रहे वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा निकाली गयी खेती और पशुपालन की सुधरी तकनीकों को जल्दी से जल्दी किसानों तक पहुँचाना

है। इसके लिए जहाँ दूसरे साधन इस्तेमाल में लाये जा रहे हैं, वहीं पत्र-पत्रिकाएँ, परचे, पुस्तकें, पुस्तिकाएँ जैसी मुद्रित सामग्री भी बहुत ज़रूरी मानी गयी हैं। लेकिन इस सामग्री को तैयार करने में भारत सरकार के वैज्ञानिक शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित शब्दावली का सहारा लिया जाय तो एक ऐसा अनुवाद तैयार होगा जो किसानों के पल्ले नहीं पड़ने का। यहाँ तक कि हमारी सभी फसलों और चिड़ियों के नाम भी किसी एक शब्दकोश में सही नहीं मिलते। दूसरी ओर अनुवादक अपनी ज़मीन से कटे हुए हैं। बहुतों ने तो फसलें देखी ही नहीं। हमें हर साल वार्षिक रिपोर्ट और अनुसंधान की नई उपलब्धियाँ अनुवाद करके छापनी होती हैं। अंग्रेज़ी की सामग्री आते ही फरमाइश शुरू हो जाती है कि जल्दी से अनुवाद करें। मुश्किल से सात दिन का समय दिया जाता है, जिसमें 250 से 300 तक पृष्ठों का अनुवाद होना है, टाइप किये जाने हैं, मिलान होना है, पुनरीक्षण होना, संपादित होना—ये सारे काम शामिल हैं। अधिकतर विभाग इसीलिए हिन्दी और अंग्रेज़ी की रिपोर्टें एक साथ नहीं निकाल पा रहे, क्योंकि इसके लिये ज़रूरी कर्मचारी भर्ती नहीं किये जाते और काम पूरा करने के लिये समय बहुत कम मिलता है।

हमने इसके लिए एक तरकीब निकाली, जिसमें बाहर के ऐसे व्यक्तियों की नामिका बनायी गयी है, जो कृषिसम्बन्धी विषयों के भी जानकार हों और हिन्दी लिखने-पढ़ने में रुचि रखते हों। जैसे-जैसे सामग्री आती है, उनको दे दी जाती है और फिर रात-रात भर बैठकर सारा काम चलता है।

इस तरह बड़ी मार-धाड़ करके पिछले लगभग 10 वर्षों से हम लगातार भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की रिपोर्टें हिन्दी और अंग्रेजी में साथ-साथ छाप रहे हैं। लेकिन अब भी हमें अनुवादों को सुधारने में बड़ी मेहनत करनी पड़ रही है। अब भी हमारे अनुवादक 'ग्रीन ग्राम' को मूंग की बजाय "हरा चना", 'व्हाइट ग्राम' को उड़द की बजाय "काला चना" और "रेड ग्राम" को "अरहर" की बजाय "लाल चना" लिख देते हैं। एक बार तो "चिकवी" को 'चूजों के खाने योग्य मटर' और "पिजन-पी" को 'कबूतरों के खाने योग्य मटर' अनुवाद कर दिया गया था।

यह उदाहरण कृषि विज्ञान के ही दिये गये हैं, लेकिन ऐसे उदाहरण लगभग सभी विषयों से दिये जा सकते हैं। इसका मूल कारण यह है कि इस समय हमने जो अनुवाद का ढाँचा बना रखा है, उसमें सभी विभागों में अनुवादकों और हिन्दी अधिकारियों की भर्ती भाषा की जानकारी के आधार पर होती है और निर्धारित योग्यताओं में विषय की जानकारी को कोई महत्व नहीं दिया गया। यही कारण है कि सरकारी हिन्दी के नाम से भ्रष्ट अनुवादों का एक अटूट सिलसिला जारी है, जिसको रोका नहीं गया तो तकनीकी और वैज्ञानिक साहित्य की दृष्टि से और हिन्दी के विकास की दृष्टि से तथा विज्ञान को जनता तक पहुँचाने की दृष्टि से बड़ा भारी अहित होगा। अधिकतर अनुवाद विभिन्न विभागों में जिस तरह किया जा रहा है, उसे कूड़े में फेंक देने के अलावा उसका कोई और सदुपयोग भी हो सकता है, इसमें सन्देह है।

यह तो सरकारी विभागों की बात हुई, लेकिन अखबारों में भी जैसा कि हम सब जानते हैं वैज्ञानिक और तकनीकी समाचार प्रायः अंग्रेजी से अनुवाद किये हुए होते हैं, जिनमें अक्सर भयंकर भूलें होती हैं। पता नहीं क्यों हमारे पत्रकार जगत् में अब भी विज्ञान समाचार लिखने के लिए विज्ञान जानने वाले सम्पादकीय कर्मचारी भर्ती करने की कोई परंपरा शुरू नहीं

हुई। यही कारण है कि जीवाणु के लिए इस्तेमाल होने वाले अंग्रेजी के 'बग' शब्द का अनुवाद 'खटमल' किये जाने जैसी दुर्घटनाएँ हिन्दी के लब्ध प्रतिष्ठ समाचार-पत्रों में अक्सर दिखायी दे जाती हैं। इस समस्या से निपटने का एक ही उपाय है कि जब हम 21वीं सदी की ओर बढ़ने के लिए उत्सुक हैं तो जो भी समाचार-पत्र कुछ दमखम रखता हो, विज्ञान संवाददाताओं की भर्ती जरूर करे ताकि हमारे पाठक विज्ञान-समाचारों के भ्रष्ट अनुवादों के कारण गुमराह न हों।

हिन्दी में अच्छे वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद भी मिलते हैं, लेकिन यह ज्यादातर उन लोगों के द्वारा किये गये हैं जो उस विषय के जानकर हैं या उसे पढ़ाते रहे हैं और हिन्दी में भी लिखने की रुचि रही है। लेकिन ऐसे लोग अँगुलियों पर गिने जा सकते हैं और इसी तरह पठनीय वैज्ञानिक अनुवाद भी कुछ दर्जन ही होंगे, अन्यथा हिन्दी में विज्ञान और तकनीकी विषयों पर 10 हजार से अधिक पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। सरकार द्वारा ठेके पर कराये गये वैज्ञानिक अनुवादों में गलती से कभी कोई किसी विज्ञान लेखक को दे दिया गया तो अच्छा हुआ है, नहीं तो अधिकतर ऐसे हैं जिनको पढ़ना मुश्किल है।

इसके कारण हिन्दी की विज्ञान-संबंधी पाठ्य-पुस्तकें बहुत बोझिल हो गयी हैं। छठीं, सातवीं से लेकर बी० एस-सी० तक की किताबें हैं, लेकिन अनुवाद करने वालों ने इसका बिल्कुल ध्यान नहीं रखा कि इस किताब को छठीं का बच्चा पढ़ेगा और इसको ग्यारहवीं का। इस तरह जहाँ-जहाँ विज्ञान की पढ़ाई 12वीं तक होने लगी है, वहाँ भी विज्ञान की जो किताबें पढ़ाई जा रही हैं, उन्हें अगर आप खुद पढ़कर देखें तो माथा पीट लें।

इस पूरी समस्या से निपटने का सबसे अच्छा उपाय तो यही है कि अनुवाद पर निर्भर रहना छोड़ दें। 12वीं तक के बच्चों के लिए तो पाठ्य-पुस्तकों का अनुवाद कराने की जरूरत ही नहीं है। पता नहीं, क्यों अभी तक एन० सी० ई० आर० टी० जैसी

संस्थायें यही समझती हैं कि हिन्दी में विज्ञान लिखने वाले मिलेंगे ही नहीं।

अब सोचने की बात यह है कि जब वैज्ञानिक अनुवाद से पिण्ड छुड़ाना मुश्किल है तो वर्तमान परिस्थितियों में क्या कुछ किया जाये कि वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद ऐसे हों, जो पढ़े जा सकें। इसके लिए मेरे सुझाव इस प्रकार हैं—

- (1) वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद सिखाने के लिए हिन्दी और भारतीय भाषाओं में जगह-जगह कार्यशालायें आयोजित की जायें, पाठ्यक्रम शुरू किये जायें और संभव हो तो डिग्री कोर्स में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विद्यार्थियों के लिए वैज्ञानिक अनुवाद और विज्ञान-लेखन को भी एक विषय रखा जाय। आई० आई० टी०, कानपुर इस मामले में पहल करे तो अच्छी नींव पड़ जायेगी।
- (2) इस समय अनुवाद-कला सिखाने के पाठ्यक्रम जहाँ भी चलाये जा रहे हों, जैसे कि दिल्ली विश्व-विद्यालय में, वहाँ वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद सिखाने का भी काम शुरू किया जाय और सिखाने के लिए ऐसे लोग रखे जायें जो खुद अच्छा वैज्ञानिक अनुवाद कर सकते हों।
- (3) अखबारों के लिए और अन्य प्रसार-माध्यमों के लिए विज्ञान की एक बुनियादी शब्दावली तैयार की जाय, जिसमें कृषि विज्ञान सहित सभी विषयों के लगभग 5000 शब्द हों, जिनकी रोजमर्रा के

समाचार-लेखन, समाचार-वाचन, सामयिक विषयों पर वार्ताओं और रचनाओं में जरूरत पड़ती हो।

- (4) 12वीं तक विज्ञान की किताबें केवल मौलिक लिखवायी जायें। इससे ऊपर की कक्षाओं के लिए भी जहाँ तक संभव हो मौलिक लेखन पर ही बल दिया जाय।
- (5) पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञान के लिये अलग के संवाद-दाता, उपसंपादक, सहायक संपादक आदि भर्ती किये जायें और विज्ञान की सामग्री अधिक दी जाये।
- (6) विज्ञान की पढ़ाई के लिए और पाठ्य-पुस्तकों में अंग्रेजी की शब्दावली इस्तेमाल करने की छूट हो। तकनीकी शब्द वैसे ही रहें तो बाकी बात हर अध्यापक अपनी मातृभाषा में समझा सकता है। यह मान लेने पर हिन्दी और भारतीय भाषाओं में आप चाहें तो कल से ही सभी विषयों की पढ़ाई शुरू करा सकते हैं।
- (7) यह शुभ लक्षण है कि हिंदी-पत्रों के समूह जहाँ-तहाँ फल-फूल रहे हैं, उनमें से जो भी हिन्दी में विज्ञान-पत्रिका शुरू कर देगा लाखों कमायेगा, क्योंकि 'सी एस आई आर' द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान-प्रगति' सरकारी प्रतिष्ठान से जुड़ी होने के बावजूद बिना किसी प्रचार-अभियान के हर साल सवा लाख बिक रही है। □

कैंसर चिकित्सा में विटामिन 'ए' की भूमिका

नरेश बाली

द्वारा हिमाद्रीस स्टोर, जोगीपाड़ा, डाकघर आजरा, गौहाटी (असम)—781017

क्या आप विटामिन ए से आज के सम्भवतः सर्वाधिक खतरनाक रोग कैंसर से संघर्ष कर सकते हैं? शायद!

ब्रिटेन के चिकित्सा विज्ञान से सम्बन्धित जर्नल

'लैंसेट' में प्रकाशित दो अलग-अलग अध्ययनों में बताया गया है कि विटामिन ए की अधिक मात्रा मनुष्यों में, विशेषकर तम्बाकू के प्रयोग से होने वाले कैंसर, मुख कैंसर तथा फेफड़ों के विरुद्ध प्रभावकारी

हैं। पहले अध्ययन के अनुसार, यह पाया गया कि विटामिन ए अधिक मात्रा में लेने वाले व्यक्तियों या जिनके रक्त में इसका स्तर उच्च होता है, कैंसर, विशेषकर फेफड़ों के कैंसर, के खतरे की आशंका कम रहती है—उन लोगों की तुलना में जो विटामिन ए कम लेते हैं अथवा जिनके रक्त में इसकी मात्रा कम होती है। यह अध्ययन इससे पहले (1975 से लेकर) किये गये अध्ययनों की पुष्टि करता है। लैंसेट में प्रकाशित दूसरे अध्ययन का कहना है कि विटामिन ए कैप्सूलों का नियमित सेवन शरीर के भीतर की कैंसर-कोशिकाओं को कम करने में समर्थ पाया गया है।

कोलम्बिया विश्वकोष में विटामिनों के ऐसे कार्बनिक पदार्थों का एक समूह बताया गया है जो शरीर की उपापचय क्रिया का नियामक है तथा इनकी मनुष्य और पशु दोनों को अपनी सामान्य वृद्धि, प्रजनन-क्रिया तथा जीवित रहने के लिए दैनिक आहार में आवश्यकता होती है। एक पदार्थ जो किसी जाति विशेष में विटामिन का कार्य करता है आवश्यक नहीं कि वह किसी दूसरी जाति में भी वही कार्य करता हो। दूध, फल, सब्जियों इत्यादि से भरपूर संतुलित आहार प्रायः विटामिनों की दैनिक आवश्यकता की पूर्ति कर देता है।

विटामिन ए वसा में घुलनशील एक एल्कोहॉलीय पदार्थ है जो कैरोटिनायड्स तथा रेटिनायड्स के रूप में पाया जाता है। शरीर में पहुँचने के बाद ये दोनों विटामिन ए में परिवर्तित हो जाते हैं। कैरोटिनायड्स मुख्यतः गाजर, मकई, दूध, चुकन्दर, शकरकंदी, आलू, अरनी, जमीकंद, अंडे की जरदी आदि में पाये जाते हैं। विटामिन ए दीर्घायु, दृष्टि (विशेषकर कम प्रकाश में), त्वचा तथा श्लेष्मिक झिल्ली के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण है। और, पिछले वर्षों में किये गये अनेक अध्ययनों के अनुसार, शायद, कैंसर से संघर्ष करने में भी।

‘विश्व स्वास्थ्य संगठन’ का अनुमान है कि विश्व भर में प्रतिवर्ष कैंसर के कुल मिला कर लगभग साठ

लाख नये मामले प्रकाश में आ रहे हैं जिनमें से आधे से अधिक अर्थात् तीस लाख मामले प्रगतिशील देशों के होते हैं। विशेषज्ञों द्वारा किया गया एक अध्ययन बताता है कि विश्व के लगभग सभी देशों, जहाँ-जहाँ से आँकड़े उपलब्ध हो सके हैं, तकरीबन पचास प्रतिशत बल्कि ज्यादा ही वयस्क पुरुष तम्बाकू के किसी न किसी प्रकार के प्रयोग के आदी हैं। विकसित देशों में जहाँ धूम्रपान की दर पुरुषों में घट रही है और स्त्रियों में यह शौक दिन-प्रतिदिन बढ़ रहा है वहीं विकासशील देशों में अधिकतर पुरुष इस लत से पीड़ित हैं। यहाँ हाँगकाँग तथा सिंगापुर दो राष्ट्र अपवाद हैं जहाँ, विशेषज्ञों के कथनानुसार, फेफड़ों के कैंसर से मृत्यु-दर स्त्री वर्ग में दुनिया भर में सर्वोच्च है। फेफड़ों का कैंसर विकसित देशों में अधिक पाया जाता है तो विकासशील देशों में अधिक पाया जाने वाला है मुख कैंसर। भारत सहित दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में यह कैंसर आमतौर से पाया जाता है। तम्बाकू का प्रयोग एशिया महाद्वीप के लाखों लोगों का प्रिय शौक है जिनमें एक बड़ी संख्या भारतीयों की है। और इसका प्रत्यक्ष परिणाम है इस क्षेत्र में मुख कैंसर की व्यापकता। दक्षिण-पूर्व एशिया के देशों में, ‘विश्व स्वास्थ्य संगठन’ के अनुसार, मुख कैंसर के प्रतिवर्ष एक लाख नये मामले सामने आते हैं।

मुख कैंसर मुँह में हमेशा उसी ओर होता है जिस तरफ पान-तम्बाकू रखा जाता है। पान-तम्बाकू खाने की लत से पन्द्रह साल में मुँह का कैंसर हो जाता है। यदि इसे समय रहते पकड़ लिया जाये तो इसका रेडियो-थेरापी तथा शल्यक्रिया द्वारा इलाज किया जा सकता है। कैंसर रोग के मामले में सबसे अधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह होती है कि रोगी को जब तक स्थान-विशेष पर किसी तरह का दर्द न हो तब तक वह इसे साधारण रूप से ही लेता रहता है। दर्द कैंसर में काफी बाद का लक्षण है और अधिकतर रोगी इसी अवस्था में चिकित्सा हेतु पहुँचते हैं। तब दर्द से तो छुटकारा मिल जाता है पर रोग असहाय हो जाने के कारण इसकी चिकित्सा संभव नहीं हो पाती। अस्पताल वे

रोगियों के एक अध्ययन में यह पाया गया है कि मुख कैंसर के मात्र दस प्रतिशत मामले ही समय रहते पकड़ में न आ सके।

लेकिन अब शायद मुख कैंसर के रोगियों को इस रोग से काफी हद तक छुटकारा मिल जायेगा। यह कैंसर विटामिन ए अधिक बल्कि सही मायनों में अतिरिक्त मात्रा में लेकर रोक पाना सम्भव है। मुख कैंसर के रोगियों को विटामिन ए तथा प्रति-विटामिन ए (Pro-Vitamin A) कैप्सूलों का नियमित सेवन कराया जाना चाहिए। इससे मुख के भीतर की असामान्य कोशिकाओं की संख्या में 75 प्रतिशत से भी अधिक की कमी की जा सकती है—यह लेंसट पत्रिका में हाल ही में प्रकाशित उपरोक्त अध्ययन का निष्कर्ष तथा कनाडा के वेनकूवर नगर स्थित 'ब्रिटिश कोलम्बिया कैंसर रिसर्च सेन्टर' के हांस स्टिक और मिरियम रोसिन का सुझाव है। इन दोनों अनुसन्धानकर्त्ताओं ने यह सुझाव तब दिया जब ये फिलिपीन्स के पान, तम्बाकू चबाने वाले लोगों में इनके प्रयोग के फल-स्वरूप उपजे मुख कैंसर पर रैटिनॉल (विटामिन ए) तथा कैरोटीन (प्रति-विटामिन ए) के रक्षात्मक प्रभाव की जाँच कर रहे थे। चालीस नियमित पान, तम्बाकू के शौकीन व्यक्तियों को स्टिक तथा रोसिन द्वारा तीन महीने तक सप्ताह में दो बार रैटिनॉल की 50,000 युनिट और कैरोटीन की 150,000 युनिट मात्रा दिये जाने के बाद जब परिणाम देखे गये तो ये अत्यन्त आश्चर्यजनक थे। सभी रोगियों में कैंसर-कोशिकाओं की संख्या में इससे बहुत जल्दी और काफी गिरावट आयी जिससे वे इस खतरनाक रोग का शिकार बनने से बच गये। इस अध्ययन से उक्त अनुसन्धानकर्त्ताओं ने यह दिखाया है कि विटामिन ए मुख कैंसर के विरुद्ध तीव्र मारक प्रभाव रखता है और इसकी सहायता से एशिया महाद्वीप में इस रोग से प्रतिवर्ष होने वाली सैकड़ों-हज़ारों मौतों को रोका जा सकता है।

अब, लेंसट में प्रकाशित पहले वाले, फेफड़ों के कैंसर से सम्बन्धित अध्ययन का विवरण। इस रिपोर्ट के अनुसार, वाल्ड तथा इनके सहकर्मियों ने वर्ष 1975

तथा 1978 के बीच BUPA स्वास्थ्य केन्द्र में अपने स्वास्थ्य की जाँच हेतु उपस्थित हुए 35 से 54 वर्ष की आयु तक के कुल 16,000 पुरुषों के खून के नमूने लिये। एकत्र करने के बाद खून के इन सभी नमूनों को शान्तिपूर्वक परिरक्षित करके रख दिया गया।

सन् 1976 तक श्री वाल्ड ने पाया कि इन पुरुषों में से 86 को कैंसर हो गया। अब, अध्ययन हेतु, समान आयु वर्ग तथा धूम्रपान के आदी लोगों का एक वर्ग बनाया गया और दूसरे वर्ग में ऐसे लोगों को रखा गया जो अब तक जीवित तथा कैंसर के बिना किसी स्पर्श के भी पूर्णतया स्वस्थ थे। तत्पश्चात्, दोनों वर्गों के सदस्यों के रक्त में विटामिन ए की मात्रा की जाँच की गयी। तो विभिन्न प्रकार के कैंसर से ग्रस्त व्यक्तियों में विटामिन ए का औसत स्तर आश्चर्यजनक रूप से निम्न पाया गया। 'स्वस्थ' वर्ग के 231 इन्टरनेशनल यूनिट प्रति डेसीलीटर के मुकाबले यह मात्रा केवल 210 थी तथा विटामिन ए की सर्वाधिक कमी फेफड़ों के कैंसर के मामलों में देखी गयी। फुफ्फुस कैंसर के रोगियों के रक्त में विटामिन ए का औसत भाग 183 युनिट प्रति डेसीलीटर था।

इस अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रक्त में विटामिन ए का उच्च स्तर कैंसर से बचाव करता है तथा इसको रोकता है। अब प्रश्न यह उठता है कि विटामिन ए की आखिर कितनी मात्रा ली जाये जो कैंसर के विरुद्ध काम कर सकने के लिए पर्याप्त हो और इतनी अधिक भी न हो कि शरीर पर उल्टा बुरा असर डालना शुरू कर दे। वैज्ञानिक इस प्रश्न का उत्तर अभी तक तो यही दे रहे हैं कि ऐसी कोई मात्रा अब तक निश्चित नहीं की जा सकी है। इसका ठीक-ठीक पता लगाना अभी शेष है। वैसे वैज्ञानिक इस दिशा में अधिक विश्वास के साथ काम कर रहे हैं कि किसी ऐसे रैटिनॉल की खोज की जा सके जो कैंसर से संघर्ष करने की अपार क्षमता रखता हो साथ ही इसके अत्यधिक उपयोग से विषाक्तता जैसी स्थिति के उत्पन्न होने का खतरा भी न हो। पर फुफ्फुस तथा मुख कैंसर के रोगियों को चाहिए कि

विटामिन ए अधिकाधिक सुरक्षित मात्रा में प्राकृतिक रूप से प्राप्त करने के लिए वे विटामिन ए से युक्त वस्तुओं को अपने दैनिक आहार में ज्यादा से ज्यादा स्थान दें। जैसे गाजर प्रतिदिन बड़ी मात्रा में खाने से कैंसर को रोका जा सकता है। गाजरों में बीटा कैरोटीन अधिक मात्रा में पाया जाता है और वह भी प्राकृतिक रूप में। किसी भी वस्तु का प्राकृतिक रूप उसके रासा-

यनिक रूप की तुलना में श्रेष्ठ समझा जाता है। तात्पर्य यह कि गाजर भारी मात्रा में विटामिन ए प्राप्त करने का सर्वाधिक सुरक्षित स्रोत है। परन्तु यदि आप प्रतिदिन बड़ी संख्या में गाजरों के उपयोग के साथ-साथ अपनी धूम्रपान अथवा तम्बाकूपान की आदत बरकरार रखते हैं तो किसी लाभ की उम्मीद मत रखिये। □

तंत्रिका प्रत्यारोपण

विनीता अग्रवाल

सी-4 जी, 103 ए, जनकपुरी, नई दिल्ली - 58

दुर्घटनाओं में अक्सर मस्तिष्क या अन्य अंगों की तंत्रिकाएँ क्षतिग्रस्त हो जायें तो मृत्यु निश्चित मानी जाती है। ऐसा समझा जाता है कि ये तंत्रिकाएँ स्वयं ठीक नहीं हो पाती हैं। अतः चिकित्सा के क्षेत्र में इस दिशा में वर्षों से प्रयास किये जाते रहे हैं कि इन्हें कृत्रिम रूप से स्वयं ठीक होने के लिए प्रेरित किया जा सके। इस प्रयास में हाल ही में शोधकर्ताओं को सफलता मिली है और ऐसे रसायन का पता लगाया गया है जो केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र को क्षतिग्रस्त होने की स्थिति में ठीक होने के लिए स्वयं प्रेरित करता है।

कैलिफोर्निया यूनिवर्सिटी, इरविन के तंत्रिका-विज्ञानी **रोनाल्ड मेयर** के अनुसार यह रसायन तंत्रिकाओं को बढ़ने के लिए उत्साहित करता है। इसके लिए चूहों पर परीक्षण किये गये जिसमें एक स्वस्थ चूहे के मस्तिष्क की तंत्रिका निकाल कर दूसरे पूर्ण विकसित चूहे के मस्तिष्क में आरोपित की गयी और यह परीक्षण सफल पाया गया। इसी आधार पर आशा की जाती है कि जल्दी ही मानव मस्तिष्क में तंत्रिका प्रत्यारोपण द्वारा चोट खायी या बढ़ती उम्र के साथ क्षतिग्रस्त हुयी तंत्रिकाओं को भी ठीक किया जा सकेगा।

मानव शरीर में अरबों कोशिकाओं से मिल कर बनी तंत्रिकाओं का विस्तृत जाल फैला हुआ है जिन्हें

मुख्यतया दो भागों—बाह्य और केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के रूप में विभाजित किया जा सकता है। सूक्ष्म कोशिकाएँ न्यूरॉन कहलाती हैं जो रासायनिक विसरण द्वारा शरीर के सभी भागों से संदेश ग्रहण करती हैं और प्रसारित करती हैं। ये संदेश द्रव से भरी लम्बी कोशिकाओं “एक्सॉन” द्वारा शरीर के एक भाग से दूसरे भाग में जाते हैं। नलिकाएँ ही शरीर के विभिन्न भागों को पोषक तत्व भी पहुँचाती हैं। “एक्सॉन” चारों ओर से सहायक कोशिकाओं ‘ग्लिया’ द्वारा घिरे रहते हैं। एक अन्य प्रकार की सहायक कोशिकाएँ “श्वान कोशिकाएँ” भी जालक के रूप में एक्सॉन को घेर कर उसे आधार प्रदान करती हैं।

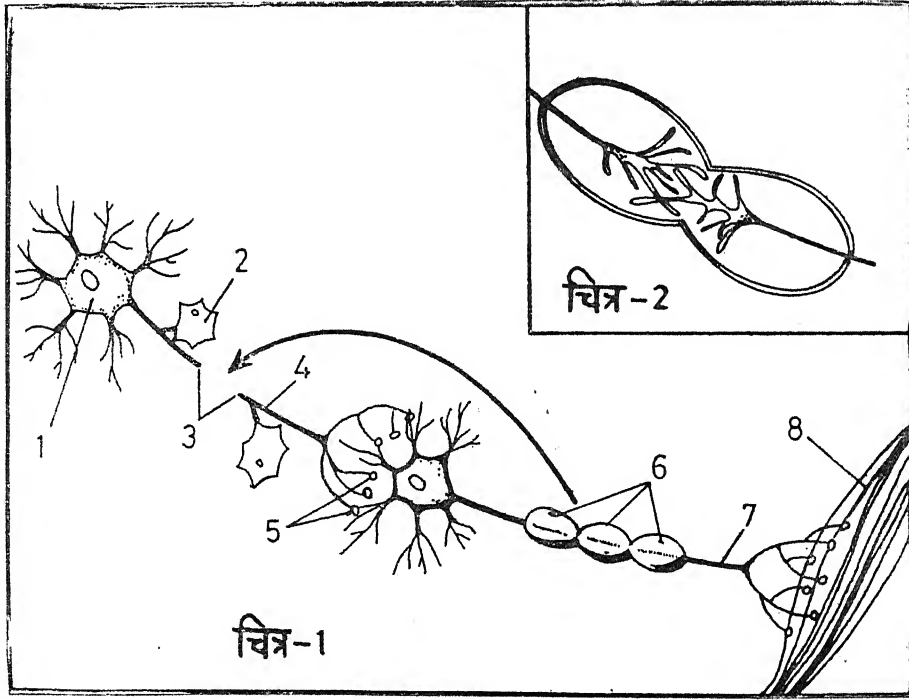
बाह्य तंत्रिका तंत्र में ये सहायक कोशिकाएँ क्षतिग्रस्त होने की स्थिति में ठीक होने की क्षमता रखती हैं परन्तु केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में एक्सॉन की सहायक कोशिकाएँ, ‘तारा कोशिकाएँ’ विरल रूप में बिखरी होती हैं जिस कारण क्षतिग्रस्त होने पर वे पर्याप्त रूप से नहीं बढ़ पाती हैं क्योंकि आपसी सहयोग दूरी के कारण नहीं मिल पाता है। इसलिए नई कोशिकाएँ बनने के बावजूद भी वे ठीक से नहीं बढ़ पाती हैं। इन नयी कोशिकाओं को किसी रसायन द्वारा ही संवर्द्धन हेतु प्रेरित किया जा सकता है।

वार्शिंगटन विश्वविद्यालय, सेंट लुइस के वैज्ञानिकों

ने इस दिशा में सन् 1950 से 1960 के बीच शोध-कार्य किया और इसमें काफी सफलता भी मिली। उन्होंने चूहों की लार ग्रंथियों से एक ऐसा वृहत् प्रोटीन प्राप्त किया है जिसके द्वारा कोशिका-संवर्द्धन करने पर एक वृहत् कोशिका गुल्म प्राप्त हुआ। इस प्रोटीन का नाम 'तंत्रिका वृद्धि कारक' (एन० जी० एफ०) रखा गया है। शोध में यह भी पाया गया कि यह प्रोटीन कुछ अन्य सामान्य कोशिकाओं द्वारा भी निःस्रावित होता है। यह प्रोटीन कैंसरकारी द्रव्यों से क्षतिग्रस्त हुयी कोशिकाओं को भी ठीक करने में सक्षम पाया गया। इसी आधार पर वैज्ञानिकों का यह मत है कि कोशिका-वृद्धि को प्रेरित करने वाले अन्य कारक भी संभवतः 'गिलया' कोशिकाओं द्वारा निःस्रावित किये जाते हैं।

वाशिंगटन विश्वविद्यालय के तंत्रिका विज्ञानी डॉ० रिचर्ड बंग के अनुसार, कोशिकाओं का बनना पुनर्जनन प्रक्रिया का केवल एक भाग है क्योंकि ये किसी द्रव पदार्थ में या खाली जगह में नहीं बढ़तीं बल्कि इनकी वृद्धि एक विशिष्ट सतह पर होती है। बाह्य तंत्रिका कोशिकाओं में श्वान कोशिकायें इस सतह का काम करती हैं। भ्रूणावस्था में या विकासशील केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र में तारा कोशिकायें भी यही कार्य करती हैं, किन्तु प्रौढ़ावस्था में या तो ये मर जाती हैं या एक दूसरे से काफी दूर चली जाती हैं। यहाँ तक कि वे वृद्धिकारक भी बनाना बंद कर देती हैं।

मैगिल विश्वविद्यालय, कनाडा के अल्बर्ट एगुयो ने इस हेतु 1980 में एक विलक्षण प्रयोग किया। उन्होंने चूहे की बाह्य तंत्रिका का एक-एक इंच लम्बा



चित्र 1—(1) मेरुदंड में स्थित कोशिका (2) तारा कोशिका
(3) क्षतिग्रस्त तंत्रिका (4) एक्सॉन (5) अंतर्गठन
(6) श्वान कोशिकायें (7) एक्सॉन (8) मांसपेशियाँ

चित्र 2—क्षतिग्रस्त तंत्रिका में प्रत्यारोपित श्वान कोशिकायें

टुकड़ा “श्वान” सहित काट कर बयस्क चूहे के मस्तिष्क और मेरुदंड के बीच बाहिका नली के रूप में प्रत्यारोपित कर दिया। इसको इस प्रकार आरोपित किया गया कि वह केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र के अन्दर 2 मिमी० से अधिक अंदर न जा सके। तंत्रिका कोशिका के एक्सॉन, कोशिका आवरण से होते हुये क्षतिग्रस्त मेरुदण्ड में पहुँच गये। इससे यह परिणाम निकाला गया कि समुचित वातावरण मिलने पर केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र को पुनर्जनित किया जा सकता है।

वेस्टर्न रिजर्व यूनिवर्सिटी के तंत्रिकाविज्ञानी जेरी सिल्वर और मासाचेस्ट इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी के भौतिक-रसायन विज्ञानी आयोरगनित यानास ने हाल ही में अपने अन्य सहयोगियों के साथ किये गये शोधकार्य से परिणाम निकाला है कि तारा कोशिकाओं से दूर चले जाने के कारण उत्पन्न रिक्त स्थानों को उचित वातावरण देकर भरा जा सकता है। इसके

लिए उन्होंने एक प्रोटीन-कार्बोहाइड्रेट जेल का प्रयोग किया। सिलिकॉन ट्यूब में इस द्रव को भर कर चूहे के क्षतिग्रस्त बाह्य तंत्रिका तंत्र के तीन चौथाई इंच के रिक्त स्थान पर रखा दिया गया। जेरी सिल्वर का मत है कि यदि इस द्रव पर भ्रूण तारा कोशिकाओं का लेप कर दिया जाये तो इसे क्षतिग्रस्त केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र को फिर से सक्रिय बनाने के लिए भी प्रयुक्त किया जा सकता है।

इन खोजों से तंत्रिकाविज्ञान के क्षेत्र में नयी आशाएँ बँधी हैं क्योंकि केन्द्रीय तंत्रिका तंत्र की क्षति की स्थिति, विशेष कर “पकिन्सन” और “अल्जेयर” जैसे रोगों में चिकित्सक खुद को असहाय महसूस करते थे, किन्तु अब तंत्रिका प्रत्यारोपण हेतु विशिष्ट रसायन का प्रयोग कर कोशिकाओं का पुनर्जनन संभव हो सकेगा। वैसे इस क्रिया में अभी व्यावहारिक जटिलताओं को दूर करने में काफी समय लगेगा। □

अब नौवें वर्ष में—

वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, देहरादून के अखिल भारतीय

वानिकी साहित्य पुरस्कार 1986

वानिकी विषयों पर मूलतः हिन्दी में लिखित वैज्ञानिक व तकनीकी ग्रन्थों और लेखों को देय

ग्रन्थ पुरस्कार : श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	5,000 ₹०
उत्तम लेखन पुरस्कार	3,000 ₹०
सराहनीय लेखन पुरस्कार	1,000 ₹०
लेख पुरस्कार : श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	500 ₹०
उत्तम लेखन पुरस्कार	350 ₹०
सराहनीय लेखन पुरस्कार	200 ₹०
प्रोत्साहन पुरस्कार	100 ₹०

प्रविष्टियाँ 31 जुलाई, 1986 तक स्वीकार्य

विहित आवेदन प्रपत्र, नियम व विवरण अपना पता लिखा व बिना टिकट लगा 10 सेमी० × 25 सेमी० आकार का लिफाफा भेजने पर निम्न से 15 जुलाई 1986 तक प्राप्य।

दुर्गाशंकर भट्ट

सचिव, अ० भा० वा० साहित्य पुरस्कार योजना

वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, डा० घ०, न्यू फारेस्ट (देहरादून) 248006

विज्ञान-वीथिका

सम्पादक : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव, प्रकाशक : एशिया बुक कम्पनी, 9 यूनिवर्सिटी रोड, इलाहाबाद—211002; पृष्ठ : 40 सचित्र; वर्ष : 1, अंक : 1 (प्रवेशांक), फरवरी 1986; मूल्य : 4.00 रुपये प्रति ।

ज्ञान और अज्ञान के बीच एक बड़ा फागला है जिसे तय करने के लिए पत्रकारिता सशक्त माध्यम है । विज्ञान के बढ़ते चरण में वैज्ञानिक घटनाओं और विचारों से जन-जन को अवगत कराना आवश्यक है । संभवतः इसी अभिप्राय से विज्ञान पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ हो ।

प्रकाशन को इसी शृंखला में अगली कड़ी के रूप में एशिया बुक कम्पनी, इलाहाबाद ने 'विज्ञान-वीथिका' नामक द्वैमासिक पत्रिका का प्रकाशन शुरू किया है । यह गर्व की बात है कि संभवतः देश का यह पहला गैर वैज्ञानिक प्रकाशन संस्थान है जिसने हिन्दी में विज्ञान-प्रकीर्णन और प्रचार-प्रसार की दिशा में पहल किया है । इससे हिन्दी विज्ञान पत्रकारिता को एक नया आयाम मिला है ।

पत्रिका हेतु विषयों का चुनाव उच्च स्तरीय है और सम्पादन ने लेखों में सोने में "लुहागा-सा" काम किया है । एक ओर हेली पर पर्याप्त सामग्री जुटाई गई है और इसे सामयिक बनाया गया है तो दूसरी ओर जगत् और जीवन से जुड़े रहस्यों पर प्रकाश "महानाद" लेख के अंतर्गत ढाला गया है । ऐसे विषयों पर भी प्रभावोत्पादक लेख समावेशित किये गये हैं जो या तो विज्ञान जगत् के अनछुये पहलू हैं या फिर विवाद के विषय । उदाहरण के तौर पर बाइबिल और वेदों

में वर्णित प्रसंगों के माध्यम से उड़नतश्तरियों की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है । कृषि में प्रयुक्त किये जा रहे कीटनाशियों के विषाक्त प्रभाव जीव-जगत् पर पड़ते हैं, यह भ्रम आम रूप से व्याप्त है । किन्तु, "अभिषिप्त जीवनाशी" शीर्षक लेख के माध्यम से यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि वस्तुस्थिति कुछ और ही है । आँकड़े बताते हैं कि जीवनाशियों का प्रतिकूल प्रभाव मानव-स्वास्थ्य पर नहीं पड़ा है । इसी प्रकार, "भारत में सागर विज्ञान" लेख पढ़कर पुराणों में वर्णित "समुद्र मंथन" की याद ताजा हो उठती है ।

महान् वैज्ञानिक स्वर्गीय मेघनाद साहा की पुण्य तिथि पर उनकी जीवनी और वैज्ञानिक तीर्थयात्रा की विस्तृत जानकारी देकर निश्चय ही संपादक ने विषयों के समायोजन की विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया है । अन्य लेख भी विचारोत्तेजक और सूचनाप्रद हैं ।

अगर पत्रिका का कोई कमजोर पक्ष है तो वह है, संक्षिप्त वैज्ञानिक समाचारों का अपर्याप्त होना । रंगीन चित्र भी होते तो पत्रिका में निखार आ जाता । पत्रिका का पाक्षिक या मासिक होना आवश्यक है । फिर भी कुल मिलाकर पत्रिका देखकर ऐसा कदापि नहीं लगता है कि यह प्रवेशांक होगा अतः निश्चय ही पत्रिका का भविष्य उज्ज्वल है और सम्पादक एवं प्रकाशक निसंदेह बधाई के पात्र हैं ।

—सदन कुमार सिन्हा

सम्पादन सहायक, "भारत की सम्पदा", प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी० एस० आई० आर०, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-12

['विज्ञान-वीथिका' का द्वितीय अंक, मार्च-अप्रैल 1986 अंक (प्रवेशांक 2) प्रकाशित हो गया है । मूल्य एक प्रति 4.00 रु०, वार्षिक मूल्य 20 रुपये ।

—सम्पादक]

विज्ञानपुरी

त्रैमासिक, अक्टूबर-दिसम्बर 1985, मूल्य : एक प्रति 2/50 रुपये; वार्षिक 10/—रुपये; सम्पदक : श्री इंदुप्रकाश अरजरिया; पता : विज्ञान परिषद, महोबा-210427 (उ० प्र०)

बुंदेलखण्ड मध्य भारत में पिछड़ा हुआ क्षेत्र है, जो ग्यारहवीं सदी की गौरवशाली बुंदेली संस्कृति का केन्द्र बिन्दु रहा है। इसी क्षेत्र में विगत पाँच वर्षों से वैज्ञानिक और तकनीकी तथा अनुसंधान और आविष्कार कार्यों पर “विज्ञानपुरी” नामक त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित की जा रही है। इसका उद्देश्य हिंदी भाषा-भाषी पाठकों को देश-विदेश में हो रहे वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान विकास कार्यों से अवगत कराते हुये उनमें वैज्ञानिक अभिरुचि को विकसित और प्रेरित करना है।

पत्रिका के समीक्षित अंक में, विज्ञान और प्रौद्योगिकी विषयक विभिन्न लेख दिये गये हैं, जिनमें बहु-भाषी भारतीय कंप्यूटर : सिद्धार्थ, कुपोषण से बचाव : मत्स्य मांस, आइंस्टीन का प्रसिद्ध सूत्र $E=mc^2$ आधुनिक परिप्रेक्ष्य में, इत्यादि लेख विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पत्रिका अंधविश्वासों और कुरीतियों तथा प्रदूषण के प्रति भी सचेत है। इसी अंक में “धार्मिक रीतियों से पनपता प्रदूषण” नामक लेख प्रमुखता के साथ प्रकाशित किया गया है। प्रतियोगी परीक्षार्थियों के लिये परीक्षोपयोगी प्रश्नोत्तरों का समावेश भी इसके “आप कितने पानी में हैं” नामक

स्तंभ में है। किन्तु पत्रिका का अति लोकप्रिय स्तंभ “हम सुझायेँ आप बनायेँ” लगता है इस अंक में छूट गया है। झलकियाँ तथा समाचार इत्यादि स्तंभों से पत्रिका में जहाँ एक ओर विषयगत विविधता आई है, वहीं दूसरी ओर इन छोटी-छोटी सूचनाओं से पाठकों में ज्ञानवर्द्धन के साथ ही पत्रिका में रोचकता का पुट भी भरा है।

वस्तुतः इतना सब हाँते हुये भी छपाई और कागज की गुणता में कमी कुछ खटकती है। चित्र कम हैं। प्रूफ संशोधन की कमियाँ भी नज़रअंदाज नहीं की जा सकती। लेकिन सामग्री संयोजन तथा उसके संपादन और समायोजन में सूक्ष्मता की स्पष्ट झलक मिलती है। आवरण पृष्ठ चिकना, रंगीन तथा साधारण होते हुये भी आकर्षक है।

लेकिन पत्रिका से और सुधार करने तथा और अधिक उपयोगी सामग्री देने की अपेक्षा भी उचित है।

यदि इस देश के वैज्ञानिकों तथा हिंदी विज्ञान लेखकों और पाठकों का पर्याप्त सहयोग मिला तो निःसंदेह यह हिन्दी में लोकप्रिय हिन्दी विज्ञान साहित्य की कमी को पूरा करने में सार्थक भूमिका निभायेगी।

—मनोज कुमार पट्टेरिया

वरिष्ठ संपादन सहायक, “भारत की सम्पदा”

प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय,

हिलसाइड रोड, नई दिल्ली-110012

विज्ञान समाचार

शिक्षा में हिन्दी माध्यम

रचनात्मक लेखन केन्द्र, आई० आई० टी०, कानपुर के तत्वावधान में “तकनीकी हिन्दी के प्रयोग एवं विकास” पर आयोजित तीन दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी कार्यशाला सम्पन्न हुई। उसमें विभिन्न सत्रों में जो निबन्ध पढ़े गये उनके आधार पर अन्तिम सत्र

में निम्नलिखित संस्तुतियाँ की गईं—

(1) प्रदेशों में विज्ञान और गणित की शिक्षा प्राइमरी स्तर से हिन्दी या प्रादेशिक भाषाओं में हो।

(2) समन्वय और एकता की दृष्टि से केन्द्रीय विद्यालयों में विज्ञान और गणित की शिक्षा प्राइमरी स्तर से हिन्दी में हो।

(3) अहिन्दी भाषी प्रदेशों में प्राइमरी स्तर से हिन्दी के ऐच्छिक अध्ययन की व्यवस्था की जाए।

(4) आई० आई० टी० जैसी राष्ट्र-महत्व की संस्थाओं में एवं इंजीनियरिंग, मेडीकल, मैनेजमेंट आदि के डिग्री प्रोग्रामों में—

(क) आरम्भ में प्रवेश-परीक्षाओं/स्पर्धा परीक्षाओं में हिन्दी माध्यम का विकल्प उपलब्ध कराया जाय तथा अंग्रेजी का प्रश्नपत्र ऐच्छिक हो। अन्य प्रादेशिक भाषाओं के माध्यम भी क्रमशः उपलब्ध कराने की समुचित योजना बनाई जाय।

(ख) स्नातक और स्नातकोत्तर स्तर पर प्रोजेक्ट-रिपोर्ट/शोध-थीसिस हिन्दी में तैयार करने और इसे स्वीकृत किए जाने की व्यवस्था हो। अंग्रेजी की अनिवार्यता समाप्त की जाय।

(ग) स्नातक/स्नातकोत्तर स्तर पर हिन्दी में तकनीकी लेखन एवं अभिव्यक्ति में कुशलता वांछनीय हो। इसके लिए 'हिन्दी में तकनीकी लेखन एवं प्रस्तुतीकरण' पर ऐच्छिक विषय पढ़ाये जाने की व्यवस्था हो।

(घ) प्रौद्योगिक संस्थानों के मानविकी विभागों के अन्तर्गत अंग्रेजी साहित्य की भाँति हिन्दी साहित्य पढ़ाने का प्रावधान भी किया जाय।

(च) औद्योगिक संस्थानों के मानविकी विभागों में एक संस्कृत विषय का अध्यापक रखा जाय जो तकनीकी शब्दावली निर्माण में सहायता कर सके।

(5) स्कूलों में कम्प्यूटर से शिक्षण—

(क) हिन्दी/प्रादेशिक भाषा में हो। शिक्षक अथवा प्रशिक्षण की व्यवस्था हिन्दी के माध्यम से हो।

(ख) कम्प्यूटर सॉफ्टवेयर प्रोग्राम, पुस्तकें, सवाधि शिक्षण, समाचार, वीडियो लेक्चर आदि शिक्षण सामग्री अंग्रेजी के साथ-साथ हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं में भी शीघ्र उपलब्ध कराई जाए।

तकनीकी लेखन

10—प्राथमिक स्तर से उच्च माध्यमिक स्तर के छात्रों में विज्ञान के सहज चिंतन के लिए हिन्दी में प्रभावकारी छात्रोपयोगी विज्ञान साहित्य कम से कम मूल्य पर उपलब्ध कराए जाएँ। शिक्षा मंत्रालय, प्रकाशक एवं वैज्ञानिकों की एक समिति गठित करके इसके

कार्यान्वयन की योजना घोषित और कार्यान्वित करें।

11—प्रयोजनमूलक तकनीकी हिन्दी के अल्प-कालीन पाठ्यक्रम और प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाए।

12—हिन्दी में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विभिन्न विषयों पर स्तरीय मौलिक-लेखन-प्रोत्साहन की योजना बनाई जाए। शिक्षण संस्थाओं में भारतीय भाषाओं एवं हिन्दी में तकनीकी लेखन को संपादित करने के लिए विभागों की स्थापना हो।

16—विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में तेज़ी से हो रहे विकास को ध्यान में रखकर तकनीकी शब्दावली का प्रति तीन वर्ष के बाद पुनर्मूल्यांकन किया जाए। विषयवार तकनीकी जेबी शब्दकोश तैयार किए जाएँ।

17—हिन्दी में अंतर्राष्ट्रीय स्तर की विज्ञान शोध पत्रिकाएं सुनियोजित ढंग से प्रकाशित की जाएँ। भौतिकी, रसायन और गणित विषयों के लिए वर्तमान विज्ञान अनुसंधान पत्रिका के अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान और इंजीनियरिंग पर दो अलग-अलग शोध-पत्रिकाएं प्रकाशित की जाएँ। इनके प्रभावी सम्पादन और प्रकाशन प्रबंधन की उपयुक्त व्यवस्था हो। संबंधित व्यावसायिक प्रतिष्ठानों को सरकार द्वारा तत्संबंधी निर्देश दिये जायें।

तकनीकी विभागों में हिन्दी प्रयोग संवर्धन

19—भारत सरकार के तकनीकी विभागों और उनके अंतर्गत उपक्रमों में वैज्ञानिकों के द्वारा मौलिक तकनीकी लेखन को प्रोत्साहन दिया जाए। राजभाषा कार्यान्वयन की समीक्षा में हिन्दी में लिखी गई तकनीकी रिपोर्टों, हिन्दी में तकनीकी पत्रिका के प्रकाशन और इस दिशा में कार्यरत वैज्ञानिकों को प्रोत्साहन आदि पर विशेष बल दिया जाए।

24—भारत सरकार के वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी विभाग में हिन्दी में शोध प्रकाशन और विज्ञान प्रसार के लिए पर्याप्त वित्तीय सहायता प्रदान करने का प्रावधान हो। विज्ञान, कृषि और प्रौद्योगिक संस्थाओं में हिन्दीसम्बन्धी कार्य में आवंटित धन में किसी प्रकार की कटौती न की जाय। इससे हिन्दी प्रयोग में बाधा पड़ेगी। □

ब्रायोफ़ाइट पादप और पर्यावरण

डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव

अध्यक्ष, वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

ब्रायोफ़ाइट समूह के पौधे भारत में बहुतायत से पाये जाते हैं। इन्हें सर्वप्रथम स्थलीय पौधे होने का गौरव प्राप्त है। ये बहुकोशीय थैलस या फीते जैसे होते हैं और इनमें जड़ जैसी रचना भी पायी जाती है। यही जड़ जैसी रचनायें इन्हें जमीन से टिकाए रहती हैं। ये मूलरूप से हिमालय की पहाड़ियों में निवास करते हैं किन्तु इनके कुछ सदस्य मैदानों में भी उगते हैं। ये काफी समय तक उपेक्षित रहे हैं और इनके विषय में हमारा ज्ञान संतोषजनक नहीं कहा जा सकता। संभवतः यही कारण है कि हमारी अर्थव्यवस्था में इनका योगदान लगभग नगण्य ही रहा है। मात्र कुछेक सदस्यों को छोड़कर जो पैकिंग, प्लगिंग (डाट लगाने) और सजावट के काम आते रहे हैं। स्फैगनम (*Sphagnum*) या पीट मॉस स्पंजी तथा प्रतिजैविक (एन्टीबायोटिक) होने के कारण रूई के स्थान पर प्रयोग किया जाता है। प्रथम विश्व युद्ध में इसका इस्तेमाल बड़े पैमाने पर किया गया था। इसके अतिरिक्त सूखे पौधों को जलावन के रूप में, और पौध-घरों में बिछाने में प्रयोग करते हैं। दूसरे पौधों के बेहन और शल्ककंद या 'बल्ब' को बाहर भेजने के लिए स्फैगनम की पैकिंग की जाती है।

इधर इन पौधों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इनका विधिवत वैज्ञानिक अध्ययन किया जा रहा है और अनुसंधानों के फलस्वरूप मानव जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इनके नये-नये उपयोग उजागर हो रहे हैं। विशेषकर पर्यावरण-प्रदूषण को नियंत्रित करने में इनकी महत्वपूर्ण भूमिका प्रकाश में आई है।

जलीय मॉस एम्ब्लीस्टेजियम रिपेरियम (*Amblystegium riparium*) उस जल के प्रदूषित होने का सूचक है जिसमें यह उगता है। इसके विपरीत

जंगरमैनिया वल्कैनिकोला (*Jungermannia vulcanicola*), स्कैपैनिया उन्डुलाटा (*Scapania undulata*), फॉन्टिनैलिस एण्टीपाइरेटिका (*Fontinalis antipyretica*), एम्ब्लीस्टेजियम रिपेरियम (*Amblystegium riparium*), यूरेरिक्वियम रेपेरिओइडस (*Eurhynchium raparioides*) और जल में उगने वाले कुछ अन्य ब्रायोफ़ाइट, पानी से विषैली धातुओं को अपने शरीर में अवशोषित करके जल को शुद्ध करने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जल से पारे (मर्करी) के प्रदूषण को दूर करने के लिए जंगरमैनिया वल्कैनिकोला और स्कैपैनिया उन्डुलाटा विशेष रूप से उपयोगी पाये गये हैं। जंगरमैनिया में गंधक के यौगिकों का विद्यमान होना इस ओर इंगित करता है कि इसकी सहायता से जल के गंधक-प्रदूषण को नियंत्रित किया जा सकता है।

इसी प्रकार दूसरे पौधों के ऊपर उगने वाले कुछ अधिपादप ब्रायोफ़ाइट या तो वायु-प्रदूषण से स्वयं प्रभावित हो जाते हैं अथवा वे वायु-प्रदूषण को कम करते हैं। ली और गाओ (*Li and Gao*) नामक चीन के वैज्ञानिकों ने चीन के अतिविकसित शहर शंघाई के ब्रायोफ़ाइट पादपों का अध्ययन किया और यह पाया है कि वायु-प्रदूषण इन पौधों को बुरी तरह से प्रभावित करता है। दूसरे वृक्षों के ऊपर अधिपादप की तरह उगने वाले एक मॉस वेन्टुरियेला साइनेन्सिस (*Venturiella sinensis*) पर तो वायु-प्रदूषण का ऐसा कुप्रभाव पड़ा कि वह उस क्षेत्र विशेष से विलुप्त ही हो गया।

1973 में टाओडा (*Taoda*) नामक जापान के वैज्ञानिक ने वायु में प्रदूषण की मात्रा नापने के लिए एक विशेष प्रकार का यंत्र गाइरोमीटर बनाया।

बाद में इस यंत्र में और भी सुधार किया गया। इसमें एक वायु पम्प और दो वृद्धि कोठरियाँ होती हैं, जिसमें पौधे का परीक्षण किया जाता है। एक कोठरी में जो वायु प्रविष्ट कराई जाती है उसे सक्रिय कार्बन फिल्टर से शुद्ध कर लिया जाता है और दूसरी कोठरी में बिना छनी वायु प्रविष्ट कराई जाती है। टाओडा ने पेट्रोलियम कारखानों से निकले वायु-प्रदूषक तत्वों द्वारा प्रदूषित वायु में प्रदूषण की मात्रा को मापने में ब्रायोफ्राइट समूह के पौधों की सहायता ली। उन्होंने इस परीक्षण के लिए मार्केंशिया पालोमॉर्फा (*Marchantia polymorpha*) के मुकुलों (*Gemmae*) को विशेषरूप से उपयोगी पाया। योकोबोरी (*Yokobori*) ने भी इसी पौधे के मुकुलों से वायु में प्रदूषण को मापा।

प्रयोगशाला में प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध हो चुका है कि ग्लिप्टोमिट्रियम ह्यूमिलियम (*Glyptomitrium humillium*) नामक माँस में वायु की सल्फर डाइऑक्साइड की अत्यधिक मात्रा को भी बरदाश्त कर लेने की अद्भुत क्षमता है। इसी प्रकार कोनोसेफलम कोनिकम (*Conocephalum conicum*) नामक लिवरवर्ट में भी सल्फर डाइऑक्साइड के प्रति प्रतिरोध क्षमता होती है।

एक अन्य गुण जो माँसों में पाया जाता है वह है उनका प्रदूषित जल का उपचार। इन पौधों में एक ओर तो कवकों और जीवाणुओं के द्वारा उत्पन्न किए जाने वाले रोगों के प्रति प्रतिरोध क्षमता होती है और दूसरी ओर ये कुछ प्रतिजैविक पदार्थ स्रावित करते हैं। प्रयोगशाला परीक्षणों से यह सिद्ध हो चुका है कि स्फैगनम (*Sphagnum*) नामक माँस में कुछ सूक्ष्मजीवों—जीवाणुओं और कवकों—की वृद्धि को रोक देने की क्षमता विद्यमान होती है। इसके अतिरिक्त एट्राइकम (*Atrichum*), डाइक्रेनम (*Dicranum*), निअम (*Mnium*) और पॉलीट्राइकम (*Polytrichum*), में भी इसी प्रकार का प्रतिजैविक गुण होता है। ये सभी पौधे भारतीय पहाड़ों पर बहुतायत से मिलते हैं और इनके रस में जीवाणुओं की वृद्धि को रोक देने का गुण होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारम्भ से उपेक्षित ब्रायोफ्राइट समूह के इन पौधों का आज जल-प्रदूषण और वायु-प्रदूषण के नियंत्रण में महत्वपूर्ण योगदान है। अब समय आ गया है जब हमें इन पौधों पर अधिक से अधिक अनुसंधान करके पर्यावरण-प्रदूषण को नियंत्रित करने के इनके गुणों का भरपूर लाभ उठाना चाहिए। इनका वैज्ञानिक अध्ययन समय की पुकार है। □

स्वामी सत्यप्रकाश जी सम्मानित

बिहार सरकार की ओर से 15 हजार रु० का पुरस्कार

बिहार सरकार के राजभाषा विभाग की ओर से हिन्दी में विज्ञान विषयक ग्रन्थों के प्रणयन हेतु आर्य समाज के मूर्धन्य विद्वान् डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश जी को 15 हजार रु० का पुरस्कार देकर सम्मानित किया गया है। स्वामी जी ने यह सारी राशि अपनी ओर से विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद को भेंट कर दी है। नीचे वह प्रशस्ति दी जा रही है जो बिहार सरकार की सील के साथ राजभाषा विभाग की ओर से उन्हें प्रदान की गई है—

विख्यात विज्ञानवेत्ता डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश ने प्राध्यापक, संपादक तथा लेखक के रूप में हिन्दी भाषा तथा वाङ्मय के संबद्धनार्थ रेखांकनीय यत्न किए हैं।

सामाजिक तथा शैक्षिक कार्यक्रमों को सर्वतोभावेन समर्पित डॉ० सत्यप्रकाश जी ने हिन्दी भाषा में विज्ञान विषयक अनेक सदग्रन्थों का न केवल प्रणयन किया है अपितु विज्ञान परिषद् के अध्यक्ष के रूप में हिन्दी में विज्ञान को प्रशस्त प्रवेश प्रदान करने का भी यशस्वी कार्य किया है।

उत्तर प्रदेश में लब्ध-जन्मा डॉ० स्वामी को उनकी श्लाघ्य हिन्दी-सेवा के लिए पन्द्रह हजार रुपये के राज्य-स्तरीय पुरस्कार से सम्मानित किया जाता है।

30 मार्च 1986

भगवतीशरण मित्र

निदेशक

आयुक्त

लोकेशनाथ झा

मंत्री

युद्ध का पर्यावरण पर प्रभाव

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद

आधुनिकशस्त्रों की विलक्षण मारक क्षमता तथा उनके द्वारा होने वाले विनाश से पूरा विश्व भयभीत है। उनमें मानव-विनाश के अतिरिक्त उस स्थान के जैवमण्डल तथा पर्यावरण को दीर्घकाल के लिये प्रभावित करने की शक्ति है। पिछले युद्धों, महायुद्धों के कुप्रभाव अभी भी हमारे सामने हैं। हिरोशिमा तथा नागासाकी पर गिराये गये बमों द्वारा हुए विध्वंस की याद भी ताज़ा है। यह निर्विवाद सत्य है कि नाभिकीय परीक्षणों के द्वारा विकिरण और उनके अवपात (Fall out) से पर्यावरण बुरी तरह प्रभावित हो जाता है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक जॉन मैकिनॉन ने वियतनाम में हुये युद्ध के बाद पर्यावरण पर पड़े प्रभावों पर किये गये सर्वेक्षण पर प्रकाश डालते हुये बताया है कि 1961 से 1973 की अवधि में हुये युद्ध में दक्षिण वियतनाम के 6000 वर्ग मील के क्षेत्र में 20,00,000 हेक्टेयर जंगल को नष्ट कर दिया। इसी क्षेत्र में 1,40,000 से 1,50,000 हेक्टेयर जंगल, जो इमारती लकड़ी (टिम्बर) के लिये प्रसिद्ध था, क्षतिग्रस्त हो गया। यही नहीं, लगभग 2,00,000 हेक्टेयर जंगल उत्तरी वियतनाम में भी नष्ट हो गये। वियतनामी आँकड़ों के अनुसार 1961 से 1971 तक 720 लाख लीटर अपतृणनाशी (Herbicides) जो “एजेंट आरेन्ज” (Agent Orange) के नाम से प्रसिद्ध था, जंगलों पर डाला गया, जिसमें 2,4-डी० 2,4,5-टी (डाइ-ऑक्सिन नामक रसायन) थे जो वर्षा के साथ भूमि में पहुँचकर वहाँ के पूरे जैवमण्डल को प्रदूषित कर बैठा। अम्लीय बम जो युद्ध के समय वियतनाम में लाइमस्टोन के पहाड़ियों पर गिराये गये, उनसे भूस्खलन तथा भूरक्षण द्वारा मृदा का संगठन बिगड़ गया

जिसे सुधारने में अनगिनत वर्ष लग जायेंगे। परिणाम यह हुआ कि इस दौरान हुये युद्ध में वियतनाम के आधे जंगल पूर्णतया नष्ट हो गये और वहाँ की कृषि उपज इस सीमा तक प्रभावित हुयी कि ‘भूखमरी’ की नई समस्या दिखने लगी। यही नहीं “रेड नदी” में वाढ़ की विभीषिका के साथ ही डेल्टा तथा पर्वतों में भूरक्षण की खतरनाक स्थिति सामने खड़ी हो गई। तथा जल-विद्युत् उत्पादन में अत्यन्त कमी हो गई।

जंगलों के विनाश का प्रभाव वहाँ के वन्यजीवों भी पर पड़ा। उनकी संख्या में कमी भी उसी अनुपात में हुई। गैंडा, गन्धर्व, चीते तथा लगभग 60 प्रकार के चिड़ियों का भी संहार हो गया। कुछ सहत्वपूर्ण पौधे विलुप्त होने लगे हैं। वियतनाम में पिछले दशक के इस युद्ध ने वहाँ के पर्यावरण को इस बुरी तरह प्रभावित किया है कि स्थिति सामान्य होने में कम से कम तीस वर्ष लगेंगे। यही कहा जा सकता है कि इसके परिणाम आने वाली तीन निर्दोष पीढ़ियों को भुगतना पड़ेगा। पर्यावरण का संतुलन बिगड़ने का असर काफी असें तक वहाँ के जन-जीवन के स्वास्थ्य, अर्थव्यवस्था और प्राकृतिक स्रोतों पर भी पड़ेगा। यह तो मात्र वियतनाम की ही बात है, अन्य कई देश इसी प्रकार के युद्धों से प्रभावित हैं। अब ईरान-ईराक के युद्ध को ही लें। वर्षों से चला आ रहा घमासान युद्ध वहाँ के पर्यावरण को किस कदर प्रभावित करेगा, इसका परिणाम बाद में ही आयेगा सामने और संभवतः सदियों तक ईरान-ईराक और निकटवर्ती क्षेत्रों के पर्यावरण को प्रभावित करता रहेगा। आधुनिक विस्फोटकों एवं शस्त्रों के प्रभाव इतने दीर्घकालीन होते हैं कि युद्ध समाप्त होने के बाद अनगिनत वर्षों तक वहाँ का

पर्यावरण बुरी तरह असंतुलित रहेगा। अभी तो कुछ स्थानों पर नाभिकीय युद्ध की धमकियाँ ही चल रही हैं पर यदि सिरफिरे देश या राजनीतिज्ञ युद्ध को आसान बनाने एवं शीघ्र विजय पाने की लालसा से नाभिकीय या आण्विक हथियार का प्रयोग कर ही दें तो उस भयावह स्थिति का अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है। आज नाभिकीय शस्त्रों से लैस कोई देश इस बात की क्या गारंटी दे सकता है कि नाभिकीय युद्धों के परिणामस्वरूप विकिरण या उनके अवपात (Fall out) से कोई भी पर्यावरणीय समस्या उस देश

अथवा किसी अन्य देश के सामने नहीं उठ खड़ी होगी ? पर्यावरण किसी एक देश की जागीर नहीं है, उस पर प्रत्येक मानव का अधिकार है। यदि अभी संयम न बरता गया तो आनेवाली पीढ़ी हमें कभी क्षमा नहीं करेगी।

अतएव मानव के कल्याण को ध्यान में रखते हुये हमें नाभिकीय शस्त्रों के उत्पादन और प्रयोग पर अविलम्ब विराम चिह्न लगाना होगा और तभी इक्कीसवीं सदी में हमारे प्रवेश का मार्ग प्रशस्त हो सकेगा। □

विश्वविद्यालयस्तरीय साहित्य निर्माण के विभिन्न पक्ष

प्रो० हरिदत्त

भूतपूर्व निदेशक, अनुवाद तथा प्रकाशन निदेशालय, गोविन्दबल्लभ पंत कृषि विश्वविद्यालय, पन्तनगर

पिछले दिनों देश के एक प्रमुख भारतीय तकनीकी शिक्षा संस्थान—‘आई० आई० टी०’ ‘दिल्ली’ की दो घटनाओं ने इस बात को भलीभाँति उजागर कर दिया है कि हिन्दी माध्यम से उच्च वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा ग्रहण करने के इच्छुक छात्रों को कितना झिझकना सामना करना पड़ता है, और विश्वविद्यालयस्तरीय वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण, अध्ययन एवं अध्यापन करने में कितनी दुस्तर बाधाएँ हैं। पहली घटना ‘आई० आई० टी०, दिल्ली’ के छात्र श्री श्यामरुद्र पाठक के हिन्दी में लिखे शोध प्रबन्ध को अधिकारियों द्वारा लेने से इन्कार करना था और दूसरी घटना रुड़की इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय से स्नातक उपाधि लेने के बावजूद मास्टर ऑव इंजीनियरिंग (एम० टेक०) की प्रवेश परीक्षा में सम्मिलित होने वाले मुनेश कुमार जैन द्वारा हिन्दी में लिखी उत्तर पुस्तिकाओं का मूल्यांकन किये बिना ही उन्हें—आई० आई० टी०, दिल्ली द्वारा अनुत्तीर्ण घोषित किया जाना था। इन दोनों का मूल कारण यह था कि दोनों छात्रों ने भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत राजभाषा तथा अपनी मातृभाषा हिन्दी में अपने

विचारों को अभिव्यक्त करने का दुस्ताहस किया था। इस विषय में श्री जैन की याचिका उच्च न्यायालय ने बिना कारण बताए रद्द कर दी थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के 38 वर्ष बाद भी हम अभी तक अंग्रेजी की मानसिक दासता से मुक्त नहीं हुए हैं। भारत में अंग्रेजों का राज्य भले ही न हो, किन्तु अंग्रेजी का राज अभी तक पूर्ववत् बना हुआ है। अंग्रेजी को बनाए रखने के लिए 15 साल की अवधि निर्धारित की गई थी, किन्तु इसे निरन्तर बढ़ाया जा रहा है। लगभग चार दशक बीत जाने के बाद अब तक भी हम यही मानते हैं कि अंग्रेजी के माध्यम के बिना न तो एम० बी० बी० एस० डॉक्टर बनाये जा सकते हैं, न उच्चकोटि के वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी की शिक्षा प्राप्त करने वाले इंजीनियर तैयार किये जा सकते हैं। इस विषय में 31 मार्च, 1985 को पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ के दीक्षांत भाषण में राष्ट्रपति ने अपनी गहरी मानसिक वेदना अभिव्यक्त करते हुए कहा था—“आज यहाँ की सारी कार्यवाही अक्षर-अक्षर इंग्लिश में हो रही है, गुजारा भी नहीं है इस लैंग्वेज के बगैर। दुनिया

में फैल गई है, लेकिन मैंने हिन्दी में अपना भाषण दिया। मैं भी इंग्लिश में लिखित भाषण के दो-चार सफे दबादब पढ़ देता तो भी गुजारा हो सकता था, लेकिन मैंने वह नहीं किया और शायद मेरी इस बात के लिए गुस्ताखी नहीं समझेंगे। वी० सी० साहव को तो अच्छी तरह हिन्दी आती है, पंजाबी आती है, यहाँ के प्रोफेसरों को तो सारी भाषाएं आती हैं और मैं इस बात के भी पक्ष में हूँ कि हम अपनी क्षेत्रीय भाषाओं को भी मानकर चल रहे हैं और हमारी जो “ऑफिशियल लैंग्वेज” है उसको भी सारे भारत में सम्मान मिला है। फिर मेरी समझ से यह दूर है कि 38 साल के बाद अबतक हम इंग्लिश के बिना इंजीनियर नहीं बना सके, इंग्लिश के बगैर हम डॉक्टर नहीं बना सकते, हम साइंसवा नहीं बना सकते। दुनिया में जो जर्मनी देश है, वहाँ जर्मन भाषा में हर मजदूर के विशेषज्ञ हैं। इसी तरह रूस में भी हैं, चीन में हैं, तो भारत में क्यों नहीं?” इस शोचनीय स्थिति का स्वरूप समझने से पहले इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हमारे देश की शिक्षा में अंग्रेजी के प्रयोग का इतिहास बड़ा रोचक है। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने 1813 में ईस्ट इंडिया कम्पनी का चार्टर देते समय यह व्यवस्था की थी कि कम्पनी प्रतिवर्ष एक लाख रुपया भारत में शिक्षा प्रसार के कार्य पर व्यय करेगी। उस समय वर्तमान युग में पहली बार शिक्षा के माध्यम के बारे में प्रश्न उत्पन्न हुआ। इस विषय में उस समय तीन पक्ष थे। पहला पक्ष बंगाल में कम्पनी की पुरानी पीढ़ी के अधिकारियों का था। ये लोग वारेन हेस्टिंग (1774-85) और मिण्टो (1807-13) की नीति का अनुसरण करते हुए संस्कृत तथा अरबी, फारसी के अध्ययन को प्रोत्साहित करना चाहते थे और इन्हीं भाषाओं की शिक्षा का माध्यम

बनाये रखना चाहते थे। दूसरा पक्ष मनरो तथा एल्फिंस्टन जैसे प्रबुद्ध ब्रिटिश प्रशासकों का था, जो आधुनिक भारतीय भाषाओं—बंगला, मराठी, हिन्दी, गुजराती, तमिल आदि के माध्यम से भारतीयों की शिक्षा देना चाहते थे। उनका प्रधान तर्क यह था कि यही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान भारतवर्ष की साधारण जनता तक पहुँचाया जा सकता है। तीसरा पक्ष चार्ल्स ग्रान्ट (1746-1823 ई०) के अनुयायियों का था, जो अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीयों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान करना चाहता था। इस पक्ष का पोषण करने वाले ईसाई मिशनरी, कम्पनी की सेवा में रत तरुण कर्मचारी थे। शुरू में इनके पक्ष का समर्थन करने वाला कोई प्रभावशाली व्यक्ति नहीं था। किन्तु भारत के गवर्नर जनरल की परिषद् का प्रथम कानूनी सदस्य मनोनीत होकर कलकत्ता आने पर थामस बेडिंगटन मैकाले (1800-1859 ई०) ने इस पक्ष को प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान किया।

2 फरवरी, 1835 को मैकाले ने भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में असाधारण ऐतिहासिक महत्व रखने वाला एक सुप्रसिद्ध नोट (मिनट) लिखा।

“इस समय अंग्रेजी ही मात्र ऐसी भाषा है जो विश्व के सब देशों में प्रचलित है, जिसमें अतीव उच्च-कोटि का साहित्य है और यही भाषा भारतीयों को ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने का माध्यम बन सकती है। जो कोई व्यक्ति उस भाषा (अंग्रेजी) को जानता है, उसे वह विशाल बौद्धिक सम्पत्ति प्राप्त करने की कुंजी मिल जाती है, जिसका सृजन और संचय भूमण्डल के सबसे अधिक बुद्धिमान राष्ट्रों की 90 पीढ़ियों ने किया है। इसकी तुलना में संस्कृत, अरबी आदि भाषाओं में कोई साहित्य नहीं है।” इनकी खिल्ली उड़ाते हुए उसने कहा था - ‘क्या हम सावैजनिक व्यवस्था से आयु-वृद्ध के ऐसे बिक्रिसासम्बन्धी सिद्धान्तों को पढ़ायेंगे जिन्हें कोई घोड़े की नाल बाँधने वाला अंग्रेज अपने

लिए कलंक समझेगा ? ऐसी उद्योतिष की शिक्षा देंगे जिसे पढ़कर अंग्रेजी छात्रावास की लड़कियाँ खिल-खिलाकर हँसेंगी ? ऐसा इतिहास पढ़ायेंगे जिनमें 30 फीट ऊँचे और तीस हजार वर्ष तक शासन करने वाले राजाओं का वर्णन है। क्या हम ऐसा भूगोल पढ़ायेंगे जिसमें मधु और नवलीत के समुद्रों का उल्लेख है ?”

सैकाले के इस ऐतिहासिक नोट ने भारत में अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा देने के सरकारी निर्णय में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। तत्कालीन गवर्नर जनरल लार्ड विलियम बेंटिंक की कार्यकारिणी में जब यह विषय प्रस्तुत हुआ तो भारतीय भाषाओं के पक्षपाती प्रिंसेप तथा सैकाले में इस पर उग्र वाद-विवाद हुआ, किन्तु बेंटिंक ने सैकाले के पक्ष का समर्थन किया। अन्त में 7 मार्च, 1835 को इस विषय में परिषद् का जो निर्णय सरकारी प्रस्ताव के रूप में प्रकाशित किया गया, उसमें यह कहा गया था कि “ब्रिटिश सरकार का महान उद्देश्य भारत के निवासियों में यूरोप के साहित्य और विज्ञान को बढ़ावा देना होना चाहिए और शिक्षा देने के उद्देश्य से व्यय की जाने वाली सारी धनराशि का सर्वोत्तम उपयोग यह होगा कि उसे केवल अंग्रेजी शिक्षा पर लगाया जाय¹।” इस निर्णय के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने शिक्षा के लिए निर्धारित समस्त धनराशि अंग्रेजी की शिक्षा पर लगानी शुरू की और 1835 में अंग्रेजी उच्च शिक्षा का माध्यम बनो। जब 1857 में बम्बई, कलकत्ता तथा मद्रास के पहले सरकारी विश्वविद्यालय स्थापित किये गये तो इनमें सारी शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से दी जाने लगी। वर्तमान शताब्दी के पहले चरण तक सभी सरकारी स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी बनी रही।

2. अंग्रेजी माध्यम के विरुद्ध प्रथम विद्रोह तथा नये परीक्षण

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में धार्मिक पुनर्जागरण, सांस्कृतिक सुधार, साहित्यिक एवं राष्ट्रीय

जागरण के परिणामस्वरूप लोक भाषाओं—बंगला, हिन्दी, मराठी, गुजराती, तामिल, तेलगू आदि में समाचारपत्र प्रकाशित होने लगे। उपन्यास तथा कथा साहित्य लिखा जाने लगा और अंग्रेजी की मानसिक दासता से मुक्ति पाने के लिए कुछ विचारक मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने का आन्दोलन करने लगे। शिक्षा के क्षेत्र में इस विषय में शांतिनिकेतन और गुरुकुल कांगड़ी के प्रयोग उल्लेखनीय हैं। इन शिक्षा संस्थाओं में पहली बार मातृभाषा के माध्यम से वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा देने का प्रयास किया गया। हिन्दी के क्षेत्र में गुरुकुल कांगड़ी का परीक्षण पहला था, अतः इसका यहाँ उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता महात्मा मुन्शी राम (स्वामी श्रद्धानन्द) ने उत्तर प्रदेश के कांगड़ी ग्राम के समीपवर्ती वन में गंगा नदी के तट पर 1902 में प्राचीन वैदिक शिक्षा प्रणाली को पुनरजीवित करने की दृष्टि से एक शिक्षा संस्थान की स्थापना गुरुकुल के नाम से की। यह गुरुकुल यहाँ आने से पहले तीन वर्ष तक पंजाब (पाकिस्तान) के गुजरांवाले नामक स्थान में भी चल चुका था। अतः 1907 में यहाँ के छात्र जब दसवीं की परीक्षा पास करके महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए तो उनके लिए सर्वप्रथम हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा देने की समस्या उत्पन्न हुई। उस समय तक सभी सरकारी स्कूलों में समुची शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था, और सरकार से सहायता प्राप्त करने वाले सभी विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में तत्कालीन नीति के अनुसार अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। किन्तु यह संस्था सरकार से किसी प्रकार की सहायता नहीं लेती थी। अतः इसे अपनी शिक्षा का माध्यम, शिक्षा की पद्धति और नीति निर्धारित करने में पूरी स्वतन्त्रता थी। इस संस्था के अधिकारियों ने गुरुकुल के महाविद्यालय विभाग में न केवल इतिहास, अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विषयों, अपितु रसायन, वनस्पति विज्ञान आदि सभी आधुनिक विज्ञानों की शिक्षा मातृभाषा हिन्दी के माध्यम से देने

1. सेलेक्शन्स फॉम एजुकेशनल रिकार्ड्स, खण्ड 1, पृष्ठ 130.

का निर्णय किया। इससे पहले जब गुरुकुल के विद्यालय विभाग की उच्च कक्षाओं में जब रसायन शास्त्र और भौतिक विज्ञान जैसे आधुनिक विज्ञानों की पढ़ाई प्रारम्भ हुई तो उसका माध्यम हिन्दी भाषा को रखा गया और इन विषयों पर हिन्दी में पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार करायी गईं। इनके लेखक मास्टर गोवर्धन थे, जिन्होंने रसायन (1911) और विज्ञान प्रवेशिका (भौतिक शास्त्र) नाम से स्कूल स्टेण्डर्ड की दो पाठ्य-पुस्तकें इन विषयों पर लिखी थीं। पहली पुस्तक एस० फर्नो की तथा दूसरी पुस्तक बाल्फोर स्टुअर्ट की तत्कालीन सुप्रसिद्ध पाठ्यग्रन्थों पर आधारित थी। इन दोनों पुस्तकों के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्यायों के लिये आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय की हिन्दू कैमिस्ट्री, गोंडल के ठाकुर साहेब की 'द हिस्ट्री आव द आर्यन मैडिकल साइन्स' से तथा काशी नागरी प्रचारिणी के कोश से ली थी। इसके अतिरिक्त रसायन में गुरुकुल प्राध्यापक श्री महेशचरण सिन्हा द्वारा प्रकाशित रसायनशास्त्र से भी सहायता ली गई थी। इनका प्रकाशन भी गुरुकुल द्वारा ही किया गया था। आधुनिक वैज्ञानिक विषयों पर हिन्दी भाषा में ये प्रथम पाठ्य-पुस्तकें थीं, जिन्हें लिखकर मास्टर गोवर्धन ने और प्रकाशित कर गुरुकुल कांगड़ी ने अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया था।

महाविद्यालय विभाग के लिए आधुनिक विषयों पर पाठ्यपुस्तकें तैयार करना सुगम कार्य नहीं था। अतः शुरु में यह नीति अपनायी गई कि अंग्रेजी भाषा में लिखी गयी पुस्तकों को शिक्षा के लिए प्रयुक्त किया जाए, पर कक्षा में पढ़ाते हुए प्राध्यापक जो व्याख्यान दें, वे हिन्दी में हों। उन्हें यह अनुमति थी कि वे अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को अपने व्याख्यानों में प्रयुक्त कर सकें। पर उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि इन शब्दों के हिन्दी रूपान्तर भी वे विद्यार्थियों को बताने का प्रयत्न करें। निस्संदेह यह अत्यन्त मौलिक पद्धति थी, जिससे हिन्दी में पाठ्यपुस्तकों के अभाव की समस्या हल हो जाती थी। प्राध्यापकों के व्याख्यानों के नोट विद्यार्थी हिन्दी में लेते थे और अंग्रेजी

भाषा का समुचित ज्ञान होने के कारण वे अंग्रेजी पुस्तकों को भी पढ़ लेते थे। पर गुरुकुल का यह भी प्रयत्न रहा कि आधुनिक विषयों पर ऐसी उच्च स्तर की पाठ्यपुस्तकें भी हिन्दी में तैयार करायी जाएं जो महाविद्यालय विभाग में पाठ्यपुस्तकों के रूप में प्रयुक्त हो सकें। इसी के परिणामस्वरूप प्रो० महेश चरण सिन्हा ने वनस्पतिशास्त्र, विद्युत्शास्त्र, रसायनशास्त्र की रचना की और प्रो० विनायक गणेश साठे ने विकासवाद की। कुछ वर्षों तक गुरुकुल का यह प्रयास सफलतापूर्वक चलता रहा और उच्च स्तर की अनेक पुस्तकें गुरुकुल द्वारा लिखवाई गईं। हिन्दी भाषा में वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल का यह कार्य अत्यन्त महत्व का था।

3—हिन्दी में पारिभाषिक शब्दावली तथा विश्व-विद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण

सैकाले की टिप्पणी पर 1935 में अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा देने के सरकारी निर्णय के बाद ब्रिटिश भारत में स्कूलों तथा कॉलेजों में अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा देने की व्यवस्था सर्वप्रथम हो गयी और 100 वर्ष तक यह स्थिति बनी रही। फिर भी पिछली शताब्दी के अंतिम दशक तक भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दों के निर्माण की आवश्यकता शिक्षा-शास्त्रियों को प्रतीत होने लगी और इस बारे में कुछ प्रयास किये जाने लगे।

उत्तर भारत में सर्वप्रथम गुजरात में बड़ौदा के प्रबुद्ध शासक महाराजा सयाजी राव के शासन के आरंभिक काल में इस कठिनाई को सर्वप्रथम अनुभव किया गया। महाराजा की यह इच्छा थी कि गुजराती भाषा के माध्यम से बच्चों को सब प्रकार के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दी जाए। उन्होंने इस दृष्टि से गुजराती में सुबोध पुस्तक तैयार करने का कार्य एक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री प्रो० टी० के० गज्जर को 1888 ई० में सौंपा। उन्हें इन पुस्तकों लिखने में सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दों की प्रतीत हुई। उन्होंने इसका उल्लेख बार-बार अपनी रिपोर्टों में किया और इस कारण

गुजराती में सुबोध पुस्तकें लिखने का कार्य आगे नहीं बढ़ सका। 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक तक बंगला में साहित्य की अनेक विधाओं का पर्याप्त विकास हो चुका था और इसमें चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इनके लिए भी पारिभाषिक शब्द आवश्यक थे। ये शब्द आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों—चरक, सुश्रुत आदि से लिये गये और कुछ नये शब्द संस्कृत भाषा के आधार पर बनाये गये। इस प्रकार का एक सराहनीय प्रयास सुप्रसिद्ध पं. यूपपाणि बंधु गणनाथ सेन द्वारा एनाटमो पर लिखा गया ग्रन्थ 'प्रत्यक्ष शारीरम्' था। इसमें बीसियों नये पारिभाषिक शब्द संस्कृत भाषा के आधार पर बनाये गये थे।

हिन्दी में इस क्षेत्र में कार्य करने वाली पहली संस्था काशी नागरी प्रचारणी सभा थी। इसने 1898 में वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द हिन्दी में बनाने का कार्य अपने हाथ में लिया। हिन्दी में काशी नागरी प्रचारणी सभा ने वैज्ञानिक शब्दों का पहला पारिभाषिक शब्द-कोष 1906 में प्रकाशित किया था। इसमें गणित, ज्योतिष, भूगोल, भौतिकी, रसायन, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विषयों से सम्बद्ध अंग्रेजी के साढ़े नौ हजार शब्दों के चौदह हजार दो सौ पैंसठ हिन्दी पर्याय दिये गये थे। उन दिनों हिन्दी लेखकों को न केवल वैज्ञानिक विषयों के लिए, अपितु सामाजिक विषयों के लिए भी पुस्तकें लिखने में बड़ी कठिनाइयाँ उठानी पड़ती थीं। यह बात 'सरस्वती' के सम्पादक तथा हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक महावीर प्रसाद द्विवेदी के उदाहरण से स्पष्ट है। उन्होंने अर्थशास्त्र पर सम्पत्तिशास्त्र के नाम से एक पुस्तक लिखी थी। इसमें उन्हें अंग्रेजी के प्राइस और वैल्यू शब्दों के हिन्दी पर्याय सुनिश्चित करने में बड़ी कठिनाई महसूस हुई थी। इस समस्या पर गम्भीर चिन्तन के बाद उन्होंने इन दोनों के लिए क्रमशः कीमत और मालियत शब्द निश्चित किये थे। जबकि आज हाई स्कूल में अर्थशास्त्र पढ़ने वाला एक सामान्य विद्यार्थी इन दोनों के स्वरूप तथा पर्यायवाची दाम और मूल्य शब्दों को भली-भाँति जानता है। यह तथ्य पिछले आठ दशकों में पारिभाषिक शब्दों के क्षेत्र में हुई प्रगति को सूचित करता है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले तक पारिभाषिक शब्दों के निर्माण और वैज्ञानिक पाठ्यपुस्तकों के लेखन एवं भारतीय भाषाओं में अनुवाद का कार्य निजाम हैदराबाद के अपवाद को छोड़कर गैरसरकारी स्तर पर कुछ शिक्षा संस्थाओं द्वारा निजी रूप में किया गया। पहले यह उल्लेख किया जा चुका है कि पाठ्यपुस्तकों के निर्माण तथा उन्हें विद्यालय तथा महाविद्यालय में पाठ्यपुस्तकों के रूप में पढ़ाने का पहला सफल परीक्षण हिन्दी भाषी क्षेत्र में गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार में किया गया। श्री महेशचरण सिन्हा सम्भवतः हिन्दी में वैज्ञानिक विषयों की पाठ्यपुस्तकों के पहले लेखक थे और गुरुकुल में हिन्दी के माध्यम से इन्हें पढ़ाने वाले अग्रणी शिक्षक थे। उनकी प्रमुख रचनाएँ थीं—रसायनशास्त्र (1909), धनस्पतिशास्त्र (1911), विद्युत्शास्त्र (1912)। ये सब गुरुकुल कांगड़ी द्वारा प्रकाशित की गई थीं। इसके साथ ही इसी संस्था से श्री गोवर्द्धन आदि ने पाँचवीं से आठवीं कक्षाओं के लिये सुप्रसिद्ध अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों के आधार पर भौतिकी (1910) और रसायन (1911) नामक दो पुस्तकें लिखीं। गुरुकुल के एक अन्य प्राध्यापक श्री विनायक गणेश साठे ने विकासवाद पर तथा श्री रामशरण दास ने रसायन की एक शाखा पर गुणात्मक विश्लेषण (1912) नामक पुस्तकें लिखीं।

प्रयाग विश्वविद्यालय की विज्ञान परिषद् ने लगभग आधी शताब्दी तक हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के विकास एवं निर्माण का अतीव सराहनीय कार्य किया। इस संस्था की ओर से चार भागों में लगभग पाँच हजार शब्दों का एक पारिभाषिक कोष छपा गया। 'विज्ञान' नामक पत्रिका के माध्यम से वैज्ञानिकों को हिन्दी में लिखने के लिये प्रेरित और प्रोत्साहित किया गया तथा विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित की गईं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के कोश-निर्माण का कार्य करने वाले दो प्रयास उल्लेखनीय हैं। श्री सुखसम्पत्ति राय भण्डारी और डॉ॰ रघुवीर ने ऐसे कोशों का निर्माण आरम्भ किया,

किन्तु उनका प्रकाशन पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति के बाद ही संभव हुआ।

1935 के भारत सरकार कानून के अनुसार 1937 में जब विभिन्न प्रान्तों में लोकप्रिय कांग्रेसी सरकारें स्थापित हुई तो स्कूल में शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा। भारत सरकार का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट हुआ। शिक्षा मंत्रालय ने 1940 में अखिल भारतीय स्तर पर समूचे भारत में एक-सी वैज्ञानिक शब्दावली बनाने का निर्णय किया और हैदराबाद राज्य में उर्दू माध्यम को सफलतापूर्वक लागू करने वाले तथा उर्दू में विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तकों का निर्माण कराने वाले सर अकबर हैदरी की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई। किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध के कारण इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं हो सकी। इस अवधि में महाकवि रवीन्द्रनाथ तथा महात्मा गाँधी ने शिक्षा में अंग्रेजी के माध्यम का प्रबल विरोध किया और देश पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। इनके विचार वर्तमान स्थिति में अतीव उपयोगी हैं, अतः इनका यहाँ संक्षिप्त उल्लेख उचित प्रतीत होता है।

महात्मा गाँधी ने अपने वैयक्तिक अनुभव के आधार पर बल देते हुए विदेशी भाषा के माध्यम का उग्र विरोध किया। उनका कहना था मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियाँ क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूँगा, जिस तरह अपनी माता की छाती से। वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। मैं अंग्रेजी को भी उसकी जगह प्यार करता हूँ, लेकिन यदि अंग्रेजी उस जगह को हड़पना चाहती है, जिसकी वह हकदार नहीं तो उससे सख्त नफरत करूँगा। यह बात मानी हुई है कि अंग्रेजी आज सारी दुनिया की भाषा बन गई है इसलिए मैं उसे दूसरी जुबान के तौर पर जगह दे दूँगा।.....लेकिन विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में, स्कूलों में नहीं। वह कुछ लोगों के

सीखने की चीज हो सकती है, लाखों करोड़ों लोगों की नहीं। आज जब हमारे पास प्राइमरी शिक्षा को भी मुल्क में लाजमी बनाने के जरिए नहीं हैं तो हम अंग्रेजी सिखाने के जरिए कहाँ से जुटा सकते हैं। इस ने बिना अंग्रेजी के विज्ञान में इतनी उन्नति की है। आज हम अपनी मानसिक गुलामी की जगह से ही यह मानने लगे हैं कि अंग्रेजी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता है। मैं इस चीज को नहीं मानता हूँ।¹

हम विद्यार्थियों को अनेक बातें कंठस्थ करनी पड़ती थीं, हालाँकि हम उन्हें पूरी तरह नहीं समझ पाते थे और कभी-कभी तो बिल्कुल नहीं समझ पाते थे। शिक्षक जब हमें ज्यामेट्री (रेखागणित) समझाने लिए बड़ा प्रयत्न करते तब मेरा सिर घूमने लगता। सच तो यह है कि यूक्लिड की रेखागणित की पहली पुस्तक के तेरहवें प्रमेय तक जब तक हम नहीं पहुँच गए तब तक मेरी समझ में रेखागणित बिल्कुल नहीं आई.....यह अब मैं समझता हूँ कि जितना गणित, रेखागणित, बीजगणित, रसायनशास्त्र और ज्योतिष सीखने में मुझे चार साल लगे, उतना मैंने एक ही साल में सीख लिया होता अगर अंग्रेजी के बजाए मैंने गुजराती में पढ़ा होता।²

इससे यह स्पष्ट होता है कि विदेशी भाषा का माध्यम विद्यार्थियों के मन पर कितना भारी बोझ डालता है और उनकी मानसिक शक्तियों को कितना कुंठित करता है।

महात्मा गाँधी द्वारा शिक्षा में अंग्रेजी माध्यम के कट्टर विरोध और मातृभाषा के प्रबल समर्थन का देश पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में हाई स्कूलों में हिन्दी तथा स्थानीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया जाने लगा। 1937 में प्रान्तों में कांग्रेसी सरकारें स्थापित होने पर इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद विश्वविद्यालयों में भी पहले मानविकी के विषयों में तथा 1967 के बाद वैज्ञानिक विषयों में

1. हरिजन सेवक, 2 अक्टूबर, 1934.

2. यंग इंडिया, 1 सितम्बर, 1921.

शिक्षा और परीक्षा का माध्यम हिन्दी को बनाया गया। अब यहाँ इस पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख प्रश्नों तथा पक्षों का उल्लेख किया जाएगा।

4. छात्र तथा हिन्दी माध्यम

विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम को लागू कराने में छात्रों का मड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है और भविष्य में भी ऐसी स्थिति बने रहने की पूरी संभावना है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी भाषा में मैट्रिक तथा इंटर के छात्रों तथा उनके अभिभावकों के आग्रह से ही हिन्दी माध्यम लागू किया गया क्योंकि इन परीक्षाओं में अंग्रेजी के कारण फेल होने वाले छात्रों की संख्या अन्य विषयों की तुलना में बहुत अधिक थी। बारहवीं कक्षा तक हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे विश्वविद्यालयों में हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा दिए जाने पर बल दें।

7वें दशक के आरम्भ तक मानविकी के विभिन्न विषयों—हिन्दी, संस्कृत, इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के लिए हिन्दी भाषी क्षेत्र के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में परीक्षा तथा शिक्षा का माध्यम हिन्दी स्वीकार कर लिया। शिक्षा मंत्रालय के वैज्ञानिक शब्दावली आयोग द्वारा पारिभाषिक शब्दों का निर्माण होने से आवश्यक पाठ्यपुस्तकें भी इस समय सुलभ होने लगीं। इन विषयों में छात्रों की संख्या अधिक होने के कारण निजी पुस्तक प्रकाशकों ने इस क्षेत्र में पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित कराने में सराहनीय योगदान दिया। किन्तु इस समय तक कुछ अखिल भारतीय स्वरूप रखने वाली संस्थाओं में हिन्दी को माध्यम बनाने के लिए छात्रों को उग्र संघर्ष करना पड़ा।

इस विषय में एक सुप्रसिद्ध उदाहरण डॉ० वेद प्रताप वैदिक का है। वे नई दिल्ली की अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के अध्ययन के सुप्रसिद्ध संस्थान, स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज के शोधछात्र थे। उन्होंने अफगानिस्तान की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर अनुसंधान करके जब अपना शोध-प्रबन्ध हिन्दी में प्रस्तुत किया

तो अधिकारियों ने इसे इस आधार पर स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि संस्थान की शिक्षा और परीक्षा का माध्यम अंग्रेजी है। श्री वैदिक बचपन से ही कट्टर हिन्दी प्रेमी थे। पंजाब के हिन्दी सत्याग्रह में उन्होंने बड़े उत्साह से भाग लिया था। वे हिन्दी में ही अपना शोध-प्रबन्ध देने के लिए अड़ गए। उस समय संसद के अनेक सदस्यों ने उनकी सर्वथा न्यायोचित मांग का प्रबल समर्थन किया। इसके लिए एक आन्दोलन चला और अन्त में संस्थान के अधिकारियों को इस शोध-प्रबन्ध को लेने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रकार 'स्कूल ऑफ इंटरनेशनल स्टडीज' में परीक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी के प्रयोग की स्वीकृति मिली।

1965 तक लगभग यह स्थिति थी कि हिन्दी मानविकी के क्षेत्र में हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों में शिक्षा और परीक्षा का माध्यम बन चुकी थी, किन्तु बहु अभी तक वैज्ञानिक, तकनीकी, इंजीनियरी और डॉक्टरी चिकित्सा का अध्यापन विश्वविद्यालयों, मेडिकल कॉलेजों और उच्च तकनीकी शिक्षा संस्थानों में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर नहीं सका था।

इस विषय में एक उल्लेखनीय प्रयास 1965 में वाराणसी में हिन्दी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों के कुलपतियों का सम्मेलन द्वारा हुआ। इसने अपन ऐतिहासिक अधिवेशन में यह निर्णय किया कि यह कार्य एक सुनिश्चित समयबद्ध योजना के अनुसार होना चाहिए और इसके लिए आवश्यक पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का कार्य इस ढंग से किया जाए कि जुलाई 1971 से कृषि, पशुचिकित्सा आदि सभी विज्ञानों की पढ़ाई स्नातक स्तर पर हिन्दी के माध्यम से आरंभ कर दी जाए।

इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों ने वैज्ञानिक शब्दावली आयोग और शिक्षा मंत्रालय के सहयोग से वैज्ञानिक पाठ्यपुस्तकों के अनुवाद तथा मौलिक लेखन का कार्य आरम्भ किया। रुड़की विश्वविद्यालय ने इंजीनियरी के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। किन्तु इस विषय में सबसे अधिक

उत्प्रेक्षणीय कार्य गोविन्दवल्लभ पंत कृषि प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय में हुआ। इसके तत्कालीन कुलपति डॉ० ध्यानपाल सिंह ने कृषि तथा पशु-चिकित्सा के क्षेत्र में इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए सर्वप्रथम एक पृथक् निदेशालय स्थापित किया। इसमें हिन्दी भाषा के विशेषज्ञ एवं सुलेखक, निदेशक, सह-निदेशक, वरिष्ठ और कनिष्ठ अनुवादक नियुक्त किए गए। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के साथ मिलकर उन्हें अंग्रेजी भाषा की प्रामाणिक पाठ्यपुस्तकों के अनुवाद और मौलिक लेखन का कार्य सौंपा गया। विशेषज्ञों तथा हिन्दी का अच्छा ज्ञान रखने वाले लेखकों और अनुवादकों के सहयोग से इस निदेशालय ने हिन्दी में कृषि एवं पशु चिकित्सा विषयक पाठ्यपुस्तकों के अनुवाद तथा मौलिक लेखन में अभूतपूर्व कार्य करके एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।

यह कार्य केवल स्नातक स्तर की कृषि एवं पशु चिकित्सा, कृषि इंजीनियरी, तथा गृह विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों तक ही सीमित था। अभी तक वैज्ञानिक विषयों का अध्यापन हिन्दी माध्यम द्वारा स्नातक कक्षाओं तक ही हो रहा है, किन्तु एम० एस-सी० में हिन्दी माध्यम का उपयोग नहीं हो रहा है। मेडिकल कॉलेजों तथा देश के औद्योगिकी की शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च माने जाने वाले पाँच भारतीय संस्थानों (आई० आई० टी०) में शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती है। इनमें दिल्ली और कानपुर के तकनीकी संस्थान हिन्दी क्षेत्र में हैं फिर भी इनमें अभी तक अंग्रेजी का पूरा प्रभुत्व और वर्चस्व है। अभी हाल में इनमें हिन्दी को समुचित स्थान दिलाने का दो अभिनंदनीय प्रयास छात्रों द्वारा हुए हैं।

5. प्राध्यापक तथा हिन्दी माध्यम

विश्वविद्यालय स्तरीय शिक्षा में हिन्दी माध्यम को लोकप्रिय तथा सफल बनाने का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व प्राध्यापकों पर है क्योंकि विद्यार्थियों को विज्ञान की शिक्षा देना उन्हीं के हाथ में है। इस विषय में यह एक बड़ा कटु सत्य है कि अब तक प्राध्यापकों की ओर से इस विषय में अपेक्षित सहयोग

पर्याप्त मात्रा में नहीं मिला है। यह सर्वथा स्वाभाविक था। सम्भवतः इसका एक बड़ा कारण यह है कि वर्तमान पीढ़ी के प्राध्यापकों ने अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा प्राप्त की है और उसमें ही छात्रों की शिक्षा देना उनके लिए अतीव सुविधाजनक है। अपनी इस सुविधा के कारण वे अंग्रेजी माध्यम के समर्थक और हिन्दी माध्यम के विरोधी हैं और वर्तमान स्थिति को बनाये रखने के पक्षपाती हैं। अंग्रेजी ने उन पर ऐसा जादू कर रखा है कि कुछ समय पहले तक अधिकांश प्राध्यापक यह मानते थे कि हिन्दी में विज्ञान की उचित शिक्षा देना संभव नहीं है और वे इसके कट्टर विरोधी थे। इन पंक्तियों के लेखक को स्मरण है कि जब पन्तनगर विश्वविद्यालय में हिन्दी पाठ्यपुस्तकों को तैयार करने के बारे में कुलपति की अध्यक्षता में 1969 में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए प्राध्यापकों की एक सभा का आयोजन किया गया था तो उसमें एक प्राध्यापक ने यह विचार प्रकट किया था कि हिन्दी माध्यम द्वारा वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा विद्यार्थियों को कदापि नहीं दी जा सकती है। इस पर जब कुलपति महोदय ने उनसे पूछा कि वे किस देश में पैदा हुए हैं—इंग्लैण्ड में या भारत में—तब उस प्राध्यापक को सही स्थिति का ज्ञान हुआ।

यह बड़े हर्ष की बात है कि ऐसे हिन्दी प्रेमी प्राध्यापकों की भी कमी नहीं है जो हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा देने में तथा हिन्दी पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में गहरी दिलचस्पी लेते हैं। लेखक को स्मरण है कि जब अनुवाद निदेशालय द्वारा सस्य विज्ञान की पहली मौलिक पुस्तकें 1969-70 में तैयार करवाई गईं तो इस विश्वविद्यालय के कुछ प्राध्यापकों ने न केवल इनके लिखने में अपितु उनको प्रेस में शीघ्र छपवाने, प्रूफ संशोधन तक के कार्यों में पूरा सहयोग दिया और इस विषय के छात्रों को हिन्दी माध्यम द्वारा पढ़ाने में बड़ी अभिरुचि प्रदर्शित की। हमें आशा है भविष्य में विश्वविद्यालयों में ऐसे प्राध्यापकों की संख्या बढ़ेगी और इनके सहयोग से हिन्दी माध्यम का सफलतापूर्वक उपयोग किया जाएगा।

यदि विश्वविद्यालयों द्वारा प्राध्यापकों की नियुक्ति करते समय उनकी अन्य योग्यताओं के साथ हिन्दी में पढ़ाने की क्षमता को बरीयता दी जाए, पदोन्नति आदि में हिन्दी में पुस्तक लेखन को महत्व दिया जाए तो प्राध्यापकों को हिन्दी माध्यम द्वारा शिक्षा देने में बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा।

6. स्वातंत्र्योत्तर युग में शब्दावली तथा पुस्तक-निर्माण के प्रयास

स्वातंत्र्यता प्राप्ति के बाद शिक्षा के माध्यम के प्रश्न पर विचार करने के लिए जनवरी 1948 में उप-कुलपतियों और शिक्षाशास्त्रियों की एक समिति बुलाई गई और इसने केन्द्र में वैज्ञानिक शब्दावली का कोश बनाने वाले एक बोर्ड का निर्माण करने का निर्णय किया। इसमें देश के प्रमुख भाषाशास्त्री और वैज्ञानिक रखे गये। वैज्ञानिक शब्दावली बोर्ड की पहली बैठक 11 दिसम्बर 1950 को तत्कालीन शिक्षा मंत्री मौलाना आजाद की अध्यक्षता में हुई और इसके बाद हिन्दी में पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का कार्य भारत सरकार और प्रान्तीय सरकारों द्वारा बड़े पैमाने पर किया जाने लगा। इसका उल्लेख करने से पहले इस क्षेत्र में कुछ साहित्यिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों के कार्य का संक्षिप्त परिचय देना समीचीन प्रतीत होता है।

महामना मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित तथा राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन द्वारा संबधित प्रयाग के हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने विभिन्न विषयों के कई कोश प्रकाशित किए। प्रयाग की 'भारतीय हिन्दी परिषद्' ने तीस हजार वैज्ञानिक शब्दों का संग्रह छपा। विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर इलाहाबाद की 'हिन्दु-स्तानी अकादमी' एवं 'विज्ञान परिषद्' तथा लखनऊ की 'हिन्दी समिति' ने उत्कृष्ट कोटि के वैज्ञानिक ग्रन्थ छापे।

छठे दशक में वैज्ञानिक कोश विषयक व्यक्तिगत प्रयासों में श्री सुखसम्पति राय भण्डारी (1891-1962) तथा डॉ० रघुवीर के नाम उल्लेखनीय हैं।

ये प्रयास स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले आरम्भ हुए थे, किन्तु इनकी पूर्णता स्वतन्त्र भारत में हुई। श्री भण्डारी ने एक लाख से अधिक शब्दों का एक पारिभाषिक कोश दस खण्डों में प्रकाशित किया। इसमें न केवल राजनीति, अर्थशास्त्र, शासन विज्ञान आदि सामाजिक विज्ञानों के बल्कि भौतिकी, रसायन, चिकित्साविज्ञान, शल्यशास्त्र, गृहविज्ञान के तथा सीमेण्ट, डेयरी, चीनी, रेशम तथा कपड़ा उद्योगों से सम्बन्ध रखने वाले शब्द थे। इनके भाई श्री चतुराज भण्डारी (1902-66) ने 10 खण्डों में वनौषधि चन्द्रोदय तथा 5 खण्डों में 'विश्व इतिहास कोष' प्रकाशित किया।

डॉ० रघुवीर ने भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दावली के विकास का बड़ा उल्लेखनीय, सराहनीय और महान् प्रयास अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में सबसे अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक आधार पर बड़े मौलिक ढंग से किया है। उन्होंने विज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर पहले पृथक् कोश प्रकाशित किए, बाद में उन सबको एकत्र करके 'कान्सालिडेटेड ग्रेट इंग्लिश इंडियन डिक्शनरी' प्रकाशित की। उन्होंने हिन्दी भाषा में प्रचलित स्टेजन्, इंजन आदि शब्दों के भी हिन्दी पर्याय संस्कृत धातुओं, उपसर्गों तथा प्रत्ययों के आधार पर बनाए। अनेक समीक्षकों ने उनकी संस्कृत मूलक शब्दावली की आलोचना दुर्बोधता और कठिनता के आधार पर की है, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उनके आलोचकों को भी जब अन्य कोशों में अंग्रेजी शब्दों के पर्याय नहीं मिलते हैं तो उन्हें डॉ० रघुवीर के कोश की शरण लेनी पड़ती है।

सरकारी प्रयास : स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान का निर्माण लागू होने पर भारत सरकार द्वारा सर्वप्रथम संविधान के अंग्रेजी शब्दों का हिन्दी कोश प्रकाशित किया। आकाशवाणी द्वारा रेडियो से सम्बद्ध शब्दों का संग्रह किया गया। 1950 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार समिति के परामर्श पर एक वैज्ञानिक शब्दावली बोर्ड की स्थापना की गई। 1952 में शिक्षा मंत्रालय में हिन्दी विभाग की स्थापना हुई। बोर्ड के निर्देशन में विज्ञान के विभिन्न

नमक : रसोई से उद्योगों तक

डॉ० सुशीला राय

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर-342001

हमारे लिए कार्बोहाइड्रेट, प्रोटीन व वसा के अतिरिक्त लवण भी परम आवश्यक है। इनमें नमक सबसे महत्वपूर्ण है। थलचर, जलचर और वनस्पति जगत् में नमक के बिना जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती। पृथ्वी पर जीवन की उत्पत्ति के साथ ही नमक किसी न किसी रूप में प्राणियों के विकास से जुड़ा हुआ है। शरीर में इसकी अधिक मात्रा रक्त, पसीना और आँसू आदि जैवद्रव्यों को नमकीन-खारा स्वाद प्रदान किए हुए है। नमक ही एक ऐसा पथ-रीला पदार्थ है जिसका प्राणी सीधा भक्षण करते हैं और अपनी उपयोगिता के कारण जल के पश्चात् यह सबसे अधिक चर्चित भी रहा है। जानवर चट्टानें व वनस्पति आदि चाटकर (Licking) नमक की पूर्ति करते हैं। हमारी संस्कृति और विकास से इसका परस्पर इतना संयोग रहा है कि अरबों में 'नमक हराम' न होना और हमारे देश में 'नमक खाकर निभाने' की कहावत को आज भी चरितार्थ करना चरित्र के साथ जोड़ा जाता है। यह सस्ता, सुलभ और तुच्छ सा प्रतीत होने वाला नमक हमारे जीवन में ही नहीं अपितु हमारे रासायनिक व अन्य उद्योगों तथा नित्यप्रति उपयोग में लाई जाने वाली वस्तुओं के उत्पादन में कितना सहायक है, इसी की चर्चा यहाँ संक्षेप में की जा रही है।

धरती पर हमारे जलमंडल का 97.1% जल समुद्र में उपलब्ध है। समुद्र नमक का बहुत बड़ा भंडारगृह है। समुद्री महासागरों में जहाँ लवणों की मात्रा 2.2% है; वहीं भूमध्यसागर के निकट के

सागरों में 3.55% है। परन्तु अधिकतर समुद्रों में घुलनशील लवणों की मात्रा 3.33% ही आँकी गई है। इनमें प्रमुखतया 77.82% सोडियम क्लोराइड या नमक ही होता है जैसा कि सारणी 1 में दिए गये विश्लेषण से ज्ञात होता है। हमारे शरीर में लगभग 70% जल होता है और रक्त में समुद्र के जल के बराबर ही लवणीयता विद्यमान होती है, जिससे यह सिद्ध होता है कि प्राणियों की उत्पत्ति समुद्र से हुई है।

नमक जल में अत्यन्त घुलनशील है। 37 भाग नमक को यदि 100 भाग जल में घोला जाये तो इस जल का आपेक्षिक-घनत्व 1.2 होता है। शुद्ध नमक में जल की आर्द्रता सोखने की क्षमता नहीं होती परन्तु मैगनीशियम क्लोराइड की अशुद्धि के कारण यह हवा की नमी सोख लेता है। नमक के मणिभ अष्टकोणीय होते हैं और इनका आपेक्षिक घनत्व 2.6 होता है। इसमें ध्वनिक गुणधर्म होता है अर्थात् यह ध्वनि की तरंगें प्रवाहित करने के लिए अच्छा माध्यम है। बाज़ार में मिलने वाले नमक के रासायनिक परीक्षण से सोडियम क्लोराइड की मात्रा लगभग 96 से 11% तक पाई गई है। (देखें—सारणी 2)।

विद्युतीकरण द्वारा नमक से कास्टिक सोडा, क्लोरीन और इनके उत्पाद प्राप्त किए जाते हैं। नमक से प्राप्त होने वाले 11 महत्वपूर्ण रसायन और उनके उपयोग सारणी-3 में संकलित किए गये हैं। इन रसायनों के औद्योगिक उपयोगों से यह सिद्ध होता है कि आधुनिकीकरण में नमक ने बहुमूल्य भूमिका निभाई

है। नमक रसोई से लेकर डायनामाइट तक के निर्माण में महत्वपूर्ण है और बिना इसके कदाचित् हम सुख-पूर्ण जीवन व्यतीत नहीं कर सकते थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चाहे रसोईघर के व्यंजन हों या स्नानघर के साबुनों से लेकर विस्फोटक डायनामाइट सभी में नमक के बिना इनकी उपयोगिता पर प्रश्नचिन्ह लग जाता है। शताब्दियों पूर्व सोने-चाँदी की तरह मुद्रा के रूप में उपयोग में लाया जाने वाला नमक मनुष्यों के लिए ही नहीं वरन् जानवरों के लिए भी अत्यन्त उपयोगी है। दुधारू पशुओं जैसे गाय, बकरी और भैंस को तो नियमित रूप से नमक का सेवन कराया जाता है तथा अन्य शाकाहारी जीव जैसे कि हिरण, सांभर, नीलगाय आदि इस नमक की पूर्ति चट्टानों और भूमि आदि को चाटकर करते हैं। मांसाहारी जीवों में नमक की पूर्ति मांस और रक्त से प्राप्त लवणों से हो जाती है। हमारे पूर्वज माने जाने वाले बन्दर और चिंपाञ्जियों को नमक की खोज में भटकते या चट्टानें आदि चाटते नहीं पाया गया है।

क्या नमक मनुष्यों के स्वास्थ्य के लिए आवश्यक हैं? यह प्रश्न तर्क का विषय बना हुआ है। कितने लोग बिना नमक के स्वस्थ जीवन जी रहे हैं वहीं अधिक नमक का सेवन चर्मरोग और उच्च-रक्तचाप आदि रोगों का कारण माना गया है। नमक का हमारे स्वास्थ्य पर प्रभाव एक विचारणीय विषय है।

सभी वृक्षों की राख के रासायनिक परीक्षण से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि सोडियम और क्लोरीन अनिवार्यतः सभी में उपलब्ध हैं अतः इन परीक्षणों से सिद्ध होता है कि वनस्पतियों के पोषण में नमक की अहम भूमिका है। जहाँ कुछ वृक्ष जैसे खजूर, ताड़, नारियल आदि नमक की अत्यधिक मात्रा की अनुपस्थिति में भली-भाँति उगाए ही नहीं जा सकते, वहीं नमक को पोषक तत्व के रूप में दिए जाने पर कुछ फसलें जैसे कि शलजम, चुकन्दर, अजवाइन आदि अधिक उपज देती हैं। स्वस्थ मनुष्यों के लिए प्रतिदिन 10 ग्राम और दुधारू पशुओं के लिए प्रतिदिन उचित मात्रा में नमक लेना आवश्यक है। भूमि व सिंचित

सारणी 1—समुद्री जल का सम्मिश्रण

यौगिक	समुद्री जल में लवणों की मात्रा (%)	घुलनशील लवणों में यौगिकों की मात्रा (%)
1. सोडियम क्लोराइड (NaCl)	2.60	78
2. मैगनीशियम क्लोराइड (MgCl ₂)	0.31	9.4
3. मैगनीशियम सल्फेट (MgSO ₄)	0.22	6.6
4. कैल्शियम सल्फेट (CaSO ₄)	0.12	3.6
5. पोटेशियम क्लोराइड (KCl)	0.07	2.1
6. मैगनीशियम ब्रोमाइड (MgBr ₂)	0.007	0.2
7. अन्य (Fe, Cu, F और I आदि के यौगिक)	0.003	0.1

सारणी 2—बाज़ार में उपलब्ध नमक का रासायनिक परीक्षण

रसायन	नमी सहित (%)	नमी रहित (%)
आर्द्रता	3.20	शून्य
अघुलनशील सिलिकेट	0.01	0.01
कैल्शियम सल्फेट	0.22	0.23
मैगनीशियम सल्फेट	0.12	0.12
मैगनीशियम क्लोराइड	0.16	0.17
सोडियम क्लोराइड	96.29	99.47

सारणी 3—नमक से सीधे प्राप्त होने वाले 11 महत्वपूर्ण रसायन और उनके उपयोग

क्र० सं० रसायन	औद्योगिक उपयोग
1. सोडियम कार्बोनेट (Na_2CO_3)	— काँच व चीनी मिट्टी, प्रसाधन सामग्री, साबुन, खाने व कपड़े धोने का सोडा, क्षारीय पदार्थों के निर्माण, लेड क्रोमेट, विरंजक चूर्ण, चमड़ा, जलशुद्धिकरण, वस्त्र व रंगाई, फोटोग्राफी आदि उद्योगों में।
2. क्लोरीन और उसके यौगिक	— हाइड्रोक्लोरिक अम्ल, फफूँदी व कीटनाशक, रबर, रंगरोगन, सल्फर-युक्त औषधियों, मोम व प्लास्टिक, अश्रुउत्पादक गैसों, फ़िल्म, अग्नि-शामक द्रव, प्रशीतक एवं विस्फोटक यौगिक आदि के निर्माण में।
3. सोडियम हाइड्रॉक्साइड (NaOH)	— सैलुलोज़ फ़िल्म, पेट्रोलियम व वनस्पति तेल शुद्धिकरण, फीनाँल फार्मेलडीहाइड, रेज़िन, रंग, कागज, साबुन, अपमार्जक, विस्फोटक यौगिक आदि में।
4. सोडियम (Na)	— प्रसाधन-सामग्री, दंत मंजन, साबुन, काँच, नील आदि।
5. कैल्शियमक्लोराइड (CaCl_2)	— प्रशीतक, शुष्कनकर्मक, अग्निरोधक एजेंट, वस्त्र, कीट व फफूँदीनाशकों के निर्माण में।
6. सोडियम नाइट्रेट (NaNO_3)	डायनामाइट, काँच, विरंजक चूर्ण, कीटनाशक, उर्वरक, आतिशबाजी एवं मांस संरक्षण में।
7. सोडियम सल्फेट (Na_2SO_4)	काँच, एवं वस्त्र रंगाई आदि में।
8. हाइड्रोक्लोरिक अम्ल (HCl)	— कृत्रिम रबड़, शुष्कबैटरी, रंगरोगन, प्लेटिंग, प्लास्टिक आदि में।
9. सोडियम सायनाइड (NaCN)	— विद्युत् प्लेटिंग, धातुनिष्कर्षण, कृत्रिम रबड़, कृत्रिम रेशे, कार्बनिक रसायन संश्लेषण और प्लास्टिक में।
10. सोडियम बाइ सल्फेट (NaHSO_4)	— कपड़ों की रंगाई, चीनी मिट्टी के शुद्धिकरण में।
11. सोडियम क्लोरेट (NaClO_3)	— माचिस एवं आतिशबाजी के निर्माण में।

जल में उचित नमक की मात्रा उपलब्ध कराने पर पत्ता गोभी, मटर, मूली, गेहूँ, अलसी आदि की भी उपज में सामान्य से कुछ अधिक वृद्धि पाई गई है।

आयुर्वेद और घर के बड़े-बूढ़ों द्वारा पाँच नमकों की चर्चा हम सदा से सुनते आये हैं। ये पाँचों नमक खाने वाला सादा नमक, सेंधा नमक, काला या विट नमक, समुद्री खार और पापड़ खार या जवा खार हैं;

जिनके विभिन्न उपयोगों से आप सभी परिचित ही हैं। सेंधा नमक (Rock salt) हिमाचल प्रदेश के मंडी जिले में खनिज लवण के रूप में मिलता है। यह अत्यन्त शुद्ध रूप में प्राप्त होता है। इसमें नमक (NaCl) की मात्रा लगभग 99% तक होती है। तीज त्यौहार पर उपवास के समय इसका ही प्रयोग किया जाता है। भारत का खाने वाले सादे नमक

(Common salt) का उत्पादन करने वाले देशों में छठवां स्थान है। नमक का सबसे अधिक उत्पादन संयुक्त राज्य अमेरिका करता है। भारत नमक का निर्यात पड़ोसी देशों—नेपाल, भूटान आदि को भी करता है। हमारे देश में नमक के कुल उत्पादन का 65% केवल गुजरात राज्य करता है। 15% राजस्थान व शेष 20% पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा, मद्रास, आंध्रप्रदेश आदि समुद्र के तटवर्ती राज्य करते हैं। जयपुर के निकट स्थित देश की विशालतम खारी झील सांभर से अनेक वर्षों से लगातार नमक का उत्पादन किया जा रहा है जो कि इस क्षेत्र का प्रमुख उद्योग बना हुआ है। पोषण की दृष्टि से एक और नमक है जो कि बर्फीले क्षेत्रों में रहने वाले निवासियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह आयोडीन युक्त (Iodized salt) नमक है। इसमें 0.01% पोटैशियमआयोडाइड की मात्रा खाने वाले नमक में मिलाई जाती है। इसके अतिरिक्त सोडियम थायो-सल्फेट और सोडियम कार्बोनेट की सूक्ष्म मात्रा भी मिलानी आवश्यक है जो कि आयोडीन को बाँधे रख कर इसका संतुलन बनाये रखती है। पर्वतीय क्षेत्रों की मिट्टी और खाद्य पदार्थों में आयोडीन की मात्रा कम होती है। यह आयोडीन घेघा रोग से बचाव और अन्य ग्रन्थियों के स्राव में संतुलन बनाए रखने

के लिए परम आवश्यक है। हिमालय के पर्वतीय क्षेत्र घेघा (Goitre) से प्रभावित घोषित किए गये हैं। इन क्षेत्रों में इस आयोडीनयुक्त नमक का उपयोग अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हुआ है।

खाद्य सामग्री को स्वादिष्ट बनाने में नमक का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। इस तथ्य से तो आप सभी परिचित ही हैं, परन्तु इसका अन्य महत्वपूर्ण उपयोग भोजन एवं खाद्य सामग्री के भंडारण में कीटनाशकों से भी अधिक आँका गया है। मक्खन, चीज, पनीर, फूलगोभी, प्याज, हरे टमाटर, मटर, ककड़ी, खीरा, मांस और मछली उद्योगों में सूक्ष्मजीवी संवर्धन को रोकने में नमक अत्यन्त कारगर है। गृहणियाँ भी इस बात को बहुत अच्छी तरह जानती हैं कि सभी प्रकार के अचारों में तनिक भी नमक की कमी फफूँद लगने का प्रमुख कारण है। नमक कड़ुवा-हट, तीखापन और खट्टापन को दूर कर खाद्य पदार्थों को सुस्वादु बनाता है। वस्त्र उद्योग और चीनीमिट्टी के उद्योगों में टनों नमक की नित्यप्रति खपत होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि नमक और उससे प्राप्त होने वाले उत्पादों पर हमारा जीवन कितना अधिक निर्भर है। इसके बिना हमारी रसोई, उद्योग और आधुनिक जीवन कितना नीरस और बेस्वाद हो जाता है। □

‘कलंकित’ सूर्य

अरविन्द मिश्र

मत्स्य प्रशिक्षण केन्द्र, चिनहट, लखनऊ

अब तक तो चन्द्र-कलंक की बात ही देखी, सुनी, कही जाती रही है, किन्तु वैज्ञानिक निरीक्षणों से यह बात उजागर हुई है कि सूर्य भी कलंकित है। चन्द्र कलंक, जहाँ हमें कोरी आँखों से दिख जाता है, सूर्य-कलंक हमें दिख नहीं पाता। फिर नंगी आँखों से तपते सूर्य की ओर देखने की हिम्मत भी कोई कैसे करे? वैसे तो सूर्य के मामले में सब कुछ ठीक ठाक है।

वह 24 घंटे के चक्र में एक ध्रुव-नियमितता के तहत उगता-डूबता है, हमें रात-दिन का तोहफा देता है। 365 दिनों के चक्र में वह आसमान में ऊपर उठता और क्षितिज में नीचे उतरता रहता है, जिससे मौसमों का आगमन होता है मानो सूर्य की यही नियति हो गयी हो। हमारा स्वयं का अस्तित्व भी सूर्य की इसी नियति से जुड़ा है।

1610 में इटली के महान दार्शनिक वैज्ञानिक गैलीलियो ने दावा किया कि सूर्य हर दृष्टि से 'वेदाग' नहीं है। उस पर धब्बे हैं। लेकिन गैलीलियो की बात लोगों ने एक कान से सुनी और दूसरे से निकाल दी। आखिर आँखें भी तो धोखा खा सकती हैं? लेकिन गैलीलियो के पास तो एक दूरबीन भी थी। जब सूर्य का प्रतिबिम्ब उस दूरबीन से होकर पीछे रखे खाली पर्दे पर उतरता था तो धब्बे साफ़ दिखते थे और गिने भी जा सकते थे। कुछ तो इतने बड़े होते थे कि कोरी आँखों से आसानी से दिख जाते थे।

गैलीलियो के बाद हिनरिच स्काबे नामक जर्मन वैज्ञानिक ने सूर्य को निहारना शुरू किया। वास्तव में वह सूर्य के समीप ग्रहों को ढूँढ निकालने के चक्कर में था। लेकिन तभी उसका ध्यान सूर्य के धब्बों ने अपनी ओर खींचा। 1825 से 1843 के बीच उसने हर रोज़ सूर्य-दर्शन का क्रम जारी रखा। और सूर्य-धब्बों को कागज़ पर उतारता गया। उसने पाया कि उन धब्बों का अपना एक 10 वर्षीय चक्र है। धब्बे शुरू होते हैं, बढ़ने लगते हैं, उनकी संख्या चरम बिन्दु पर पहुँचती है, फिर वे कम होना शुरू होते हैं, कमतर होते जाते हैं—एक चक्र पूरा होते ही नया चक्र आरम्भ होता है। चक्रों का पुनरावर्तन चलता रहता है।

तभी से 'कलंकित' सूर्य में लोगों की दिलचस्पी बनी रही है। गैलीलियो और स्काबे के दावे सच साबित हुये। दरअसल हर 11 साल (औसतन 10.7) पर सूर्य पर धब्बों की संख्या महत्तम होती है।

1908 में, अमेरिकी खगोलविद् जार्ज इलेरी हेल ने इन सूर्य-धब्बों में गहरे चुम्बकीय क्षेत्रों को पहचाना। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी क्योंकि पृथ्वी का भी अपना चुम्बकीय क्षेत्र होता है और सभी घुमन्तू पिण्ड अपना चुम्बकीय क्षेत्र रखते हैं। लेकिन पृथ्वी एक ठोस पिण्ड है तथा इसका ताप भी अपेक्षाकृत बहुत कम है इसलिये इसका चुम्बकीय परिक्षेत्र स्थिर व शान्त बना रहता है। इसके विपरीत सूर्य एक गैसीय पिण्ड है। इसका आन्तरिक ताप पृथ्वी

की तुलना में लाखों गुना अधिक है। संभवतः इसी कारण इसके चुम्बकीय क्षेत्र में अस्थिरता आती रहती है। फलतः सूर्य की सतह भी फैलती-सिकुड़ती रहती है। फैलाव के कारण कुछ हिस्सों का ताप घटता है और वे अपेक्षाकृत 'ठंडे' होकर धब्बों का रूप ले लेते हैं। इन्हीं को सूर्य-कलंक कहा गया है। यह क्रिया जितनी अधिक होती है सूर्य-धब्बों की संख्या भी बढ़ती चलती है। धीरे-धीरे चुम्बकीय क्षेत्रों में स्थिरता आने लगती है, जिसके चलते सूर्य की सतह पर चलने वाली हलचल भी कम होती जाती है और धब्बों की संख्या समाप्तप्राय हो उठती है। लेकिन फिर चुम्बकीय क्षेत्र में बदलाव आता है व पहले जैसा नया चक्र शुरू हो जाता है।

क्या सूर्य-धब्बों के चक्र का अस्तित्व हमेशा बना रहा है? माना तो ऐसा ही जाता रहा है। किन्तु 1893 में एक ब्रितानी खगोलविद् एडवर्ड मॉन्डर ने दावा किया था कि 1645 और 1715 के बीच सूर्य-धब्बे विलकुल गायब रहे, इस बात की पुष्टि इधर हाल ही में हुई है। कुछ खगोलविदों का कहना है कि सैकड़ों साल पहले करीब 70 साल तक 'धब्बे' न के बराबर ही थे। इस समय हम अधिक धब्बों वाले चक्र से गुज़र रहे हैं।

पृथ्वी की चुम्बकीय शक्ति पर शोध कर रहे जर्मनी के वैज्ञानिक जान लेमन्ट ने 1862 में पाया कि यह दसवर्षीय चक्र के अनुरूप घटती-बढ़ती रहती है। इस घटना का सूर्य-धब्बों से सम्बन्ध खोजने में उस वैज्ञानिक को ज्यादा समय नहीं लगा। पृथ्वी और सूर्य की चुम्बकीय हलचलों का गहरा आपसी सम्बन्ध पाया गया है। यह देखा गया कि उत्तरध्रुवीय प्रकाश (आरोरा बोरेएलिस) और सूर्य-धब्बों में सीधा सम्बन्ध था। सूर्य-धब्बों के घट-बढ़ से ध्रुवीय-ज्योति की चमक-दमक भी बदलती रहती है।

रेडियो के आविष्कार के बाद देखा गया कि सूर्य-धब्बों की महत्तम स्थिति में पृथ्वी का चुम्बकीय प्रक्षेत्र बुरी तरह प्रभावित होता है, जो रेडियो-तरंग के संचार में व्यवधान डालता है। ऐसे समय एक तरह

को “चुम्बकीय आँधी” चलती है। आखिर सूर्य-धब्बे धरती के वातावरण को किस तरह प्रभावित करते हैं ?

सूर्य की भीषण ऊष्मा विद्युत्-आवेशित कणों को बाहर की ओर ढकेलती रहती हैं, जिससे आभा-मंडल (कोरोना) का निर्माण होता है जो कि खाली अन्तरिक्ष में फैलता जाता है। 1958 में अमेरिकी खगोलविद् यूजीन नॉर्मन पार्कर ने बाहर की ओर भागते इन आवेशित कणों के समूह को “सौर-वायु” की संज्ञा दी। लाखों टन सौर-पदार्थ का इसी सौर-वायु के चलते बाहर निकलना प्रति सेकेण्ड जारी रहता है, लेकिन यह मात्रा समूचे सूर्य की मात्रा की तुलना में नगण्य है। यह सौर-वायु बहते-बहते ग्रहों (की कक्षाओं) को पार कर जाती हैं। पृथ्वी भी सौर-वायु के सम्पर्क में आती है।

चूँकि सौर-वायु आवेशित कणों का समूह उड़ती चलती है, यह पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र से या तो विक्षेपित हो जाती है या उसमें ‘कैद’ हो जाती है। यह सब पृथ्वी के हजारों मील ऊपर अन्तरिक्ष में घटता है। इसका झुकाव पृथ्वी के चुम्बकीय उत्तरी-दक्षिणी ध्रुव की ओर होता है। जहाँ इनका टकराव पृथ्वी के वायुमंडल में मौजूद परमाणुओं से होता है। इस टकराव से उपजी ऊर्जा तेज़ कौंध उत्पन्न करती है, जिसे ध्रुवीय प्रकाश के रूप में जाना जाता है।

यह पहले ही पता चल गया था कि ध्रुवीय-ज्योति और सौर-धब्बों में आपसी सम्बन्ध है। इसका आशय यह भी निकला कि सौर-वायु और धब्बों में सम्बन्ध होना चाहिये। यह अनुमान सही साबित हुआ। सचमुच अधिक सूर्य के धब्बों की उपस्थिति और तेज़ सौर-वायु में सम्बन्ध पाया गया।

1958 में ब्रितानी खगोलविद् रिचर्ड क्रिस्टोफर कैरिंगटन ने देखा कि सूर्य की सतह से कभी-कभी एक तारेनुमा प्रकाशपुंज फूट पड़ता है, पाँच मिनट तक दिखता है फिर सहसा ही लुप्त हो जाता है। यह पहला मौका था जब किसी ने “सौर-लपटों” का दर्शन किया था।

सौर-लपट सूर्य की सतह पर हुआ विस्फोट है, जो भारी मात्रा में सौरपदार्थों को प्रक्षेपित करता है। सौर-वायु का वह हिस्सा जो ठीक सौर-लपट के ऊपर होता है बहुत घना और प्रचण्ड हो उठता है, जिससे “सौर-झोंके” का निर्माण होता है।

यदि एक लम्बा सौर-झोंका धरती की ओर रुख करता है तो उसे यहाँ पहुँचने में कुछेक दिन लग जाते हैं, जिसके कारण ध्रुवीय-ज्योति, कम्पासों और विद्युतीय उपकरणों की गतिविध में भयानक हलचल मचती है। इस घटना को ‘विद्युतीय आँधी’ कहते हैं।

सौर-झोंकों से अन्तरिक्षयानों, चन्द्रसतह पर उतरे अन्तरिक्षयात्रियों, या अन्तरिक्षआवासों (?) पर गहरा आघात पहुँच सकता है।

यहाँ धरती पर भी हम पूरी तरह से इन सौर-झोंकों से सुरक्षित नहीं हैं। इनके प्रबल आघात से धरती के संचार माध्यमों, विशेषकर राडारों की क्रियाप्रणाली में अचानक गड़बड़ी आ सकती है। राडारों से भ्रामक सूचना के चलते किन्हीं दो देशों में अचानक युद्ध छिड़ सकता है। सूर्य के आभामंडल में कुछ ‘रिक्त स्थान’ भी देखे गये हैं जहाँ से एक्सकिरणें बहुत कम विसर्जित होती हैं। इन आभामंडलीय विवरों से सौर-झोंकों का प्रवाह तेज़ी से होता है। सौर-धब्बों की बहुलता के समय सूर्य पर हलचल बढ़ जाती है। सौर-लपटों और सौर-झोंकों में तीव्रता आ जाती है। वैसे तो सौर-धब्बों का ताप कम होता है, लेकिन इस समय सतह पर चलने वाली हलचलों में वृद्धि से सूरज का ताप, औसत (ताप) से बढ़ जाता है।

कहने का आशय यह कि सौर-धब्बों की बहुलता के समय पृथ्वी को सूर्य से अधिक ऊर्जा मिलती है जिससे पृथ्वी का बाह्य वातावरण सामान्य से अधिक गरम हो उठता है। इसका तात्पर्य यह भी हुआ कि सौर-धब्बों की लघुतम स्थिति में पृथ्वी के ऊपरी वातावरण का ताप औसत से कम हो उठता होगा।

बात सच है। 1645 से 1715 के बीच सौर-धब्बों की लघुतम स्थिति से पृथ्वी पर एक “मिनी

हिम युग" आ गया था। इतिहास साक्षी है कि तब लम्बे समय तक चलने वाली सरदी ने फसलों की पैदावार पर बुरा प्रभाव डाला था। खाद्यसामग्री में स्पष्ट कमी आ गयी थी। इसी तरह पहले भी एक लघुतम सौर-ध्वजों के दौरान ग्रीनलैण्ड के वाइकिंग निवासियों को भयंकर ठंड से जूझना पड़ा था। काफी लोग मरे भी थे। किसी तरह वे सभी ग्रीनलैण्ड के दक्षिणी-पश्चिमी किनारे की ओर पहुँचने में सफल रहे। तब कहीं जाकर उनकी जान बची। अगली साढ़े चार शताब्दी तक उन लोगों की वंश परम्परा वहीं जमी रही।

तो क्या हम लम्बे विश्व मानव इतिहास के अच्छे-बुरे समय के पार्श्व में सौर-ध्वजों की भूमिका का विवेचन कर सकते हैं? धन-धान्य, समृद्धि के वे कालखंड जब कई सम्राटों के साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति रही, या झंझावातों भरे वे दिन जब खाना-बदोश जातियाँ अपने भोजन और अच्छे आवास की तलाश में दर-दर भटकती रहीं—क्या इनके पीछे सौर-ध्वजों के चक्रों की ही तो भूमिका नहीं रही, जिससे पृथ्वी कालान्तर से गरम-ठंडी होकर इतिहास को प्रभावित करती रही?

सम्भव है और सूक्ष्म परिवर्तन भी हुये हों। आवेशित सौर-कणों के पृथ्वी के वायुमण्डल में प्रवेश से बरसात का क्रम भी प्रभावित हुआ हो। क्योंकि आवेशित कण बरसात में वर्षा-बूंदों के लिये जरूरी नाभिक बने होंगे। बरसात की अधिकता और कमी से फसलों की पैदावार पर असर पड़ता आया होगा, जिससे अनारजों के दाम घटे-बढ़े होंगे, अवसाद और उल्लास के क्षण आये-गये होंगे, बेरोजगारी और उद्योग का चक्र चला होगा, आशा-निराशा की धूप-छाँव रही होगी, क्रान्ति और विश्व-शान्ति का काल-चक्र घूमा होगा आदि-आदि।

सौर-ध्वजों की बहुलता का वर्तमान 11 वर्षीय चक्र जून 1976 से शुरू हुआ और जा पहुँचा 1980 की शुरुआत में अपने चरमबिन्दु पर। सूर्य की गति-विधियों की अस्थिरता ऐसे ही समय चरम पर जा पहुँचती है और उनका अध्ययन इसी समय भली-भाँति किया जा सकता है। 'सोलर मैक्स' नाम का उपग्रह इन्हीं अध्ययनों के लिये सूर्य के समीप पहुँचा।

और आज वास्तविकता यह है कि सौर-ध्वजों का अध्ययन सारी मानवता के लिये जीवन और मृत्यु का सवाल बन बैठा है। □

खनिजों के अन्वेषण में तृक्षों की उपयोगिता

डॉ० दुर्गापद कुइति

भौमिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—221005

मानव अपनी खुशहाली व जीवन स्तर ऊँचा उठाने के लिए अन्धाधुन्ध विकास व अधिकाधिक उद्योगीकरण की ओर अग्रसर हो रहा है तथा इस सन्दर्भ में वह सदियों से प्रकृति के साथ छेड़-छाड़ करता रहा है। परिणामस्वरूप प्रदूषण के लिए जिम्मेदार मानव को स्वयं ही वर्तमान में इस प्रदूषित वातावरण में जीने की सच्चा भुगतानी पड़ रही है। पर्यावरण नैसर्गिक साधनों का वह भण्डार है जिसमें से केवल कुछ ही का नवीनीकरण सम्भव है। प्रदूषण

से आक्रान्त क्षेत्रों को कई उप-भागों में विभाजित कर आज उसका विस्तृत अध्ययन किया जा रहा है। प्रकृति में एक अद्भुत क्षमता है जिससे वह प्रदूषण को आत्मसात करती रहती है। परन्तु उसके आत्मसात करने की भी एक सीमा है तथा उस सीमा का उल्लंघन सर्वदा हित से परे है। वर्तमान समय में विश्व के वैज्ञानिक पर्यावरण प्रदूषण निवारण के लिए कृत-संकल्प होकर उस दिशा में अनेक ठोस कदम उठा रहे हैं। प्रदूषण के रोकथाम में वनस्पति जगत् का महत्व

जून 1986

विज्ञान

◎ 7

सबसे अधिक है। वनस्पतियाँ प्राणिजगत् को केवल भोजन, प्राकृतिक सौंदर्य, सजावट के सामान, रहने का मकान, ईंधन, औषधि आदि ही नहीं देतीं वरन् प्रदूषण को रोकने में भी महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती हैं।

विकास के क्रम में खनिज भी मानव के लिए एक अपरिहार्य वस्तु हो गयी है। यद्यपि प्लास्टिक के उपयोग से धातुओं की उपयोगिता में कुछ कमी अवश्य आई है परन्तु अभी भी अधिकांश स्थानों पर इसका विकल्प नहीं है। आज के इस आण्विक युग में खनिज अन्वेषण की अनेक विधियाँ प्रचलित हैं, जैसे भौमिकीय सर्वेक्षण, भूभौतिकीय सर्वेक्षण, भूरासायनिक सर्वेक्षण, उपग्रह द्वारा खींचे गये छायाचित्रों द्वारा सर्वेक्षण इत्यादि।

खनिजों के अन्वेषण में वृक्षों की सहायता लेने की बात बहुत नई नहीं है। सन् 1828 से ही खनिजों के संकेतक के रूप में इनको प्रयोग में लाया जा रहा है। उस समय इसका उपयोग रचनात्मक अध्ययन, भूमिगत जल एवं कुछ खनिजों जैसे निकल, कोबाल्ट, ताँबा, लोहा आदि की खोज के लिए किया जाता था। कार्पिसीक ने सर्वप्रथम यह बतलाया कि जो भी पौधे जिस प्रकार की चट्टान के ऊपर उगते हैं उसका प्रभाव उसमें अवश्य है। 1937 के पश्चात् इस दिशा में शोध की गति तेज हुई। पौधों को पहचानने के साथ-साथ उनमें उपस्थित तत्वों की सांद्रता का विश्लेषण प्रारम्भ हुआ। तत्पश्चात् अनेक वैज्ञानिकों ने इस कार्य में अपनी रुचि दिखायी जिससे इस पद्धति के विकास में एक-एक कर अनेक कड़ियाँ जुड़ती गयीं। उन वैज्ञानिकों में प्रमुख थे टकालिच, हावकेस, विबटोरोव तथा केनोन। खनिजों की खोज के लिए विभिन्न प्रकार के पेड़ों का विस्तारपूर्वक अध्ययन किया गया तथा कुछ पौधों का किसी विशेष तत्व के साथ अधिक लगाव पाया गया। ओसिमम होमब्लिई (बासिल) जो कि मिन्ट परिवार का एक सदस्य है, ताँबा की कम सांद्रता (100 अंश प्रति दस लाख) वाली मिट्टी में उत्पन्न नहीं हो पाता। यह पौधा मिट्टी में उपस्थित

5000 अंश प्रति दस लाख सांद्रता तक सहन कर सकता है।

विश्व भर में खनिजों की खोज के लिए पौधों के अध्ययन को अभी उचित महत्व नहीं मिल पाया है। अध्ययन की इस पद्धति के अन्तर्गत पौधों के वितरण, स्वभाव एवं पहचान को ध्यान में रखते हुए उन्हें विशेष वर्गों में बाँटकर अध्ययन किया जाता है। सिर्फ कुछ देशों में ही भू-वानस्पतिक पद्धति का विकास खनिजों के अन्वेषण में किया गया है। इस समय रूस में लगभग सभी खनिजों के संकेतक पौधों की खोज कर ली गयी है। उदाहरणार्थ ताँबा के लिए ओसिमम होमब्लिई (*Ocimum homblei*), जिप्सम के लिए ईरिओगोनम् इनफ्लेटम् (*Eriogonum inflatum*), लोहे के लिए बेदुला (*Betula sp.*), चाँदी के लिए ईरिओगोनम् ओवेलिफोलियम (*Eriogonum ovalifolium*) तथा जस्ते के लिए वायोला कैलमिनरिया (*Viola calaminaria*)। इस विधि द्वारा खनिज की खोजने में सबसे बड़ी परेशानी यह है कि जो भी महत्वपूर्ण संकेतक पौधे हैं वे एक तो संख्या में कम होते हैं तथा पुनः अनेक स्थानों पर नहीं मिलते। अधिकांश संकेतक पौधे एक क्षेत्र विशेष के लिए महत्वपूर्ण तो होते हैं परन्तु उसकी अनुपस्थिति के कारण उसका व्यवहार अन्य क्षेत्र में असंभव हो जाता है। प्रत्येक पौधे के विकास के लिए अनुकूल मिट्टी एवं जलवायु दोनों ही आवश्यक हैं।

भारत में इस पद्धति द्वारा खनिजों के अन्वेषण का ज्ञान पहले से ही था परन्तु अभी तक इसका यथोचित विकास नहीं हुआ। वर्तमान समय में जो भी संकेतक पौधे विश्व के अन्य देशों के वैज्ञानिकों ने स्थापित किए हैं उनके द्वारा भारत जैसे गर्म प्रदेश में खोज-कार्य करना उपयोगी नहीं है। इस प्रकार की जलवायु के लिए अलग से विशेष अध्ययन कर पौधों को उनकी वितरण प्रणाली को ध्यान में रखते हुए खनिजों के संकेतक के रूप में स्थापित करना होगा। भारत में उपलब्ध पौधों में तत्वों की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति के सम्बन्ध में कुछ प्रकाशित सामग्री उपलब्ध है। भू-

वानस्पतिक विधि द्वारा बिहार के सिंहभूम ताम्रपट्टी में ताँबे की खोज की गयी। इस अनुसंधान द्वारा उन क्षेत्रों में पाये गए पौधों में ताँबे का अच्छा प्रभाव देखने को मिला। पॉलिकारपिया स्पिरोस्टाइलिस (*Polycarpea spirostylis*), वेरोनिका कॉर्नेरा (*Veronica cornera*), पॉलिकारपिया कॉरिम्बोसा (*Polycarpea corymbosa*), ओसिमम होम्ब्लेई (*Ocimum homblei*), अकासिया अरेबिका (*Acacia arabica*) आदि पौधे जो कि अधिक ताँबायुक्त मिट्टी में उगे थे, सर्वाधिक प्रभावित पाये गये। इन पौधों का का उपयोग सिंहभूम (बिहार) ताम्रपट्टी में ताँबे की खोज के लिए संकेतक के रूप में किया जा सकता है।

सिंचाई एवं पेयजल के लिए भूगर्भीय जलस्रोत का एक महत्वपूर्ण स्थान है। आधुनिकीकरण के साथ-साथ इन छिपे जलस्रोतों का पता लगाने के लिए नई-नई पद्धतियों का भी विकास किया गया है। परन्तु आज से कई सौ वर्ष पहले लोग वृक्षों को देखकर पानी के भूमिगत स्रोत का स्थान बता देते थे। भारत में पेड़ों के द्वारा भूमिगत जलस्रोत के बारे में पता लगाने का विकास 1930 में बराहमिहिर ने किया था। बराहमिहिर द्वारा संस्कृत भाषा में रचित पुस्तक में जल बताने वाले वृक्षों के नाम एवं उनकी आकृति का भी उल्लेख मिलता है। खगोलशास्त्री एवं गणितज्ञ बराहमिहिर के अनुसार, खोखले, खुरदुरे और बिखरी पत्तियों वाले पेड़ों के आस-पास भूगर्भीय जल नहीं होता है। सफेद तने वाले पेड़ों के पास जल निश्चित रूप से मिलता है। बराहमिहिर ने पेड़ों की 11 किस्में बतायी है जिनके कुछ विशेष पेड़ों के साथ संयुक्त होने पर पानी निश्चित रूप में मिलता है। गांठ-गठीले तने वाले नीम के पेड़ के आस-पास 6 मीटर नीचे पानी का भण्डार निश्चित रूप से मिलता है। इस विधि द्वारा जल खोजने में प्रगति हुई है परन्तु अभी अधिक अनुसंधान की आवश्यकता है। बीसवीं शताब्दी के अन्त तक मानव की शहरी संख्या 20 करोड़ हो जायेगी और उसके लिए पेयजल के प्रबन्ध करने में प्रति वर्ष 250 करोड़ रुपये खर्च होंगे इस

संदर्भ में इस विधि के विकास की आवश्यकता और बढ़ जाती है।

खनिजों का प्रयोग तथा उससे धातु निकालने का कार्य मानव ने कैसे सीखा यह कहना तो मुश्किल है परन्तु यह अवश्य ही कहा जा सकता है कि खनिजों से धातु निकाल कर उसका व्यवहार करने का कार्य वह प्राचीन काल से ही करता आ रहा है। विभिन्न स्थानों में खुदाई में मिले प्राचीन सभ्यताओं के अवशेष इसके साक्षी हैं। भारत के अनेक प्रान्तों से जैसे राजस्थान, बिहार एवं दक्षिण भारत के विभिन्न स्थानों में खनिज निकालने के लिए किए गए खनन कार्यों के प्रमाण गुफाओं के रूप में मिलते हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि किस विधि द्वारा वे खनिजों का पता लगाते थे और उससे धातु निकालते थे। भारत में अनेक खनिज उपलब्ध हैं जो आज देश के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। कुछ महत्वपूर्ण खनिजों जैसे टंगस्टन, टिन, पारा, सल्फर तथा पेट्रोलियम की भारत में बहुत कमी है। इन्हें प्रचुर मात्रा में खोज निकालने में हम सफल नहीं हुए हैं। कुछ खनिज प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं जैसे—लोहा, मैंगनीज, अल्यूमीनियम, मैगनेशियम, क्रोमियम एवं कोयला। यूरेनियम, थोरियम, ज़िरकोनियम एवं लिथियम के स्रोत के रूप में पारमाण्विक खनिज पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। भारत कुछ खनिजों का आयात करता है तथा जो उसके पास पर्याप्त मात्रा में हैं उनका निर्यात भी करता है। 1978 में 979.28 करोड़ रुपए का खनिज निर्यात हुआ जो 1979 में घटकर 871.79 करोड़ रुपये रह गया जबकि खनिजों का आयात 1978 में 1816.18 करोड़ से बढ़कर 1979 में 2360.67 करोड़ रुपए हो गया। अपने देश में खनिजों का और भी पता लगाना होगा। इससे आयात की मात्रा में कमी करके निर्यात को बढ़ाया जा सकेगा।

हमारे देश में अनेक नवीन यंत्र खनिजों का पता लगाने के लिए उपलब्ध हैं। अनेक पुरानी विधियों के साथ-साथ उपग्रह द्वारा लिये गये रंगीन चित्रों से भी

मदद ली जा रही है। भारतीय वैज्ञानिकों ने पौधों की सहायता से खनिजों का पता लगाने का कार्य समय-समय पर अवश्य किया है परन्तु इस दिशा में सही ढंग से ठोस कदम उठाने की आवश्यकता है। यह विधि प्राचीन अवश्य है परन्तु इसे बेकार नहीं कहा जा

सकता। प्राचीन साहित्य को मुख्य स्रोत मानकर इस विधि की कमियों को दूर कर आधुनिक ज्ञान के प्रकाश में यदि इसका विकास किया जाय तो निश्चय ही यह एक अत्यधिक उपयोगी एवं कम खर्चीली विधि प्रमाणित होगी। □

कॉस्मिक किरणें

डॉ० अशोक कुमार शर्मा

भौतिकी विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)-124001

हमारी पृथ्वी पर हमेशा, सभी दिशाओं से एक विशेष प्रकार के आवेशित कणों की वर्षा होती रहती है। इन कणों की गति प्रकाश की गति के लगभग बराबर होती है और इन्हीं को कॉस्मिक किरणों का नाम दिया गया है। वास्तव में, ये किरणें कुछ और नहीं बल्कि परमाणुओं के वे नाभिक होते हैं जो अपने इलेक्ट्रॉनी घेरे से अलग हो गये होते हैं। इनमें भी अधिकांश हाइड्रोजन के नाभिक ही होते हैं। प्रारम्भ में कॉस्मिक किरणों को अधिक ऊर्जा वाले फोटॉन ही माना गया था परन्तु 1929 में इनको अल्ट्रा गामा किरणें माना जाने लगा। 1940 में कॉस्मिक किरणों पर पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के प्रभाव का अध्ययन करने पर स्थिति फिर बदल गई। अब यह सिद्ध हुआ कि प्राथमिक कॉस्मिक किरणें धनावेशित कण, विशेषतया प्रोटॉन ही होते हैं।

दूसरे प्रकार की किरणों के मुकाबले कॉस्मिक किरणों की ऊर्जा बहुत अधिक होती है और यही कारण है कि आधुनिक विज्ञान की प्रगति में कॉस्मिक किरणों का बहुत महत्व रहा है। कॉस्मिक किरणों की खोज से पहले अधिकतम ऊर्जा वाले कण प्रयोगशालाओं में केवल नाभिकीय विघटन के समय अस्तित्व में आते थे। इसके बाद कॉस्मिक किरणों के अध्ययन और उनके प्रभाव को जानने की चाह में अधिक से अधिक ऊर्जा वाले कण प्राप्त करने के लिये वैज्ञानिकों ने विभिन्न प्रकार के त्वरित बनाये। अब

औसतन कॉस्मिक कणों के बराबर ऊर्जा वाले कण प्रयोगशाला में उत्पन्न किये जा सकते हैं, यद्यपि अभी भी कुछ कॉस्मिक कणों की ऊर्जा प्रयोगशाला में उत्पन्न कणों की ऊर्जा से अरबों गुना अधिक होती है।

विक्टर हेस नामक भौतिकशास्त्री ने कॉस्मिक कणों का अनुमान पहली बार 1912 में किया और लिखा कि “मेरे प्रयोगों से यह तथ्य सामने आता है कि हमारे वायुमंडल में अन्तरिक्ष से कुछ विशेष प्रकार की किरणें प्रवेश करती हैं और इनकी भेदन शक्ति बहुत अधिक होती है।” यह इस विज्ञान की प्रारम्भिक अवस्था थी। इसके बाद तो इस दिशा में दूसरे वैज्ञानिकों ने भी रुचि ली और पृथ्वी पर पाये जाने वाले ऊर्जा कणों का अस्तित्व सिद्ध किया। इस दिशा में शोध के दौरान यह भी देखने को मिला कि ऊर्जा से पदार्थ की उत्पत्ति में कुछ ऐसे कण भी बनते हैं जो बहुत कम समय में दूसरे प्रकार के कणों में बदल जाते हैं।

कॉस्मिक किरणों के अध्ययन को प्रारम्भिक अवस्था में वैज्ञानिकों ने निष्कर्ष निकाला कि इन किरणों की तीव्रता समय के साथ बदलती नहीं और जो मामूली परिवर्तन होता भी है वह वायुमंडल के दबाव में परिवर्तन के कारण होता है। बाद में जब कुछ विशिष्ट प्रयोग पृथ्वी की सतह से थोड़ी ऊँचाई पर किये गये तो यह पता चला कि अपेक्षाकृत कम ऊर्जा वाली कॉस्मिक किरणों की तीव्रता समय के

साथ परिवर्तित होती है और इस परिवर्तन का सीधा सम्बन्ध सूर्य में होने वाली प्रक्रियाओं से रहता है। इसके बाद वैज्ञानिकों ने कृत्रिम उपग्रहों द्वारा समुद्र तल से काफी ऊँचाई पर भी प्रयोग किये जिनके परिणामों से तीव्रता में परिवर्तन की पुष्टि हुई। पृथ्वी पर पहुँचने वाली कॉस्मिक किरणों की तीव्रता में परिवर्तनों के अध्ययन से सूर्य और पृथ्वी के सम्बन्धों के बारे में काफी जानकारी मिलती है। उदाहरणार्थ : चुम्बकीय तूफान, उत्तरी ध्रुव पर प्रकाश-धारा, रेडियो संचार में सम्पूर्ण व्यवधान (ब्लैकआउट) इत्यादि। सूर्य में होने वाली प्रक्रियाओं का ग्यारह वर्ष का क्रम भी इन अध्ययनों से स्थापित होता है।

कॉस्मिक किरणों की उत्पत्ति कहाँ, कैसे और क्यों होती है? इतनी अधिक ऊर्जा इन्हें कहाँ से मिलती है? इस तरह के न जाने कितने प्रश्न वैज्ञानिकों को सदा से उद्बलित करते रहे हैं और इन्हें सुलझाने के लिये अनेक तर्क प्रस्तुत किये गये हैं।

सौर-ज्वाला (Solar Flare) के समय सूर्य की गैसें तीव्र गति से आकाश में प्रवेश करती हैं और चुम्बकीय क्षेत्र में तेजी से परिवर्तन होता है। इनके फलस्वरूप सूर्य के वातावरण में विद्यमान प्रोटॉनों को बहुत अधिक ऊर्जा मिलती है। चूँकि इन किरणों में भी अधिकांश नाभिक प्रोटॉन होते हैं, अतः हम यह मानते हैं कि कॉस्मिक किरणों का स्रोत सूर्य है। लेकिन यहाँ प्रश्न यह उठता है कि क्या केवल सूर्य से ही कॉस्मिक किरणों की पृथ्वी पर रात-दिन वर्षा होती रहती है? सूर्य को एकमात्र स्रोत मानना इस-लिये भी विवादास्पद है क्योंकि कॉस्मिक किरणें पृथ्वी की सतह पर रात को तथा सूर्य की दिशा से भिन्न दिशाओं से भी आती हुयी पायी जाती हैं।

वैज्ञानिकों का मत है कि सौर-मंडल में एक दुर्बल चुम्बकीय क्षेत्र पाया जाता है और आकाश में नक्षत्रों के बीच भी चुम्बकीय क्षेत्र होते हैं। इन चुम्बकीय क्षेत्रों की उपस्थिति में कॉस्मिक किरणें धनावेशित होने के कारण अपने रास्ते से विचलित होकर हर दिशा में बिखर जाती हैं और पृथ्वी पर हर दिशा से

आती हुई प्रतीत होती हैं। लेकिन अत्यधिक ऊर्जा वाली किरणों की सभी दिशाओं में समान रूप से उपस्थिति आकाशीय चुम्बकीय क्षेत्रों की सहायता से भी व्याख्यायित नहीं की जा सकती, क्योंकि इतनी अधिक ऊर्जा वाले कणों पर इन क्षेत्रों का प्रभाव नहीं के बराबर होना चाहिये और इसलिये ये कण केवल सूर्य की दिशा से ही आने चाहिये।

इस तथ्य को ध्यान में रखते हुये वैज्ञानिकों के सामने यह प्रश्न उठा कि अगर अधिकतर कॉस्मिक किरणें सूर्य से नहीं आती हैं तो उनका वास्तविक स्रोत क्या है? शायद आकाश में विद्यमान अरबों तारों आदि पिंडों से निकलने वाली कॉस्मिक किरणें पृथ्वी तक पहुँचती हों। लेकिन अगर सूर्य तथा अन्य स्रोतों से पृथ्वी की आपेक्षिक दूरी को ध्यान में रखा जाय और यह माना जाय कि सभी से कॉस्मिक कण समान रूप से उत्पन्न होते हैं, तब यह सम्भावना फिर बल-वती होती है कि पृथ्वी पर पहुँचने वाली कॉस्मिक किरणें अधिकतर सूर्य के कारण हैं, क्योंकि सूर्य पृथ्वी के बहुत निकट है। फ़िलहाल अधिकतर वैज्ञानिक इस बात को मानने को तैयार नहीं हैं। यह भी अनुमान है कि शायद कुछ स्रोत ऐसे हैं जिनमें कॉस्मिक किरणों की उत्पत्ति दूसरों के मुकाबले बहुत अधिक होती है और इस प्रकार ये कम संख्या में तथा पृथ्वी से अधिक दूर होते हुये भी कॉस्मिक किरणों के महत्वपूर्ण स्रोत बने रहते हैं।

वैज्ञानिकों के सामने यह भी एक प्रश्नचिह्न बना हुआ है कि कॉस्मिक कणों को इतनी अधिक ऊर्जा कैसे मिलती है। शायद, आकाश में विद्युत्-चुम्बकीय क्षेत्र के कारण कॉस्मिक कण लगातार त्वरित होकर अत्यधिक ऊर्जा प्राप्त कर लेते हैं। 1933 में स्वान नामक वैज्ञानिक ने सुझाव दिया कि शायद आकाश-गंगा ही कॉस्मिक किरणों के लिये एक त्वरित का कार्य करती है। 1951 में फ़र्मी ने अपनी एक व्याख्या प्रस्तुत की। इसके अनुसार यह माना गया कि अन्तरिक्ष में आयनीकृत गैसों के सघन बादल घूमते रहते हैं जिनमें चुम्बकीय क्षेत्र भी उपस्थित रहते हैं। इन

बादलों तथा कॉस्मिक कणों के बीच ऊर्जा का आदान-प्रदान होता रहता है जिनके कारण कॉस्मिक कणों को अत्यधिक ऊर्जा प्राप्त होती है। जिस प्रकार टेनिस का खिलाड़ी अपने बल्ले को आगे-पीछे करके गेंद की गति परिवर्तित कर सकता है, उसी प्रकार कॉस्मिक कण जब अपनी ओर आते हुये गैसीय बादलों से टकराते हैं तो अपनी ऊर्जा बढ़ाकर लौटते हैं।

हमारे वायुमंडल में प्रवेश करने के बाद ये किरणें क्या प्रभाव डालती हैं—यह भी अध्ययन का विषय है। जब प्राथमिक कॉस्मिक किरणें पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करती हैं तो पृथ्वी के चुम्बकीय क्षेत्र के कारण अपने पथ से विचलित हो जाती हैं और इसके फलस्वरूप इनकी तीव्रता सभी दिशाओं में समान नहीं रह जाती। वायुमंडल में प्रवेश करते ही कॉस्मिक कण उसमें उपस्थित गैस कणों से टकराकर उनके नाभिकों को विघटित करके प्रोटॉनों व न्यूट्रॉनों में बदल देते हैं। इस टक्कर के कारण इन प्रोटॉनों व न्यूट्रॉनों की ऊर्जा इतनी अधिक होती है कि ये वायुमंडल में उपस्थित दूसरे नाभिकों से भी तीव्र गति से टकराते हैं और कुछ अन्य कम आयु वाले कण उत्पन्न करते हैं जैसे : π —मीसॉन, भारी मीसॉन, हाइपेरॉन इत्यादि। अगर प्राथमिक कणों की ऊर्जा बहुत अधिक होती है तो प्रोटॉन-प्रति प्रोटॉन, न्यूट्रॉन-प्रति न्यूट्रॉन तथा न्यूट्रिनो-प्रति न्यूट्रिनो नामक युगल कण उत्पन्न होते हैं। इन दोनों वर्गों के कणों को द्वितीयक कण कहा जाता है।

वायुमंडल में होने वाली नाभिकीय व अन्योन्य क्रियायें अधिकतर इन्हीं द्वितीयक कणों के कारण होती हैं। π —मीसॉन विघटित होकर फोटॉन में बदल जाते हैं जो शीघ्र ही घनावेशित पोजिट्रॉन तथा ऋणावेशित इलेक्ट्रॉन युगल कण में परिवर्तित हो जाते हैं। इस क्रम में और अधिक फोटॉनों का जन्म होता है जो फिर इलेक्ट्रॉन-पॉजिट्रॉन युगल कणों को जन्म देते हैं। इस प्रकार की शृंखला क्रिया चलती रहती है। पृथ्वी के वायुमंडल में प्रवेश करते समय कॉस्मिक किरणों में इन कणों की संख्या शून्य होती है, परन्तु आगे बढ़ते जाने पर शृंखला क्रिया के कारण यह उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। धरातल के और समीप आने पर यह संख्या अनगिनत हो जाती है और इन्हें वायवीय वर्षा (Air shower) का नाम दे दिया जाता है।

कॉस्मिक किरणसम्बन्धी अनुसन्धान कार्य में वायवीय वर्षा का बहुत महत्त्व है, क्योंकि ये उन विरल कॉस्मिक कणों से उत्पन्न होती हैं, जिनकी ऊर्जा मानव निर्मित सर्वाधिक शक्तिशाली त्वरित्रों से प्राप्त ऊर्जा कणों से भी कहीं अधिक होती है। इतनी अधिक ऊर्जा वाले कणों के अध्ययन में केवल कॉस्मिक किरणें ही सहायक सिद्ध होती हैं। वायवीय वर्षा पर प्रयोग दुनिया के कई देशों में किये जा रहे हैं जिनमें भारत के 'टाटा इन्स्टीट्यूट ऑफ फण्डामेंटल रिसर्च', बम्बई का भी नाम है।□

बाल विज्ञान

पेड़-पौधों का रोचक संसार

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

5 ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद-211002

बच्चो,

अगर मैं तुमसे यह पूछूँ कि पेड़-पौधे क्या हैं तो तुम सब इस आसान से प्रश्न पर हँस पड़ोगे। क्योंकि गाय और गोभी या गौरैया और गुलाब के बीच अंतर

बताना या उन्हें पहचानना भला क्या मुश्किल है? लेकिन वास्तव में बात इतनी आसान नहीं। पौधों की रोचक और विचित्र दुनिया में जहाँ बहुमंजिली इमारतों से भी ऊँचे विशालकाय वृक्ष हैं वहीं ऐसे

सूक्ष्म पौधे भी हैं जिन्हें हम केवल विशेष माइक्रो-स्कोपों से ही देख सकते हैं। कुछ तो ऐसे भी पौधे हैं जिनके बारे में अभी तक वैज्ञानिक यही नहीं निश्चित कर पाये हैं कि वे पौधे हैं या जीव-जन्तु।

हमारी इस लम्बी-चौड़ी धरती पर साढ़े तीन लाख से भी अधिक जातियों की वनस्पतियाँ पाई जाती हैं। इनमें ढाई लाख फूलों वाले पौधे और बाकी काई, फफूँद या अन्य समूहों के पौधे हैं। केवल हमारे अपने देश में पैंतालीस हजार विभिन्न जातियों के पौधे पहचाने जा चुके हैं।

तुम यह तो जानते ही हो कि ये पौधे भी हमारी ही भाँति जीवित इकाइयाँ हैं किन्तु इनका भोजन हम सबसे अलग है। ये अपने भोजन के लिए हवा से लेते हैं कार्बन डाइऑक्साइड और धरती से पानी और उसमें घुले खनिज लवण। वस इन्हीं को ये अपने अन्दर ही अन्दर क्लोरोफ़िल की सहायता से शक्कर और स्टार्च जैसे पौष्टिक पदार्थों में बदल लेते हैं। इनका भोजन पकाने के लिए ऊर्जा देती है सूरज की रोशनी। पौधों की यह क्रिया फोटोसिंथेसिस या प्रकाश-संश्लेषण कहलाती है। वैसे कुछ पौधे ऐसे भी होते हैं जिनमें यह क्लोरोफ़िल या हरा पदार्थ नहीं होता। अतः उन बेचारों को मजबूरन दूसरों का भोजन चुराना पड़ता है। हरे पौधों की एक प्रमुख विशेषता यह भी है कि ये दिन में प्रकाश-संश्लेषण के समय कार्बन डाइ-ऑक्साइड लेकर बहुमूल्य ऑक्सीजन निकालते हैं, जो मानवों तथा अन्य सभी जीव-जन्तुओं के जीवन के लिए बहुत ही आवश्यक है। अतः इन पेड़-पौधों की कृपा से प्रकृति का संतुलन बना रहता है।

पौधों की इस विचित्र दुनिया में अधिकांश तो ऐसे पौधे हैं जिन्हें हम सरलता से पौधे के रूप में पहचान लेते हैं किन्तु कुछ ऐसे भी हैं जिन्हें हम आम तौर पर पौधा नहीं समझते लेकिन वैज्ञानिकों ने उन्हें पौधा ही माना है क्योंकि उनकी तमाम विशेषतायें पौधों से ही मिलती-जुलती हैं। इनमें आते हैं वाइरस, बैक्टीरिया, फफूँद और काई समूहों के पौधे।

इस क्रम में सबसे पहले आने वाले वाइरस या विषाणु न तो पूर्णतः पौधे हैं और न जन्तु। और छोटे तो इतने कि केवल इलेक्ट्रॉन माइक्रोस्कोप से ही दिखते हैं। ये मनुष्यों, जानवरों और पौधों में पर-जीवी के रूप में रहते हैं और अनेक रोग उत्पन्न करते हैं।

इनसे बड़े हैं बैक्टीरिया या जीवाणु। इनमें भी क्लोरोफ़िल नहीं होता अतः ये अपना भोजन खुद नहीं बना पाते। दूसरों पर ज़िन्दा रहने वाले ये जीवाणु मनुष्यों, जानवरों तथा पौधों में अनेक भयानक रोग उत्पन्न करते हैं। किन्तु कुछ जीवाणु जो चना, मटर, सेम, मूँगफली आदि की जड़ों में रहते हैं, इन पौधों के लिए नाइट्रोजन उपलब्ध कराने के कारण उपयोगी भी सिद्ध होते हैं।

शैवाल या काई समूह के पौधे यूँ तो आकार में छोटे होते हैं पर जीवाणुओं से बहुत बड़े होते हैं। कुछ समुद्री शैवाल तो कई-कई मीटर लम्बे होते हैं। वनस्पतियों के सबसे प्राचीन पूर्वज यही हैं। कुछ शैवाल तो जहाज़ों की पेंदी या कछुए जैसे जानवरों की पीठ पर उग कर उन्हें हानि पहुँचाते हैं किन्तु कुछ दूसरे शैवाल खाने, जलाने और ओषधि के रूप में उपयोगी भी होते हैं। कुछ नीले-हरे शैवाल भूमि को उपजाऊ बनाने में भी सहायक हैं।

तुमने बरसात के मौसम में अक्सर भीगे जूतों, लकड़ियों, सब्जियों, डबलरोटी आदि पर कवक या फफूँद लगी देखी होगी। ये भी एक प्रकार के रंग-विरंगे पौधे हैं। चूँकि ये रात भर में बड़ी शीघ्रता से उग आते हैं अतः कुछ जनजातियों में ऐसी मान्यता है कि गोल घेरे में उगने वाले कुकुरमुत्ते रात में आकाश से उतरी परियों के नृत्य के चिह्न हैं। अधिक फॉस्फोरस से युक्त कुछ कवक सूखी लकड़ियों में एकत्र होकर लकड़ियों के प्रकाशमान होने का भ्रम पैदा करते हैं। गुच्छी और मशरूम जैसे फफूँद जहाँ स्वादिष्ट सब्जियों के रूप में खाये जाते हैं वहीं पेनिसिलियम नामक फफूँद से निकलने वाली पेनिसिलिन अनेक रोगों की रामबाण ओषधि है।

कभी-कभी शैवाल और कवक मिलकर एक नये प्रकार का पौधा बनाते हैं, लाइकेन या शैवाक। तुम्हें यह जानकर आश्चर्य होगा कि चट्टानों पर उगनेवाले लाइकेन के कोमल पौधे पत्थरों को तोड़कर मिट्टी में बदलने की ताकत रखते हैं।

लाइकेनों से सुगन्धि, रंग, ओषधि, सिगरेटें और खाद्य मसाले बनाये जाते हैं। यही नहीं, मिस्र देश में कुछ लाइकेनों का प्रयोग पिरामिडों के भीतर रखे शवों या ममोय को सुरक्षित रखने में भी किया गया है।

इसके बाद बारी आती है ब्रायोफाइट्स समूह के पौधों की जिन्हें सर्वप्रथम स्थलीय पौधे होने का गौरव प्राप्त है। इस समूह का स्फैगनम नामक एक पौधा ऐण्टीसेप्टिक गुणों के कारण चोटों की सफाई के लिए रुई की तरह प्रयोग किया जाता है।

फर्न के सुन्दर पौधों को तो तुम सबने देखा ही होगा। ये पौधे टेरिडोफाइट्स समूह के अन्तर्गत आते हैं। फर्न की चिड़ियों के पंखों के समान आकर्षक और बड़ी पत्तियाँ बहुत ही खूबसूरत लगती हैं। फलरहित होते हुये भी सजावट के लिए इनका विशेष उपयोग होता है। सेलैजिनेला के सूखे पौधों में पुनः जी उठने का गुण होता है जिससे वे पानी में रखने से हरे हो उठते हैं। शायद माघ मेले में जादू के खेल की तरह दिखाते हुये इस प्रयोग का तुमने भी आनन्द लिया होगा। कुछ फर्न और उनके सम्बन्धी पौधे ओषधि भी प्रदान करते हैं।

फर्न जैसी ही बड़ी-बड़ी पत्तियों वाला जिम्नोस्पर्म समूह का साइकस का वृक्ष एक और सजावटी वृक्ष है। इसके स्टार्च से साबूदाना बनाया जाता है और सूखी पत्तियाँ शोपड़ियाँ छाने के काम आती हैं। चीड़ या पाइनस, आरोकैरिया और मोरपंखी के पेड़ भी अपने आकर्षक स्वरूप के कारण उद्यानों की शोभा बढ़ाते हैं। कहते हैं प्राचीनकाल में इफेड्रा के पौधे से 'सोमरस' बनाया जाता था। आजकल इससे सोमरस तो नहीं पर 'इफेड्रीन' नामक ओषधि प्राप्त की जाती है। और पाइनस या चीड़ का वृक्ष तो अपनी लकड़ी, राल

और चिलगोज़ा जैसे मेवे के कारण बहुत उपयोगी है।

और बच्चो, अब हम आते हैं ऐन्जियोस्पर्म समूह के ऐसे चमत्कारी पौधों पर जो हमारे जीवन की सभी आवश्यकतायें पूरी करते हैं। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से भोजन, वस्त्र और आवास की सभी जरूरतों के लिए हम इन्हीं पर निर्भर करते हैं। केवल यही नहीं, बाढ़ का प्रकोप, आँधी, तूफ़ान, भूमि का कटाव और बढ़ते रेगिस्तानों की समस्या हल करने में भी ये वृक्ष हमारे सहायक हैं। यही वर्षा भी कराते हैं और यही वातावरण की सफाई भी करते हैं। सभी जीव-जन्तुओं का आश्रय बनने वाले इन्हीं पुष्पी पौधों का आज पृथ्वी पर बोलबाला है।

पौधों की इस रहस्यमयी दुनिया की विचित्रतायें तो अनगिनत हैं और इन्हीं में एक है अमरबेल या कस्तुटा। यह जिन पौधों पर लिपट जाती है उन्हीं से अपना भोजन चूसती रहती है और उसका पीछा नहीं छोड़ती है। इसी प्रकार बैंगन, टमाटर, आलू की जड़ों पर भी आरोबेंकी नामक पौधा उगता देखा जा सकता है। इनमें पत्तियाँ नहीं होतीं। रैफ्लेसिया नामक विचित्र पौधे में तो केवल फूल होता है। रैफ्लेसिया का फूल विश्व का सबसे बड़ा फूल है जिसका व्यास आधे मीटर से एक मीटर तक होता है और भार आठ किलोग्राम तक। हमारे देश का सबसे बड़ा पुष्प है असम और नागालैण्ड में पाया जाने वाला सैप्रिया नामक पौधे का फूल, जिसका व्यास एकबटा तीन मीटर होता है। इसके विपरीत संसार का सबसे छोटा फूल है वूल्फिया नामक जलीय पौधे का पुष्प।

आर्किड के मनोहारी पुष्पों वाले पौधे भी आधार के लिए दूसरे पौधों पर उगते हैं। फिर भी ये अपना भोजन स्वयं बना लेते हैं।

सबसे अनोखे और रोचक हैं मांसाहारी या कीट-भक्षी पौधे जो अपने हरे और भड़कीले रंगों के जाल में फँसाकर नित्य अनेक छोटे-छोटे कीड़ों को आहार बनाया करते हैं। कीटभक्षी पौधों में घटपर्णी या नेपेंथस प्रमुख है। इस पौधे के आकर्षक पत्ते घड़े या

कलश के रूप में होते हैं जिनके ऊपरी भाग पर एक ढक्कन जैसी रचना बनी होती है। जब छोटे-छोटे कीड़े या चींटियाँ इसके अंदर चली जाती हैं तो वे पुनः बाहर नहीं निकल पातीं क्योंकि ये चालाक पौधा उन्हें ढक्कन बंद कर कैद कर लेता है और घड़े की भीतरी दीवारों से निकलता रस उन कीड़ों को आसानी से पचा लेता है।

तुम शायद सोच रहे होंगे कि क्योरोफिल से युक्त यह पौधा जब स्वयं भोजन बना लेता है तो इसे शिकार करने की क्या आवश्यकता है? वास्तव में ये कीटभक्षी पौधे ऐसे स्थानों पर उगते हैं जहाँ नाइट्रोजन का अभाव होता है। इसीलिए ये कीड़ों को खाकर उनके प्रोटीन से नाइट्रोजन की कमी पूरी करते हैं।

पिंगोब्यूला के पौधे अपनी पत्तियों को जीभ की तरह मोड़ कर कीड़े पकड़ लेते हैं। सारासीनिया, ड्रोसेरा, बीनसपलाई ट्रीप और यूट्रिकुलैरिया कुछ दूसरे कीटभक्षी पौधे हैं जिनकी पत्तियाँ शिकार के उपयुक्त विशेष आकार वाली होती हैं।

यदि मैं तुमसे यह कहूँ कि एक अकेला वृक्ष ही पूरे जंगल जैसा विशाल है और वह भी अपने ही देश में तो शायद तुम्हें विश्वास नहीं होगा। किन्तु कलकत्ता के वनस्पति उद्यान का 200 वर्ष पुराना बरगद का वृक्ष ऐसा ही भारी भरकम है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि बिना मुख्य तने के यह फल-फूल रहा है।

इस समय यह अपने डेढ़ हजार से भी अधिक हवाई-जड़ों के सहारे खड़ा है। इसी उद्यान में विशाल पत्तों वाली कुमुदिनी या जाइंट लिली भी है जिसकी बड़ी थाली की आकार वाली पत्तियों पर यदि पाँच

किलोग्राम तक भारवाला कोई बच्चा बैठा दिया जाय तो भी पत्तियाँ तैरती रहती हैं। इसके पुष्पों की एक विशेषता यह भी है कि ये खिलने के समय सफेद, बाद में गुलाबी और अंत में बैंगनी हो जाते हैं।

फूल-पत्ती की विशेषताओं के बारे में तो तुमने सुना अब हम तुम्हें अट्ठाइस किलोग्राम वाले एक ऐसे फल की बात बताते हैं जो वनस्पति जगत् का सबसे भारी फल है। इसके एक-एक फल से साधुओं के दो-दो कमण्डल बन जाते हैं। इसीलिए बोल-चाल की भाषा में इसके वृक्ष को कमण्डल का वृक्ष कहते हैं। ये वृक्ष एक हजार वर्षों तक जीवित रहते हैं।

फाइकस कुण्णाइ या माखन-कटोरी भी एक अद्भुत वृक्ष है जिसकी नीचे की ओर मुड़ी पत्तियों में कटोरी जैसा आकार बन जाता है। कहते हैं जब कृष्ण भगवान मक्खन चुराते थे तो इसी की कटोरी जैसी पत्तियों में उसे खाते थे।

तुमने मंदिरों में शिवलिंग पर फन फैलाये हुए नाग की मूर्तियाँ तो देखी ही होंगी। नागलिंगम नामक वृक्षों के पुष्पों की बनावट भी बहुत कुछ इन्हीं मूर्तियों जैसी होती है।

गोरख इमली (कल्प वृक्ष) के तने से कमण्डल बन जाते हैं। छुई मुई या लज्जावंती (साइमोसा प्लुडिका) की पत्तियाँ छूते ही लजाकर सिमट जाती हैं।

इस प्रकार पेड़-पौधों की यह दुनिया कितनी विचित्र, रोचक और विविधतापूर्ण है इसकी तुम्हें एक हल्की झाँकी यहाँ मिली। अब ज्यों-ज्यों तुम बड़े होते जाओगे, तुम्हारे लिए यह पेड़-पौधों का संसार और भी अधिक रोचक होता जायेगा।□

[आकाशवाणी, इलाहाबाद से साभार]

प्रोफेसर रंधावा सम्मानित

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् के महानिवेशक तथा कृषि और ग्रामीण विकास मन्त्रालय के सचिव प्रोफेसर एम० एस० रंधावा को सोवियत कृषि विज्ञान एकेडमी की सदस्यता प्रदान की गई है। प्रो० रंधावा के अतिरिक्त तीन और भारतीय कृषि वैज्ञानिक—डॉ० बी० पी० पाल, डॉ० एम० एस० स्वामीनाथन और डॉ० पी० गौतम भी इस सोवियत एकेडमी के सदस्य हैं।

सोवियत दूतावास में आयोजित एक समारोह में सोवियत राजदूत ने प्रो० रंधावा की कृषि विज्ञान के क्षेत्र में उनके महत्वपूर्ण योगदान के लिए और कृषि में भारत-सोवियत वैज्ञानिक सहयोग के संवर्धन के लिए प्रशंसा की।

हिन्दी विज्ञान लेखक शुकदेव प्रसाद पुरस्कृत

प्रसिद्ध युवा हिन्दी विज्ञान लेखक श्री शुकदेव प्रसाद को उनकी पुस्तक 'अन्तरिक्ष में भारत' के प्रणयन के लिए 'विक्रम साराभाई पुरस्कार' की घोषणा की गई है। पुरस्कार में 2000 रु० की राशि भी शामिल है।

अब नौवें वर्ष में--

वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, देहरादून के अखिल भारतीय

वानिकी साहित्य पुरस्कार 1986

वानिकी विषयों पर मूलतः हिन्दी में लिखित वैज्ञानिक व तकनीकी ग्रन्थों और लेखों को देय

ग्रन्थ पुरस्कार : श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	5,000 रु०
उत्तम लेखन पुरस्कार	3,000 रु०
सराहनीय लेखन पुरस्कार	1,000 रु०
लेख पुरस्कार : श्रेष्ठ लेखन पुरस्कार	500 रु०
उत्तम लेखन पुरस्कार	350 रु०
सराहनीय लेखन पुरस्कार	200 रु०
प्रोत्साहन पुरस्कार	100 रु०

प्रविष्टियाँ 31 जुलाई, 1986 तक स्वीकार्य

विहित आवेदन प्रपत्र, नियम व विवरण अपना पता लिखा व बिना टिकट लगा 10 सेमी० × 25 सेमी० आकार का लिफाफा भेजने पर निम्न से 15 जुलाई 1986 तक प्राप्य।

दुर्गाशंकर भट्ट

सचिव, अ० भा० वा० साहित्य पुरस्कार योजना

वन अनुसंधान संस्थान एवं महाविद्यालय, डा० घ०, न्यू फॉरेस्ट (देहरादून)-248006

अब कृत्रिम रक्त परिसंचरण तंत्र

मनोजकुमार पटेरिया

वरिष्ठ संपादन सहायक : भारत की सम्पदा, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी० एस० आई० आर०,
हिलसाइड रोड, नई दिल्ली—110012

प्रोफेसर दिवाकर का हिंद पाकेट बुक्स, नई दिल्ली से प्रकाशित उपन्यास “नक्षत्रों का युद्ध” काफी अंतराल पूर्व पढ़ा था। उसमें एक ग्रह पर शरीर के कृत्रिम उपांग बाजार में फुटकर एवं थोक भाव में उपलब्ध होने का उल्लेख था। इधर अनेक वर्षों से अंग परिवर्तन के किस्से सुनने-पढ़ने में आते रहे हैं; जैसे किसी का वृक्क खराब हो गया, तो उसे दूसरे से बदलवा लिया, बकरी के अंतरांग मनुष्य में प्रयोग किये जाने के भी समाचार मिलते हैं। उसके बाद कृत्रिम हाथ तथा अँगुलियों की पूर्ण कृत्रिम संचालन व्यवस्था भी देखने में आई, जिसमें अक्षम हाथ वाला व्यक्ति साधारण रूप से कृत्रिम व्यवस्था की मदद से छोटे-मोटे सामान जैसे घड़ी, माचिस, पेन इत्यादि उठाने लायक क्षमता प्राप्त कर लेता है। पिछले कुछ समय पूर्व अपने देश में बयपुरी पैर भी काफी चर्चित रहा है, लेकिन अब कृत्रिम अंगों की बात शरीर के बाहर तक ही सीमित नहीं रही, ये विज्ञान के विकास के साथ ही शरीर के भीतर प्रवेश पा चुके हैं। शरीर का महत्वपूर्ण द्रव रक्त भी अब कृत्रिम संसाधनों से तैयार किया जा सकता है। इसी तरह हृदय और कृत्रिम रक्त-वाहिकाओं के प्रयोग भी उत्साहवर्धक हैं। अर्थात् पूरे के पूरे रक्त परिसंचरण तंत्र के हर भाग को अब कृत्रिम संक्रियाओं से तैयार करके आवश्यकतानुसार रोपित किया जा सकता है।

कृत्रिम हृदय

फ्रांस और सऊदी अरब के चिकित्सकों, और

इंजीनियरों ने मिलकर चार माह के बछड़े में कृत्रिम हृदय का प्रयोग किया है। इस कृत्रिम हृदय के आविष्कारक हृदय शल्य-चिकित्सक डॉ० दिडियर लैपेयर हैं, जो 1967 से इस कार्य में लगे रहे। यह युक्ति विकसित करने का उनका मंतव्य हृदय संवहन रोगों से होने वाली मृत्यु दर में कमी करना था। 1979 में उन्होंने कृत्रिम हृदय के अपने आविष्कार के लिये पेटेण्ट का आवेदन दिया। इसके बाद उनके कार्य को तकनीकी सहायता फ्रांस के प्रसिद्ध उद्योग “एरोस्पैट्येल” से मिली। अमेरिका में इसके पहले भी अन्य प्रकार के कृत्रिम हृदय विकसित और जानवरों पर परीक्षित किये जा चुके हैं। इसके उपरांत मनुष्य में कृत्रिम हृदय का प्रथम परीक्षण 1983 में किया गया। लैपेयर का कृत्रिम हृदय कुछ बातों में अमेरिका के प्रो० जैविक द्वारा विकसित कृत्रिम हृदय से कुछ बातों में समान है, तथापि लैपेयर द्वारा विकसित कृत्रिम हृदय वास्तविक हृदय के आकार और क्रिया-विधि में काफी समान है। यह जैविक के प्ररूप से 40% छोटा है तथा रोपित करने में आसान है। इसे “फ्रांस-अरब कृत्रिम हृदय तंत्र परियोजना” के तत्वावधान में विकसित किया गया है। परियोजना प्रबंधक दिडियर बासैक्स के अनुसार इसके निर्माण में प्रयुक्त होने वाले पदार्थ हैं—पॉलीयूरेथेन, लैटेक्स, कार्बन एवं हल्की धातु। उन्होंने कहा कि विभिन्न अनुसंधानों और प्रयोगों के बाद इस कृत्रिम हृदय का मॉडल मानव की सेवा के लिये औद्योगिक स्तर पर उत्पादन हेतु तैयार है। पेरिस के निकट एरोस्पैट्येल के नये

उत्पाद विभाग में इसके उत्पादन हेतु कार्य किया जा रहा है, जहाँ पहले से ही जटिल और अत्याधुनिक उत्पादों का कार्य पहले ही चल रहा है। बछड़े पर इस कृत्रिम हृदय का प्रयोग फरवरी 1985 में पेरिस पब्लिक हेल्थ अथॉरिटी के शल्य चिकित्सा विद्यालय की प्रयोगशाला में विश्व प्रसिद्ध हृदय विशेषज्ञ प्रो० क्रिश्चियन काबरॉल द्वारा किया गया। प्रो० काबरॉल, डॉ० लंपेयर तथा स्टुगार्ट के प्रो० कोलबैन ने इसे बछड़े पर रोपित किया। यह परीक्षण प्रयोग पूरी तरह सफल रहा और इसके परिणाम सुखियों में प्रकाशित हुये। इस वैज्ञानिक समूह ने कहा है कि 12 से 15 माह के अंदर इसे मनुष्य में रोपित किया जाने लगेगा। परियोजना के सहायक निदेशक जोन पियरे फोब्यूट ने कहा है कि हमारा उद्देश्य स्थायी, उपयुक्त और स्वचालित कृत्रिम हृदय उत्पादित करना है। इनको चालित करने के लिये इनमें शुष्क सेल या पुनः आवेशित करने योग्य बैटरी लगाई जा सकेगी। इसमें प्रयुक्त पराप्रकाशिक कार्बन हल्का है और पूरी संरचना का मूल भार लगभग 300 ग्राम से अधिक नहीं है, जो चिकित्साविज्ञानीय दृष्टि से स्वीकारात्मक है। इसका आकार 400 घन सेमी० है। यह एक तरह का पम्प है, जिससे रक्त-संचार हो सके। बाहरी आवरण और आंतरिक पर्त के मध्य में हवा भरी गई है। इसमें अलिंद और निलय तथा अन्य अनेक आंतरिक संरचनाएँ प्राकृतिक हृदय की भाँति ही हैं।

कृत्रिम रक्त

शरीर से रक्त अधिक निकल जाने के कारण रक्त की तुरन्त आवश्यकता पड़ सकती है। रक्त देने के लिये 'ब्लड बैंक' में या किसी ऐसे व्यक्ति को ढूँढ़ा जाता है, जिसका रक्त वर्ग रोगी के रक्त वर्ग के लिये उपयुक्त हो। कभी-कभी ऐसा मेल मुश्किल हो जाता है। स्थिति तब और विकट हो सकती है, यदि रोगी का रक्त वर्ग बी श्रृणात्मक हो, क्योंकि बी श्रृणात्मक एक दुर्लभ रक्त वर्ग है और बहुत कम लोगों में पाया जाता है। अब दो अमेरिकी वैज्ञानिकों, डॉ० लीलान्ड क्लार्क एवं राबर्ट गेयर ने ऐसे पदार्थ का निर्माण कर

लिया है, जो रक्त के स्थान पर कृत्रिम रक्त के रूप में रोगी को दिया जा सकता है।

कृत्रिम रक्त एक रसायन परफ्लोरोकार्बन के पायसीकृत रूप से बनाया गया है। परफ्लोरोकार्बन एक ऐसा हाइड्रोकार्बन है, जिसमें हाइड्रोजन परमाणु के स्थान पर फ्लोरीन का परमाणु लगा दिया गया हो। पायसीकरण इसलिये किया गया कि यह पदार्थ रक्त में आसानी से मिल सके। यह कृत्रिम रक्त यानी पायसीकृत परफ्लोरोकार्बन रासायनिक और जैविक रूप से स्थिर, सघन और उच्च गतिशील है, तथा पूर्ण रक्त से तीन गुना अधिक ऑक्सीजन सोख सकता है और आवश्यकतानुसार शोषित ऑक्सीजन को मुक्त भी कर सकता है। इससे रोगी को असली रक्त की भाँति ही आवश्यक मात्रा में ऑक्सीजन की आपूर्ति होती रहती है। जापान की ओषधि निर्मात्री एक कम्पनी ग्रीन ने कृत्रिम रक्त पर शोध कार्य किया है, जिसके फलस्वरूप जापान में ही लगभग पचास आपात रोगियों में इस पदार्थ के एक प्ररूप फ्लोसोल डी० ए० का सफलतापूर्वक उपयोग किया जा चुका है।

रक्त में मुख्य रूप से दो अवयव होते हैं—एक तो सूक्ष्मदर्शिक रक्त कणिकाएँ और दूसरा वह द्रव, जिसमें ये कणिकाएँ तैरती रहती हैं, यानी रक्त प्लाज्मा। वैज्ञानिकों ने फ्लोरोकार्बनिक यौगिकों द्वारा इन्हीं कणिकाओं का निर्माण किया है। कृत्रिम रक्त कणिकाओं का नाम है, "फ्लोरोसाइट्स।" डॉ० गेयर ने प्लाज्मा के रूप में पॉलीओल्स वर्ग के यौगिकों को इस्तेमाल किया। इस तरह कृत्रिम रक्त निर्माण के लिये यौगिकों को दो यन्त्रों, होमोनाइजर एवं सोनो-केटर द्वारा अत्यन्त छोटी बूंदों में परिवर्तित किया गया तथा पॉलीओल्स का अत्यन्त तनु घोल तैयार किया गया। इन दोनों को उचित परिमाण में मिलाने पर कृत्रिम रक्त का निर्माण संभव हुआ। एक अन्य अमेरिकी वैज्ञानिक डॉ० राबर्ट एंडरसन ने फ्लोरोकार्बन वर्ग के यौगिकों से निर्मित कृत्रिम रक्त को मनुष्य के रक्त में प्रवाहित करने में सफलता पाई है। यद्यपि कृत्रिम रक्त शरीर को कुछ दिनों की अवधि

के लिये ही उपयोगी होता है तथापि इतने समय में काफी हद तक शरीर में ही नये रक्त का निर्माण होने लगता है और मृत्यु सन्निकट व्यक्ति को बचाया जा सकता है। अमेरिका में कार्यरत भारतीय वैज्ञानिक डा० दयाल महेश्वरी ने भी इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण कार्य किया है। आशा की जा रही है कि आने वाले वर्षों में रक्त का यह कृत्रिम विकल्प अन्य देशों में आसानी से उपलब्ध हो जायेगा।

कृत्रिम रक्त-वाहिकायें

‘सुमिटोमो इलेक्ट्रिक इंडस्ट्रीज लिमिटेड’ ने पॉलीएथिलीन टेट्राफ्लोराइड नली, नामक बनावटी रक्त-वाहिकाओं का विकास किया है। यह जीवित ऊतकों की भाँति व्यवहार कर सकती हैं और आसानी से सेचर्ड हो सकती हैं। टैक्नोक्रेट की सूचना के अनुसार इस पर तन्यता उपयुक्तता तथा चिकित्साविज्ञानीय दृष्टि से उपयोगी होने के परीक्षण किये गये, जिनमें इसे उपयुक्त पाया गया। यह पतली नलिका की भाँति होती है। इसकी अंदर की सतह बारीकी से निर्मित तथा एकदम चिकनी और संरघ्न होती है, जब कि

बाहरी सतह एंटे हुये कृत्रिम धागों से लिपटी होने के कारण खुरदरी होती है। इसकी द्विरेखीय संरचना बनाई गई है। संरचना की बनावट मोटाई की दिशा में नियमित रूप से परिवर्तित होती है। नव विकसित नलिका जीवित रक्त-वाहिकाओं की तुलना में पूर्ण सक्षम पाई गई है। इसकी बाहरी खुरदुरी सतह ऊतक ग्रिपिंग तथा सतही इडेट्स तथा सूक्ष्म रंधों से इसकी रक्षा होती है जब कि भीतरी चिकनी सतह दीवारों पर लगने वाले थ्रोम्बोसिस को रोकने में सक्षम है। निर्माता ने कृत्रिम रक्त-वाहिकाओं का औद्योगिक उत्पादन आरम्भ कर दिया है। ये 2 से 10 मिमी० तक के व्यास में उपलब्ध हैं। इनका नाम रखा गया है **पोरफलीन**।

इन सभी तथ्यों से यही प्रतीत होता है कि **प्रो० दिवाकर** की भाँति ही अन्य विज्ञान गल्पकारों की रचनात्मक कल्पनायें लगता है साकार होकर ही रहेंगी और मनुष्य के कृत्रिम उपांग अन्य किन्हीं ग्रहों पर नहीं बल्कि धरती के बाजारों में ही उपलब्ध होंगे। और जो सामान्य व्यक्ति की पहुँच में भी होंगे। □

खुलती पतें युरेनस की

नरेश बाली

द्वारा हिमाद्रीस स्टोर, जोगीपाड़ा, डाकघर आजरा, गोहाटी (असम)—781017

20 अगस्त 1977 को संयुक्त राज्य अमेरिका के केप केनेवरल प्रक्षेपण-स्थल से पृथ्वी के परे स्थित हमारे सौरमण्डल के ग्रहों की जानकारी प्राप्त करने के उद्देश्य से छोड़ा गया एक टी० वी० सेट के आकार जितना अन्तरिक्षयान **वॉयजर-2** जुलाई 1979 में बृहस्पति और फिर अगस्त 1981 में शनि की खोज-खबर लेता हुआ जब इस वर्ष 1986 के जनवरी माह में नीले-हरे रंग के **वारुणी (युरेनस)** के निकट से गुजरा तो इसने अब तक अन्धकार की पतों में छिपे इस रहस्यमय ग्रह को अपनी अति संवेदनशील आँखों

से देख कर इसके बारे में बहुत सी नयी तथा उपयोगी जानकारी हमारे लिए जुटायी। इस ग्रह के निकट तक पहुँचने वाला **वॉयजर-2** अब तक का सर्वप्रथम अन्तरिक्षयान है जो 72000 किमी० घंटे की रफ्तार से यात्रा करता हुआ लगभग साढ़े आठ सालों में यहाँ तक पहुँचा। **वारुणी** के सर्वाधिक निकट से **वॉयजर-2** 24 जनवरी 1986 के दिन गुजरा जब यह ग्रह से केवल 81,000 किमी० दूर था, और पृथ्वी से लगभग तीस खरब किलोमीटर दूर।

13 मार्च सन् 1781 में जब एक शोकिया

खगोलविज्ञानी बिलियम हर्शेल ने युरेनस ग्रह को जेमिनी तारामंडल के तारों के बीच देखा था तो पहले-पहल इन्होंने इसे एक धूमकेतु समझा था। किन्तु शीघ्र ही दूसरे खगोलविज्ञानियों ने पाया कि यह कोई धूमकेतु नहीं हो सकता, कारण, इसका आकलित परिक्रमण-पथ इसे शनि ग्रह के परे स्थित हमारे सौरमंडल के एक ग्रह के रूप में प्रदर्शित करता था। हर्शेल ने एक नया ग्रह खोजा था जिसे युरेनस नाम दिया गया।

ग्रहों के सामान्य आकार की दृष्टि से युरेनस को अपेक्षाकृत एक बड़ा ग्रह कहा जा सकता है; हमारे सौरमंडल का यह तीसरा सबसे बड़ा ग्रह है—हमारी पृथ्वी से 64 गुना बड़ा। हम से बहुत दूर स्थित होने हमारी पृथ्वी से जितना दूर शनि ग्रह है इसके दो गुने से भी अधिक दूर स्थित है। यह युरेनस अर्थात् सूर्य के प्रकाश को हम तक पहुँचने में जहाँ केवल आठ मिनट लगते हैं वहाँ वारुणी को दर्शन देने में यह दो घंटे पैंतालीस मिनट लेता है तथा यहाँ से नंगी आँखों से क्या, शक्तिशाली दूरदर्शियों की सहायता से भी प्रकाश के एक घन्टे से अधिक कुछ न दिखायी पड़ने की वजह से ही अब तक इसके बारे में कुछ विशेष पता नहीं लग पाया था। हाँ! कुछ थोड़ी बहुत आधारभूत जानकारी इसके बारे में अवश्य थी जैसे कि इसका औसत व्यास 47313 किमी० तथा संहति पृथ्वी की 14.5 गुनी है। सूर्य की एक परिक्रमा यह 4.2 मील प्रति सेकेण्ड के वेग से 84.015 वर्षों में पूरी करता है तथा इसका एक दिन 10 घंटे 45 मिनट का है। इस रहस्यमय ग्रह के साथ एक विशेष बात यह जुड़ी है कि युरेनस सूर्य की परिक्रमा हमारी पृथ्वी सहित अन्य ग्रहों के विपरीत प्लूटो को छोड़ कर लट्टू की तरह घूमते हुए नहीं वरन् फुटबाल या ड्रम की भाँति लुढ़कते हुए करता है। इस ग्रह के वायुमण्डल में अधिकतर मीथेन गैस होने की बात भी हम पहले से जानते हैं, इसी कारण यह हरे रंग का दिखायी देता है।

इसके दो उपग्रहों ओबेरान तथा टिटानिया की खोज भी हर्शेल महोदय ने ही वारुणी को सर्वप्रथम देखने के छह साल बाद सन् 1787 में की थी। दो

और उपग्रह एरियल व अम्ब्रियल सन् 1851 में बिलियम लसेल द्वारा खोजे गये। और पाँचवाँ जिसे मिशंडा नाम दिया गया है पहले-पहल जेराड कूपर द्वारा सन् 1948 में देखा गया। इसके अलावा पृथ्वी स्थित वेधशालाओं से युरेनससम्बन्धी एक आश्चर्यजनक खोज रही शनि ग्रह की भाँति इसके इर्द-गिर्द भी वलयों के अस्तित्व की जानकारी जो सन् 1977 में मिली। पर, वारुणी के वलय शनि के छल्लों जितने मोटे, चमकदार और शानदार नहीं हैं।

इस रहस्यमय ग्रह के बारे में वाँयजर-2 के इसके पास तक पहुँचने से पहले बस इसी तरह की मोटी-मोटी जानकारी हमें उपलब्ध थी। और, कुछ अन्य महत्वपूर्ण प्रश्न अनुत्तरित ही थे यथा युरेनस वास्तव में किम चीज का बना है? इसकी संरचना कैसी है? कौन सा तत्व तथा पदार्थ इस ग्रह पर मुख्य रूप से विद्यमान है? यहाँ पर जल है या नहीं? यदि हाँ, तो यह किस अवस्था में है? इसके उपग्रहों की संरचना कैसी है? इन पर वायुमण्डल है तो कैसा? इसके वलयों का निर्माण किन-किन वस्तुओं से मिल कर हुआ है? वारुणी अपनी धुरी पर इतना अधिक झुका हुआ क्यों है? आदि, आदि।

अपनी अनुसन्धान-यात्रा के दौरान वाँयजर-2 अन्तरिक्षयान द्वारा भेजे गये चित्रों तथा आँकड़ों से वैज्ञानिकों को इनमें से अनेक प्रश्नों के उत्तर मिल जाने की आशा है। इस सारी सामग्री का अध्ययन करके सही निष्कर्ष निकालने में यद्यपि अभी काफी समय लगेगा पर इनसे जो मोटी-मोटी नयी जानकारी तुरन्त प्राप्त हो सकी है इनमें से कुछ इस प्रकार हैं—युरेनस ग्रह के कम से कम पन्द्रह चन्द्रमाँ तथा छोटे बड़े कुल मिला कर ग्यारह वलय हैं। यह जानकारी वाँयजर-2 द्वारा सम्प्रेषित संकेतों के आरम्भिक अध्ययन से मिली हैं; ये संकेत प्रकाश की गति से दौड़ते हुए हमारी पृथ्वी तक पहुँचे थे तब भी इन्हें हम तक पहुँचने में लगभग दो घंटे पैंतालीस मिनट का समय लगा।

युरेनस की परिक्रमा में रत इसके एक नये छोटे चन्द्रमा की जानकारी वाँयजर-2 ने अपने टेलिविजन कैमरे की आँख से देखते हुए दिसम्बर 1985 में हमें दी थी। केवल लगभग 56 किमी० व्यास वाला यह उपग्रह वारुणी के वायुमण्डल के ऊपर लगभग 60000 किमी० की दूरी से परिक्रमा कर रहा है। वैज्ञानिकों का विचार है कि यह युरेनस का सबसे नजदीकी तथा शायद सबसे छोटा उपग्रह है। इसे 1985 UI के नाम से तबतक पुकारा जायेगा जबतक खगोलविज्ञानियों का अन्तर्राष्ट्रीय संघ औपचारिक रूप से इसका नामकरण संस्कार नहीं करता। साथ ही, वाँयजर-2 ने वारुणी के दो अन्य ऐसे उपग्रहों की खोज की है जिन्हें हमारे वैज्ञानिक 'गडरिये चन्द्रमा' बताते हैं कारण, इनका विश्वास है कि इन दो उपग्रहों की गुरुत्वाकर्षण शक्ति युरेनस के सभी ज्ञात वलयों को इनके सुव्यवस्थित, सँकरे आकार में बाँधे हुए है। इन दोनों ही चन्द्रमाओं का अभी तक कोई नाम नहीं रखा गया है।

वाँयजर यान द्वारा सम्प्रेषित जानकारी के अध्ययन से पता लगता है कि युरेनस के चन्द्रमाओं पर भी हमारे अपने तथा सौरमण्डल के दूसरे उपग्रहों की भाँति आकाशीय-पिण्डों की टक्कर से बने विशाल-काय गड्ढे आदि विद्यमान हैं। नये खोजे गये उपग्रहों में से छह तो कोयले की तरह एकदम काले हैं। ऐसा क्यों है? इस बात का पता तो अभी तक हमें नहीं है पर वैज्ञानिकों का यह विचार अवश्य है कि युरेनस के ये उपग्रह तथा वलय एक ही पदार्थ के बने हो सकते हैं; यदि यह बात सच निकलती है तो इससे इस सिद्धान्त को समर्थन मिलेगा कि वलय तथा ये उपग्रह भूतकाल में किसी आकाशीय दुर्घटना के फल-स्वरूप बिखरे एक ही मलबे से बने थे। यह मलबा कैसे और किससे बिखरा होगा, इस बारे में एक परिकल्पना यह है कि भूतकाल में कभी बहुत पहले कोई एक आकाशीय पिण्ड आकर युरेनस के उस वक्त के काफी बड़े चन्द्रमा से टकरा गया होगा जिससे यह पूरी तरह टूट-फूट गया और इसी बिखरे पदार्थ से इन

वलयों का निर्माण हुआ और ये छोटे उपग्रह अस्तित्व में आये।

वाँयजर-2 ने सबसे बाद के ग्यारहवें वलय की खोज पिछली जनवरी में की थी। यह वलय इससे पहले खोजे गये दस वलयों के बीच में ग्रह से 11,200 किमी० ऊपर स्थित है जो लगभग 3000 किलोमीटर चौड़ा है।

इस अभियान के दौरान यह भी पता लगा है कि युरेनस ग्रह के पास हमारी पृथ्वी, बृहस्पति तथा शनि ग्रहों की भाँति किन्तु शुक्र के विपरीत अपना चुम्बकीय क्षेत्र है। वाँयजर-2 ने इस ग्रह से उत्सर्जित रेडियो-तरंगों का पहली बार पता लगाया है जो इस अभियान से सम्बन्धित अनुसन्धानकर्त्ताओं के अनुसार, युरेनस का अपना चुम्बकीय क्षेत्र होने का स्पष्ट संकेत है। इस महत्वपूर्ण खोज से वैज्ञानिकों को वारुणी के एक दिन की लम्बाई पता करने में काफी मदद मिलेगी। बैसे आरम्भिक अध्ययनों से पता लगता है कि, पिछली धारणाओं के विपरीत, युरेनस का एक दिन सत्रह घंटे का है। और इस खोज से यह भी जाना जा सकता है कि यह ग्रह अपने इर्द-गिर्द कितनी तेजी से घूम रहा है। वाँयजर अभियान दलों में से एक के नेता श्री ब्राड स्मिथ के कथनानुसार वारुणी के चुम्बकीय क्षेत्र के अध्ययन से वैज्ञानिक इस ग्रह के मोटे वायुमण्डल के नीचे छिपे आन्तरिक रहस्यों के बारे में निश्चय ही और अधिक जान सकेंगे।

वाँयजर-2 ने युरेनस पर बादलों तथा तेज हवाएँ चलने की जानकारी भी हमें दी है। इन बादलों को अन्तरिक्षयान ने भिन्न-भिन्न गतियों से इधर-उधर घूमते हुए देखा जो वारुणी पर तेज हवाएँ चलने की स्पष्ट जानकारी है। युरेनस की मौसम-व्यवस्था के बारे में भी इस बार हमें कुछ पता लगा है यथा वहाँ की मौसम-व्यवस्था ठीक उसी तरह से बादलों की पट्टियों के रूप में बँटी हुई है जिस तरह इससे पहले के दो ग्रहों, बृहस्पति और शनि पर है। तथा इस बार वहाँ मुख्यतः चार प्रकार के बादल देखे गये। साथ ही, वाँयजर ने वहाँ के वायुमण्डल में हीलियम गैस की

केवल लगभग 10-15 प्रतिशत मात्रा ही नोट की है जबकि इससे पहले वैज्ञानिक वहाँ कम से कम चालीस प्रतिशत हीलियम गैस विद्यमान होने की सम्भावना व्यक्त करते रहे हैं।

इस ग्रह के अपनी धुरी पर इतना अधिक झुके होने के पीछे भी किसी ब्रह्मांडीय पिण्ड के युरेनस से टकराव का ही फल प्रतीत होता है। वैज्ञानिकों का सन्देह है कि लाखों वर्ष पूर्व शायद हमारी पृथ्वी जितने आकार का कोई एक बड़ा आकाशीय पिंड घड़ाके से आकर ग्रह पर गिरा होगा जिसके अचानक झटके को सम्हाल न पाने के कारण यह लगभग डीवाडोल हो गया और इसी का परिणाम है यह असामान्य झुकाव। इस झुकाव का ही फल है कि ग्रह के दोनों ध्रुव बारी-बारी से 42 वर्षों की लम्बी अवधि तक लगातार सूर्य का सामना करते हैं। स्वाभाविक है कि हर कोई यह आशा करेगा कि सूर्य का सामना करने वाला ध्रुव न केवल दूसरे ध्रुव के मुकाबले बल्कि भूमध्यरेखीय प्रदेश की अपेक्षा भी अधिक गरम होगा। किन्तु आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि

वॉयजर-2 ने युरेनस पर ऐसा नहीं पाया। वहाँ के भूमध्यरेखीय तथा सूर्य के सामने वाले ध्रुवीय प्रदेश के तापमान में वस्तुतः कोई अन्तर नहीं था। न सिर्फ यह, बल्कि वॉयजर-2 यान ने सूर्य के सामने पड़ने वाले ध्रुव की तुलना में अन्धकारमय ध्रुव का तापमान अधिक पाया। है न आश्चर्य की बात!

वॉयजर-2 यान तो अपना यह कार्य भी सफलतापूर्वक पूरा करके अब तक बहुत आगे बढ़ चुका है— और अब इसका अगला लक्ष्य है अगस्त 1989 में बहण अर्थात् नेपच्यून ग्रह। इसके द्वारा उपलब्ध वैज्ञानिक जानकारी, चित्रों, आँकड़ों का एक अच्छा खासा भण्डार हमारे वैज्ञानिकों के पास जमा हो गया है तथा हर विषय के विशेषज्ञ सूक्ष्मता से इनके अध्ययन के श्रमसाध्य कार्य में जुट चुके हैं। परिणाम-स्वरूप, युरेनस से सम्बन्धित ऐसी कितनी ही आश्चर्यजनक जानकारी आने वाले वर्षों में हमारे सामने उद्घाटित होगी इसका आज सहज अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। □

वनो की गुणवत्ता बचाइये

सतीश कुमार शर्मा

वन प्रसार अधिकारी, वन चेतना केन्द्र, वन मण्डल (उत्तर), उदयपुर (राजस्थान) - 313001

राष्ट्रीय वन नीति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भारत में कुल भौगोलिक क्षेत्र का एक तिहाई भाग वनों से ढका रहना चाहिये। परन्तु वर्तमान में वन क्षेत्र लगभग 22% ही है। इसका यह अर्थ हुआ कि अभी भी हम मात्रात्मक रूप से (Quantitatively) लक्ष्य से लगभग 11% दूर हैं।

गत कुछ वर्षों से मात्रात्मक लक्ष्य प्राप्ति के लिये भारत में तेजी से प्रयास किये जा रहे हैं। 'सामाजिक वानिकी' जो वानिकी का एक नवीन आयाम है, देश के कोने-कोने में मात्रात्मक लक्ष्य प्राप्ति हेतु तेजी से लोकप्रिय होता जा रहा है। सामाजिक वानिकी के

अन्तर्गत गैर वन क्षेत्रों में वृक्षारोपण कार्य किया जा रहा है। तेजी से बढ़ने वाली बहुउद्देशीय विदेशी जातियाँ (Exotics) जैसे कई तरह के यूकेलिप्टस, सुबबूल, बेटल प्रजातियाँ, उष्णकटिबन्धीय पाइन आदि वृक्षारोपण हेतु प्रयोग में लायी जा रही हैं। यही नहीं, घटिया एवं बीमार प्राकृतिक वन जो अपर्याप्त सुरक्षा एवं कुप्रबन्ध से निम्न कोटि के हो गये थे, उनमें भी वृक्षारोपण के जरिये सुधार के प्रयास किये जा रहे हैं। घने वनों को और उपजाऊ बनाने के लिये आधुनिक वन प्रबन्ध की तरफ ध्यान दिया जा रहा है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हम लगातार मात्रात्मक लक्ष्य प्राप्ति की तरफ बढ़ रहे हैं परन्तु एक दूसरे महत्वपूर्ण पहलू के प्रति हम अभी भी सावधान नहीं हुये हैं और वह है वनों की गुणवत्ता। गुणवत्ता (Quality) की दृष्टि से भारत के वन सम्पन्न हैं परन्तु पिछले कुछ समय से हम लगातार पीछे जा रहे हैं। हम कितने सौभाग्यशाली हैं कि हमारे देश की धरती पर वनों के 16 मुख्य वर्ग और तीन दर्जन से भी ज्यादा वन किस्में एवं बहुत सारी उप-किस्में पाई जाती हैं, जिनमें 350 किस्मों के स्तनधारी, 2100 किस्मों के पक्षी, 30,000 किस्मों के कीट-पतंगे व किस्म-किस्म के उभयचर एवं सरीसृप पाये जाते हैं। यह कितनी सुखद बात है कि भारत में पाये जाने वाले पौधों की 61.5% जातियाँ सिर्फ भारत की ही धरती पर उगती हैं, और कहीं नहीं। इन जातियों को एन्डेमिक (Endemic) जातियाँ कहा जाता है। ये 134 जेनेरा की 7000 जातियाँ हमारी राष्ट्रीय धरोहर हैं, जिनकी इनके प्राकृतिक आवास में ही सुरक्षा आवश्यक है।

पिछले कुछ वर्षों से कृषि विस्तार, अतिक्रमण, यातायात विकास, नदी-घाटी योजना, औद्योगिकीकरण, शहरीकरण आदि कारणों से लगातार वन क्षेत्र सिकुड़ते जा रहे हैं। यही नहीं, चुन-चुन कर अति-दोहन, पारिस्थितिकी तन्त्र में रासायनिक खाद, कीटनाशी व अन्य विषैले प्रदूषणकारी पदार्थों के फेंके जाने, पारिस्थितिकी तन्त्र में अन्य हस्तक्षेपों की वजह से कई प्रजातियों की संख्या में खतरनाक ढंग से गिरावट आई है। मोटे तौर पर देखने से जंगल वैसा ही नज़र आता है परन्तु बारीकी से अध्ययन करने पर पता चलता है विभिन्न वनों में कुछ खास प्रजातियाँ धीरे-धीरे विलुप्त हो रही हैं। निस्सन्देह ऐसे मामलों में वन क्षेत्र पूर्ववत् ही रहता है (मात्रात्मक स्थायित्व), परन्तु गुणवत्ता गिरने लगती है। यह गुणवत्ता अस्थिरता, मात्रात्मक अस्थायित्व से भी खतरनाक है।

वनों की गिरती हुई गुणवत्ता सिर्फ भारत में ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व में चिन्ता का विषय बनता

जा रहा है। हमारी पृथ्वी पर पुष्पीपौधों (Angiosperms) की कोई तीन लाख जातियाँ पहचानी जा चुकी है जिनमें 10% यानी 20,000 से 30,000 जातियाँ इस समय विलुप्तिकरण के खतरे से घिरी हुई हैं। अगर विभिन्न देशों की जनता और सरकारों ने इन्हें बचाने के लिये प्रयास नहीं किये तो इस सदी के अन्त तक उनमें से बहुत सारी जातियाँ समाप्त हो चुकी होंगी।

पौधों के विलुप्त होने के साथ प्राणियों का विलुप्त होना एवं प्राणियों के विलुप्त होने के साथ पौधों का विलुप्तिकरण और इन्हीं के साथ मनुष्य जाति का विलुप्तिकरण भी जुड़ा हुआ है। इस विलुप्तिकरण को रोकने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था—आई० यू० सी० एन० (IUCN—International Union for Conservation of Nature and Natural Resource) का उदय हुआ। इसकी एक शाखा 'सर्व-वाइवल कमीशन' (Survival Commission) कहलाती है जिसमें अलग-अलग प्रकार के पौधों व प्राणियों के विशेषज्ञ शामिल होते हैं। इस कमीशन के अलग-अलग दल भिन्न-भिन्न प्रकार के पौधे व प्राणियों पर विभिन्न देशों में अध्ययन कर रहे हैं तथा खतरे में जी रहे पौधे एवं प्राणियों की सूचियाँ तैयार करने में मदद करते हैं। इन अभाग्य पौधे व प्राणियों की सूचियाँ 'रेड डेटा बुक' (Red Data Book) कहलाती हैं।

'सर्ववाइवल कमीशन' की 'थ्रेटेन्ड प्लान्ट कमीटी' (Threatened Plant Committee) अनुसार भारत में पौधों की कुल 134 जातियाँ इस समय खतरे से घिर चुकी हैं। हिमालय एवं पूर्वी भारत से 99 जातियाँ (जिनमें 29 जातियाँ तो केवल ऑर्किडों की ही हैं।), राजस्थान एवं गुजरात से 4, गंगा के मैदानी क्षेत्र से एक, दक्षिणी क्षेत्र से 19 तथा विभिन्न छोटे-छोटे द्वीपों से 11 जातियाँ खतरे में हैं।

कीड़े खाने वाले पौधे घटपर्णी या नेपेन्थीज़, ड्रोसेरा, कुछ फर्न, ऑर्किड, गुगल या कोम्मीफेरा; नीटम,

चन्दन, लाल चन्दन आदि-आदि कुछ उदाहरण हैं जो अंतिम अलविदा की स्थिति में पहुँच चुके हैं।

जैसा कि आँकड़ों से स्पष्ट है, हिमालय क्षेत्र में सर्वाधिक 99 जातियाँ ख़तरे में हैं। हमें हिमालय क्षेत्र में 'चिपको आन्दोलन, जैसे प्रयास की आवश्यकता है वरना यह सूची और भी लम्बी हो जायेगी।

कोई भी जागरूक व्यक्ति यह पूछना चाहेगा, आखिर जातियाँ कम हो जायेंगी तो क्या होगा, वन क्षेत्र तो उतना ही है। इसका उत्तर पूर्णतया पारिस्थितिकी विज्ञान में छिपा हुआ है। वनस्पति जातियाँ कम होने से आवास विविधता (Habitat Diversity) कम होने लगती है जिससे कुछ प्राणियों की आवश्यकतायें ठीक से पूरी नहीं हो पाती या आवश्यकता आपूर्ति बिलकुल ही नहीं हो पाती। ऐसी स्थिति में कुछ प्राणी जातियाँ या तो पूर्णतया समाप्त हो जाती हैं या उनकी संख्या तेज़ी से घटने लगती है।

वन विभिन्न वनस्पतियों का मिश्रण होता है। जातियाँ धीरे-धीरे कम होने पर मिश्रण के घटक भी कम होने लगते हैं। अगर मिश्रण के घटक कम होते होते मात्र एक या दो रह जाते हैं तो वन, मिश्रण से एकघटकी (Monoculture) रूप में बदल जाता है। ऐसे नये आवास जिनमें वन मात्र एक या कुछ ही वनस्पति जातियों से बना हो, वन्य प्राणियों के रहने लायक नहीं होता। आवास विविधता की कमी से ऐसे वनों में महत्वपूर्ण 'निच' (Niche) या 'निलय' नहीं बन पाते फलतः प्राणी ऐसे वनों में नहीं रहते। यह मानव निर्मित वनों में देखा जा सकता है जो प्रायः प्राणीविहीन होते हैं।

लुप्त होती वनस्पतियों को न केवल आवास विविधता व प्राणी विविधता बनाये रखने के लिये ही

बचाना जरूरी है बल्कि वे अमूल्य आनुवंशिकी पदार्थों के स्रोत भी साबित हो सकते हैं जिनका भविष्य में क्या उपयोग हो सकता है, कोई नहीं जानता।

विभिन्न प्रकार की वनस्पतियों एवं प्राणियों को पूर्णतया सुरक्षित रखने के लिये यूनेस्को के एम० ए० बी० (M A B —Man and Biosphere) कार्यक्रम के तहत जगह-जगह 'बायोस्फीयर रिजर्व' बनाये जा रहे हैं। बायोस्फीयर रिजर्व में प्रकृति जैसी भी है, जिस रूप में है, जहाँ भी है, ठीक ज्यों की त्यों सुरक्षित की जा रही है। ऐसे रिजर्वों या संरक्षित क्षेत्रों में किसी भी प्रकार के, किसी भी स्तर के, मानवीय हस्त-क्षेप की स्वीकृति नहीं है ताकि जटिल पारिस्थितिकी संबंध, जिन्हें हम आज भी पूर्णतया नहीं जानते, टूटने से बचे रहते हैं और आनुवंशिकी पुंज (Gene-pool) ज्यों का त्यों सुरक्षित रहता है।

भारत में ऐसे रिजर्व हिमालय, नीलगिरि, राजस्थान के रेगिस्तान, पश्चिमी घाट आदि प्रारूपिक आवासों में बनाये जा रहे हैं ताकि इन क्षेत्रों की प्रतिनिधि वनस्पतियाँ एवं प्राणी जातियाँ आने वाली पीढ़ियों के लिये सुरक्षित रहें।

भारत के हर नागरिक का कर्तव्य है कि ख़तरे में धिर चुकी जातियों को बचाने के प्रयासों में योगदान करे। यही नहीं, अन्य जातियों का उपयोग भी विवेकपूर्ण एवं वैज्ञानिक ढँग से करना चाहिये ताकि वे विलुप्तिकरण के ख़तरे की तरफ नहीं बढ़ें। अगर हमने विलुप्तिकरण को रोकने के प्रयास नहीं किये तो हमारे वनों की गुणवत्ता गिरती चली जायेगी एवं सामाजिक वानिकी से जो मात्रात्मक लक्ष्य हम प्राप्त करने जा रहे हैं वह अर्थहीन हो जायेगी। □

इन्टीग्रेटेड ऑप्टिक्स

डॉ० सदगुरु प्रसाद

प्रायोगिक भौतिकी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

आज सूक्ष्मीकरण के युग में हम सभी माइक्रो-इलेक्ट्रॉनिक्स और इन्टीग्रेटेड सर्किट्स से भलीभाँति परिचित हैं। सूक्ष्मीकरण की दिशा में इन्टीग्रेटेड ऑप्टिक्स भी एक नया कदम है। इन्टीग्रेटेड ऑप्टिक्स के आविष्कारक हैं अमेरिकी वैज्ञानिक मिलर, जिन्होंने सन् 1969 में सूक्ष्म झिल्लियों (Thin films) में प्रकाश के गमन का एक सिद्धान्त दिया। ऑप्टिकल वेव-गाइड (Optical wave guide) में प्रकाश की किरणें उसी प्रकार गुजरती हैं जैसे कि इलेक्ट्रॉन बिजली के तारों में। 1970 से ही इस क्षेत्र में काफी विकास हुआ है और आज इस सिद्धान्त पर आधारित कितने ही समाकलित प्रकाशकीय उपकरण (Integrated Optical Devices), इलेक्ट्रॉनिक डिवाइसेज का कार्य करने में सक्षम हैं। ऑप्टिकल लाजिक गेट, एनालॉग-डिजिटल परिवर्तक, स्विचिंग उपकरण, अधिमिश्रक (Modulator), वर्णक्रम विश्लेषक (Spectrum Analyser) आदि कितने ही उपकरणों का विकास हो चुका है।

जब प्रकाश की किरणें एक सघन माध्यम से विरल माध्यम पर क्रान्तिक कोण या उससे अधिक झुकाव पर आपतित होती हैं, तो उनका पूर्ण आन्तरिक परावर्तन हो जाता है। इसप्रकार यदि हम एक सघन माध्यम की झिल्ली की कल्पना करें, जो दो अपेक्षाकृत विरल माध्यमों के बीच स्थित हो, तो इस झिल्ली में विशेष कोण पर आपतित किरणें, अनेक पूर्ण परावर्तन के साथ आगे बढ़ती जायेंगी। इस क्रिया में न तो ऊर्जा का ह्रास होगा और न ही प्रकाशपुंज झिल्ली को भेद कर बाहर आयेगा। इस प्रकार के माध्यम को हम 'प्लेनर ऑप्टिकल वेव गाइड' कहते हैं।

इस प्रकार की तरंग-संदर्शिका (wave guide) बहुक्रिस्टलीय अथवा एकक्रिस्टलीय हो सकती है। सर्वप्रथम एक कम वर्तनांक वाले अधःस्तर (Substrate) का चुनाव किया जाता है। पुनः इसके ऊपर अधिक वर्तनांक वाले एक विशेष पदार्थ की झिल्ली (film) जमाई जाती है। झिल्ली की मोटाई 10^{-4} से 0.1 से अधिक नहीं होती। दूसरी ओर का विरल माध्यम वायु भी हो सकती है, अथवा किसी अन्य पदार्थ की सतह जमा देते हैं। फिल्म जमाने के लिए स्पटरिंग (Sputtering), आयन बम्बार्डमेन्ट अथवा किसी अन्य निर्वात विधि का उपयोग कर सकते हैं। इस प्रकार के निक्षेपण (deposition) से ZnO , ZnS , अथवा Ta_2O_5 आदि की बहुक्रिस्टलीय फिल्म प्राप्त करते हैं। प्रतिस्थापन (Substitution) विधि में अधःस्तर को विशेष पदार्थों के माध्यम में उच्च ताप पर गर्म करते हैं। इस क्रिया से विशेष पदार्थों (Ag, Cd आदि) के अणु, अधःस्तर के अणुओं को विस्थापित करके स्वतः प्रतिस्थापित हो जाते हैं। इस प्रकार की प्रतिस्थापित सतह का वर्तनांक, मूल अधःस्तर से अधिक हो जाता है और उसमें तरंग-संदर्शिका के गुण आ जाते हैं।

बहुक्रिस्टलीय फिल्म के गुण उच्च कोटि के नहीं होते। एकक्रिस्टलीय फिल्म अपेक्षाकृत अधिक उपयोगी होती है। इसके लिये $GaAs$ अथवा $LiNbO_3$ सर्वोत्तम होते हैं। $Ga_{1-x}Al_xAs$ में एल्युमिनियम की सान्द्रता बदल कर, विभिन्न वर्तनांक की परतें एक दूसरे के ऊपर सुगमता से जमाई (Epitaxial growth) जा सकती हैं। कम Al-सान्द्रता वाले $GaAs$ की सतह अधिक Ae -सान्द्रता वाले अधःस्तर पर जमाने से तरंग-संदर्शिका के गुण प्राप्त हो जाते हैं।

जुलाई 1986 ०

इस क्रिया को बार-बार दुहराया जा सकता है, जिससे मोनोलिथिक इन्टीग्रेटेड ऑप्टिकल डिवाइसेज (Monolithic Integrated Optical Devices) की संरचना की जाती है। संकर विधि की अपेक्षा यह विधि सुगम है।

संकर विधि में कई अवयवों को अलग-अलग बना कर जोड़ना पड़ता है। LiNbO_3 से प्राप्त फिल्म इसी प्रकार की होती है। LiNbO_3 को टाइटेनियम (Ti) अणुओं के माध्यम में उच्च ताप पर गर्म करते हैं। इस प्रकार की फिल्म में इलेक्ट्रो-ऑप्टिकल एवं एकाउस्टिकोऑप्टिकल (Acousticoptical) गुण पाये जाते हैं, जिसका वर्णन हम आगे करेंगे।

फिल्म संदर्शिका प्राप्त हो जाने के बाद उसे स्रोत अथवा निवेश (Input) से जोड़ना होता है। इसी प्रकार फिल्म संदर्शिका के दूसरे सिरे को निर्गत (Output) अथवा संसूचक आदि से जोड़ना होता है। इसके लिये कपलर (coupler) का प्रयोग किया जाता है। प्रिज़म-कपलर में प्रकाशपुंज को तरंग-संदर्शिका के सिरे पर स्थित सूक्ष्म प्रिज़म से मोड़कर संदर्शिका के अन्दर प्रविष्ट करते हैं अथवा बाहर लेते हैं। ग्रेटिंग-कपलर में संदर्शिका की एक सतह पर समान्तर खाँचा बनाया जाता है, जोकि ग्रेटिंग का काम करता है। ग्रेटिंग की सतह पर पड़ने वाला प्रकाश विभिन्न क्रमों में विभाजित हो जाता है। इस प्रकार यदि प्रकाशपुंज ग्रेटिंग की सतह पर एक विशेष क्रम (order) की दिशा में आपतित हो तो वह संदर्शिका में प्रविष्ट हो जाता है। कपलर के अतिरिक्त प्रकाशपुंज को फोकस करने के लिए, परावर्तित अथवा विभाजित करने के लिये भी अन्य निष्क्रिय अवयवों (passive components) की आवश्यकता

होती है। ये सब अवयव, तरंग संदर्शिका में ही विशेष विधियों से बना लिये जाते हैं।

इसके अतिरिक्त विशेष कार्यों के लिये कुछ सक्रिय अवयवों (active components) की भी आवश्यकता होती है। इसके लिये LiNbO_3 के इलेक्ट्रो-ऑप्टिकल अथवा एकाउस्टिकोऑप्टिकल गुण का उपयोग करते हैं। NiO_3 पर विद्युत्-क्षेत्र के प्रभाव से उसका वर्तनांक बदल जाता है जिसे पॉकेल का प्रभाव (Pockel-effect) कहते हैं। इस प्रकार विद्युत्-क्षेत्र के प्रयोग से अल्पकालीन तरंग-संदर्शिका प्राप्त की जा सकती है, या संदर्शिका के गुण को नष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार वर्तनांक में परिवर्तन का गुण, यान्त्रिक दबाव के कारण भी देखा गया है। ध्वनि की तरंगों, फिल्म की सतह का वर्तनांक बदल देती हैं। यह परिवर्तन क्रमानुसार (periodic) होता है, जिससे फिल्म में ग्रेटिंग के गुण आ जाते हैं और वह प्रकाश-पुंज का विवर्तन (diffraction) कर देती हैं। इन गुणों का उपयोग करके संसूचक (detector) या अधिमिश्रक (modulator) आदि बनाये गये हैं।

इन्टीग्रेटेड ऑप्टिकल उपकरणों में आर० एफ० वर्णक्रम विश्लेषक (R. F. Spectrum Analyser) सर्वाधिक चर्चित है। इसका उपयोग दुश्मन के जहाजों की तत्कालिक जाँच के लिये किया जाता है। ऑप्टिकल वर्णक्रम विश्लेषक, इलेक्ट्रॉनिक विश्लेषक की अपेक्षा अधिक द्रुत गति से काम करते हैं और वायु-यान में स्थित कम्प्यूटर को तुरंत कार्य के लिये आगाह कर देते हैं। इसके अतिरिक्त इनका उपयोग प्रकाश के तंतु संचारण (fibre-optic communication) में भी हो रहा है। इस प्रकार के अन्य उपकरण अपनी प्रायोगिक अवस्था में हैं, जिनका कि व्यवसायिक उपयोग शीघ्र ही अपेक्षित है। □

नागफनियों का सबसे बड़ा संग्रह

मध्य एशिया में नागफनियों का सबसे बड़ा संग्रह तुर्कमनिस्तान की राजधानी अश्काबाद के वनस्पति उद्यान में है। यहाँ अनेक दुर्लभ नागफनियाँ हैं। मिसाल के लिए, ओपंशिया नामक नागफनी की, जो सबसे प्राचीन नागफनी जाति है, यहाँ 450 किस्में हैं।

ग्राम विकास के तकनीकी कार्यक्रम

रामपाल

रूरल क्राफ्ट एण्ड टेक्नॉलॉजी सेन्टर, शंकरगढ़, इलाहाबाद-212108

देश की 80% जनता गांवों में रहती है अतएव देश का विकास तब तक सम्भव नहीं है जब तक गांवों का पूर्ण विकास न किया जाय। वर्तमान समय में 'विज्ञान और प्रौद्योगिकी' के प्रयोग के अभाव में विकास की समुचित गति के बारे में सोचना भी कठिन है। इसलिए ग्राम विकास कार्यक्रमों में तेजी लाने के उद्देश्य से शासन द्वारा भी उपयुक्त ग्रामीण प्रौद्योगिकी के विकास एवं प्रसार पर विशेष बल दिया जा रहा है। अभी तक ग्रामीण तकनीक के विकास और उनके ग्रामीण क्षेत्रों में प्रसार के बीच काफी अन्तर रहा है जिससे गांवों में नवविकसित तकनीकों के विषय में समुचित जानकारी का अभाव है। इस अन्तराल को कम करने के लिए गांवों में ही उपलब्ध सामग्री एवं शिल्प के प्रयोग से ग्रामीण जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से आई० ई० आर० टी० (इन्स्टीट्यूट ऑफ इंजिनियरिंग एण्ड रूरल टेक्नॉलॉजी), इलाहाबाद ने 'विज्ञान और प्रौद्योगिकी परिषद्', उत्तर प्रदेश के सहयोग से अनेक प्रयास शुरू किये हैं।

मुख्य उद्देश्य

वर्तमान में ग्रामीण क्षेत्रों के उत्पादन को उपयोगी बनाने के लिए उसे शहरी क्षेत्रों में लाना पड़ता है। और उसे पुनः संशोधित करके सामान्य जनता के उपयोग हेतु गाँव पहुँचाया जाता है। संस्था का मुख्य उद्देश्य नव विकसित आधुनिक और अधिक क्षमता वाली ग्रामीण प्रौद्योगिकी के प्रयोग से ग्रामीण उत्पादन में वृद्धि करना एवं उपलब्ध तकनीक एवं शिल्प के प्रयोग से वहीं संशोधित करके ग्रामीणों को उनके उत्पादन का अधिक मूल्य दिलाना है। इससे अनावश्यक श्रम और समय को बचाया जा सकता है तथा ग्रामीण जनता के रोजगार के व आमदनी वृद्धि के

अवसर सुलभ होंगे। इस उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए परिषद् देश/प्रदेश के विभिन्न शोध संस्थानों एवं स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा गांवों में प्रयुक्त की जा रही तकनीकों के आधुनिकीकरण, विकास एवं उनके अधिकाधिक प्रसार में कार्यरत हैं। इन तकनीकों को अपनाने से ग्रामीण जीवन-स्तर को ऊपर उठाना सम्भव हों सकेगा।

संस्था की महत्वपूर्ण गतिविधियाँ

आई० ई० आर० टी०, इलाहाबाद द्वारा कोरांव विकास खण्ड के अन्तर्गत बने, 'ग्रामीण प्रौद्योगिकी व ऊर्जा केन्द्र, पथरताल' के माध्यम से ग्रामीण क्षेत्रों में प्रयुक्त की जा रही पुरानी तकनीकों को आधुनिक बनाने का कार्य सम्पादित किया जा रहा है, जिससे ग्रामीण-उत्पादनों की क्षमता में वृद्धि, अधिक से अधिक रोजगार के अवसर, समय और श्रम की बचत, तथा आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया जाना सम्भव हो सके।

इनमें कुछ महत्वपूर्ण तकनीकों जिन पर कार्य चल रहा है वे हैं—

1. फेरोसीमेंट प्रौद्योगिकी का विकास : फेरोसीमेंट से गाँव में प्रयोग हेतु जाली, डेरी, नाँद, पानी की टंकी तथा अनेक प्रकार की अन्य वस्तुओं का निर्माण हो रहा है तथा ग्रामीणों के लिए प्रशिक्षण का कार्यक्रम है।

2. बालबियरिंगयुक्त चक्की व निर्बल चूल्हों का प्रसार : गाँवों में अभी भी आटा बनाने हेतु हाथ से चलाये जाने वाली पत्थर की चक्की का प्रयोग होता है। अब इसे बालबियरिंगयुक्त बनाकर कम शक्ति से चलाया जा सकता है।

इसी प्रकार महिलाओं द्वारा खाना पकाने के लिए पुराने चूल्हे को लगभग उसी लागत में आधुनिक

बनाया गया है। इसमें एक चिमनी द्वारा धुएँ को ऊपर, निकाल दिया जाता है। जिससे महिलाओं के स्वास्थ्य पर धुएँ से पड़ने वाले बुरे प्रभाव से उन्हें बचाया जा सकता है।

3. पत्ते से दोना बनाने की मशीन : सी० एफ० टी० आर० आई० मैसूर द्वारा विकसित पत्ते से सुन्दर किस्म का और मजबूत दोना बनाने की यह मशीन केवल 3500 रु० में मिलती है। इस मशीन से एक आदमी आठ घंटे में 1500 से 2000 तक दोना बना सकता है और उसकी आमदनी 15 रु० प्रतिदिन हो जाती है। इसे बिना बिजली के भी चलाया जा सकता है।

4. उपयुक्त सूत प्रौद्योगिकी का विकास—संस्था द्वारा एक ऐसे 12 तकुए के चरखे का विकास किया गया है जिससे सूत कातने की उत्पादन क्षमता में द्वागुनी वृद्धि हो गयी है साथ ही इसके द्वारा सूत कातने वाले ग्रामीणों की आय में काफी वृद्धि की सम्भावना है। इसमें सूत बार-बार टूटता नहीं है और महिलाओं और पुरुषों द्वारा प्रयोग में लाए जाने में काफी सुलभ है। इस चरखे का उपयोग शंकरगढ़, करछना, कोरांव, गोहरी (सोरांव) विकास खण्ड के विभिन्न गाँवों में किया जा रहा है। इसकी कीमत 320 रु० प्रति चरखा है।

5. नदियों, तालाबों तथा झीलों हेतु पम्प—सीमान्त एवं लघु कृषकों के लिए आज की स्थिति में डीजल तथा बिजली की उपलब्धता कठिन हो रही है। इन कठिनाइयों को देखते हुए संस्था द्वारा नव विकसित लो हैण्ड पम्प, मीडियम हैण्ड पम्प, इन्शिया पम्प और पेडल पम्प इत्यादि का प्रयोग प्रचलित

तरीकों जैसे—दोगला, चर्खी, डीजल पम्प इत्यादि के स्थान पर प्रयोग किये जाने हेतु प्रयास कराया जा रहा है। इसकी कीमत लगभग 2000 रु० है।

इस ऊर्जा काम्प्लेक्स का मुख्य उद्देश्य एक ही परिसर में ऊर्जा के विभिन्न वैकल्पिक स्रोतों के उपयोग से गाँव की लगभग समस्त ऊर्जा की आवश्यकता को पूर्ण करना एवं नवीन ग्रामीण प्रौद्योगिकी के उपयोग से अतिरिक्त धनोपार्जन द्वारा ग्रामीणों की आर्थिक स्थिति को मजबूत करना है। इससे ग्रामीण जनता में वैज्ञानिक उपलब्धियों की जानकारी के साथ-साथ इन्हें अपनाने का आत्मविश्वास जाग्रत होगा।

इस केन्द्र में बायोगैस प्लांट द्वारा पकाने हेतु ईंधन उपलब्ध कराना, सौर चूल्हे का प्रदर्शन, और ऊर्जा से अनाज सुखाने का यन्त्र, पवनचक्की द्वारा पानी निकालने हेतु उपकरणों का प्रदर्शन किया जाता है।

ग्रामीणों की दैनिक आय बढ़ाने के दृष्टिकोण से उन्नत किस्म के कृषि-उपकरण जैसे—एल्पाई श्रेषर, डिस्क हैरोव्हील हो, सीडड्रिल, प्लांट पुलर, पशु चालित आलू खोदने का यन्त्र, सामान ढोने की उन्नत किस्म की बलवान एवं बुग्गी बैलगाड़ी, तालाबों, नदियों, झीलों, कुओं से पानी निकालने हेतु बूस्टर पम्प, इन्शियापम्प, लो लिफ्ट पम्प, इत्यादि का प्रदर्शन किया जाता है। इसके अलावा रस्सी बनाने की मशीन, एग्रो वेस्ट काम्प्लेक्सनमशीन, वालबियरिंगयुक्त आटा चक्की, दोना बनाने की मशीन, निष्प्रयोज्य कृषि पदार्थों से अधिक ज्वलन क्षमता वाले कोयला बनाने के लिए पायरोलिटिक कनवर्टर, इत्यादि ग्रामीण उपकरणों का प्रदर्शन एवं उत्पादन किया जाता है। □

शैतान का मेवा

ताल-तलैयाओं में सिंघाड़ा उगना आज से कोई 7,00,00,000 वर्ष पहले शुरू हुआ था। क्रिटेशस युग की प्रतिनिधि यह वनस्पति पर्वतीय अल्ताई प्रदेश में भी पायी गयी है। इसका वैज्ञानिक नाम 'ट्रापा पेक्टिनेटा' है, किन्तु अल्ताई प्रदेश के निवासी उसे 'शैतान का मेवा' जल पांगर' आदि नामों से पुकारते हैं। आदमी प्रस्तर युग में भी सिंघाड़े को आहार के तौर पर इस्तेमाल करता था। सोवियत संघ में सिंघाड़े को विरल वनस्पति सूची में शामिल किया गया है।

ये अनोखे पेड़-पौधे

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

5 ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्जटाउन, इलाहाबाद-211002

प्यारे बच्चो !

जब पेड़-पौधों का नाम लिया जाता है तो तुरन्त तुम्हारे मन में हरी-भरी पत्तियों वाले नीम, पीपल, आम के बड़े-बड़े घने वृक्षों या मनमोहक फूलों वाले बेला, गुलाब के छोटे पौधों का चित्र उभर आता है। पर क्या तुम जानते हो कि वृक्षों-पौधों के विशाल जगत् में अनेक ऐसे पौधे भी हैं जो अपने अनोखेपन से, अपनी विचित्र और रोचक आदतों से, हमें बिल्कुल आश्चर्यचकित कर देते हैं। आज की अपनी मुलाकात में मैं तुम लोगों को ऐसे ही कुछ अनोखे पौधों की अजीबोगरीब आदतों के बारे में बताऊँगा।

यह तो तुम सभी ने सुना ही होगा कि बिच्छू नामक प्राणी जब अपने जहरीले डंक मारता है तो उससे बड़ी पीड़ा होती है। लेकिन केवल प्राणी ही नहीं कुछ पौधे भी ऐसे होते हैं जो बिच्छू के समान डंक मारते हैं। इनकी इस डंक मारने की आदत के कारण ही लोग इन्हें 'बिच्छूघास' कहने लगे। हमारे अपने देश में और विदेशों में भी बिच्छू घास की अनेक जातियाँ पाई जाती हैं और अधिकतर पहाड़ों पर होती हैं। यह विचित्र बिच्छू घास एकदम काँटों जैसे रोमों से भरी होती है। भारत में पाई जाने वाली बिच्छू घासों में आर्टिका, जेरारडिआना, लेपोटिया और पोंजोल्लिया प्रमुख हैं। जब त्वचा इस पौधे के कोमल नुकीले काँटों से छू जाती है तो ऐसा लगता है जैसे वहाँ जलता हुआ लोहा रख दिया गया हो। जानते हो ऐसा क्यों होता है? वास्तव में ये रोयें या काँटे बहुत पतली-पतली नलियाँ होती हैं जिनमें फार्मिक एसिड नामक एक विषैला द्रव भरा होता है। अब ये सूई

जैसे नुकीले रोयें जब त्वचा से छू जाते हैं तो इनकी नोक चुभ जाती है और इनके अंदर भरा विषैला द्रव शरीर में चला जाता है। बिल्कुल वैसे ही जैसे डॉक्टर के इंजेक्शन से हमारे शरीर में दवा पहुँचती है। हमें पीड़ा और जलन इस द्रव के जहरीले होने के कारण होती है। यहीं मैं तुम्हें यह भी बता दूँ कि यही एसिड चींटियों में भी पाया जाता है। इसी कारण उनके काटने पर भी हल्की जलन होती है। एक बात और जान लो कि अगर इस बिच्छूघास को जोर से दबाया जाय तो कोई कष्ट नहीं होगा। जलन का कारण बस धीरे से छू जाना है। है न मजेदार बात। इसके स्पर्श की जलन कभी-कभी दो चार घंटे या कभी-कभी दो एक दिन तक बनी रह सकती है। वैसे मलाया में बिच्छूघास की एक अधिक विषैली जाति पाई जाती है जिससे तो कभी-कभी आदमी मौत के मुँह में भी चला जाता है। पर यह इतनी खतरनाक है यह जानकर तुम डरो नहीं। हमारी ममतामयी प्रकृति के पास इसकी दवा भी है। पहाड़ों पर जहाँ यह अधिकांशतः मिलती है, इसकी बगल में ही जंगली पालक (र्यूमेक्स मारिटिमस) नामक एक अन्य पौधा भी उगता है जिसकी पत्तियों का रस लगा देने से इस बिच्छूघास के डंक की जलन भिनटों में रफूचककर हो जाती है।

अब आओ हम उन पौधों की भी जानकारी ले लें जो खाली जलन या दर्द नहीं पैदा करते बल्कि समूचे कीट-पतंगों या छोटे मेंढकों और चूहों को खा-पचा जाते हैं। इन्हें हम मांसाहारी या नॉनवेजिटेरियन पौधे कह सकते हैं। सारे विश्व में 'इनसेक्टीवोरस प्लांट्स' या कीटभक्षी पौधों की लगभग 400 जातियाँ पाई जाती हैं। इनमें कुछ तो खुद ही अपनी

आरीदार किनारोंवाली पत्तियों या घातक रोमों में फँसाकर कीटों का शिकार कर लेते हैं और कुछ के विषैले रस में चिपक कर कीड़े-मकोड़े अपने प्राणों की बलि दे देते हैं। शिकार फँसाने वाले पौधों में सबसे मारक है 'वीनस फ्लाई ट्रैप' (डाओनिया म्युसीपुला) अर्थात् मक्खियों को फँसाने वाला फंदा। इनकी खूब-सूरत पत्तियों के किनारे आरी जैसे नुकीले दाँतों वाले होते हैं। जैसे चारों ओर झालर लगी हो। पर जैसे ही कोई कीड़ा उन पर बैठा वैसे ही पत्तियों के दोनों किनारे आपस में फँस कर खूब कसकर बन्द हो जाते हैं। बिल्कुल वैसे ही जैसे तुम अपने दोनों हाथों की अँगुलियों को आपस में फँसा लेते हो। बस फिर इस जेल का दरवाजा पूरे दस दिन बाद खुलता है। तब तक कीड़े के शरीर का सारा पोषक तत्व पौधा पचा चुका होता है और निर्जीव शरीर को बाहर फेंक देता है।

ऐसा ही एक दूसरा पौधा है पानी में रहनेवाला 'ब्लैडरवर्ट' (यूट्रोकुलैरिया)। इसके खूबसूरत नन्हें पीले फूल पानी की सतह पर तैरते रहते हैं। पर घातक हैं इन पौधों की बहुत छोटी-छोटी थैलियाँ। इन्हीं थैलियों से 'ब्लैडरवर्ट' नाम मिला है। जैसे ही कोई कीड़ा इनके किनारे पर आता है तो नाशपाती जैसे आकार-वाली इन सूक्ष्म थैलियों का मुख खुल जाता है और कीड़ा भीतर पहुँच जाता है। नन्हें-नन्हें मछलियों और मेढकों के खूब छोटे-छोटे बेंगुची को भी ये पकड़ लेती हैं। ये पौधे तो इस हद तक चालाक होते हैं कि यदि कोई बड़ा शिकार फँस गया तो उसे धीरे-धीरे किस्तों में भीतर घसीटते हैं। इनकी रचना भी ऐसी होती है कि बेचारे कीड़े कितनी ही ताकत लगा लें, एक बार अंदर आने और फँसने के बाद इन थैलियों का मुँह खोलकर किसी प्रकार बाहर नहीं निकल सकते। इन थैलियों में कोई विषैला द्रव नहीं होता पर इनके अंदर कुछ ऐसे जीवाणु (बैक्टीरिया) होते हैं जो धीरे-धीरे शिकार का सफाया कर डालते हैं।

अपने रूप-रंग से अत्यंत मनमोहक पर उतना ही

खतरनाक एक अन्य मांसाहारी पौध है ड्रांसैरा। इनमें होती हैं बड़े चम्मच जैसे आकारवाली और उतनी ही बड़ी-बड़ी रंगीन जादूभरी पत्तियाँ जो सूरज की रोशनी में तो लाल हो जाती हैं और छाया में हरी। इन पत्तियों के गोल किनारों पर छोटी-छोटी लाल बिंदी जैसी ग्रंथियाँ होती हैं। इनसे निकलते चिपचिपे रस की बूंद सूरज की रोशनी में ऐसे चमकती है जैसे ओस की बूंद। बस इसी विशेषता ने इन्हें एक नया नाम दे दिया है 'सन-ड्यू' या 'सूरज की ओस'। इस रस के लोभ में जब कोई कीड़ा इन पत्तियों पर आकर बैठता है तो पहले वह उसी में चिपक जाता है और फिर चारों ओर से लाल घुंडीवाले मजबूत पिन सरीखे स्पर्शकों या बड़े-बड़े रोमों द्वारा घेर कर कैद कर लिया जाता है। कीट-पतंगों के लिये ये कितने भयानक हो सकते हैं इसका अंदाज़ तुम्हें इंग्लैण्ड में हुई एक घटना से लग सकता है। वहाँ नारफॉक इलाके में समुद्र के निकट लगभग एक हेक्टेयर क्षेत्र में लाखों तितलियाँ मरी पाई गईं। पता लगा कि वहाँ ड्रांसैरा या 'सन-ड्यू' पौधों की भरमार थी। हर पौधे से पाँच-सात तितलियाँ चिपकी हुई थीं। क्या तुम सोच सकते हो कि इस तरह मरी हुई तितलियों की संख्या एक-दो या पाँच-सात लाख नहीं बल्कि पूरे साठ लाख थी! मानो उनकी दुनिया में भी कोई हिरो-शिमा-नागासाकी जैसा अणुबम काण्ड हुआ हो।

मांसाहारी पौधों की जाति का एक पौधा 'पिचरप्लांट' तो यूँ समझो कि हर समय अपना खाने का डोंगा सजाये रहता है। उत्तरी अमेरिका के निवासी इन पौधों की पूरी पत्ती ही डोंगे जैसे आकार-वाली होती है और इसके ऊपर लगा होता है साँप के फन जैसा एक ढक्कन। कीड़े के बैठते ही ये ढक्कन बंद होकर शिकार को बेबस कर देते हैं। इन डोंगों में छोटे-छोटे मेढकों तक को कैद कर लेने की क्षमता होती है। इस पौधे को सारासीनिया के नाम से पुकारते हैं। इसी का भाई है दूसरा पौधा घटपर्णी या नेपेंथोज़। इनकी समूची पत्ती तो नहीं बस पत्तियों की नोक का ही भाग गोल होकर घड़े का रूप धर लेता

है। ढक्कन इसके मुख पर भी होता है। असल में इन सभी मांसाहारी पौधों की जेल-व्यवस्था बड़ी सुदृढ़ है। चाहे तो वे अपने स्पर्शकों (टेन्टैकिल्स) की हथकड़ियों में जकड़कर शिकार को बंदी बना लेते हैं चाहे कमरे में बंदकर दरवाजा कस देते हैं। बस शिकार किसी भी तरह जेल तोड़कर भाग नहीं सकता। **नेपेंथोज** के घड़ों में चिपचिपा द्रव भरा रहता है। इसका स्पर्श करते ही कीड़ा सरककर अंदर पहुँच जाता है। घातक घटपणी छोटे कीड़े-मकोड़ों को कौन कहे छोटे-मोटे चूहों तक को पचा जाता है।

हमारे देश में मांसाहारी पौधों में **ड्रासैरा**, **यूट्रो-कुलेरिया**, **नेपेंथोज**, **एल्ड्रोबेंडा** और **पिग्वीकुला** पाया जाता है। **नेपेंथोज** का निवास तो खास तौर से असम की पहाड़ियों में ही है। वास्तव में सभी मांसाहारी पौधे ज्यादातर जंगली, दलदली इलाकों, ताल-पोखरों या चट्टानों की दरारों में ही उगते हैं।

इन पौधों की पाचन व्यवस्था भी इनके शिकार-व्यवस्था की ही तरह बड़ी सुदृढ़ होती है। भीतर स्थित इन्हीं ग्रन्थियों में मानव शरीर के पाचक रसों की तरह की 'एंजाइम' या भोजन पचाने वाले विशेष तत्व भरे होते हैं। जैसे हमारा शरीर भोजन से प्रोटीन, चर्बी, ग्लूकोज और स्टार्च सब लेकर पचा लेता है वैसे ही ये पौधे भी। प्रोटीन पचाने वाला 'प्रोटीएज' तत्व तो इन पौधों में अवश्य ही भरा रहता है। **नेपेंथोज** में पाया गया एक पाचक 'नेपेंथीसिन' तो समझो बिल्कुल हमारे 'पेप्सिन' जैसा ही है। और यह इतना प्रभावशाली है कि इसके अन्दर कीड़ा फँसने के थोड़ी देर के अंदर ही मर जाता है। इन कीटाहारी पौधों के 'बुद्धिचातुर्य' पर तुम्हें आश्चर्य तो होगा ही जब तुम सुनोगे कि इन विष भरे घड़ों या काँटेदार पत्तियों में जब किसी निर्जीव पदार्थ जैसे कंकड़-पत्थर या लकड़ी आदि का स्पर्श कराया जाता है तो ये बिल्कुल चुपचाप रह जाते हैं। पर कोई कीड़ा या मांस का टुकड़ा इनके निकट लाया जाय तो बस पूछो मत। तुरंत इनकी ग्रन्थियाँ हरकत में आ जाती हैं और पाचक रस निकालने लग जाती हैं। वास्तव में

ये सभी मांसभक्षी पौधे नाइट्रोजन की कमी वाले स्थानों में ढी रहते हैं और इसप्रकार जीवों को पचाकर वे अपने अन्दर नाइट्रोजन के अभाव को पूरा करते हैं। अब तो वैज्ञानिक कहते हैं कि फास्फोरस के अभाव को भी ये इसी तरह पूरा करते हैं। पर इनके पाचक रस कीट-पतंगों या जीवों के कड़े कंकाल को नहीं पचा सकते।

अब इन मांसभक्षी पौधों के विषय में इतनी चर्चा के बाद आओ तुम्हें यह भी बता दूँ कि संसार भर में बहुत दिनों तक किसी न किसी रूप में मानव भक्षी पौधों की कथा भी प्रचलित रही। पर तुम्हें यह जानकर प्रसन्नता होगी कि वैज्ञानिकों के अनुसार ऐसे किसी पौधे का अस्तित्व केवल कल्पना है।

आओ अब हम इन हिंसक विचित्र पौधों के संसार से दूर कुछ ऐसे वृक्षों की भी झाँकी देख लें जो अपनी प्राचीनता या अपने विशाल आकार या अन्य ऐसी ही विशेषताओं के कारण आकर्षित करते हैं। आज संसार के विशालतम वृक्षों के रूप में हम अमेरिका में पाये जाने वाले **सिकोया जाइगेंशिया** को जानते हैं। 300 फीट ऊँचे ये वृक्ष भार में 6000 (छः हजार) टन तक होते हैं। लेकिन संसार का सबसे लंबा वृक्ष **एकेसिया** जाति का था जो अफ्रीका में पृथ्वी के नीचे पाया गया। यह बार-बार रेत के पहाड़ से दब जाने के बाद भी जिन्दा रहा और बढ़ता रहा। इसकी लम्बाई 400 फीट नापी गई। इन वृक्षों की उम्र भी इनके आकार जैसी ही लंबी होती है। तुम लोग इतिहास में सिन्धु घाटी सभ्यता के बारे में पढ़ते होगे। बस यूँ समझ लो कि कुछ **सिकोया** वृक्ष अभी से, यानी चार हजार (4,000) वर्ष पहले से अब तक ज़िंदा हैं। उम्र में इनसे भी आगे है **आस्ट्रेलिया** का **मैक्रोजामिया** जाति का पेड़। ज़रा कल्पना करो कि इनकी उम्र 12 हजार साल की है। हजारों साल की उम्र वाले अफ्रीका के एक छोटे साहब भी हैं, ज़मीन के थोड़े ही ऊपर विशाल मूली की तरह। **वेलविस्चिया** नामक इन वृक्षों में अपने जीवन भर में केवल दो ही पत्तियाँ निकलती हैं। इसी सिलसिले में मैं तुमको यह

भी बता दूँ कि गिंगो बाइलोबा के वृक्षों की आयु साधारण होती है पर सृष्टि के विकास क्रम में वृक्षों की यही एक जाति है जो बची रह पाई है। इसके समय की अन्य वनस्पतियाँ अब समाप्त हो गई हैं पर ये पिछले तेइस करोड़ वर्षों से आज भी जीवित हैं

और इसी कारण इसे 'जीवित जीवाश्म' या 'लिविंग फॉसिल' कहते हैं। वृक्षों के अनोखेपन की यह कहानी जितनी रोचक है उतनी ही ज्ञानवर्धक भी और लम्बी तो है ही। इसलिए वचनों अन्य वृक्षों के बारे में हम फिर कभी बातें करेंगे। □

[आकाशवाणी, इलाहाबाद से साभार]

विज्ञान के नये तथ्य

जीवन की उत्पत्ति में धूमकेतुओं का योगदान

सुकान्त व्यास

आकाशीय पिण्डों और बाह्य अन्तरिक्ष के विश्व-व्यापी अभियान में इस वर्ष गत 7 मार्च को ऐतिहासिक महत्व की एक असाधारण उपलब्धि प्राप्त हुई—सोवियत संघ और आठ अन्य देशों की संयुक्त परियोजना के अन्तर्गत प्रक्षेपित वेहा-1 स्वचालित अन्तरिक्ष स्टेशन हेली धूमकेतु के शीर्ष के आसपास फैले धूल के विशाल बादल को बिना क्षतिग्रस्त हुए सफलतापूर्वक पार कर गया और इस बीच और बाद में भी धूमकेतु की संरचना के बारे में विशेष सूचनाएँ और टेलीचित्र प्रेषित करता रहा। इसके कुछ दिन पूर्व ही वेहा-1 हेली धूमकेतु के नाभिक के 9,000 किमी० समीप तक पहुँच चुका था। यह किसी मानव-निर्मित यान की वास्तव में इस पुच्छल तारे के 'कोमा' या केन्द्र के बीच से पहली उड़ान थी।

वेहा-1 के पीछे-पीछे ही दूसरा अन्तरिक्ष स्टेशन वेहा-2 भी धूमकेतु के समीप पहुँच गया। इस प्रकार मास्को स्थित अन्तरिक्ष अध्ययन संस्थान के विशेषज्ञों ने पहली बार दो अन्तरग्रहीय स्टेशनों के माध्यम से दो तरफ या दो पक्षों से हेली धूमकेतु का अध्ययन किया। इस अध्ययन के दौरान जो नई बातें मालूम हुई हैं तथा जिन पुराने तथ्यों की पुष्टि हुई है, उनका विज्ञान के लिए बड़ा भारी महत्व है। वेहा-1 ने जब 6 मार्च

को हेली के 9,000 किमी० पास से चित्र भेजे थे तब वह पृथ्वी से लगभग 17 करोड़ किमी० दूर था।

धूमकेतु के धूल भरे विशाल बादल को पार करते समय वेहा-1 का यन्त्र-तन्त्र और उसके टेली-लेंस सुरक्षित रहे और बराबर अपना काम करते रहे। हाँ, उसकी सौर-बैटरी के पैनल को धूमकेतु के धूलिकणों से कुछ क्षति पहुँची, क्योंकि अन्तरिक्ष-स्टेशन को धूमकेतु के 80 किमी० प्रति सेकंड की गति से उड़ने वाले धूलिकणों के आक्रमण का सामना करना पड़ा। 9 मार्च को वेहा-2 ने धूमकेतु के 8,200 किमी० पास पहुँच कर बड़े आकार के रंगीन चित्र भेजे। इस यान ने भी वेहा-1 के मार्ग का ही अनुसरण किया और धूल के बादल को पार किया।

हेली धूमकेतु का उल्लेख मानव इतिहास में 2000 वर्ष पूर्व से उपलब्ध है और यह हमेशा ही एक रहस्यमय पहेली बना रहा है। इसकी संरचना के बारे में केवल इतना ही ज्ञात रहा है कि इसका एक नाभिक है तथा एक बड़ी लंबी पूँछ है तथा इसमें कुछ रसायन द्रव्य उपलब्ध हैं।

नाभिक की बनावट

वेहा-1 से हेली धूमकेतु के जो टेलीचित्र प्राप्त हुए हैं उनसे ऐसा लगता है कि इसके नाभिक की बनावट

अंग्रेजी के आठ के अंक के समान है। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि इसके वास्तव में दो नाभिक हैं, जो एक-दूसरे के समीप ही स्थित हैं। वेहा-2 के चित्रों का अध्ययन जारी है, इसलिए अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन अन्य अनेक तथ्य स्पष्ट हुए हैं।

पहला तो यही कि हेली धूमकेतु का एक निश्चित नाभिक है। पहले अनेक विशेषज्ञों का मत रहा है कि हेली धूमकेतु का कोई नाभिक नहीं है बल्कि वहाँ कुछ पिंडों और कणों का झुंड मात्र है। इसके साथ ही यह पूर्वधारणा भी गलत सिद्ध हुई है कि नाभिक में अंधकार है। अब स्पष्ट ज्ञात हो चुका है कि नाभिक चमकीला है।

कुछ अन्वेषकों का मत रहा है कि हेली धूमकेतु का नाभिक अधिक से अधिक एक से दस किमी० चौड़ा है और उसके चारों ओर चट्टानों के पिंडों का घेरा-सा है। लेकिन यदि नाभिक के भीतर प्रस्तर पिंडों का या हिमखंडों का घना घेरा या झुंड होता तो वेहा स्टेशन उसके पार नहीं जा सकते थे। यह सही है कि दोनों यानों पर दोहरे आवरण चढ़े हुए थे, फिर भी यदि कोई छोटा प्रस्तर पिंड भी उनसे टकराता तो बहुत अधिक क्षति उत्पन्न कर सकता था क्योंकि नाभिक में से गुजरते समय उनकी गति लगभग 80 किमी० प्रति सेकंड तक थी। अब यह सिद्ध हो चुका है कि नाभिक केवल धूलिकणों से बना है और धूल के इस बादल की मोटाई लगभग एक किमी० ही है।

दोनों अंतरिक्षयानों द्वारा भेजी गई सूचना से यह भी सिद्ध हुआ है कि हेली धूमकेतु का नाभिक ढाई दिन में एक छल्ला-सा बनाते हुए धीमी गति से घूम रहा है। यह आरंभिक चाक्षुष सूचना मात्र है जो टेलीचित्रों के अध्ययन से प्राप्त हुई है, लेकिन इसकी पुष्टि उन अन्य 15 बड़े उपकरणों द्वारा प्रेषित सूचना से भी हुई है जो इन यानों पर स्थापित हैं।

अन्वेषण में सहयोग

हेली धूमकेतु का अंतर्राष्ट्रीय अध्ययन जारी है। सोवियत पक्ष ने वेहा-1 और वेहा-2 यानों की उड़ान से

अब तक प्राप्त सारी सूचना यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी को भी उपलब्ध करा दी है। इसी पूर्वसूचना के आधार पर पश्चिम यूरोपीय अंतरिक्षयान 'गियोट्टो' के उड़ान-पथ में कुछ संशोधन किया गया जिससे वह 13-14 मार्च की रात को नाभिक के काफी पास से गुजर पाने में सफल हुआ।

वेहा-1 और वेहा-2 में से प्रत्येक ने बड़ी सफलता के साथ अपने तीन पूर्वनियोजित कार्य पूरे किये हैं: उन्होंने शुक्र ग्रह के वायुमंडल में खोजी यंत्रों से लैस गुब्बारे उतारे, इन गुब्बारों और यंत्रों की सहायता से पहली बार शुक्र ग्रह के वायुमंडल का वैज्ञानिक अध्ययन किया और इस अध्ययन के परिणाम पृथ्वी को सूचित किये, तथा हेली धूमकेतु का पहली बार इतना व्यापक अन्वेषण किया। इसके लिए पहले सोवियत वैज्ञानिकों को तीस नमूने तैयार करने पड़े और अपनी डिजाइनों और यंत्र-प्रणालियों के परीक्षण करने पड़े थे।

हेला धूमकेतु के रहस्यों का यह अध्ययन बाह्य अंतरिक्ष के अन्वेषण में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का एक प्रशंसनीय उदाहरण भी है। वेहा-1 और वेहा-2 द्वारा भेजी गई सूचनाओं और टेलीचित्रों का अध्ययन करने के लिए सोवियत विज्ञान अकादमी के अंतरिक्ष अनुसंधान केन्द्र में इस परियोजना के सहयोगी समाजवादी देशों के वैज्ञानिकों के साथ ही अमेरिकी और जापानी विशेषज्ञ भी उपस्थित थे और इन मानव-निर्मित स्वचालित अंतरिक्षयानों की ऐतिहासिक उपलब्धियों पर प्रमुदित हो रहे थे।

जीवन की उत्पत्ति

अनेक वैज्ञानिकों का मत है कि हमने बड़े ग्रहों के बारे में काफी जानकारी एकत्र कर ली है, लेकिन अब हमें अपने सौरमंडल के छोटे पिंडों, जैसे उपग्रहों और धूमकेतुओं के अध्ययन पर अपना ध्यान केन्द्रित करना चाहिए क्योंकि इससे हमें सौरमंडल के विकास के आरंभिक युग की अधिक विस्तृत जानकारी प्राप्त हो सकेगी। कुछ वैज्ञानिकों का यहाँ तक मत है कि धूमकेतु हाइड्रोबसाइल नामक एक रसायन की द्रव्य

की अधिकता के कारण, जो जल-अणु का एक अंश होता है, बाह्य अंतरिक्ष में जीवन के वितरण और प्रसार का मुख्य साधन हैं।

हेली धूमकेतु ने अनेक वैज्ञानिक परिकल्पनाओं को भी जन्म दिया है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि विख्यात टुंगस्का उल्कापिंड वास्तव में किसी उल्का का अंश नहीं बल्कि किसी धूमकेतु के नाभिक का अंश था जो उससे छिटक कर पृथ्वी पर आ गिरा था।

वैज्ञानिकों का मत है कि धूमकेतु नाभिक के ऐसे ही किसी अंश से पृथ्वी पर जीवन का विकास शुरू हुआ था। उन्हें आशा है कि इस प्रकार के उस आदिम द्रव्य को खोज सकेंगे जिससे 4.5 अरब वर्ष पूर्व हमारी सौर-प्रणाली की रचना हुई थी। वेहा यानों द्वारा किये जा रहे इस अन्वेषण और प्रयोग-कार्य से इस तथ्य के भी निराकरण या पुष्टि की संभावना है। □

[सोवियत दूतावास के सूचना विभाग के सौजन्य से]

कंप्यूटरीकरण को बढ़ावा

तपन दास

गत 19 मार्च को नयी दिल्ली में पंचवर्षीय अवधि, 1986-1990 के लिए सोवियत संघ के साथ कंप्यूटर तथा इलेक्ट्रॉनिक्स में सहयोग से संबंधित समझौते पर किये गये हस्ताक्षर के साथ ही भारत के कंप्यूटरीकरण कार्यक्रम को, जिसका लक्ष्य समुन्नत अर्थतन्त्र के साथ देश को 21वीं सदी में ले जाने में मदद देना है, और बढ़ावा मिला। करार के अनुसार अगले पाँच वर्षों में भारत सोवियत संघ से 62 करोड़ रु० का कंप्यूटर और संबंधित वस्तुएँ खरीदेगा एवं सोवित संघ भारत से 167 करोड़ रु० की वही वस्तुएँ आयात करेगा।

पर समझौते का मुख्य गुण वस्तुओं की मात्रा नहीं है, जिसका दोनों देशों के बीच आदान-प्रदान किया जायेगा। पिछले 15 वर्षों से भी अधिक समय के कंप्यूटरों के क्षेत्र में सहयोग संतोषप्रद ढंग से बढ़ रहा है। नये समझौते में नयी एवं महत्वपूर्ण चीज यह है कि दोनों देश शिक्षा के क्षेत्र समेत घरेलू तथा व्यवसायिक इस्तेमाल एवं तीसरे देशों को निर्यात के लिए संयुक्त रूप से कंप्यूटरों का डिजाइन तैयार करेंगे और उनका उत्पादन करेंगे।

स्कूल कंप्यूटर कार्यक्रमों तथा कठोर एवं साफ्टवेयर सामानों के उत्पादन में त्रिपक्षीय आधार पर सहयोग की भी व्यवस्था है, जिसमें पहली बार फ्रांस जैसे विकसित देश भी शामिल हैं।

भारत की दृष्टि से इस समझौते से निस्संदेह देश के विकासमान कंप्यूटर एवं इलेक्ट्रॉनिक उद्योग को नयी गति मिलेगी। समझौते के तहत भारत सोवियत परिधीय यंत्रों तथा सोवियत कंप्यूटर प्रणालियों के लिए विशेषीकृत साफ्टवेयर इकाइयों का विकास एवं निर्माण करेगा तथा उनकी आपूर्ति करेगा। जानकारी सूत्रों के अनुसार सोवियत पक्ष ने भारत से अनेक वस्तुओं, खास कर 11 मीटर के एंटीना, प्लापी डिस्क, कंप्यूटर साफ्टवेयर, अल्ट्रासोनिक मेडिकल इलेक्ट्रिकल उपकरण, दुग्ध विश्लेषक, इलेक्ट्रॉनिक गनों आदि के आयात में दिलचस्पी दिखायी है।

जहाँ तक कुछ मुख्य क्षेत्रों में सोवियत प्रगति से लाभ हासिल करने का सवाल है, भारत को आशा है कि वह आधुनिकतम सोवियत-निर्मित कम्प्यूटरों, जैसे ईसी-1036, ईसी-1061 एवं ईसी-1066 के बारे में सूचनाएँ तथा जानकारी प्राप्त कर सकता है, जिसकी

अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में काफी सराहना हुई है। वास्तव में भारत में तेल एवं प्राकृतिक गैस आयोग द्वारा इनमें कुछ कम्प्यूटरों को स्थापित किया जा रहा है। सोवियत संघ ने इन सुपर कम्प्यूटरों के इस्तेमाल पर कोई नियन्त्रण नहीं लगाया है। इसके अतिरिक्त, यह आशा की जाती है कि इस क्षेत्र में दोनों देशों के बीच व्यापक सहयोग से समुचित समय में भारत में टेक्नोलॉजी का पूर्ण हस्तान्तरण हो जायेगा, जैसा कि अन्य अनेक क्षेत्रों के मामले में हुआ।

यह लक्षित किया जाना चाहिए कि भारत बीई एसएम-6, एलब्रस-2 एवं ईसी-1035 कम्प्यूटरों की कुशलता तथा कार्य से संतुष्ट है, जिन्हें अन्य जगहों के अलावा एक दशक पूर्व बंबई में भाभा आण्विक अनुसन्धान केन्द्र में स्थापित किया गया था। ये कम्प्यूटर इस अर्थ में विलक्षण हैं कि वे एक सामान्य मानव-भाषा समझने में समर्थ हैं। इनके लिए कार्यक्रम विदेशी कम्प्यूटर भाषाओं की बजाय सामान्य अंग्रेजी में लिखा जा सकता है। इन कार्यक्रमों को अल्गोरिद्म या निर्देशों की शृंखला कहा जाता है। यह यथार्थता को सुनिश्चित करता है: विशेषज्ञों का कहना है कि प्रतीकों एवं आँकड़ों की बजाय एक लिखित पाठ में गलती पकड़ना आसान होता है।

आकर्षक शर्तें, यानी वस्तुओं के निर्यात के जरिये रुपये के भुगतान से भी भारत को सोवियत संघ से कम्प्यूटर से सहायता प्राप्त रूसी से अंग्रेजी एवं अंग्रेजी से रूसी में अनुवाद प्रणाली जैसे विशेषीकृत साफ्टवेयर से युक्त कम्प्यूटर प्रणालियों की खरीद की सम्भावनाओं का पता लगाने में प्रेरणा मिली है। दोनों देश औद्योगिक डिजिटल स्वचालन प्रणालियों के क्षेत्र में संयुक्त प्रयासों के लिए भारत में एक संयुक्त संस्थान स्थापित करने पर विचार कर रहे हैं।

भारत के जानकार हलके इस बात से अवगत हैं कि हालाँकि सोवियत संघ दैनंदिन जीवन और सामान्य कार्य में कम्प्यूटर के व्यापक इस्तेमाल के मामले में जापान और अमेरिका जैसे देशों से अभी भी काफी पीछे है, पर उस देश ने कुछ अत्याधुनिक कंप्यू-

टर प्रणालियों का डिज़ाइन तैयार करने और उनका इस्तेमाल करने में उल्लेखनीय प्रगति की है। उदाहरण के लिए समानांतर प्रणाली या पीएस-2000 कम्प्यूटर को लें, जो दुनिया में बेजोड़ है।

पीएस-2000 मूलतः एक नये किस्म का कम्प्यूटर है, जिसका सोवियत संघ में बड़े पैमाने पर उत्पादन हो रहा है। वह प्रति सेकंड 20 करोड़ कार्य कर सकता है। उसके पास विशेष प्रोसेसर मैनेजर हैं, जो डाटा-प्रोसेसिंग के नियंत्रण तथा संगठन का कार्य करते हैं।

पीएस-2000 कम्प्यूटर एक साथ विभिन्न किस्म के अनगिनत कार्य कर सकते हैं। उदाहरण के लिये वह मौसम की भविष्यवाणी कर सकता है, ऑपरेशन के बाद एक रोगी के स्वास्थ्य के बारे में बता सकता है, उड़ान में विमान के पंख के कार्य का निर्धारण कर सकता है जहाँ तेल एवं गैस के लिये खुदाई की जा सकती है, जो सतह से छह किलोमीटर नीचे छिपी हो सकती है।

संयोग से जबकि अत्याधुनिक अमेरिकी कम्प्यूटर सिवर-73 को पृथ्वी के 25 किलोमीटर के खण्ड के सर्वेक्षण के लिए दो घंटे का समय लगता है, वहीं पीएस-2000 को वही काम करने के लिए 10 मिनट से भी कम समय लगता है।

ऐसे कम्प्यूटर की सहायता से अब सोवियत विशेषज्ञ खुदाई के लिए एक पूर्ववेक्षण स्थल का सही भूवैज्ञानिक मानचित्र तैयार करने में समर्थ हैं। 1981-83 में करीब 1,478 मानचित्र तैयार किये गये और 120 से भी अधिक सुराखों के लिए खुदाई स्थल निर्धारित किये गये। इनमें से अधिकांश कारगर एवं लाभकारी सिद्ध हुए।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि बंडर-कम्प्यूटर पीएस-2000 की लागत 9,50,000 डॉलर से भी कम आती है, यानी वह अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में उपलब्ध घटिया किस्म के कम्प्यूटरों की अपेक्षा 5 से 8 गुना सस्ता है।

पर जैसा कि ऊपर कहा गया है, भारत को

हाल ही में संपन्न किये गये कार्यक्रम से निश्चित रूप से लाभ होगा, पर केवल इसीलिए नहीं क्योंकि उससे 105 करोड़ रु० के आकर्षक व्यापार-संतुलन प्राप्त होता है, बल्कि इसलिए भी कि वह देश के कंप्यूटर उद्योग को एक नयी गति प्रदान करता है। भारत को

अवश्य ही सोवियत संघ की 12 वीं योजना (1986-1990) द्वारा पेश किये गये अवसरों का पूरा लाभ उठाना चाहिए, जिनके अन्तर्गत कंप्यूटर, खास कर कार्मिक एवं लघु कंप्यूटरों के उत्पादन में 100-130 प्रतिशत की वृद्धि की व्यवस्था की गयी है। □

(सोवियत दूतावास के सूचना विभाग के सौजन्य से)

सादृश्य का सिद्धान्त

आशुतोष मिश्र

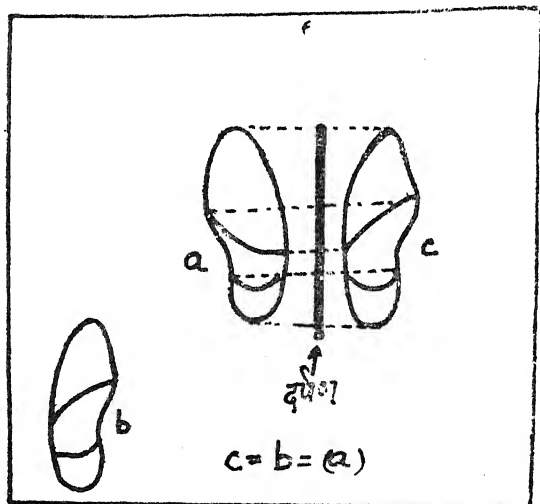
25 अशोक नगर, इलाहाबाद

अपने चारों ओर प्रकृति में हम अनेक प्रकार की वस्तुएँ देखते हैं। इनमें से कुछ एक दूसरे से मिलती-जुलती प्रतीत होती हैं तो कुछ सर्वथा भिन्न। जैसे आम के पेड़ की एक पत्ती दूसरी पत्ती के समान होती है, परन्तु केले की पत्ती से विल्कुल अलग होती है। विज्ञान की भाषा में हम कहते हैं कि अमुक वस्तु, अमुक वस्तु के 'सादृश्य' में है अथवा उनमें 'पैरिटी' (Parity) है।

आम जीवन में दाहिने तथा बाँए के बीच भेद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। बाँए तथा दाहिने दस्ताने, जूते और ऐसी ही अनेक वस्तुओं में अन्तर होता है। अनेक जीवों में भी दिशा का विशेष महत्व होता है—उदाहरणार्थ सभी घोंघों की खोल का घुमाव दाहिनी ओर होता है। सभी ग्रह सूर्य के चारों ओर परिक्रमा एक निश्चित दिशा में करते हैं। यदि हम एक ऐसे विश्व की कल्पना कर लें जो सभी प्रकार से हमारे जैसा हो, मात्र दिशाएँ विपरीत हों, तो भी आप क्या अन्तर पाएँगे? शायद कुछ भी नहीं! सोचिए क्यों?

जूतों का एक जोड़ा ही ले लीजिए। भले ही वे भिन्न दिशाओं में मुड़े हों, परन्तु उनकी नाप, बनावट और इनसे होने वाला कार्य एक जैसा ही होता है। मान लीजिए आपके पास जूतों का एक जोड़ा है जिसके जूते a तथा b हैं। यदि जूते a को दर्पण के

सामने रखा जाए, तो उसमें बनने वाला प्रतिबिम्ब c, जूते b के समान होगा। होगा न! (देखिये चित्र 1) आप स्वयं ही देख लीजिए—मात्र जूते a को दर्पण के सामने रखने से जूता b प्राप्त हो गया।



चित्र 1

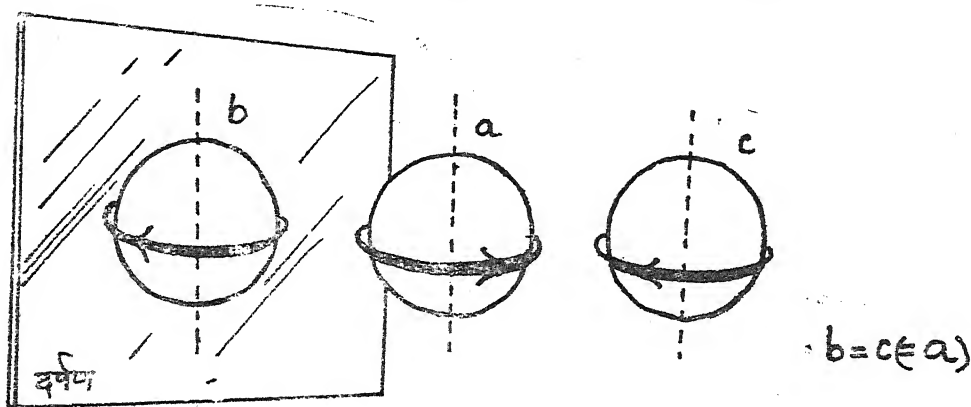
आधुनिक भौतिकशास्त्र में 'समता संरक्षण नियम' (Law of conservation of parity) का अत्यधिक महत्व है। इस नियम के अनुसार "किसी वस्तु तथा उसके प्रतिबिम्ब के बीच होनेवाले बाँए अथवा दाहिने,

ऊपर अथवा नीचे के अन्तर का इस विश्व में कोई वास्तविक महत्व नहीं है।" इस प्रकार दिशा में होने वाले अन्तर मात्र देखने वाले व्यक्ति के लिए ही महत्वपूर्ण होते हैं।

अपरमाण्विक कणों (Subatomic particles) में समता—यह हम भलीभाँति जानते हैं कि सभी पदार्थ परमाणुओं से निर्मित होते हैं जो स्वयं मूलकणों (fundamental particles) द्वारा बने होते हैं। क्वार्कों (Quarks) की परिकल्पना ने इस क्षेत्र में क्रान्ति ला दी क्योंकि मात्र तीन क्वार्कों up, down तथा strange से सभी पदार्थों की व्याख्या की जा सकती है। यदि हम कणों को देख सकते जिनसे सभी पदार्थ बनते हैं तो हम शायद यह पाते कि घूर्णन करते कुछ

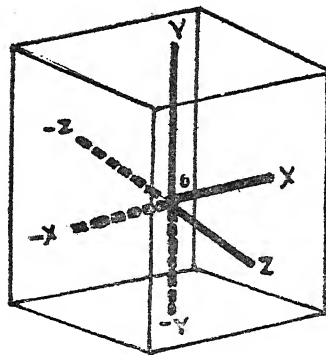
कणों के सदृश कुछ ऐसे भी कण हैं जो विपरीत दिशा में घूर्णन करते हैं और इस प्रकार उन कणों को संतुलित करते हैं। इस बात को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—

यदि एक गेंद (a) को हम दर्पण के सामने रखें तो उसके प्रतिबिम्ब b व वास्तविक गेंद में कोई अन्तर न होगा। परन्तु जैसे ही हम उस गेंद को घुमा देते हैं, प्रतिबिम्ब उसकी विपरीत दिशा में घूम जाता है। यह प्रतिबिम्ब ठीक उसी गेंद c के समान है जो गेंद a के विपरीत दिशा में घूमती है। दूसरे शब्दों में गेंद a उल्टी गेंद c के समान है। विश्वास न हो तो स्वयं करके देख सकते हैं। (देखिए चित्र 2)



चित्र 2

सम तथा विषम सादृश्यता (Even and odd parity)—किसी भी अपरमाण्विक कण को त्रिआयामी तल (threedimensional plane) में दर्शाने के लिए तीन सीधी रेखाएँ खींची जाती हैं जो परस्पर समकोण बनाती हैं (देखिए चित्र 3)। इन्हें x, y, तथा z कहते हैं तथा किसी भी कण को इनके संबंध में प्रदर्शित किया जा सकता है। मान लीजिए इनका प्रतिबिम्ब एक दर्पण में बनता है। इन प्रतिबिम्बों को उल्टे चिह्न x, y, तथा z द्वारा दर्शाया जाता है। परन्तु वास्तविकता यह है कि इन कणों के स्थान निश्चित करना इतना सरल नहीं होता है। भौतिक-



चित्र 3—किसी त्रिआयामी स्थल में X, Y तथा Z तीन अक्ष हैं तथा -X, -Y और -Z उनके प्रतिबिम्ब

विदों के अनुसार कुछ परिस्थितियों में इन कणों के समूह तरंगों के रूप में चलते हैं। इन कणों की अनुमानित स्थिति एक विशेष संबंध से निकाली जाती है जो कि तरंग फलन (wave function) पर आधारित होती है। यदि प्रतिबिम्बित होने पर यह तरंग फलन शून्य ने कम अर्थात् ऋणात्मक हो जाता है, तब कण की समता को सादृश्य (odd parity) कहते हैं। यदि वह तरंग फलन परावर्तित होने पर भी घनात्मक ही रहता है, तब समता को सम सादृश्य (even parity) कहते हैं।

क्षय समता का वास्तव में संरक्षण होता है ?
1750 के लगभग वैज्ञानिकों ने समता के संरक्षण के नियम के बारे में शंका व्यक्त की। कुछ कण, जैसे मेसॉन अपने रूपान्तरण (transformation) अथवा क्षय (decay) के समय ऐसे कणों में बदलते हैं जिनकी पैरिटी सर्वथा भिन्न होती है, यद्यपि अन्य रूप में ये मेसॉनों से मिलते हैं।

1 मेसॉन → 1 मेसॉन (विषम पैरिटी)

(क्षय) → 1 मेसॉन (विषम पैरिटी)

यहाँ 1 मेसॉन का 2 मेसॉनों में क्षय होता है जिन दोनों की पैरिटी विषम होती है, जिसके कारण कुल पैरिटी सम होती है। कारण ?

$$(-1) \times (-1) = +1$$

अथवा (विषम) × (विषम) = (सम)

↗ 1 मेसॉन (विषम)

1 मेसॉन (क्षय) → 1 मेसॉन (विषम)

↘ 1 मेसॉन (विषम)

यहाँ पर जो मेसॉन 3 मेसॉनों में टूटता है, उन सब की कुल पैरिटी विषम होती है, क्योंकि

$$(-1) \times (-1) \times (-1) = -1$$

क्षय से पहले दोनों मेसॉन एकदम एक जैसे होते हैं, मात्र उनकी पैरिटी भिन्न होती है। यह तो बात वैसी ही हुई जैसे कि एक कण के दो भिन्न प्रकार के प्रतिबिम्ब बनें (यह असम्भव है)। यदि हम यह मान

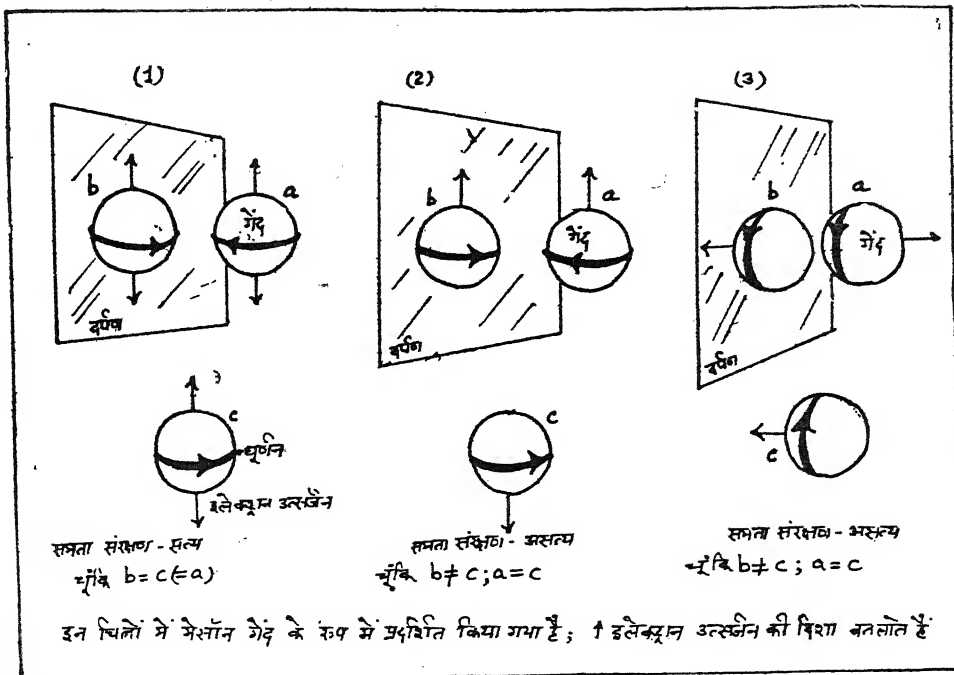
भी लें कि उनकी पैरिटी एक जैसी है, तब भी, क्षय प्रक्रिया के दौरान उनकी पैरिटी में अन्तर आता है जो समता संरक्षण नियम के विरुद्ध है। यह पाया गया है कि कुछ विशेष प्रक्रियाओं में—जिन्हें क्षीण अन्योन्य क्रियाएँ (Weak interactions) कहते हैं, कण तथा उसके प्रतिबिम्ब में अन्तर होता है।

1956 में प्रिंसटन के दो भौतिकीविदों—सी० एन० यांग तथा टी० डी० ली ने प्रतिपादित किया कि इन क्षीण अन्योन्य क्रियाओं में पैरिटी का संरक्षण नहीं होता है। इस सिद्धान्त पर यांग तथा ली को 1957 का भौतिकी का नोबेल पुरस्कार प्राप्त हुआ।

न्यूयार्क के कोलम्बिया विश्वविद्यालय के एम० बोनरिच, एल० सेडरर, तथा के० गार्बिन ने मेसॉनों के साथ जो प्रयोग किया, वह इस प्रकार था—उन्होंने साइक्लोट्रॉन (Cyclotron) में एक लक्ष्य (Target) पर प्रोटॉनों की बमबारी की जिसके फलस्वरूप पाई मेसॉन (π meson) उत्सर्जित हुए। इन पाई मेसॉनों का क्षय म्यू मेसॉनों और एन्टीन्यूट्रिनो (Antineutrinos) में हुआ। एन्टीन्यूट्रिनो बहुत ही हल्के कण होते हैं जिनमें कोई आवेश नहीं होता। यह प्रक्रिया एक तीव्र चुम्बकीय क्षेत्र में सम्पन्न की गई जिससे कि म्यू मेसॉनों के घूर्णन अक्ष (axis of rotation) पंक्तिबद्ध हो गए। यह आवश्यक भी था क्योंकि इससे प्रक्रिया करने वाले कणों का घूर्णन और दिशा आदि देखी जा सकती थी। इन म्यू मेसॉनों को एक कार्बन ब्लॉक में एकत्रित किया गया जहाँ वे इलेक्ट्रॉनों, न्यूट्रिनो व एन्टीन्यूट्रिनो में परिणत हो गए। यह पाया गया कि म्यू मेसॉनों के घूर्णन अक्ष के एक ओर इलेक्ट्रॉन अधिक संख्या में उत्सर्जित हुए। समता संरक्षण नियम के अनुसार इलेक्ट्रॉनों का उत्सर्जन सभी दिशाओं में बराबर होना चाहिए था। यदि आप चित्र 4 को देखें तो यह प्रयोग स्पष्ट हो जाएगा।

पहले चित्र में वह स्थिति दिखाई गई है, यदि समता संरक्षण नियम सत्य हो।

दूसरा चित्र उस प्रयोग से सम्बद्ध है जिसका वर्णन आप ऊपर पढ़ चुके हैं। मेसॉन a एक निश्चित दिशा



चित्र 4

में इलेक्ट्रॉन उत्सर्जित कर रहा है जैसा कि संकेतक (↑) के माध्यम से दिखाया गया है। मेसॉन c, मेसॉन a का विपरीत युग्मित (Paired opposite) मेसॉन है—अर्थात् उससे इलेक्ट्रॉन विपरीत दिशा में उत्सर्जित हो रहे हैं (दूसरे शब्दों में वह मेसॉन a को उलट देने से प्राप्त हुआ है)। परन्तु यह मेसॉन, c, मेसॉन a के प्रतिबिम्ब b के सदृश नहीं है। तीसरे चित्र से भी यह स्पष्ट हो जाता है कि b तथा c एक दूसरे से भिन्न हैं। दूसरे शब्दों में इससे यह सिद्ध होता है कि a के दो प्रतिबिम्ब b तथा c बन रहे हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। यह सम्भव नहीं। (क्या एक

ही दर्पण में आपके प्रतिबिम्ब कभी दो भिन्न प्रकार के बन सकते हैं?)

वैज्ञानिकों ने किस प्रकार प्रतिबिम्ब जैसी छोटी सी बात को अपरमाण्विक भौतिकी जैसे गूढ़ विषय तक पहुँचा दिया है। आम जीवन में भले ही यह बात सरल लगे, परन्तु परमाणुओं के संदर्भ में उसी बात को समझना-समझाना अति कठिन हो जाता है। इतना अवश्य है कि इससे मूलकों को समझने में हमें बहुत सहायता प्राप्त हुई है, और शोध के नए आयाम सामने आये हैं।]

भूल सुधार

पृष्ठ 9 पर लेखक का नाम भूल से अशुद्ध छप गया है। नाम में कृपया प्रसाद के स्थान पर प्रकाश पढ़ें। —सम्पादक

विज्ञान वार्ता

संकलन : कु० अर्पिता

जगत तारन गर्ल्स इण्टर कॉलेज, इलाहाबाद

(1) लेसरों से सिंचाई में सहायता

लेसर के जरिये मध्य एशिया में स्टेपियों को विकसित करने की तैयारियाँ की जा रही हैं। प्रकाश विकरण पुंज स्क्रैपर के कार्यों को निर्देशित करता है और इस तरह कपास के भावी पौधों की योजना की उच्च परिशुद्धता को सुनिश्चित करता है। लेसर एक मशीन को भी संचालित करता है, जो एक खास गहराई में पोलिथीलिन ड्रेनेज पाइपें बिछाती हैं। अब ड्रेनेज को, जो सिंचाई नहरों से कीचड़ की सफाई करता है, संचालित करना उसे "सिखाया" जा रहा है।

इलेक्ट्रॉनिक्स का भी कारगर उपयोग मध्य एशिया की सिंचाई प्रणाली में किया जाता है। स्थानीय विशेषज्ञों ने जल में कपास के पौधे की आवश्यकतायें तय करने की एक मौलिक विधि निकाली है। पौधों के बढ़ने की अवधि में मिट्टी की नमी, सौर विकिरण, वायु-तापमान तथा पौधों की बायो-मीट्रिक विशिष्टतायें सीधे खेत कम्प्यूटर में भरी जाती हैं। उनके आधार पर यह सिंचाई और पानी की खपत की इष्टतम स्थिति तय करता है।

वैज्ञानिक तथा शिल्प वैज्ञानिक उपलब्धियों का उपयोग 100,000 हेक्टेयर से अधिक शुष्क जलवायु वाले मध्य एशियाई क्षेत्र में खेती करना सम्भव बनाता है।

(2) हृदय के चुंबकीय क्षेत्र का अध्ययन

पृथ्वी की तरह मनुष्य के हृदय में भी एक चुंबकीय क्षेत्र होता है, किन्तु वह बहुत छोटा होता है। यह स्थिर नहीं रहता है, अतः लम्बे समय तक इसका पता नहीं लगाया जा सका। सोवियत संघ के

के वैज्ञानिकों ने एक उपकरण तैयार किया है, जो हृदय के चुंबकीय क्षेत्र को मापता है, साथ-साथ इसके कम्पनों का भी पता लगाता है। एक परीक्षण यंत्र तथा एक सांख्यिक कम्प्यूटर प्रणाली को मिलाकर मास्को के रेडियो इंजीनियरी तथा इलेक्ट्रॉनिक्स संस्थान के विशेषज्ञों ने डिस्प्ले स्क्रीन पर अध्ययन के लिए हृदय का परिवर्तनात्मक चुंबकीय मैप प्रस्तुत किया है। यह चित्र एक सेकेंड के प्रत्येक दो सौवें भाग में परिवर्तित होता रहता है। अनुसंधान करने वाला व्यक्ति परदे पर इसके काम का अवलोकन-अध्ययन कर सकता है - इसकी विश्राम वाली तथा विविध प्रकार के शारीरिक मानसिक दबाव वाली दोनों अवस्थाओं का।

स्वस्थ और रुग्ण हृदय के चुंबकीय आवेग एक-दूसरे से भिन्न होते हैं।

विशेषज्ञ जीव वैज्ञानिक चुंबकीय क्षेत्रों के अध्ययन को संभावनायुक्त मानते हैं। ये खोजें सोवियत संघ के दर्जनों संस्थानों, चिकित्सा संस्थाओं और प्रयोगशालाओं में "चेलोवेक" (मनुष्य) शीर्षक कार्यक्रम के अंतर्गत की जा रही है।

(3) कपास के रोग की दवा

कपास के मुरझा जाने के रोग को दूर करने के लिए उज्बेकिस्तान के प्रायोगिक प्लांट बायलॉजी संस्थान के कृषि-वैज्ञानिकों ने एक दवा प्रस्तावित की है।

उनका कहना है कि कपास के पौधों में अन्तर्निहित असंक्राम्यता विल्ट या मुरझाने का रोग लग जाने के बाद ही काम करती है। स्वस्थ पौधे में आत्मरक्षा के पदार्थ (फाइटोअलेक्सिन) नहीं होते हैं।

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

द्वारा आयोजित

**एकदिवसीय अखिल भारतीय
विज्ञान संगोष्ठी**

‘पर्यावरण 2001’

13 सितम्बर 1986

**पर्यावरण विभाग, उत्तर प्रदेश से
आर्थिक सहयोग प्राप्त**

स्वागत समिति

अध्यक्ष

डॉ० रामदास तिवारी
(सभापति, विज्ञान परिषद्)

सदस्य

डॉ० राजेन्द्र प्रसाद अग्रवाल
श्री लोकमणिलाल
डॉ० पूरन चन्द्र गुप्त
डॉ० जगदीश सिंह चौहान
डॉ० अशोक महान
डॉ० राम सुरजन्त धर दुबे
श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव
डॉ० अशोक कुमार गुप्त
श्री गंगाधर तिवारी
श्री अनिल कुमार शुक्ल
डॉ० शिवगोपाल मिश्र
(प्रधानमंत्री, विज्ञान परिषद्)

गोष्ठी का कार्यक्रम

13.9.1986

उद्घाटन सत्र : 9.30 बजे

डॉ० आर० पी० मिश्र, कुलपति

इलाहाबाद वि० वि० द्वारा

प्रथम सत्र 11.30 बजे से 1.30 बजे तक

विषय : जंगल और बदलता पर्यावरण

मुख्य वक्ता : डॉ० रामदेव मिश्र (बनारस)

आमन्त्रित प्रतिभागियों द्वारा लेखों का वाचन

भोजन : 1.30 बजे

द्वितीय सत्र : 2.30 बजे से 5.00 बजे तक

विषय : स्वास्थ्य विकास एवं पर्यावरण

मुख्यवक्ता : डॉ० भानुशंकर मेहता (बनारस)

आमन्त्रित प्रतिभागियों द्वारा लेखों का वाचन

जलपान : 5.00 बजे सायं

तृतीय सत्र 5.30 बजे सायंकाल से

सम्मान समारोह

सम्मान समारोह कार्यक्रम

(क) इस समारोह में विज्ञान की दीर्घकालीन सेवा हेतु जिन हिन्दी विज्ञानसेवियों को सम्मानित किया जायेगा वे हैं—

(1) श्री विश्वम्भर प्रसाद 'गुप्तबंधु' (दिल्ली), (2) श्री गुणाकर मुले (दिल्ली), (3) श्री प्रेमानन्द चन्दोला (दिल्ली), (4) डॉ० श्यामलाल काकानी (राजस्थान), (5) श्री देवेन्द्र मेवाड़ी (लखनऊ), (6) डॉ० ओमप्रभात अग्रवाल (रोहतक), (7) श्री डी० एन० भटनागर (दिल्ली), (8) श्री रामधनी द्विवेदी (इलाहाबाद), (9) डॉ० भानुशंकर मेहता (वाराणसी), (10) डॉ० रमेश चन्द्र कपूर (जोधपुर), (11) श्री विष्णुदत्त शर्मा (दिल्ली), (12) श्री श्यामसुन्दर शर्मा (दिल्ली)।

(ख) डॉ० गोरख प्रसाद पुरस्कार' जिन

हिन्दी विज्ञान लेखकों को प्रमाण-पत्र दिए जाएँगे, वे हैं—

1982

1-डॉ० चन्द्रमोहन भण्डारी, 2-श्री श्यामसरन विक्रम, 3-श्री ए० के० राय।

1983

1-डॉ० ओमप्रभात अग्रवाल, 2-श्री नरेश वाली, 3-डॉ० विमलेश चन्द्र श्रीवास्तव।

1984

1-डॉ० सुशीलाराय, 2-डॉ० ज्ञानेन्द्र सिंह, 3-डॉ० महेशकुमार शर्मा, 4-डॉ० भारतेन्दु प्रकाश।

1985

1-श्री आशुतोष मिश्र, 2-श्री विजय जी, 3-डॉ० देवेन्द्र नाथ सिनहा।

विज्ञान परिषद्, प्रयाग

यह हिन्दी और अन्य भाषाओं में वैज्ञानिक साहित्य की रचना और प्रकाशन तथा देश में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रचार व प्रसार के उद्देश्य से सन् 1913 ई० में स्थापित देश की संभवतः सबसे पुरानी वैज्ञानिक संस्था है। अपने जन्म काल से ही विज्ञान परिषद् हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के सृजन तथा प्रचार के पावन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रही है। 1914 ई० में 'विज्ञान-प्रवेशिका भाग एक' का प्रकाशन हुआ और तब से आज तक विज्ञान परिषद् से 6 दर्जन पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं।

विज्ञान परिषद् से 'विज्ञान' नामक एक मासिक लोकप्रिय पत्रिका का प्रकाशन भी होता है जिसका पहला अंक अप्रैल 1915 में प्रकाशित हुआ। तब से यह पत्रिका निरंतर प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के माध्यम से शताधिक प्रसिद्ध वैज्ञानिक लेखकों को हिन्दी क्षेत्र में लाने का श्रेय विज्ञान परिषद् को ही है।

हिन्दी माध्यम से मौलिक शोध-कार्य को बढ़ावा देने के उद्देश्य से परिषद् ने 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' नामक एक त्रैमासिक शोध-पत्रिका का प्रकाशन जनवरी 1958 से प्रारम्भ किया। किसी भी भारतीय भाषा में प्रकाशित होने वाली अपने कोटि की इस प्रथम पत्रिका में विज्ञान की विविध शाखाओं से संबंधित उच्च कोटि के मौलिक शोधपत्र हिन्दी में प्रकाशित होते हैं। इस पत्रिका के विनिमय में 50 से भी अधिक विदेशी शोधपत्रिकाएँ परिषद् को प्राप्त होती हैं जिनके जिल्द किये गये सारे अंक परिषद् के पुस्तकालय में शोधार्थियों के उपयोगार्थ उपलब्ध हैं।

परिषद् द्वारा हिन्दी में विज्ञान लेखन को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से हिन्दी विज्ञान

लेखकों को पुरस्कृत एवं सम्मानित भी किया जाता है। 'स्वामी हरिहरानन्द स्वर्णपदक' विज्ञान के विभिन्न विषयों में तीन वर्षों के अन्तर्गत प्रकाशित हिन्दी पुस्तकों पर प्रतिवर्ष दिया जाता है। परिषद् की 'अनुसंधान पत्रिका' में प्रकाशित सर्वोत्कृष्ट शोधपत्र पर प्रति दूसरे वर्ष डॉ० रत्नकुमारी स्वर्ण पदक' प्रदान किया जाता है। 'विज्ञान' में प्रकाशित होने वाले तीन सर्वोत्कृष्ट लेखों पर प्रति वर्ष 'डॉ० गोरख प्रसाद पुरस्कार' भी दिये जाते हैं। विज्ञान परिषद् ने समय-समय पर प्रसिद्ध हिन्दी विज्ञानसेवियों, लेखकों एवं संपादकों को सम्मानित करने का निश्चय किया है जिसके तहत पहला सम्मान समारोह सितम्बर 1983 में आयोजित किया गया जिसमें 12 विज्ञानसेवियों को सम्मानित किया गया था। इनके नाम हैं—

डॉ० रामचरण मेहरोत्रा, डॉ० हीरालाल निगम, डॉ० सन्तप्रसाद टण्डन, डॉ० नन्दलाल सिंह, श्री रमेशदत्त शर्मा, श्री जगपति चतुर्वेदी, श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव, श्री श्यामसरन विक्रम, डॉ० आत्माराम, श्री रामेश बेदी, डॉ० ब्रजमोहन एवं श्री ओंकार नाथ शर्मा।

दूसरा सम्मान समारोह इसी वर्ष 13 सितम्बर को आयोजित किया जा रहा है जिसमें 12 विज्ञानसेवी सम्मानित किये जायेंगे।

विज्ञान परिषद् द्वारा लोकरुचि के विविध वैज्ञानिक विषयों पर प्रतिवर्ष व्याख्यानो का आयोजन किया जाता है। इन व्याख्यानो के अतिरिक्त समय-समय पर परिषद् संगोष्ठियों का आयोजन भी करती है। ये व्याख्यान एवं संगोष्ठियाँ परिषद् की अपनी व्याख्यानशाला में आयोजित की जाती हैं जिसमें लगभग 400 व्यक्तियों के बैठने की व्यवस्था है। □

आज चारों ओर इक्कीसवीं शती में मानव के प्रवेश को लेकर चर्चा गर्म है। भाषणों, गोष्ठियों, परिसम्वादों और लेखों में इक्कीसवीं शती की धूम है। हो भी क्यों न? बीसवीं शती जाने वाली है और इक्कीसवीं आने की दस्तक दे रही है। कल्पना लोक की हमारी इक्कीसवीं शती निश्चय ही बीसवीं पर बीस है। आने वाली ऐसी शती जिसमें आज की अपेक्षा मानव को अधिक सुख-सुविधा प्राप्त होगी। यदि हम वास्तव में ऐसा ही चाहते हैं तो यह निर्विवाद सत्य है कि आज की अपेक्षा हमें निश्चित रूप से उन्नत या विकसित तकनीक की आवश्यकता होगी। विकास की गति को तेज करना होगा। और यहीं आकर हमारा उत्साह कुछ धीमा सा पड़ने लगता है जब हमारी निगाहें विकास को गति देने वाली उन्नत वैज्ञानिक तकनीकों को अपनाने से पर्यावरण की निरन्तर विगड़ती दशा की ओर जाती हैं।

विकास के नाम पर जिस तरह से हम प्रकृति से छेड़छाड़ कर रहे हैं और उसे विकृत कर रहे हैं उसी अनुपात में हमारे पर्यावरण को क्षति पहुँच रही है। चूँकि मानव का उसके पर्यावरण से घनिष्ठ सम्बन्ध है, इस कारण लगातार विगड़ते पर्यावरण से आज मानव के अस्तित्व को ही खतरा पैदा हो गया है। और सम्भवतः इसी कारण आज न केवल वैज्ञानिक वरन् आम आदमी के भी चर्चा का विषय यही है कि इक्कीसवीं शती में प्रवेश के समय हमारे पर्यावरण की स्थिति क्या होगी?

पर्यावरण की समस्या किसी स्थान विशेष या देश विशेष की न होकर पूरे विश्व की समस्या है और हमारी चिन्ता का पहला मुख्य कारण है क्योंकि किसी देश में एक स्थान का प्रदूषण दूसरे स्थान को तो पहुँचता ही है, एक देश का प्रदूषण दूसरे देश में भी पहुँच जाता है।

एक ख्यातिप्राप्त पर्यावरणविद् डॉ॰ रश्मि मयूर ने भविष्यवाणी की है कि यदि इसी दर से ईंधन के इस्ते-

माल के लिए जंगल काटे जाते रहे तो अगली शती के मध्य तक पर्यावरण में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा दुगुनी हो जायेगी और इससे मौसम में स्थाई परिवर्तन होंगे। ताप बढ़ेगा, पर्वतों की हिमटोपियाँ पिघल जायेंगी, समुद्रों का जलस्तर ऊँचा हो जायेगा, समुद्र-तटीय क्षेत्र जलमग्न हो जायेंगे, वाष्पीकरण बढ़ेगा और परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्र तो जलप्लावित हो जायेंगे और कुछ मरुस्थलों में बदल जायेंगे। यह भविष्यवाणी मात्र कल्पना नहीं, वरन् आज जो हालत है, उन्हें देखते हुए वास्तविकता लगती है। इससे इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि 2001 का पर्यावरण कैसा होगा?

जंगलों के कटने से पर्यावरण को होने वाली हानि तो अकल्पनीय है। इनके कटने से भारत में मौसम बदला है और पिछले दो-तीन वर्षों में देश के आठ राज्यों को सूखा और अकाल की विभीषिका का सामना करना पड़ा है। कुछ विशेषज्ञों का तो ऐसा अनुमान है कि अगले 10 वर्षों में पूरा देश दुर्भिक्ष की चपेट में आ जायेगा और आने वाले 50 वर्षों में राजस्थान के मरुस्थल का विस्तार बर्मा तक पहुँच जायेगा। यह निर्विवाद सत्य है कि वनों के कटने से रेगिस्तान बढ़ रहे हैं, उपजाऊ भूमि का अपरदन हो रहा है और यह मिट्टी बहकर नदियों में समा रही है, नदियों का जलस्तर घट रहा है, वर्षा में कमी हो रही है और फलस्वरूप पशु-पक्षियों की अनेक जातियाँ और वनस्पतियाँ समाप्त हो गई हैं। कालवेरिया के वनों के समाप्त होने से डोडो पक्षी का भी उसी के साथ विलुप्त हो जाना इसका जीता-जागता उदाहरण है।

सैटेलाइट डाटा से पता चला है कि भारत में प्रति वर्ष 1.3 मिलियन हेक्टेयर वन समाप्त हो रहे हैं। यह वनविभाग द्वारा घोषित किए गये सरकारी आँकड़े से आठ गुना अधिक है। आज मात्र 0.4 मिलियन हेक्टेयर में प्रतिवर्ष नये वन लगाये जाते हैं। इसका

सीधा मतलब यह हुआ कि देश प्रतिवर्ष एक मिलियन हेक्टेयर वन खोता जा रहा है। 100 मिलियन हेक्टेयर भूमि तो ऊसर है जहाँ की मिट्टी में लवण का आधिक्य है अथवा जिसका वायु और जल से लगातार कटाव होता रहता है। 8000 हेक्टेयर भूमि प्रतिवर्ष दर्रे की भेंट चढ़ जाती है। वन विनाश के कारण नंगी भूमि से पानी तेजी से बहकर समुद्रों में पहुँच जाता है। इस प्रकार बारिश का दसवाँ अंश, जो लगभग 160 बिलियन हेक्टेयर मीटर है, बिना किसी उपयोग के प्रतिवर्ष समुद्रों में समा जाता है।

नदियों के किनारे बसे नगरों का अपशिष्ट उन्हीं नदियों में प्रवाहित कर दिया जाता है इस कारण जल प्रदूषण की समस्या विकराल रूप धारण करती जा रही है। गंगा और जमुना जैसी पवित्रपावनी नदियाँ भी जल प्रदूषण की चपेट में आ गई हैं। पृथ्वी के स्वर्ग काश्मीर के डल झील का जल भी बुरी तरह प्रदूषित हो चुका है और पीने योग्य नहीं रह गया है। 80 प्रतिशत रोग दूषित जल पीने के कारण ही होते हैं। बढ़ती जनसंख्या के दबाव से जहाँ एक ओर कृषि भूमि के विस्तार की आवश्यकता महसूस की जाती है, वहीं खानों की मनमानी खुदाई से अनुपजाऊ भूमि का विस्तार हो रहा है।

कल-कारखानों की चिमनियों से निकला धुआँ और विषैली गैसों हवा को निरन्तर दूषित कर रही हैं। गुजरात राज्य में किए गए एक सर्वेक्षण से पता चला है कि खाना पकाने वाली महिलायें खाना बनाते समय धुएँ के साथ विषैले तत्वों की विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा निरापद बताई गई मात्रा से 40 प्रतिशत अधिक मात्रा श्वास के साथ अन्दर खींचती हैं। तीन घंटे में ये महिलायें इतना कैंसरजन्य बेंजो-पाइरीन अपने अन्दर समाहित कर लेती हैं जो 20 सिगरेट पीने जैसा है। जलावन की लकड़ी की कमी से जब महिलायें गोबर के उपले या दूसरे कृषि अपशिष्ट का प्रयोग करती हैं तो उनका स्वास्थ्य और भी अरक्षित हो जाता है।

दिल्ली में 15 वर्षों के अनुसंधान से पता चला है

कि स्त्री-पुरुषों में हृदय के आकार के बढ़ जाने का कारण धुआँ ही है। नेपाल में तो श्वास रोगों द्वारा मृत्युदर चौंकाने वाली है। प्रति सेकेण्ड एक नवजात शिशु की श्वास रोग से मृत्यु हो जाती है। धुएँ के साथ निकलने वाले कार्बन मोनोऑक्साइड के प्रभाव से महिलाओं में रक्ताल्पता आम रोग है। बच्चे जनने की वय वाली एक चौथाई महिलायें रक्ताल्पता से पीड़ित हैं।

पिछले 15 वर्षों में वायु में मिलने वाली सल्फर डाइऑक्साइड की मात्रा तिगुनी हो गई है। अम्ल वर्षा, जो यूरोप और उत्तरी अमेरिका के जंगलों और झीलों की मृत्यु का कारण है, का प्रभाव भारत के बम्बई, दिल्ली और पूना जैसे औद्योगिक नगरों में भी दिखने लगा है।

1984 में आधिकाधिक रूप से जिन 48 थर्मल पावर स्टेशनों का निरीक्षण किया गया उनमें से 31 में प्रदूषण को रोकने के संयंत्रों का अभाव था। भारत में मोटर-गाड़ियों और स्कूटरों से निकले धुएँ से भी हजारों मौतें होती हैं। मात्र दिल्ली की 5 लाख मोटर-गाड़ियाँ प्रतिदिन 400 टन प्रदूषक तत्व वायु में छोड़ती रहती हैं। बम्बई में एक म्यूनिसिपल कारपोरेशन के सर्वेक्षण से पता चला है कि वहाँ क्षयरोग और दूसरे श्वास रोगों का कारण प्रदूषित वायु ही है।

पिछले 40 वर्षों से लगभग 10,000 रसायन प्रतिवर्ष पूरे विश्व में कृत्रिम रूप से तैयार किए जाते हैं। इस्तेमाल किए जाने वाले 80 प्रतिशत रसायनों के विषैले प्रभाव के विषय में हम कुछ नहीं जानते। भारत में रसायनिक उद्योग अपने 4000 फैक्ट्रियों के साथ, देश के लिए बहुत बड़ा खतरा है। 1980 में इन कारखानों में काम करने वाले 10,000 कर्मि घायल हुए, 100 की मृत्यु हो गई। 2 और 3 दिसम्बर 1984 की रात में भोपाल के यूनियन कार्बाइड नामक कीटनाशी बनाने वाले कारखाने से रिसी गैस मिथाइल आइसोसाइनेट से हजारों लोग कीड़े-मकोड़ों की तरह मारे गए। यह घटना आज भी

ताजी लगती है। किन्तु इसके पूर्व इस बात को बताया ही नहीं गया था कि मिथाइल आइसोसाइनेट घातक है।

भारत में लगभग 100,000 टन कीटनाशी प्रति वर्ष इस्तेमाल किया जाता है। इसमें से 70 प्रतिशत मात्रा ऐसे कीटनाशियों की है जिनके प्रयोग पर पश्चिमी देशों में प्रतिबन्ध है। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा खाने की वस्तुओं का परीक्षण करने पर 50 प्रतिशत खाद्य पदार्थों में कीटनाशियों के अंश पाये गए हैं। मध्य प्रदेश के मुल्तानपुर नामक स्थान में स्थित स्लेट पेंसिल कारखाने में वहाँ की लगभग पूरी आबादी कार्यरत है और शायद ही कोई ऐसा घर हो जहाँ किसी परिवार में एक विधवा महिला न हो। वास्तविकता तो यह है कि पर्यावरण प्रदूषण का शिकार समाज का निर्धन वर्ग और महिलायें ही सबसे अधिक हैं।

बंगलौर, पूना और देहरादून जो अपने प्राकृतिक सौंदर्य, हरियाली और ठंडे-शांत वातावरण के लिए प्रसिद्ध थे, आज धूल-धक्कड़, शोर-शराबे से भरे और गर्म लगते हैं। पहाड़ियाँ (हिल स्टेशन) मृत्यु की ओर अग्रसर हैं। इनमें दक्षिण भारत में ऊटी, पश्चिम में महाबलेश्वर-पंचगनी, उत्तर भारत में दार्जिलिंग, गैंगटाक, शिलांग मसूरी, और शिमला प्रमुख हैं। पर्यटन से इन नैसर्गिक सौंदर्य वाले स्थलों को बहुत क्षति हुई है। पर्यटकों की संख्या में लगातार वृद्धि होने से वन काटे गए हैं, पेय जल की समस्या ने भयानक रूप धारण कर लिया है। कुल मिलाकर पूरे भारत के पर्यावरण की अपूरणीय क्षति हुई है।

ऐसी स्थिति में 2001 के पर्यावरण का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। हम कैसी इक्कीसवीं शती की कल्पना करते हैं? और आने वाली इक्कीसवीं

शती की वास्तविकता क्या है? पर्यावरण के प्रति चीख-पुकार, शोर-शराबे, हो-हल्ले का प्रभाव यह अवश्य हुआ है कि आम लोग भी जंगलों के कटने से होने वाली हानियों से परिचित हो चुके हैं। भोपाल गैस काण्ड ने पर्यावरण के प्रति आम लोगों में चेतना जगाने का काम किया है। राष्ट्रीय ही नहीं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर लोग पर्यावरण को समझने की कोशिश करने लगे हैं। चाहे वह कोलम्बिया में ज्वालामुखी के विस्फोट से निकले लावा की विभीषिका हो जिससे लगभग 50,000 लोगों की मृत्यु हुई या रूस के चेर्नोबिल एटॉमिक पावर प्लांट में 20 अप्रैल को लगी भीषण आग हो जिससे विमुक्त रेडियोधर्मिता के उच्च स्तर से न केवल सोवियत रूस वरन् नावों, स्वीडेन और फिनलैण्ड जैसे पड़ोसी देश भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके या नाभिकीय युद्ध से होने वाली विभीषिका, अथवा पश्चिमी अफ्रीका के कैमेरून नामक स्थान में विशाल झील में से, धरती के विस्फोट से, निकली विपैली गैस जिसने लगभग दो हजार लोगों को मौत के घाट उतार दिया, सभी के प्रति लोग चिंतित दिखने हैं, क्योंकि पर्यावरण किसी जाति या देश की न होकर सारी मानवता की धरोहर है। इसे हमें जैसे भी हो सुरक्षित रखना होगा। मुझे आशा है इस गोष्ठी में पर्यावरण से संबंधित अनेक विषयों पर चर्चा होगी और हल प्रस्तुत किए जायेंगे।

हमारी इस एकदिवसीय गोष्ठी का उद्देश्य यही है कि आम जनता में पर्यावरण के प्रति चेतना जाग्रत हो। यह काम कठिन है पर यदि इस गोष्ठी के माध्यम से हम इस दिशा में यत्किंचित योगदान दे सके तो इसे हम अपनी सफलता समझेंगे और आगे भी इस दिशा में हमें कार्य करने की प्रेरणा मिलेगी। □

—डॉ० जगदीश सिंह चौहान

—प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

क्या पर्यावरण आन्दोलन अवैज्ञानिक हो चला है ?

अरविन्द मिश्र

मत्स्य विभाग, चिनहट, लखनऊ

अतिवादी पर्यावरण प्रेमियों के विभिन्न क्रिया-कलापों के चलते पर्यावरण आन्दोलन ने इधर अवैज्ञानिक रुख अपना लिया है (वसंत केलकर 1985)। पर्यावरण शब्द का आशय अब प्रायः बड़ी औद्योगिक दुर्घटनाओं, तरह-तरह के प्रदूषणों तक ही सीमित हो गया लगता है, जबकि पर्यावरण की मूल अवधारणा काफी व्यापकता लिये हुये है। हमारे पर्यावरण चिन्तन

में भावुकता का आग्रह न हो इसलिये आवश्यक है कि हम इस सन्दर्भ में वस्तुपरक सोच को ही विकसित करें।

संचार माध्यमों को भी चाहिये कि वे पर्यावरण सम्बन्धी विविध पक्षों की सनसनीखेज प्रस्तुति की प्रवृत्ति से वचें जिससे लोक मानस में पर्यावरण का एक विज्ञान सम्मत सही स्वरूप विकसित हो सके।

पर्यावरण तथा फसल संरक्षण

उमेश सिंह

शोध छात्र, रसायन विभाग, इलाहाबाद, विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

अधिक अन्न उपजाने के उद्देश्य को पूरा करने में रासायनिक जीवनाशी अत्यधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। प्रायः सभी विकासशील देशों में इनका प्रयोग निरन्तर बढ़ता जा रहा है। यद्यपि कई देशों से यह सूचना प्राप्त हुई है कि ये जीवनाशी मनुष्य एवं पर्यावरण दोनों को ही हानि पहुँचा रहे हैं, फिर भी तृतीय विश्व के देशों में इनके प्रयोग में किसी प्रकार

की कमी नहीं आयी है। अतः अनुसंधानकर्त्ताओं ने पर्यावरणीय संकट को ध्यान में रखते हुए इन हानिप्रद रासायनिक जीवनाशियों के विकल्प तैयार करने प्रारम्भ कर दिये हैं। प्रस्तुत लेख में कुछ ऐसे उपाय सुझाये गये हैं जिनके प्रयोग से मनुष्य, पौधों, मृदा तथा पर्यावरण को या तो हानि नहीं है या है तो फिर न्यूनतम है।

कृषि की एक नयी दिशा : शून्य कृषि

अम्बरीष तिवारी

शोधछात्र, रसायन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

कृषि के क्षेत्र में निरन्तर हो रहे अनुसंधानों के परिणामस्वरूप आज हमारा खाद्यान्न उत्पादन तीव्र गति से बढ़ रहा है। नित्य नयी कृषि प्रणालियों के प्रयोग से कृषि कार्य अब सरल होता जा रहा है। शाकनाशियों का प्रयोग आमतौर पर अनैच्छिक पौधों

को (खरपतवारों को) खेत में ही समाप्त करने के लिये किया जाता है परन्तु हाल ही में शाकनाशियों का जुताई के स्थान पर सफल प्रयोग किया गया प्रस्तुत लेख में शून्य कृषि नामक इस विधि का सविस्तार विवरण दिया गया है।

गंगा प्रदूषण एवं मानव स्वास्थ्य

डॉ० गिरीश पाण्डेय

सह निदेशक प्रसार, नरेन्द्रदेव कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय, नरेन्द्र नगर (कुमारगंज), फैजाबाद

गंगा नदी सदियों से पवित्र मानी जाती रही है लेकिन इस विज्ञान के बढ़ते हुए युग में औद्योगीकरण से दिन प्रतिदिन गंगा जल प्रदूषित होता जा रहा है। अगर यही स्थिति रही तो जहाँ गंगा जल को पवित्र मानकर आचमन करते हैं वहीं पर अब गंगा जल पीने से भी कतरायेंगे।

औद्योगिक प्रगति और पर्यावरण

विश्वंभर प्रसाद 'गुप्तबन्धु'

बी 154, लोक विहार, दिल्ली — 110034

औद्योगिक प्रगति और उससे पोषित नगरीकरण के कारण एक ओर तो कोयला, तेल, लकड़ी आदि ईंधन और अन्य खनिज पदार्थों के युग-युग से संचित भंडार खाली होते जा रहे हैं और दूसरी ओर कूड़ा-कचरा बढ़ता जा रहा है। पश्चिम से आयातित शहरी सभ्यता के दुष्प्रभाव हमारे ग्रामीण परिवेश को विगाड़ते जा रहे हैं। परन्तु जरूरत औद्योगिक प्रगति को रोकने की नहीं, बल्कि उसके पीछे काम करने वाली दूषित विचारधारा को बदलने की है। भारत-माता ग्रामवासिनी हैं। अतः हमें गाँवों के विकास पर बल देना होगा, किन्तु गाँवों को विकसित करने का अर्थ उन्हें 'शहर' बनाना नहीं, बल्कि ग्रामीण संस्कृति की रक्षा करते हुए भी वहाँ, विकास की प्रतीक सारी सुविधाएँ पहुँचाना होना चाहिए।

पर्यावरण प्रबन्ध में संचार माध्यमों की भूमिका

रमेशदत्त शर्मा

प्रधान सम्पादक, 'खेती'

भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली

विकिरण : स्रोत एवं प्रभाव

राजीव गुप्त

छात्र (तृतीय वर्ष), मेडिकल कॉलेज, इलाहाबाद

विकिरण, मानवीय पर्यावरण के अभिन्न अंग हैं। कुछ विकिरण मानव के लिए लाभप्रद तो कुछ हानिकारक भी हैं। मानव तक विकिरणों की पहुँच के अनेक स्रोतों में भूमि व वायुमंडल आदि प्राकृतिक स्रोतों के अलावा मानवरचित स्रोत भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। प्रस्तुत आलेख विकिरण के इन विभिन्न स्रोतों एवं मानव पर इनके प्रभावों का विश्लेषण करता है।

पर्यावरणीय संकट एवं वृक्षारोपण

विष्णुदत्त शर्मा

राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, हिलसाइड रोड, नई दिल्ली 110012

मनुष्य का अपने पर्यावरण से निकट का सम्बन्ध रहा है। पर्यावरण को किसी भी प्रकार का संकट उसके अपने जीवन के अस्तित्व के लिए खतरा है। प्रस्तुत निबन्ध में इन्हीं विषयों पर प्रकाश डाला गया है। यदि किन्हीं भी कारणों से पर्यावरणीय संकट बढ़ता है तो जल, थल और वायु की प्राकृतिक अवस्थाएँ बदल जाएँगी और फलस्वरूप मानव एवं वनस्पति के लिए विलुप्तिकरण की स्थिति उत्पन्न हो

सकती है। अतः ऐसी दशा में पर्यावरणीय प्रदूषण को रोकना नितांत आवश्यक है। इस विज्ञान-युग में, विकासशील समाज में, सुरसा-मुख के समान बढ़ती जनसंख्या में औद्योगीकरण को कम करना तो सम्भव नहीं है, किन्तु इसका विकल्प वृक्षारोपण अवश्य है। वृक्षारोपण से न केवल इमारती सामान, ईंधन, ऊर्जा ही मिलती है बल्कि प्रदूषण से उत्पन्न सामयिक बीमारियों को भी दूर किया जा सकता है।

स्वच्छ गंगा

प्रो० महाराज नारायण मेहरोत्रा

भौतिकी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी—221005

इस लेख में गंगाजल संरक्षण के संदर्भ में एक विवेचना प्रस्तुत है। प्रदूषण निवारण के संबन्ध में जनजागरण अभियान की ओर भी ध्यान देना होगा। इसमें सबसे महत्वपूर्ण हैं वनों के काटे जाने को रोकना तथा समुचित स्थानों पर वृक्षारोपण। यह एक बहुउद्देशीय कार्यक्रम है जिससे जल प्रदूषण पर तो नियंत्रण होगा ही साथ-साथ बाढ़ की विभीषिका, मिट्टी

छीजन तथा सीवरीकरण की समस्या भी दूर होगी।

प्रस्तुत लेख में फ्रांस की सेन तथा इंग्लैंड की टेम्स नदियों का उदाहरण देते हुए अपने देश में 'गंगा प्राधिकरण योजना' के अन्तर्गत गंगा में जाने वाली गंदगी के उपचार के लिए कार्य पर बल दिया गया है ताकि सन् 2001 तक गंगा प्रदूषण से मुक्त हो जाये और हमारा स्वच्छ गंगा अभियान सार्थक हो।

पर्यावरण शिक्षा एवं चेतना

डॉ० ओ० पी० सिनहा

609 कटरा, इलाहाबाद-2

जनसंख्या का दबाव, प्रकृति के छीजते स्रोत, ऊर्जा की समस्या एवं औद्योगीकरण ने पर्यावरण के संतुलन को बिगाड़ दिया है। यदि शीघ्र ही इसे रोकना न गया तो इससे मानव के अस्तित्व को भी खतरा हो सकता है। अतएव अविलम्ब पर्यावरण सम्बन्धी शिक्षा

को, शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर, पाठ्यक्रम का अभिन्न अंग बना देना और शिक्षा से वंचित रह गये लोगों में पर्यावरण के संरक्षण के प्रति जागृति पैदा करना समय की माँग है। इस निबन्ध में इन्हीं पक्षों पर विचार व्यक्त किया गया है।

न्यूक्लियर रिएक्टर और पर्यावरण

डॉ० उमेश चन्द्र मिश्र

वायु मॉनीटरिंग अनुभाग शाखा, परमाणु अनुसन्धान केन्द्र, बम्बई - 400 0-5

न्यूक्लियर रिएक्टर दो प्रकार के होते हैं। अनुसन्धान रिएक्टर एवं बिजलीघर। दोनों ही प्रकार के रिएक्टर की विभिन्न किस्में होती हैं। इस देश में विद्युत् उत्पादन हेतु भारी जल मन्दक एवं शीतलक प्राकृतिक युरेनियम प्रकार के रिएक्टरों में अपनाया गया है। इस प्रकार के न्यूक्लियर रिएक्टर पर्यावरण की दृष्टि से अत्यन्त स्वच्छ होते हैं। बिजली उत्पादन के लिए प्रयुक्त न्यूक्लियर रिएक्टर, जल विद्युत् को छोड़कर, बिजली उत्पादन के अन्य सभी पारम्परिक विकल्पों की तुलना में पर्यावरण की दृष्टि से स्वच्छतम

होते हैं। इसका प्रमुख कारण ऐसे रिएक्टरों में प्रयुक्त डिजाइन में पर्यावरण पर पड़ने वाले कुप्रभावों का पूरा-पूरा ध्यान रखा जाना है और इनमें एक ऐसी प्रणाली का उपयोग है जिसके कारण किसी भी खराबी के होने पर सुरक्षा वाली स्थिति का लाया जाना है। इस वार्ता में भारतीय न्यूक्लियर कार्यक्रम की संक्षेप में चर्चा, पर्यावरण पर कुप्रभाव के कुछ आँकड़े व अन्य विकल्पों से उनकी तुलना प्रस्तुत की गई है। इस सन्दर्भ में कुछ व्यापक प्रांतियों के कारण और उनका निराकरण प्रस्तुत किया गया है।

नदियाँ और जंगल : बिगड़ते पर्यावरण के परिप्रेक्ष्य में

प्रेमानन्द चन्दोला

ई-1, साकेत, एम० आई० जी० फ्लैट्स नई दिल्ली—17

प्रस्तुत लेख में, पर्यावरण की भूमिका, नदियों और जंगलों का सम्बन्ध, जंगलों की उपयोगिता व महत्व, त्रिपको व एपिको आन्दोलन, नदियों की प्रदूषण व्यथा, नदियों के जल के नमूने व प्रसंगानुकूल

सावधानियाँ और उपाय, तथा पर्यावरण व शान्ति, सामुदायिक चेतना आदि बिन्दुओं के परिप्रेक्ष्य में विचार प्रस्तुत किये गये हैं।

पर्यावरण शुद्ध रखने की दिशा में एक नया कदम :

सुलभ शौचालय

अमिताभ प्रेमचन्द्र

छात्र, वी० एस-सी० (द्वितीय वर्ष), सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

भारत के गाँवों और शहरों में मल का निपटान एक समस्या बना हुआ है। इससे वायु और जल दोनों ही प्रदूषित होते हैं। 80 प्रतिशत रोग दूषित जल पीने से ही होते हैं। प्रस्तुत आलेख में मल के वैज्ञानिक ढंग

से निपटान के लिए सुलभ शौचालयों के (गाँवों और शहरों में) निर्माण पर बल दिया गया है। इनमें ऊर्जा और उर्वरक के साथ ही रोजगार के अदसर भी मिलते हैं।

गाँवों में बढ़ती पर्यावरणीय समस्याएँ

विजय जी

जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद

आजकल गाँव वह स्थान माना जाता है जहाँ धूल, धुएँ, कीचड़, मक्खी, मच्छर का साम्राज्य हो। लोग गरीबी, बेकारी, बीमारी और भुखमरी में घुट-घुट कर मर रहे हों। उर्वरक, कीटनाशक, ईट-भट्ठे के धुएँ आदि आधुनिक प्रदूषणों के साधन भी अब गाँवों की दिनचर्या में शामिल हो गये हैं।

प्रदूषण के आधुनिक स्रोतों के प्रति जनता को न तो कोई जानकारी है और न चेतना। स्वयंसेवी संस्थाओं और सरकार का कर्तव्य है कि वे पर्यावरण

सम्बन्धी कानूनों की जानकारी आम जनता तक पहुँचायें। कीटनाशकों के रख-रखाव व उपयोग का उचित प्रशिक्षण दिया जाय। गाँवों में मल-मूत्र से फैली गंदगी को रोकने के लिये सस्ते और टिकाऊ शौचालयों के निर्माण के लिये प्रोत्साहन दिया जाय। गाँव फिर हरे-भरे हो सकें इसके लिये वृक्षारोपण कार्यक्रम को आंदोलन का रूप देना होगा। घरों के अन्दर खाना बनाने समय महिलाओं की धुएँ से रक्षा के लिये निर्धूम चूल्हों के प्रचार-प्रसार की आवश्यकता है।

मरुस्थलीय पर्यावरण

डॉ० सुशीला राय

रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर—342001

विश्व के सम्पूर्ण भू-भाग का 28 प्रतिशत क्षेत्र शुष्क है। ये क्षेत्र कर्क और मकर रेखाओं के निकट सैकरी पट्टियों में मरुस्थलों के रूप में स्थित हैं। मरुस्थल भी प्रदूषण से अछूते नहीं बचे हैं, और यहाँ के पर्यावरण से शनैः-शनैः लुप्त होती वनसम्पदा, जीवों का निरन्तर क्षय और अन्य प्राकृतिक संसाधनों (अयस्क एवं खनिज आदि) का दोहन चिन्तनीय विषय बन गया है।

भारतीय 'थार मरुस्थल' का 2.78 लाख वर्ग

कि० मी० क्षेत्र पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और गुजरात के भू-भागों को समेटे हुए है। इस मरुस्थल का विस्तार या नियन्त्रण एक विवाद का विषय बना रहता है। हाल ही में प्राकृतिक गैस और खनिजों की खोज के साथ 'इंदिरा गांधी नहर योजना' के आगमन ने 'हरित क्रांति' लाने की दिशा में यहाँ के निवासियों में प्राण फूँक दिये हैं। इस प्रकार प्रस्तुत निबन्ध में थार मरुस्थल के पर्यावरण पर विस्तार से चर्चा की गई है।

जंगलों के ह्रास से जलवायु में स्थायी परिवर्तन

मनोज कुमार पटैरिया

वरिष्ठ सम्पादन सहायक, प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय, सी० एस० आई० आर०

हिलसाइड रोड, नई दिल्ली—110012

सौ वर्ष पहले की तुलना में आजकल बाढ़ें ज्यादा आने लगी हैं और नए-नए बचाव संसाधनों के आविष्कारों के बावजूद अपेक्षाकृत अधिक कहर डाल

रही हैं। मनुष्य अपने क्षणिक लाभ के लिए लगातार वनों को काट कर प्राकृतिक उत्पादों का अव्यवस्थित दोहन करता रहा है लेकिन उसने उसी अनुपात में

वृक्षारोपण पर समुचित ध्यान नहीं दिया। दक्षिण बोनियो तथा आस्ट्रेलिया के बहुत बड़े इलाके में दावाग्नि से बहुत हानि हुई है। साहेल में विदेशी सहायता मिलने के बाद भी वहाँ पर्यावरण के बिगड़ जाने की प्रक्रिया को रोका नहीं जा सका। स्काटलैण्ड के विज्ञान लेखक राबर्ट ने लिखा है, “वन

नष्ट होते हैं, तो जल नष्ट होता है, मत्स्य और शिकार नष्ट होते हैं, फसलें नष्ट होती हैं, पशु नष्ट होते हैं, उर्वरता विदा ले जाती है और तब ये पुराने प्रेत एक के पीछे एक प्रकट होने लगते हैं—बाढ़, सूखा, आग, अकाल और महामारी।” प्रस्तुत निबन्ध में उपरोक्त समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है।

पर्यावरण 2001, विकास एवं संस्कृति

डॉ० श्याम सुन्दर पुरोहित
डूंगर महाविद्यालय, वीकानेर

मनुष्य प्रकृतिप्रदत्त पर्यावरण को उपयोगिता की वस्तु समझता है और उसके साथ अपनी असीमित आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए हिसक व्यवहार करता आया है। पर्यावरण के शुद्ध अस्तित्व की सार्थकता और उसे अधिक अर्थवान बनाने के लिए एक ऐसे महायज्ञ की आवश्यकता है जिसमें मनुष्य को अपने स्वार्थों की आहुति देनी होगी।

पर्यावरण, बढ़ती हुई विकास दर व मनुष्य की आवश्यकताएँ एक त्रिकोण के तीन बिन्दु हैं और तीनों का सन्तुलन एक दूसरे पर निर्भर है। 21वीं सदी के विकास के नाम पर पर्यावरण का निरन्तर दोहन व उसका असंयमित उपभोग प्रदूषण की समस्या को

अवश्य ही जन्म देगा। यह समस्या एक भौतिक आयाम है जो परोक्ष व अपरोक्ष रूप से सजीवों को प्रभावित करती है। प्रत्येक धर्म में पर्यावरण संरक्षण व उसके प्रति सम्मान की बातें कही गई हैं। गाँवों में अभी भी इसके प्रमाण देखने को मिलते हैं। राजस्थान के जिन रेगिस्तानी क्षेत्रों में अकाल पड़ता है वहाँ के लोग संकट की स्थिति में भी पौधों को जल व पक्षियों को दाना दिये बिना अन्न ग्रहण नहीं करते हैं। प्रकृति के प्रति ऐसा ही स्नेह आज की आवश्यकता है।

विकास के नाम पर पर्यावरण को चूसना उसकी हत्या तुल्य है। भविष्य की पीढ़ी के लिए बनी यह प्राकृतिक धरोहर हमें 21वीं सदी के लिए सम्भालकर रखनी है।

आधुनिक तकनीकों का पर्यावरण पर प्रभाव

डॉ० महेश कुमार शर्मा
यंत्र अनुसंधान एवं विकास संस्थान, देहरादून-248008

आधुनिक तकनीकों से अधिक उत्पादन और मनुष्य को सुख तो प्राप्त होता है, परन्तु ये तकनीकें मनुष्य के जैविक आधार—वायु, जल व भूमि को नष्ट कर रही हैं जिन्हें उसे और भविष्य की उसकी समस्त पीढ़ियों को पोषित करना है। इन तकनीकों के कारण पर्यावरण प्रदूषण से प्राणि और वनस्पति जगत्,

इमारतों तथा पदार्थों पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है। यदि हमें पर्यावरण पर प्रदूषण द्वारा छाये संकट को दूर करना है और पृथ्वी को मानव-जाति के रहने योग्य बनाये रखना है तो हमें पर्यावरण के अधिक प्रदूषण को स्पष्ट रूप से काफी कम करना ही होगा। यदि हमने इन आधुनिक तकनीकों को उचित रूप से

परिवर्तित नहीं किया तो कहीं ऐसा न हो कि इन तकनीकों से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण के कारण मनुष्य के शरीर पर बढ़ते हुए रोगों के प्रभाव और मानव

जीवन के स्वरूप में निरन्तर गिरावट के कारण, ये तकनीकें हमें बदल ही न डालें।

21वीं सदी के पर्यावरण में पेयजल व्यवस्था

डॉ० रामगोपाल

उपनिदेशक एवं विभागाध्यक्ष, प्रयुक्त रसायन, रक्षा प्रयोगशाला, जोधपुर—342001

तेज़ी से बढ़ती जनसंख्या के लिए शुद्ध पेयजल उपलब्ध करा पाना, तीव्र औद्योगिक प्रगति के परिप्रेक्ष्य में, इक्कीसवीं सदी की एक महत्वपूर्ण चुनौती होगी। प्रस्तुत आलेख में जल की क्षारीयता, जल में क्लोराइड व अन्य लवणों की उपस्थिति, एवं स्वास्थ्य जागरूकता आदि विभिन्न पहलुओं के संदर्भ में जल संसाधनों के विकास की आवश्यकताओं व संभावनाओं

पर विचार व्यक्त किये गये हैं। औद्योगीकरण के फलस्वरूप विभिन्न जल स्रोतों में अनेक कार्बनिक व अकार्बनिक अवयवों का बोझ बढ़ रहा है, जिनमें से आर्सेनिक, सीसा, चाँदी, पारा, लोहा, क्रोमियम आदि शताब्दी के अंत तक पेयजल स्रोतों के प्रदूषण के प्रमुख कारण सिद्ध हो सकते हैं।

हिन्दी लेखक और पर्यावरण

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

हिन्दी में पर्यावरण सम्बन्धी साहित्य नाममात्र का है तो भी उसमें पर्यावरण के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण झलकता है। आवश्यकता है लगन से प्रामाणिक

आँकड़े प्राप्त करके भावी पीढ़ी के लिए पर्यावरण सम्बन्धी गहन साहित्य का सृजन किया जाय। हिन्दी लेखकों के लिए यह सबसे बड़ी चुनौती है।

अप्रत्याशित आपदाओं के संदर्भ में पर्यावरणीय चेतना

अनिल कुमार शुक्ल

17 म्योर कॉलेज कालोनी, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

तेज़ी से हो रही औद्योगिक प्रगति, विकास के नाम पर वनों का विनाश व बड़े-बड़े बाँधों का निर्माण, परमाणु ऊर्जा पर बढ़ती निर्भरता के साथ ही विश्व के विभिन्न भागों में गैस 'लीक' होने की दुर्घटनाओं, भयंकर बाढ़ तथा भूस्खलन, चेर्नोबिल दुर्घटना तथा भूकम्प एवं ज्वालामुखी विस्फोट जैसी प्राकृतिक

विपदाओं की घटनाएँ भी बढ़ी हैं। वैज्ञानिक शोधों से अब यह स्पष्ट होता जा रहा है कि ये 'अप्रत्याशित' आपदाएँ 'प्राकृतिक' ही नहीं, अपितु 'मानवनिर्मित' भी हैं। 21 वीं सदी में जबकि मानव अपनी सुख-सुविधाओं के लिए प्राकृतिक संसाधनों का दोहन और भी तेज़ कर चुका होगा, औद्योगिक प्रगति अपनी

चरम सीमा के नजदीक पहुँच रही होगी, तब निश्चय ही ये प्राकृतिक आपदाएँ, मानवीय पर्यावरण के लिए सबसे बड़ा खतरा सिद्ध होंगी। आवश्यकता इस बात की है कि हम अभी से इन आपदाओं के घटित होने

से पूर्व प्राप्त होने वाले प्राकृतिक व अन्य संकेतों से जनता को परिचित कराएँ और उन्हें बचाव के रास्ते भी दिखाएँ।

मृदा प्रदूषण

डॉ० अशोक कुमार गुप्ता

रसायन विभाग, इलाहाबाद एग्रीकल्चरल इन्स्टीट्यूट, इलाहाबाद

विभिन्न कीटनाशी, अपतृणनाशी, फफूँदनाशी रसायनों एवं सीसा, पारा, बेरियम, आर्सेनिक आदि जहरीले तत्वों वाले अकार्बनिक रसायनों के जमाव से मृदा प्रदूषण बढ़ रहा है। ये विषाक्त रसायन जैव-मण्डल में खाद्य श्रृंखला द्वारा चक्कर लगाते रहते हैं। इनसे संवेदनशील जीव तो नष्ट हो जाते हैं परन्तु प्रतिरोधी जीवों के ऊतकों में इनका संचय होता रहता है। यही कारण है कि विकसित देशों में इन

रसायनों के प्रयोग के प्रति सजगता बढ़ी है। दीर्घ स्थाई संचित प्रदूषक मृदा से नदियों, पोखरों तथा जलाशयों में पहुँच कर जल-जीवों को प्रभावित करते हैं। इन विषैले रसायनों के कारण मनुष्य के शरीर में कई व्याधियाँ भी उत्पन्न हो जाती हैं।

अतः पर्यावरण में इन न दिखाई देने वाले प्रदूषकों से मृदा की रक्षा करके पर्यावरण संतुलन बनाए रखना अत्यन्त आवश्यक है।

हमारी राष्ट्रीय वन नीति : एक समीक्षा

राम लखन सिंह

निदेशक, प्रोजेक्ट टाइगर, पर्यावरण एवं वन मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली

वनों के कटाव से होने वाली हानियों के विषय में आम लोग भी भली-भाँति जानते हैं फिर भी जंगलों का कटना जारी है। प्रस्तुत लेख में 1952 में सरकार द्वारा बनाई गई 'वन नीति' के कारगर न सिद्ध होने

के कारण राष्ट्रीय वन नीति की पुनः समीक्षा की गई है और वन नीति के ठीक से लागू होने के लिए कुछ हल सुझाये गए हैं।

ब्रायोफ़ाइट पादप और पर्यावरण

डॉ० जे० पी० श्रीवास्तव

भूतपूर्व अध्यक्ष, वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

ब्रायोफ़ाइट समूह के पौधे काफी समय तक उपेक्षित रहे हैं किन्तु इधर इन पौधों पर विशेष ध्यान दिया जा रहा है। इन्हें पैकिंग, प्लगिंग, पौधघरों में बिछाने,

सुखाकर जलाने के काम में लाते हैं। द्वितीय विश्व युद्ध में स्फ़ैगनम को रूई की तरह (एन्टीबायोटिक) इस्तेमाल किया गया था। प्रस्तुत लेख में इस बात पर

जोर दिया गया है कि अनेक ब्रायोफ़ाइट समूह के पौधों में पर्यावरण को नियन्त्रित करने के गुण भी

पाये जाते हैं इस कारण इनके अध्ययन की विशेष आवश्यकता है।

नाभिकीय युद्ध का पर्यावरण पर प्रभाव

मंजुलिका लक्ष्मी

5ई/4, लिडिल रोड, जार्ज टाउन, इलाहाबाद—211002

बीसवीं सदी में हुये विश्व युद्धों के पर्यावरण पर हुये विध्वंसक प्रभाव से आज कोई अनजान नहीं। इधर परमाण्विक और नाभिकीय युद्ध की आशंका बढ़ गई है। यदि तृतीय विश्व युद्ध हुआ तो वह निश्चय ही नाभिकीय युद्ध होगा। प्रस्तुत आलेख में नाभिकीय युद्ध से होने वाली विभीषिका—सूर्य की घातक परा-बैंगनी किरणों से सुरक्षा देने वाली ओजोन की पर्त का छिन्न-भिन्न होना, आने वाली पीढ़ियों को विकलांगता

का अभिशाप भोगना, उत्पन्न अग्नि का कई सप्ताहों के लिए सूर्य के प्रकाश पर पर्दा डालना, विस्फोट से निकली कालिख का प्रकाश को सोख लेना और ऐसे शीत की संभावना जिसके कारण न कोई देश बचेगा और न कोई जीव—पर चिता व्यक्त की गई है और सभी सही दिशा में सोचने वाले लोगों को एक होकर इसके विरोध में आवाज उठाने की आवश्यकता पर जोर दिया गया है।

अंटार्कटिक के पर्यावरण पर बढ़ते प्रदूषण का प्रभाव

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

वनस्पति विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

अब तक अंटार्कटिक मात्र ऐसा महाद्वीप है जहाँ प्रदूषण की समस्या नहीं है। वैज्ञानिक अंटार्कटिक क्षेत्र को ही पर्यावरण प्रदूषण के अध्ययन का मानक मानते हैं। किन्तु सीलों, मछलियों, समुद्री चिड़ियों, एडेली पेंगुइनों के मांस और अण्डों तथा यहाँ की बर्फ में पायी गई कीटनाशी (डी० डी० टी०) की सूक्ष्म मात्रा इस

वात का संकेत है कि प्रदूषण का प्रवेश अंटार्कटिक में प्रारंभ हो गया है। इस क्षेत्र में खनिजों के उत्खनन, तेलों के उत्पादन की चेष्टा जैसी अनेक मानवीय गति-विधियों के कारण आगे चलकर जिस भयंकर परिणामों की आशंका है उसी के प्रति प्रस्तुत आलेख में चिंता व्यक्त की गई है।

प्राचीन भारत में पर्यावरण-चेतना

डॉ० ए० एल० श्रीवास्तव

प्राचीन इतिहास विभाग, सी० एम० पी० डिग्री कॉलेज, इलाहाबाद

प्राचीन भारत में हमारे ऋषि-मुनि पर्यावरण को स्वच्छ एवं संतुलित रखने के लिए सदैव जागरूक रहते थे। मानव का प्रकृति के विभिन्न घटकों यथा पर्वत, नदियाँ, वृक्ष, पशु, पक्षी आदि से बड़ा ही घनिष्ठ एवं रागात्मक सम्बन्ध था। इन सभी घटकों को प्रायः भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के रूप में संपूज्य समझा जाता था। ऋषियों-मुनियों के ज्ञान भरे उपदेश

समस्त समाज को प्रभावित करते थे और उन्हें सच्चा ज्ञान प्रकृति की गोद में रहने से ही प्राप्त होता था। तभी वे अपना वानप्रस्थ जीवन व्यतीत करने के लिए वनों की शरण लेते थे। किन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या के दबाव तथा बदलते जीवन-मूल्यों के कारण हमने पर्यावरण को अशुद्ध एवं असंतुलित कर दिया है। प्रस्तुत आलेख में इसी की विस्तार से चर्चा की गई है।

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

द्वारा

13 सितम्बर 1986 को
सम्मानित विज्ञानसेवियों

का

संक्षिप्त परिचय



श्री विश्वंभर प्रसाद 'गुप्तबंधु'

जन्म : 3 अगस्त 1918

स्थान : अश्वत्थामापुर (असोथर)

जिला-फतेहपुर (उत्तर प्रदेश)

शिक्षा : चार्टर्ड इंजीनियर; विशारद (द्विक)

वरिष्ठ हिन्दी विज्ञान सेवी श्री विश्वंभर प्रसाद 'गुप्तबंधु' जी का सारा जीवन ही भारतीय संस्कृति और उसकी बाहिका हिन्दी के प्रति समर्पित रहा है। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की कहावत को चरितार्थ कर दिखाने वाले श्री 'गुप्तबंधु' जी कुशल इंजीनियर एवं उत्कृष्ट रचनाकार हैं।

पौराणिक कथाओं को वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में ललित नाटिकाओं तथा खण्डकाव्यों के माध्यम से प्रस्तुत करने में आपको अतीव सफलता मिली है जिसके प्रतीक हैं—'भायप' व 'सावित्री' नामक नाटक तथा 'भागीरथी' नामक खण्डकाव्य।

वालोपयोगी विज्ञान साहित्य की तीन पुस्तकों पर आपको भारत सरकार के पुरस्कार प्राप्त हो चुके हैं। पुरस्कृत पुस्तकें हैं—'हवाई घोड़ा', 'कुदरती कैमरा' तथा 'भोजन क्यों, क्या और कितना'। हिन्दी

में उत्कृष्ट इंजीनियरी साहित्य सृजन के लिए 'देहात की निवास संबंधी समस्याएँ' एवं 'अचल सम्पत्ति का मूल्यन' नामक पुस्तकों पर आपको राष्ट्रपति पारितोषिक भी प्राप्त हुए। 'महामार्ग, उनकी आयोजना और ज्यामितीय अभिकल्पन' नामक (मुद्रणाधीन) विश्वविद्यालय स्तरीय पाठ्यपुस्तक पर आपको भारत सरकार का पाँच हजार रुपये का 'केन्द्रीय लोक निर्माण विश्वकर्मा पुरस्कार' भी मिला है।

इंजीनियरी जैसे क्लिष्ट विषय में हिन्दी को प्रवेश दिलाने का श्रेय आपको ही है। केन्द्रीय लोक निर्माण विभाग के नामित सदस्य के रूप में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग एवं गृह विभाग की हिन्दी शिक्षण योजना के अन्तर्गत आपका उल्लेखनीय योगदान रहा है।

इंस्टिट्यूशन आफ इंजीनियर्स (इंडिया) नामक संस्था के हिन्दी जर्नल का आपने 1965 से 1982 तक संपादन किया। जर्नल के छः विशेषांक भी आपने संपादित किए जो इंजीनियरी के क्षेत्र में बहुचर्चित व बहुप्रशंसित रहे।

आपकी बहुमुखी प्रतिभा एवं निःस्वार्थ हिन्दी सेवा के लिए उत्तर प्रदेश हिन्दी साहित्य सम्मेलन (1977) तथा विज्ञान वैचारिकी अकादमी, इलाहाबाद (1981) ने आपको सम्मानित किया। दशाधिक वर्षों से आप दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पदाधिकारी के रूप में कार्य कर रहे हैं।

'गुप्तबंधु' जी के साथ से भी अधिक लेख नागरी प्रचारिणी सभा काशी के हिन्दी विश्वकोश में सम्मिलित हैं तथा इससे भी अधिक शोध निबंध व लेख समय-समय पर विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए हैं।

संपर्क : श्री विश्वंभर प्रसाद 'गुप्तबंधु'

बी-154, लोकविहार

डाकघर-रानीबाग

दिल्ली-110034



डॉ० भानुशंकर मेहता

जन्म : 25 मई 1921

स्थान : जौनपुर (उ० प्र०)

शिक्षा : बी० एस-सी०, एम० बी० बी० एस०,
डी० सी० पी०, एफ० एफ० सी० जी० पी०
(आई० एम० ए०), विशारद

काठियावाड़ के जामनगर से आये हुए गुजराती परिवार में जन्मे डॉ० मेहता बहुमुखी प्रतिभा के सुरुचि-सम्पन्न सफल चिकित्सक हैं। सन् 1942 से आपने विज्ञान-विषयों पर लिखना प्रारंभ किया और फिर चिकित्सा और स्वास्थ्य के अलावा कविता, कहानी, गजल, नाटक, हास्य-व्यंग्य, ललित निबंध, प्रौढ़ (नवसाक्षर) साहित्य, बाल साहित्य, विज्ञान कथाएँ आदि आपने लिखीं। हिन्दी साहित्य की इन विविध विधाओं की शताधिक पुस्तकें आपने लिखी हैं जिनमें से केवल कुछ ही प्रकाशित हैं और शेष अप्रकाशित।

आपने अंग्रेजी, गुजराती और मराठी से अनुवाद के माध्यम से भी हिन्दी का साहित्य बढ़ाने में योगदान किया है। उपनामों के प्रयोग का विश्व रेकर्ड

संभवतः विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में सैकड़ों उपनामों से स्वास्थ्य और परिवार कल्याण संबन्धी असंख्य लेख लिखने वाले डॉ० मेहता के नाम ही हैं, यह विचार उपनामों पर शोध करने वाले उदयपुर के श्री लाल सिंह बावेल का है।

आपकी उल्लेखनीय चिकित्सीय सेवाओं के लिए अखिल भारतीय पंडित परिषद्, आई० एम० ए०, बनारस, सिराकूज विश्वविद्यालय अमेरिका से प्रशंसापत्र भी मिल चुके हैं तथा आई० एम० ए०, उत्तर प्रदेश ने आपको एच० एन० शिवपुरा पुरस्कार से तथा मेडिकल कौंसिल ऑफ़ इंडिया ने डॉ० बी० सी० राय नेशनल अवार्ड से सम्मानित किया है। आप आई० एम० ए० के स्थानीय व प्रादेशिक अध्यक्ष तथा अखिल भारतीय उपाध्यक्ष रह चुके हैं। आपने विश्व चिकित्सा परिषद् (टोकियो) में भारत का प्रतिनिधित्व भी किया है।

आई० एम० ए० की वाराणसी शाखा द्वारा 1953 से प्रकाशित मासिक 'आपका स्वास्थ्य' का आपने 25 वर्षों तक संपादन किया। इसके अलावा आपने 'तरंग', 'बेढ़ब', 'बनारस', 'चौराहा' आदि का भी संपादन किया है।

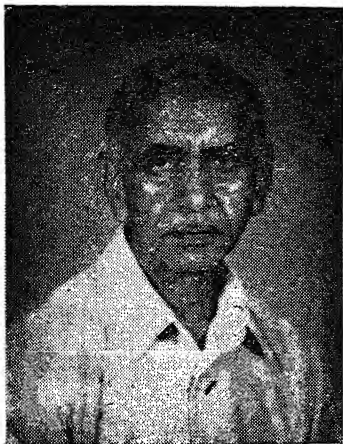
'चिकित्सा की प्रगति' नामक आपकी पुस्तक यूनेस्को द्वारा पुरस्कृत है। 'भारतेन्दु नाट्यरूपक' तथा 'वे सपनों के देश से लौट आए हैं' हिन्दी समिति द्वारा पुरस्कृत पुस्तकें हैं। 'बालाजोगन' नामक काव्य नाटक पर उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा 2500 रुपये का विशिष्ट पुरस्कार भी आपको मिला है। चार खंडों में 'विश्व आयुर्विज्ञान का इतिहास' उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान के पास प्रकाशन की प्रतीक्षा में है।

'मंगल ग्रह में' तथा 'अंतरिक्ष के द्वार' आपके विज्ञान कथा संग्रह हैं।

संपर्क : डॉ० भानुशंकर मेहता

मेहता पैथोलॉजी क्लिनिक

202 रामापुरा, वाराणसी-221010



प्रो० रमेश चन्द्र कपूर

जन्म : 1927

स्थान : बरेली (उ० प्र०)

शिक्षा : एम० एस-सी०, डी० फिल०, डी०
एस-सी०, एफ० एन० ए० एस-सी०

अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त रसायनविज्ञानी प्रो० कपूर विज्ञान-शिक्षाविद् तथा हिन्दीप्रेमी भी हैं। विद्युत् विश्लेष्य (इलेक्ट्रोएनालिटिकल) रसायन में विशेषज्ञता प्राप्त प्रो० कपूर ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में भारत का प्रतिनिधित्व करते हुए पोलैंड, चेकोस्लवाकिया, ब्रिटेन, जापान, हांगकांग, थाईलैंड, पश्चिम जर्मनी, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों की यात्राएँ की हैं। शोधकार्य के सिलसिले में आपने संयुक्त राज्य अमेरिका के विभिन्न विश्वविद्यालयों में भी कार्य किया है।

विज्ञान-शिक्षाविद् प्रो० कपूर ने जून 1969 में श्रीनगर में भारत और अमेरिका द्वारा संयुक्त रूप से आयोजित सेमिनार में प्रतिनिधि के रूप में भाग लिया

जहाँ वैश्लेषिक (एनालिटिकल) रसायन के शिक्षण-सम्बन्धी आपके प्रस्ताव को स्वीकार किया गया। विश्व-विद्यालय अनुदान आयोग के प्रतिनिधि के रूप में आपने अगस्त 1977 में यूगोस्लाविया में आयोजित रसायन शिक्षा के अन्तर्राष्ट्रीय सेमिनार में भी भाग लिया। आप विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, एन० सी० ई० आर० टी०, तथा विभिन्न विश्वविद्यालयों, कॉलेजों तथा प्रादेशिक शिक्षा बोर्डों की विभिन्न समितियों के समय-समय पर सदस्य भी रहे हैं।

1973 में चंडीगढ़ में आयोजित भारतीय विज्ञान कांग्रेस के रसायनविज्ञान सेक्शन की अध्यक्षता आपने की थी। आप 1973 तथा 1979 में दो बार इलेक्ट्रोकेमिकल के उपाध्यक्ष रह चुके हैं। 1980-82 के दौरान आप इंडियन केमिकल सोसाइटी की कौंसिल के सदस्य भी रहे। विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद के प्रधानमन्त्री (1959-62) तथा वर्तमान उपाध्यक्ष के रूप में आपने हिन्दी और विज्ञान के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

लोकरुचि के अनुकूल विषयों पर आपने अनेक वैज्ञानिक लेख हिन्दी व अँग्रेजी में लिखे हैं। आपकी पुस्तक 'परमाणु विखंडन' पर प्रसिद्ध मंगला प्रसाद पारितोषिक पुरस्कार 1969 में मिला था। इंडियन केमिकल सोसाइटी ने आपका चयन 1983 के पी० सी० राय० स्मारक व्याख्यान के लिए किया था। आपकी एक अन्य हिन्दी पुस्तक है—'विलयनों में उत्क्रमणीय एवं अनुत्क्रमणीय प्रक्रम'।

संप्रति आप जोधपुर विश्वविद्यालय में वरिष्ठ प्रोफेसर हैं तथा आपके निर्देशन में अब तक लगभग 33 छात्र पी-एच० डी० डिग्री प्राप्त कर चुके हैं।

संपर्क : डॉ० रमेश चन्द्र कपूर

वरिष्ठ प्रोफेसर, रसायन विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय, जोधपुर



श्री गुणाकर मुले

समकालीन हिन्दी जगत् के उत्कृष्ट विज्ञान लेखकों की अग्रिम पंक्ति में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले अप्रतिम हिन्दी सेवी श्री गुणाकर मुले के विस्तृत लेखन को विषयों की सीमा में सूचीबद्ध कर यहाँ प्रस्तुत कर पाना तो सम्भव नहीं, पर उनकी कुछ बहुश्रुत-बहु-पठित पुस्तकों के नाम ही उनके अध्ययन व लेखन में पायी जाने वाली विविधता एवं सुरुचिसम्पन्नता के असंदिग्ध प्रमाण सिद्ध होंगे।

अब तक मुले जी की छोटी-बड़ी दो दर्जन मौलिक पुस्तकें तथा आधा दर्जन अनूदित पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं तथा करीब एक दर्जन अन्य पुस्तकें प्रकाशनार्थ तैयार हैं। हिन्दी और अँग्रेजी में आपके ढाई हजार से भी अधिक लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

आपकी प्रमुख मौलिक पुस्तकें हैं—‘नक्षत्र लोक’, ‘अन्तरिक्ष यात्रा’, ‘ब्रह्माण्ड परिचय’, ‘अक्षर कथा’, ‘भारतीय लिपियों की कहानी’, ‘भारतीय अंकपद्धति की कहानी’, ‘भारतीय विज्ञान की कहानी’, ‘प्राचीन भारत के वैज्ञानिक’ आदि।

जन्म : 1935

स्थान : महाराष्ट्र में अमरावती जिले का एक गाँव

शिक्षा : ‘गणित’ में स्नातकोत्तर अध्ययन

‘नक्षत्र लोक’ एवं ‘भारतीय अंकपद्धति की कहानी’ पर आपको उत्तर प्रदेश शासन की ओर से पुरस्कार भी मिल चुका है।

1960 से ही स्वतन्त्र लेखन कार्य में निरत श्री मुले ने विज्ञान के समसामयिक व स्थायी महत्व के विभिन्न विषयों पर रोचक, प्रामाणिक एवं नवीनतम सामग्री हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत कर हिन्दी की वैज्ञानिक अभिव्यक्ति-सामर्थ्य को प्रमाणित कर दिया है। स्वयं मराठी भाषी होते भी अपने लेखन के लिए हिन्दी भाषा का चयन कर आपने राष्ट्रभाषा को समृद्ध एवं समर्थ किया है। विज्ञान परिपद, प्रयाग द्वारा प्रकाशित ‘विज्ञान’ में आपके अनेक लेख छप चुके हैं।

संप्रति ‘भारतीय विज्ञान के बृहत् इतिहास’ की रचना में निरत श्री मुले से हिन्दी विज्ञान जगत् को अनेक आशाएँ हैं।

सम्पर्क : श्री गुणाकर मुले

‘अमरावती’

सी—210, पाण्डवनगर, पटपड़गंज रोड,
दिल्ली—110092



जन्म : 3 जून 1936

स्थान : रावतगाँव (चन्दोला राई), पौड़ी,
गढ़वाल

शिक्षा : एम० एस-सी (प्राणिविज्ञान); एम० ए०
(हिन्दी), एल० टी०, साहित्यरत्न

श्री प्रेमानन्द चन्दोला

1960 से भारत सरकार के शिक्षामंत्रालय में वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग में सेवारत श्री चन्दोला की रूझान वचन से ही विज्ञान की ओर थी। पिछली पीढ़ी के देशी-विदेशी सुधी विज्ञान लेखकों से प्रेरित होकर हिन्दी विज्ञान लेखन की ओर प्रवृत्त चन्दोला जी में हिन्दी में विज्ञान को 'लोकप्रिय और रोचक रूप में नए आयामों तथा नई विधाओं में प्रस्तुत करने की ललक' विद्यमान है, जिसके फलस्वरूप भारतीय पत्र-पत्रिकाओं में हजार से भी अधिक लेख, विज्ञान-कथाएँ, विज्ञान-नाटक, कविताएँ आदि अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं और यह संख्या निरंतर बढ़ती ही जा रही है।

हिन्दी में अब तक आपकी आठ वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और इनमें से प्रत्येक बहुप्रशंसित एवं लोकप्रिय सिद्ध हुई है। लोकप्रिय वैज्ञानिक निबंधों वाली आपकी पुस्तक 'पर्यावरण और जीव' पर इसी साल हिन्दी अकादमी, दिल्ली का 5100

रुपये का पुरस्कार आपको मिला है। इनके अतिरिक्त आपने 12 अन्य पुस्तकों का सहलेखन भी किया है। साथ ही आपने स्कूल-स्तर की एन० सी० ई० आर० टी० की दो पुस्तकों का अनुवाद भी किया है। 'भारत की संपदा' तथा 'यूनेस्को दूत' के कई लेखों के अनुवाद के साथ-साथ आपने केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के अन्तर्गत अनेक पुस्तकों, पत्रिकाओं एवं रचनाओं का संपादन/पुनरीक्षण भी किया है।

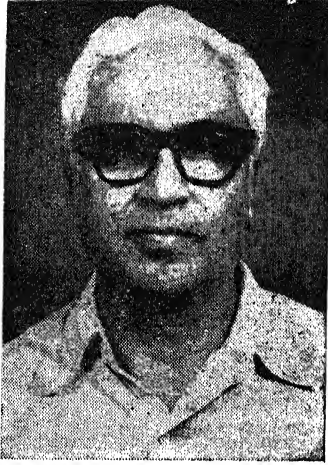
आकाशवाणी (दिल्ली) से आपकी अनेक वार्ताएँ प्रसारित हो चुकी हैं। आप 'भारतीय विज्ञान संवर्धन संस्था' के संस्थापक सदस्य हैं।

संप्रति केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय में सेवारत तथा हिन्दी विज्ञान लेखन में सक्रिय।

सम्पर्क : श्री प्रेमानन्द चन्दोला

ई-1, 'साकेत'

एम० आई० जी० फ्लैट, नई दिल्ली-110017



जन्म : 8 दिसम्बर 1929

स्थान : दिल्ली

शिक्षा : बी० एस-सी०

श्री श्यामसुन्दर शर्मा

1958 से ही भारत सरकार के प्रकाशन एवं सूचना निदेशालय में 'विज्ञान प्रगति' नामक लोकप्रिय विज्ञान मासिक के सम्पादकीय विभाग से सम्बद्ध श्री श्यामसुन्दर शर्मा जी के लेखन के प्रिय विषय सागर विज्ञान, अंतरिक्ष विज्ञान व चिकित्सा विज्ञान रहे हैं। 'विज्ञान प्रगति' के लिए समय-समय पर लिखने के अतिरिक्त आपने सरकारी तथा निजी तौर पर कुछ पुस्तकों का लेखन और सम्पादन भी किया है।

'सागर की कहानी', 'अपोलो चन्दा के देश में', 'धरती के ये जन्तु अनोखे', 'चाँद यात्रा' आदि आपकी उल्लेखनीय मौलिक पुस्तकें हैं। श्री जयप्रकाश भारती के साथ मिलकर लिखी गई पुस्तक 'अनन्त आकाश : अथाह सागर' को 1969 में यूनेस्को ने पुरस्कृत भी किया। आपकी तीन अन्य पुस्तकें 'इंदिरा और

विज्ञान', 'हमारा सागर : हिन्द महासागर' तथा 'जैव उर्वरक' प्रकाशनाधीन हैं।

आपकी उत्कृष्ट अनुवाद-क्षमता की प्रतीक हैं— 'इलेक्ट्रॉनिक मस्तिष्क', 'यन्त्र विषयकोश', 'भारत में विज्ञान और टेक्नॉलॉजी'।

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन के अवसर पर प्रकाशित 'हिन्दी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रकाशन निर्देशिका 1966-1980' का संपादन एवं संकलन आपने [श्री तुरगन पाल पाठक के साथ] किया।

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद की पत्रिका 'विज्ञान' के लिए भी आप सहर्ष लेख भेजते रहते हैं। सम्प्रति आप 'विज्ञान प्रगति' के सम्पादक हैं।

संपर्क : श्री श्यामसुन्दर शर्मा

डो 1/20 हौजबास

नई दिल्ली-16



जन्म : 28 अक्टूबर 1939

स्थान : इलाहाबाद

शिक्षा : एम० एस-सी० (रसायन), डी० फिल०

डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

प्रारंभ से ही हिन्दी विज्ञान लेखन में रुचि रखने वाले प्रो० अग्रवाल का नाम हिन्दी विज्ञान जगत् के लिए सुपरिचित है। विज्ञान के विविध विषयों—विशेषकर विषयक्षेत्र रसायन विज्ञान—से संबंधित आपके लगभग 50 लेख हिन्दी की विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। शुरु में यदा-कदा ही लेखों के लेखन में प्रवृत्त रहने वाले डॉ० अग्रवाल की लेखनी से इन दिनों, विशेषकर 1980 से तो अनेक उत्कृष्ट लेख हिन्दी की वैज्ञानिक एवं अ-वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित हो रहे हैं।

विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद की पत्रिका 'विज्ञान' से आपका विशेष लगाव रहा है। पिछले तीन वर्षों से विज्ञान परिषद् की अंतरंग सभा के सदस्य के रूप में आपने परिषद् के उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समर्पित प्रयत्न किए हैं।

वैश्लेषिक रसायन के क्षेत्र में आप अभी भी शोध-कार्य में संलग्न हैं तथा आपके दो दर्जन से भी अधिक शोधपत्र भारतीय एवं विदेशी जर्नलों में प्रकाशित हो चुके हैं। विज्ञानपरिषद् की शोध त्रैमासिक 'विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका' में भी आपके चार शोधपत्र प्रकाशित हैं।

डॉ० सुरेन्द्र नाथ दुबे के साथ मिलकर स्नातक

स्तर की एक पाठ्यपुस्तक 'अकार्बनिक रसायन' भी आपने लिखी है, जिसे हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी ने 1956 में प्रकाशित किया।

आपने Weath of India के कुछ भागों का अनुवाद भी किया जो सी० एस० आई० आर० द्वारा प्रकाशित 'भारत की संपदा' में सम्मिलित है।

आप 'भारतीय विज्ञान कांग्रेस', 'नेशनल एकेडेमी ऑफ साइंसेज (इण्डिया)', 'इलेक्ट्रोकेमिकल सोसाइटी ऑफ इण्डिया' तथा 'विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद' के आजीवन सदस्य हैं।

'इलेक्ट्रोकेमिकल सोसाइटी ऑफ इण्डिया' आपको अपना 'फेलो' चुनकर सम्मानित कर चुकी है। हिन्दी में उत्कृष्ट विज्ञान लेखन के लिए आपको विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद का 'डॉ० गोरखप्रसाद पुरस्कार' भी मिल चुका है।

संप्रति आप महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय में प्रोफेसर हैं।

संपर्क : डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल
प्रोफेसर, रसायन विभाग
महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय
रोहतक (हरियाणा)



जन्म : 28 अक्टूबर 1940

स्थान : चित्तौड़गढ़ (राजस्थान)

शिक्षा : एम० एस-सी० (भौतिकी), पी-एच० डी०

डॉ० श्यामलाल काकानी

अत्याधुनिक वैज्ञानिक खोजों पर हिन्दी में उच्च-कोटि का अधिकाधिक पठनीय साहित्य तैयार करने के उद्देश्य से हिन्दी विज्ञान लेखन में प्रवृत्त डॉ० काकानी की लगभग 37 पुस्तकें, 150 से अधिक लेख एवं कई शोधपत्र अब तक प्रकाशित हो चुके हैं। इनकी अधिकांश पुस्तकें माध्यमिक, स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर की पाठ्यपुस्तकें हैं तथा उनके अंग्रेजी संस्करण भी हैं।

‘विज्ञान’, ‘विज्ञान प्रगति’, ‘वैज्ञानिक’, ‘वैज्ञानिक बालक’, ‘सरिता’, ‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’, ‘नवनीत’ इत्यादि पत्रिकाओं में आपके वैज्ञानिक लेख समय-समय पर प्रकाशित होते रहते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के शोध जर्नलों में भी आपके कई शोधपत्र प्रकाशित हो चुके हैं।

आपको आपकी उत्कृष्ट हिन्दी पुस्तकों पर अनेक पुरस्कार एवं सम्मान भी मिले हैं। ‘तामनाभिकीय संलयन ऊर्जा’ पर उत्तर प्रदेश शासन का दो हजार रुपये

का विशेष पुरस्कार, ‘अतिचालकता’ पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा 2500 रुपये का एवं ‘अर्धचालक भौतिकी’ (पांडुलिपि) पर भी उ० प्र० हिन्दी संस्थान द्वारा 2500 रुपये का विशेष पुरस्कार आपको मिल चुका है।

आपको उत्कृष्ट विज्ञान लेखों के लिए ‘हिन्दी विज्ञान साहित्य परिषद्, ट्राम्बे’ द्वारा अखिल भारतीय स्तर पर तथा विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद द्वारा ‘डॉ० गोरखप्रसाद पुरस्कार’ से भी पुरस्कृत किया जा चुका है।

संप्रति आप राजकीय महाविद्यालय भीलवाड़ा में प्राध्यापक हैं।

संपर्क : डॉ० श्यामलाल काकानी

प्राध्यापक (भौतिकी)

स्नातकोत्तर भौतिकी विभाग

मा० ला० व० राजकीय महाविद्यालय

भीलवाड़ा (राजस्थान)



श्री देवेन्द्र नाथ भटनागर

वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसन्धान परिषद् के वैज्ञानिक विश्वकोश 'वेलथ आफ इण्डिया' के लिए अँग्रेजी में विज्ञान लेखन की शुरुआत करने वाले तथा कालान्तर में हिन्दी में शैकिया विज्ञान लेखन प्रारम्भ करने वाले श्री भटनागर के अब तक लगभग सत्तर लेख हिन्दी व अँग्रेजी की विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

उत्कृष्ट एवं समर्थ विज्ञान लेखक के अतिरिक्त श्री भटनागर एक कुशल एवं संघर्षशील हिन्दी सेवी संपादक भी हैं। हिन्दी में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की स्तरीय पत्रिका का अभाव आपको शुरु से ही खटकता रहा है। 1970 में तत्कालीन आविष्कार संवर्धन मंडल मासिक पत्रिका 'इनवेंशन इंटेलिजेंस' में सहायक सम्पादक का भार सँभालने के बाद आपने मई 1971 में छोटे आकार वाली आठ पृष्ठों की हिन्दी मासिक पत्रिका 'आविष्कार' का संपादन प्रारम्भ किया। अनेक प्रशासकीय एवं प्रकाशकीय गतिरोधों को एक-एक कर दूर करते हुए यह पत्रिका आपके समर्पित प्रयासों एवं अटूट कर्मनिष्ठा की बदौलत विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी की विशिष्ट पत्रिका बन चुकी है। बड़े आकार की

48 पृष्ठों की यह आकर्षक सचित्र पत्रिका नवीनतम मौलिक आविष्कारों, खोजों, तकनीकों को आम पाठकों तक राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से पहुँचाकर हिन्दी विज्ञान साहित्य की सेवा का महत्वपूर्ण दायित्व निभा रही है।

सन् 1980 में आपने भारत की ग्रामीण जनता तक उसकी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली उपयुक्त प्रौद्योगिकी पहुँचाने के संकल्प के साथ 'ग्राम-शिल्प' नामक एक त्रैमासिक पत्रिका भी शुरु की और यह पत्रिका भी अपनी उत्कृष्ट एवं उपयुक्त स्तरीय सामग्री के कारण अत्यन्त लोकप्रिय हो गई है।

संप्रति आप नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कारपोरेशन ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली में 'आविष्कार' एवं 'ग्राम शिल्प' पत्रिकाओं के संपादक हैं।

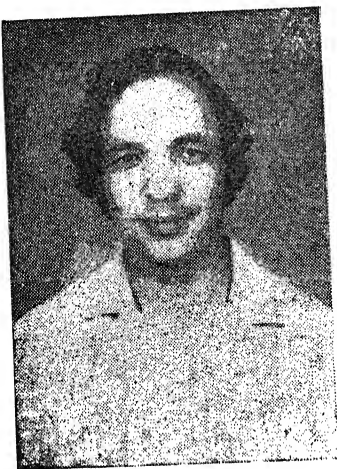
संपर्क : श्री डी० एन० भटनागर

संपादक

'आविष्कार' एवं 'ग्राम शिल्प'

नेशनल रिसर्च डिवेलपमेंट कारपोरेशन

ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली—110048



श्री देवेन्द्र मेवाड़ी

‘विज्ञान’ के अप्रैल 1965 अंक में प्रथम प्रकाशित लेख “कुमायूं और शंकुधारी” से वैज्ञानिक लेखन क्षेत्र में प्रवेश करने वाले श्री देवेन्द्र मेवाड़ी ने लेखक और संपादक दोनों रूपों में अपनी प्रतिभा की छाप छोड़ी है। पंतनगर कृषि विश्वविद्यालय की लोकप्रिय पत्रिका ‘किसान भारती’ का तेरह वर्षों तक आपने सफल संपादन किया जिसके फलस्वरूप भारत सरकार द्वारा आयोजित अखिल भारतीय कृषि पत्रिका प्रदर्शनी [एग्रोम एक्सपो-77] में ‘किसान भारती’ को प्रथम पुरस्कार मिला। आपने पाँच वर्षों तक पंतनगर पत्रिका का भी संपादन किया।

‘एशियाई फसलों का प्रजनन’ नामक विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तक के अनुवाद के अलावा आपने इस स्तर की पाँच अन्य पाठ्यपुस्तकों के संपादन या अनुवाद में सहयोग दिया। सी० एस० आई० आर० के वैज्ञानिक विश्वकोश ‘भारत की संपदा’ के अनुवाद में भी आपका सहयोग रहा।

हिन्दी की अग्रणी पत्रिकाओं में लगभग 500 लेख विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर प्रकाशित हो चुके हैं। लोकप्रिय विज्ञान की दो पुस्तकें ‘हार्मोन और हम’

जन्म : 7 मार्च 1944

शिक्षा : एम० एस-सी० (वनस्पति विज्ञान),
पत्रकारिता में स्नातकोत्तर डिप्लोमा

तथा ‘पशुओं की प्यारी दुनिया’ अब तक छप चुकी हैं जिनमें से पहली पुस्तक पर उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा 2500 रुपये का विशेष पुरस्कार भी आपको मिला है।

इन दिनों हिन्दी विज्ञान कथाओं के अछूते पड़े पक्ष की ओर आपकी लेखनी प्रवृत्त हुई है, जिसके परिणामस्वरूप ‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’ में सभ्यता की खोज नामक लघु उपन्यासिका तथा ‘भविष्य’ नामक लम्बी विज्ञान-कथा छप चुकी हैं। ‘अमृत प्रभात’ में भी ‘गुडबाई मि० खन्ना’ नामक एक विज्ञान-कथा छपी है।

हिन्दी विज्ञान जगत् से विभिन्न रूपों में जुड़े श्री मेवाड़ी संप्रति पंजाब नेशनल बैंक, लखनऊ में प्रचार अधिकारी हैं।

संपर्क : श्री देवेन्द्र मेवाड़ी

प्रचार अधिकारी

पंजाब नेशनल बैंक, 10 अशोक मार्ग

लखनऊ—226001



जन्म : 8 अगस्त 1935

स्थान : मुबारकपुर, जिला—गाजियाबाद,
(उ० प्र०)

शिक्षा : बी० एस-सी०, एम० ए० (हिन्दी)

श्री विष्णु दत्त शर्मा

हिन्दी विज्ञान जगत् से लेखक, सम्पादक और अनुवादक के रूप में जुड़े श्री विष्णुदत्त शर्मा की लेखनी से निःसृत लगभग दो सौ लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। अब तक प्रकाशित आपकी चार पुस्तकें हैं—‘अपराध अभिज्ञान में फोटोग्राफी’, ‘पर्यावरणीय प्रदूषण’, ‘विष और उपचार’ तथा ‘पुलिस अन्वेषण फोटोग्राफी’। ‘पुलिस अन्वेषण फोटोग्राफी’ नामक पुस्तक पर आपको भारत सरकार द्वारा ‘पं० गोविन्दवल्लभ पन्त’ पुरस्कार से भी सम्मानित किया जा चुका है। आपकी चार अन्य पुस्तकें शीघ्र प्रकाश्य हैं।

वैज्ञानिक तथा औद्योगिक अनुसंधान परिषद् (C. S. I. R.) के वैज्ञानिक विश्वकोश Wealth of India के हिन्दी रूपांतर ‘भारत की सम्पदा’ में अनुवादक के रूप में आपका भी योगदान रहा है।

‘अभिभाविका’ तथा ‘राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला’ के मुखपत्र ‘समीक्षा’ का सम्पादन भी आपने किया है।

मेरठ विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि हेतु ‘हिन्दी विज्ञान लेखन’ विषय पर आपने अपना शोधप्रबन्ध भी प्रस्तुत कर दिया है, जिससे हिन्दी विज्ञान लेखन के विविध पक्षों पर निश्चय ही महत्वपूर्ण सूचना-सामग्री प्रकाश में आयेगी।

‘विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद’ तथा ‘सेन्टर फॉर इकोनॉमिक एण्ड डेवेलपमेंट रिसर्च, गाजियाबाद’ के आजीवन सदस्य श्री विष्णुदत्त शर्मा पिछले अनेक वर्षों से ‘राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला, नई दिल्ली’ में कार्यरत हैं।

सम्पर्क : श्री विष्णुदत्त शर्मा

राष्ट्रीय भौतिकी प्रयोगशाला
नई दिल्ली-110012



जन्म : 1 जनवरी 1951

स्थान : ग्राम—चक्के, जिला—जौनपुर

शिक्षा : बी० एस०-सी०, एम० ए० (प्राचीन इतिहास)

श्री रामधनी द्विवेदी

वाराणसी से प्रकाशित दैनिक 'जनवार्ता' से 1972 में अपने पत्रकार जीवन की शुरुआत करने वाले श्री रामधनी द्विवेदी, हिन्दी के उन चन्द विज्ञान लेखकों में हैं, जिन्होंने हिन्दी अखबारों में विज्ञान चर्चा के साप्ताहिक स्तम्भों को नियमितता प्रदान की है। अपने सशक्त व सामयिक लेखों के जरिए हिन्दी अखबारों का एक ऐसा पाठक वर्ग तैयार करने में आपका भी महत्वपूर्ण योग है, जिसकी माँग के फलस्वरूप आज प्रायः प्रत्येक हिन्दी अखबार में विज्ञान का साप्ताहिक स्तंभ अनिवार्य हो चुका है।

खगोलशास्त्र एवं स्वास्थ्य विषयक लेखन में विशेष रुचिसम्पन्न श्री द्विवेदी के अब तक कई सौ लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। दैनिक 'आज' में 'अनिद्रा: समस्या और समाधान' शीर्षक प्रथम लेख 1973 में प्रकाशित हुआ और तब से आपकी लेखनी से निःसृत अनेक लेख 'विज्ञान', 'विज्ञान भारती', 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान', 'सूर्य', 'मनोरमा', 'जनवार्ता', 'आज', 'अमृत प्रभात' आदि में प्रकाशित होते रहे हैं। 12 किशतों में 'धूमकेतुओं

की दुनिया' शीर्षक लेखमाला [दिसम्बर 85 से फरवरी 86 तक] भी प्रकाशित।

अप्रैल 1975 में 'आज' [कानपुर संस्करण] में उपसंपादक के रूप में शामिल होकर आपने लगभग दो वर्षों तक 'विज्ञान चर्चा' स्तम्भ का नियमित लेखन किया। पुनः दिसम्बर 1977 में इलाहाबाद में 'अमृत प्रभात' के प्रभातकाल से ही संलग्न और तब से आज तक निरन्तर प्रति सप्ताह 'विज्ञान चर्चा' स्तंभ में लेखन।

हिन्दी विज्ञान जगत् को आप सरीखे लगनशील युवा लेखक व संपादक से अनेक आशाएँ व अपेक्षाएँ हैं।

संप्रति 'अमृत प्रभात' में ही मुख्य उपसंपादक के रूप में कार्यरत।

संपर्क : श्री रामधनी द्विवेदी

मुख्य उपसंपादक

'अमृत प्रभात'

10 ताशकंद मार्ग, इलाहाबाद

नाभिकीय ऊर्जा : क्या पीछे लौटना सम्भव है ?

राघवेंद्र कृष्ण प्रताप

प्रवक्ता (शिक्षा), ए० पी० एन० डिग्री कॉलेज, बस्ती

चेर्नोबिल की दुर्घटना के मानवीय प्रभाव जो भी हों और राजनीतिक रूप में पश्चिमी विश्व इसका कैसा भी उपयोग क्यों न करे यह दुर्घटना नाभिकीय ऊर्जा संयंत्रों की समाप्ति नहीं कर सकती। यह एक तथ्य है कि विश्व के अनेक देशों की सरकारों ने इस दुर्घटना के पश्चात् अपने नाभिकीय कार्यक्रम रोक दिये हैं फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि हम पुनः पारम्परिक ऊर्जा स्रोतों की ओर लौटने की स्थिति में हैं। तेल और कोयले के भण्डार आज की उपभोग-दर के आधार पर एक चतुर्थ शताब्दी से अधिक समय तक ही उपलब्ध हो सकते हैं। अन्तिम वर्षों में इन भण्डारों की दाबहीनता इन वस्तुओं की प्राप्ति के लिये उन्नत तकनीक की अपेक्षा कर सकती है। सौर ऊर्जा और वायु ऊर्जा की तकनीक अभी इतनी विकसित नहीं हो सकी है कि मानवीय आवश्यकता के अनुरूप ऊर्जा उत्पादित कर सके। यही स्थिति तरंग ऊर्जा, भूतापीय ऊर्जा और संगलन ऊर्जा प्राविधियों की है।

ऐसी स्थिति में नाभिकीय ऊर्जा के सम्बन्ध में त्वरित अनुसन्धान और नाभिकीय संयंत्रों को अधिक सुरक्षित बनाने की दिशा में हमारे प्रयत्न ही विश्व ऊर्जा की आवश्यकता पूरी करने में सहायता कर सकते हैं इसमें कोई संशय नहीं है और विश्व का ऊर्जा अनुसन्धान इसी दिशा में केन्द्रित होना चाहिये।

चेर्नोबिल के नाभिकीय संयंत्र में यूरेनियम के विखण्डन द्वारा ऊर्जा उत्पन्न होती है। यह ऊर्जा पानी को वाष्पीकृत कर देती है और इस वाष्प से टर्बाइन चलाये जाते हैं। चेर्नोबिल की संयंत्र दुर्घटना के

कारण अभी अज्ञात हैं फिर भी अनुमान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि संभवतया यह दुर्घटना शीतक प्रणाली की असफलता के कारण ही हुयी। शीतक-प्रणाली की त्रुटि के कारण नाभिकीय-कोर का तापक्रम बढ़कर 5000°F (फारेनहाइट) हो गया जिससे यूरेनियम-ईंधन पिघल गया और वाष्प बनने लगी। वाष्प से ज़िरकोनियम-मिश्रधातु की प्रतिक्रिया ने हाइड्रोजन गैस (अत्यधिक उच्च दाब पर) उत्पन्न की। वाष्प और ग्रेफाइट की रासायनिक प्रतिक्रिया से भी हाइड्रोजन और कार्बन डाइऑक्साइड निर्मित हुयी, इस हाइड्रोजन के ऑक्सीजन से संयोग के फलस्वरूप पूरी संरचना विस्फोटित हुयी और ज्वलित ग्रेफाइट ने रेडियोसक्रिय विखण्डित पदार्थ वातावरण में फेंक दिये। यह कहना तर्कसंगत नहीं होगा कि चेर्नोबिल संयंत्र में संभावित दुर्घटनाओं के लिये सुरक्षा प्राविधान नहीं रहे होंगे परन्तु इस दुर्घटना ने यह सिद्ध कर दिया है कि विभिन्न स्तरों पर सुरक्षा की और प्रभावी तकनीकों और संभव हो तो अनेक वैकल्पिक तकनीकों का प्रयोग अब अनिवार्य हो गया है।

इस सन्दर्भ में आशा की एक किरण शिकागो के निकट स्थित एरगान नैशनल लेबोरेटरी के वैज्ञानिकों के अनुसंधानों के परिणामों से प्राप्त होती है। यह परिणाम इतने उत्साहवर्धक हैं कि आशा की जा सकती है कि भविष्य के नाभिकीय विखण्डनीय संयंत्र पूरी तरह सुरक्षित किये जा सकें। 'स्पान' पत्रिका में प्रकाशित एक टिप्पणी के अनुसार नवीन प्रणाली इतनी सक्षम है कि किसी भी यांत्रिक अथवा मानवीय त्रुटि

की स्थिति में इसमें विस्फोट की सम्भावना बिल्कुल नहीं होगी जिसके फलस्वरूप वातावरणीय रेडियो सक्रियता का खतरा समाप्त हो जाएगा।

इस प्रायोगिक संयन्त्र में नाभिकीय-कोर से ऊर्जा का निस्सरण पानी के स्थान पर द्रव-सोडियम द्वारा किया जाता है। प्रयोगों के क्रम में 20,000 किलो-वाट क्षमता वाले इस संयन्त्र को इसकी पूरी क्षमता पर चलाया गया जो व्यावसायिक संयन्त्र कभी नहीं करते। तत्पश्चात् शीतक द्रव सोडियम का प्रवाह रोक दिया गया। साधारण संयन्त्रों के साथ ऐसी प्रक्रिया निश्चय ही दुर्घटना का कारण बनती जैसा चेर्नोबिल और अन्य स्थानों पर भी हो चुका है। परन्तु प्रायोगिक संयन्त्र में नाभिकीय-कोर में थोड़ी तापक्रम वृद्धि के पश्चात् ही संयन्त्र की नाभिकीय प्रक्रिया स्वतः समाप्त हो गयी और इसमें किसी बाहरी तकनीकी सहायता की आवश्यकता नहीं पड़ी।

नवीन संयन्त्र की सफलता का रहस्य सोडियम द्रव के उच्च क्वथनांक 871°C (सेण्टीग्रेड) में निहित है। स्वाभाविक है कि पानी की उलना में साधारण दाब पर ही यह अधिक तापीय ऊर्जा का अवशोषण द्रव अवस्था में ही कर सकता है।

इस संयन्त्र का यूरेनियम-ईंधन भी विशिष्ट प्रकार का है। तापक्रम की वृद्धि के साथ इसके आयतन में अधिक वृद्धि होती है। यह व्यवस्था नाभिकीय विखंडन से उत्पन्न न्यूट्रॉनों को अधिक दूर जाकर यूरेनियम नाभिक से टकराने को बाध्य करती है। इससे नाभिकीय प्रक्रिया धीमी हो कर स्वतः ही समाप्त हो जाती है। 'स्पान' के अनुसार यह संयंत्र आकार की दृष्टि से भी बहुत छोटा है।

स्वीडन के नाभिकीय वैज्ञानिकों ने पारम्परिक जल शीतलित संयन्त्रों की सुरक्षा के लिये एक नवीन विधि विकसित की है। वे पूरे संयन्त्र को एक जलाशय में निर्मित करते हैं और जलाशय के जल में प्रलम्बित बोरॉन का एक अनुपात बनाए रखते हैं। यदि किसी भी प्रकार नाभिकीय-कोर का तापक्रम अधिक बढ़ने लगे तो जलाशय का जल कोर में पहुँच

कर उसे ठण्डा करता है। प्रलम्बित बोरॉन यूरेनियम से क्रिया करके नाभिकीय प्रतिक्रिया को रोक देते हैं। स्वीडन के वैज्ञानिकों ने इसे प्रासेस इन्ट्रेण्ट अल्टीमेटली सेफ (PIUS) संयन्त्र का नाम दिया है।

अन्तर्राष्ट्रीय एटॉमिक एजेंसी के एटॉमिक इण्डस्ट्रियल फोरम के 1985 के आँकड़ों के अनुसार विभिन्न देश अपनी वैद्युत् ऊर्जा का निम्न प्रतिशत नाभिकीय संयन्त्रों से प्राप्त करते हैं।

देश	कार्यरत नाभिकीय संयन्त्र	देश की विद्युत् ऊर्जा (नाभिकीय संयन्त्रों से प्राप्त) प्रतिशत
1. अर्जेंटीना	2	23
2. बेल्जियम	8	60
3. ब्राजील	1	1
4. ब्रिटेन	33	19
5. बल्गारिया	4	32
6. कनाडा	16	12
7. चेकोस्लोवाकिया	5	15
8. पूर्वी जर्मनी	5	12
9. फिन्लैंड	4	38
10. फ्रांस	40	65
11. हंगरी	2	5
12. भारत	6	2
13. इटली	3	4
14. जापान	33	27
15. नीदर लैण्ड्स	2	6
16. पाकिस्तान	1	2
17. द० अफ्रीका	4	18
18. द० कोरिया	4	18
19. स्पेन	8	24
20. स्वीडन	12	42
21. स्विटजरलैण्ड	5	34
22. ताइवान	6	59
23. यू० एस० ए०	98	16

24. सी०स० गणतंत्र 50

11

25. पश्चिमी जर्मनी 18

30

26. यूगोस्लाविया 1

5

उपरोक्त आँकड़ों के प्रकाश में यह निष्कर्ष निकालना कठिन नहीं है कि नाभिकीय तकनीक के सुरक्षात्मक उपायों पर अनुसन्धान द्वारा ही विश्व की ऊर्जा-आवश्यकता पूरी हो सकना सम्भव है।

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में जब इस भूमण्डल पर मानवीय जनसंख्या का विस्फोट एक तथ्य

हो और इस जनसंख्या के लिये सुविधाओं की व्यवस्था करना सरकारों और राष्ट्रों का प्रमुख कर्तव्य, तब नाभिकीय ऊर्जा के विरोध में आंदोलन अधिक समस्याओं का ही कारण बनेंगे। आवश्यकता इस बात की है कि नाभिकीय ईंधन, शीतक-व्यवस्था, तथा ऊर्जा-स्थानांतरण की अधिक सुरक्षित विधियों की खोज के लिये विभिन्न देशों द्वारा स्वतन्त्र रूप में और सह-कारिता कार्यक्रम चलाए जाएँ।□

साँपों की खेती

सतीश कुमार शर्मा

वन चेतना अधिकारी, गुलाब बाग, उदयपुर (राजस्थान)—313001

फल-फूल, अनाज आदि की खेती के बारे में तो आप सुनते ही रहते हैं परन्तु 'साँपों की खेती' सुनकर शायद आपको आश्चर्य होगा। भले ही आप अविश्वास करें परन्तु यह सच्चाई है कि साँपों की भी अब खेती होने लगी है।

हमारा देश उन सौभाग्यशाली देशों में से एक है जहाँ साँपों की विविधता में कोई कमी नहीं है। हमारे देश की धरती पर इतनी आवास विविधता है कि कोई 233 किस्मों के साँप यहाँ पाये जाते हैं। सन्तोष की बात तो यह है कि उनमें तीन चौथाई किस्मे निरापद हैं।

हमारी संस्कृति में साँपों को विशेषकर फणधर नागों को विशेष स्थान दिया गया है तो भी इस देश में साँपों की वर्तमान स्थिति अच्छी नहीं है। जनसाधारण साँपों से इतना भयभीत रहता है कि जहाँ कोई साँप दिखाई देता है, तुरन्त उसे मारने का प्रयास किया जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि मारे जाने वाले अधिकांश सर्प विषहीन एवं निरापद होते हैं परन्तु जन चेतना का अभाव होने से साँपों को बहुत भयंकर समझा जाता है।

साँपों को सिर्फ भय से मारने के अलावा इस भौतिकवादी युग में उनका अविवेकपूर्ण आर्थिक शोषण भी बड़े पैमाने पर किया जाने लगा है। साँपों का चमड़ा ऊँचे दामों पर बेचा जाता है जिससे कितनी ही आकर्षक वस्तुएँ बनाई जाती हैं। वन्य प्राणी (सुरक्षा) अधिनियम 1972 के लागू होने से पहले साँपों के चमड़े का घड़ले से विदेशी व्यापार होता था। इस बात का अन्दाजा इसी से लगाया जा सकता है कि अप्रैल 1967 से मार्च 1968 तक हमारे यहाँ से 3,58,413 किग्रा० सर्प-चमड़ा विदेशों को भेजा गया जिसके एवज में हमें 107,651,889 रुपये की आय हुई। सहज अनुमान लगाया जा सकता है कि 358413 किग्रा० चर्म प्राप्त करने के लिये कितने साँपों को मारा गया होगा। अनुमान है कि सर्प-चमड़ा उद्योग में प्रत्येक वर्ष 10 मिलियन साँपों का हमारे देश की धरती से सफाया होता रहा है।

चमड़े के अतिरिक्त साँपों के और भी प्रत्यक्ष लाभ हैं। साँपों का विष स्वयं साँपों के काटे गये लोगों का इलाज करने हेतु प्रतिविष तैयार करने में प्रयुक्त होता है। सर्प विष से अन्य दवाईयाँ भी तैयार की

जाती हैं। कई देशों में तो साँप का माँस चात्र से खाया जाता है। भारत में भी कुछ आदिवासी जातियाँ साँपों एवं उनसे अण्डों को खाने में प्रयुक्त करती हैं। परन्तु सर्वाधिक महत्वपूर्ण सर्प-उत्पाद विष ही है जो आर्थिक दृष्टि से स्वर्ण तुल्य कीमती है।

साँप किसानों का सबसे श्रेष्ठ दोस्त होता है। दुनियाँ में साँपों के अलावा कोई दूसरा प्राणी ऐसा नहीं है जो इतनी कुशलता से चूहों को पकड़कर समाप्त कर दे, वह भी ठीक उसके बिल की अन्तिम गहराई से। स्वयं मनुष्य भी चूहे पकड़ने में साँपों के आगे कहीं नहीं टिकता। हाँ चूहे मारने के नाम पर मनुष्य प्रकृति में चूहामार विषों को उड़ेल कर प्रदूषण को जरूर बढ़ा सकता है।

अनुमान है चूहे ही भारत के कुल अन्न उत्पादन का 20-25 प्रतिशत भाग बर्बाद कर देते हैं। चाय-बागानों में भी चूहे करोड़ों रुपयों का नुकसान करते हैं। इन्हीं चूहों का प्रभावशाली नियन्त्रण साँप करते हैं। साँपों की अनुपस्थिति में चूहों की संख्या पर प्रभावी नियन्त्रण आदमी के बस की बात नहीं लगती। आदमी भी क्या करे। इन नन्हें प्राणियों की प्रजनन दर ही बहुत ऊँची है। मोल रैट जैसे चूहे तो एक बार में ही 18 तक बच्चों को जन्म देते हैं। घरेलू चूहों का एक जोड़ा ही उपयुक्त परिस्थितियों में मात्र एक साल में अपनी संख्या 880 तक पहुँचा सकता है। अगर पाँच साल तक इन्हें उपयुक्त परिस्थितियाँ दी जावें तो यह मनुष्य एक जोड़ा ही 940,36,960,152 तक संख्या पहुँचाने का दम रखता है।

हम सहज ही सोच सकते हैं कि साँपों को मारने की बजाय उनका संरक्षण करें तो प्रतिवर्ष हम कितना अतिरिक्त अन्न व अन्य वस्तुयें चूहों द्वारा बर्बाद किए जाने से बचा सकते हैं।

इस तरफ अब जागृति आने लगी है। साँपों के संहार के स्थान पर अब साँपों की खेती की बातें की जाने लगी हैं। हमारे देश के तमिलनाडु एवं आन्ध्र-प्रदेश राज्य की प्रसिद्ध सर्प पकड़ने वाली जाति 'इरुला' साँप चमड़ा उद्योग हेतु प्रतिवर्ष विशाल संख्या में साँपों को मारने के बजाय अब उन्हें जीवित अवस्था में ही 'मद्रास साँप फार्म' जैसी संस्थाओं को साँप देती है। इस फार्म पर साँपों को जीवित अवस्था में रखते हुये उनसे विष प्राप्त किया जाता है। विष प्राप्ति के बाद उन्हें जीवित अवस्था में ही पुनः प्रकृति में जीने एवं प्राकृतिक भूमिका निभाने के लिये लगभग उन्हीं स्थानों पर छोड़ दिया जाता है जहाँ से उन्हें पकड़ा गया था। इस कार्य में 'इरुलाओं' का महत्वपूर्ण योगदान होता है जिसके बदले में उन्हें जीविकोपार्जन हेतु रुपया दिया जाता है।

साँप फार्मों में हजारों साँपों का रख-रखाव किया जाता है। यहाँ साँपों को प्रजनन की भी सुविधा दी जाती है हालाँकि सभी साँप वन्दी अवस्था में आसानी से प्रजनन नहीं कर पाते हैं। सबसे अच्छा प्रजनन स्थल तो स्वयं प्रकृति है जहाँ इन्हें छोड़ा जाना जरूरी है ताकि कोई जाति अपक्षय की तरफ नहीं बढ़े।

'साँपों की खेती' के सिलसिले में हमारे देश में कई संस्थाएँ क्रियाशील हैं, जिनमें मद्रास साँप फार्म और हाफकिन इंस्टिट्यूट प्रमुख हैं।

अगर साँप चमड़ा उद्योग के क्षेत्र में कुछ करना है तो हमें साँपों की प्राकृतिक संख्या को बिलकुल नहीं छेड़ना चाहिये बल्कि 'साँप फार्म' विकसित कर साँपों की खेती के जरिये अतिरिक्त सर्प संख्या का विकास करना चाहिये। विष उद्योग हेतु तो साँपों की प्राकृतिक संख्या का भी दोहन किया जा सकता है परन्तु चमड़ा उद्योग हेतु साँपों की खेती ही एकमात्र विकल्प है। □

क्या आप जानते हैं ?

1. कि विश्व का सबसे बड़ा चिड़ियाघर इतोशा रिजर्व अफ्रीका के नामीबिया नामक स्थान में है।
2. कि विश्व की सबसे बड़ी जल जीवशाला जॉन जोशेड एक्वेरियम अमेरिका के शिकागो (इलिनॉय) में है।
3. कि सबसे बड़ा भारतीय पक्षी सारस क्रेन है।
4. कि विश्व में लगभग 500 प्रसिद्ध चिड़ियाघर हैं और प्रतिवर्ष इन चिड़ियाघरों में लगभग 330 मिलियन सैलानी आते हैं।

क्या झाग बचायेगा परमाणु विस्फोट से ?

त्रिभुवन नाथ उपाध्याय

रक्षा शरीरक्रिया एवम् सम्वद्ध विज्ञान संस्थान, दिल्ली छावनी - 110010

अपने छोटे-छोटे दाँतों को झाग वाले दूधपेस्ट से साफ करके बच्चे प्रसन्न होते हैं। वयस्क लोग खुशियाँ मनाने के लिए कभी शैम्पेन की बोतल खोलते हैं तो कभी बीयर की, होटल में पहुँचने पर हम सभी साधारण काफी के स्थान पर झाग वाली स्पेशल 'एक्सप्रेसो' काफी पीना पसंद करते हैं, महिलाएँ भी कपड़ा धोने के लिए अधिक झाग बनाने वाले सर्फ का ही चुनाव करती हैं। साबुन के साथ अधिक झाग देने वाला पानी ही मीठा माना जाता है। यही नहीं, प्रकृति प्रेमी भी घंटों समुद्र के किनारे बैठकर लहरों का समुद्र के किनारे तक आना, आकर टकराना, झाग बनाना और पुनः वापस जाकर अनन्त में विलीन हो जाना देखते हुए अनुपम आनन्द की अनुभूति प्राप्त करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि बच्चों, जवानों, महिलाओं और प्रकृति प्रेमियों सभी को समान रूप से सुख की अनुभूति देता है यह झाग।

कुछ विशिष्ट गुणों के कारण झाग हमारे लिए महत्वपूर्ण होते जा रहे हैं। वस्तुतः किसी भी झाग का उपयोग उसके घनत्व पर निर्भर करता है। आज-कल आग बुझाने के लिए पानी के स्थान पर झाग का प्रयोग बढ़ता जा रहा है। इस काम के लिए जिन झागों का इस्तेमाल होता है वे प्रायः दो प्रकार के होते हैं। कुछ झाग कम फैलने वाले होते हैं, इनका घनत्व 0.1 से 0.2 ग्राम प्रति घन सेन्टीमीटर तक होता है। इस प्रकार के झाग के उपयोग से पानी के प्रभावकारी आयतन को बढ़ा दिया जाता है। अधिक तेजी से फैलने वाले झागों का घनत्व 0.002 से 0.05 ग्राम प्रति घन सेन्टीमीटर होता है। इस प्रकार झाग का उपयोग बन्द कमरों में लगी आग को बुझाने के लिए किया जाता है। खानों में लगी आग को बुझाने के लिए भी ये अधिक उपयोगी होते हैं, क्योंकि आग

बुझते समय यदि मनुष्य इस झाग से ढँक भी जाए तो उसे साँस लेने में कोई विशेष परेशानी नहीं होगी। जिन कमरों में महत्वपूर्ण दस्तावेज एवम् कम्प्यूटर से मैंहगे यंत्र रखे हों, उनमें लगी आग बुझाने के लिए पानी का इस्तेमाल नहीं किया जा सकता है। इन स्थितियों में भी आग बुझाने के लिए झाग का ही प्रयोग किया जाता है। अत्यन्त प्रज्वलनशील पदार्थों में लगी आग को बुझाने के लिए भी झाग का उपयोग किया जाता है। इसके लिए झाग को आग लगने के स्रोत पर ही फैलाते हैं। ऐसा करने से आग पर तुरन्त नियंत्रण पाया जाता है।

ठोस, तरल एवम् गैस तीनों रूपों को अपने अन्दर समाहित कर लेने की क्षमता झाग में होती है। इसके अतिरिक्त यह भी देखा गया है कि यह कुछ वांछनीय पदार्थों को अपने में जड़ कर सकता है। झाग में यह क्षमता भी होती है कि किसी भी पदार्थ की थोड़ी से थोड़ी मात्रा को भी अपने एक समान रूप से बाँट लेता है। इसका उदाहरण हम बालों को सेट करने वाले रसायनों के रूप में देखते हैं। शिशु जन्म की दर को नियंत्रित करने के लिए कुछ जेलियों का उपयोग किया जाता है। ये योनि-मार्ग में झाग बना कर शुक्राणु के प्रवेश में बाधा डालती हैं। कपड़ों की रंगाई करने वाले विशेषज्ञ धागों पर समान रूप से रंग चढ़ाने के लिए झाग का उपयोग करते हैं। इसका एक लाभ यह भी होता है कि रंगाई के समय धागे कम पानी सोखते हैं और जल्दी सूख जाते हैं।

तेल एवम् प्राकृतिक गैस का पता लगाने के लिए कूपों की खुदाई का काम करने वाले लोग झाग का कई प्रकार से उपयोग करते हैं। कई बार इन कूपों में पानी निकल आता है और इनकी आगे खुदाई के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि किस प्रकार इस पानी को

वहाँ से निकाला जाए। इस काम को करने के लिए उस पानी में कुछ सतह सक्रिय पदार्थ मिलाकर उसमें तेज गैस छोड़कर झाग बनाते हैं और उस झाग के साथ-साथ पानी भी कूपों से बाहर निकल जाता है। कूप के अन्दर निर्मित झाग के घनत्व को नियंत्रित करके उसके निचले तल पर दबाव को सावधानीपूर्वक नियंत्रित किया जा सकता है। कूप के अन्दर के मलबे को सतह पर लाने के लिए भी झाग का उपयोग किया जाता है।

अनावश्यक पदार्थों को अपने में सोख लेने की क्षमता के कारण झाग के घने आवरण का उपयोग विषैली गैसों तथा किसी दुर्घटना के कारण फैले हुए प्रज्वलनशील रसायनों को सोखने के लिए किया जाता है। झाग के घनत्व का कम होना, छोटी मोटी बाधाओं से अप्रभावित रहना तथा अनावश्यक पदार्थों को सोख लेने के गुणों का उपयोग रेडियोसक्रिय विकिरणों को सोखने के लिए किया जा सकता है और उनके कारण होने वाले नुकसानों से बचा जा सकता है। इन विकिरणों को सोखने के बाद वहाँ रह गये प्रदूषकों को कम करने के लिए बहुत तेजी से फैलने वाली झाग का उपयोग किया जा सकता है। ऐसा करके बड़ी-बड़ी जगहों को भी बहुत कम समय में प्रदूषणमुक्त बनाया जा सकता है।

बम विस्फोट के समय उत्पन्न गर्मी अटके तथा विकिरण के प्रभाव को कम करने के लिए झाग के उपयोग की संभावनाओं से सम्बन्धित व्यापक प्रयोग विश्व की अनेक प्रयोगशालाओं में चल रहे हैं। अमेरिका के 'सैन्डिया नेशनल लैबोरेटरीज' में एक प्रयोग के दौरान यह देखा गया है कि एक अत्यन्त विस्फोटक पदार्थ सीन⁴ के 5 पीएल को विस्फोट के समय तुरन्त कम घनत्व (0.005 ग्राम × घन सेन्टीमीटर) के 800 घन फीट झाग से ढक कर उसके विध्वंसक प्रभाव को 90% तक कम किया जा सकता है। ऐसा इसलिए होता है कि विस्फोट से उत्पन्न ऊर्जा का कुछ भाग झाग को पानी की छोटी-छोटी बूंदों में बदलने तथा कुछ इन बूंदों को वाष्पीकृत करने में लग जाता है। विस्फोट के परिणामस्वरूप उत्पन्न ऊर्जा को झाग द्वारा कम करने की उस प्रयोग से इस बात की प्रबल संभावना बनती है कि भविष्य में झाग का उपयोग बम विस्फोट के घातक परिणामों से मानवता को बचाने के लिए किया जा सकता है। क्या यह संभव नहीं है कि वैज्ञानिक किसी जबरदस्त आग बम के निर्माण में सफलता प्राप्त कर लें और बम-विस्फोट की सूचना मिलते ही तुरन्त उसे घटना स्थल पर गिरा कर बम-विस्फोट के प्रभाव को निष्क्रिय बना दें। □

एक नयी चिकित्सा-पद्धति : कायरोप्रेक्टिक

श्रीमती विनीता अग्रवाल

सी-4, जी, 103 ए, जनकपुरी, नई दिल्ली-58

शरीर की रचना तीन अवयव तंत्रों के मेल से होती है, ये हैं—स्नायु तंत्र, पेशी तंत्र और अस्थि तंत्र। इन तीनों की गतिशीलता ही हमारे शरीर को जीवन्त बनाये रखती है। इन तीनों में से यदि एक भी तंत्र रोगग्रस्त हो जाये तो शरीर सुचारु रूप से काम नहीं कर सकता। सब रोगों का इलाज दवाइयों

से सम्भव नहीं है। शरीर में होने वाले यांत्रिक दोषों को ठीक करने के लिये यांत्रिक विधियाँ ही आवश्यक होती हैं।

कायरोप्रेक्टिक चिकित्सा की एक ऐसी विशिष्ट विधा है जिसके द्वारा शरीर के यांत्रिक दोषों को दूर किया जा सकता है। इसकी लोकप्रियता धीरे-धीरे बढ़

रही है। कायरो अर्थात् हाथ और प्रैक्टिक अर्थात् चिकित्सा अर्थात् हस्त कौशल से होने वाली चिकित्सा।

यह चिकित्सा पद्धति आज से करीब 90-100 वर्ष पहले अमेरिका में शुरू हुई। धीरे-धीरे इसे मान्यता मिलने लगी और अब तो इसे सरकारी मान्यता भी प्राप्त है। अब तक कायरोप्रैक्टिक के 20 प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित हो चुके हैं जिसमें लगभग 40,000 डॉक्टर (कायरोप्रैक्टर) कार्यरत हैं। विश्व के अनेक भागों में जैसे न्यूजीलैंड, आस्ट्रेलिया, जापान, इंग्लैंड, कनाडा, फ्रांस, स्विटजरलैंड और जर्मनी में यह पद्धति बड़ी तेजी से चलायी जा रही है।

डॉ० डी० डी० पामर ने, 1895 में बोन सैटिंग विज्ञान को व्यवस्थित कर एक नया रूप दिया। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि अपनी जगह से खिसकी हुई हड्डी को वापस उसी जगह पर बिठाने की नयी पद्धति की खोज कर उसे “कायरोप्रैक्टिक” या “मैन्युपुलेटिव एडजस्टमेंट” का नाम दिया। इस विधा द्वारा मानव शरीर के यांत्रिक रोगों को ठीक किया जा सकता है।

रीढ़ की हड्डी मानव शरीर का मुख्य आधार है। जब तक मनुष्य की रीढ़ की हड्डी ठीक रहती है तब तक स्नायु प्रणाली भी ठीक तरह से काम करती है। जब स्पाइन (रीढ़) की एक भी हड्डी या वर्टिब्रा अपनी जगह से हटती है तो वह बहुत-सी शारीरिक क्रियाओं को प्रभावित करती है। इसे “सब लक्सेशन” कहते हैं। इसे हाथ के सहारे से ठीक किया जा सकता है। अर्थात् कायरोप्रैक्टिक तकनीक द्वारा इसका उपचार सम्भव है।

शरीर के अवयवों को शक्ति प्रदान करने वाला स्नायु तंत्र रीढ़ की हड्डी से होकर गुजरता है। पर कभी-कभी इन स्नायुओं में गड़बड़ी होने पर भी रीढ़ की हड्डी अपनी जगह से थोड़ा हट जाती है। इस इलाज द्वारा हड्डी न केवल अपनी जगह पर आ जाती है बल्कि उस अवयव को स्नायु बल भी सुचारु रूप से मिलने लगता है।

हड्डियों से सम्बन्धित कुछ मुख्य बीमारियाँ हैं—

स्कोलियोसिस, स्पोन्डिलाइटिस, स्लिप डिस्क, सिस्टिका आदि।

कायरोप्रैक्टिक में इलाज की दिशा निर्धारित करने हेतु सबसे पहले विशिष्ट प्रकार का रोगनिदान परीक्षण किया जाता है। इस परीक्षण का उद्देश्य यह पता लगाना होता है कि हड्डी कहाँ से खिसकी है, उस स्थान पर सूजन है या नहीं? इसके साथ-साथ यह पता लगाना भी आवश्यक होता है कि रोग स्थानिक कारण से है या शरीर के किसी दूसरे अंग में तकलीफ के कारण है या शरीर के किसी अंग में दर्द होने से पार्श्व प्रभाव हुआ है। यह सब जानने के बाद ही उचित इलाज सम्भव होता है।

कायरोप्रैक्टिक द्वारा केवल खिसकी हुयी हड्डी को ही ठीक नहीं किया जा सकता बल्कि इसके द्वारा दमा, माइग्रेन और थाकावट का इलाज भी सम्भव है। माइग्रेन का सम्बन्ध स्पाइनल कॉर्ड से होता है, मस्तिष्क से नहीं। इसमें सर्वाइकल स्पाइन को किसी हड्डी में विशेष रूप से एटलस और एक्सिस में होने वाली किसी भी खराबी का असर सीधा “आक्सिपिट” अर्थात् सिर के पिछले और नीचे के भाग की तंत्रिका पर पड़ता है और इसके परिणामस्वरूप ही माइग्रेन होता है। इसको “ऑक्सिपिटो एटलांटो आर्टिक्यूलेशन” कहते हैं। कभी-कभी गर्दन की हड्डी के मोड़ में फर्क आ जाता है। इससे नसें दब जाती हैं और माइग्रेन हो जाता है। नसों के दबने के कारण “स्पोन्डिलाइटिस” भी हो सकता है जिसमें पीठ और दोनों कंधों में दर्द होता है।

इसी प्रकार दमा का सम्बन्ध इस कायरोप्रैक्टिक चिकित्सा से है। दमा में “थोरैसिक स्पाइन” में कमी आ जाती है। दमा होने के अन्य कारणों में से यह भी एक कारण है। थोरैसिक स्पाइन में कमी आ जाने के कारण फेफड़ों और हड्डियों को उचित स्नायु बल नहीं मिल पाता जिससे फेफड़ों में स्पास्म (अतिसंकुचन) आ जाता है। इस कमी को दूर कर दमे को भी किसी सीमा तक नियन्त्रित किया जा सकता है।

स्पाइनल कॉर्ड ठीक करके “स्कोलियोसिस” भी

ठीक किया जा सकता है जिसमें आदमी एक तरफ को झुक जाता है। इसी प्रकार “कैफोसिस” का इलाज भी सम्भव है जिसमें मानव शरीर आगे को झुक जाता है।

प्रसिद्ध कायरोप्रेक्टिक डॉ० रघु भाई शास्त्री के अनुसार “दुनिया में एक भी व्यक्ति की रज्जु पूरी तरह सामान्य नहीं है। चौदह लाख वर्ष पहले आदमी इस रूप में नहीं था, चौपाये की तरह दोनों हाथों और दोनों पैरों के सहारे चलता था जिससे उसकी रीढ़ की हड्डी पर अतिरिक्त दबाव पड़ता था। बाद में उसने केवल पैरों के सहारे चलना शुरू किया पर झुकने से

कमर में जो दर्द पैदा हुआ और मुद्रा बदलने के कारण जो कण्ट हुआ वह आज तक पीढ़ी दर पीढ़ी बना हुआ है।

इस प्रकार यह चिकित्सा पद्धति मानव मात्र को बहुत से यांत्रिक दोषों से छुटकारा दिलाने में कारगर साबित हो रही है जिनका निदान अब तक अन्य चिकित्सा पद्धतियों में असम्भव माना जाता रहा है। अर्थात् शरीर के यांत्रिक दोषों में जहाँ चिकित्साशास्त्री अपने को असहाय समझने लगते हैं वहीं से कायरो-प्रेक्टिक की सफलता की शुरुआत होती है। □

ध्वनि तरंग जगाएँ जीने की उमंग

डॉ० वृज भूषण

रीडर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

क्या आपने कभी सोचा है कि रोता हुआ बच्चा माँ की लोरी सुनकर क्यों चुप हो जाता है? उचित विधि द्वारा किया गया गुरु वाणियों या मन्त्रों का पाठ सुनने वाले को क्यों शांति प्रदान करता है जबकि बहुत से सुनने वाले तो उनके भावार्थ समझने में असमर्थ होते हैं? अगर इन तथ्यों का विश्लेषण करें तो पायेंगे कि इन सब में ध्वनि तरंगों का काफी योगदान है। यानी कि छोटा बच्चा लोरी नहीं समझ सकता, ये लोरी उच्चारण से उत्पन्न हुई ध्वनि तरंगें ही हैं जो उसको प्रभावित करती हैं।

आज हम एक ऐसे वातावरण में रह रहे हैं जो अनेक प्रकार की ध्वनियों से गुन्जित हैं। महानगरों में रहने वाले तो ‘शोर’ से बहुत अधिक परेशान हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न ध्वनियों का प्रभाव भिन्न-भिन्न होता है। जहाँ कुछ ध्वनियाँ जीवों को शांति प्रदान करती हैं, वहीं कुछ उन्हें उत्तेजित अथवा अशांत कर देती हैं। ध्वनि तरंगें जड़ और चेतन दोनों को प्रभावित करती हैं। इस तथ्य का प्रमाण हमारा प्राचीन इतिहास है। दीपक राग गा

कर दीपक जलाना तथा मेघ-मल्हार द्वारा वर्षा करवाने की घटनायें बहुत अधिक पुरानी नहीं हैं। ध्वनि तरंगें किस प्रकार जीवों को प्रभावित करती हैं इसका विश्लेषण करना तो यहाँ अति कठिन है, हाँ मानव के लिये इसके महत्व पर अवश्य प्रकाश डालने का प्रयत्न किया गया है।

सर्वप्रथम पेड़ों तथा पशुओं को ही लीजिये। ऐसा देखा गया है कि दुधारू पशुओं के रहने के स्थान के चारों तरफ की वायु को अगर संगीत से संतृप्त कर दें तो उनसे प्राप्त होने वाले दूध की मात्रा बढ़ जाती है। मच्छर प्रतिकर्षी से तो आजकल सभी परिचित हैं। ये दो प्रकार के होते हैं—एक में से विशेष प्रकार की ध्वनि तरंगें निकलती हैं जो मच्छरों के लिये असहनीय होती हैं। इसलिये वे वहाँ से भाग जाते हैं और दूसरों में से विशेष प्रकार की गन्ध निकलती है। यद्यपि मच्छरों के लिये वह ध्वनि असहनीय होती है परन्तु मनुष्य को यह सुनायी ही नहीं पड़ती। जहाँ मनुष्य ने ध्वनि तरंगों द्वारा मच्छरों से अपना बचाव किया है वहाँ इसको उनकी सुरक्षा के लिये भी प्रयोग

किया है। अगर आपको कभी गाँव में जाने का मौका मिला हो तो वहाँ शायद पशुओं—गाय, बैस, बैल इत्यादि, को भगाने, बुलाने के लिये उनके मलिकों द्वारा हॉक (एक विशेष प्रकार की आवाज़) लगाते भी देखा होगा। कहने का मतलब है कि पशुओं का संचालन तरह-तरह की आवाज़ें निकाल कर किया जा सकता है। कनाडा सरकार तो 1984 में हुई दुर्घटना जिसमें 9000 कैरीबू (Caribou) चारे की तलाश में लैब्रेडॉर (Labrador) से हडसन खाड़ी के आस-पास की चरागाहों में जाते समय तूफानी नदियों की चपेट में आकर कालकवित हो गये थे, जैसी दुर्घटनाओं को रोकने के लिये ध्वनि का ही प्रयोग करने की सोच रही है। कनाडा सरकार का विचार खतरनाक स्थानों पर हेलीकॉप्टरों द्वारा एक विशेष प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करने का है जिससे कैरीबू उन स्थानों के नजदीक न जाकर दुर्घटना के शिकार न हों। संगीतमय वातावरण में पेड़-पौधों की भी असमान्य वृद्धि होती हुई देखी गई है। पेड़-पौधों और पशुओं पर संगीत के प्रभाव का अध्ययन कुछ भारतीय विश्व-विद्यालयों में भी चल रहा है। इसमें चिदम्बरम् में हुआ प्रयास विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

चिकित्सा-जगत् में तो ध्वनि उपकरणों ने एक क्रांति सी ला दी है। आजकल कोई भी आधुनिक चिकित्सालय पराश्रव्य (Ultrasonic) उपकरणों के बिना अधूरा सा माना जाता है। इन ध्वनि उपकरणों द्वारा बहुत सी बीमारियों का उनकी प्रारम्भ की अवस्था में ही निदान सम्भव हो गया है। इस प्रकार बीमारी घातक रूप धारण करने से पहले भी पकड़ में आ जाती है जिससे इस पर काबू पाना आसान हो जाता है। ध्वनि उपकरणों द्वारा निदान का एक और लाभ जो है वह है इस विधि का हानिरहित होना। निदान के समय रोगी को भी कोई असुविधा नहीं होती। पराश्रव्य उपकरणों द्वारा जिन बीमारियों का निदान सम्भव है उनमें रक्त-प्रवाह की गति का मापन, दिल के गतिमय चित्र, नवजात शिशुओं के अस्तिष्क का अध्ययन, अंडाशय कैंसर आदि प्रमुख हैं।

अंडाशय कैंसर के निदान के लिये तो यह विधि वरदान ही सिद्ध हुई है। अब तक अंडाशय कैंसर का निदान तब ही हो पाता था जब कि यह घातक रूप धारण कर लेता था परन्तु पराश्रव्य उपकरणों द्वारा इसका निदान प्रारम्भ की अवस्था में ही किया जा सकता है। इस प्रकार इस कैंसर को अपना मुँह निकालते ही कुचला जा सकता है। ध्वनि द्वारा किस प्रकार बीमारियों का निदान सम्भव हो पाया है उसके लिये प्रो० स्टीवेन हाल्पेर्न (Prof. Steven Halpern) जो कैलिफोर्निया के स्पेक्ट्रम रिसर्च इंस्टीट्यूट (Spectrum Research Institute) के निर्देशक हैं, के अनुसार शरीर के प्रत्येक अंग में एक निश्चित गति पर कम्पन होता है। स्वस्थ तथा अस्वस्थ अंग में यह कम्पन गति भिन्न होती है। दूसरे शब्दों में अगर कम्पन अंग के निश्चित गति पर न हो रहा हो तो अंग के अस्वस्थता का द्योतक है।

पराश्रव्य उपकरण न केवल बीमारियों के निदान में सहायक है बल्कि कई बीमारियों का उपचार करने में भी समक्ष है। न्यूयार्क के सेंट जोसेफ हस्पताल के डॉ० फ्रैंक फ्लोयड (Dr. Frank Floyd) ने पाया कि अगर रोगियों को संगीतमय वातावरण में रखा जाए तो उनकी मृत्यु दर 30 प्रतिशत से घटकर 8 प्रतिशत हो जाती है। गुर्दे की पथरी का दर्द तो केवल वे ही वर्णन कर सकते हैं जिन्हें यह रोग हुआ हो। कहने का तात्पर्य है कि गुर्दे की पथरी का दर्द अत्यन्त पीड़ादायक होता है। अधिकतर केसों में इसका छुटकारा अब तक जटिल शल्य चिकित्सा द्वारा ही हो पाता था। इस शल्य चिकित्सा में रोगी को 30-35 दिन तो बिस्तर में ही पड़ा रहना पड़ता है तथा अपनी पूर्ण दैनिक गतिविधियों को प्राप्त करने के लिये 10 सप्ताह का बहुमूल्य समय खोना पड़ता है। अब ध्वनि तरंगों द्वारा गुर्दे की पथरी से छुटकारा एक मामूली सी शल्य चिकित्सा से ही किया जा सकता है। उपचार अवधि भी केवल 15-16 दिन ही है। यानी कि जहाँ प्रचलित शल्य चिकित्सा में रोगी को पूर्ण स्वास्थ्य प्राप्त करने में 10 सप्ताह लगते हैं वहीं इस

शल्य चिकित्सा (ध्वनि तरंगों द्वारा) में केवल 2 सप्ताह लगते हैं। क्या होता है कि डॉक्टर रोगी की कमर में लगभग चौथाई इन्च चौड़ा चीरा लगाकर उसमें एक कैथेटर (Catheter) इस प्रकार डालता है कि वह गुर्दे में पथरी तक पहुँच जाता है (याद कीजिये कि प्रचलित शल्य चिकित्सा में 8 से 10 इन्च लम्बा चीरा लगाना पड़ता है)। चीरा लगाने के लिये रोगी को स्थायी एनेस्थीसिया दिया जाता है। एक सप्ताह के बाद रोगी को पुनः हस्पताल बुलाया जाता है और कैथेटर को निकाल कर एक विशेष प्रकार का उपकरण, जिसे नेफ्रोस्कोप (Nephroscope) कहते हैं, डाल दिया जाता है। नेफ्रोस्कोप के मध्य से गुजरने वाले प्रकाश-पुंज के प्रकाश में पथरी की सही-सही स्थिति तथा आकार का अनुमान लगाया जा सकता है और अगर पथरी छोटी ही हो तो इसमें लगे एक टोकरीनुमा पकड़ने वाले यन्त्र की सहायता से बाहर

निकाल लिया जाता है। अगर पथरी बड़ी हो तो एक पतली लोहे की छड़ के माध्यम से पथरी में उच्च आवृत्ति वाली ध्वनि तरंगें प्रवाहित की जाती हैं। ये तरंगें पथरी के टुकड़े-टुकड़े कर देती हैं जिन्हें उसी टोकरी-नुमा यन्त्र की सहायता या चूषण-प्रक्रम द्वारा निकाल लिया जाता है। इस पूर्ण प्रक्रिया में अधिक से अधिक 2 घण्टे लगते हैं और 24 घण्टे के पश्चात् रोगी को छुट्टी दे दी जाती है। संक्षेप में रोगी को केवल लगभग दो दिन ही बिस्तर में पड़े रहना पड़ता है। कैंसर के दुर्दम अर्बुद (Malignant tumour) को भी ध्वनि तरंगों द्वारा नष्ट किया जा सकता है।

ध्वनि में हमें स्वस्थ रखने की आश्चर्यजनक क्षमता है। यह न केवल रोगों के निदानार्थ बल्कि उपचार करने में भी सक्षम है। इसने कई उपचार प्रक्रियाओं को बहुत लुगम बना दिया है। भविष्य में इससे काफी आशाएँ हैं। □

बाल विज्ञान

ये विचित्र जीव-जन्तु

प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

5ई/4 स्टाफ क्वार्टर्स, लिडिल रोड, जार्जटाउन, इलाहाबाद-211002

बच्चों, हमारी इस विशाल धरती पर चोंटी से लेकर हाथी और हाथी से लेकर ह्वेल तक छोटे-बड़े अनेक प्रकार के जीव-जन्तु पाये जाते हैं। और कुछ तो इतने छोटे जिन्हें हम बिना माइक्रॉस्कोप या सूक्ष्मदर्शी की मदद के देख ही नहीं सकते जैसे अमीबा। जीव-जन्तुओं की लाखों-लाख तरह की जातियाँ अपनी विचित्रता, सुन्दरता और अनोखेपन के लिए आदमी को सदैव से आकर्षित करती रही हैं।

अब जीव-जन्तुओं की इन लाखों-लाख जातियों में पहल किस प्राणी से की जाये यह ज़रा टेढ़ा सवाल है। किन्तु जिस जीव से बात-चीत शुरू हो रही है, कहीं

उसका नाम सुनते ही तुम हँस न पड़ना। चलो उल्लू से ही शुरू करते हैं। यों तो उल्लू उपेक्षित और हास्यास्पद पक्षी है पर हमारे यहाँ लक्ष्मी के वाहन के रूप में इसे महत्व भी देते हैं। इसकी एक विचित्रता यह है कि दिन में तो वह वृक्षों के कोटर या कंदराओं में सोता है और रात में जागता है। यही नहीं, रात के अंधेरे में इसकी निगाह आदमी से पाँच गुना तेज़ काम करती है। जितनी तेज़ इसकी नज़र है, उतनी ही तेज़ है इसकी सुनने की शक्ति। ज़रा सी सरसरा-हट से यह शिकार का पता लगा लेता है और बिना कोई आवाज़ किए तेज़ झपट्टा मारकर उसे दबोच लेता

है । इनकी अनेक किस्मों (उपजातियों) में सफ़ेद ध्रुवीय उल्लू या पोलर आउल अपने अन्य जाति भाइयों के विपरीत देखने में बड़ा ही खूबसूरत लगता है ।

आओ हम लगे हाथ उस पक्षी की भी चर्चा कर लें जो अपने सुन्दर नृत्य के कारण प्रसिद्ध है । यह कुशल नर्तक तो है ही, नृत्य के समय अपने खूबसूरत पंखों को चारों ओर फैलाकर अपने सौन्दर्य और सजावट का भी अच्छा प्रदर्शन करता है । इनकी प्रमुख विशेषता यह है कि जैसा 'स्टेज' हम लोग बनाते हैं उसी भाँति अपने नृत्य के लिए ये पेड़ों की डालों पर टहनियों को बिछाकर साफ़-सुथरा स्टेज बनाते हैं । नर्तक पर ठीक से प्रकाश पड़े इसके लिए सामने की पत्तियों को तोड़ देते हैं । मानो नर्तक पर 'स्पाट लाइट' डाली जा रही हो ? जानते हो इस चतुर पक्षी का नाम क्या है ? यह आकर्षक चतुर पक्षी कहलाता है 'स्वर्ग का पक्षी' और यह न्यूगिनी और आस्ट्रेलिया का निवासी है ।

कुशलता और चातुर्य के मामले में तो हम कुशल कारीगर बया को भूल ही नहीं सकते । घोंसला बनाने में इसका जवाब ही नहीं । गौरैया से मिलता-जुलता यह छोटा भूरा पक्षी किसी मजबूत टहनी के चारों ओर चिथड़े और धागे लपेट कर उन्हीं को आड़ा-टेढ़ा जोड़कर एक फन्दा बना लेता है । इसी फन्दे के ढाँचे पर दीवार बनाता है । घोंसले के अन्दर नीचे की ओर दो कमरे और ऊपर बाहर आने-जाने के लिए द्वार होता है । कहते हैं कि यदि इसे दिखाकर कुएँ में अँगूठी गिराई जाये तो यह अँगूठी के पानी तक पहुँचने के पहले ही उसे फुर्ती से लपक लेता है । क्यों है न इसकी तेजी काबिले तारीफ़ ? घोंसले बनाने में एक ऐसी ही निपुण चिड़िया है बर्जिन या डेलर बर्ड । यह छोटी हरे रंग की चिड़िया दो पत्तियों के किनारों को एक साथ रखकर ऊन या रूई के टुकड़ों से ऐसी चतुराई से सिलती है कि बस देखते ही बनता है । यही नहीं, पत्तियों के इस खोल में रूई, ऊन, रेशम व घास के तिनके आदि भरकर आरामदेह कुशन या बिछौना भी तैयार कर लेती है ।

टूकन नामक एक अन्य बड़ा ही विचित्र पक्षी है जिसकी चोंच उसके शरीर से भी ज्यादा लम्बी होती है । ये दक्षिणी तथा मध्य अमेरिका में मिलते हैं । इनकी लम्बी चोंच बड़ी उपयोगी भी है । अपने भारी-भरकम शरीर के साथ, बिना अधिक परिश्रम के, एक डाल पर बैठे-बैठे ही यह अपनी लम्बी चोंच से चारों तरफ के फल चट कर जाता है । भारी-भरकम टूकन के बाद आओ हम नहीं मुन्नी हॉमिंग बर्ड को भी याद करते चलें । कुल पाँच-छः सेन्टीमीटर लम्बाई वाली यह छोटी चिड़िया संसार की सबसे छोटी चिड़िया है । यह क्यूबा और पाइन्स के द्वीपों में पाई जाती है । अपने पंखों को यह एक सेकेंड में पचपन बार इतनी तेज गति से फड़फड़ाती है कि हवा के बीच ही अपने को स्थिर रख सकती है और फूलों का रस पीने के लिए कभी फूलों पर बैठती नहीं । इस छोटी चिड़िया की वीरता का तो जवाब नहीं । आवश्यकता पड़े तो यह बाज जैसे खूंखार पक्षियों को भी मार भगाती है ।

इन 'नहीं बी' के बाद हम तुम्हें बताते हैं संसार के विशालतम पक्षी के बारे में । इनकी मजबूरी देखो कि हैं तो ये पक्षी खूब बड़े-बड़े पंखों वाले, लेकिन वेचारे उड़ नहीं सकते । तुम समझ गये न कि बात दक्षिण अफ्रीका में पाये जाने वाले शुतुरमुर्ग की हो रही है । लम्बाई इनकी लगभग तीन मीटर होती है और अपनी लम्बी मजबूत टाँगों की बदौलत ये लगभग अड़तीस किलोमीटर प्रति घन्टे की रफ्तार से दौड़ सकते हैं । मानो साधारण गति से कोई स्कूटर जा रहा हो । शक्तिशाली ये इतने होते हैं कि अपनी पीठ पर दो आदमियों को एक साथ बैठा कर सैर करा सकते हैं । और तो और, दौड़ते समय इनकी ठोकर से घोड़े तक गिर जाते हैं । शुतुरमुर्ग के अलावा आस्ट्रेलिया का येम्स और न्यूगायना का कैसोबरी भी पंख होते हुये उड़ नहीं पाता ।

अभी हम पंखों के होते हुये भी न उड़ पाने वाले पक्षियों की बात कर रहे थे, अब हम ऐसी छिपकली को लेंगे जिसके शरीर से दोनों ओर बाहर निकली पसलियों पर चढ़ी झिल्ली 'पैराशूट' का काम करती

है, और ये उड़कर आसानी से एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर पहुँच जाती हैं। ऐसी छिपकलियाँ जावा, सुमात्रा, बॉर्नियो और अपने देश में मद्रास में मिलती हैं। इन्हें **उड़ने वाली छिपकली** या **फ्लाईंग ड्रेगन** कहते हैं। छिपकली की चर्चा चल पड़ी है तो तुम्हें यह भी बता दूँ कि इण्डोनेशिया के द्वीपों में तीन मीटर लम्बाई वाली **कोमोडो ड्रेगन** नामक संसार की सबसे बड़ी छिपकली पायी जाती है। यह छिपकली इतनी शक्तिशाली और भयंकर है कि **जंगली सूअरों और हिरनों** तक का शिकार कर डालती है।

भारत सहित अनेक एशियाई देशों में छिपकली ही नहीं, **उड़ने वाली गिलहरियाँ** भी पायी जाती हैं। साधारण गिलहरियों को तो पेड़ों पर फुदकते हुये तुम सब ने देखा होगा पर उड़ने वाली विचित्र गिलहरियाँ हवा में तैरते हुये एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष के बीच तीस-पैंतीस (30-35) मीटर का फासला आसानी से तय कर लेती हैं। इनके शरीर के दोनों ओर लटकती ढीली त्वचा ही इन्हें उड़ने में सहायता देती है।

जब हम जीव-जन्तुओं की विचित्रताओं की बात कर रहे हैं तो **कंगारू** का नाम हर्गिज नहीं छूटना चाहिए। आस्ट्रेलिया में मिलने वाले ये भारी-भरकम जीव आठ-दस मीटर की छलाँग तो आसानी से लगा लेते हैं। ये शांतिप्रिय जीव दुश्मनों से घिर जाने पर ऐसी खूबी से मुक्केबाजी करते हैं कि बॉक्सिंग के चैम्पियन भी देखते रह जायें। हाथ ही नहीं, इनके तो पैर भी साथ-साथ चलते हैं। अब भला दुश्मन कब तक नहीं भागेगा? पर प्रकृति की तरफ से दी गई सबसे बड़ी विचित्रता है इनके पेट के ऊपर बनी वह थैली जिसमें इनका नवजात शिशु पलता है। कंगारू की ही भाँति थैली में शिशु रखने वाले जीवों में उत्तरी अमेरिका का **ओपोसम** भी प्रसिद्ध है। विल्ली के बराबर आकार वाले ये **ओपोसम** स्वभाव से इतने डरपोक और मूर्ख होते हैं कि शत्रु को सामने देखकर मारे भय के बेहोश हो जाते हैं। भागने की बात तो इनके समझ में ही नहीं आती। इसके विपरीत दक्षिणी अमेरिका के **रैकून** अपनी चालाकी, फुर्ती और शरारत

भरी हरकतों के लिए जाने जाते हैं। मनोविज्ञान प्रयोगशालाओं में इन **रैकूनों** ने अपनी बुद्धि की सहायता से कुछ पहेलियाँ भी हल की हैं। सफ़ाई पसन्द तो ये इतने हैं कि अपने भोजन—**कैबुये, मेंढक** या **मछली** को कई-कई बार धोकर ही खाते हैं। खाने की चीजों की सफ़ाई तो कोई **रैकूनों** से सीखे।

जानवरों की दुनिया में बुद्धिमत्ता के लिए प्रसिद्ध **चिम्पेंजी** अफ्रीका में पाये जाते हैं। इन्हें मनुष्य का सबसे निकट सम्बन्धी माना जाता है। इनमें सीखने और नकल करने की विलक्षण क्षमता होती है। पेंच-कस से पेंच खोलना, ताला खोलना, कीलें ठोकना, छुरी-काँटे से भोजन करना, कप से चाय पीना और साइकिल चलाने जैसे अनेक कार्य **चिम्पेंजी** बड़ी निपुणता से करते हैं। एक बात और—यह रंगों को भी अलग-अलग छाँटकर रख सकता है। किन्तु इतनी बुद्धिमानी के बावजूद भी इनका 'लीडर' या 'नेता' बुद्धिमानी के आधार पर नहीं, बल्कि ज्यादा से ज्यादा शोर मचाने के आधार पर चुना जाता है।

बौद्धिक कौशल में उत्तरी अमेरिका का **बीवर** भी किसी से कम नहीं। ये कुशल इंजीनियर होते हैं। पेड़ों की टहनियों को काट-काटकर ये पानी में गिराते हैं और उस पर पत्थर और कीचड़ फेंक-फेंक कर मजबूत बाँध बना देते हैं। दुश्मनों से बचाव के लिए ये अपने घर पानी से भरी खाइयों के मध्य टीलों पर बनाते हैं। इन गुम्बदनुमा घरों में ऊपर एक चिमनी भी बनाई जाती है—साफ़ हवा आने के लिए। और विपत्ति में भागने के लिए पानी के नीचे से सुरंग। एक विचित्र बात और। पर्वतीय क्षेत्रों में जब इंजीनियरों ने बाँध के लिए उचित स्थान चुनना चाहा तो उन्हें वे स्थान ही सबसे उपयुक्त मिले जहाँ बीवरों ने अपने बाँध बनाये थे।

चालाकी और धूर्तता में बड़ों-बड़ों के कान काटने वाला **भालू** जैसा एक अन्य भारी-भरकम पशु है **बुल्बेराइन**। यह कनाडा और उत्तरी अमेरिका का निवासी है। डरना तो यह जानता ही नहीं। उल्टे **शेर-भालू** ही इससे डरते हैं। खाद्य सामग्री की चोरी

करने में बेहद उस्ताद हैं ये। यदि बहेलिए इसे फँसाने के लिए फंदा लगाते हैं तो यह बड़ी चालकी से फंदे को उठाकर नदी-नाले में फेंक देता है या जमीन में खोदकर गाड़ देता है। एक अन्य विचित्र जीव है अमेरिका में पाया जाने वाला स्लाथ जो अपने शरीर पर ही बागीचा उगा लेता है। दरअसल यह अपना सारा जीवन पेड़ों पर उल्टा लटका रह कर काट देता है। बराबर उल्टा लटका रहने से वर्षा में भीग-भीग कर इसके बालों में नन्हें-नन्हें पौधे उग आते हैं।

हमारी धरती का एक बहुत पुराना निवासी है न्यूज़ीलैण्ड और उसके समीप पाया जाने वाला **दुआटेरा**। वैज्ञानिक कहते हैं कि आज से पच्चीस करोड़ या दो सौ पचास मिलियन वर्ष पूर्व भी **दुआटेरा** धरती पर पाये जाते थे। यह तो तुम जानते ही होंगे कि समय के साथ-साथ बहुत से पुराने जीव समाप्त हो गए और नये जीव पैदा हुये। पर **दुआटेरा** अब भी उसी तरह पाया जाता है। इसीलिए इसे 'जीवित जीवश्म' भी कहते हैं। इसकी एक और विशेषता यह है कि इसके सिर के मध्य में एक तीसरी आँख भी होती है। है न विचित्र बात ?

अब चलते-चलते कुछ समुद्री जीवों से भी मिल लें। संसार का सबसे विशालकाय प्राणी **ह्वेल** समुद्र का ही निवासी है। आकार में यह इतनी बड़ी होती है जैसे चौबीस-पच्चीस हाथी या फिर कोई चलता-फिरता टापू। **ह्वेल** पानी की सतह पर आने के बाद पानी की तेज़ फुहार ऊपर फेंकती है और उसी के साथ इतनी तेज़ सीटी की आवाज़ निकालती है कि

उसे सात-आठ सौ किलोमीटर की दूरी से भी सुना जा सकता है। इनका औसत भार है सौ-सवा सौ टन और इनके नवजात शिशु का कम से कम ढाई टन। जलजीवों में सबसे बुद्धिमान मानी जाने वाली **डॉल्फिने** भी इसी की श्रेणी में आती हैं।

समुद्र में रहने वाली डेढ़ मीटर की, चिपटी, **टारपोडो मछली** की विशेषता यह है कि उसके सिर के दोनों ओर विद्युत् अंग होते हैं जिनमें चालीस से दो सौ बीस वोल्ट विजली पैदा होती है। इसी विजली के शॉक से ये शिकार को मारती भी हैं और दुश्मनों से अपनी सुरक्षा भी करती हैं। इन्हीं से मिलती-जुलती हैं **ऐंगलर मछलियाँ**। ये विद्युत् शॉक तो नहीं देतीं पर इनके मुँह से लम्बे-लम्बे राँड निकले रहते हैं। इन राँडों के सिरों पर प्रकाश पैदा करने वाले बल्ब जैरी रचनायें लगी होती हैं। प्रकाश से आकर्षित होकर छोटी मछलियाँ स्वयं इनके पास चली आती हैं और इनका भोजन बनती हैं।

बच्चो, हमारी आज की बात-चीत से तुमको संसार के कुछ विचित्र जीव-जंतुओं के विषय में कुछ बातें मालूम हुई होंगी। इन्होंने तुम्हें आश्चर्यचकित भी किया होगा। तुम्हारा मनोरंजन भी हुआ होगा। अब जब तुम किसी चिड़ियाघर में जाना तो वहाँ रहने वाले जीव-जंतुओं की आदतों को बारीकी से देखना। आज की बात-चीत का उद्देश्य है तुम लोगों के मन में जीवों के प्रति प्रेम और सहज जिज्ञासा उत्पन्न करना है। □

[आकाशवाणी, इलाहाबाद से साभार]

मानव ग्रन्थि-स्राव तथा अन्य ऊर्ति-द्रव एवं उनके महत्व

डॉ० हरि मोहन सिंह

रीडर, रसायन विभाग, राँची विश्वविद्यालय, राँची

मानव शरीर प्रत्यक्ष रूप से अस्थि, त्वचा और मांस-पेशियों से निर्मित प्रतीत होता है। इसका बाहरी रूप अस्थि-पंजर के ढाँचे के अनुरूप होता है और

आवरण क्रमशः अन्तः चर्म और बाह्य-चर्म से आच्छादित रहता है। किन्तु मनुष्य के सारे शरीर में दो-तिहाई अंश पानी का है। इस पानी के सूखते रहने

से शरीर दुर्बल हो जाता है। बाह्य-चर्म शरीर के पानी को सूखने नहीं देता तथा बाह्य कीटाणुओं से हमारी रक्षा करता है एवं सर्दी-गर्मी से हमें बचाता है। इस तरह हम देखते हैं कि मानव-शरीर में उपस्थित जल जैसे द्रव का बड़ा अंश ही नहीं है वरन् बड़ी महत्ता भी है। बाह्य-चर्म पर छोटे-छोटे असंख्य छिद्र हैं, जो अन्तः-चर्म में स्थित नन्हीं-नन्हीं नलियों-से संलग्न हैं। इन नलियों को स्वेद ग्रन्थियाँ या पसीने की गाँठें कहते हैं। खून बहने की नलियाँ चेतना-तंतु आदि भी इसी चर्म के साथ जुटे हैं—तभी हम किसी वस्तु को अपनी त्वचा से छूकर उसकी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। इसके अलावा हमारे शरीर में नाना प्रकार के संस्थान कार्य करते हैं। इन संस्थानों अथवा तन्त्रों को सहायता पहुँचाने के लिए धमनियाँ (Arteries), शिराएँ (Veins), कोशिकाएँ (Capillaries), कोशाएँ (Cells), ऊतक (Tissues), तन्तु (Fibres), ग्रन्थियाँ (Glands), वाहनियाँ (Ducts) मुख्य रूप से कार्य करती हैं। इनके कार्यों में सम्वाहन, संयोजन, पोषण आदि मौलिक रूप से आते हैं। हमारे शरीर के बाहर जो कुछ भी घटता है, उसकी जानकारी प्राप्त करने के लिये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा हैं। ये इन्द्रियाँ बाहर के संदेश को ग्रहण कर शरीर के कर्मेन्द्रियों को यथानुसार कार्य करने के लिये प्रेरित करती हैं। इन कर्मेन्द्रियों में हाथ, पाँव, मुँह, उपस्थ और गुदामार्ग हैं। इन कार्यों के अन्तर्गत ही ग्रन्थियों से स्राव भी होता है। और स्राव-द्रवों का विशेष महत्व है। इसके अतिरिक्त हमारे शरीर के रिक्त स्थानों में द्रव भरा रहता है—जैसे लसीका द्रव। उतकों में भी द्रव काम करता है। मानव-शरीर के जल-द्रव को छोड़कर अन्य महत्वपूर्ण द्रवों और स्रावों के महत्व पर अलग-अलग प्रकाश डाला गया है। इनमें से कुछ स्रावों और द्रवों को हम प्रतिदिन देखते हैं। किन्तु हममें से बहुतों को उसकी आवश्यक जानकारी कम है।

स्वेद (पसीना)

पसीना प्लाज्मा का ही केवल छन्य द्रव नहीं,

वरन् हमारे शरीर की स्वेद-ग्रन्थियों द्वारा प्रदत्त स्राव है। इसकी उत्पत्ति शरीर को शीतलता प्रदान करने के लिये होती है। स्वेद-ग्रन्थियों का नियन्त्रण स्वयं तन्त्रिका-तन्त्र (Nervous system) तथा एड्रीनल कोर्टिकल स्टीरॉइड्स द्वारा होता है, जो उसमें वर्तमान विद्युत्-अपघट्यों (Electrolytes) की मात्राओं पर गहरा प्रभाव डालती है। पसीने के विद्युत्-विच्छेद्यों की मात्राओं में काफी अन्तर रहता है। सोडियम आयन (Na^+), 12.6 से लेकर 127 मिली इक्यूवैलेंट (meq) प्रति लीटर तथा पोटेशियम (K^+), 5 से लेकर 32 मिली इक्यूवैलेंट (meq) प्रति लीटर एवं क्लोराइड आयन (Cl^-) 8.5 से लेकर 85 मिली इक्यूवैलेंट (meq) प्रति लीटर तक वर्तमान रहता है। मुख्य तौर पर पसीने में सोडियम तथा क्लोराइड आयनों का बाहुल्य रहता है, किन्तु पोटेशियम आयन (K^+) भी अधिक मात्रा में हो सकती है। शारीरिक व्यायाम करने से पसीने की आयतनिक मात्रा एवं लवण सांद्रता में वृद्धि होती है। उष्ण-आद्र जलवायु वाले स्थानों के निवासियों के शरीर से वहाँ के प्रवासियों की अपेक्षा कम पसीना निकलता है। उसके पसीने में विद्युत्-अपघट्यों की मात्रा भी क्षीण होती है। अदृश्य स्वेद, जिसकी उत्पत्ति की अनुभूति तरल पदार्थ के रूप में हमारे त्वचा के ऊपर नहीं होती, प्रतिदिन 800 से लेकर 1200 मि० लीटर तक हमारे शरीर से निष्कासित होता है, जबकि उच्च ताप पर शारीरिक परिश्रम के दौरान चौदह लीटर तक पसीना बहकर निकल सकता है। पसीने में जल की मात्रा 99.2 से लेकर 99.7 प्रतिशत होती है। इसके अम्लीय, क्षारीय तथा उदासीन गुणों का मापदण्ड 4.7 से 7.5 P.H. के अन्तर्गत है। थोड़े मात्रा में नाइट्रोजनयुक्त तथा अन्य कार्बनिक यौगिकों की उपस्थिति पसीने में होती है। कार्बनिक यौगिकों में लैक्टिक अम्ल मुख्य हैं। ऐसे कुल नाइट्रोजनों की मात्रा जो प्रोटीन से सम्बन्धित नहीं है—जैसे यूरिया, प्रतिदिन 0.07 ग्राम से लेकर एक ग्राम प्रति घण्टे तक हो सकती है—जब

कि पसीने का बहाव हमारे शरीर से बहुत अधिक होने लगता है।

विद्युत्-अपघट्यों के साथ बड़ी मात्रा में पसीने का ह्रास खतरनाक है। इससे लहू तथा अन्य शारीरिक तरल पदार्थों में कमी आ जाती है, जिससे शरीर में कष्टदायक ऐंठन महसूस होने लगती है। खानों में काम करने वाले श्रमिकों में कठिन शारीरिक श्रम के पश्चात् अधिक पसीना निकलने पर कभी-कभी ऐसे ऐंठन का रिपोर्ट मिला है। यदि पेय जल में लवण की अल्प मात्रा भी रहे, तो इनका रोकथाम सम्भव है। यही कारण है कि श्रमिक अपने दिन के भोजन में लवण यानी सोडियमक्लोराइड अधिक मात्रा में रखते हैं। वस्तुतः पेयजल में घुली लवण की मात्रा कुछ हद तक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है अतः बिल्कुल मीठा जल स्वास्थ्य के लिए उपयुक्त नहीं। इसमें थोड़ा खारापन उचित है। अतएव नमक हमारे भोजन का अनिवार्य अंग है और हम इसके बिना नहीं रह सकते। अधिक नमक खाने वाले व्यक्ति के शरीर से पसीना भी अधिक निकलता है।

वीर्य (Semen)

वीर्य सेमिनल प्लाज्मा में स्पर्मेटोजुआयुक्त एक क्लोदिय पदार्थ है। यह प्रॉस्टेट, यूरीथरल तथा कौपर ग्रन्थियों के स्रावों का मिश्रण ही नहीं, वरन् सेमिनल वेसाइकिल (शुक्राशय), ईपीडायडीयीस (शुक्र वाहिनियों) तथा वासा डिफरेन्सिया के स्रावों से युक्त पदार्थ है। वीर्य अत्यन्त चिपचिपा पदार्थ है, जो शीघ्रता से जम जाता है। वीर्य के जमने का कारण इसमें वर्तमान फिब्रिनोजेन (Fibrinogen) की मात्रा है। मानवीय वीर्य का पी० एच० (P. H.) 7.1 से 7.5 तक है अतः यह अम्लीय न होकर क्षीण क्षारीय द्रव कहा जा सकता है। प्रॉस्टेट ग्रन्थि स्राव के फिब्रिनोलाइसीन (Fibrinolysin) द्वारा वीर्य के जमने की प्रक्रिया विघटित हो जाती है। वीर्य की सबसे बड़ी विशेषता उसमें उपस्थित फ्रक्टोज (Fructose) की भारी मात्रा है। गणना के अनुसार यह 90-520 मि० ग्रा० प्रतिशत होगा। इसमें साइट्रेट मूलक भी

प्रचुर मात्रा में वर्तमान रहता है, और औसतन उसकी गणना 480 मि० ग्रा० प्रतिशत है। बड़े अंश में एसिड फॉस्फेरेज जैसे एंजाइम की उपस्थिति का कारण प्रॉस्टेट ग्रन्थि द्वारा प्रदत्त तरल स्राव ही माना जाता है। वीर्य में विद्यमान अन्य एन्जाइमों—एमा-इलेज, कोलीनेसटीरेज, बीटाग्लूक्यूरोनाइडेज, हायल्यूरो-नाइडेज, डाइ अमीन ऑक्सीडेज, क्षारीय फॉस्फेरेज तथा प्रोटीजेज प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त इससर-माइन तथा इससरमीडिन जैसे भस्मीय अमीनो यौगिक भी इसमें उपस्थित रहते हैं। वीर्य के विशेष गंध का कारण उसमें ऐसे कार्बनिक रसायनिक यौगिकों की उपस्थिति ही है। इन यौगिकों की उत्पत्ति भी प्रॉस्टेट ग्रन्थि करती है। प्रॉस्टेट ग्रन्थि स्राव में जल की मात्रा 12.7-13.6 प्रतिशत रहती है। यह स्राव हल्का अम्लीय कहा जा सकता है, क्योंकि इसका पी० एच० (P. H.) मान 6.3 से 6.45 के अन्तर्गत है। इस ग्रन्थि के स्राव में कुल प्रोटीन की मात्रा 2.46 से 2.64 ग्राम प्रतिशत एवं कोलेस्टेरॉल (Cholesterol) 62 से 105 मि० ग्रा० प्रतिशत है। प्रॉस्टेट द्रव के सम्बन्ध में वैज्ञानिक ह्यू गिन्स तथा वीर्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक मान ने पूर्णतः छानबीन के बाद पूरा विवरण अपने शोध-पत्रों एवं पुस्तकों में दिया है।

अश्रु (Tears)

आँसू अश्रु-ग्रन्थियों से उत्पन्न एक साफ तथा उज्ज्वल द्रव है। इसका मुख्य कार्य दृष्टि सम्बन्धी गुणों की वृद्धि करना तथा कॉर्निया (Cornea) की सतह को चिकना करना है। यह नेत्र को आघात से बचाता भी है। कॉर्निया अथवा नेत्र श्लेष्मिका (Conjunctiva) असामान्य रूप से उत्तेजित होने पर प्रचुर मात्रा में अश्रु प्रवाहित करने लगती है। आत्मिक उत्तेजना तथा छींकने एवं खाँसने से भी आँसू बहने लगता है। अश्रु में लघु कार्बनिक यौगिकों के अणुओं तथा विद्युत्-अपघट्यों की विभिन्न मात्राएँ उपस्थित रही हैं। अश्रु का पी० एच० (P. H.) मान 7.4 के लगभग होता है। असाधारण अवस्था

यह मान 5.2 से 8.3 के अन्तर्गत तक पहुँच जाता है। अश्रु में वर्तमान प्रोटीन, जैसे—म्यूसीन (Mucin) इसमें चिकनाई का गुण प्रदान करता है। लाइसोजाइम (Lysozyme) नामक एंजाइम अश्रु में उपस्थित रहकर नेत्र को संक्रमण से बचाता है।

लसीका द्रव (Lymph)

लसीका रश्मि के समान एक ऊर्ति द्रव है। यह द्रव लसीका तन्त्र के तमाम भागों, जैसे—लसीका केशिकाओं, लसीका वाहिनियाँ तथा लसीका कोटरों में भरा रहता है। इसमें लाल रश्मि कणिकाएँ मौजूद नहीं होतीं, वरन् श्वेत रश्मि कणिकाओं की मात्रा अधिक होती है। रश्मि की तुलना में जल की मात्रा समान तथा फिब्रिनोजेन जैसे प्रोटीन की मात्रा कम होती है। इसके अलावा ग्लूकोज, यूरिया, यूरिक अम्ल, अमीनों अम्ल तथा कार्बन डाइऑक्साइड जैसे अन्य पदार्थ भी लसीका द्रव में शामिल रहते हैं। पोटैशियम, सोडियम, क्लोराइड तथा वाइकोर्वोनेट आयनों की मात्राएँ, प्रोटीन की मात्रा के मुताबिक इस द्रव में बदलती रहती हैं। वस्तीय तथा ग्रीवा लसीका द्रव में लगभग तीन प्रतिशत एवं यकृत लसीका में 6 प्रतिशत प्रोटीन वर्तमान रहता है। औसतन एक प्रौढ़ मानव के शरीर के अन्दर, प्रतिदिन, रक्त में लसीका वाहिनियों से होकर प्रवाहित होने वाला लसीका द्रव एक से दो लीटर तक होता है। यकृत द्वारा संश्लेषित प्रोटीनों को लसीका द्रव रक्त में पहुँचा देता है। लसीका नलियों का सम्बन्ध रक्त केशिकाओं से रहता है, जिनके द्वारा शरीर के प्रत्येक कोश को मिलता है। रक्त केशिकाएँ गन्दा पदार्थ लाकर पुनः लसीका नलियों को देती हैं, और लसीका नलियाँ इस गन्दे पदार्थ को फिर रक्त में डाल देती हैं, जो फेफड़े में प्रवेश कर पुनः शुद्ध हो जाता है।

पाचन-प्रणाली में ऐसी ग्रन्थियाँ हैं, जिनके स्राव से पाचन-कार्य में काफी सहायता मिलती है। यकृत (Liver), अग्न्याशय (Pancreas), पित्ताशय (Gall bladder) और प्लीहा (Spleen) भी ऐसी ही ग्रन्थियाँ

हैं। यकृत मानव शरीर में सबसे बड़ी ग्रन्थि होती है। इसके स्राव से भोजन के पोषक तत्वों का चयापचय (Metabolism) होता है, शरीर से अनेक विषाक्त पदार्थ निष्कासित होते हैं। यकृत अनेक पदार्थों का संग्रहालय भी नहीं, एक रासायनिक कारखाना भी है। इंसुलीन, अग्न्याशय का एक अन्तःस्राव है, जो शरीर में ऊर्जा तथा ऊष्मा उत्पन्न करता है तथा जिसके अभाव में मधुमेह (Diabetes) नामक रोग हो जाता है। प्लीहा रक्त का भंडार है। रक्त-परिसंचरण में रक्त के परिमाण का नियन्त्रण इसी से होता है।

उपर्युक्त स्राव और द्रव किसी नली द्वारा शरीर के किसी अंग में पहुँच कर कार्य सम्पन्न करते हैं।

मानव-शरीर के भीतर कुछ ग्रन्थियाँ हैं, जिनका स्राव न तो सीधे किसी अंग में गिरता है और न तो उनमें कोई नली होती है। वे अपना चूष या स्राव सीधे रश्मि में डालती हैं। इन्हें हम नालिकाहीन या निःस्रोत ग्रन्थियाँ (Ductless or Endocrine glands) कहते हैं। इन ग्रन्थियों से उत्पन्न होने वाले स्राव हार्मोन (Hormone) कहलाते हैं। ये स्राव किसी एकीकृत तन्त्र का निर्माण नहीं करते, किन्तु कई दैहिक क्रियाओं पर अपना महत्वपूर्ण प्रभाव डालते हैं। अन्तःस्राव केवल उत्तेजना प्रदान ही नहीं करता, वरन् शरीर की क्रियाओं को मस्तिष्क तथा मेरुरज्जु एवं तन्त्रिका तन्तुओं के द्वारा नियन्त्रित भी करता है। तन्त्रिका तन्त्र तथा निःस्रोत ग्रन्थियों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। उत्तेजना के रूप में सन्देश शरीर के विभिन्न अंगों में रक्त के माध्यम से जाता है।

मानव शरीर की कुछ मुख्य निःस्रोत ग्रन्थियाँ—जैसे थाइराइड ग्रन्थि (Thyroid gland), पीयूष ग्रन्थि (Pituitary gland), अधिवृक्क ग्रन्थि (Adrenal gland) तथा जनन या लिंग ग्रन्थि (Gonadic or Sex gland) मानव की शारीरिक एवं मानसिक वृद्धि, विकास, प्रजनन एवं लिंगी शक्ति तथा विचार-धारा पर गहरा प्रभाव डालती हैं। इनकी अनुपस्थिति में हमारा जीवन ठप्प सा पड़ जायेगा। थाइराइड ग्रन्थि के स्राव की कमी से नाटापन, मोटा चर्म,

भद्दा चेहरा, शरीर का भार बढ़ना, बाल झड़ना; पेट खराब रहना, सिर में दर्द रहना, आलसी व चिड़चिड़ा स्वभाव होना, मानसिक विकास रुकना तथा जननेन्द्रियों का पूर्ण विकसित न होना जैसी व्याधियाँ होती हैं। इसकी अधिक मात्रा होने पर घेघा (Goiter) तथा आँख की बीमारियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। पीयूष ग्रन्थि सभी ग्रन्थियों में प्रधान है और इससे अनेक प्रकार के हार्मोन उत्पन्न होते हैं। यह दूसरे ग्रन्थियों के कार्य में प्रेरणा भी देता है। यह विशेष प्रकार से कार्य करता है। शरीर की वृद्धि, लिंगी लक्षणों का विकास, कंकाल तथा अन्य शारीरिक एवं मानसिक विकास इसी ग्रन्थि-स्राव की मात्रा पर निर्भर होते हैं। इसकी कमी से होठ मोटा हो जाता है और त्वचा के रंग परिवर्तन में कठिनाई होती है। अधिवृक्क ग्रन्थि स्राव भ्रूण की वृद्धि तथा लिंगी लक्षणों का विकास भी करती है। इसकी कमी से पेशियाँ तथा नाड़ी मण्डल कमजोर

हो जाता है। रुधिर-दाब (Blood pressure) का बढ़ना तथा तन्त्रिका तन्त्र एवं हृदय कमजोर होना, अधिवृक्क ग्रन्थि स्राव के असन्तुलन को सूचित करते हैं। जनन ग्रन्थि के केन्द्र अण्डाशय तथा शुक्राशय हैं। इससे प्रदत्त स्राव लिंगी अंगों तथा लिंगी चिन्हों का विकास पुरुष तथा स्त्री में करता है। इसकी कमी से उत्तेजना, लिंगी शक्ति और मैथुन-प्रवृत्ति में ह्रास हो जाता है—पुरुषत्व एवं स्त्रीत्व के गुणों का लोप हो जाता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवीय संस्थानों तथा तन्त्रों के सुचालन में ग्रन्थि-स्राव तथा उचित द्रवों का महत्वपूर्ण योगदान है। निःश्रोत ग्रन्थि स्रावों का सुयोजित सन्तुलन होने से शरीर पर किसी बीमारी का संक्रमण आसानी से नहीं होता। गौण-लिंगी-प्रवृत्ति के उर्ध्वपातन से मनुष्य ओजस्वी, मेधावी एवं विलक्षण गुणों वाला हो जाता है। □

रासायनिक आबन्धन तथा क्वाण्टम यांत्रिकी

डॉ० एम० एस० वर्मा

रसायन अध्ययनशाला, विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

रासायनिक आबन्धन की स्थैतिक धारणा

आज यह एक सुविदित तथ्य है कि रासायनिक अणु परमाणुओं के मिलने से बनते हैं। उनका एक सुनिश्चित संघटन तथा द्विविमी विन्यास होता है। अणुओं में परमाणु आपस में एक दूसरे से आबद्ध रहते हैं। यह आबन्धन कैसा तथा क्यों होता है, यह सवाल रसायनज्ञों को डॉल्टन के प्रारम्भिक नियमों के समय से ही परेशान करता रहा है। उन्नीसवीं सदी के प्रारम्भ में ही रसायनज्ञों ने रासायनिक आबन्धन को दो प्रकारों में विभाजित किया था—(1) ध्रुवीय तथा (2) अध्रुवीय। बाद में वर्नर ने अर्धध्रुवीय आबन्धन की खोज की।

इसके बाद रासायनिक आबन्धन के असली रूप

को जानने के अनेक प्रयास किए गए। इन प्रयासों की कड़ियों से ही प्रस्तुत कहानी बनती है।

सन् 1897 में जे० जे० टॉमसन ने इलेक्ट्रॉन की खोज की। इसके बाद अनेक वैज्ञानिकों ने ये विचार रखे कि इलेक्ट्रॉन के स्थानान्तरण के कारण परमाणुओं पर विकसित स्थिर वैद्युत बल ही परमाणुओं को आपस में बाँधे रहता है। सन् 1916 में जी० एन० लूइस ने सुझाव दिया कि सम्भवतः दो परमाणु वांछित इलेक्ट्रॉनों की साझेदारी करके एक स्थिर अणु बनाते हैं। उदाहरणार्थ, ऑक्सीजन एक द्विसंयोजी परमाणु है। अतः इसे अपना अष्टक पूरा करने के लिए दो इलेक्ट्रॉनों की आवश्यकता होगी, जिन्हें यह

एक संयोजी दो परमाणुओं या द्विसंयोजी एक परमाणु से साझेदारी करके पूर्ण कर सकता है।

साझेदारी का सुझाव देने के बाद लूइस ने साझेदारी की प्रकृति पर कोई प्रकाश नहीं डाला। वास्तव में उसके स्थैतिक मॉडल को कुछ अज्ञात बलों की आवश्यकता थी। सोलह साल बाद सन् 1933 में लूइस ने लिखा भी था —

“जब मैंने पहली बार रासायनिक तथ्यों के विश्लेषण से इलेक्ट्रॉन युग्म आबन्धन की धारणा का निगमन किया था तो यह विचार विद्युत् चुम्बकीय विज्ञान तथा यांत्रिकी के नियमों से बिल्कुल असंगत था। आणविक संरचना के मात्र गुणात्मक सिद्धान्त प्रस्तुत किए गए थे जैसा कि एक गणितीय भौतिकी-विद् अपने व्यापक तथा मात्रात्मक कार्य के द्वारा रसायनज्ञों की निम्नतम मांगों को पूरा करने के लिए करता है।”

वास्तव में सन् 1926 में श्रोडिंजर के तरंग समीकरण के आगमन के पूर्व रासायनिक आबन्धन की गतिकी तथा क्रियाविधि की समझ असम्भव थी। फिर भी हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि रासायनिक आबन्धन के विषय में लूइस की धारणा गुणात्मक रूप से बहुत सी संयोजन प्रक्रियाओं की व्याख्या करने में समर्थ थी। रसायनशास्त्र के समझने तथा समझाने में इसका बड़ा महत्व रहा है।

संयोजकता की गतिक धारणा

सन् 1926 में सैद्धान्तिक भौतिकी तथा सैद्धांतिक रसायन के एक नए युग का प्रारम्भ हुआ। रासायनिक आबन्धन तथा तरंग यांत्रिकी के इतिहास का यह सबसे अधिक महत्वपूर्ण वर्ष रहा है। अतः यहाँ पर कुछ क्षण ठहरना तथा परिस्थिति का जायजा लेना हचिकर होगा। सन् 1927 में प्रकाशित अपनी पुस्तक ‘द इलेक्ट्रॉनिक थियरी ऑफ वैलेंसी’ (The Electronic Theory of Valency) में सिजविक ने लिखा है —

“ऐसा सुझाव दिया गया है कि गत कुछ वर्षों में हुआ तरंग यांत्रिकी के सिद्धान्त का विकास हमारे पर-

माणु संरचना के विचारों में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता महसूस कराता है। दे ब्रागली, हाइजेनबर्ग, श्रोडिंजर आदि द्वारा विकसित सिद्धान्त को परमाण्विक भौतिकी की समस्याएँ हल करने में अद्भुत सफलता मिली है; लेकिन इलेक्ट्रॉन एक स्वतन्त्र सत्ता के रूप में भौतिकी से अन्तर्धान हुआ प्रतीत होता है। यद्यपि तरंग यांत्रिकी के सिद्धान्त का कलन के रूप में महत्व सन्देह से परे है, फिर भी अभी तक यह उस अवस्था में नहीं पहुँचा है जहाँ पर सुनिश्चित रूप से कहा जा सके कि यह इस तरह से भौतिकी में परिवर्तित किया जा सकता है। इसने आज तक ऐसा कोई प्रमाण नहीं दिया कि भौतिकीय धारणाओं, जिन्होंने श्रोडिंजर को उसके अवकल समीकरण तक पहुँचाया, कि इतना अक्षरशः लिया जाना चाहिए कि गत तीस वर्षों के कार्य के आधार पर नाभिकों और इलेक्ट्रॉनों की प्रकृति के विषय में बनी धारणाएँ असंगत हो जायें।”

उपर्युक्त कथन से रासायनिक आबन्ध के शुद्ध चित्रात्मक स्थैतिक विवरण से लेकर गतिक गणितीय सिद्धान्त में संक्रमण होने तक की अनिच्छा का आभास मिलता है। फिर भी लेखन सुस्पष्ट है। एन० बोर ने ओ० बराऊ के शोधपत्र ‘ए कैल्कुलेशन ऑफ द हाइड्रोजन आयन इन इट्स ग्राउंड स्टेट’ (A Calculation of the H_2^+ Ion in Its Ground State) को, जो श्रोडिंजर के समीकरण पर आधारित था, डेनमार्क की विज्ञान अकादमी के समक्ष प्रस्तुत किया। सन् 1922 में पाली द्वारा भी, विल्सन समरफील्ड के क्वाण्टमीकरण नियम का उपयोग कर, हाइड्रोजन अणु आयन, H_2^+ की स्थिरता को समझने का निष्फल प्रयास किया गया था। अतएव यह कहा जा सकता है कि बोर ने दो प्रोटॉनों के मध्य रासायनिक आबन्ध की समस्या के सम्बन्ध में शोधपत्र के महत्व पर ध्यान देने की बजाय नयी तरंग यांत्रिकी को समर्थन प्रदान करने के लिए किए गए प्रयोगों और बराऊ के परिकलन के मध्य हुई सहमति को सही माना।

बराऊ को इस कार्य की प्रेरणा क्लाइन तथा

रोज़लैण्ड के कार्य से मिली थी। उसका शोधपत्र मार्च 1927 को प्रकाशित हुआ था। सम्भवतः यह शोधपत्र शीघ्र ही म्यूनिख पहुँच गया था, जहाँ पर कोण्डन अपने गुरु समरफील्ड के साथ कार्य कर रहा था। 18 अप्रैल 1927 को कोण्डन ने एक शोधपत्र 'वेव मेकैनिक्स एण्ड द नार्मल स्टेट ऑफ़ द हाइड्रोजन मॉलीक्यूल' (Wave Mechanics and the Normal State of the Hydrogen Molecule) विज्ञान अकादमी को भेजा। 13 मई 1927 को यही कार्य 'द फिज़िकल सोसाइटी ऑफ़ बर्लिन' (The Physical Society of Berlin) में प्रस्तुत किया गया था। कोण्डन ने बराऊ से असहमति प्रकट की थी। उसने लिखा था—

“बराऊ के कार्य में यह गुप्त कल्पना है कि क्योंकि नाभिकों की संहति अधिक होती है, अतएव नाभिकों की एक निश्चित दूरी स्थिर मानकर समस्या हल की जा सकती है। वास्तव में, नाभिकों के मध्य की दूरी स्वयं एक प्राचल है। उदाहरणार्थ यदि उदासीन H_2 अणु को लिया जाय तो आशा की जाती है कि दोनों इलेक्ट्रॉन, पॉली के नियमानुसार, समान कक्षों में होंगे। इस मॉडल की इलेक्ट्रॉनिक ऊर्जा हर दूरी पर स्पष्टतः H_2^+ की ऊर्जा की ठीक दो गुनी होगी। अब इलेक्ट्रॉनिक अन्तर्क्रिया को लेने पर, हुण्ड का विश्लेषण एक महत्वपूर्ण परिणाम प्रदान करता है कि किसी भी अणु की निम्नतम अवस्था का इलेक्ट्रॉनिक पद, समान इलेक्ट्रॉनों वाले उदासीन परमाणु के मान से लेकर विघटित परमाणुओं के मान तक सतत परिवर्तित होता है।”

उस समय हीलियम (He) की इलेक्ट्रॉनिक ऊर्जा, $5.818 e^2/a_0^2$ ज्ञात थी। बराऊ के ऊर्जा परिकलित करने के सूत्र में कोण्डन ने नाभिकीय अपकर्षण जोड़कर हाइड्रोजन अणु, H_2 के लिए विभव वक्र खींचा। इस वक्र के अनुसार H_2 की विघटन ऊर्जा $4.4 eV$ तथा साम्य दूरी $0.7A^\circ$ थी जो वर्तमान प्रयोगात्मक मानों के काफी निकट है।

सन् 1973 में कोण्डन ने हाइड्रोजन अणु की समस्या को सर्वप्रथम आण्विक लक्षण विधि से हल किया। उसके शोधपत्रों पर हिटलर और लन्दन के परिकलनों का काफी प्रभाव दिखाई देता है। उनका शोधपत्र जो जूरिख में लिखा गया था, जहाँ पर उस समय थ्रोडिंगर कार्यरत था, 30 जून 1927 को उस समय के भौतिकी के अग्रणी जर्नल “Zeitschrift für Physik” में प्रकाशित हुआ था। इसका उल्लेख फाइवर्ग में 12 जून 1927 को हुई भौतिकीविदों की एक गोष्ठी के कार्य-विवरण में मिलता है।

हिटलर और लन्दन ने अपने शोधपत्र में जो विषय प्रस्तुत किया था, बाद में उसे संयोजी आबन्धन विधि से जाना गया। यहाँ पर यह बात उल्लेखनीय है कि जैसे कोण्डन ने इलेक्ट्रॉन—इलेक्ट्रॉन अपकर्षण को महत्व दिया था, वैसा ही हिटलर और लन्दन ने किया था।

रसायन के इतिहास में हिटलर और लन्दन के शोधपत्र को मील के पत्थर की तरह मान्यता मिल गई। लूइस के सहसंयोजी आबन्ध का गणितीय गतिक सूत्रीकरण इसी में निहित पाया जा सकता है यदि यह मान लिया जाय कि इलेक्ट्रॉन युग्म आबन्ध को ऊर्जा दो इलेक्ट्रॉनों के अन्तर्परिवर्तन के कारण उत्पन्न संस्पन्दन ऊर्जा के बराबर है।

हिटलर और लन्दन ने हाइड्रोजन अणु के दो तरंग फलन दिए जिन्हें आधुनिक भाषा में हम निम्न प्रकार से लिख सकते हैं—

$$1S_a(1) 1S_b(2) + 1S_a(2) 1S_b(1) \\ 1S_a(1) 1S_b(2) - 1S_a(2) 1S_b(1)$$

प्रथम तरंग फलन इलेक्ट्रॉन अक्षों 1 तथा 2 को परिवर्तित करने पर सममित रहता है तथा दूसरा असममित। सिर्फ सममित अवस्था के कारण ही दोनों हाइड्रोजन परमाणु ऊर्जा स्थायीकरण तक पहुँच पाते हैं। हिटलर तथा लन्दन का विचार था कि दो हाइड्रोजन परमाणुओं के बीच वान्डर वाल्स अपकर्षण के कारण ही अपकर्षक प्रतिसममित अवस्था होती है। यदि उन्होंने हाइजेनबर्ग के 1926 में प्रकाशित दोनों

शोधपत्र पढ़े होते तो उनको मालूम पड़ता कि इलेक्ट्रॉनों के प्रचक्रण अक्षों को हिसाब में लेने से प्रति-सममित हल मिल जाता है। लेकिन वास्तविकता यह है कि हिटलर और लन्दन के समय में हाइड्रोजन अणु की उत्तेजित अवस्था एक असंगत विचार था। उस समय बहु-इलेक्ट्रॉन तरंग फलनों के निर्माण को एक अत्यन्त कठिन कार्य माना गया था। सन् 1967 में जे० सी० स्लेटर ने लिखा था —

“सन् 1926-28 के दौरान, दो से अधिक इलेक्ट्रॉनों वाले परमाणुओं तथा अणुओं के लिए हाइजेन-बर्ग के दो इलेक्ट्रॉन निकायों में सममिति के सरल तथा सहज विचारों को अपनाने के काफी प्रयास किए जाते रहे थे। विग्नैर, हुण्ड, हिटलर आदि समूह सिद्धान्त का उपयोग कर बहु-इलेक्ट्रॉन निकायों के सामान्य सममिति गुणों का अध्ययन करते रहे थे, किन्तु उनके विचार इतने उलझे हुए थे कि उनमें से कुछ खोज पाना तथा उनका प्रयोगात्मक परिणामों से मेल बिठा पाना अति कठिन था। यह मुझे अति महत्वपूर्ण लगा कि तरंग फलनों की सममिति तथा प्रतिसममिति के उन विचारों को किस प्रकार एक सूत्र में बाँधा जाय जिनका हाइजेनबर्ग तथा डिरेक ने 1926 में समिश्र स्पेक्ट्रमों के प्रयोगात्मक अध्ययन से सूचीकरण किया।”

स्लेटर ने अन्वेषण किया कि प्रारम्भ में ही प्रचक्रण को शामिल करने से परिकलन को अत्यन्त सरल बनाया जा सकता है। प्रचक्रण-कक्षकों से निमित्त सारनिकीय तरंग फलनों के उपयोग ने समुचित स्थान तथा प्रचक्रण सममिति के प्रतिसममित इलेक्ट्रॉनिक तरंग फलनों के लेखन को आसान बना दिया था। उसका एक महत्वपूर्ण शोधपत्र ‘Physical Review’ (फिजिकल रिव्यू) में सन् 1929 में प्रकाशित हुआ। उस समय तक आण्विक विज्ञान में जर्मनी का प्रभुत्व क्षीण होने लगा था तथा ऐंग्लो-सैक्सोन देशों में पनपने लगा था।

इस प्रकार क्वाण्टम रसायन 57 वर्ष का हो गया। यहाँ तक कि आगामी वर्षों में जो कुछ इस

दिशा में घटित हुआ उसका एक छोटे से शोधपत्र में वर्णन करना भी असंभव हो गया था। इतना कहना काफी होगा की 1929 में डिरेक ने पहले ही कहा था, “अधिकांश भौतिकी तथा पूर्ण रसायन के गणितीय सिद्धांत के लिए आवश्यक भौतिकीय नियम पूर्णतः ज्ञात हैं।” श्रोडिंजर का तरंग समीकरण तथा पॉली का थपवर्जन सिद्धांत ऐसी नींव बनाते हैं जिस पर अन्ततः सारी रासायनिक समझ को आधारित होना चाहिए। एक अन्य विद्या ‘समूह सिद्धांत’ बहुत ही उपयोगी है।

समूह सिद्धान्त को भौतिकी में सर्वप्रथम सन् 1927 में प्रयोग करने वाला संभवतः विग्नैर था। इसके कई वर्ष बाद सन् 1959 में विग्नैर ने लिखा था—

“1931 में जब ‘ग्रुप्पेनथियरी’ (Gruppen-theorie) नामक पुस्तक का जर्मन में मूल विवरण प्रथम बार प्रकाशित हुआ था तो भौतिकीविदों में समूह सैद्धांतिक विचारों तथा समूह सैद्धान्तिक तर्कों को स्वीकार करने की दृढ़ अनिच्छा थी। लेखक को प्रसन्नता है कि यह अनिच्छा धीरे-धीरे कम होती जा रही है।”

सन् 1927 में विग्नैर ने प्रदर्शित किया कि गोले के प्ररिभ्रमण समूह में अखंडनीय निरूपणों की विमीयता $2L+1$ ($L=0, 1, 2, \dots$) होती है। ये, वास्तव में s, p, d, ... फसनों का समुच्चय होता है। अब यदि हम परमाणु को एक मणिभ में लगाएँ अथवा कोई अणु बनायें तो स्थितिज ऊर्जा की सममिति गोलीय सममिति से उस स्थिति को सममिति में परिवर्तित हो जाती है जिसको परमाणु मणिभ या अणु में प्राप्त करता है। विग्नैर ने इस प्रकार कम होने वाली सममिति से निपटने के तरीके की ओर संकेत किया था, लेकिन क्रियाविधि का वास्तविक विस्तार बेथे (Bethe) के लिए छोड़ दिया था। उसका अति महत्वपूर्ण शोधपत्र जिसमें उसने बहु-परमाण्विक अणुओं तथा आयनों की इलेक्ट्रॉनिक संरचना को संभालने में बिन्दू समूह सममिति का

उपयोग किया है, 1929 में प्रकाशित किया गया था। इसी वर्ष बेथे 23 वर्ष की वय का हुआ था।

क्वाण्टम रसायन के विकास ने समूह सिद्धान्त की क्षमता तथा चारुता का बहुत अधिक प्रकटीकरण किया है। **फॉनफ्लैक** (Van Vleck) पहला आदमी था जिसने सन् 1933 में बहु-परमाण्विक अणुओं के आण्विक परिकलनों में सममिति युक्तियों की विशेषता को पहचाना। उसी वर्ष **मूलकिन** का भी एक शोधपत्र प्रकाशित हुआ जिसमें समूह सिद्धांत का व्यापक प्रयोग किया गया था। मूलकिन के शोधपत्र का एक फुटनोट बहुत ही रुचिकर था—

“लेखक प्रोफेसर **फॉन फ्लैक** का अत्यन्त आभारी है जिन्होंने उसका ध्यान बेथे के आण्विक इलेक्ट्रॉन तरंग फसनों के परिणामों की ओर आकर्षित किया।”

सममिति युक्तियों की उपयोगिता रसायन समुदाय में बहुत धीरे-धीरे प्रवेश कर पाई।

सन् 1930 में हकिल ने बहु-परमाण्विक अणु के द्वि आबन्ध का प्रथम क्वाण्टम यांत्रिक उपचार दिया। 1931 में हुषड ने पानी के अणु के विवेचन के लिए आण्विक कक्षक विधि का प्रयोग किया तथा 1932 में मूलकिन ने ‘बहु-परमाण्विक अणुओं की इलेक्ट्रॉनिक संरचना तथा संयोजक का अन्वेषण प्रारम्भ किया।

संयोजी आबन्ध विधि जो हिटलर तथा लन्दन के H_2 अणु के उपचार से प्रारम्भ हुई थी, उसको स्लेटर तथा पॉलिंग ने संयोजी आबन्धों के दिशात्मक गुणधर्मों के अध्ययन के लिए प्रयुक्त किया। आण्विक ऊर्जा स्तरों को परिकलित करने के लिए स्लेटर तथा पॉलिंग ने उसी सन्निकटन का उपयोग कर अन्वेषण किया।

जब पथप्रदर्शी वर्ष समाप्त हो गए तो सन् 1933 में उरे ने कहा—

“द जनरल ऑव केमिकल फ़िज़िक्स (The Journal of Chemical Physics) रासायनिक तथा भौतिकी विज्ञानों के आधुनिक विकास का एक स्वाभाविक परिणाम है। वर्तमान समय में रसायन तथा भौतिकी की सारी सीमाएं पूर्णतः सेतुबद्ध हो गई हैं। सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि क्वाण्टम सिद्धान्त से सम्बद्ध सारे प्रयोगात्मक तथा सैद्धान्तिक कार्य ने हमारे रसायनशास्त्र तथा भौतिकशास्त्र के ज्ञान को बहुत योगदान दिया है। इसके अतिरिक्त आधुनिक वर्षों के इन विज्ञानों का इतिहास रासायनिक तथा भौतिकीय समस्याओं में गणित के यथातथ्य तर्कों के उपयोग की प्रभावशीलता सिखाता है।”

सन् 1935 में ‘संयोजकता का क्वाण्टम सिद्धान्त’ किस प्रकार से समझा गया तथा किस प्रकार से प्रकाशित हुआ, इसका एक अधिकारिक तथा लिखित विवरण **फॉन फ्लैक** तथा **शेरमन** द्वारा लिखित एक समीक्षा शोधपत्र में मिलता है। सन् 1935 में ही **पॉलिंग** तथा **ब्रिट्सन जूनियर** ने एक पुस्तक ‘इंट्रोडक्शन टु क्वाण्टम मेकैनिक्स’ (Introduction to Quantum Mechanics) लिखी जिसका उपशीर्षक था ‘विद एप्लीकेशन्स टु केमिस्ट्री (With Applications to Chemistry)’ तीसरी दशाब्दी के मध्य से लेकर क्वाण्टम यांत्रिकी का पाठ्यक्रम अमेरिका तथा इंग्लैंड के अगुआ विश्वविद्यालयों के रसायन विभागों में भी पढ़ाया जाने लगा था। इससे पूर्व रसायनविदों को भी यह विद्या भौतिकी विभागों में ही पढ़नी पड़ती थी।

इस प्रकार क्वाण्टम रसायन का तीसरी दशाब्दी में एक स्वतन्त्र विद्या के रूप में आगमन हुआ। तब से यह खूब फल फूल रहा है। आशा है कि भविष्य में भी यह अपने महत्व को बनाए रखेगा। □

विज्ञान समाचार

संकलन : प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव

(1) वाइरस मेम्ब्रेन को परिवर्तित कर देता है

महामारियों के फैलने से चिकित्साकर्मी तथा इसकी विशेषज्ञता न रखनेवाले लोग समान रूप से चिंतित होते हैं। ऐसा विचार मान्य था कि महामारी का कारण सिर्फ बाहरी ही होता है। वाइरस (विषाणु) अथवा बैक्टीरिया (जीवाणु) की विशिष्टताओं को तथा इसके प्रति मनुष्य की प्रतिक्रिया को अपरिवर्तनीय या स्थिर माना जाता था।

सोवियत चिकित्साकर्मियों ने ठीक उल्टी बात साबित की है। उनके अनुसार पैथोजेन की (वाइरस या बैक्टीरिया) मानव के अवयव संस्थान में दो अवस्थायें होती हैं—सक्रिय और निष्क्रिय। सक्रिय अवस्था में इन्फेक्शन फैलता है। निष्क्रिय अवस्था में पैथोजेन, असंक्राम्यता वाले कुछ लोगों के शरीर में पाये जाकर भी उपयुक्त समय की प्रतीक्षा करते हैं। और जब लोग असंक्राम्यता से रहित हो जाते हैं, वह हमला कर देता है।

निष्क्रिय पैथोजेन असंक्राम्यता से प्रभावित न होने के लिए अपने मेम्ब्रेन को बदलता है। अतः वाइरस, पहले से भिन्न, नयी महामारी को जन्म देता है।

यह खोज इन्फेक्शन का मुकाबला करने में नया दृष्टिकोण अपनाने में सहायक है और उसे दूर करने की समस्या हल करने का वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करता है। सक्रिय पैथोजेन का न सिर्फ फैलना बल्कि उनका बनना भी रोकने के प्रयत्न किये जा रहे हैं।

(2) हृदय की पेशी में विकार का पता लगाने की नई विधि

पेशियों में टूट-फूट की हालत में रक्त में फेन की मात्रा तेजी से बढ़ जाती है। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण है “क्रियाटीन काइनेज”। ऐसे टूट-फूट का पता लगाने की विधि के निर्माता फ्योदोर लेविन एम० एस०

(बायलॉजी) ने बताया कि रक्त में क्रियाटीन काइनेज के स्तर का पता लगाकर 10 मिनट में टूट-फूट का पता लगाया जा सकता है और यह भी कि हृदयपेशी कहाँ तक प्रभावित हुई है। विश्लेषण के लिए रक्त के सिर्फ कुछ बूंदों की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि रीएजेन्ट सीरम का नहीं बल्कि स्वयं रक्त का विश्लेषण करते हैं, जो संसार में व्यवहृत किसी विधि द्वारा नहीं किया जा सकता है। ये रीएजेन्ट दुर्लभ नहीं हैं और सस्ते हैं।

(3) शुक्र ग्रह के नये रहस्य

सोवियत वैज्ञानिकों ने वेनेरा-15 और वेनेरा-16 नामक सोवियत अन्तर्ग्रहीय स्टेशनों द्वारा प्रेषित शुक्र ग्रह की छवियों का अध्ययन करते समय शुक्र के कुछ नये रहस्यों का पता लगाया है। ये छवियाँ रेडार पर प्राप्त हुई थीं। सोवियत वैज्ञानिकों ने देखा कि शुक्र ग्रह पर किन्हीं विशाल आघातों से 8 से 140 किलोमीटर व्यास के बड़े-बड़े गड्ढे बने हुए हैं जो संभवतः 100 करोड़ वर्ष पुराने हैं। फोटो-चित्रों पर भी इन गड्ढों को साफ-साफ देखा जा सकता है। चूंकि ये गड्ढे बहुत स्पष्ट हैं और इनकी आकृतियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है इसलिए कहा जा सकता है कि शुक्र पर इन 100 करोड़ सालों के दौरान किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि अति प्राचीनकाल में विशाल उल्कापिंडों से शुक्र की टक्कर हुई थी, क्योंकि 140 किलोमीटर व्यास के गड्ढे ऐसे उल्कापिंडों से ही बन सकते हैं जो कम से कम 14 किलोमीटर लम्बे-चौड़े हों।

(4) शून्य गुरुत्व के प्रभाव से बचने के उपाय

सोवियत वैज्ञानिकों ने लम्बी अंतरिक्ष यात्रा के दौरान कॉस्मोनाटों पर पड़ने वाले शून्य गुरुत्व के

कुप्रभावों से बचने के उपाय ढूँढ लिये हैं। सोवियत संघ की आविष्कार और खोज सम्बन्धी राज्य समिति ने इन उपायों को मान्यता प्रदान कर दी है। भार-हीनता की स्थिति में लम्बे समय तक रहने से अंतरिक्ष-यात्रियों के सिर में खून का दौरा बढ़ जाता है और रक्तवाहिका प्रणाली तथा चयापचय में भी कुछ परिवर्तन हो जाता है।

अंतरिक्ष यात्रा के दौरान कुछ मकड़ियों को बिना किसी आवरण के शून्य गुरुत्व में रखा गया था। देखा गया कि उनकी कोशिका-संरचना में परिवर्तन हो गया।

(5) वायुमंडल में ताप का गणितीय सिद्धांत

सोवियत और अमेरिकी वैज्ञानिकों ने वायुमंडल में ताप के स्थानांतरण के गणितीय सिद्धांत प्रस्तुत किये हैं इससे इसकी पुष्टि होती है कि नाभिकीय युद्ध के दौरान राख, धूल और अन्य द्रव्यों की जो विशाल मात्रा उत्पन्न होगी वह वायुमंडल में पहुँचकर घातक प्रभाव उत्पन्न करेगी। वेलोरूसी विज्ञान अकादमी के ताप और द्रव्यमान परिवर्तन विषयक संस्थान के सोवियत वैज्ञानिकों और न्यूयार्क के स्टोनी ब्रुक विश्व-विद्यालय तथा शिकागो विश्वविद्यालय के अमेरिकी भौतिकीविदों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। ताप भौतिकी अनुसंधान का यह संयुक्त कार्यक्रम नाभिकीय युद्ध के कुप्रभावों का अध्ययन करने के लिए नहीं बल्कि इस प्रश्न का अध्ययन करने के उद्देश्य से शुरू किया गया था कि औद्योगिक अपशिष्ट द्रव्यों के कारण विश्व की मौसम प्रणाली पर क्या प्रभाव पड़ता है।

(6) सूक्ष्मजीव हाइड्रोजन के उत्पादन में सहायक

सोवियत वैज्ञानिकों के अनुसार सूक्ष्मजीवों का उपयोग हाइड्रोजन के निर्माण के लिए किया जाना चाहिए। जल के भीतर सूक्ष्मजीवों के विशाल समूह का अध्ययन करते समय उन लोगों ने बैक्टीरिया (जीवाणु) का पता लगाया जो जल को हाइड्रोजन

तथा ऑक्सीजन में अलग-अलग करने में समर्थ है। उन्हें अपने काम के लिए सिर्फ प्रकाश की जरूरत है, चाहे कृत्रिम प्रकाश ही क्यों न हो। गैस को विशेष प्रणाली से सिलिंडरों में जमा किया जा सकता है।

हाइड्रोजन तैयार करने की नई विधि की खोज अकारण नहीं शुरू की गई। अनेक दशकों से इस्तेमाल की जाने वाली औद्योगिक विधियाँ बहुत अधिक बिजली की खपत करती हैं, उदाहरणार्थ — इलेक्ट्रो-लाइसिस विधि।

ईंधन के रूप में हाइड्रोजन का ज्यादा से ज्यादा उपयोग इंटरनल कम्बस्शन इंजनों में होता है जो पर्यावरण को प्रदूषित नहीं करते हैं क्योंकि उनसे धुँये की जगह पर भाप निकलती है। इस तरह का ईंधन विशेष रूप से छोटी लारियों और ट्रैक्टरों के लिए विशेष उपयोगी है, जिन्हें ग्रीन हाउसों में काम करना है तथा जहाँ तनिक भी खाद्य प्रदूषण की अनुमति नहीं दी जा सकती है।

(7) मीठे पानी की मछलियों के अवजन का सिद्धान्त

सोवियत रूस के वैज्ञानिक प्रो० भ्योर्गी लिदबर्ग का मत है कि लाखों वर्ष पूर्व एशियाई नदियों में रहने वाली मछलियों ने अमेरिका की यात्रा की थी। उस समय युरेशिया और अमेरिका महाद्वीप इस प्रकार पृथक् नहीं थे और उनके बीच कुछ स्थानों पर समुद्र भी उथला ही था। दोनों महाद्वीपों की नदियाँ भी बहुत स्थानों पर एक-दूसरे में जुड़ी हुई थीं। पछले बीस लाख वर्षों के दौरान महासागरों की सतह में पाँच बार परिवर्तन हुआ है तथा जल स्तर में काफी अंतर हो गया है। सुदूर-पूर्व, जापान और अमेरिका की मीठे पानी की मछलियों की प्रजातियों में अनेक समानताएँ आज भी विद्यमान हैं। इससे प्राचीन काल की विशाल नदी प्रणाली का भी प्रमाण मिलता है। □

वर्तमान समय में रोगों की चिकित्सा एवं निदान हेतु जो भी दवायें दी जाती हैं, उनका एक बड़ा वर्ज्य हिस्सा शरीर से बाहर उत्सर्जित हो जाता है। इन प्रयुक्त दवाओं का थोड़ा सा हिस्सा ही हमारे रक्त-परिवहन तन्त्र में आ पाता है और प्रभावित अंग-प्रत्यंग में पहुँच जाता है। इस प्रक्रिया में काफी समय लग जाता है। उदाहरण के लिए यदि यकृत-रोग के निदान के लिए कोई औषधि दी जाती है तो वह पहले रक्त-परिवहन तंत्र में पहुँच जाती है तथा बाद में यकृत के प्रभावित भाग में पहुँचती है। यकृत के साथ ही औषधि हृदय, फेफड़ा, पित्ताशय, अग्न्याशय (पैंक्रियाज) एवं गुर्दे (किडनी) में पहुँचकर विपरीत प्रभाव (साइड इफेक्ट्स) पैदा करती हैं।

चिकित्साविज्ञान के क्षेत्र में हुये अनुसंधानों के परिणामस्वरूप अब मानव शरीर के लगभग सभी अंगों में विशेष पहचान के स्थानों (स्पेसिफिक आइडेन्टिटी साइट्स) का पता लगाया जा चुका है। 'लाइपोसोम चिकित्सा पद्धति' में प्रत्येक अंग की विशिष्ट पहचान करने वाले विशिष्ट अतिसूक्ष्म कैप्स्यूल्स के अन्दर दवा भर कर इजेक्शन द्वारा रक्त परिवहन में प्रवेश कराई जाती है। परीक्षण से पता चला है कि इन दवाओं का एक बड़ा हिस्सा, प्रभावी अंग में एकत्रित हो जाता है। लाइपोसोम चिकित्सा पद्धति में दवा लगभग सौ गुनी कम प्रयुक्त होगी। इतना ही नहीं, शरीर के अन्य आवश्यक अंगों पर विपरीत प्रभाव की समस्या भी नहीं रह जाती।

लखनऊ स्थित केन्द्रीय औषधि अनुसंधान संस्थान (सी० डी० आर० आई०) के जैव-भौतिकी विभाग के विज्ञानियों ने हाल के कुछ वर्षों में, मैसाच्यूसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी (एम० आई० टी०), अमेरिका से परीक्षण, प्रयोग व अनुसंधानों के परिणाम-स्वरूप "लाइपोसोम कैप्स्यूल्स चिकित्सा" तकनीक विकसित की है।

—डॉ० उमेश पाण्डेय

बी—12, माडल टाउन, वरेली—243005

इटली की यूनिवर्सिटी ऑफ पीसा में कार्डियो-लॉजी के प्राध्यापक डॉ० एटिलो मासेरी ने कालेस्टे-रॉल के जमाव के अतिरिक्त दिल के दौरे के एक और भी कारण का पता लगाया है। दौरा कोरोनरी धमनी के किसी भाग में दीर्घकालिक कुंचन से भी पड़ सकता है। शुद्ध हो चुके रक्त को हृदय के बायें निलय से सम्पूर्ण शरीर में ले जाने वाली वाहिनी, जिसे महाधमनी कहते हैं, में से सबसे पहले दो धमनियाँ निकलती हैं। इन्हें ही कोरोनरी धमनियाँ अथवा हृदय धमनियाँ कहते हैं। ये कोरोनरी धमनियाँ अनेक शाखाओं में विभाजित होकर हृदय की मांसपेशी को घेरे रहती हैं तथा इसे ऑक्सीजन और पोषक तत्वों की सप्लाई करने का काम करती हैं। जब किसी हृदय धमनी के किसी भाग में दीर्घ-कालिक कुंचन की स्थिति पैदा हो जाती है तब इसका मार्ग अवरुद्ध हो जाने से हृदय को आवश्यकतानुसार उचित भागों में रक्त उपलब्ध नहीं हो पाता और इसका परिणाम दिल के दौरे के रूप में निकलता है। किन्तु, हृदय धमनी में दीर्घकालिक कुंचन की स्थिति प्रायः अल्पकालिक ही होती है तथा ज्यों ही कुंचन की स्थिति समाप्त होती है रक्त-प्रवाह पुनः आरम्भ हो जाता है। पर कभी-कभी यह स्थिति घातक भी सिद्ध हो सकती है।

इस खोज से ऐसे लोगों की हृदयगति रुक जाने से देहान्त हो जाने की गुत्थी सुलझ गयी है, जिनकी हृदय धमनियों में कोलेस्टेरोल या तो पाया ही नहीं गया या बहुत ही कम, अपर्याप्त मात्रा में था। इसी तरह एंजाइना रोग भी हृदय धमनियों में दीर्घकालिक कुंचन के कारण भी उत्पन्न हो सकता है।

अब जबकि यह पता लग गया है कि हृदय धमनियों के किसी भाग में दीर्घकालिक कुंचन दिल के दौरे तथा एंजाइना का कारण बन सकता है तो इस बात की आशा है कि इनकी चिकित्सा के नये तरीके विकसित किये जायेंगे।

—नरेश बाली (गौहाटी, असम)

हिन्दी वैज्ञानिक साहित्य*

विश्वंभर प्रसाद गुप्त-बन्धु, एफ० आई० ई०, विशारद

चार्टर्ड इंजीनियर, बी-154, लोक विहार, दिल्ली-110034

हिन्दी वैज्ञानिक साहित्य, यह विषय इतना व्यापक है कि इस पर कितना भी प्रकाश क्यों न डाला जाए, विषय के साथ पूरा न्याय नहीं हो सकता। हिन्दी का अर्थ यदि हिन्द का या हिन्दी-सम्बन्धी किया जाए तो फिर प्रागैतिहासिक युग से अब तक की देश भर की सभी लिपियों की सभी प्रकार की सुन्दर कृतियाँ विषय वस्तु के अन्दर आ जाएँगी, और फिर तो विषय द्रोपदी के चीर की भाँति अनन्त हो जाएगा। यहाँ केवल हिन्दी भाषा तक ही विचार-विमर्ष सीमित रखने का प्रयत्न होगा और हिंदी पर, विज्ञान पर, साहित्य पर और फिर वैज्ञानिक साहित्य कैसा होना चाहिए, हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य कितना है, इन सब बातों पर थोड़ा-बहुत प्रकाश डाला जाएगा।

हिन्दी

बोल-चाल में तो हिन्दी शायद बहुत पहिले से इस्तेमाल होती रही हो, किन्तु लिखने-पढ़ने में इसका प्रयोग पृथ्वीराज चौहान के समय से ही हुआ, ऐसा माना जाता है। इतिहास लिखने वालों ने चंदवरदायी को ही आदि कवि माना है। उसके बाद मुसलमानों का शासन-काल आरम्भ होता है। लगभग आठ सौ वर्ष के इस काल में भी हिन्दी काफी सुधरी, संवरी और समृद्ध हुई, यद्यपि फारसी का भी चलन होने लगा, विशेषकर पढ़े-लिखे लोगों में। उस फारसी के ही प्रभाव में आकर कुछ लोगों ने सत्ताधारियों का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए हिन्दी में भी फारसी के

शब्द ठूसना आरम्भ कर दिया जिससे हिन्दी की ही एक खिचड़ी शैली बन गई। यह उर्दू कही जाने लगी। मुसलमानों के बाद लगभग दो सौ साल अंग्रेजों का शासन रहा। इस जमाने में भी हिन्दी का विकास जारी रहा। जब शासन के कार्यों में अंग्रेजी का प्रयोग होने लगा और अंग्रेजी का वर्चस्व बढ़ने लगा, तब भी जनता की भाषा हिन्दी ही रही। कुछ थोड़े से विशेष राजभक्त या नौकर-पेशा लोगों को छोड़कर देश में व्यापक रूप से न फारसी जम सकी न अंग्रेजी, क्योंकि ये दोनों ही भाषाएँ भारतीय भूमि से, भारतीय परिवेश से, भारतीय संस्कृति और भारतीय परम्पराओं से मेल नहीं खातीं। इसलिए हिन्दी का विकास बराबर होता रहा, भले ही उसे राज्याश्रय न मिला हो। हिन्दी का विकास किया विद्वान संतों ने और संत-हृदय विद्वानों ने, और 'संतन कहा सीकरी सों काम' के अनुसार उन्होंने कभी शासन का मुँह नहीं जोहा।

हिन्दी साहित्य के इतिहास में चार युग विद्वानों ने माने हैं—आदि काल या वीरगाथा युग, पूर्व-मध्य काल या भक्ति युग, उत्तर-मध्य काल या रीति युग और आधुनिक काल या गद्य युग। गद्य काल को ही कुछ विद्वान तत्कालीन साहित्य की प्रवृत्ति के अनुसार राष्ट्रीय चेतना युग भी कह देते हैं, क्योंकि इस समय के लेखन में राष्ट्रीय चेतना की विचार-धारा ही प्रमुख रही है। गद्य युग के पहिले का लेखन प्रायः पद्य में

* दिल्ली हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सरस्वती बिहार मंडल द्वारा आयोजित वसंतोत्सव (सरस्वती पूजा) के अवसर पर 5-2-1985 को दिया हुआ व्याख्यान।

ही हुआ करता था, क्योंकि गद्य-लेखन की परिपाटी संस्कृत में भी बहुत कम रही है। हिन्दी साहित्य का काल-विभाजन साहित्य की प्रमुख विचार-धारा के अनुसार ही हुआ है, यद्यपि अन्य विचार-धाराओं का अस्तित्व भी उन युगों में समान्तर रूप से थोड़ा-बहुत रहता रहा है।

वैज्ञानिक साहित्य के लिए कोई काल निर्धारित नहीं किया गया। इससे यह तो स्पष्ट है कि विज्ञान साहित्य की रचना हिन्दी में कम ही हुई है। जो कुछ हुई है, वह भी आधुनिक या गद्य काल में ही। पद्य में विज्ञान साहित्य लिखने की परिपाटी संस्कृत में थी, और प्रचुर वैज्ञानिक साहित्य संस्कृत वाङ्मय में भरा पड़ा है। यह साहित्य दोनों प्रकार का है : गैर-तकनीकी यानी ऐसे ग्रंथों में जो किसी विशेष तकनीकी विषय का प्रतिपादन करने के लिए नहीं लिखे गए, जैसे वेद, उपनिषद, ब्राह्मण, पुराण और विभिन्न महाकाव्य आदि, जिनमें अत्यन्त ही जटिल और जीवन्त तकनीकी वर्णन बड़ी ही कुशलता से किए गए हैं, और दूसरे हैं तकनीकी ग्रन्थ जो आयुर्वेद, इंजीनियरी, शिल्प आदि किसी विशेष विषय का प्रतिपादन, अध्ययन-अध्यापन करने की दृष्टि से लिखे गए हैं। किन्तु हिन्दी में विज्ञान साहित्य पद्य में लिखने की परम्परा नहीं ही रही है। गद्य युग में ही विज्ञान लेखन आरम्भ हुआ है, और यह परम्परा बहुत पुरानी नहीं है।

विज्ञान है क्या ?

संस्कृत मूल 'विद्' से हिन्दी शब्द विद्या बना है, और लैटिन मूल 'साइरे' से अंग्रेजी शब्द साइंस बना है। दोनों मूल शब्दों का एक ही अर्थ है 'जानना'। इसलिए विद्या और साइंस दोनों का तात्पर्य जानकारी या ज्ञान से है—सामान्य और सीमारहित ज्ञान। फिर भी साइंस के मामले में पिछली कुछ शताब्दियों से जान-बूझकर संकीर्ण करने की प्रवृत्ति रही है। यह अनुभव या खोजों द्वारा प्राप्त किए हुए, युक्तियों और तर्कों से, और फिर प्रयोगशाला में

प्रयोगों द्वारा पुष्ट किए जा सकने योग्य, तथाकथित वस्तुनिष्ठ ज्ञान का पर्याय बन गया। दुर्भाग्य से विज्ञान शब्द का प्रयोग भी हम 'साइंस' के इसी सीमित अर्थ में करने लग गए हैं। किन्तु कहना न होगा कि साइंस के विषय क्षेत्र में इस प्रकार के परिसीमन के फलस्वरूप ज्ञान का अप्राकृतिक विभाजन हो गया है। जिसमें एक ओर भौतिक विज्ञान यानी (Physical Science) जिसके अन्दर चिकित्सा और प्रौद्योगिकी आदि हैं, और दूसरी ओर प्राकृतिक विज्ञान (Natural Science) जिसके अंदर कर्मकाण्ड और धार्मिक तथा आध्यात्मिक दृष्टि आ जाती है। पश्चिम में विज्ञान के क्षेत्र में इधर बहुत अधिक प्रगति हुई है, किंतु जान बूझकर किए हुए इस विभाजन के कारण ही वहाँ बहुत से ऐसे व्यक्तिगत और सामाजिक झगड़े भी पैदा हुए हैं, जिनसे मानव का अन्यथा बचाव हो सकता था।

वास्तव में विद्या या साइंस के विषय-क्षेत्र को किसी प्रकार सीमित करने की न तो कोई आवश्यकता ही प्रतीत होती है और न कोई तर्कसंगत कारण ही दिखता है। विद्या का अर्थ है सामान्य ज्ञान और विज्ञान का अर्थ है विशेष ज्ञान। विद्याएँ बहुत सी हैं, किन्तु जब ज्ञान में कुछ विशेषता हो तो वह विज्ञान कहलाएगा। यह विशेषता कैसी हो, क्या हो, यह हमें भारतीय दृष्टिकोण से देखना है।

भारतीय विचार-धारा परम्परा से ही दर्शन से ओत-प्रोत रही है। भारतीय दृष्टिकोण या भारतीय दर्शन की व्याख्या करना यहाँ अपेक्षित नहीं है, और न वह संभव ही है। किन्तु सभी दर्शनों का तत्त्व श्रीमद्भगवद्गीता में आ गया है, ऐसा विद्वानों का मत है। इसलिए विज्ञान का अर्थ, इसका उद्देश्य, और लक्ष्य क्या है, यह जानने के लिए गीता का 'ज्ञान-विज्ञान योग' नामक सातवाँ अध्याय देखना होगा। इसके आरम्भ में ही दूसरे श्लोक में कृष्ण जी अर्जुन से कहते हैं—

“ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः ।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज्ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥”

अर्थात् विज्ञान सहित ज्ञान मैं तेरे लिए पूरी तरह से कहूँगा, जिसे जान लेने पर इस संसार में फिर और कुछ जानने योग्य शेष नहीं रहता। यानी विज्ञान संपूर्ण ज्ञान का चरम है; यही इसकी विशेषता है। इसके बाद 'राजविद्या राजगुह्य योग' नामक नवें अध्याय का आरम्भ कृष्णजी यह कहकर कहते हैं—

“इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्यामनुसूयवे ।

ज्ञानं विज्ञान सहितं यज्ज्ञात्वा मोक्षयसेऽशुभात् ॥”
अर्थात् दोषदृष्टिरहित तेरे लिए मैं अत्यन्त गोपनीय यह ज्ञान विज्ञान सहित कहूँगा जिसे जानकर तू अशुभ (यानी अकल्याण) से मुक्त हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि विज्ञान की जानकारी अकल्याण को दूर करने वाली होती है, और यह राजविद्या राजगुह्य यानी सर्वश्रेष्ठ विद्या है। एवं परम गोपनीय भी है जिसका पात्र दोषदृष्टिरहित व्यक्ति ही हो सकता है। दूषित दृष्टिकोण वाले व्यक्तियों द्वारा विज्ञान के दुरुपयोग के फलस्वरूप संसार कितना त्रस्त है यह सभी जानते हैं।

सत्य की खोज ही विज्ञान है और परमेश्वर ही सर्वश्रेष्ठ सत्य है, ऐसा कुछ विद्वानों का मत है। भारतीय दर्शन के व्याख्याता और विख्यात शिक्षा-शास्त्री भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ॰ सर्वपल्ली राधाकृष्णन कहते हैं कि यह संसार एक ऐसी पुस्तक के समान है जिसके आदि के और अंत के कुछ पृष्ठ खो गए हैं तथा यह पता नहीं लगता कि पुस्तक का आरम्भ कैसे हुआ, अंत कैसे होगा और इसका रचयिता कौन है। इसी प्रकार संसार का आदि कैसा था, अंत कैसा होगा, और इसका रचयिता कौन है, इसी की खोज में दार्शनिक लगे हुए हैं। इस प्रकार हमारे ऋषियों ने अध्यात्म विद्या और ब्रह्म विद्या को विज्ञान के अंतर्गत माना है। अध्यात्म विद्या आत्मा का सम्यक् ज्ञान है और ब्रह्म विद्या ब्रह्म का सम्यक् ज्ञान है। हमारी सारी गीता में ब्रह्म विद्या तथा योगशास्त्र का ही विवेचन है, ऐसा उल्लेख उसके प्रत्येक अध्याय के अंत में मिलता है। आत्मा इस शरीर में रहता है और ब्रह्म सारे ब्रह्माण्ड में व्याप्त है। इसलिए आत्मा के आश्रय इस शरीर का ज्ञान यानी शरीर-रचना और

चिकित्साशास्त्र विज्ञान के अंग हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड का ज्ञान अन्तरिक्ष विज्ञान और ज्योतिर्विज्ञान भी इसी के अंग हैं। वास्तव में सारी की सारी कलाएँ, क्रियाएँ और योगशास्त्र आदि विज्ञान में समाहित हैं, और 'योगः कर्मसु कौशलम्' के अनुसार किसी भी कार्य में कुशलता प्राप्त करना ही योग है। कार्य में कुशलता प्राप्त करने और कुशलतापूर्वक कार्य करने का विज्ञान में बहुत महत्व है, बल्कि ब्रह्मविद्या का यही तत्व है।

और विज्ञान करता क्या है? 'विज्ञान यज्ञं तनुते.....' अर्थात् विज्ञान यज्ञ का प्रसार करता है। यहाँ यज्ञ का अर्थ केवल 'अग्निहोत्र या ब्राह्मण-भोजन करना-कराना' समझना हमारी संकुचित मनोवृत्ति का परिचयक है, वास्तव में लोक-कल्याण के समस्त कार्य यज्ञ ही हैं जिन्हें सम्पन्न करने के लिए विज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। 'यज्ञैः परिभूषत श्रिये' (सामवेद पू० प्र० 6 अर्द्ध प्र० 2 द २ मं० 3) से स्पष्ट है कि कल्याणकारी कार्य ही यज्ञ है। कल्याण भी किसी एक व्यक्ति या किसी एक वर्ग का नहीं वरन् सारे प्राणी-मात्र का, सारे विश्व का हो। भारतीय मनीषा की यह आकांक्षा 'सर्वे सुखिनः सन्तु, सर्वे सन्तु निरामयाः; सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद्दुःखभाक् भवेत्' में व्यक्त हुई है। तात्पर्य यह है कि सबका कल्याण हो, कोई एक भी प्राणी दुखी न हो। यहाँ बहुमत, अल्पमत आदि नहीं, निरपवाद रूप से सबके कल्याण की कामना है। हमारे वेदों में जितनी भी कामनाएँ हैं उनमें कहीं भी 'अहम्' यानी मैं का प्रयोग नहीं है, सभी जगह 'वयं' यानी हम सब का उल्लेख किया गया है। यह भारतीय विचार-धारा की ही विशेषता है जो विश्व-बन्धुत्व का बिगुल बनकर सनातन काल से गूँजती आई है और विज्ञान के भारतीय दृष्टिकोण के रूप में संसार पर छा रही है। विज्ञान के प्रति स्वार्थपूर्ण संकुचित विचार-धारा का फल पश्चिम भोग रहा है और उसका अंधानुकरण करने से भारत की भी कुछ कम क्षति नहीं हुई, किन्तु वह बराबर संभलने की कोशिश भी करता रहा है।

अब आइए साहित्य को देखें। जिस प्रकार हिन्दी के विज्ञान शब्द का अर्थ अंग्रेजी के साइंस शब्द से, जो संकुचित अर्थ में प्रयुक्त होने लगा है, पूरी तरह व्यक्त नहीं होता, उसी प्रकार हिन्दी के साहित्य शब्द का अर्थ अंग्रेजी के शब्द Literature से भली भाँति व्यक्त नहीं होता। Literature का सम्बन्ध शब्दों से है, और शब्दों में जो कुछ भी लिख दिया जाए वह Literature होना चाहिए। किन्तु हिन्दी के साहित्य का जोर केवल शाब्दिक अभिव्यक्ति पर नहीं है, बल्कि इसका क्षेत्र बहुत व्यापक है।

‘साहित्य’ ‘स’ और ‘हित’ से व्युत्पन्न है और यह अनिवार्यतः सबका हित साधन करने वाला होना चाहिए। यह आवश्यक नहीं कि वह शब्दों में ही व्यक्त हो; रेखाओं और रंगों से बनी हुई रचना भी इसके क्षेत्र में आ सकती है। इसी प्रकार यह भी आवश्यक नहीं कि वह भोजपत्र, धर्मपत्र या आधुनिक कागज पर ही अंकित हो, बल्कि ईंट, पत्थर, मिट्टी चूना आदि की रचनाएँ भी इसके अंतर्गत आनी चाहिए, शर्त केवल एक है कि वे हितकारी हों। साहित्य पर यह रोक कि कागज पर ही, नागरी, रोमन, तमिल, तेलुगु आदि किसी लिपि में ही हो, अनुचित भी है और अवांछनीय भी। हितकर विचारों की अभिव्यक्ति अगर रेखाओं या रंगों से किसी भी सतह पर हो सकती है तो वह रचना भी साहित्य ही होगी। इसी प्रकार यदि कोई कृति पत्थर पर छेनी-हथौड़ी की सहायता से अंकित हो तो वह भी उत्तम साहित्य-रचना मानी जानी चाहिए। उत्तम इसलिए कि उसमें अधिक यथार्थता और अधिक श्रम निहित है, विचार तो व्यक्त हुए ही हैं, कर्म भी उनके साथ है और उतना ही प्रमुख है। मुण्डकोपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि ‘क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः’, यानी ब्रह्मज्ञानियों में यह कर्म करने वाला श्रेष्ठ है। इसलिए ऐसी कृतियों के रचयिता को भी साहित्यकार की मान्यता मिलनी चाहिए।

अलमतिविस्तरेण। हम तो यही कहेंगे कि साहित्य के अंतर्गत कविता, कहानी, उपन्यास आदि तो आते ही हैं, अन्य सब कुछ, जो भी हितकर रचना हो, आ जानी चाहिए। कहीं पढ़ा था कि ताजमहल संगमरमर पर अंकित विश्व का श्रेष्ठतम प्रेमकाव्य है। वेद-ऋचा में वर्णित दो वृक्षस्थ पक्षियों का चित्रण जो मोहन-जो-दारो में एक टाइल पर मिला है, किस सहृदय को अभिभूत नहीं कर लेगा? किन्तु यहाँ तो हम देखते हैं कि विज्ञान-लेखन को हिन्दी साहित्य के धुरंधर लोग साहित्य की मान्यता देने में ही हिचकिचाते रहे हैं, फिर चित्रकला, मूर्तिकला और वास्तुकला आदि की कौन कहे?

पहले कहा जा चुका है कि हिन्दी में विज्ञान-लेखन का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। हिन्दी के वयोवृद्ध विद्वान् पं० श्रीनारायण चतुर्वेदी दो-दूक बात कहने के लिए प्रसिद्ध हैं। आप अपनी पुस्तक ‘आधुनिक हिन्दी आदि काल (1857-1908)’ के पृष्ठ 243 पर लिखते हैं—

“साहित्य देवता को हाथ-पैर और जीवनी-शक्ति देने के लिए सर्जनात्मक साहित्य के अतिरिक्त ज्ञान-विज्ञान, नाना प्रकार के संदर्भ ग्रन्थों की भी आवश्यकता होती है। इन सबका बीज-वपन आदि काल में हो गया था। किन्तु दुर्भाग्य से हमारे साहित्य का एकांगी विकास हुआ।..... हिन्दी में ज्ञान-विज्ञान की अच्छी पुस्तकों के अभाव के अनेक कारण हैं, किन्तु उनमें एक बड़ा कारण शायद यह है कि हमारे साहित्य जगत् में उनके लेखकों का समुचित आदर नहीं है।”

अन्य कारण शायद यह रहा हो कि यह विधा पाठक के लिए समझने में कुछ दुरूह होती है, और लेखक के लिए भी कुछ कठिन श्रमसाध्य होती है, जैसा आगे बताया जाएगा। डॉ० सम्पूर्णानन्द को भी विज्ञान साहित्य की कमी खटकती थी। उन्होंने इस दिशा में अपना हाथ भी लगाया और 1953 में प्रथम उपन्यास ‘पृथ्वी से सप्तर्षि-मण्डल’ लिखकर मार्ग-दर्शन किया।

वैज्ञानिक साहित्य या विज्ञान साहित्य

वैज्ञानिक साहित्य का शाब्दिक अर्थ यह होना चाहिए कि ऐसा साहित्य जो अवैज्ञानिक न हो यानी विज्ञान-सम्मत हो, साहित्य के लिए निर्धारित विधि-निषेधों और नियमों आदि से नियंत्रित हो, तर्कसंगत कसौटियों पर कसा जा सके, और उसका सार्थक उद्देश्य हो। हम समझते हैं, अवैज्ञानिकता का एक-आध उदाहरण देने से यह स्पष्ट हो जाएगा। “भैंस बियानी है महुबे माँ, पड़वा गिरा जहानाबाद”, या “योजन चार नासिका बाड़ी” नितान्त बेतुके प्रलाप लगते हैं। महोबा और जहानाबाद के बीच कुछ नहीं तो पचास किलोमीटर की दूरी होगी; तो फिर महोबा में भैंस बच्चा दे और उसका बच्चा 50 किलोमीटर दूर जहानाबाद में गिरे, यह किसी भी संतुलित दिमाग वाले की समझ में आने वाली बात नहीं है। सारे हिन्दी साहित्य में कितना कुछ अंश वैज्ञानिक है और कितना अवैज्ञानिक, इस पर कुछ कहना यहाँ सम्भव नहीं है। यहाँ तो हम विज्ञान शब्द के बहुप्रचलित वर्तमान अर्थ में ही विज्ञान साहित्य यानी विज्ञान सम्बन्धी या विज्ञान विषयक साहित्य की ही चर्चा करके संतोष करेंगे।

हमारा जीवन आजकल कुछ ऐसे ढांचे में ढल गया है कि सवेरे उठने से लेकर रात सोने तक हमें बहुत सी अनिवार्य आवश्यकताएँ पूरी करनी पड़ती हैं। नहाने-धोने के लिए तेल, साबुन, कंघा, शीशा आदि, खाने-पीने के लिए अन्न, पानी, सब्जी, मिठाई नमक, घी, मसाले और शीत अलमारी आदि, चलने-फिरने के लिए सड़क, साइकिल, स्कूटर, मोटर, रेल, जहाज आदि, पढ़ने-लिखने के लिए पत्र, पत्रिकाएँ, पुस्तकें, कागज, कलम, स्याही आदि, रहने-पहनने के लिए घर-द्वार, कपड़े, हीटर, शीतक आदि; सोने के लिए चारपाई, पंखा, मसहरी आदि; प्रकाश के लिए दीपक, लालटेन, बिजली की बत्ती आदि जितनी चीजें भी हम इस्तेमाल करते हैं, इन सब में, इनके उत्पादन करने, बनाने, गढ़ने, में किसी न किसी रूप में विज्ञान की आवश्यकता अवश्य होती है। इसलिए लगभग

सभी को इसकी जानकारी होनी चाहिए चाहे वह कोई सामान्य व्यक्ति हो या विद्वान्, खेतिहर हो या व्यवसायी, कर्मचारी हो या अधिकारी या कोई उद्योगपति ही हो। किसी के लिए यह जानकारी स्थूल रूप में ही पर्याप्त हो सकती है और किसी के लिए सूक्ष्म रूप में। इसलिए जनता की भाषा में विज्ञान साहित्य की आवश्यकता है। आइए विचार करें कि यह आवश्यकता पूरी करने के लिए विज्ञान साहित्य कैसा होना चाहिए।

विज्ञान साहित्य कैसा हो ?

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यदि विज्ञान साहित्य की रचना निम्नलिखित तीन उद्देश्यों की तिपाई पर खड़ी की जाए तो वह सार्थक होगी :

1. विज्ञान के शुष्क तथ्य रोचक शैली में प्रस्तुत करना, जिसके पाठक या अध्येता का मन न ऊबे,
2. विज्ञान के गंभीर तथ्य सरल भाषा में प्रस्तुत करना, जिससे वे आसानी से समझे-समझाए जा सकें, और
3. नई-नई शोधों और गवेषणाओं की तर्कसंगत कल्पना करके उनके लिए मार्ग सुझाना और भावी संभावनाओं की ओर इंगित करना जिससे पाठकों में धैर्यपूर्वक काम से लगे रहने और परिश्रम करने की प्रवृत्ति बढ़ सके।

उपर्युक्त उद्देश्य पूरे करने से क्या सावधानी रखनी चाहिए, उस पर भी कुछ विचार करना उपयोगी होगा।

कोई भी तथ्य शुष्क होते हैं या सरस, यह तथ्यों पर नहीं। उनके व्यक्त करने के ढंग पर निर्भर होता है। एक बहुत पुराना उदाहरण है “सूखा ठूठ खड़ा है आगे” कविता नहीं, शुष्क तथ्य है, किन्तु यदि इसे ही कहें “गतरस तरुवर बिलसत सनमुख” तो वही तथ्य रसात्मक वाक्य या काव्य बन जाता है। अर्थात् भाषा से लालित्य और शैली से रोचकता हो तो विज्ञान के तथ्य रूखे-सूखे नहीं रहे। विज्ञान की

अधिकतर पाठ्य पुस्तकों की भाषा नीरस होती है जिसकी ओर छात्र आकर्षित नहीं होते, पढ़ने में उनका मन नहीं लगता, और विषय उन्हें कठिन प्रतीत होता है।

लालित्य और रोचकता बढ़ाने के लिए रस और अलंकार, उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक आदि की साहित्य में भरमार है और प्रतिष्ठा भी। किन्तु विज्ञान लेखन में हमें फूँक-फूँककर कदम रखने की जरूरत है, नहीं तो अत्युत्साहवश नमक-मिर्च मिलाने से हमारा लेखन भी पोंगा-पुराण (मिथक) और गल्प (या गप्प) की श्रेणी में पहुँच जाएगा। एक उदाहरण से यह भली-भाँति स्पष्ट हो जाएगा।

किसी समय विद्वानों ने बताया कि गणतंत्र का स्वामी (राजा या शासक) ऐसा होना चाहिए जिसका दिमाग बड़ा हो ताकि वह सारे गण की छोटी-बड़ी सभी समस्याओं पर भली-भाँति विचार कर सके (दिमाग बड़ा होगा तो सिर बड़ा होगा ही, किन्तु अंग्रेजी का Swollen head नहीं); आँखें भले ही छोटी हों (यानी सुन्दरता का प्रतीक बड़ी-बड़ी आँखें न हों तो कोई हर्ज नहीं); किन्तु नासिका दूर-दूर तक की दुरभिसंधियों की गंध पा लेने में अवश्य सक्षम होनी चाहिए, कान भी बड़े हों ताकि विशाल गणतंत्र की सुदूरस्थ जनता के दुख-दर्द की आवाज़ सुन सकें; और बलवान तो वह होना ही चाहिए। कोई उदाहरण देना हो तो हाथी उपयुक्त है, जिसका सिर भारी, कान बड़े, आँखें छोटी, नाक लंबी होती है। हाथी के दाँत भी खाने के और, दिखाने के लिए कुछ और ही होते हैं; उसी प्रकार राजा के काम करने के ढंग भी गुप्त होने चाहिए, दिखाने के लिए कुछ और ही व्यवस्था करनी पड़ सकती है ताकि उसके भेद न खुल जाएँ, नहीं तो 'उघरे अंत न होई निबाह'। हाँ दिखाने के दाँत दो नहीं एक ही पर्याप्त होगा जिससे कोई उसके दिखावटी होने का संदेह न कर सके।

शेर भी बलवान होता है, किन्तु वह जंगल का ही राजा हो सकता है। जंगल के राज में अपना पेट

भरने के लिए दूसरे जानवरों का शिकार किया जा सकता है। किन्तु गणतन्त्र का शासक तो अत्यन्त दयालु होगा, वह अन्य प्राणियों का रक्षक होगा, भक्षक नहीं, पोषक होगा, शोषक नहीं। उसकी उपमा के लिए तो हाथी ही ठीक है, शेर नहीं। हाँ, उसका पेट बड़ा होना जरूरी है ताकि वह सब कुछ पेट में रख सके, हजम कर सके, क्योंकि जिसके पेट में बात न पचती हो, वह गणतन्त्र के भेद कैसे गुप्त रख सकेगा? फिर उसकी पहुँच भी सर्वत्र हो सकती चाहिए, जैसे चूहा सभी जगह अपना मार्ग निकाल लेता है। लोग ऐसे शासक का स्मरण अपने कार्य आरम्भ करते समय करते हैं ताकि वे निर्विघ्न पूर्ण हो जाएँ। आज कल भी परिपाटी है राजपुरुषों का सहयोग लेने की—उनसे कार्यारम्भ या शिलान्यास करवाकर। उनके पास सब साधन होते हैं और वे इतने सामर्थ्यवान होते हैं मानों उनके चार हाथ हों।

साहित्य में लम्बे-लम्बे रूपकों की, सर्वोद्भूत संपूर्ण उपमाओं की प्रशंसा की जाती है। कालिदास अपनी उपमाओं के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं। तुलसी के भी कुछ रूपक तो कई-कई पृष्ठों तक चलते हैं, और कुछ का निर्वाह तो रचना के आदि से अन्त तक भी होता है। ऐसे कवि श्रेष्ठ समझे जाते हैं। बस, किसी कवि श्रेष्ठ ने किसी गणतन्त्र के प्रमुख (गणपति या गणेश) का वर्णन कर डाला—विघ्नहरण, करिधरवदन, एकदन्त, दयावन्त, चार भुजा धारी, लम्बोदर, मूँसे की सवारी, आदि-आदि। फिर हमारे कला-कुशल चित्रकार और छेनी के धनी मूर्तिकार भी अपना उत्साह दिखाने में पीछे क्यों रहते? श्रेष्ठ कवियों ने गणपति-वर्णन के चित्रकाव्य तैयार कर रखे थे। उन्हीं के आधार पर बढ़िया से बढ़िया चित्र बने, और सुन्दर से सुन्दर मूर्तियाँ गढ़ी गईं, जिनमें हाथी का सिर जिसमें एक दाँत टूटा हो, चार भुजाएँ, भारी तोंद और चूहे की सवारी आदि बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत हुए। बस, लोगों का ध्यान विद्वानों द्वारा गणतन्त्र के शासक में अपेक्षित गुणों की ओर नहीं, बल्कि कोई कार्य निर्विघ्न पूर्ण करने के उद्देश्य से उसके आरम्भ में गणेश जी की

इसी मूर्ति की पूजा की ओर ही केन्द्रित होकर रह गया ।

कहने का तात्पर्य यह है कि हमें लालित्य और रोचकता बढ़ाने के लिए, रस-सृष्टि करने के लिए, भाषा तो सँवारनी चाहिए, किन्तु इतना नमक-मिर्च लगाने की आवश्यकता नहीं है कि केवल नमक-मिर्च ही हाथ रहे और मूल कथ्य कहीं खो जाए । हमारा बहुत सा पुराना साहित्य ऐसा ही पुराण-साहित्य है जिसमें वैभवशाली बाणी-विलास के भार के नीचे दबे हुए हितकर अंश या मूल कथ्य को खोज निकालना बड़े परिश्रम का काम है; और आज-कल भला इतनी जहमत कौन उठा सकता है ? आदि इंजीनियर राजा भगीरथ के भारी प्रयास से गंगा गगनचुम्बी हिमशिखर से निकलकर घने जंगलों से ढकी पहाड़ी उपत्यकाओं में खो गई । गंगावतरण के इस भौगोलिक तथ्य का चित्र गगन से गिरकर गिरीश की जटाओं में विहार करने-वाली गंगामानी किसी स्त्री के रूप में करके कवियों, चित्रकारों और मूर्तिकारों ने यश भले ही लूटा हो, जन-सामान्य तो साहित्य के हितकारी अंश से बहुत-कुछ वंचित ही रहा है, और सत्य की तो उसे झलक भी नहीं मिल पाई । विज्ञान-लेखक को इस प्रवृत्ति से सतर्क रहना चाहिए ।

विज्ञान-लेखन की विशेष समस्याएँ

विज्ञान-लेखन सामान्य कथा-कहानी लिखने जैसा नहीं होता । इसमें तो लेखक की पूरी अग्नि-परीक्षा ही हो जाती है । इस सम्बन्ध में कुछ विशेष समस्याओं की चर्चा अप्रासंगिक न होगी ।

सामान्य कहानी या उपन्यास में व्यक्ति, काल, स्थान आदि काल्पनिक हुआ करते हैं । कभी-कभी तो सत्य कथाओं में भी कानूनी पेचीदगियों से बचने के लिए जान-बूझकर, या मात्र सुविधा के लिए पात्रों और स्थानों के नाम बदल दिए जाते हैं । अधिकतर कहानियाँ या उपन्यास मात्र मनोरंजन की दृष्टि से लिखे जाते हैं । तथ्य उद्घाटन की दृष्टि से नहीं । इसलिए पात्र आदि के सही नाम हो या काल्पनिक,

कोई फर्क नहीं पड़ता । किन्तु विज्ञान लेखक तो सत्य का अनन्य पुजारी होता है । उसे तो तथ्यों की तलवार की धार पर ही चलना होता है, हेर-फेर की रंच मात्र गुंजाइश नहीं होती । यदि कोई लेखक भूल से, अज्ञान या जल्दबाजी में ही सही, गति सम्बन्धी सिद्धान्तों के प्रणेता का नाम न्यूटन के बजाय मिल्टन (या कुछ और ही), लिख दे, तो उसकी सारी रचना तो रद्दी की टोकरी में जाने योग्य होगी ही, वह स्वयं भी अपराधी की कोटि में आ सकता है । इसलिए जिसको विज्ञान के छोटे-बड़े सभी सम्बन्धित तथ्यों को पूरी-पूरी और सही जानकारी होगी, वही विज्ञान लेखन के लिए कलम उठाने का साहस कर सकता है । अधिकचरे ज्ञान से यहाँ काम नहीं चलता, यह सबसे बड़ी कठिनाई है ।

भविष्य की कहानी प्रस्तुत करनेवाली कहानियों/ उपन्यासों में तो लेखक को और भी अधिक कठिनाई होती है । भविष्य के बारे में किसी भी विचार को तथ्य तो कह नहीं सकते, होगा वह भविष्य-कथन के ही ढंग का, बेशक उसका आधार वैज्ञानिक विवेचन और प्रयोगों से प्राप्त निष्कर्ष होंगे, आकाश के ग्रह तारे या हाथ की रेखाएँ नहीं । उसकी नियति भी उसी प्रकार की होगी । यानी यदि वह विचार कुछ समय बाद ठीक सिद्ध होता है या ठीक दिशा में सोचा हुआ लगता है, तो रचनाकार की और रचना की प्रतिष्ठा बराबर बढ़ती जाएगी । किन्तु यदि उसके सही होने की कोई सम्भावना ही नहीं दीख पड़ती, तो रचना दो कौड़ी की मान ली जाएगी ।

हिन्दी विज्ञान साहित्य कितना है ?

तृतीय विश्व हिन्दी सम्मेलन में नई दिल्ली में हिन्दी की प्रसिद्ध विदुषी डॉ॰ महादेवी वर्मा ने कहा था —

“हिन्दी की घोड़ा-गाड़ी में गाड़ी चलाने के लिए लगाया गया विकास रूपी घोड़ा आगे के बजाय पीछे की ओर जोड़ दिया गया है जो हिन्दी को विकास की मंज़िल पर आगे ले जाने के बजाय उसे पीछे की ओर खींच रहा है और दोष दिया जा रहा है कि हिन्दी

विकसित नहीं है। जब विकसित हो जाएगी तब इससे काम करने की सोचेंगे। अरे भइया, अब दोष देना छोड़ो, और हिन्दी की घोड़ा-गाड़ी से विकासरूपी घोड़ा पीछे के बजाय आगे जोड़ो। तब आप देखेंगे कि हिन्दी तो चलती नहीं है बल्कि दौड़ती है।”

वास्तव में कमी यही है कि हमारे इरादे साफ नहीं हैं। हमारी शिक्षा-नीति आज़ादी के 38 साल बाद भी अभी तक बदली नहीं है। बहुत से आयोग और समितियाँ इसके लिए गठित होती रही हैं, किन्तु उन सबकी रिपोर्ट अलमारियों से पड़ी धूल फाँक रही है, और हम देश-काल की दृष्टि से अत्यन्त ही अनुप-युक्त मेकाले की नीति छोड़ने का नाम नहीं ले रहे, उस बँदरिया की भाँति जो अपने मरे हुए बच्चे को भी मोहवश चिपकाए रहती है। जब तक शिक्षा का माध्यम नहीं बदलेगा, पुस्तकों का उपयोग न हो सकेगा, और फलस्वरूप नए साहित्य का प्रणयन भी अधिक न होगा। हिन्दी का विकास तब होगा जब उसका प्रयोग किया जाएगा। पानी में उतरे बिना कोई कैसे तैराक बन जाएगा ?

और साहित्य न होने का बहाना भी कितना लचर है, यह विद्यमान साहित्य की मात्रा पर एक दृष्टि डालने से ज्ञात हो जाएगा। लगभग पचास साल पहले विशुद्ध विज्ञान की पढ़ाई हिन्दी माध्यम से हुआ करती थी और पाठ्य-पुस्तकें मौजूद थीं। जब स्नातक स्तर तक की पढ़ाई हिन्दी में होने लगी हिन्दी की विज्ञान पुस्तकें भी उपलब्ध हो गईं। किन्तु तकनीकी शिक्षा का माध्यम नहीं बदला, फिर भी प्रचुर साहित्य मौजूद है। लगभग पाँच-छह साल पहले इंस्टिट्यूशन आफ इंजीनियर्स के हिन्दी जर्नल में उपलब्ध इंजीनियरी पुस्तकों की एक सूची प्रकाशित हुई थी। यद्यपि यह सूची पूरी नहीं कही जा सकती थी, फिर भी पुस्तकों की संख्या 300 से अधिक थी। फिर कृषि विज्ञान की पुस्तकों की एक सूची 1982 में छपी जिसमें एक सौ से अधिक पुस्तकें थीं। सन् 1966 से 1980 तक 15 वर्ष से प्रकाशित हिन्दी वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य की एक निदेशिका वैज्ञानिक औद्योगिक अनुसंधान परि-

षद ने प्रकाशित की है जिसके अनुसार तीन हजार से भी अधिक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है। ये चिकित्सा विज्ञान से लेकर इंजीनियरी, कृषि तथा अन्य सभी जन सामान्य के तथा स्कूल-कॉलेजों के वैज्ञानिक विषयों की है। 1980 के बाद भी बहुत सा साहित्य प्रकाशित हुआ है। शिक्षा का माध्यम पूरी तरह हिन्दी हो जाए तो साहित्य-सृजन और भी तेज़ी से होने लगे। मौलिक विज्ञान-साहित्य-लेखन के लिए भारत सरकार अनेक पुरस्कार भी देती है। इससे भी लेखन को प्रोत्साहन मिला है।

एक रोचक तथ्य यह भी है कि हिन्दी में वैज्ञानिक और तकनीकी पत्रिकाओं की भी कमी नहीं है। आज कृषि, चिकित्सा, इंजीनियरी, भूविज्ञान, प्राणिविज्ञान आदि अनेक विषयों पर हिन्दी में नियमित रूप से लगभग 321 पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। इनमें से 82 ऐसी पत्रिकाएँ हैं जिनमें हिन्दी के साथ अंग्रेज़ी या अन्य भारतीय भाषा में भी सामग्री प्रकाशित होती है। यहाँ यह बता देना उपयुक्त होगा कि हिन्दी में शोध पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं। इनमें से **विज्ञान परिषद् अनुसंधान पत्रिका** और **दि इंस्टिट्यूशन ऑफ इंजीनियर्स का हिन्दी जर्नल** प्रमुख हैं। इस जर्नल की इस समय 11000 प्रतियाँ छपती हैं और समय-समय पर विशेषांक भी निकलते हैं जिनमें उच्चकोटि के शोध निबन्ध रहते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि अनेक वैज्ञानिक पत्रिकाएँ गत 60-70 साल से नियमित रूप से प्रकाशित हो रही हैं। उदाहरण के लिए **आयुर्वेद महःसम्मेलन पत्रिका** 1913 से, **विज्ञान** 1915 से और **उद्यम** 1919 से निकल रही है। इनके अतिरिक्त उच्चस्तर की विज्ञान कथाएँ **साप्ताहिक हिन्दुस्तान**, **धर्मयुग** तथा **विज्ञान प्रगति** में भी प्रकाशित होती रहती हैं। साप्ताहिक हिन्दुस्तान, विज्ञान प्रगति, **मेला पाक्षिक**, **पराग** और **विज्ञान** पत्रिकाओं के विज्ञान कथा विशेषांक भी समय-समय पर निकले हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी विज्ञान साहित्य के बारे में हमारी दशा दिन पर दिन सुधर रही है। साहित्य के प्रयोग की दशा भले ही निराशाजनक हो, उसके प्रणयन की स्थिति निराशाजनक नहीं है। □

डायनासोर और धूमकेतु

डॉ० ओम प्रभात अग्रवाल

प्रोफेसर, रसायन विभाग, महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय, रोहतक-124001

डायनोसोर एक अजूबा थे—प्रकृति का एक ऐसा खिलवाड़ जो अपने भीमकाम शरीरों से इस धरा को बारह करोड़ वर्षों तक रौंदते रहे। उनकी लम्बाई-चौड़ाई की कल्पना आज के युग में भला की जा सकती है?—जबकि सबसे विशाल प्राणी के नाम पर या तो हमें हाथी से संतोष करना पड़ता है और या फिर मानसिक चित्र बनाने पड़ते हैं किसी येती नामक जीव के, जिसके बारे में प्रचलित है कि वह हिमालय की लगभग अछूती बर्फ में मानव से लुका-छिपी का खेल खेलता है। पर जिसे देखने का दावा आज तक कोई सिद्ध नहीं कर सका है, दूसरी ओर, अस्सी फीट तक की लम्बाई और 50 टन तक के वजन वाले ये राक्षस-प्राय प्राणी, धरती पर मानव के आगमन से लाखों वर्ष पूर्व पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक मस्त विचारण करते रहे। अपने समय में अर्थात् पृथ्वी के क्रोडेशस भूभौतिकी युग में वे ही विश्व के एकक्षत्र शासक थे। उनके संचरण में बाधा डालने वाला कोई न था। यही कारण है कि उनके अवशेष (जीवाश्म) अंटार्कटिका को छोड़कर अन्य सभी महाद्वीपों पर विपुलता से उपलब्ध हैं।

इतना सब होते हुये भी काल के विकराल पंजों से वे कब तक बचे रह सकते थे! उसकी केवल एक चाल ने इन महाशक्तिशाली दानवों को मात दे दी। क्रोडेशस युग एकाएक समाप्त हो गया और उसके साथ ही डायनोसोरों की सभी जातियाँ, प्रजातियाँ इतिहास बन गये। क्यों हुआ ऐसा? वह कौन सी घटना थी जिसने धरती को डायनोसोरों से निर्मूल कर दिया? पर ठहरिये! अभी हमने धूमकेतुओं पर तो विचार किया ही नहीं।

धूमकेतु या पुच्छल तारे सदैव से आश्चर्य और भय से देखे जाते रहे हैं। सृष्टि के प्रारम्भ से ही जब

भी ये आकाश में दिखे, मानवों को भयक्रांत कर गये। विनाश की हज़ारों कहाहियाँ जुड़ी हैं उनके साथ। हहराती हुई वाढ़ हो या लपलपाती जिह्वा वाली भयंकर आग—सभी के जनक वे ही माने गये।

असलियत क्या है—यह सबसे पहले ज्ञात किया अंग्रेज नक्षत्रविज्ञानी एडमंड हेली ने, जिसके नाम से 1986 के हमारे आकाशी आगंतक को पहचान मिली। धूमकेतु भी सौरमण्डल के ही सदस्य हैं। जब वे पृथ्वी के बहुत समीप आ जाते हैं तो दिखने लगते हैं, अन्यथा नहीं। वस्तुतः करोड़ों में एक बार एक न एक धूमकेतु पृथ्वी के इतने समीप आ जाता है कि उसके सिर से हमारे ग्रह की सीधी टक्कर हो सकती है। अनुमान है कि सौर मंडल के लम्बे इतिहास में कई बार ऐसा हो चुका है।

धूमकेतु के शरीर के दो हिस्से होते हैं—उसकी छोटी सी खोपड़ी या सिर और अतिशय लम्बी पूँछ। सिर कितना छोटा होता है—यह आप इसी से समझ सकते हैं कि हेली के धूमकेतु के सिर का केन्द्रीय भाग, जिसे न्यूक्लियस कहते हैं, का अर्धव्यास कुल 15 किलोमीटर है। दूसरी ओर पूँछ सामान्यतः ढाई से तीन करोड़ किलोमीटर तक फैली होती है। यह लम्बाई कभी-कभी तीन या चार सौ करोड़ किलोमीटर भी हो सकती है। अपनी इसी लम्बी पूँछ के कारण नक्षत्र मंडल का यह लंगूर पुच्छल तारा कहा जाता है।

धूमकेतु का सिर ठोस होता है, जिसमें कुछ धातुयें, कुछ अन्य ठोस वस्तुओं के बारीक कण और कुछ जमी हुई गैस होती हैं। इन गैसों में जमी हुई जलवाष्प (बर्फ) भी होती है। जब धूमकेतु सूर्य के नजदीक पहुँचने लगता है तो गर्मी से ये काफी हद तक पिघल कर फिर गैसीय अवस्था में आ जाती हैं और

सिर के न्यूक्लियस के चारों ओर एक चमकीले प्रभामंडल का निर्माण कर देती हैं। इस प्रभामंडल या कोमा का व्यास दस लाख किलोमीटर तक हो सकता है।

धूमकेतु की द्रोपदी के चीर से भी लम्बी पूँछ अत्यन्त विरल होती है। इसमें हाइड्रोजन, नाइट्रोजन कार्बन मोनॉक्साइड तथा सायनोजेन आदि गैस आयनीकृत रूप में उपस्थित होती हैं।

अपने विचित्र शरीर को लेकर प्रकृति की यह रचना सूर्य के आकर्षण में बंधी एक लम्बा रास्ता तय करती है। सूर्य के चारों ओर धूमकेतु का मार्ग भी उसके शरीर की तरह ही विचित्र होता है। यह दीर्घ-वृत्तीय अंडाकार मार्ग कहीं तो सूर्य के समीप होता है और कहीं अल्पनीय रूप से दूर। यही कारण है कि अन्य नक्षत्रों की तरह यह सदैव नहीं दिखाई देता—केवल कभी-कभी दर्शन देता है। हेली का धूमकेतु 75 वर्षों के अंतराल से आकाश में दृष्टिगोचर होता है। एक बात यह भी स्मरणीय है कि अपना मार्ग तय करते समय धूमकेतु की गति अत्यन्त भयानक रूप से तीव्र होती है।

यदि पृथ्वी की टक्कर भयंकर गति से दौड़ते इस पुच्छल दानव के छोटे से सिर से हो जाय तो क्या होगा? स्पष्ट है कि हजारों अरबों टन का भार और दानवीय गति का संयोग पृथ्वी को गंभीर क्षति पहुँचाये बिना कैसे रह सकता है? टक्कर के कारण सैकड़ों खरब टन मिट्टी और कंकड़ पत्थर आदि धरती से अलग होकर वातावरण में फैल जायेंगे और सम्पूर्ण पृथ्वी इस धूल की मोटी-चादर से ढँक जायेगी। वस्तुतः टक्कर इतनी तीव्र होगी कि धूल के इस भयंकर अंबार का काफी हिस्सा वातावरण से भी आगे निकल कर अंतरिक्ष में चला जायेगा, जहाँ से अत्यन्त धीरे-धीरे हजारों साल तक पृथ्वी पर झरता रहेगा। धूल का अंबार इतना विशाल होगा कि सूर्य की किरणें उसे भेदने में असमर्थ होंगी और एक दीर्घ अवधि तक पृथ्वी पर अंधकार छाया रहेगा। ऊष्मा-दायिनी सूर्य किरणों के अभाव में तापमान कुछ ही

काल में जमाव बिन्दु से भी दसियों डिग्री नीचे पहुँच जायेगा। चारों ओर ठंडी बर्फ का साम्राज्य छा जायेगा। अधिकतर पेड़-पौधे प्रकाशसंश्लेषण की क्रिया बन्द हो जाने के कारण मृत हो जायेंगे। एक दीर्घ-कालीन हिमयुग का सूत्रपात हो जायेगा।

स्पष्ट है कि प्रलयकारी टक्कर के फलस्वरूप जो गड्ढे या क्रेटर पृथ्वी पर बनेंगे उसका व्यास सैकड़ों किलोमीटर होगा। अनुमान किया जाता है कि चन्द्रमा के तल पर पाये जाने वाले विशालकाय क्रेटर ऐसी टक्करों के फलस्वरूप बने होंगे। पृथ्वी पर भी ऐसे कुछ क्रेटर हैं, जिनमें साइबेरिया का पोपीगे क्रेटर सबसे नया है—केवल तीन करोड़ वर्ष पुराना। अमेरिका का ग्रैंड कैनियान क्रेटर भी क्या ऐसे ही बना था? शायद कहा तो यह भी जाता है कि कैस्पियन झील भी किसी ऐसे ही क्रेटर में पानी भर जाने से बनी है। वैसे इन सभी उदाहरणों के बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कई सिद्धांत प्रतिपादित किये गये हैं। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अभी कई लाख वर्षों तक पृथ्वी को किसी भी ज्ञात धूमकेतु से टक्कर अनुमानित नहीं है।

अच्छा तनिक सोचें कि यदि धूमकेतु की पृथ्वी से ऐसी टक्कर डायनोसोरों के समय में हुई हो तो क्या हुआ होगा? डायनोसोर सरीसृप परिवार के थे। अर्थात् साँप, छिपकली आदि के सहोदर। सरीसृप शीत रक्त वाले होते हैं। अर्थात् इनमें ठंड के समय भी अपने शरीर के अन्दर एक ही विशिष्ट तापमान को बनाये रखने की क्षमता नहीं होती। इसीलिए अधिक ठंड में ये किसी खोह आदि सुरक्षित तथा अपेक्षाकृत अधिक गर्म स्थान में दुबक कर शीत निद्रा में चले जाते हैं। दीर्घकालीन हिमयुग में जीवित रहने की शक्ति इनमें नहीं होती। स्पष्ट है कि डायनोसोर भी धूमकेतु की टक्कर के परिणामस्वरूप प्रारम्भ होने वाले सदस्रों वर्ष की अवधि वाले हिमयुग में जीवित रहने में समर्थ नहीं थे।

कहीं डायनोसोरों के विनाश का कारण धूमकेतु

ही तो नहीं थे ? हम ऐसा कह सकते हैं यदि पृथ्वी से उनकी टक्कर के प्रमाण या कम से कम संकेत उपलब्ध हों। प्रख्यात विज्ञान लेखक कार्ल सागन तथा अन्ना ड्रूयन ने 1985 में प्रकाशित अपनी एक पुस्तक में इन संकेतों की ओर इंगित करते हुये डायनासोरों के विनाश का कारण धूमकेतुओं को ही माना है। आइये देखें वे संकेत क्या हैं ?

विश्व में कई स्थानों पर ऐसी चट्टानें सुरक्षित हैं जिनमें भूभौतिकी कालों की विशिष्टतायें एक के ऊपर एक क्रमवार लगी परतों में बिलकुल स्पष्ट हैं। निश्चित है कि काल के थपेड़े इन चट्टानों को नष्ट नहीं कर पाये। ये चट्टानें वस्तुतः पृथ्वी पर लिखी गई प्रकृति की इतिहास पुस्तकें हैं। एक ऐसी ही चट्टान इटली के गुब्बिओं गाँव में देखने को मिलती है। हेटी-न्यूजीलैंड और टेक्सास आदि में भी ऐसी चट्टानें सुरक्षित हैं।

स्मरणीय है कि डायनासोरों का अंत क्रेटेशस भूभौतिकी काल के अंत के साथ हुआ था। उसी काल की परतों में इनके जीवाश्म अर्थात् चट्टानाकृत पंजर मिलते हैं। उसके पहले या उसके बाद की चट्टानों में नहीं। गुब्बिओं की क्रेटेशस काल की चट्टानी परत की सबसे उपरी सतह बड़े सुहाने धूसर गुलाबी रंग की है, जिसमें इरीडियम, प्लैटिनम परिवार की एक अत्यन्त मूल्यवान धातु है, जो धरती पर केवल अत्यन्त सीमित सी मात्रा में उपलब्ध है। पर गुब्बिओं की इस काल की चट्टानी परत की इस धूसर गुलाबी सतह में अन्य किसी परत की अपेक्षा इरीडियम तीस गुना अधिक मात्रा में है। कुछ ऐसे ही प्रेक्षण हेटी और

न्यूजीलैंड में भी किये गये हैं।

ऐसा क्यों है ? इस परत—और केवल इस परत में ही इरीडियम, औसत से इतनी अधिक मात्रा में क्यों है ? स्मरणीय है कि सौरमण्डल के अन्य सदस्यों पर जिनमें धूमकेतु भी शामिल हैं, पृथ्वी की अपेक्षा इरीडियम काफी अधिक मात्रा में है। तब क्या क्रेटेशस काल में यह इरीडियम किसी ऐसे ही सदस्य से दानस्वरूप प्राप्त हुआ। यह सम्भव है। कल्पना करें कि आज से साढ़े छः करोड़ वर्ष पूर्व कोई दानवा-कार धूमकेतु हमारी पृथ्वी से टकरा गया। टक्कर से जो धूल का गुबार उड़ा होगा, उसमें धूमकेतु के सिर के अत्यन्त बारीक जर्ने भी मिले रहे होंगे। धूल के इस अंबार ने एक दीर्घकालीन हिमयुग का सूत्रपात कर दिया होगा, जो अंततः शक्तिशाली डायनासोरों के विनाश का कारण बन गया होगा। हजारों साल तक यह इरीडियमयुक्त धूल अंतरिक्ष से पृथ्वी पर झरती रही होगी और उसने क्रेटेशस युग की इस धूसर गुलाबी सतह का निर्माण कर दिया होगा। धीरे-धीरे धूल का झरना बन्द हुआ होगा, सूर्य की रश्मियाँ फिर से धरा को आलोकित करने लगी होंगी, हिमयुग का अंत हुआ होगा और साथ ही अंत हो गया होगा क्रेटेशस काल का भी।

ऐसा हुआ या नहीं—यह निश्चित रूप से तो नहीं कहा जा सकता। परन्तु क्रेटेशस काल की इरीडियम-धनी चट्टानी सतह संकेत इसी ओर कर रही है। और यदि वास्तव में ऐसा हुआ तो मानना पड़ेगा कि महान शक्तिशाली डायनासोरों के विनाश का कारण कोई धूमकेतु ही था। □

[पृष्ठ 16 का शेषांश]

शरीर में सीसे की मात्रा का सीधा प्रभाव मनुष्य की बुद्धि पर पड़ता है। इसी प्रकार कैडमियम धातु के शरीर में पहुँचने का भी तंत्रिका तंत्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है और मनुष्य के अन्दर विकार पैदा हो जाते हैं।

इस प्रकार से अब तक किये गये वैज्ञानिक

अनुसंधानों से यही पता चलता है कि हमारे द्वारा खाये जाने वाले आहार में मौजूद पोषाहारों एवं अन्य दूसरे पदार्थों का हमारे शारीरिक क्रिया-कलापों, व्यवहार तथा रुचियों पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है और ये सभी हमारे व्यवहार का निर्धारण करते हैं। □

रासायनिक खेती के विकल्पों की खोज

विजय जी

जवाहर इण्टर कॉलेज, जारी, इलाहाबाद

जब से खेती में उर्वरक, कीटनाशक, उन्नत बीज और मशीनों का प्रयोग शुरू हुआ, पैदावार कई गुना बढ़ी है। लेकिन रासायनिक खेती का यह आकर्षण स्थायी नहीं रह सका। खेती के इन विकसित तरीकों में विनाश के चिह्न साफ-साफ दीखने लगे। भूमि की उर्वरता में लगातार कमी, खेती में लगातार बढ़ती लागत, उर्वरक, कीटनाशक और उन्नत कृषि यंत्रों पर बहुराष्ट्रीय कंपनियों का बढ़ता एकाधिकार तथा पर्यावरणीय समस्याएँ कुछ ऐसे पहलू हैं जिन्होंने वैज्ञानिकों को पुनः पीछे मुड़ने के लिये बाध्य कर दिया।

रासायनिक खेती के दो विकल्प उभरकर सामने आये हैं : आर्गेनिक फार्मिंग या जैव खेती तथा नेचुरल फार्मिंग या ऋषि खेती। संयोग से दोनों ही विधियों के जन्मदाता, जैवखेती के सर अलबर्ट होवर्ड तथा ऋषि खेती के जापान के फुकुओका के जीवन की शुरुआत एक ही तरह से हुई। दोनों ही पहले प्रयोगशाला वैज्ञानिक के रूप में कार्य करते थे। बाद में दोनों को ही प्रयोगशाला की सीमा अखरने लगी और दोनों ने ही नौकरी छोड़कर खुले खेतों में प्रयोग शुरू कर दिया।

नेचुरल फार्मिंग

नेचुरल फार्मिंग के जन्मदाता जापान के फुकुओका ने एक दिन एक अनजुते खेत में घासों से लिपटा एक धान का पौधा देखा। पौधा खूब स्वस्थ और हराभरा था। सामान्यतः ऐसे पौधे खेतों में नहीं दिखायी देते थे। फुकुओका उस पौधे को देखते ही रह गये। उनके दिमाग में तरह-तरह के सवाल उठने लगे। जब पौधा बिना जोते बोये और बिना खाद पानी के इतना अच्छा हो सकता है तो पूरे खेत की फसल ऐसी क्यों नहीं हो सकती? यहीं से फुकुओका

के दिमाग में क्रान्तिकारी परिवर्तन शुरू हुए और वे ऐसी विधि की खोज में जुट गये जिसमें बिना जोते बोये, बिना खाद पानी के सर्वोत्तम फसल हो।

पिछले करीब 25 वर्षों से फुकुओका दक्षिणी जापान के शिकाकू द्वीप पर एक गाँव में अपना प्रयोग करते रहे हैं। प्रयोगों की सफलता वे बराबर प्रचारित करते रहे। फिर भी लोगों ने उनके प्रयोगों की ओर कोई खास ध्यान नहीं दिया। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से एकाएक जनता की दिलचस्पी 'नेचुरल फार्मिंग' में बहुत बढ़ गयी। इसका कारण संभवतः रासायनिक खेती के बढ़ते पर्यावरणीय दुष्प्रभाव हैं। दुनिया के विभिन्न हिस्सों में कीटनाशकों और उर्वरकों के बड़े खराब प्रभाव स्पष्ट दिखायी दे चुके हैं। लोग अब किसी अन्य सुरक्षित विधि को अपनाना चाहते हैं।

फुकुओका अपनी खेती को 'डू नर्थिंग फार्मिंग' याने बिना मेहनत वाली खेती कहते हैं। वे साल भर की फसलों के बीज खेत में एक साथ ही छिड़क देते हैं। बीजों के साथ ही खेत में पुआल, भूसा या फसलों के अवशेषों को भी बिखेर देते हैं। ऊपर से पानी का छिड़काव कर दिया जाता है। जिस बीज को जिस मौसम में उगना चाहिये वह अपने मौसम में ही उगेगा। अपने देश के खेतों में भी एक मौसम में धान का गिरा बीज अगली बरसात में ही उगता है। जाड़ों में वह नहीं उगता। जाड़ों में केवल गेहूँ आदि रबी की फसलें ही उग पाती हैं। फुकुओका के खेतों में जाड़े की फसल जब मई-जून में तैयार हो जाती है तो उसके दाने अलग करके सारे भूसे को पुनः खेतों में बिखेर दिया जाता है। जून में वर्षा होती है। वर्षा से एक तरफ खर-पतवार तथा भूसा सड़ने लगता है और घासों को उगने से रोकता है वहीं पिछले मौसम में ही बोये गये धान के बीज उगने लगते हैं। धान

की फसल को पकने तक निराई-गुड़ाई, खाद-पानी किसी की कुछ भी जरूरत नहीं होती। घास पहले तो उगती नहीं। जो उगती भी है उससे फसल को कोई हानि नहीं होती। खर-पतवार और भूसा के सड़ने से जमीन इतनी स्पंजी और उपजाऊ हो जाती है कि उसमें पानी सोख कर सुरक्षित रखने की आश्चर्य-जनक क्षमता उत्पन्न हो जाती है। नेचुरल फार्मिंग में बाहरी बीज प्रयोग नहीं किये जाते। उसी खेत के निकले बीज ही उपयुक्त होंगे क्योंकि उनमें रोग-रोधी गुण उत्पन्न हो जाते हैं। नई किस्मों के बीजों पर ही बीमारियों का तीव्र प्रकोप होता है क्योंकि उनमें रोगों से लड़ने की क्षमता नहीं होती। फुकुओका अपनी इस विधि में चौथाई एकड़ में 18 से 22 बुसेल या 1100 से 1300 पौंड धान की पैदावार ले रहे हैं। यह पैदावार जापान की आधुनिक रसायनिक खेती की उपज के बराबर है। रसायनिक खेती की लागत का हिसाब लगाया जाय तो 'नेचुरल फार्मिंग' काफी फायदे में है।

भारत में प्रयोग

'नेचुरल फार्मिंग' का प्रयोग भारत में सबसे पहले 'फ्रेन्ड्स रूलर सेंटर रसूलिया', होशंगाबाद, म० प्र० में शुरू किया गया। यहाँ 'नेचुरल फार्मिंग' को 'ऋषि खेती' नाम दिया गया क्योंकि वैदिक युग में जंगलों में रहने वाले ऋषियों की खेती भी करीब करीब उसी ढंग की हुआ करती थी। वे बिना जोते बोये और बिना किसी श्रम के अन्न प्राप्त करते थे।

रसूलिया सेंटर पर ऋषि खेती का प्रयोग छः वर्ष पूर्व शुरू किया गया था। तब से सेंटर ने अपने फार्मों में उर्वरकों और कीटनाशकों का प्रयोग एकदम बन्द कर दिया है। सेंटर की 1984 की रिपोर्ट के अनुसार यहाँ के खेतों में उर्वरकों और कीटनाशकों पर खर्च निम्न प्रकार रहा है :

वर्ष	उर्वरक और कीटनाशक रूपों में
1974-75	— 24000
1975-76	— 9000

1976-77	—	17150
1977-78	—	11510
1978-79	—	9675
1979-80	—	9427
1980-81	—	कुछ नहीं
1981-82	—	कुछ नहीं
आगे भी	—	कुछ नहीं

चार वर्ष पूर्व से सेंटर के साढ़े तीन एकड़ खेतों की जुताई एकदम रोक दी गयी है। इन खेतों में फुकुओका के तरीके से पुआल और कृषि अवशेष बिखेर कर पानी भरकर अपघटित होने दिया गया। सेंटर की 1985 की रिपोर्ट के अनुसार यह साढ़े तीन एकड़ जमीन अब सेंटर की सबसे अधिक उर्वर जमीन बन गयी है। इस परिणाम से उत्साहित होकर सेंटर ने अब 6 एकड़ जमीन पर ऋषि खेती शुरू कर दी है। अन्य जमीन पर भी लगातार जुताई कम की जा रही है। यही कारण है कि सेंटर पर छः वर्ष पूर्व जहाँ एक ट्रैक्टर और तीन जोड़ी बैल थे अब ट्रैक्टर और एक जोड़ी बैल बेंच दिये गये हैं।

सेन्टर ने अपने खेतों में आधुनिक उन्नतिशील बीजों को एकदम निकम्मा पाया। तीन इंजीनियरों द्वारा तैयार ये बीज बिना उर्वरकों और कीटनाशकों के पनप ही नहीं सकते। शुरू में इन खेतों की पैदावार काफी घट गयी थी क्योंकि ये खेत भी कीटनाशक और उर्वरकों के आदी हो चुके थे। लेकिन बाद में धीरे धीरे उपज बढ़ने लगी और अब इन खेतों की औसत उपज पहले के बराबर हो गयी है।

सेन्टर ने अक्टूबर 1984 में एक सेमिनार आयोजित किया था। सेमिनार में देश के विभिन्न हिस्सों से तमाम वैज्ञानिक और कृषिवेत्ताओं ने भाग लिया था। प्रसिद्ध धान विशेषज्ञ डॉ० रिझारिया भी आये थे। डॉ० साहव ने बताया था कि देश में अब भी देशी धान की 40,000 किस्में जीवित हैं जिनमें 20,000 का संग्रह उन्होंने स्वयं किया है। उन्होंने बताया कि अब देशी किस्में बड़ी तेजी से लुप्त होती जा रही हैं।

आरगैतिक या जैव कृषि पद्धति

जैव कृषि पद्धति अमेरिका में बड़ी ही लोकप्रिय हो रही है। यह विधि भी आधुनिक रासायनिक कृषि पद्धति के दोषों से पूर्णतः मुक्त है। इसमें न उर्वरकों का प्रयोग किया जाता है और न कीटनाशकों का। इस पद्धति में भी भूमि की उर्वराशक्ति बढ़ाने पर ही विशेष जोर दिया जाता है। उर्वरता बढ़ाने के लिये कम्पोस्ट खाद का प्रयोग किया जाता है। इस पद्धति के विशेषज्ञों के अनुसार वास्तव में उर्वरकों की कोई जरूरत ही नहीं है। प्रायः प्रत्येक वृक्ष या पौधा इतनी पत्तियाँ, डंठल आदि अवशेष के रूप में छोड़ जाता है कि यदि इनका उपयोग खेत में सड़ाने के लिये किया जाय या कम्पोस्ट खाद बनाने के लिये किया जाय तो भूमि की उर्वरता कम होने का सवाल ही नहीं उठता।

जैव कृषि पद्धति में फसलों की बीमारियों के लिये कीटनाशकों का उपयोग नहीं किया जाता है। जिस तरह प्रकृति बीमारियों पर नियन्त्रण करती है कुछ वैसी ही पद्धति यहाँ अपनायी जाती है। यदि किसी फसल पर कीड़े लग गये हैं तो विशेषज्ञों को यह जानकारी होती है कि वे कीड़े किन अन्य कीड़ों द्वारा नष्ट किये जाते हैं। इस तरह दूसरी तरह के कीड़ों का विकास करके पहली तरह के नुकसानदेह कीड़ों का सफाया किया जा सकता है।

आजकल कीटनाशकों के अन्धाधुन्ध उपयोग से बीमारियों की रोकथाम का प्राकृतिक नियमन बिगड़ गया है। उदाहरणस्वरूप धान का जोरई रोग बहुत पुराना होता है। जोरई एक प्रकार का कीड़ा होता है। जब इसका प्रकोप बढ़ता है तो चील, कौवे और अन्य पक्षी उन्हें खाकर समाप्त कर देते। लेकिन यदि क्षेत्र में पक्षियों की कमी पड़ जायेगी तो जोरई के प्रकोप को कोई रोक नहीं सकता।

अमेरिकी कृषि विभाग ने 1979 से जैव कृषि पद्धति में रुचि लेना शुरू किया क्योंकि उसे यह

सूचना मिली कि रोज्यु मिनेसोटा के किसान अपने 60,000 हेक्टेयर कृषि क्षेत्र में जैव कृषि पद्धति से खेती करने लगे हैं। अमेरिका के भूतपूर्व कृषिमन्त्री बाब बर्गलैण्ड जैव कृषि पद्धति से इतने प्रभावित हुये कि उन्होंने अपने कृषि विभाग के विज्ञान एवं शिक्षा प्रशासन को जैव कृषि पद्धति का अध्ययन करने का आदेश दिया। अध्ययन के कुछ प्रमुख निष्कर्ष ये हैं :

(1) ऊर्जा तथा प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के दृष्टिकोण से जैव तकनीक उत्तम है। रासायनिक पद्धति के किसानों को भी कुछ तरीके सिखाने के दृष्टिकोण से अनुसन्धान कार्यक्रम शुरू किये जायें।

(2) शहरी तथा ग्रामीण स्रोतों से प्राप्त कचरे का सर्वोत्तम उपयोग जैव तकनीक में किया जा सकता है।

(3) जैव तकनीक के सिद्धान्त के आधार पर खर-पतवार, कीड़ों तथा रोगों के नियंत्रण के लिये अरासायनिक साधनों का विकास किया जाय। जैसे—यांत्रिक जुताई, फसल-चक्र तथा प्राकृतिक कीटनाशकों का उपयोग।

(4) जैव खेती की उपजों की बिक्री के लिये नये प्रबन्ध किये जायें ताकि वे रासायनिक उत्पादों से अधिक ऊँचे मूल्य पर बेचे जा सकें।

ऊर्जा की लगातार विकट होती समस्या, कीटनाशकों के बढ़ते प्रदूषण, बहुराष्ट्रीय निगमों का खेती पर बढ़ते शिकंजे आदि कई ऐसे कारण हैं जो आधुनिक रासायनिक खेती से मोह भंग कर देते हैं। इसके अलावा रासायनिक खेती लगातार खेतों को निचोड़कर अनुर्वर बनाती जा रही है। ऐसी स्थिति में नेचुरल फार्मिंग और जैवकृषि पद्धति से आशाओं के द्वार खुलते दीख रहे हैं। आवश्यकता है इन क्षेत्रों में खुले दिल से शोध और सहायता की। ताकि अगली पीढ़ियों को हम कम लागत वाली और प्रदूषणमुक्त कृषि तकनीक दे सकें। □

आहार हमारे व्यवहार को कैसे प्रभावित करता है ?

सुभाष लखेड़ा

वैज्ञानिक अधिकारी, रक्षा शरीरक्रिया एवं सम्बद्ध विज्ञान संस्थान (डिपास), दिल्ली छावनी—110010

जहाँ तक मनुष्य के स्वभाव एवं व्यवहार का प्रश्न है, यह सर्वविदित है कि ये मस्तिष्क के द्वारा संचालित किये जाते हैं। मस्तिष्क शारीरिक क्रियाओं को ही नहीं अपितु मनुष्य द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यों का संचालन करता है। इसीलिए सभी शारीरिक अंगों में मस्तिष्क की कार्य प्रणाली सर्वाधिक जटिल एवं अद्भुत है। हमारे मस्तिष्क में कई सौ लाख तंत्रिका कोशिकाएँ हैं जिनके माध्यम से यह हमारे शरीर के क्रिया-कलापों तथा हमारे स्वभाव एवं व्यवहार को नियंत्रित करता है।

अब तक की गई खोजों से यह स्पष्ट हो चुका है कि मस्तिष्क की तंत्रिका कोशिकाएँ आपस में रासायनिक पदार्थों के माध्यम से बात-चीत करती हैं। इन रासायनिक पदार्थों को वैज्ञानिकों ने तंत्रिका संचारक नाम दिया है। मस्तिष्क इन तंत्रिका संचारकों के माध्यम से शरीर के सभी क्रिया-कलापों को नियंत्रित करता है। ये रसायन ही हमारी शारीरिक गति, मूड, स्वभाव तथा व्यवहार को निर्धारित करते हैं। शरीर की विभिन्न ग्रन्थियों द्वारा किये जाने वाले हॉर्मोनों के स्राव, हृदय की गति तथा हमारे शरीर की पेशियों में आवश्यकतानुसार संकुचन तथा शिथिलन का नियंत्रण भी तंत्रिका संचारक ही करते हैं। इतना ही नहीं, यहाँ तक कि भूख, नींद, शारीरिक ताप-नियन्त्रण, प्रजनन क्षमता, तथा आनन्द एवं दुख से जुड़ी सभी प्रक्रियाओं का भी इन तंत्रिका संचारकों से गहरा सम्बन्ध है।

मस्तिष्क अपने किसी तंत्रिका संचारक का निर्माण जिस रासायनिक पदार्थ से करता है, उसे उस तंत्रिका संचारक का पूर्वगामी कहा जाता है। मस्तिष्क को आहार से सीधे तंत्रिका संचारक रसायन प्राप्त नहीं होते हैं अपितु वह रक्त से इनके पूर्वगामियों को

प्राप्त करता है और फिर स्वयं ही इन पूर्वगामी रसायनों से अपने लिए तंत्रिका संचारकों का संश्लेषण करता है। हमारे मस्तिष्क के कुछ प्रमुख तंत्रिका संचारकों के नाम इस प्रकार हैं—ऐसीटिलकोलीन, ऐड्रिनलीन, नॉरऐड्रिनलीन, सीरोटोनिन, हिस्टामीन एवं डोपामीन।

हमारे रक्त में तंत्रिका संचारकों के संश्लेषण के लिए आवश्यक पूर्वगामी रसायनों का स्तर हमारे द्वारा खाये जाने वाले आहार में मौजूद पोषाहारों की मात्रा पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, ट्रिप्टोफेन एवं टायरोसीन ये दोनों ही ऐमिनोअम्ल हमारे आहार के ऐसे दो प्रमुख पोषाहार हैं जो कुछ तंत्रिका संचारकों के पूर्वगामी हैं। ऐसा ही एक तीसरा प्रमुख पोषाहार कोलीन है।

उपरोक्त तीनों ही पोषाहार, हमारे स्वभाव एवं व्यवहार से काफी हद तक जुड़े हुये हैं। दरअसल इन तीनों से ही प्रमुख तंत्रिका संचारकों का निर्माण होता है। ट्रिप्टोफेन से महत्वपूर्ण तंत्रिका संचारक सीरोटोनिन संश्लेषित होता है। टायरोसीन नामक ऐमिनोअम्ल में डोपामीन, नॉरऐड्रिनलीन एवं ऐड्रिनलीन, इन तीन तंत्रिका संचारकों का निर्माण होता है। कोलीन से अति महत्वपूर्ण तंत्रिका संचारक ऐसीटिलकोलीन का निर्माण होता है।

बहरहाल, एक स्वस्थ मस्तिष्क के लिये यह जरूरी है कि उसमें सभी तंत्रिका संचारकों का संश्लेषण, प्राकृतिक अनुपात में होता रहे। वैज्ञानिक खोजों से ज्ञात हुआ है कि किसी तंत्रिका संचारक का संश्लेषण उसके पूर्वगामी की मस्तिष्क में पहुँचने वाली मात्रा पर निर्भर करता है। मस्तिष्क में पहुँचने वाले इस पूर्वगामी रसायन की मात्रा उसकी शारीरिक रक्त

में मौजूद मात्रा पर निर्भर करती है। अतः शारीरिक रक्त में किसी भी पोषाहार का स्तर सामान्य बना रहना अत्यावश्यक है। रक्त इन पूर्वगामी पोषाहारों को हमारे द्वारा खाये गये आहार से प्राप्त करता है। इसलिये सर्वप्रथम स्वयं आहार में ही इन पोषाहारों की संतुलित मात्रा का होना निहायत जरूरी है।

यह देखा गया है कि हम जिस पोषाहार को भी अधिक मात्रा में ग्रहण कर लेते हैं, हमारे मस्तिष्क में उससे सम्बद्ध तंत्रिका संचारक का स्त्राव बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ कोलीन अथवा ट्रिप्टोफेन समृद्ध आहार लेने से मस्तिष्क में क्रमशः ऐसीटिलकोलीन अथवा सीरोटोनिन का स्त्राव बढ़ जाता है। यही नियम टायरोसीन समृद्ध आहार पर भी लागू होता है।

यूँ यह भी सच है कि हमारे मस्तिष्क की कुछ हद तक एक खूबी यह भी है कि वह स्वयं ही अपने द्वारा संश्लेषित किये जाने वाले तंत्रिका संचारकों के बीच संतुलन बनाये रखने का प्रयत्न करता है।

उदाहरणार्थ, हारवर्ड विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक बोनी स्ट्रिंग एवं उनके सहयोगियों ने आहार में मौजूद शर्करा एवं ट्रिप्टोफेन के प्रभावों का विस्तार से अध्ययन किया है। ट्रिप्टोफेन एक ऐसा ऐमिनोअम्ल है जो आहारिय प्रोटीन में होता है। मानव व्यवहार पर पोषाहारों का प्रभाव का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिकों के लिये यह एक प्रमुख आहारिय घटक है, क्योंकि जैसा पहले बताया जा चुका है यह सीरोटोनिन नामक तंत्रिका संचारक का पूर्वगामी है। सीरोटोनिन नींद, भूख, दर्द, प्रजनन शक्ति के अलावा मानव व्यवहार को भी काफी हद तक प्रभावित करता है। यहाँ तक कि पीयूषिका ग्रंथि से होने वाले हॉर्मोनों के स्त्राव को भी यह प्रभावित करता है। अन्य तंत्रिका संचारकों की भाँति मस्तिष्क में संश्लेषित होने वाली सीरोटोनिन की मात्रा रक्त से प्राप्त होने वाली ट्रिप्टोफेन की मात्रा पर निर्भर करती है। रक्त में ट्रिप्टोफेन का स्तर हमारे द्वारा खाये गये आहार पर निर्भर करती है। वास्तव में रक्त में मौजूद ट्रिप्टोफेन को मस्तिष्क में पहुँचने के लिये अपने साथ रक्त में

मौजूद दूसरे पाँच ऐमिनोअम्लों (टायरोसीन, फेनिक-अमीन, ल्यूसिन, आइसोल्यूसिन तथा बेलाइन) से प्रतिस्पर्द्धा करनी पड़ती है। इसकी मात्रा यदि शेष पाँचों ऐमिनोअम्लों से कम है तो यह अल्पमात्रा में ही मस्तिष्क में पहुँच पाता है। चूँकि हमारे द्वारा खाये जाने वाले आहार में मौजूद अधिकांश प्रोटीनों में ट्रिप्टोफेन की मात्रा शेष दूसरे ऐमिनोअम्लों की तुलना में अपेक्षाकृत कम होती है अतः प्रोटीन समृद्ध आहार लेने पर रक्त में ट्रिप्टोफेन की सापेक्षिक मात्रा कम हो जाती है। फलस्वरूप, मस्तिष्क तक पहुँचने वाली ट्रिप्टोफेन की मात्रा कम हो जाती है और तंत्रिकाओं द्वारा संश्लेषित किये जाने वाली सीरोटोनिन की मात्रा में गिरावट आ जाती है।

इसके विपरीत जब मनुष्य शर्करा समृद्ध आहार ग्रहण करता है तो तंत्रिकाओं द्वारा संश्लेषित की जाने वाली सीरोटोनिन की मात्रा में वृद्धि हो जाती है। इसका कारण यह है कि शर्करा के प्रभाव स्वरूप रक्त में जो इन्सुलिन मुक्त होती है वह ट्रिप्टोफेन के पाँचों प्रतिद्वन्दी ऐमिनोअम्लों को शारीरिक ऊतकों द्वारा अवशोषण किये जाने की प्रक्रिया को बढ़ावा देती है जिससे ट्रिप्टोफेन के सापेक्षिक स्तर में वृद्धि होती है और उसकी अपेक्षाकृत अधिक मात्रा मस्तिष्क में पहुँचने लगती है।

बहरहाल, मस्तिष्क में ज्यों ही सीरोटोनिन के संश्लेषण में वृद्धि होने लगती है, मनुष्य की शर्करा समृद्ध आहार को खाने की रुचि कम होने लगती है और इसके संतुलन को बनाये रखने के लिए वह प्रोटीन समृद्ध आहार पसंद करने लगता है।

बहरहाल, उपरोक्त पोषाहारों के अलावा आहार में मिलावट के कारण मौजूद कुछ अन्य पदार्थ भी हमारे मानसिक स्वास्थ्य को प्रभावित कर सकते हैं। उदाहरणार्थ, सीसा उन हानिकारक पदार्थों में से एक है जिनकी अल्पमात्रा के शरीर में पहुँचने पर भी व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर कुप्रभाव पड़ता है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह पुष्ट हो चुका है कि

[शेष पृष्ठ 11 पर देखें]

मंगल ग्रह की सैर

डॉ० शिवगोपाल मिश्र

प्रधान मंत्री, विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद

विज्ञान कथाओं या उपन्यासों में मंगल ग्रह की सैर बहुत पहले से होती आई है। हिन्दी में ओउम् प्रकाश शर्मा का एक उपन्यास 1956 में ‘मंगल यात्रा’ के नाम से छपा था। पता नहीं लोगों ने पढ़कर पसन्द किया था या नहीं किन्तु जब से चन्द्रमा पर मनुष्य के पैर पड़े हैं विश्व भर के वैज्ञानिकों तथा अवैज्ञानिकों में समान रूप से जिज्ञासा व्यक्त होने लगी है कि वह दिन दूर नहीं जब अपने पड़ोसी मंगल ग्रह पर भी मनुष्यों का पदापर्ण हो सकेगा। 1984 ई० में रूसी अन्तरिक्ष विज्ञानियों ने यह वक्तव्य दिया कि वे निकट भविष्य में मानवसहित उड़ान भरने वाले हैं। स्वाभाविक है कि अमेरिकी प्रतिस्पर्धी उतावले हों—उन्होंने भविष्यवाणी कर दी कि 1995-2005 ई० के दशक में फोबोस पर रूसी अन्तरिक्ष यान पहुँच चुका होगा। रूस के पक्ष में ऐसी उड़ान भरना सम्भव इसलिए है क्योंकि अन्तरिक्ष यात्री ‘साल्यूत’ नामक 20 टन भार वाले अन्तरिक्ष-यानों में 6-8 मास तक रह चुके हैं। संयोगवश मंगल ग्रह तक की यात्रा के लिए इतनी ही अवधि चाहिए। साल्यूत-6 पाँच वर्षों तक अन्तरिक्ष में रह चुका है और साल्यूत-7 की आकल्पन इस तरह हुआ है कि वह अधिक काल तक अन्तरिक्ष में रह सके। एक अन्य रूसी उपलब्धि है ‘अन्तरिक्ष उद्यानों’ (Space gardens) की स्थापना। ये हरित उद्यान लम्बी यात्रा कर रहे अन्तरिक्षयात्रियों के लिए भोजन पैदा करने के उद्देश्य से बनाये जावेंगे। ऐसे उद्यानों से अन्तरिक्ष में पौदा उगाकर बीज पैदा किये जा चुके हैं। पृथ्वी पर सीलबन्द परिवेश में जैव तथा वनस्पति सम्बन्धी अनुसंधान किये जा रहे हैं। ऐसे

हरित उद्यानों से 6-8 वर्षों तक कोई लाभ नहीं उठाया जा सकता अतएव ये उद्यान अल्पावधि की उड़ानों के लिए व्यर्थ हैं। ये उद्यान उन्हें रोटी ही नहीं देंगे उनके लिए ऐसा पर्यावरण प्रदान करेंगे जिसमें मनुष्यों को बोरियत का अनुभव नहीं होगा। रूसी 1990 तक ऐसे उद्यान बना लेंगे।

ऐसा अनुमान है कि मंगल ग्रह जाने के लिए जो अन्तरिक्षयान छोड़ा जायगा वह 1000 टन भारवाला होगा और उसमें अन्तरिक्ष यात्रियों का जो दल होगा वह मंगल तक जाकर पृथ्वी तक लौट सकेगा। इस प्रकार यह यान चन्द्रमा की यात्रा करने वाले अपोलो से 6-8 गुना भारी होगा। किन्तु इतने भारी यान को अन्तरिक्ष में स्थापित करने में जिन ‘राकेट बूस्टरों’ की आवश्यकता पड़ेगी, क्या उन्हें रूस तब तक तैयार कर लेगा ?

ऐसा अनुमान है कि मंगल के वायुमण्डल से कच्चा माल मिल सकेगा किन्तु पहले प्रयास में मंगल तक नहीं वरन् उसके चारों ओर चक्कर लगा रहे फोबोस पर ही आपूर्ति का अड्डा बनाया जाय। यह उपग्रह मंगल से कुछ ही हजार मील की दूरी पर है और कार्बनमय पदार्थ से बना हुआ है जिसमें प्रचुर जल पाया जाता है। यदि हम यह मानकर चलें कि फोबोस में जल है तो इसको गरम करके (सौरदर्पणों से या अन्तरिक्षयान में लगे नाभिकीय रिएक्टर से) वाष्प प्राप्त की जा सकती है जिसके विद्युत् अपघटन से ऑक्सीजन तथा हाइड्रोजन आधारित नोदक बन सकेंगे। इस तरह अन्तरिक्षयानों की वापसी के लिए ईंधन ले जाने की झंझट से बचा जा सकेगा।

सोवियत संघ ने मंगल ग्रह की परिक्रमा करके फोबोस पर उतरने के लिए दो पृथक-पृथक अन्तरिक्ष-यानों के छोड़े जाने की जो योजना बनाई थी उसके अनुसार अप्रैल 1986 में इसे सम्पन्न होना था किन्तु अब यह जून 1988 के लिए टाल दी गई है। इस बीच फोबोस की सतह पर लेसर स्पेक्ट्रोस्कोपी के लिए अत्यन्त संवेदनशील फ्रांसीसी उपकरण लगाये जावेंगे। रूस ने "फोबोस-88" योजना के अन्तर्गत विश्व भर के वैज्ञानिकों का सहयोग माँगा है।

इस सोवियत मिशन में 'साल्यूट' जैसा ही यान होगा जिसमें नाभिकीय शक्तिचालित बूस्टर मंच होगा। इसका प्रारम्भिक भार 300 टन होगा जिसमें से दो तिहाई भार का ईंधन पृथ्वी की परिक्रमा छोड़ते ही निकल जावेगा। शेष 100 टन भार मंगल ग्रह की परिक्रमा करेगा। तब यह 'फोबोस' पर उतरेगा और रिक्त हुई ईंधन टंकी गिर जावेगी। फिर अन्तरिक्षयात्री अगले अठारह महीनों तक वहाँ रह कर फोबोस से जल निकाल कर उसे उप-चरित करके लौटती यात्रा के लिए नोदक तैयार करेंगे। वे फोबोस की मिट्टी के भीतर सुरंग खोद कर एक अर्ध स्थायी आधार तैयार करेंगे जो विकिरण से उनकी रक्षा कर सकेगा। वे सतह पर हरित उद्यान भी स्थापित करेंगे जो भोजन तथा वायु शोधन के लिए साधन स्वरूप होंगे। कभी-कभी वे मंगल ग्रह की टोह भी लेते रहेंगे किन्तु असली यात्रा तो बाद में होगी।

यदि एक वर्ष में नोदक नहीं तैयार हो जाता तो घबड़ाने की कोई बात नहीं। आने वाले यात्री उन्हें भी अपने साथ वापस लेते जावेंगे या वे आवश्यक वस्तुएँ भी ला सकते हैं। हर दो वर्ष में ऐसे मिशन छोड़े जाते रहेंगे जब तक दोनों ग्रह, मंगल तथा

फोबोस, परस्पर जुड़ नहीं जाते। फोबोस तक पहुँचने के बाद कभी भी मंगल तक उड़ान भरी जा सकती है। सारी सफलता इसी बात पर निर्भर करेगी कि वहीं पर जल तथा वायु से ईंधन तैयार कर लिया जाय जिसके लिए रूसी वैज्ञानिक कृतसंकल्प हैं।

प्लेनेटरी सोसाइटी ने अक्टूबर 1984 में विभिन्न समानव अन्तरिक्ष मिशन योजनाओं की लागत का अनुमान छापा था। गणना के अनुसार लघु चन्द्र आधार में 17 बिलियन डालर व्यय होंगे। अपोलो कार्यक्रम की लागत 75 बिलियन डालर थी, अन्तरिक्ष शटल की 17 बिलियन डालर और अन्तरिक्ष स्टेशन की 10 बिलियन डालर थी। अनुमान है कि फोबोस पर प्रथम समानव उड़ान में लगभग 17 बिलियन डालर लगेंगे जो अपोलो की लागत की $\frac{1}{4}$ — $\frac{1}{3}$ से अधिक नहीं है। इस तरह इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। यदि फोबोस में उत्पन्न जल को चन्द्रमा में लाया जाय तो उससे लागत घटेगी ही, बढ़ेगी नहीं। स्मरण रहे कि मंगल में जाकर बसने के पूर्व भली भाँति वहाँ की कार्यपद्धति को समझना होगा। अन्यथा महीनों की यात्रा के बाद वहाँ जाकर कंकड़ पत्थर एकत्र करके और झंडा गाड़ देने से लाभ नहीं होगा। एक बार फोबोस पर अड्डा बना लेने पर मंगल तक की यात्रा कुछ हजार मील ही रह जावेगी जिसे किसी भी शटल द्वारा, जिसमें मनुष्य तथा सामान दोनों होंगे, पूरा किया जा सकेगा।

यह निश्चित है कि मनुष्य मंगल ग्रह पर जावेगा। किन्तु कब? वेसब्री से काम नहीं चलेगा। भविष्यवाणियाँ भी शायद अधिक कारगर न हों किन्तु मंगल ग्रह में वास करने वाले सम्भावित मनुष्य पहले से पृथ्वी पर रह रहे हैं। □

खनिज उत्खनन में जीवाणुओं की भूमिका

अंजु सेठी

एन-8, पश्चिमी पटेल नगर, नई दिल्ली—10008

पृथ्वी के अंदर अपार खनिज संपदा बिखरी पड़ी है। मानव उपयोग हेतु उनका निरंतर दोहन किया जाता है। ईंधन और ऊर्जा हेतु कोयले एवं पेट्रोलियम, औद्योगिक उपयोग हेतु बाक्साइट तथा लौह अयस्क, और न जाने ऐसे ही कितने खनिजों और अयस्कों के निष्कर्षण मनुष्य अपने उपयोग व उपभोग हेतु करता रहा है। इस प्रक्रिया में खनिज के निक्षेप धीरे-धीरे खत्म होते जा रहे हैं। फिर भी, मनुष्य प्रचुर खनिज-युक्त नये निक्षेपों की खोज में अटल गहराई की ओर अग्रसर होता जाता है।

अटल गहराई से खनिजों के उत्खनन एवं निष्कर्षण करने में जटिल प्रक्रियायें अपनाने की आवश्यकता होती है और कभी-कभी इनसे प्राप्त धातुओं या उत्पादों का लागत मूल्य अधिक हो जाता है। परिणाम-स्वरूप इनकी कीमतें बढ़ जाती हैं। अतः ऐसी तकनीकों पर विचार किया जाना आवश्यक था जिनके द्वारा अयस्कों या खनिजों का उत्खनन एवं निष्कर्षण सरलता से किया जा सके और धातुओं एवं उत्पादों की अधिकतम प्राप्ति कम लागत पर ही हो सके।

इस दिशा में किये गये शोधों से एक बात उभर कर सामने आयी है कि खनिज निक्षेपों में विभिन्न प्रकार के जीवाणु भी पाये जाते हैं जो खनिजों के विघटन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकते हैं। सोवियत रूस ने इस दिशा में पहल किया है और मास्को विश्वविद्यालय के भूगर्भ विज्ञान विभाग एवं मास्को खनिज संपदा संस्थान के वैज्ञानिकों ने संयुक्त रूप से इन जीवाणुओं पर परीक्षण करके पता लगाया है कि ये खनिजों के उत्खनन में और उनके उपचार में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं।

इन वैज्ञानिकों का मत है कि आजकल जिस

प्रकार विभिन्न उद्योगों में गंधकाम्ल के जल-अविलेय लक्षणों और सल्फाइडों के उपचार में सूक्ष्मजीवों की सहायता ली जाती है उसी प्रकार विभिन्न प्रकार के धातु यथा ताम्र, सीसा, रजत, यशद, पारद आदि या अन्य उत्पाद भी सल्फाइड अयस्कों से प्राप्त करने में इनके निक्षेपों में मौजूद थायोबैसिलस फेरोऑक्सी-डेन्स नामक जीवाणु की मदद ली जा सकती है।

इन जीवाणुओं द्वारा सल्फाइड अयस्क को गंधकाम्ल के विलेय लवणों में परिवर्तित किया जा सकता है। बाद में, इन लवणों से धातु निष्कर्षित करने में आसानी हो जाती है। चमकीले भूगर्भीय पदार्थ चीनी मिट्टी और सीमेंट बनाने के काम में आने वाली क्ले भी इसी तकनीक से प्राप्त की जा सकती है। चीनी मिट्टी में मौजूद बेसिलस म्युकि-लेन्स नामक जीवाणु संवर्धों के साथ उन्हें उपचारित करने पर 7 से 16 दिनों में ही क्ले प्राप्त किया जा सकता है, जबकि अन्य तकनीकों में इससे ज्यादा समय लग जाता है। इसकी दूसरी विशेषता यह है कि इस तकनीक से क्ले की कठोरता लगभग दुगुनी और जीवनक्षमता में 4 से 5 गुना तक बढ़ोतरी हो जाती है। साथ ही, भर्जन ताप भी काफी कम हो जाता है।

परीक्षण करने पर यह भी पाया गया है कि सिलिकेट खनिज अपमिश्रकों का विघटन जीवाणुओं के अतिरिक्त कवकों और शैवालों से भी हो सकता है। इसी प्रकार प्रयोगशाला में बाक्साइट पर किये गये परीक्षणों से पता चलता है कि कुछ सिलिका-नधारी अयस्कों को भी जीवाणुओं की सहायता से उच्च गुणता वाले पदार्थों में प्रभावपूर्ण तरीके से बदला जा सकता है। बाद में, इन पदार्थों से सरलता-पूर्वक अल्युमिनियम प्राप्त किया जा सकता है।

अयस्कों के उपचार के परम्परागत तरीकों में मूल घटकों का लगभग 12 प्रतिशत अंश बेकार चला जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ अयस्कों, यथा मैंगनीज अयस्क के संघटन काफी जटिल होते हैं, जिस कारण उनके निष्कर्षण के लिए विशिष्ट तकनीक की आवश्यकता पड़ती है। जीवाणु उपचार तकनीक से इस समस्या को काफी हद तक दूर किया जा सकता है।

भारत में भी इस दिशा में अनुसंधान किये जा रहे हैं। बोस इंस्टीट्यूट, कलकत्ता और इंडियन स्कूल ऑव साइंस के वैज्ञानिकों ने संयुक्त रूप से पता लगाया है कि भारत में फॉस्फेटी चट्टानों से फॉस्फेट प्राप्त करने के लिए सूक्ष्मजीवों की सहायता ली जा सकती है। देश में पायी जाने वाली इन चट्टानों की काफी मात्रा उर्वरक हेतु उपचारित नहीं हो पाती है। इनमें थायोबैसिलस फेरोऑक्सोडेंस नामक जीवाणु पाये जाते हैं। प्रयोगशाला परीक्षणों से पता चला है कि इन जीवाणुओं से उपचारित कराने पर लगभग 58 प्रतिशत फॉस्फेट प्राप्त किये जा सकते हैं। कुछ निक्षेपों में महत्व की दृष्टि से उपयोगी जीवाणु नहीं पाये जाते हैं पर उन निक्षेपों से उत्पाद प्राप्त करने के लिए अलग से ही जीवाणु उपचार आधारित पदार्थ प्राप्त कर उन्हें निक्षेपों में डाला जा सकता है ताकि इन निक्षेपों की आर्थिक उपयोगिता बढ़ सके।

धरती के गर्भ से पेट्रोलियम का दोहन तेल-कुयों बनाकर किया जाता है। किन्तु एक सीमा के बाद तेल निकालना आर्थिक रूप से लाभदायक न होने के कारण बन्द कर दिया जाता है। पश्चिमी जर्मनी के बर्न्सविक जैव इंजीनियरी अनुसंधान एसोसियेशन के वैज्ञानिकों ने जीवाणु आधारित एक अन्य तकनीक विकसित की है जिससे इन तेल-कुओं को पुनर्जीवित कर कम लागत पर पेट्रोलियम निकाला जा सकता है। इसके लिये पेट्रोलियम, पानी और अमोनिया के मिश्रण पर विशेष प्रकार के जीवाणु से प्रतिक्रिया कराकर विशिष्ट किस्म का डिटरजेंट प्राप्त किया जाता है और इसे सूखे तेल-कुयों में भर दिया जाता है। डिटरजेंट के संपर्क में आते ही तेल-कुओं का स्रोत तेज हो जाता है जिससे पेट्रोलियम निकालने में आसानी हो जाती है।

जीवाणु द्वारा उपचार की ये विधियाँ परम्परागत विधियों से काफी बेहतर हैं, क्योंकि इनमें उत्पादन खर्च बहुत ही कम हो जाता है। साथ ही, प्राप्त उत्पादों का मूल्य भी कम हो जाता है। इन विधियों से उन अयस्कों से भी धातु प्राप्त किये जा सकते हैं जिन्हें निष्कर्ष की दृष्टि से घटिया मान कर छोड़ दिया जाता है। एक अन्य विशेषता यह भी है कि इन तकनीकों द्वारा औद्योगिक व्यर्थ भी बहुत कम मात्रा में प्राप्त होते हैं जिससे औद्योगिक प्रदूषण की समस्या पर नियंत्रण हो सकता है। □

आवश्यक सूचना

भारतीय विज्ञान कांग्रेस के पचहत्तरवें अधिवेशन के अवसर पर दिनांक 2 जनवरी 1987 को विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद द्वारा आयोजित विज्ञान गोष्ठी का अध्यक्षीय भाषण भारतीय विज्ञान संस्थान बंगलोर के भौतिकी एवं गणित विभाग के प्रोफेसर डॉ॰ के॰ पी॰ सिन्हा द्वारा दिया जावेगा।

इस गोष्ठी में विज्ञान परिषद् के सभी सभ्यों एवं अन्य इच्छुक लोगों को सादर आमंत्रित किया जाता है।

विषय—ब्रह्माण्ड निर्माण के प्रारंभिक क्षण

दिनांक—2 जनवरी 1986

समय—सायं 3.30

स्थान—बंगलोर विश्वविद्यालय, बंगलोर

दोगला जातिकरण

सतीश कुमार शर्मा

वन चेतना अधिकारी, गुलाब बाग, उदयपुर (राजस्थान)—313001

प्रकृति ने अपनी अद्भुत सृजन शक्ति से इस भू-मण्डल पर हजारों जातियाँ (Species) पैदा की हैं। कितने आश्चर्य की बात है कि एक जाति के सभी सदस्य, चाहे वे कहीं भी क्यों न रह रहे हों, मूलभूत रूप से समान आकार-प्रकार, आचार-व्यवहार वाले पाये जाते हैं। एक जाति के सभी सदस्य किसी न किसी रूप में दूसरी जातियों से भिन्न होते हैं। इसी भिन्नता से जातियों की स्वतन्त्र पहचान बनी रहती है।

एक जाति के सभी सदस्य आपस में सफल अंतःप्रजनन कर सकते हैं, परन्तु दूसरी जाति के सदस्यों से ऐसा संभव नहीं है। यह एक अति महत्वपूर्ण जातिगत गुण है जिसकी वजह से विभिन्न जातियाँ आपस में मिश्रित नहीं हो पातीं। अगर सभी जातियाँ आपस में सफल प्रजनन करने में सफल हुई होतीं तो वे घुल-मिल कर कभी की एक हो जातीं। अगर ऐसा हो जाता तो ये लाखों जातियाँ संकरित होकर मात्र एक जाति रह जाती।

प्रकृति में एक जाति के सभी सदस्य हाँलाकि एक दूसरे से काफी समान होते हैं परन्तु वे शतप्रतिशत समान नहीं होते। मामूली असमानताओं के आधार पर एक जाति के सदस्यों को उपजातियों (Sub-species) में बाँट दिया जाता है। दूसरे शब्दों में, एक जाति कई उपजातियों से मिल कर बनी हो सकती है। कई जातियाँ मिल कर एक वंश (Genus) का निर्माण करती हैं और कई वंश मिल कर एक कुल (Family) बनाते हैं। प्रकृति में एक ही जाति की उपजातियों में अंतराजातीय (Intra specific) प्रजनन सफलतापूर्वक होता रहता है। इसी तरह एक ही वंश की दो विभिन्न जातियों में अंतरजातीय (Inter

specific) प्रजनन भी होता रहता है परन्तु एक ही कुल के दो वंशों में अंतरवंशीय (Inter generic) प्रजनन प्रकृति में नहीं देखा जाता है। कुल के बाहर तो अंतरवंशीय प्रजनन का प्रश्न ही नहीं उठता।

प्रकृति अंतरवंशीय प्रजनन को नहीं होने देती है पर दाद देनी होगी मनुष्य को जिसने प्रकृति के इस अटल नियम की धजियाँ उड़ा दी हैं। मनुष्य ने पौधों से लेकर प्राणियों तक में अंतरवंशीय संकर संपन्न करा कर नई जातियों को जन्म दिया है। ये दोगली जातियाँ, जातिकरण (Speciation) की दिशा में आश्चर्यजनक कदम है। अंतरवंशीय संकरण से मनुष्य ने ऐसी जातियाँ विकसित कर ली हैं जिन्हें शायद प्रकृति नहीं बनाती।

दोगले जीवों की बात हमारे जाने-पहचाने प्राणी खच्चर से प्रारंभ कर रहा हूँ। खच्चर (Mule) एक ऐसा प्राणी है जो नर गधे का मादा घोड़े (घोड़ी) से क्रास कराने पर पैदा हुआ है। खच्चर में एक ही समय में गधे और घोड़े—दोनों जातियों के गुण मौजूद होते हैं। यानी वह “एक में दो” (Two in one) किस्म का प्राणी है। पर वाह रे प्रकृति जिसने मनुष्य की इस निरकुंशता को पूरी तरह नहीं तो किसी हद तक काबू में जरूर रखा है। खच्चर चूँकि प्रकृति के नियम विरुद्ध पैदा हुआ है अतः बतौर सजा अन्य दोगलों की तरह प्रकृति ने उसे नपुसंक बनाया है।

खच्चर के विकास के बाद मनुष्य ने एक दिल-चस्प परिवर्तन किया। दूसरी बार मादा गधे को नर घोड़े से क्रास कराया। इस बार एक नई किस्म का प्राणी पैदा हुआ जिसका नाम हन्नी (Hunny) रखा गया।

इसी तरह बाघ (Tiger) तथा सिंह (Lion)

[शेष पृष्ठ 23 पर]

विज्ञान समाचार

संकलन : कु० अर्पिता (जे० टी० गर्ल्स इण्टर कॉलेज, इलाहाबाद)

एवं

कु० धृति सिनहा (सेण्ट मेरीज कान्वेन्ट, इलाहाबाद)

(1) 'मिर्गी' रोग नहीं किसी रोग का लक्षण

कानपुर में 13 नवम्बर को बी० आर० डी० मेडिकल कॉलेज, गोरखपुर के मेडिसिन के प्रोफेसर डॉ० एन० बी० एस० सरकारी ने 'डॉ० एस० एन० माथुर मेमोरियल लेक्चर' के दौरान चिकित्सकों की एक सभा में बोलते हुए बताया कि वास्तव में 'मिर्गी' अपने आप में कोई रोग नहीं है, वरन् किसी अन्य रोग का लक्षण है। डॉ० सरकारी के अनुसार मिर्गी के आक्रमण के समय रोगी की शारीरिक जाँच और 'लैबोरेटरी टेस्ट' आवश्यक है जिसमें 'ई सी जी' और 'फैट स्कैन' भी शामिल हैं।

(2) एक और नए एड्स वायरस की खोज

एक फ्रांसीसी अनुसंधानकर्ता के अनुसार पिछले वर्ष पश्चिमी अफ्रीका में एक और नया एड्स वायरस खोज लिया गया है जो इसके पूर्व ज्ञात एड्स वायरस की ही भाँति अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर खतरनाक साबित हो सकता है। प्रारम्भ में वैज्ञानिकों का ऐसा विश्वास था कि इस नये वायरस से कुछ खास केसों में ही रोग उत्पन्न होने का खतरा था किन्तु डॉ० लुक मोंटे-गनियर (Dr. Luc Montagnier) ने सैफ्रांसिसको के 'अमेरिकन एसोसिएशन ऑफ ब्लड बैंक्स' की वार्षिक मीटिंग में बोलते हुए बताया कि पश्चिमी अफ्रीका में यह नया एड्स वायरस रोग काफी फैला हुआ है और इससे पश्चिमी यूरोप के देशों को अधिक खतरा है।

(3) बुरे साथ का बुरा नतीजा

लंदन के 'ब्रिटिश मेडिकल जर्नल' में प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार सिगरेट पीने वालों के साथ

रहने वाले ऐसे व्यक्तियों में भी, जो सिगरेट नहीं पीते, फेफड़े के कैंसर की संभावना 35 प्रतिशत बढ़ जाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका, एशिया और यूरोप में किए गए 13 अलग-अलग अध्ययन दलों की खोज का यह परिणाम निकला है कि तम्बाकू पीने वालों के तम्बाकू के धुये के साँस द्वारा शरीर के अंदर प्रवेश से फेफड़े का कैंसर होता है।

(4) नयी इन्सुलिन मशीन

मद्रास से मिली एक खबर के अनुसार 'इण्टर-नेशनल डायबेटीज फाउंडेशन' के उप सभापति डॉ० एरनेस्ट फोफेर (Dr. Ernest Pfeiffer) ने बताया है कि जर्मनी की एक कम्पनी ने एक माचिस की डिब्बी के बराबर छोटे इन्सुलिन मशीन का आविष्कार किया है। इस मशीन में एक मधुमेह रोगी को 8 दिनों के लिए जितनी इन्सुलिन की आवश्यकता है, वह भण्डारित रहेगी। इसके अतिरिक्त इस मशीन की सहायता से हर मिनट रोगी के 'ब्लड शुगर लेवल' की जाँच भी की जा सकती है।

(5) प्रो० निकोलस पॉलुनिन को 'रामदेव मेडल'

'इनविरॉनमेण्टल कंजर्वेशन' (Environmental Conservation) नामक पत्रिका के सम्पादक प्रोफेसर निकोलस पॉलुनिन को उनकी पर्यावरण संरक्षण, पर्यावरण शिक्षा एवं जैवमण्डल पर उल्लेखनीय अनुसंधान कार्यों के लिए छठवाँ 'रामदेव मेडल' प्रदान कर उन्हें भारत में सम्मानित किया गया है। प्रो० पॉलुनिन को यह पुरस्कार 19 नवम्बर को दिया गया।

(6) 'विज्ञान-वीथिका युवा लेखक पुरस्कार' घोषित

'विज्ञान-वीथिका युवा लेखक पुरस्कार योजना' के अंतर्गत श्री अनिल कुमार शुक्ल को उनके लेख 'पर्यावरण के आंगन में एक नया रक्तबीज' और श्री आशुतोष मिश्र को उनके लेख 'पर्यावरण : एक चुनौती' को संयुक्त रूप से प्रथम पुरस्कार प्रदान किया गया है। विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद में आयोजित एक सादे पुरस्कार समारोह में यह पुरस्कार दिया गया। पुरस्कार में 100 रु० नकद एवं एक प्रमाण-पत्र शामिल है। इस अवसर पर बोलते हुए परिषद् के प्रधान मंत्री डॉ० शिव गोपाल मिश्र ने नये लेखकों द्वारा विज्ञान साहित्य की सर्जना पर बल दिया। पत्रिका के संपादक श्री प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव ने सभी के प्रति आभार व्यक्त किया। दोनों पुरस्कृत लेख 'विज्ञान-वीथिका' के मई-जून 1986 अंक में प्रकाशित हैं।

(7) जम्हाई का कारण

जब हमें नींद आने लगती है या हम 'बोर' महसूस करते हैं तो श्वसन-क्रिया धीमी हो जाती है।

थके हुए या 'बोर' मस्तिष्क में जान डालने के लिए रक्त और फेफड़े में ऑक्सीजन और कार्बन डाइऑक्साइड गैसों की अदला-बदली की गति को जम्हाई तेज कर देती है। वैसे यह बात दूसरी है कि क्लास रूम में जम्हाई लेने वाले विद्यार्थी को जब अध्यापक कक्षा से बाहर जाने का आदेश देता है तो विद्यार्थी इसमें शर्म महसूस करता है किन्तु वास्तव में इसकी दवा यही है क्योंकि नींद आने या बोर होने की दशा में ऑक्सीजन की अधिक आवश्यकता होती है जो कि खुले स्थानों में अधिक मिलेगी।

(8) डॉ० ए० ए० पेन्टल आई० सी० एम० आर० के महानिदेशक बनाये गए

पटेल चैस्ट इंस्टीट्यूट के निदेशक डॉ० ए० ए० पेन्टल को 'इण्डियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च' (ICMR) का महानिदेशक नियुक्त किया गया है। डॉ० पेन्टल प्रथम भारतीय चिकित्सक हैं जिन्हें लंदन की रॉयल सोसाइटी का फेलो चुना गया था। डॉ० पेन्टल फेफड़े की फिजियोलोजी, ग्रैस्ट्रो-इन्टेस्टाइनल ट्रैक्ट और मसिल फाइबर पर अनुसंधानकार्यों के लिए प्रसिद्ध हैं। □

पृष्ठ 21 का शेषांश

जातियों को क्रास द्वारा मिला कर लाइजर (Liger) नामक नई जाति विकसित की गई है। तेंदुआ (Leopard) तथा बाघ के क्रास प्रतिरूप भी प्राप्त किये जा चुके हैं। भेड़ (Sheep) को बकरे (Goat) से क्रास करवा कर गीप (Geep) पैदा कर लिया गया है। गीप में दोनों—भेड़ व बकरे के गुण देखे जा सकते हैं।

दोगला जातिकरण पौधों में भी सफलता पूर्वक किया जा चुका है। सिकल सिरल, रेफेनोब्रैसिका आदि अंतरवंशीय जातियाँ हैं। रेफेनोब्रैसिका को मूली (रेफेनस सटाइवस) तथा सरसों (ब्रैसिका कम्पेस्ट्रिस) से तैयार किया गया है।

अभी तक तो पौधों का पौधों से तथा प्राणियों का प्राणियों से ही अंतरवंशीय क्रास किया जा रहा था परन्तु अब इस दिशा में अत्यंत क्रान्तिकारी विषम क्रास तक वैज्ञानिकों ने सफल कर दिखाया है। उन्होंने एक रक्ताणु को जो कि एक प्राणी कोशिका है, एक पौधे की कोशिका से संयुक्त कर जूप्लान्टी नामक ऐसा क्रास तैयार कर लिया है तो एक ही समय में प्राणी एवं पौधा है। अगर इस तरह के क्रास चल निकले तो वह दिन दूर नहीं जब जूप्लान्टी पौधों की तरह प्रकाश-संश्लेषण कर भेड़-बकरों की तरह अपने शरीर में मांस तैयार किया करेंगे। □

महान वैज्ञानिक प्रो० नील रत्न धर

डॉ० जगदीश सिंह चौहान

सम्पादक, 'विज्ञान'

विज्ञान जगत् के प्रख्यात रसायनज्ञ प्रोफेसर नील रत्न धर का 5 दिसम्बर 1986 को प्रातः 6.45 बजे निधन हो गया। वे 95 वर्ष के थे। प्रो० धर विज्ञान जगत् के स्तम्भ थे और वे आजीवन विज्ञान के अध्ययन तथा शोध के लिए समर्पित रहे। विज्ञान उनकी साधना थी। उनके निधन से समस्त वैज्ञानिक जगत् की अपूर्णीय क्षति हुई है।

उस दिन दिवंगत आत्मा को अंतिम श्रद्धांजलि अर्पित करने के लिए बेली रोड स्थित आवास पर उनके मित्रों, प्रशंसकों तथा शिष्यों का ताँता लगा रहा।

प्रो० धर का जन्म जैसोर (अब बंगलादेश में) जिले में 2 जनवरी 1892 को हुआ था। उनके पिता का नाम प्रसन्न कुमार तथा माँ का नीरद मोहिनी देवी था। 6 भाई तथा 3 बहिनों में प्रो० धर तीसरे पुत्र थे। उनकी प्रारंभिक शिक्षा जैसोर में हुई। 1907 में उन्होंने रिप्पन कॉलेज में प्रवेश लिया और 1909 में प्रेसिडेन्सी कॉलेज में बी० एस-सी तथा 1911 में एम० एस-सी में प्रवेश लिया। यहाँ वे अनेक ख्याति प्राप्त लोगों के सम्पर्क में आये जिनमें प्रमुख आचार्य जगदीश चन्द्र बोस तथा आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र रहे थे। प्रो० धर ने आचार्य रे के साथ शोधकार्य किया। भारत में पहली बार डॉ० धर ने चालकता जल बनाया।

प्रो० धर बहुत ही प्रखर विद्यार्थी थे। प्रेसिडेन्सी कॉलेज में ये कक्षा में प्रथम आये और सर्वाधिक अंक प्राप्त किये। प्रेसिडेन्सी कॉलेज में इन्हें 20 स्वर्ण पदक मिले और बाद में 900 रुपये का 'ग्रिफिथ मेमोरियल प्राइज' भी मिला। 1913 में ये कलकत्ता

विश्वविद्यालय में रिसर्च फेलो नियुक्त हुये और 1915 में 'गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया छात्रवृत्ति' लेकर इंग्लैण्ड में प्रो० एफ० जी० डोनन के साथ शोधकार्य के लिए गये, परन्तु कुछ कारणवश उनके साथ कार्य न कर सके और उन्होंने इम्पीरियल कॉलेज में प्रो० जे० सी० फिलिप के साथ कार्य किया। 1917 में इन्हें डी० एस-सी की उपाधि मिली। 1917 में ही प्रो० धर फ्रांस चले गए और प्रो० जाँज अब्बेन के साथ डी० एस-सी की उपाधि के लिए कार्य किया। सन् 1919 में इन्हें पेरिस की स्टेट डी० एस-सी की उपाधि प्राप्त हुई जो फ्रांस की सबसे बड़ी डिग्री है।

अपने गुरुदेव आचार्य रे की सलाह पर प्रो० धर ने इंडियन एजुकेशन सर्विस के लिए प्रयास किया और फरवरी 1919 में इनकी नियुक्ति आई० ई० एस० में हुई। उसी वर्ष इन्होंने 19 जुलाई 1919 को इलाहाबाद विश्वविद्यालय में कार्यभार संभाला। तब से 1952 तक वे रसायन विभाग के अध्यक्ष बने रहे। बीच में कुछ समय के लिए इन्होंने उत्तर प्रदेश सरकार में 'डिप्टी डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक इंस्ट्रुक्शंस' का कार्य भी किया।

डॉ० धर मूलतः भौतिकशास्त्री थे और उन्होंने इस क्षेत्र में गतिकी तथा प्रकाश रसायन पर कार्य किया, परन्तु उन्हें राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति उनके नाइट्रोजन के प्रकाश-रासायनिक स्थिरीकरण तथा मृदा अनुर्वरता पर किये गये कार्य से मिली। प्रो० धर ने 600 से ऊपर शोधपत्र प्रकाशित किए और उनके निर्देशन में लगभग 150 विद्यार्थियों ने डी० फिल तथा डी० एस-सी की उपाधि प्राप्त की। उनके अनेक विद्यार्थी इस समय उच्च पदों पर आसीन हैं।